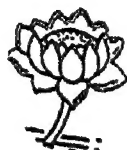
श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रंथमाला समिति



तेरहवाँ पुष्प

श्री गोम्मट प्रश्नोत्तर चिंतामणि

संग्रहकर्ता :

परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागरजी महाराज

प्रकाशन संयोजक :

शान्ति कुमार गंगवाल

प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रन्थमाला समिति

कार्यालय :

१६३६, जौहरी बाजार घी वालों का रास्ता, कसेरों की गली,

जयपुर-३०२००३ (राजस्थान)

परमपूज्य श्री १०८ गणधराचार्य वात्सल्य रत्नाकर श्रमणरत्न स्याद्वाद केशरी कुन्थुसागर जी महाराज व उनके विशाल संघ सानिध्य में माह दिसम्बर १९८८ में आरा नगर (बिहार) में आयोजित पंचकल्याणक महोत्सव के शुभावसर पर प्रकाशित

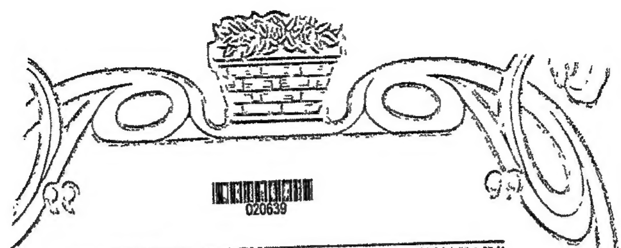


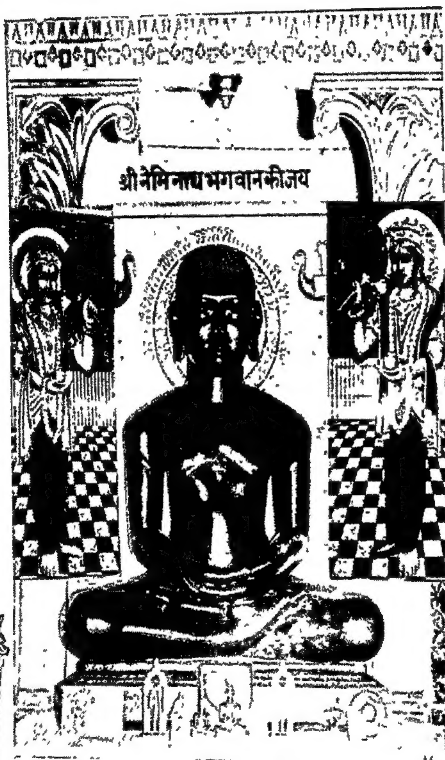
मूल्य : स्वाध्याय/२०१) रुपये

मुद्रक · मूनलाइट प्रिन्टर्स, जयपुर-३

ग्रंथ प्राप्ति स्थान :

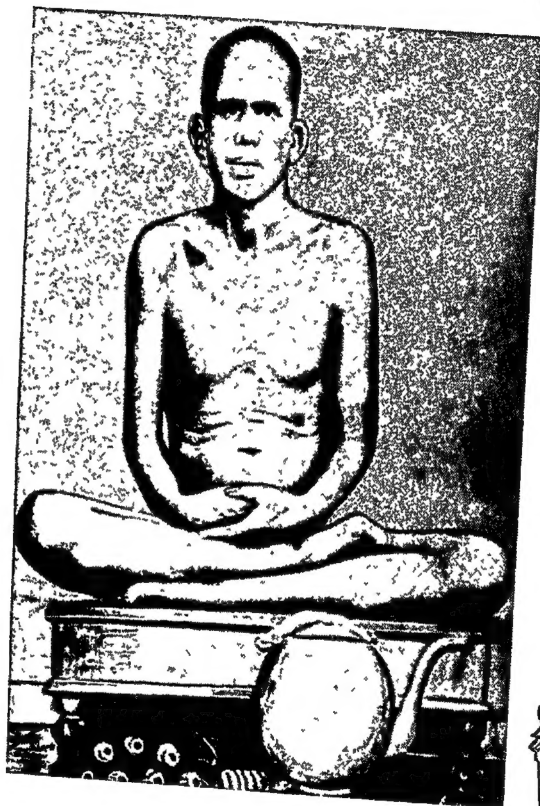
श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रन्थमाला समिति
१९३६, जौहरी बाजार घी वालो का रास्ता,
कसेरो की गली, जयपुर-३ (राज.)





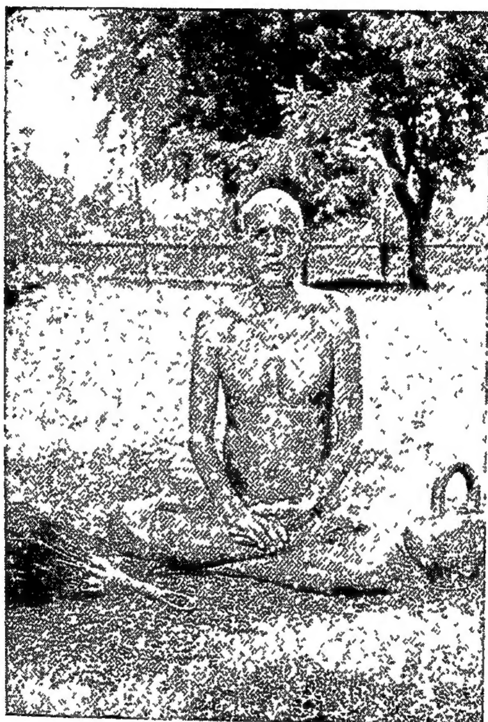
श्री १००८ भगवान नेमीनाथ स्वामी





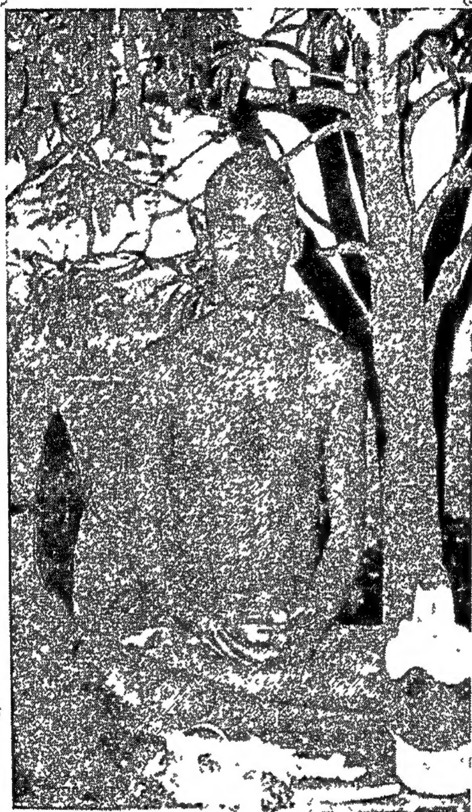
परम पूज्य समाधि सम्राट चारित्र चक्रवर्ती
श्री १०८ आचार्य आदिसागरजी महाराज (अकलीकर)





परम पूज्य श्री १०८ सन्मार्ग दिवाकर निमित्त
ज्ञान शिरोमणि खण्डविद्या धुरन्धर आचार्य
रत्न विमल सागर जी महाराज



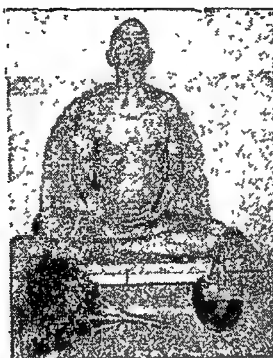


प्रस्तुत ग्रंथके संग्रहकर्त्ता परम पूज्य श्री १०८
गणधराचार्य वात्सल्य रत्नाकर, श्रमणरत्न
स्याद्वाद केशरी स्वस्ति श्री कुंथुसागरजी महाराज



परम पूज्य श्री १०५ गणिनी आर्यिका विदुषीरत्न
सम्यक्ज्ञान शिरोमणि सिद्धान्त विशारद
जिनधर्म प्रचारिका विजयामति माताजी

अध्यात्म बालयोगी १०८ आचार्यरत्न श्री सन्मतिसागर जी महाराज



का

(मंगलमय शुभाशीर्वाद)

हमे यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई है कि श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रथमाला समिति जयपुर (राजस्थान) से एक वृहद् ग्रथ गोम्मट प्रश्नोत्तर चितामरिण ग्रथ का प्रकाशन हो रहा है। जिसका सकलन गणधराचार्य कुन्थु सागरजी महाराज ने बहुत कठिन परिश्रम से किया। इसके लिये हमारा पूर्ण आशीर्वाद है।

ग्रथमाला समिति से १३वे पुष्प के रूप मे इस ग्रथ का प्रकाशन हो रहा है। अब तक इस ग्रथमाला से जितने भी ग्रथ प्रकाशित हुए है, सभी श्रेष्ठता को लिए हुए है और आगे भी यह ग्रथमाला उत्तम ग्रथो का प्रकाशन करती रहे, इसके लिए इस ग्रथमाला के प्रकाशन सयोजक श्री शान्ति कुमार जी गगवाल व ग्रथमाला के अगरूप सभी श्रेष्ठियो को हमारा मगलमयपूर्ण आशीर्वाद है।

—आचार्य सन्मति सागर

ग्रन्थ के संग्रहकर्त्ता परमपूज्य, वात्सल्य रत्नाकर श्रमणरत्न स्याद्वाद केशरी श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागर जी महाराज के प्रकाशित ग्रन्थ के बारे में विचार एवं मंगलमय शुभाशीर्वाद



अनादि ससार का विच्छेदन होने के लिये भव्यात्माओं को कुछ धर्म ध्यान का साधन होना चाहिये, आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान से बचने के लिये और शुक्ल ध्यान की प्राप्ति के लिए धर्म ध्यान ही साधन मुख्य माना है। जैनाचार्यो ने कहा 'जीव धर्म ध्यान मे तत्पर नही रहता है तो आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान से नही बच सकता है, आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान नरक और तिर्यञ्चगति का कारण हो जायेगा, शुक्ल ध्यान की प्राप्ति का मुख्य कारण धर्म ध्यान ही है, धर्म ध्यान साधन है और शुक्ल ध्यान उसका कार्य है, दोनों ध्यानों का फल मोक्ष सुख है, आत्मिक सुख है। हम लोग अनादिकाल से ससार में परिभ्रमण कर रहे है, सुख की प्राप्ति का उपाय भी खोज रहे हैं लेकिन निराशा ही हाथ लगी, क्या कारण हुआ ? इसमें कारण हुआ

ज्ञान का अभाव, ज्ञान के बिना जीव को एक क्षरण भी शाति नही मिल सकती है । ज्ञान भी होना चाहिये । भेद विज्ञान–आत्मा शरीर जड अलग है इस प्रकार का ज्ञान ही भेदविज्ञान है, हमारे चैतन्य स्वरूप से द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्मो को अलग बताने वाला मात्र भेद विज्ञान ही है ।'

भेदविज्ञान के अभाव मे जीव ने द्रव्य कर्मो नो कर्मो को ही अपना माना और उसी का फल है तो यही एक ससार और ससार ही दुःख का कारण है । हमारी आत्मा अनादि से शुद्ध स्वरूप द्रव्या-पेक्षा है टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव यह है, व्यक्त अमर अविनाशी है, चैतन्य स्वरूप होने पर भी कर्मो के सयोग से ससार मे जन्म-मरण के दुःखो को उठा रहा है, जन्म, मरण पर्याय हमारी नही है, ये तो सयोगज है । कर्म सयोग से होने वाली अवस्था हमारे आत्मा की कभी नही हो सकती है, हमे भेद विज्ञान से केवल कर्म से होने वाली पर्यायो को दूर करना है नष्ट करना है, हमे अपने स्वरूप में आना है, यही भेद विज्ञान का सार है, भेद विज्ञानी इस कार्य को कर सकता है । मोही, रागी, द्वेषी नही, मोह, राग, द्वेष अनन्त ससार का कारण है । हमने इन्ही को अनादि से नही छोडा है। फल मिला दुःख, अनादि ससार, हमे प्रथमतः द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्मो का स्वरूप और ज्ञानधन स्वभाव वाला आत्मा का स्वरूप अवश्य जानना चाहिए, उसको जानने का साधन मात्र जिनागम का स्वाध्याय, स्वाध्याय करने से वस्तु स्वरूप का ज्ञान होता है और यह ज्ञान भेद-विज्ञान होने मे सहायक बनता है। इसी भेद-विज्ञान की प्राप्ति के लिये आर्त ध्यान रौद्र ध्यान से बचने के लिये स्वाध्याय रूप धर्म ध्यान का आचार्यो ने ज्ञानी पुरुषो ने सहारा लिया है । धर्म ध्यान मे स्थिर रहने के लिये, आगम ग्रन्थो की रचना, पठन पाठना-दिक का सहारा लिया, और धर्म ध्यान की सिद्धि की, हम लोग छदमस्थ चचल चित्त है । हम लोगो को भी धर्म ध्यान की सिद्धि के लिये पूर्वाचार्यो की रचना का पठन-पाठनादि क्रिया को अवश्य करना

चाहिये और ज्ञान रूपी अमृत का आस्वादन करना चाहिये । यही मनुष्य भव का सार है ।

इस हुंडावसर्पिणी पंचमकाल में हमें शुक्ल ध्यान की प्राप्ति नही हो सकती है, मात्र धर्म ध्यान की ही सिद्धि के लिये जिनागमो का पठन-पाठन, स्वाध्याय आदि करना चाहिये । ये ही हमारे पास मात्र उपाय है इसी उपाय से हम शांति का अनुभव कर सकते हैं और कोई दूसरा साधन नही, स्वाध्याय से जितना मन एकाग्र हो सकता है उतना दूसरे अन्य साधनों से नहीं, इसी को ध्यान मे रखते हुए हमने इस गोम्मट प्रश्नोत्तर चिन्तामणि ग्रन्थ का प्रश्न उत्तर रूप में सग्रह किया है। भगवान गोम्मटेश्वर का सहस्त्राब्दि महामस्तकाभिषेक महोत्सव के समय हमारी भावना हुई कि गोम्मटेश्वर की यादगारी में रचना कार्य होना चाहिये, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने तो सिद्धान्त ग्रंथों का मथन करके सार रूप गोम्मट सार जीव काण्ड, कर्म काण्ड की रचना की, लेकिन हमने सोचा हमारी तो इतनी बुद्धि नही कि स्वतंत्र कोई ग्रथ की रचना करें, कई दिनों तक विचारो में ही रहे, आखिर निर्णय किया कि प्रश्न उत्तर रूप में कुछ सैद्धान्तिक विषयों का वर्णन किया जाय । अक्षय तृतिया की शुभबेला मे मगलाचरण रूप ग्रंथ का प्रारम्भ किया गया और लग गये पूर्ण पुरुषार्थ मे । एक वर्ष में ग्रथ की पूर्ति का समय भी आ गया, इस ग्रन्थ का नाम गोम्मट प्रश्नोत्तर चिन्तामणि रखा, यह ग्रन्थ संग्रह रूप है। इसमे मैने अपनी ओर से कुछ भी नही लिखा, पूर्वाचार्यो के वचनानुसार ग्रथ का संग्रह किया गया है । सो पूर्वाचार्य ही इस ग्रथ के प्रमाण है, मैने तो अपने को धर्म ध्यान में लगाने के लिये ही कार्य किया है, ग्रथ में करणानु योग, द्रव्यानुयोग आदि सभी प्रकार की चर्चाएँ सग्रहित की गई है और आधार लिया गया है जिनागम का, मै समझता हू कि स्वाध्याय प्रेमियों को इस एक ही ग्रंथ के स्वाध्याय करने से जिनागम का बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है, इस ग्रथ मे गुणस्थानानुसार श्रावक धर्म, मुनि धर्म, आतम ध्यान, पीडस्थ, रूपातीत आदि ध्यान और उनके

चित्रो सहित वर्णन किया गया है, और भी अनेक सामग्री सकलित की गई है । यह ग्रथ अपने आप मे एक नया ही सग्रहित हुआ है, इस गथ में सभी ग्रथो से लेकर २१७८ श्लोको का सग्रह है ।

इस ग्रथ मे पूर्वाचार्यकृत गोम्मटसार जीवकांड, त्रिलोकसार, मूलाचार, ज्ञानार्णव, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, रत्नकरड, श्रावकाचार, तत्वार्थ सूत्र, राज वार्तिक, आचारसार, अष्टपाहुड, हरिवंश पुराण, आदि पुराण, वसु नन्दी श्रावकाचार, परमात्म प्रकाश, पुरुषार्थ सिद्ध युपाय, समयसार कलश, धवलादि, उमा स्वामी का श्रावकाचार, जैन सिद्धान्त प्र., दशभक्त्यादि सग्रह, चर्चाशतक, चर्चा समाधान, स्याद्वाद चक्र, चर्चासागर, सिद्धान्त सार प्रदीप, मोक्ष मार्ग प्रकाशक, त्रिकालवर्ती महापुरुष आदि बडे-बड़े ग्रथो का आधार लेकर सग्रह किया गया है, इन ग्रथो के रचनाकार बडे-बडे आचार्य है और उन ग्रथो की हिन्दी टीका करने वाले गणमान्य पण्डित लोग और साधुजन है, वो ही इस ग्रथ के रचनाकार है, मैं तो मात्र सग्रहकर्त्ता हू । एक धागे मे मोति के समान हारवत हू मोति भी अलग है और धागा भी अलग है इसी प्रकार ग्रथ का सारा श्रेय उन्ही पूर्वाचार्यो को व उनके हिन्दी टीका कारो को है, मैंने तो मात्र प्रयास किया है कहां तक सफल हुआ ये मै नही कह सकता हू । ज्ञानी जन ही कर सकते है । इस ग्रथ मे जो-जो वस्तु जिस-जिस ग्रथ से ली गयी उस-उस ग्रथ का मैने प्रकरण समाप्त होने के बाद नाम दे दिया है और कर्त्ताओ का भी नाम मूल मे दे दिये हैं सो जिस किसी को भी कोई शका हो तो इस ग्रथ को देख ले, वो ही प्रमाण है मै नही । मै तो महान् अल्पज्ञ हूँ मुझे इतना ज्ञान कहा, मैंने तो मात्र श्रवण वेल गोला चातुर्मास होने के समय का सद्उपयोग किया है, स्वय ज्ञानार्थ इसमें किसी प्रकार की त्रुटि रही हो तो ज्ञानी जन मुझे अल्पज्ञ समझ कर क्षमा करेंगे ।

इस ग्रथ की प्रेस प्रति तैयार करने का कार्य पूर्ण रूप से श्री १०८ मुनि पद्मनन्दी जी महाराज ने किया है और प्रेस प्रति के चित्र

बनाने का कार्य श्री १०५ आ. कुलभूषण श्री माताजी ने किया है और अन्य महानुभावो ने जिन्होंने किसी भी रूप में सहयोग किया है, सबको मेरा आशीर्वाद है।

इस ग्रंथ में सभी प्रकार का विषय प्रतिपादित किया गया है। इस ग्रथ के प्रकाशन हेतु जिन-जिन दातारों ने गुप्त रूप से सहयोग देकर अपने धन का सद्उपयोग किया है उनको मेरा पूर्ण आशीर्वाद है।

ग्रंथ प्रकाशन कार्य बहुत कठिन होता है। हमारे ग्रथमाला के कर्मठ कार्यकर्त्ता प्रकाशन संयोजक श्री शांतिकुमार जी गगवाल है। जो बहुत ही प्रयत्नशील है, तथा सच्चे पुरुषार्थी है। इनके सुपुत्र प्रदीपकुमार भी आप जैसे हैं। इन्ही के कारण यह ग्रथमाला बहुत ही वृद्धि कर रही है और इन्ही के कठिन परिश्रम से इस ग्रन्थमाला अब तक १२ ग्रथ प्रकाशित हो चुके है। और यह १३वा ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इसके लिये श्री शांतिकुमार जी, प्रदीप कुमार जी गंगवाल व ग्रथमाला के सभी कार्यकर्त्ताओं को मेरा बहुत-बहुत शुभाशीर्वाद है।

—गणधराचार्य कुन्थु सागर

श्री १०५ गणिनी आर्यिका विदुषीरत्न सम्यग्ज्ञान शिरोमणि सिद्धांत विशारद जिनधर्म प्रचारिका विजयामती माताजी







का

(मंगलमय शुभाशीर्वाद)

श्री शान्तिकुमारजी गगवाल के पत्र द्वारा विदित हुआ कि श्री दि. जैं. कुन्थु विजय ग्रथमाला से "गो. प्र. चितामणि" ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है। यह विशिष्ट ग्रथ होगा। इसका सकलन ८१ में श्री श्रवणबेलगोल महान् क्षेत्र पर परम पूज्य आचार्य रत्न श्री १०८ वात्सल्य रत्नाकर श्री कुन्थु सागर जी महाराज द्वारा किया था। लम्बे अरसे के बाद यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है इससे भव्यजनों का विशेष उपकार होगा। इसका सकलन अनेक महान् ग्रथो को आधार लेकर किया गया है। पाठकों को एक ही ग्रथ का स्वाध्याय अनेक मथित अर्थों को प्रदान करेगा। गोमट्सारादि का निचोड-रसायन के सदृश उपलब्ध है। आचार्य श्री पठन-पाठन एव अध्ययन-अध्यापन में अति पटु हैं। सग्रह करने की कला उनका वृहद् सघ प्रत्यक्ष है। अस्तु गभीर अध्ययन कर गूढ और क्लिष्ट विषयों को सरल रूप मे इसमे सयोजित किया है, जिससे यह सरलता के साथ अति रोचक भी हो सकेगा। गहन तत्त्व

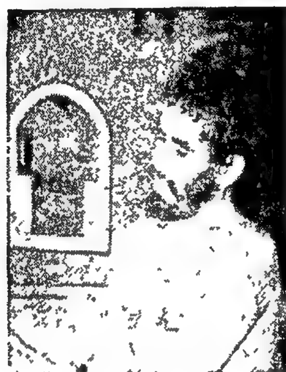
विवेचना उत्तर-प्रत्युत्तरों द्वारा यत्र, तत्र अत्यन्त आकर्षक रूप में निरूपित है। स्वाध्याय प्रेमियों के मस्तिष्क को पुष्ट और स्वस्थ बनाने में यह ग्रन्थ सक्षम होगा। स्वाध्याय परम तप है। तप से निर्जरा होती है। निर्जरा का फल मुक्ति है।

मुक्ति का सार सुख है। शाश्वतिक आनन्द! आत्मानन्द मे स्थित, यह ग्रंथ अविनश्वर सुख का साधन सिद्ध होगा इस प्रकार के विशाल और उत्तम ग्रन्थ का सग्रह करना जितना कठिन है, उतना ही सम्पादन-प्रकाशन भी। जो भी सम्पादक मण्डल, सशोधक जन इस कार्य में अपना अमूल्य समय सानन्द, भक्ति और ज्ञान विनय पूर्वक दे रहे है, यह परम हर्ष का विषय है, हमारा इसके लिये प्रकाशन संयोजक श्री शान्ति कुमार जी गगवाल व उनके सहयोगियो को पूर्ण आशीर्वाद है, वे देव, शास्त्र, गुरु के अकाट्य श्रद्धालु बने। इस कार्य मे पूर्ण सफल हो। ज्ञानी बन-कर स्वय इस प्रकार के ग्रन्थो के निर्माण की योग्यता प्राप्त करें। जिन-वाणी का प्रचार-प्रसार करते हुए ज्ञानावरणी कर्म को जीर्ण बना यथार्थ ज्ञानी, स्याद्वादी बने।

अनेकान्त सिद्धान्त का घर-घर और जन-जन में प्रचार हो यही हमारी सद्भावना है। ग्रन्थमाला भी उन्नतिशील हो और सत्त श्री जिन-वाणी का प्रकाशन करती रहे।

—ग. आ. विजयामती

श्री १०५ क्षुल्लक चैत्य सागरजी महाराज


का

(मंगलमय शुभाशीर्वाद)

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रथमाला समिति जयपुर (राजस्थान) से परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागर जी महाराज द्वारा संग्रहित श्री गोम्मट प्रश्नोत्तर चितामणि ग्रथ का प्रकाशन हो रहा है। इस ग्रथ मे गणधराचार्य महाराज ने अनेक ग्रथो के माध्यम से अनेक सैद्धान्तिक विषयो का सकलन किया है जिससे यह ग्रंथ साधुवर्ग एव समाज के मुमुक्षुओ के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा। इस ग्रथमाला से अब तक १२ पुष्प प्रकाशित हो चुके है, यह १३वां पुष्प है। जितने ग्रन्थ इस ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुए है। वे साधुवर्ग एव सभी के लिए बहुत ही उपयोगी है।

ग्रन्थ प्रकाशन कार्यो मे ग्रन्थमाला के प्रकाशन सयोजक श्री शाति कुमार जी गगवाल बहुत ही परिश्रम करते है उनके अथक परिश्रम से यह ग्रन्थमाला सुचारु रूप से चल रही है। मेरी गणधरा चार्य महाराज से प्रार्थना है कि ग्रन्थमाला से इसी प्रकार ग्रन्थ प्रकाशित करवाते रहे और इसी शुभकामना के साथ ग्रन्थमाला के प्रकाशन सयोजकजी को व उनके सभी सहयोगियो को मेरा आशीर्वाद है।

—क्षुल्लक चैत्य सागर

प्रतिष्ठाचार्य प्रदीपकुमार जैन (शास्त्री) के प्रकाशित ग्रन्थ के बारे में उद्‌गार

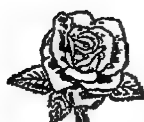
प्रस्तुत ग्रथ परम पूज्य श्रमणरत्न, वात्सल्य रत्नाकर, स्याद्वाद केशरी, श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागरजी महाराज ने बाहुबलि सहस्त्राभिषेक के शुभावसर पर उनके बाहुबलि वर्षायोग के समय पर ही वर्ष १९८१ में संग्रह करके लिखा था। इस ग्रथ के माध्यम से गणधराचार्य महाराज ने, वर्तमान मे जो भी जैनागम में मिलावट द्वारा आगम प्रदूषण किया जा रहा है, उसको रोकने के लिए उनके प्रश्नो का, शकाओं का आचार्यो के प्रमाण देकर बहुत ही सुलभ एवं सुन्दर ढ़ंग से समाधान किया है। भोले-भाले स्वाध्याय प्रेमी मुमुक्षुओ को आगम का सही ज्ञान कराने की अद्‌भुत चेष्टा की है। वर्तमान में एकान्तवादी, झूठ, अत्याचारी, पथवादी, कूटनीतिवाले, राजनीति वाले, सुधारवादी, मायाचारी, आत्म-प्रशसक, धर्मघातक, कुशास्त्र-प्रचारक, पथ भ्रष्ट, पद भ्रष्ट, एव धर्मद्रोही लोग, आगम दूषित करने का प्रयास कर रहे हैं, उनके ऊपर निष्पक्षता से पुरजोर शब्दों मे स्याद्वाद एव अनेकता के माध्यम से अच्छा आघात किया है। सभी जगह पूर्वाचार्यो के शब्दो मे उनकी गाथा एव सूत्रो का प्रमाण देकर स्पष्टीकरण किया है। प्रस्तुत ग्रथ मे महाराज ने अपने स्वयं के कुछ भी विचार नही लिखे, यह प्रमुख विशेषता रही है। मै डके की चोट यह कह सकता हूँ वर्तमान में परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागरजी महाराज जैसे ओजस्वी एवं निष्पक्ष सिद्वहस्त लेखक की परम आवश्यकता है, क्योंकि आप श्री किन्हो धनवानो के, पथ वादियो के, धार्मिक, सामाजिक आदि सस्थाओं के प्रभाव मे आकर अपने आपको परतन्त्र बनाये हुए नही है। आप के संघ में लगभग ४० साधु विद्यमान है। वे सभी स्वतन्त्र है एवं सही आगम के प्रचार एवं प्रसार के

लिए उन्होने जो भी मार्ग अपनाया है, वह निश्चय ही प्रभावकारी हुआ है, हो रहा है, और होगा, इसमे किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नही है । सभी गुरु भक्त एव समाज इस बात को जानता है ।

श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रथमाला समिति जयपुर (राज.) से १३वे पुष्प के रूप मे इस ग्रथ का प्रकाशन हुआ है । यह बहुत ही प्रसन्नता की बात है । इस ग्रथमाला से सभी ग्रथो का प्रकाशन बहुत ही लाभकारी रहा है । इसके लिए मैं ग्रथमाला के प्रकाशन सयोजक महोदय, एव ग्रथ-माला के सभी सहयोगी कार्यकर्ताओ को धन्यवाद देता हूँ कि जिन्होने कितना कठिन परिश्रम करके जिनवाणी के प्रचार एव प्रसार मे अपनी नि स्वार्थ सेवाये अर्पित कर रहे है ।

मुझे आशा ही नही बल्कि पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रथराज के माध्यम से धर्म प्रेमी बन्धु स्वाध्याय करके लाभ उठावेगे एव गुरुवर्य गणधराचार्य महाराज मिथ्यात्व तिमिर का नाश करने के लिए सूर्य से तेजस्वी, प्रकाशमान, ज्योति के समान, हम सभी को प्राप्त हुए है, उनसे हम सभी लोग लाभ उठाते रहेगे । ऐसे गुरुदेव के चरणोंमें में अल्पज्ञ कोटि-कोटि वार नमन करते हुए नमोस्तु अर्पित करता हूँ ।

प्रतिष्ठाचार्य
प्रदीप कुमार जैन
बी कॉम. शास्त्री
कुसुम्बा (महाराष्ट्र)



परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य आदिसागरजी महाराज

का

जीवन परिचय

[ले०परम पूज्य १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागर जी महाराज के परम शिष्य युवक सम्राट श्री १०८ मुनि कुमुदनन्दिजी महाराज]

आदि सागराचार्य वर्य, गुरू पद महावीर कीर्ति वंदू त्रिकाल ।
सन्मति सिधू को नमन कर वरणू जीवन की जयमाल ।।

परम पूज्य प्रातः स्मरणीय अध्यात्म योगी, चारित्र चक्रवर्ती, धर्म दिवाकर, जगद वंद्य, महर्षि योगीन्द्र चूडामणि अद्वितीय सन्त आदिसागरजी का परिचय जितना हमने पढा और सुना है उसे संक्षिप्त मे लिख रहा हूँ ।

महाराष्ट्र प्रान्त में एक "अकली" नाम का छोटा किन्तु मनोहर गांव है । वहां पर १००८ श्री आदिनाथ जिनालय है, जिसमें सतत् धर्मामृत वर्षण होता रहता है । इसी गांव मे जिन भक्त स्वधर्मनिष्ठ, सदाचारी, धर्मात्मा, श्री सिद्धगौडा पाटील अपनी ध. प. अक्काबाई के साथ निवास करते थे । शिवगौडा जिनका जन्म १८६६ मे शुभ स्वप्नों पूर्वक हुआ जो हमारे धर्म नेता हुए । एक दिन बच्चों ने मिलकर खेल में इन्हें कमरे में बन्द कर दिया । कुछ क्षणो में मुक्को से किवाड तोडकर हँसते हुए बाहर निकल गये । बडे-बडे कद्दू (काशीफल) को हाथ की चपेट से फोडकर कच्चा ही खा लेना, पचा लेना साधारण बात थी नाश्ते में एक सेर गुड व एक सेर मूंगफली पान-सुपारी के समान थी । अपनी गृहस्थी में उपवासादिपूर्वक ही रहते थे ।

अचानक एक दिन अधिक प्यास लगी। इन्होने चूने के पानी को छाछ समझकर पी लिया। कुछ ही क्षण बाद पेट से सर्प निकल भागा। यह देखकर घर वाले दग रह गये। स. १८०६ मे नांदजी गांव में जिनप्पा स्वामी के पास क्षुल्लक दीक्षा धारण की और आदि सागर नाम से विख्यात हुए। उस समय मुनिमार्ग व्यवस्थित नही था, अतः तीन महिने बाद मे जिनेन्द्र प्रभु की साक्षी मे ऐलक हो गये। और तीन-तीन उपवास के बाद आहार करने लगे और ५ प्रकार के स्वाध्याय मे तल्लीन हो गये। स. १८१४ मगसर शुक्ल २ मुक नक्षत्र मगलवार को दस बजे सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरि जी मे श्री देशभूषण, कुलभूषण भगवान के सानिध्य मे स्वय (आत्मप्रबोध) बल से निर्ग्रन्थ मुनि दीक्षा धारण की।

मुनि दीक्षा धारण करने के बाद आप आचार्य पद से सुशोभित हुए। आपकी तपस्या बहुत अद्भुत एव कठोर थी। आप सात-सात उपवास पर आहार लेते थे। और आहार मे भी एक ही वस्तु का आहार लेते थे। आपने समाधि से पूर्व अपना आचार्य पद मुनि श्री १०८ महावीर कीर्ति जी महाराज को प्रदान किया। आपकी समाधि सवत् १९९९ मे फाल्गुन कृष्णा तेरस को ऊधगांव (कुंजवन) मे हुई। आप अकली गाव के रहने वाले थे, अतः आप परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य आदिसागरजी महाराज (अकलीकर) के नाम से प्रसिद्ध हुए।

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य महावीर कीर्तिजी महाराज

परमपूज्य श्री १०८ आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज अपने गुरू के समान ही उच्च कोटि के महान् विद्वान् एव तपस्वी सिद्ध हुए। आपका जन्म फिरोजाबाद नगर में हुआ और आपके पिता का नाम रतनलाल व माता का नाम बूंदादेवी जी था। आपका नाम श्री महेन्द्रकुमार था। दिगम्बरीय दीक्षा धारण कर आचार्य पद से

विभूषित होकर आपने भारतवर्ष के नगर-नगर और ग्राम-ग्राम में विहार कर जिनधर्म का प्रचार किया और अनेक भव्यात्माओ को वैराग्य की ओर बढने का सदोपदेश देकर दिगम्बरीय दीक्षाये प्रदान की । आज आप ही के परम शिष्यो मे परम पूज्य श्री १०८ सन्मार्ग दिवाकर निमित्तज्ञान शिरोमणि खण्डविद्या धुरन्धर आचार्य विमल-सागरजी महाराज, महान् तपस्वी प पू. श्री १०८ आचार्य सन्मति सागरजी महाराज, प. पू. श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागरजी महाराज, प पू. श्री १०८ आचार्य सभवसागरजी महाराज हमारे बीच विद्यमान है । इन सभी आचार्यो के द्वारा कितनी धर्म प्रभावना हो रही है और कितना लाभ भव्यात्माओं को पहुँच रहा है, यह शब्दो में व्यक्त नही किया जा सकता है ।

परम पूज्य १०८ आचार्य सन्मति सागरजी महाराज

परमपूज्य आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज ने समाधि के पूर्व अपना आचार्य पद सघस्थ परम तपस्वी श्री १०८ मुनि सन्मतिसागरजी महाराज को प्रदान किया । आप भी परम तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी आचार्य है । भारतवर्ष देशके नगर-नगर और गांव-गाव मे विहार कर भव्यजनो को धर्मामृत पान करा रहे है ।



श्री कुन्थु-विजय ग्रन्थमाला

[रचयिता-बिहारीलाल मोदी शास्त्री]

श्री कुन्थुविजय ग्रथमाला ने अब तक, ग्रंथ प्रकाशित किये विशाल ।
द्वादश अनुपम पुष्पो से, ग्रन्थित कीनी उत्ताम माल ।।
साहित्य प्रकाशन के जग मे, हुआ समुन्नत इसका भाल ।
अत्यल्प समय मे इसने, दिये विश्व को अनुपम लाल ।।१।।
प्रथम पुष्प लघुविद्यानुवाद है, वर्णित यन्त्रतन्त्र अरु मन्त्र ।
दुतिय चतुर्विशति तीर्थंकर, विधी अनाहत मन्त्ररु यन्त्र ।।
तजो मान करो ध्यान तीसरा, विधि सिखाता धरना ध्यान ।
हुम्बज श्रमण सिद्धान्त पाठावलि, प्रातः पठन करे कल्याण ।।२।।
पुर्नमिलन मे सती अंजना, अरु पवनञ्जय का आख्यान ।
प्रतिदिन पूजन करते प्राणी, पूजा शीतलनाथ विधान ।।
वर्षायोग स्मारिका जयपुर, रहा अनौखा वर्षायोग ।
श्री सम्मेद शिखर माहात्म्य को पढकर, क्रम से मिटता भव का रोग ।।३।।
कथा रात्रि भोजन त्याग की, सुरभित करता नवमा फूल ।
दशम पुष्प को पढकर प्राणी, पा जाता है भव का कूल ।।
भैरव पद्मावती कल्प एकादश, तन्त्र मन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ ।
सच्चा कवच कहानी सन्ग्रह, बतलाता है सच्चा पथ ।।४।।
गोम्मट प्रश्नोत्तर चितामणि, तेरहवाँ यह ग्रथ महान् ।
सार सैकडो ग्रथो का गुम्फित कीना आचार्य सुजान ।।
चारों अनुयोगो का अनुपम, भरा हुआ है इसमे सार ।
इसका अध्ययन करके प्राणी, कर सकता आतम उद्धार ।।५।।
श्री शान्तिकुमार के सयोजन मे मिली सफलता इसको आज ।
निष्ठा लगन और श्रम उनका, शीघ्र सफल करता सब काज ।।
ज्ञान ज्योति यह जले अखण्डित, मिथ्यातम का करै विनाश ।
करे कामना लाल बिहारी, अखिल विश्व मे करै प्रकाश ।।६।।



प्रस्तावना



जैन धर्म निवृत्ति-प्रधान धर्म है। निवृत्ति की महत्ता प्रवृत्तियों के वातावरण मे अधिक निखरती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार परिग्रह के वातावरण मे त्याग की उज्ज्वलता प्रगट होती है। जैन धर्म के आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव असि, मसि आदि लौकिक प्रवृत्तियो के स्वय सूत्रधार थे, अपार राज्य-वैभव के स्वामी थे, किन्तु उन्होने वैराग्य धारण कर त्याग व निवृत्ति का मार्ग अपनाया, और तप व साधना से 'परमात्मा' पद प्राप्त किया। (मोहनीय) कर्मावरण के हटने पर उनके स्वच्छ व निर्मल 'ज्ञान' के प्रकाश मे समस्त लोकालोक प्रतिबिम्बित हो उठा था। इस ज्ञानसूर्य की किरणे 'दिव्यध्वनि' के रूप मे प्रस्फुटित हुई और जनता को उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अनेक भव्य जनो को प्रतिबोधित होकर आत्मकल्याण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। जनता को भवसागर से तिरने का मार्ग प्रशस्त हुआ, अतः वे प्रथम तीर्थंकर कहलाए। समस्त कर्मो का क्षय कर वे सिद्ध-बुद्ध, मुक्त हुए।

ऋषभदेव के अनन्तर कालक्रम से २३ तीर्थंकर और हुए जिनमे अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर थे। सभी अर्हन्तों व तीर्थंकरो की तरह वे भी जनता को भवसागर से मुक्ति का मार्ग दिखाकर स्वय मुक्त हुए। पूर्व तीर्थंकरो की तरह ही उनकी अर्थवाणी को उनके निकटस्थ विशिष्ट प्रतिमाधारी गणधरो (गणेशो) ने शब्दरूप

से ग्रथित कर समस्त तात्त्विक विवेचना (तत्त्वार्थ) से परिपूर्ण सुव्य-वस्थित शास्त्र 'आगम' का रूप प्रदान किया (प्रव १/८२, सूत्र प्रा.१, नियम ८, राज वा ६/१३/२)।

आगम, प्रवचन, जिनाज्ञा, जिनशासन, सिद्धान्त, श्रुत सूत्र आदि शब्द एकार्थक है। परवर्ती आचार्यो ने भी पर कल्याण के उद्देश्य से उपदेश दिया (प्रव. ३/४८), और जैन शासन की ज्ञान-धारा को अनवरत रुप से प्रवाहित किए रखा। इन आचार्यो मे— पुष्पदन्त, भूतबलि, गुणधर, कुन्दकुन्द, बट्टकेर, शिवकोटि, उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद, योगेन्दु, यतिवृषभ, अकलक, जिनसेन, विद्यानन्दि, वीरसेन, गुणभद्र, अमृत चन्द्र, सोमदेव, शुभचन्द्र स्वामी, कार्तिकेये, पद्मनन्दि नेमीचन्द्र वीरनन्दि आदि प्रमुख है।

तटस्थ एव प्रामाणिक पूर्वोक्त आचार्य—गुरुओ की परम्परा से प्राप्त समस्त साहित्य प्रमाण भूत माना जाता है (धवला पु. १३, पृ. ३८२, पु १, पृ १९७—१९८)। आचार्य—परम्परा के माध्यम से प्राप्त जिनवाणी का अध्ययन प्रत्येक जैन मुमुक्ष का कर्त्तव्य है, क्योकि इसके अध्ययन द्वारा ही भव्य जीव मोक्ष मार्ग का पथिक होता है (सूत्र प्रा २)। शास्त्ररुपी आलोक के बिना विशाल ज्ञानरुपी आँखे भी मोहान्धकार से व्याप्त कल्याणरुपी मार्ग को देख नही पाती (अनगार—१/१५) जिनवाणी को समस्त दु खो का क्षय करने वाली अमोघ औषधि माना गया है (दर्शन प्रा १७)। इसका अनुशीलन करने वाला अपने ससार—चक्र का नाश करता है (सूत्र प्रा. ३)। जिनवाणी के माध्यम से जीव—अजीव आदि पदार्थो के स्वरुपादि का निश्चय तथा उनके परस्पर—भेद का यथार्थ बोध होता है, और फल-स्वरुप मोह नष्ट होकर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है(मोक्ष प्रा० ४१, ३८, प्रव १/८६, सम्यग्ज्ञान से हेय—उपादेय का ज्ञान होता है फलस्वरुप एकाग्रता, शील सम्पन्नता व संयमवृत्ति के साथ निर्वाण का मार्ग प्रशस्त होता है। तत्त्वज्ञानी की प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति—दोनों मोक्षगा-मिनी होती है(आत्मानु पृ १८०)। तत्त्वज्ञान-प्राप्ति का प्रमुख साधन 'स्वाध्याय' है, जिसे विशिष्ट तप कहा गया है (अनगार ३/२३)।

स्वाध्याय का स्वरूप

स्वाध्याय के स्वरूप के सम्बन्ध में विविध निरूपण प्राप्त होते है, जो इस प्रकार है—

(I) सु+आ+अध्याय=स्वाध्याय। 'सु' यानी भलीभाति(सुष्ठु) 'आ' यानी मर्यादा के साथ, 'अध्ययन'–श्रुत का विशेषतः अनुशीलन 'स्वाध्याय' है। निष्कर्षतः जिनेन्द्र–प्ररूपित शास्त्र का एकाग्र चित्त से अध्ययन–पढना 'स्वाध्याय' है (तत्त्वानुशासन, ८०)। अध्ययन से तात्पर्य उन शास्त्रो के पठन-पाठन से है, जिनसे चित्त निर्मल होता है या जिससे तत्त्वबोध, सयम व मोक्ष की प्राप्ति होती है या जिससे तत्त्वबोध, सयम व मोक्ष की प्राप्ति होती है (विशेपावश्यक भाष्य–६५८)।

(II) शास्त्रादि का स्व+अध्याय। यानी अपने लिए–अपनी आत्मा के लिए–हितकारी अध्ययन करना 'स्वाध्याय' है (सर्वार्थ सिद्धि, ६.२०)।

(III) स्व+अध्याय। यानी 'स्व' का, आत्मा-का, अध्ययन (जिन-दास चूर्णि, दशवै. ८४१)। आत्मा के आशय को पढ़ना, आत्मा के गुणो की खोज करना, उन्हे जीवन मे उतारना, इस प्रकार आत्मा के स्वाभाविक गुणो की (मननादि द्वारा) प्राप्ति ही वास्तविक स्वाध्याय है।

(IV) आलस्य त्याग कर ज्ञान की आराधना को 'स्वाध्याय' कहते है (सर्वार्थसिद्धि, ६.२०)।

यहाँ 'ज्ञान' पद से 'सच्छास्त्र', 'आराधना' पद से अध्ययन–मनन आदि अभिप्रेत है; अत भगवान् जिनेन्द्र द्वारा निरूपित जीव-अजीवादि तत्त्वो के निरूपण करने वाले (वारह अग, चौदह पूर्व) सच्छास्त्रो का मनन ही-व्यवहार दृष्टि से–(मूलाचार, ५११) स्वाध्याय है। 'ज्ञान' पद से आत्मा भी अभिप्रेत होता है (प्रव. १२७)। ऐसी स्थिति में आत्माराधना ही, परमार्थ दृष्टि से, स्वाध्याय है।

जैन शास्त्रो मे स्वाध्याय के पाच अग वताए गए है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार १. वाचना, २ पृच्छना, ३. प्रति-पृच्छना (अनुप्रेक्षा), ४. आम्नाय, ५. धर्मोपदेश—ये पांच अग है (तत्त्वार्थसूत्र ६.२५)। व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र), मूलाचार आदि के अनुसार १. वाचना, २. पृच्छना, ३ परिवर्तना, ४ अनुप्रेक्षा, ५. धर्म कथा—ये ५. अग है (व्याख्या प्रज्ञप्ति, २५ ७ ८०१) मूला-चार, ३९३, उत्तराध्ययन, ३०.३४, औपपा १९)।

(१) वाचना—

निर्दोष ग्रन्थ तथा तत्प्रतिपादित अर्थ—इन दोनो के उपदेश का योग्य पात्र को प्रदान करना 'वाचना' है (सर्वार्थसिद्धि ९.२५)। गुरु शिष्य को सूत्रादि की 'वाचना' प्रदान करता है, भव्य जीव को शास्त्र पढाता है, ग्रन्थ के अर्थ की प्ररूपणा करता है (धवला पु. ९, पृ २५२, २६२, जै. सि को. ३.५३९), शिष्य उसका ग्रहण करता है। वह शिष्य भी योग्य पात्रो को वाचना दे सकता है। सामान्यत. सद्गुरु से सूत्रपाठ की शिक्षा लेकर शास्त्रो का वाचन, आत्मकल्याण-हेतु निर्दोष ग्रन्थों को स्वय पढना, दूसरो को समझाने-हेतु सूत्रानु-योगी व्याख्यान करना या वाचन करना—ये सब कार्य 'वाचना' के अन्तर्गत है।

सूत्र—व्याख्यान के ६ भेद शास्त्रो में बताए गए है—(१) सहिता (पद का अस्खलित, शुद्ध उच्चारण),(२) पद (वाक्य के प्रत्येक पद का शुद्ध पृथक्-पृथक् उच्चारण) (३) पदार्थ (पद का अर्थ), (४) पद-विग्रह, (५) पदच्छेद (चालना, शका आदि उठाना) (६) प्रसिद्धि (उठाई गई शकाओ का समुचित समाधान) (उद्धृत—सुत्तागमे II भाग, पृ० ५८—५९)।

सूत्रो का उच्चारण इस तरह सांगोपांग व परिपूर्ण रूप से किया जाए कि अक्षरादि की स्खलना न हो, पदो को पृथक्—पृथक् कर पढा जाए, अपनी ओर से कोई अक्षर, पद आदि का न तो योग किया जाए, और न ही कमी की जाए, वर्णों का यथास्थान (उदात्तादिघोष—नियमानुरूप), सुस्पष्ट उच्चारण हो, प्रत्येक पद अपनी माला मे गूथे हुए फूल जैसा सुशोभित हो (अनुयोग द्वार सू० १३—१४, विशेषावश्यक भाष्य, ८५१, ८५४—८५५)।

दिगम्बर ग्रन्थो में वाचना के चार प्रकार इस प्रकार बताए गए है—(१) नन्दा (२) भद्रा (३) जया (४) सौम्या (धवला पु० ६, पृ० २५२)।

नन्दा—सम्यग्दर्शनो को पूर्व पक्ष के रूप मे उपस्थापित कर स्व (जैन) मत को सिद्धान्त रूप मे उपस्थापित करने की वाचना 'नन्दा' है (धवला पु० ६, २५२)।

जया—पूर्वापर–विरोध–परिहार के बिना सिद्धान्त–अर्थो का कथन 'जया' वाचना है (उत्त० १.५८ निर्युक्ति, शातिसूरिवृत्ति।

भद्रा—युक्तिपूर्वक समाधान कर पूर्वापर–विरोध को हटाते हुये समस्त पदार्थो की व्याख्या 'भद्रा वाचना' है। सूत्रार्थ का पूर्वा-पर–संगति के साथ अपने लिए ज्ञान से, तथा दूसरो के लिए वचनो से निर्गमना (निर्यापना=अर्थ–निरुपणा) वाचना–सम्पद कही जाती है (उत्तराध्ययन १.५८ निर्युक्ति शांतिसूरि वृत्ति।

सौम्या—कही–कही स्खलन वृत्ति से, (थोडा–थोडा भाग छूते हुए) की जाने वाली वाचना 'सौम्या' है (उत्तराध्ययन १.५८ निर्युक्ति शांतिसूरि वृत्ति)।

वाचना की स्थिति में शिष्य को मान, क्रोध, प्रमाद, आलस्य आदि से रहित होना चाहिए (उत्तरा ११ ३)।

(२) पृच्छना

सशय का उच्छेद करने या निश्चित बल (महत्त्व) को पुष्ट करने हेतु प्रश्न करना 'पृच्छना' है (सर्वार्थसिद्धि, ६.२५, रा. वार्तिक ६.२५.२, अनगार धर्मामृत, ७ ८४, धवला पु. १४ पृ. ६)। शास्त्रो के सदिग्ध अर्थ को किसी दूसरे से पूछना, सत्पथ की ओर बढने हेतु मोक्षादिमार्ग का स्वरूप निश्चित करना, सशय–निवारणार्थ प्रश्न या जिज्ञासा करना। पढते समय या पढने के बाद, शिष्य के मन मे जहाँ कोई शका उठे ऐसी स्थिति मे, अथवा कोई बात आगम मे स्पष्ट न हो सकी हो, उसके सम्बन्ध मे गुरुजनो से समाधान पाने का प्रयत्न करना 'पृच्छना' है (धवला पु ६. पृ २६२, धवला पु. १४, पृ ६)। ये प्रश्न एक प्रकार से विषय की सुस्पष्टता के लिए प्रारम्भिक कदम है। इसीलिए शास्त्रो मे आचार्यादि बहुश्रुत के

समक्ष अर्थ-विनिश्चय हेतु जिज्ञासा रखने की प्रेरणा दी गई है (धवला पु. पृ २८५) ।

(३) परिवर्तना (या आम्नाय)

गृहीत ज्ञान को स्थायी बनाने हेतु किसी सूत्र का या पठित शास्त्र का, आचारविद व्रती द्वारा स्वय किया गया बार-बार शुद्ध (पाठ-दोषो से रहित) पाठ 'परिवर्तना' है (तत्त्वार्थ ९.२५ श्रुत-सागरीय वृत्ति) । परिचित श्रुत का मर्म समझने, तथा स्मृति मे पूर्णता स्थिर करने हेतु यह एक प्रकार का परिशीलन या पर्यालोचन भी है (धवला पु. ९, पृ० २६२) । पठित ग्रन्थ का शुद्ध-शुद्ध उच्चारण करते हुए बार-बार पाठ से तत्सम्बद्ध अर्थ मन मे दृढता से बैठता जाता है ।

(४) अनुप्रेक्षा

सन्देह की स्थिति मे अधिगत शास्त्रो मे प्रतिपादित पदार्थ का, सुने हुए अर्थ का श्रुतानुसार तात्त्विक दृष्टि से, पुनः-पुनः मन मे अभ्यास, गम्भीर चिन्तन-मनन (सर्वार्थसिद्धि ९.२५; तत्त्वा ९.२५ भाष्यानुसारी टीका, धवला पु १४, पृ ९), मन की स्थिरता हेतु वस्तु-स्वभाव एव पदार्थ-स्वरूप का या पूर्ण रूप से हृदयगत श्रुतज्ञान का परिशीलन-पर्यालोचन 'अनुप्रेक्षा' है (९ धवला पु ९, पृ. २६२, तत्त्वा श्रुतसागरीय वृत्ति ९ २५, तत्त्वार्थ राजवार्तिक ९.२५ ३; चारित्रसार, पृ. ६७, अनुयोगद्वार, हरिभद्रीय वृत्ति ७, पृ० १०, तत्त्वार्थसार, ७२०, आचारसार, ४.९१; धर्मशर्मा-स्वोपज्ञवृत्ति, ३.५४)

(५) धर्मोपदेश

सर्वज्ञप्रणीत अहिसादि लक्षण रूप धर्म का कथन (अनुयोग) धर्मकथा या धर्मोपदेश है (सर्वार्थसिद्धि ९.२५) । इसके अन्तर्गत त्रेसठ शलाका पुरुषो का चरित्र पढना-चित्त को विषयो से रोक कर शान्तिदायी पाठो का अभ्यास तथा उन्हे कण्ठस्थ-करना-चिन्तन-मनन के बाद तत्त्व-रहस्य जब स्वय को उपलब्ध हो जाए तब विचारामृत को जन–जन के समक्ष प्रस्तुत करना, दूसरो को सत्य के अन्वेषण हेतु मार्ग बताना, तथा सन्देह-निवृत्ति हेतु पदार्थ का स्वरूप

बताना, श्रुतादि धर्म की व्याख्या करना, तथा श्रोताओं मे रत्नत्रय की प्राप्ति हेतु प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने के लिए स्वतन्त्र रूप से धार्मिक उपदेशादि द्वारा बढाना आदि परिगणित है ।

प्रमुखतः दिगम्बर मतानुसार प्रथमानुयोग रूप, श्वेताम्बर-मतानुसार धर्मकथानुयोग रूप शास्त्र 'धर्मकथा या धर्मोपदेश' मे परिगणित है (महापुराण १ १२०) ।

धर्मोपदेश, अर्थोपदेश, व्याख्यान, अनुयोग-वर्णन—ये सब पर्यायवाची शब्द है तत्त्वा ६ २५ भाष्य टीका ।

स्वाध्याय की महत्ता

शास्त्रो में श्रावक (जैन) के ६ आवश्यक दैनिक क्रम बताए गए है, उनमे स्वाध्याय (तत्त्वाभ्यास आदि) की भी परिगणना की गयी है (पद्मनन्दि पच ६.७, १ १३, चारित्रसार पृ ४३, जै सि. को ४५१ ।

साधु के लिए जो आवश्यक ६ क्रियाए निर्धारित है, उनमें स्वाध्याय भी एक है । केवल चार घड़ी सोने के अलावा मुनि अपना समय आवश्यक धर्मक्रियाओ मे ही लगाता है । उनमे भी स्वाध्याय मे मुनि, को आठ प्रहर के पूरे दिन-रात मे, चार प्रहर का समय (यानी आधा समय) व्यतीत करना होता है । प्रथम प्रहर मे सूत्र स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर मे (सूत्रार्थ-चिन्तन) ध्यान, तृतीय में भिक्षाचर्या, चतुर्थ मे पुनः स्वाध्याय करने की मुनिचर्या शास्त्रो मे निहित है (उत्तराध्ययन सूत्र २६ ११ १२, २६.१७-१८, २६ ४३) । इस विधि-विधान मे त्रुटि आने पर 'प्रतिक्रमण' मे उक्त भूल का प्रायश्चित्त करता है (सामायिक आवश्यक प्रतिक्रमण सूत्र, आवश्यक सूत्र, सावयावस्सय सुत्त-प्रतिक्रमण सूत्र-ज्ञानातिचार पाठ) ।

प्रस्तुत ग्रन्थ

आज का युग व्यस्तताओ से भरा है, ऐसी स्थिति मे विशालकाय व अनेक जैन आगमो का स्वाध्याय कर पाना कठिन है । बडी प्रसन्नता की बात है कि स्वाध्याय तपोमूर्ति परम पूज्य १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागर जी महाराज ने अपने जीवन के स्वाध्याय

का सार प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप मे प्रस्तुत किया है, जिससे बहुत कम समय मे समस्त जिनवाणी का सक्षिप्त सार ज्ञात हो सकता है। 'गोम्मट प्रश्नोत्तर चिन्तामणि' नामक इस ग्रन्थ मे अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का सार समाहित हुआ है । इन ग्रन्थो मे 'गोम्मटसार' 'त्रिलोकसार', 'मूलाचार', 'ज्ञानार्णव', 'समयसार', 'प्रवचनसार', 'नियमसार', 'रत्नकरड श्रावकाचार', 'तत्त्वार्थसूत्र', 'आचारसार', 'राजवार्तिक', 'परमात्मप्रकाश', 'पुरुषार्थसिद्धियुपाय', 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' आदि महत्त्वपूर्ण है ।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रन्थ माला समिति की ओर से १३वे पुष्प के रूप मे किया जा रहा है । यह ग्रन्थ श्रावको एव साधुवो दोनो के लिए ही लाभ-दायक बन गया है ।

ग्रन्थ के मुद्रण व प्रकाशन व्यवस्था के प्रमुख स्तम्भ ग्रन्थमाला के प्रकाशन सयोजक श्री शांतिकुमारजी गगवाल को अपना धन्यवाद ज्ञापित करता हू । इस ग्रन्थमाला के मुख्य प्रेरणा स्तम्भ परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य स्याद्वादकेशरी, श्रमणरत्न, वात्सल्य रत्नाकर कुन्थुसागर जी महाराज एव श्री १०५ गणिनी आर्यिका सिद्धान्त विशारद, सम्यग्ज्ञान शिरोमणि विदुषीरत्न जिनधर्म प्रचारिका विजयामती माताजी के पावन चरणो मे मेरा शत शत 'नमोस्तु' अर्पित करता हूँ ।

डॉ० दामोदर शास्त्री
आचार्य (रीडर) एव अध्यक्ष :
(जैन दर्शन विभाग)
श्री ला ब शास्त्री केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली





प्रकाशकीय



भारत वर्ष मे विहार प्रात की भूमि सर्व श्रेष्ठ पावन पवित्र भूमि है, क्योकि यहा पर हमारे २४वे तीर्थंकर भगवान महावीर ने जन्म लिया और २२ तीर्थंकर अनेक भव्यात्माओ के साथ मोक्ष पधारे। इसी प्रात मे स्थित आरा नगर मे महान् तपोनिधि स्याद्वाद केशरी, वात्सल्य रत्नाकर, श्रमण रत्न श्री १०८ गणधराचार्य कुथुसागरजी महाराज व उनके विशाल सघ सानिध्य में यह पच कल्याणक महोत्सव विभिन्न धार्मिक कार्यक्रमो के साथ सम्पन्न हो रहा है।

मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि ऐसे शुभावसर पर "श्री दि. जै. कुथु विजय ग्रन्थमाला समिति" जयपुर (राज) द्वारा १३वें पुष्प के रूप मे प्रकाशित "श्री गोम्मट प्रश्नोत्तर चितामणि" ग्रंथ का विमोचन परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुथुसागरजी महाराज के करकमलो द्वारा करवाने का परम सौभाग्य प्राप्त हो रहा है।

श्री गोम्मट प्रश्नोत्तर चितामणि ग्रथ एक गागर में सागर के समान ग्रंथराज है। इन ग्रन्थराज मे लगभग ४० मूलभूत ग्रन्थो को लक्ष्य मे रखकर २,१७८ श्लोको में सग्रह किया गया है। इसका सग्रह परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुंथुसागरजी महाराज ने अपने बाहुबलि वर्षायोग के समय बहुत ही कठिन परिश्रम से वर्ष १९८१ में किया था।

ग्रंथ मे प्रत्येक विषय को समझाने के लिये कितना कठिन परिश्रम महाराज ने किया है यह तो आप स्वय ही ग्रथ को पढ़कर के जानकारी प्राप्त कर लेगे। मै तो मात्र इतना ही बता सकता हू कि इस एक ही ग्रथ के स्वाध्याय करने से धर्म प्रेमी बधुओ को अनेको ग्रथो का स्वाध्याय हो जावेगा। जिससे सभी ग्रथो के विषयो की जानकारी प्राप्त हो जावेगी। इस प्रकार यह ग्रथ "ग्रथरत्न" के रूप मे सिद्ध होगा।

परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य महाराज आर्ष परम्परा के दृढ़ स्तम्भ है। समता, वात्सल्य, निर्ग्रन्थता, आपके विशेष गुण है, जो भी आपके एक बार दर्शन प्राप्त कर लेता है, वह अपने आपको धन्य मानता है।

स्वकल्याण के साथ-साथ आपके भाव हमेशा पर कल्याण के भी बने रहते है। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण आपका विशाल सघ है। आपने अनेको दीक्षाये दी है। वर्तमान मे आपके सघ मे लगभग ३१ साधु है। जिनमें आप ही के दीक्षित मुनियो की सख्या ही २२ है। जो भारत वर्ष मे विद्यमान किसी भी श्रमण सघ मे नही है। यह हमारे लिए बहुत ही गौरव व प्रसन्नता की बात है कि ऐसा विशाल सघ हमारे मध्य विद्यमान है।

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य रत्न धर्म सागरजी महाराज के आदेशानुसार आपने देश के नगर-नगर और गाँव-गाँव मे विहार कर सोनगढ साहित्य का बहिष्कार करने व जिन मन्दिरो से उस साहित्य को हटाने के लिए पुर-जोर अभियान चलाया। जिसके फल स्वरूप आपने कितने उपसर्ग सहन किये ? कितने प्राणघातक हमले आप पर हुए ? लेकिन धर्म की रक्षा के लिए आपने-अपने प्राणों की भी तनिक चिन्ता नही की और जो कार्य इस दिशा मे गणधराचार्य महाराज ने किया है, उस पर हम सभी को गौरव है। आप सदैव ही निड़र होकर के पूर्वाचार्यो द्वारा लिखित ग्रथो का ही स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते रहे है। और इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपने इस विशाल ग्रंथ "गोम्मट प्रश्नोत्तर चितामणि" का संकलन कर प्रकाशन

करवाया है। इसके अलावा भी आपने कई ग्रंथ लिखे है। जो ग्रथ अन्य भाषाओं में थे, उनकी टीकाये भी की, और उन ग्रंथो का प्रकाशन भी हुआ, जिनसे अनेक लोग स्वाध्याय करके लाभ· प्राप्त कर रहे हैं।

इस प्रकार गणधराचार्य महाराज के गुणों के बारे में जितना लिखा जावे उतना ही कम है। मात्र मैं तो इतना कह सकता हूँ कि आज के युग में परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य महाराज आर्ष परम्परा के दृढ स्तम्भ होने के साथ साथ त्याग व तपस्या की साक्षात् मूर्ति है।

गणधराचार्य महाराज ने जितने कठिन परिश्रम से इस ग्रथ का संग्रह किया था, उतना ही इसको प्रकाशन करने का कार्य भी बहुत कठिन था। क्योंकि ग्रथ प्रकाशन का कार्य बहुत मुश्किल होता है, कितनी ही बाँधाये इसमें आती है यह तो करने वाले व कराने वाले ही जानते है, लेकिन गुरु आशीर्वाद से सब कार्य आसान हो जाते है, जिनको दृढ श्रद्धान होता है। पूज्य आचार्यो व गणधराचार्य महाराज के शुभाशीर्वाद पर दृढ श्रद्धान करके हमने ग्रथ का प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ करवाया और अनेको बाँधाये आने के बावजूद भी हमने इस ग्रथ को समय पर प्रकाशन करवाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन मे कलकत्ता दि. जैन समाज एव अन्य महानुभावो का गुप्त सहयोग हुआ है। वास्तव मे उन सभी दानवीरो ने ज्ञानदान के महत्त्व को समझकर पूर्ण लाभ प्राप्त किया है। ग्रंथमाला के लिए यह बहुत ही गौरव व प्रसन्नता की बात है कि इतने विशाल ग्रथ का प्रकाशन इस प्रकार गुप्तदान के सहयोग से करा सकी है। ग्रथमाला की ओर से मै उन सभी दातारो का बहुत-बहुत आभार व्यक्त करते हुए धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य मे भी उनका सहयोग इसी प्रकार से मिलता रहेगा।

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य रत्न विमलसागरजी महाराज के शिष्य पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक चैत्यसागरजी महाराज का इस ग्रंथ

के प्रकाशन कार्य को सम्पन्न करवाने मे बहुत सहयोग रहा है। क्षुल्लक महाराज इस समय गणधराचार्य महाराज के संघ के साथ ही वर्षा-योग कर रहे है। आशा है आपका सहयोग, मार्ग दर्शन इस ग्रथमाला को ग्रथ प्रकाशन कार्यो मे सदैव प्राप्त होता रहेगा।

कलकत्ता निवासी परम गुरु भक्त श्रीमान् एस. एल. बगड़ा साहब का मैं बहुत-बहुत आभारी हूँ कि उन्होने भी समय-समय पर हमें मार्ग दर्शन देकर प्रकाशन कार्यो को सुचारू रूप से सम्पन्न करवाने में अपना महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

ग्रथमाला के प्रकाशन कार्यो मे सभी सहयोगी कार्यकर्त्ताओं का बहुत-बहुत आभारी हूँ कि आप सभी ने समय पर कार्य पूरा करवाने में मुझे सहयोग प्रदान किया है। श्री प्रदीपकुमार गगवाल ने गणधराचार्य कथुसागरजी महाराज के शुभाशीर्वाद से इस कार्य मे बहुत ही परिश्रम किया है। अन्य सहयोगी गण सर्व श्री मोती लालजी हाड़ा, श्री लिखमीचन्द जी बक्षी, श्री लल्लूलाल जी गोधा, श्री रविकुमार गंगवाल, जैन सगीत कोकिला रानी बहिन श्रीमति कनकप्रभाजी हाड़ा, श्रीमति मेमदेवी गंगवाल, ब्र. बहिन चन्द्ररेखाजी आदि का भी विशेष सहयोग रहा है। ग्रथमाला समिति द्वारा प्रकाशन कार्य को बहुत ही सावधानी पूर्वक देखा गया है, फिर भी इतने विशाल कार्य मे त्रुटियो का रहना स्वाभाविक है। प्रकाशन सामग्री मेरे सामान्य ज्ञान की परिधि के बाहर है। मैने तो मात्र परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुथुसागरजी महाराज की आज्ञा को शिरो-धार्य करके यह कार्य किया है। अतः साधुवर्ग, विद्वतजन, व अन्य पाठको से निवेदन है कि त्रुटियों के लिए क्षमा करे।

अन्त मे पचकल्याणक महोत्सव के पावन पवित्र शुभावसर पर परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुथुसागरजी महाराज को त्रिबार नमोस्तु अर्पित कर यह ग्रथराज उनके करकमलो मे भेट कर प्रार्थना करता हूँ कि वह इस महत्वपूर्ण ग्रथ का विमोचन करने की कृपा करे।

गणधराचार्य महाराज के चरणकमलो का
परम गुरु भक्त
सगीताचार्य प्रकाशन सयोजक
शान्तिकुमार गंगवाल
(बी. कॉम)
जयपुर (राजस्थान)

जिनवाणी का माहात्म्य

जिनवाणी का एकाग्रचित्त होकर सेवन करने का फल आत्मा की उन्नति करना है। यह उन्नति तभी सम्भव है जबकि सद्साहित्य को पढकर धर्म के मर्म को समझने की जिसमें जिज्ञासा या आकांक्षा हो। सम्यग्ज्ञान के महत्व को जिन्होने समझा है, उन्होने स्वाध्याय को अपना कर सद्साहित्यो का अध्ययन किया है। वह अपनी आत्मा के जिन स्वभाव मे रत रहते है। ज्ञानाराधना एक तपश्चर्या है।

अतः कहा गया है :—"**स्वाध्यायो परम तपः**" अर्थात् स्वाध्याय ही परम तप है। क्योकि स्वाध्याय के बिना कर्मो की निर्जरा नही हो सकती है। ज्ञान के द्वारा ही प्रत्येक जीव अमृतपान कर सकता है। जिनवाणी का रसास्वादन शान्ति और सुख को प्रदान करने वाला है जैसा सुख जिनवाणी के अध्ययन करने से होता है, वैसा सुख अन्य किसी वस्तु के सेवन करने से प्राप्त नही होता है।

ज्ञान की महिमा को निम्न पक्तियो द्वारा भी जाना जा सकता है :—

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
यह परमामृत जन्म जरामृत रोग निवारण॥

अत. पूर्वाचार्यो द्वारा लिखित सद्साहित्य को प्राप्त कर जिन-वाणी का रसास्वादन कर शान्ति व सुख को प्राप्त करते हुए मोक्ष पथ की ओर बढने का प्रयत्न करे।

प्रकाशन संयोजक



* भजन *

कुथु सागर, गुरुवर हमारे, हमको दर्शन दे रहियो ।
मन मन्दिर मे आ जइयो ।।टेक।।

रेवाचन्द के राज दुलारे, सोहनी देवी के प्राण पियारे ।
हमको दर्शन दे रहियो, मन मन्दिर में आ जइयो ।।१।।

बीस वर्ष मे दीक्षा धारी, छोड़ी है धन दौलत सारी ।
शरण हमे स्वामी ले रहियो, मन मन्दिर मे आ जइयो ।।२।।

भेष दिगम्बर तुमने धारा, सकल भेद विज्ञान सवारा ।
भेद ज्ञान दरशा जइयो, मन मन्दिर में आ जइयो ।।३।।

मडल को है शरण तिहारी, पूरी करना आश हमारी ।
मोक्षमार्ग बतला जइयो, मन मन्दिर में आ जइयो ।।४।।

सकलनकर्त्ता
शान्तिकुमार गंगवाल

श्री दिगम्बर जैन कुन्थु-विजय ग्रंथमाला समिति : एक परिचय

(स्थापना एवं किये गये प्रकाशन संबंधी संक्षिप्त जानकारी)

—स्थापना—

श्री दिगम्बर जैन कुन्थु-विजय ग्रन्थमाला समिति जयपुर (राजस्थान) की स्थापना परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थु सागरजी महाराज व श्री १०५ गरिणनी आर्यिका रत्न विजयामती माताजी के नाम से वर्ष १९८१ मे की गई थी ।

लघुविद्यानुवाद—

सर्वप्रथम इस ग्रन्थमाला से पहले पुष्प के रूप में लघुविद्यानुवाद(यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, विद्या का एक मात्र सदर्भ ग्रन्थ) का प्रकाशन करवाकर इसका विमोचन श्री बाहुबलि सहस्त्राभिषेक के शुभावसर पर चामुण्डराय मण्डप में दिनाक २४-२-८१ को परमपूज्य सन्मार्ग दिवाकर निमित्त ज्ञान शिरोमरिण श्री १०८ आचार्य रत्न विमल सागरजी महाराज के कर कमलो द्वारा करवाया गया था ।

इस समारोह मे देश के विभिन्न प्रान्तों से पधारे हुये लाखों नर-नारियो के अलावा काफी सख्या मे मच पर दिगम्बर जैनाचार्य मुनिगरण व अन्य साधुवर्ग उपस्थित थे समाज के गरणमान्य व्यक्तियो में सर्वश्री भागचन्दजी सोनी, साहू श्रेयास प्रसादजी जैन, श्री निर्मल कुमारजी सेठी, श्री त्रिलोकचन्दजी कोठ्यारी, श्री पूनमचन्दजी गगवाल (झरिया वाले) आदि उपस्थित थे । समारोह की अध्यक्षता श्री पन्नालालजी सेठी (डीमापुर) वालो ने की थी । समारोह मे मूडबद्री व कोल्हापुर के भट्टारक महास्वामी जी भी उपस्थित थे ।

श्री चतुर्विशति तीर्थंकर अनाहत यंत्र मंत्र विधि—

ग्रन्थमाला समिति ने द्वितीय पुष्प "श्री चतुर्विंशति तीर्थंकर अनाहत" (यन्त्र-मन्त्र विधि पुस्तक) कन्नड से हिन्दी में अनुवादित करवाकर इसका प्रकाशन दिनांक

९-५-८२ को श्री पार्श्वनाथ चूलगिरि अतिशय क्षेत्र जयपुर (राजस्थान) में आयोजित पचकल्याणक महोत्सव के शुभावसर पर भारत गौरव श्री १०८ आचार्यरत्न देश-भूषणजी महाराज के करकमलों द्वारा विमोचन करवाया गया। इस समारोह में भी देश के विभिन्न प्रान्तो से आये हुये काफी संख्या मे लोगों ने भाग लिया और समारोह वहुत ही सुन्दर रहा। समारोह की अध्यक्षता श्री सुरेशचन्दजी जैन दिल्ली वालों ने की।

तजो मान करो ध्यान—

भारत गौरव आचार्यरत्न श्री १०८ देशभूषणजी महाराज का चातुर्मास ं १९८२ मे जयपुर मे हुआ और इसी वर्ष दशलक्षण पर्व के शुभावसर पर ।म ति ने अपने तृतीय पुष्प "तजो मान करो ध्यान" का प्रकाशन करवाकर आचार्य । के ही करकमलो द्वारा दिनांक २९-८-८२ को महावीर पार्क जयपुर (राजस्थान) हजारो नर-नारियो के बीच इस पुस्तक का विमोचन करवाया। यह समारोह भी वहुत ही सुन्दर था।

हुम्बुज श्रमण सिद्धांत पाठावलि—

ग्रन्थमाला समिति ने चतुर्थ पुष्प "हुम्बुज श्रमण सिद्धान्त पाठावलि" ग्रन्थ का प्रकाशन करवाकर इसका विमोचन परमपूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागरजी महाराज के हासन (कर्नाटक) चातुर्मास में आयोजित इन्द्रध्वज विधान के विर्सजन के शुभावसर पर दिनांक २-१२-८२ को हजारो जन-समुदाय के बीच बड़ी धूमधाम से इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थराज का विमोचन करवाया। इस समारोह में मूड-बद्री व जैनबद्री के भट्टारक महास्वामीजी भी उपस्थित थे।

हुम्बुज श्रमण सिद्धान्त पाठावलि एक महत्वपूर्ण ग्रन्थरत्न है। यह ग्रन्थ लगभग ७५ ग्रन्थो का १००० पृष्ठो का गुटका है। इसमे साधुओं के पाठ करने के सभी आवश्यक स्तोत्रों का सकलन कर प्रकाशन करवाया है। इस ग्रथ के प्रकाशन से साधुओ को अनेक ग्रन्थ साथ मे नही रखने पड़ेगे। साधु सघ के विहार के समय अनेक ग्रन्थो को मार्ग मे ले जाने मे जो दिक्कत होती थी, वो अब नही होगी और साथ ही जिनवाणी का भी अविनय नही होगा। मात्र एक ही ग्र थराज (हुम्बुज श्रमण

सिद्धांत पाठावलि) के रखने से सारा कार्य हो जावेगा। इस प्रकार के ग्रंथ का प्रकाशन प्रथम बार ही हुआ है ऐसा सभी साधुओ व विद्वानो का मत है। साधुवर्ग इस प्रकाशन से बहुत ही लाभान्वित हुआ है। यह ग्रंथ सभी सघो मे सभी साधुओ को ग्रथमाला की ओर से मात्र डाक खर्च पर स्वाध्याय हेतु वितरित किया गया है।

पुर्नमिलन—

ग्रथमाला समिति ने पंचम पुष्प "पुर्नमिलन" (अंजना का चरित्र) पुस्तक का प्रकाशन करवाकर श्री पार्श्वनाथ पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव (श्री दिगम्बर जैन आदर्श महिला विद्यालय श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र) के जन्म कल्याणक के शुभावसर पर दिनाक १२-२-८४ को श्री १०८ आचार्य सन्मतिसागरजी महाराज (अजमेर) के करकमलों द्वारा हजारो की सख्या मे उपस्थित जन–समुदाय के बीच करवाया। समारोह मे साधु सघ के अलावा श्रीमान निर्मलकुमारजी जैन (सेठी), श्री माणकचन्दजी पालीवाल, श्री मदनलाल जी चादवाड, श्री त्रिलोकचन्दजी कोठ्यारी, श्री प्रकाशचन्दजी पांड्या आदि श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के पदाधिकारी उपस्थित थे। समारोह मे स्व० आदरणीय पण्डित साहब श्री बाबू–लालजी जमादार, श्री भरतकुमारजी काला, श्री काका हाथरसी आदि महानुभावों ने भी भाग लिया। कार्यक्रम की अध्यक्षता श्री माणकचन्दजी पालीवाल ने की। इस प्रकार समिति के द्वारा पचम पुष्प 'पुर्नमिलन' पुस्तक का विमोचन भी बहुत ही सुन्दर रहा।

श्री शीतलनाथ पूजाविधान—

ग्रन्थमाला समिति ने षष्ठम पुष्प "श्री शीतलनाथ पूजा विधान" कन्नड से सस्कृत भाषा मे अनुवादित करवाकर अलवर (राजस्थान) में आयोजित पचकल्याणक में जन्म कल्याणक के शुभावसर पर श्री १०८ आचार्य सन्मति सागरजी महाराज के करकमलो द्वारा ५-३-८४ को वडी धूमधाम से इसका विमोचन करवाया श्री शांति-विधान के समान ही यह शीतलनाथ विधान है। इस विधान की पुस्तक के प्रकाशन से उत्तर भारत के लोग भी अब इससे लाभ उठा सके, जो कि कन्नड भाषा नहीं जानते है

वर्षायोग स्मारिका—

श्री १०८ आचार्य सन्मतिसागरजी महाराज (अजमेर) ने वर्ष १९८४ का चातुर्मास जयपुर मे किया। ग्रन्थमाला समिति ने इस शुभावसर पर एक बहुत ही सुन्दर वर्षायोग स्मारिका का प्रकाशन करवाकर बुलियन बिल्डिग, जयपुर (राजस्थान) मे विशाल जन–समुदाय के बीच दिनांक २८-१०-८४ को श्री १०८ आचार्य सन्मति सागरजी महाराज के करकमलो द्वारा विमोचन करवाया। इस स्मारिका मे वर्षायोग मे आयोजित कार्यक्रमो के चित्रो की झलक प्रस्तुत की गई है और अलग-अलग विषयो पर ही ज्ञानोपयोगी साधुओ द्वारा लिखित लेख प्रकाशित किये गये है। समारोह की अध्यक्षता श्रीमान् ज्ञानचन्दजी जैन (जयपुर) ने की थी।

सम्मेदशिखर माहात्म्यम—

परम पूज्य श्री १०८ आचार्यरत्न धर्मसागरजी महाराज ने विशाल सघ हित अपना १९८५ का वर्षायोग श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र लूणवा (राजस्थान) किया। समिति ने इस अवसर पर अष्टम पुष्प के रूप मे "सम्मेदशिखर माहात्म्यम" ग्रन्थ का प्रकाशन करवाकर आचार्य श्री के करकमलो द्वारा दिनांक १४-७-८५ को विशाल जन–समुदाय के बीच विमोचन किया।

श्री सम्मेदशिखर माहात्म्यम ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। श्री सम्मेदशिखर जी के महत्व पर प्रकाश डालने वाला इस प्रकार के ग्रन्थ का प्रकाशन आज तक नही हुआ है। इस ग्रन्थ मे २४ तीर्थकरो के चित्र, प्रत्येक कूट का चित्र, अर्घ व उसका फल प्रकाशित किया गया है। ससार मे सम्मेदशिखरजी सिद्धक्षेत्र जैसा कोई क्षेत्र नही है। क्योकि यह तीर्थराज अनादिकाल का है और इस सिद्धक्षेत्र से हमारे २४ तीर्थकरो मे से २० तीर्थकर मोक्ष पधारे है और उनके साथ-साथ असख्यात मुनिराज मोक्ष पधारे है। इसलिये इस क्षेत्र की कण-कण पूजनीय व वदनीय है। इस क्षेत्र की वंदना करने से मनुष्य के जन्म-जन्म के पापो का क्षय हो जाता है और उसके लिए मोक्षमार्ग आसान हो जाता है तथा उसे नरक व पशुगति मे जन्म नही लेना पडता और वह ४९वे भव मे निश्चय ही मोक्ष की प्राप्ति करता है। कहा भी है :—

भाव सहित वंदे जो कोई।
ताहि नरक पशुगति नहीं होई ।।

इस प्रकार इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने से अनेक भव्यात्माओं ने इस ग्रन्थ को पढकर सम्मेदशिखरजी सिद्धक्षेत्र की यात्रा कर धर्मलाभ प्राप्त किया है और कर रहे है।

रात्रिभोजन त्याग—

परमपूज्य श्री १०८ आचार्यरत्न निमित्तज्ञान शिरोमणि विमलसागरजी महाराज विशाल संघ सहित राणाजी की नसियां खानियां जयपुर(राजस्थान)में वर्षा-योग करने हेतु दिनाक ३-७-८७ को पधारे। ग्रन्थमाला समिति ने दिनांक ५-७-८७ को ही अपना नवम् पुष्प रात्रिभोजन त्याग कथा– पुस्तक का प्रकाशन करवाकर इसका विमोचन आचार्य श्री के करकमलो से करवाया। कार्यक्रम की अध्यक्षता श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के महामंत्री श्री त्रिलोकचन्दजी कोठ्यारी ने की। मुख्य अतिथी श्री पूनमचन्दजी गगवाल (झरिया वाले) व श्री सोहनलालजी सेठी ने की।

केशलुञ्चन क्या और क्यों ?

परमपूज्य श्री १०८ आचार्य विमलसागरजी महाराज के जयपुर (राजस्थान) मे वर्षायोग के समय आचार्य श्री की आरति, जिनवाणी स्तुति, वर्षायोग करने वाले साधुओ की सूची का प्लास्टिक कवरयुक्त कार्ड प्रकाशित करवाकर नि शुल्क वितरण किये गये। आचार्य श्री, उपाध्याय श्री, सघस्थ साधुओ के केशलु चन समारोह के अवसर पर एक लघु पुस्तिका केशलु चन क्या और क्यो ? का प्रकाशन करवाकर निःशुल्क वितरण किया गया।

जन्म जयन्ति पर्व क्यो ?

दिनाक १४-७-८७ को आचार्य श्री की ७२वी जन्म-जयन्ति के शुभावसर पर जन्म-जयन्ति पर्व क्यों ? एक लघु–पुस्तिका का प्रकाशन करवाकर निःशुल्क वितरण किया। इससे जन–समुदाय को जन्म–जयन्ति पर्व मनाने की जानकारी सुलभ हो गई।

वर्षायोग समाप्ति पर परमपूज्य श्री १०८ आचार्यरत्न विमलसागरजी महाराज विशाल सघ (४३) पिच्छी सहित दिनाक २७-११-८७ को ग्रथमाला के कार्यालय पर पधारे। इतने विशाल सघ का समिति के कार्यालय पर पधारना ग्रथमाला के इतिहास मे स्वर्ण अवसर था। इस शुभावसर पर आचार्य श्री के करकमलो से

श्री १००८ धर्मनाथ भगवान की मूर्ति विराजमान की गई। ग्रन्थमाला का कार्यालय हमारे निवास स्थान पर है और हमारे निजी खर्च से यह कार्यक्रम सम्पन्न करवाया। तत्पश्चात् समिति द्वारा प्रकाशित दशम् पुष्प श्री शीतलनाथ पूजा विधान (हिन्दी) का विमोचन आचार्य श्री के करकमलो द्वारा करवाया गया।

भैरव पद्मावती कल्पः—

परमपूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागरजी महाराज विशाल सघ सहित वर्ष १९८७ का वर्षायोग अकलूज (महाराष्ट्र) में पूर्ण धर्म प्रभावना के साथ समाप्त करके चतुर्विध सघ के साथ तीर्थराज श्री सम्मेदशिखरजी पहुचे। ग्रन्थमाला समिति ने इस उपलक्ष्य मे ११वां पुष्प श्री भैरव पद्मावती कल्पः ग्रन्थ का प्रकाशन करवाकर इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का विमोचन परमपूज्य श्री १०८ आचार्य सन्मार्ग दिवाकर निमित्तज्ञान शिरोमणि खण्ड विद्या धुरन्धर विमल सागरजी महाराज के करकमलो द्वारा दिनाक १३-३-८८ को विशाल जन-समूह के मध्य प्रवचन हाल मे (श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र) पर अष्टान्हिका पर्व पर करवाया। यह समारोह बहुत ही सुन्दर रहा।

सच्चा कवच—

परमपूज्य श्री १०८ आचार्य विमलसागरजी महाराज विशाल सघ सहित कुछ दिनो तक श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र पर ही विराजे। इसी बीच दिनाक ३१-३-८८ को श्री महावीर जयन्ति का शुभावसर आया और ग्रन्थमाला समिति ने इस शुभावसर पर १२वां पुष्प "सच्चा कवच का" प्रकाशन करवाकर श्री शातिवीर नगर, सन्मति भवन मे कार्यक्रम आयोजित करके परमपूज्य श्री १०८ आचार्य विमलसागरजी महाराज के करकमलो द्वारा इस पुस्तक का विमोचन करवाया। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता परमगुरूभक्त श्री ज्ञानचदजी जैन बम्बई वालो ने की, और हजारो की सख्या मे इस समारोह मे लोगो ने भाग लेकर धर्म लाभ प्राप्त किया।

फोटो प्रकाशन एवं निःशुल्क वितरण—

माह फरवरी ८७ मे बोरीवली बम्बई मे आयोजित मानस्तम्भ पंचकल्याणक महोत्सव के शुभावसर पर जन्म-कल्याणक महोत्सव के दिनाक ६-२-८७ को परमपूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थु सागरजी महाराज व श्री १०५ गणिनी

आर्यिका विजयामति माताजी के फोटो प्रकाशित कर इसका विमोचन न्यूयार्क निवासी धर्म स्नेही गुरूभक्त श्री महेन्द्रकुमारजी पाण्ड्या व उनकी धर्म पत्नि श्रीमति आशा-देवीजी पाण्ड्या के करकमलों द्वारा करवाया। दोनों फोटो बहुत ही सुन्दर व मनमोहक है। विशिष्ट गुरूभक्तो को नि शुल्क वितरण की गई है। इसके साथ-साथ जिन मन्दिरो व क्षेत्रों पर समिति द्वारा फ्रेम मे जडवाकर फोटो लगवाये गये है।

"गोम्मट प्रश्नोत्तर चितामरिण"

इस ग्रन्थमाला की अनुपम भेट तेरहवां पुष्प 'गोम्मट प्रश्नोत्तर चितामरिण' है। इस ग्रन्थ के सकलन कर्त्ता परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुथुसागरजी महाराज है। पुस्तक के संबध में परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुथु सागर जी महाराज के विचार निम्न रूप से है।

"ग्रथ मे करणानुयोग, द्रव्यानुयोग आदि सभी प्रकार की चर्चाएँ सग्रहित की गई हैं और आधार लिया गया है जिनागम का, मै समझता हू कि स्वाध्याय प्रेमियो को इस एक ही ग्रथ के स्वाध्याय करने से जिनागम का बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है, इस ग्रथ मे गुणस्थानानुसार श्रावक धर्म, मुनि धर्म, आत्म ध्यान, पीडस्थ, रूपातीत आदि ध्यान और उनके चित्रो सहित वर्णन किया गया है, और भी अनेक सामग्री सकलित की गई है। यह ग्रथ अपने आप मे एक नया ही संग्रहित हुआ है, इस ग्रंथ मे सभी ग्रथो से लेकर २१७८ श्लोको का सग्रह है।

इस ग्रंथ मे पूर्वाचार्यकृत गोम्मटसार जीवकाड, त्रिलोकसार, मूलाचार, ज्ञानार्णव, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, रत्नकरड, श्रावकाचार, तत्त्वार्थ सूत्र, राजवार्तिक, आचारसार, अष्टपाहुड, हरिवंश पुराण, आदि पुराण, वसु नन्दी श्रावकाचार, परमात्म प्रकाश, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, समयसार कलश, धवलादि, उमा स्वामी का श्रावकाचार, जैन सिद्धान्त प्र., दशभक्त्यादि सग्रह, चर्चाशतक, चर्चा समाधान, स्याद्वाद चक्र, चर्चासागर, सिद्धान्त सार प्रदोप, मोक्ष मार्ग प्रकाशक, त्रिकालवर्ती महापुरुष आदि बड़े-बडे ग्रथो का आधार लेकर सग्रह किया गया है।"

इस प्रकार पाठकगण अवलोकन करे कि ग्रन्थमाला समिति के सीमित आर्थिक साधन होते हुए भी इतने कम समय मे उपरोक्त महत्वपूर्ण ग्रन्थो के प्रकाशन करवाने मे

सफलता प्राप्त की है। सभी ग्रन्थ एक से बढ़कर एक है और सभी ज्ञानोपार्जन के लिये विशेष लाभकारी सिद्ध हुये है। ऐसे सभी आचार्यो साधुओ विद्वानो के विचार हमे समय-समय पर प्राप्त होते रहे है, यह सभी सफलता परमपूज्य सभी आचार्यो व साधुओ के शुभाशीर्वाद के साथ-साथ परमपूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागरजी महाराज व श्री १०५ गणिनी आर्यिका विजयामती माताजी के शुभाशीर्वाद से हो सका है। इसके लिये हम सभी कृतज्ञ हैं और उनके चरणो में नतमस्तक होकर शत-शत बार नमोस्तु अर्पित करते हैं।

ग्रन्थमाला समिति के कार्यो मे यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि यह ग्रन्थ-माला समिति सभी आचार्यो, साधुओ विशिष्ट विद्वानो, पत्रो के प्रकाशको, प्रकाशन खर्च मे सहयोग करने वाले सभी दातारों को सभी प्रकाशन व्यक्तिगत रूप से भेंट करती है या मात्र डाक खर्च पर भिजवाती है।

मुझे आशा ही नही, बल्कि पूर्ण विश्वास है कि पाठकगण ग्रंथमाला समिति द्वारा प्रकाशित ग्रंथो का स्वाध्याय करके पूर्ण ज्ञानोपार्जन कर रहे है और आगे भी इस ग्रन्थमाला से जिन महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन होगा उनसे लाभ उठा सकेगे। पूर्ण लाभ उठावेगे और त्रुटियो के लिये क्षमा करेगे।

शांतिकुमार गंगवाल
प्रकाशन संयोजक
श्री दि० जैन कुन्थु विजय ग्रन्थमाला समिति,
जयपुर (राज०)

* अनुक्रम *

श्री गोम्मट प्रश्नोत्तर चिंतामणि



卐 चतुर्विंशति तीर्थङ्करेभ्यो नमो नमः 卐

नेमिनाथ स्वामिनं नत्वा, नत्वा बाहुबलीश्वरं,
नत्वा गौतम गणेशं च तथैव श्री जिनागमम् ।
महावीरकीर्ति सूरिं नत्वा विमल सन्मतिसागरं,
गोम्मट प्रश्नोत्तरं वक्ष्ये पूर्वाचार्यानुसारतः ॥

अर्थ—मैं नेमीनाथ स्वामी, बाहुबली स्वामी, गौतम गणधर, जिनवाणी, आचार्य गुरुवर महावीरकीर्तिजी महाराज, आचार्य विमलसागरजी महाराज व आचार्य सन्मतिसागरजी महाराज की वन्दना करता हुआ पूर्वाचार्यों के कहे अनुसार गोम्मट प्रश्नोत्तर चिन्तामणि ग्रथ को कहूँगा ।

प्रश्न :—सच्चा सुख क्या है ?

उत्तर :—आत्मा के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नो कर्मो का सर्वथा छुट जाना ही सच्चा सुख है ।

प्रश्न :—द्रव्यकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठ कर्मो को द्रव्यकर्म कहते है ।

प्रश्न :—उक्त कर्मो के उत्तर-भेद कितने हैं ?

उत्तर :—ज्ञानावरण के ५ भेद, दर्शनावरण के ९ भेद, वेदनीय के २ भेद, मोहनीय के २८ भेद, (चारित्र मोहनीय के २५ भेद और दर्शन मोहनीय के ३ भेद, इस प्रकार मोहनीय के २८ भेद हुए) आयु के ४ भेद, नाम के ९३ भेद, गोत्र के २ भेद और अन्तराय के ५ भेद—इस प्रकार द्रव्यकर्मो के उत्तर-भेद १४८ है ।

प्रश्न :—ज्ञानावरण के ५ भेद कौनसे हैं ?

उत्तर :—१ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मनःपर्यय ज्ञानावरण, ५ केवलज्ञानावरण – इस प्रकार ज्ञानावरण के पांच भेद है ।

प्रश्न :—दर्शनावरण के ९ भेद कौनसे हैं ?

उत्तर :—१ चक्षुदर्शनावरण, २ अचक्षुदर्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण, ४ केवलदर्शनावरण, ५ निद्रा, ६ निद्रानिद्रा, ७ प्रचला, ८ प्रचलाप्रचला, ९ स्त्यानगृद्धि इस प्रकार दर्शनावरण के ९ भेद है।

प्रश्न :—वेदनीय कर्म के दो भेद कौनसे हैं ?

उत्तर :—साता वेदनीय और असाता वेदनीय, ये दो भेद वेदनीय कर्म के है।

प्रश्न :—मोहनीय कर्म के २८ भेद कौनसे है ?

उत्तर :—मुख्य रूप से मोहनीय कर्म के दो भेद है—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के ३ और चारित्रमोहनीय के २५ उत्तरभेद है। दर्शन मोहनीय के तीन भेद इस प्रकार है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व। जैसा कि तत्वार्थसार मे कहा गया है—

"त्रय सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वभेदत: ।"[१]

इसी प्रकार चारित्रमोहनीय के २५ भेद निम्न प्रकार से है—

१ अनन्तानुबन्धी क्रोध, २ अनन्तानुबन्धी मान, ३ अनन्तानुबन्धी माया, ४ अनन्तानुबन्धी लोभ, ५ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, ६ अप्रत्याख्यानावरण मान, ७ अप्र० माया, ८ अप्र० लोभ, ९ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, १० प्रत्य० मान, ११ प्रत्य० माया, १२ प्रत्य० लोभ, १३ संज्वलन क्रोध, १४ स० मान, १५ सं० माया, १६ स० लोभ, (९ किंचित् कषाय) १७ हास्य, १८ रति, १९ अरति, २० शोक, २१ भय, २२ जुगुप्सा, २३ स्त्रीवेद, २४ पुरुषवेद, २५ नपुसकवेद।

प्रश्न :—आयुकर्म के ४ भेद कौनसे है ?

उत्तर :—नरक आयु, तिर्यचायु, मनुष्यायु, देवायु ये चार भेद आयु कर्म के है। इसी को तत्वार्थसार मे इस प्रकार सूत्र रूप मे बताया है—

"श्वाभ्रतिर्यग्नृदेवायुर्भेदादायुश्चतुर्विधम् ।"[२]

प्रश्न :—नाम कर्म के ९३ भेद कौनसे हैं ?

उत्तर :—गति ४, जाति ५, शरीर ५, अगोपांग ३, निर्माण १, बन्धन ५, सघात ५, सस्थान ६, सहनन ६, स्पर्श ८, रस ५, गन्ध २, वर्ण ५, आनुपूर्वी ४,

---

१. तत्वार्थसार: अध्याय ५; श्लोक–२८। २ तत्वार्थसार अध्याय ५, श्लोक–३०।

उपघात, परघात, गुरुलघु, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायो गति, प्रत्येक, त्रस, पर्याप्त, बादर, शुभ, स्थिर, सुस्वर, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, अप्रशस्त विहायोगति, साधारण, स्थावर, अपर्याप्त, सूक्ष्म, अशुभ, अस्थिर, दुःस्वर, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति, तीर्थङ्कर, इस प्रकार ९३ प्रकृति नाम कर्म की होती है ।

प्रश्न :—गोत्रकर्म के दो भेद कौनसे है ?

उत्तर :—गोत्रकर्म के दो भेद है–१ उच्चगोत्र, २ नीचगोत्र ।

प्रश्न :—अन्तरायकर्म के ५ भेद कौनसे हैं ?

उत्तर :—१ दानान्तराय, २ लाभान्तराय, ३ भोगान्तराय, ४ उपभोगान्तराय, ५ वीर्यान्तिराय । इस प्रकार ५ भेद अन्तराय कर्म के है ।

कर्मो के भेद-प्रभेदों के पश्चात् उनके स्वरूप बताते हैं ।

प्रश्न :—ज्ञानावरण कर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से आत्मा के ज्ञान गुण का घात होता है और ज्ञान प्रगट नही होता, आत्मा के ज्ञान गुण पर जिसका अवगुण्ठन होता है, उसे ज्ञानावरण कर्म कहते है । ज्ञानावरण के ५ प्रभेदो का स्वरूप निम्न प्रकार से है ।

प्रश्न :—मतिज्ञानावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जो कर्म मतिज्ञान न होने दे अथवा जिस कर्म के उदय से मतिज्ञान की प्राप्ति न हो, उसे मतिज्ञानावरण कर्म कहते है ।

प्रश्न :—श्रुतज्ञानावरण कर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से श्रुतज्ञान की प्राप्ति न हो, उसे श्रुतज्ञानावरण कर्म कहते है ।

प्रश्न :—अवधिज्ञानावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—इस कर्म के उदय से जीव को अवधिज्ञान नही होता है अर्थात् जो कर्म अवधिज्ञान को नही होने दे, उसको अवधिज्ञानावरण कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को मन पर्यय ज्ञान नही होता, उसको मन·पर्यय ज्ञानावरण कर्म कहते है ।

प्रश्न :—केवलज्ञानावरण कर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से केवलज्ञान न हो, उसको केवलज्ञानावरण कहते है ।

प्रश्न :—दर्शनावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से आत्मा के दर्शन गुण का घात होता है, दर्शन होने मे बाधक जो कर्म है, उसे दर्शनावरण कर्म कहते है । अब इसके ९ प्रभेदो का स्वरूप वर्णन करते है ।

प्रश्न :—चक्षुदर्शनावरण कर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जो कर्म चक्षु इन्द्रिय से होने वाले सामान्य अवलोकन को नही होने दे, उसे चक्षुदर्शनावरण कर्म कहते है ।

प्रश्न :—अचक्षुदर्शनावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जो कर्म चक्षु इन्द्रिय को छोडकर शेष इन्द्रियो से तथा मन से होने वाले सामान्य अवलोकन को नही होने देता, उसे अचक्षुदर्शनावरण कर्म कहते है ।

प्रश्न :—अवधिदर्शनावरण कर्म का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—जो कर्म अवधि ज्ञान से पहले होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे, उसे अवधिदर्शनावरण कर्म कहते है ।

प्रश्न :—केवलदर्शनावरण कर्म का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—जो कर्म केवल ज्ञान के साथ होने वाले सामान्य अवलोकन को नही होने दे, उसे केवलदर्शनावरण कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—निद्रादर्शनावरण कर्म का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से नीद आती है उस कर्म को निद्रादर्शनावरण कर्म कहते है ।

प्रश्न :—निद्रा-निद्रा दर्शनावरण कर्म का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से नीद ही नीद आती हो, उस कर्म को निद्रा-निद्रा दर्शनावरण कर्म कहते है ।

प्रश्न :—प्रचला दर्शनावरण कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव कुछ जागता हो और कुछ सोता हो, उस कर्म को प्रचला दर्शनावरण कर्म कहते है ।

प्रश्न :—प्रचला-प्रचला दर्शनावरण का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से सोते समय मुह से लार बहे और कुछ अङ्गोपाङ्ग भी चलते रहें और सुई आदि चुभोने पर भी चेत न हो, उसे प्रचला प्रचला दर्शनावरण कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से प्राणी सोते समय नाना प्रकार के भयंकर कार्य कर डालता हो और जागने पर उसे कुछ मालूम ही नही होता कि मैंने क्या किया है, उस कर्म को स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्म कहते है ।

प्रश्न :—वेदनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव के अत्यन्त आकुलता रूप परिणाम हो अथवा जिससे आत्मा के अव्याबाध गुण का घात होता है, उसे वेदनीय कर्म कहते है । वेदनीय कर्म के प्रभेदों का स्वरूप निम्न रूप से है ।

प्रश्न :—साता वेदनीय कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शारीरिक तथा मानसिक सुख प्राप्त होता है, उस कर्म को साता वेदनीय कर्म कहते है ।

प्रश्न :—असाता वेदनीय कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से आत्मा को नाना तरह के दुःख प्राप्त होते है, उस कर्म को असाता वेदनीय कर्म कहते है ।

प्रश्न :—मोहनीय कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से आत्मा के सम्यक्त्व गुण और चारित्र गुण का घात होता हो, उस कर्म को मोहनीय कर्म कहते है । उसके प्रभेदों का स्वरूप निम्न प्रकार से है ।

प्रश्न :—दर्शन मोहनीय कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात होता है, उसे दर्शन मोहनीय कहते है । इसके तीन प्रभेदों का स्वरूप आगे दर्शाते है ।

प्रश्न :—मिथ्यात्व प्रकृति का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिसके उदय से तत्वो का यथार्थ श्रद्धान नही होता है, उसे मिथ्यात्व प्रकृति कहते है ।

प्रश्न :—सम्यक्त्व प्रकृति का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिसके उदय से सम्यग्दर्शन मे दोष उत्पन्न होता है, उसे सम्यक्त्व प्रकृति कहते है ।

प्रश्न :—सम्यक्-मिथ्यात्व प्रकृति का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से (वस्तु के) यथार्थ और अयथार्थ मिश्रित परिणाम होते है, उसे सम्यक्-मिथ्यात्व प्रकृति कहते है ।

प्रश्न :—चारित्र मोहनीय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो आत्मा के चारित्र गुण का घात करता हो, उसे चारित्र मोहनीय कहते है । अब चारित्र मोहनीय के उत्तर-भेदो का स्वरूप बताते हैं । मूलत चारित्र मोहनीय के दो भेद है—कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय ।

प्रश्न :—कषाय वेदनीय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो आत्मा के गुण, शुद्ध भाव और धर्म को नही होने दे अर्थात् नष्ट करे, उसे कषाय वेदनीय कहते है ।

प्रश्न :—अकषाय वेदनीय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो क्रोधादिक की तरह आत्मा के गुणो का घात नही करता अथवा जो कषाय के साथ-साथ अपना कार्य या फल दिखलाता है, उसे अकषाय वेदनीय कहते है ।

प्रश्न :—अनन्तानुबन्धी क्रोध का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो क्रोध-कषाय सम्यक्त्व होने मे बाधक हो अर्थात् सम्यक्त्वी न होने दे, उसे अनन्तानुबन्धी क्रोध-कषाय कहते हैं । यह शिला - रेखा के समान

होती है। जिस प्रकार शिला के ऊपर बनाई गई रेखा जल्दी नही मिटती, उसी प्रकार इस अनन्तानुबन्धी कषाय का स्वभाव है। यह कषाय जीव के साथ भव-भवान्तर में जाती है और पीड़ा देती है।

प्रश्न :—अनन्तानुबन्धी मान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—इस कषाय का स्वभाव पाषाण के समान होता है। जिस मान की मात्रा अनन्त के साथ अनुबन्ध करने की हो, वह मान अनन्तानुबन्धी-मान कहलाता है। यह अनन्तानुबन्धी मान जल्दी नही मिटता।

प्रश्न :—अनन्तानुबन्धी माया का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस माया की मात्रा अनन्त के साथ अनुबन्ध करने की हो, वह माया अनन्तानुबन्धी माया कहलाती है। इसका स्वभाव बांस की जड़ के समान होता है। यह कषाय भी भवान्तरो तक चलती है।

प्रश्न :—अनन्तानुबन्धी लोभ का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—यह कषाय सम्यक्त्व का घात करती ही है और कृमि रंग के समान होती है। जो लोभ अनन्त के साथ अनुबन्ध करने की शक्ति रखता है, वह अनन्तानुबन्धी लोभ कहलाता है।

प्रश्न :—अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो कषाय देशचारित्र धारण करने मे बाधक बनती हो, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते है।

प्रश्न :—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस क्रोध की मात्रा इतनी हो कि जिससे जीव देशचारित्र धारण न कर सके, वह अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कषाय है।

प्रश्न :—अप्रत्याख्यानावरण मान कषाय का स्वरूप दृष्टान्त सहित बताइये ?

उत्तर :—अप्रत्याख्यानावरण मान वह है, जो जीव को देशचारित्र धारण करने मे बाधक होता हो और हड्डी के समान नही झुकनेवाला होता है।

प्रश्न :—अप्रत्यानावरण माया कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—इस कषाय के उदय से जीव संयम धारण नही कर सकता और इसका स्वभाव मेढे के सीग के समान होता है।

प्रश्न :—अप्रत्याख्यानावरण लोभ कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—अप्रत्याख्यानावरण लोभ के उदय होने पर सयमभाव कभी नही होता, और इसका स्वभाव बैलगाड़ी के ओंगन (Oil) की तरह होता है।

प्रश्न :—प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कषाय का उदय होने पर जीव सकल चारित्र धारण न कर सके या सकल चारित्र के भाव ही जीव को न हो, वह प्रत्याख्यानावरण कषाय है।

प्रश्न :—प्रत्याख्यानावरण क्रोध का क्या स्वभाव है ?

उत्तर :—जिस क्रोध का उदय होने पर जीव सकलसंयम ग्रहण न कर सके उसे प्रत्याख्यानावरण क्रोध कहते है। यह धूल की रेखा के समान होती है। ये कषाय जल्दी मिटती है, फिर भी कुछ समय लगता है।

प्रश्न :—प्रत्याख्यानावरण मान-कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो मान कषाय सकल संयमी नही होने दे, वह प्रत्याख्यानावरण मानकषाय है। इसका स्वभाव काष्ठ के समान होता है।

प्रश्न :—प्रत्याख्यानावरण माया कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो माया कषाय जीव को सकलसयम धारण नही करने दे, उसे प्रत्याख्यावरण माया कषाय कहते है। इसका स्वभाव गोमुत्र के समान होता है।

प्रश्न :—प्रत्याख्यानावरण लोभ कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस लोभ कषाय के उदय होने पर आत्मा कभी सकलसयमी न हो, उसे प्रत्याख्यानावरण लोभ कहते है। यह शरीर के मल के समान होता है।

प्रश्न :—संज्वलन कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कषाय के उदय होने से जीव यथाख्यात चारित्र धारण न कर सके, जो यथाख्यात चारित्र होने मे बाधक हो, वह सज्वलन कषाय है।

प्रश्न :—संज्वलन क्रोध का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस क्रोध कषाय के उदय से जीव यथाख्यात चारित्र धारण नहीं कर सके, वह संज्वलन क्रोध कषाय है। जल रेखा के समान होती है। जल (पानी) में रेखा खींचने पर जल्दी मिट जाती है, उसी प्रकार ये कषाय जल्दी मिट जाती है। इस कषाय वाला जीव भी यथाख्यात चारित्री नही हो सकता।

प्रश्न :—संज्वलन मान कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस मान कषाय के उदय से जीव यथाख्यात चारित्र धारण नही कर सकता उसे संज्वलन मान कषाय कहते है। यह वेंत के समान शीघ्र नमने वाली होती है।

प्रश्न :—संज्वलन माया कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस माया कषाय के उदय से यथाख्यात संयम न हो सके, वह संज्वलन माया कषाय है। यह सज्वलन माया खुरपे के समान टेढी होती है।

प्रश्न :—संज्वलन लोभ कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस लोभकषाय के उदय से जीव यथाख्यात चारित्र न धारण कर सके, वह संज्वलन लोभ कषाय है। यह हल्दी के समान शीघ्र छुटने वाली कषाय है।

कोष्टक

कषाय	दृष्टान्त	कषाय	दृष्टान्त	कषाय	दृष्टान्त	कषाय	दृष्टान्त
अनतानुबंधी क्रोध	शीलाभेद	अनतानुबंधी मान	पत्थरभेद	अनंतानुबंधी माया	बास की जड़	अनतानुबंधी लोभ	क्रिमीरग
अप्रत्याख्यान क्रोध	पृथ्वी	अप्रत्याख्यान मान	हड्डी	अप्रत्याख्यान माया	मेढासींग	अप्रत्याख्यान लोभ	ओगन
प्रत्याख्यान क्रोध	धूलिरेखा	प्रत्याख्यान मान	काष्ठ	प्रत्याख्यान माया	गोमुत्र	प्रत्याख्यान लोभ	शरीरमल
सज्वलन क्रोध	जल	संज्वलन मान	वेत	संज्वलन माया	खुरपा	संज्वलन लोभ	हल्दी

प्रश्न :—इस अनन्तानुबंधी कषाय की चौकडी[1] का वासना-काल कितना है ?

उत्तर :—कर्म प्रकृतियों का वासना-काल शास्त्रो मे उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) और जघन्य (न्यूनतम) दो प्रकार से बताया गया है। अनन्तानुबधी चौकडी का उत्कृष्ट वासना-काल अनन्त भवो तक चलता है और जघन्य-काल अन्तमुहूर्त है।

प्रश्न :—अप्रत्याख्यानावरण कषाय की चौकडी का वासना-काल कितना है ?

उत्तर :—अप्रत्याख्यानावरण-कषाय की चौकडी का उत्कृष्ट वासना-काल छह महिना और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

प्रश्न :—प्रत्याख्यानावरण कषाय की चौकडी का वासना-काल कितना है ?

उत्तर :—प्रत्याख्यानावरण कषाय की चौकडी का उत्कृष्ट वासना-काल पद्रह दिन और जघन्य अन्तमुहूर्त है।

प्रश्न :—संज्वलन-कषाय की चौकडी का वासना-काल कितना है ?

उत्तर :—संज्वलन कषाय की चौकडी का उत्कृष्ट वासना-काल अन्तमुहूर्त और जघन्य भी अन्तमुहूर्त ही है।

नौ भेदवाली अकषाय वेदनीय कर्मप्रकृति का वर्णन करते है।

प्रश्न :—हास्य कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से हास्य प्रगट हो, वह हास्य कर्म है।

प्रश्न :—रति कर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को धन-पुत्रादि मे विशेष प्रीति हो, उसे रति कर्म कहते है।

प्रश्न :—अरति कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को धन-पुत्रादि मे विशेष-प्रीति न हो उसे अरति कर्म कहते है।

---

१. चौकडी का अर्थ अनन्तानुबंधी से सम्बन्धित—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय जानना।

प्रश्न :—शोक कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को इष्ट वियोग होने पर शोक हो, उसे शोक कर्म कहते है।

प्रश्न :—भय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को भय या उद्वेग होता हो, उसे भय कर्म कहते है, इस कर्म के कारण जीव नित्य ही भयभीत रहता है।

प्रश्न :—जुगुप्सा कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को दुसरो से ग्लानि या घृणा उत्पन्न होती हो, उसे जुगुप्सा कर्म कहते है।

प्रश्न :—आयु कर्म का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—जो आत्मा के अवगाहन गुण को रोकता है और जिस से जीव नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव के शरीरो में रुका रहता है, उसे आयु कर्म कहते है।

प्रश्न :—नरकायु का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव नारकी के शरीर में रुका रहता है, उसे नरकायु कहते हैं।

प्रश्न :—तिर्यञ्चायु का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव तिर्यंच के शरीर में रुका रहता है, उसे तिर्यञ्चायु कहते है।

प्रश्न :—मनुष्यायु का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य के शरीर में रुका रहता है, उसे मनुष्यायु कहते है।

प्रश्न :—देवायु का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव देव के शरीर में रुका रहता है, उसे देवायु कहते हैं।

प्रश्न :—नाम कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव गत्यादि के नाना रूप से परिणामित होता है। अथवा शरीरादिक बनते है, उसे नाम कर्म कहते है। इस नाम कर्म के उदय से आत्मा के सूक्ष्मत्व गुण का घात होता है।

प्रश्न :—गति नाम कर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव का आकार नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव के समान हो, उसे गति नाम कर्म कहते है।

प्रश्न :—गति नाम कर्म के कितने भेद है ?

उत्तर :—नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति, देव गति ये चार भेद है।

प्रश्न :—मनुष्य गति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को मनुष्य पर्याय प्राप्त होती है, उसे मनुष्य गति नाम कर्म कहते है।

प्रश्न :—नरक गति नाम कर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से नरक पर्याय प्राप्त होती है, उसे नरक गति नाम कर्म कहते है।

प्रश्न :—तिर्यञ्च गति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को तिर्यञ्च गति प्राप्त हो, उसे तिर्यञ्च गति नाम कर्म कहते है।

प्रश्न :—देव गति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से देव गति की प्राप्ति होती हो, उसे देवगति नाम कर्म कहते है।

प्रश्न :—इन चारों गतियों में मुख्य रूप से किस-किस कषाय का उदय रहता है, (जन्मते समय) ?

उत्तर :—जीव को नरक गति मे क्रोध का उदय रहता है, तिर्यञ्च गति मे माया का उदय रहता है, मनुष्य गति मे मान का उदय होता है और देव गति में लोभ का उदय रहता है।

प्रश्न :—जाति नाम कर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अनेक प्राणियों में अविरोधी समान अवस्था प्राप्त होती है, उसे जाति नाम कर्म कहते है।

प्रश्न :—जाति नाम कर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—पांच भेद हैं—एकेन्द्रिय-जाति, द्वीन्द्रिय-जाति, त्रीन्द्रिय-जाति, चतुरिन्द्रिय-जाति और पञ्चेन्द्रिय-जाति।

प्रश्न :—एकेन्द्रिय-जाति नाम कर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय-जाति में पैदा होता है, उसे एकेन्द्रिय-जाति नाम कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—द्वीन्द्रिय-जाति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव द्वीन्द्रिय-जाति में पैदा होता है, उसे द्वीन्द्रिय-जाति नाम कर्म कहते है।

प्रश्न :—त्रीन्द्रिय-जाति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर .—जिस कर्म के उदय से त्रीन्द्रिय-जाति में जोव का जन्म होता है, उसे त्रीन्द्रिय-जाति नाम कर्म कहते है।

प्रश्न :—चतुरिन्द्रिय-जाति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव का चतुरिन्द्रिय-जाति में जन्म होता है, उसे चतुरिन्द्रिय-जाति नाम कर्म कहते है।

प्रश्न :—पंचेन्द्रिय-जाति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव का पचोन्द्रिय-जाति मे जन्म होता है, उसे पचेन्द्रिय-जाति नाम कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—शरीर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की रचना होती है, उसे शरीर नाम कर्म कहते है।

प्रश्न :—शरीर नाम कर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—शरीर नाम कर्म के ५ (पाच) भेद है। औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण ये ५ शरीर नाम कर्म के भेद हैं।

प्रश्न :—औदारिक-शरीर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को औदारिक शरीर प्राप्त होता है। उसे औदारिक-शरीर नाम कर्म कहते है। यह शरीर मनुष्य और तिर्यञ्चों के होता है।

प्रश्न :—वैक्रियक-शरीर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को वैक्रियक शरीर प्राप्त होता है, उसे वैक्रियक-शरीर नाम कर्म कहते है। यह शरीर देव और नारकी के होता है। छोटा वडा नाना रूपों को बनाने में समर्थ होता है। वैक्रियक शरीर लब्धिनिमितक भी होता है तथा वह तपस्या विशेष से भी प्राप्त होता है।

प्रश्न :—आहारक शरीर नाम कर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के तत्त्वो मे कुछ शका होने पर अथवा तीर्थ-क्षेत्रादि की वंदना के लिये, उनके मस्तक से जो एक हाथ का, शुभ्र वर्ण का अत्यंत सूक्ष्म पुतला निकलता है और केवली, श्रुतकेवली के पाद मूल मे जाकर शका समाधान होने पर पुन. वापस आ जाता है, उसे आहारक-शरीर कहते है।

प्रश्न :—तैजस शरीर नाम कर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—औदारिक आदि शरीरो में तेज (कान्ति) उत्पन्न करने वाले शरीर को तैजस-शरीर कहते हैं। यह सभी संसारी जीवों के होता है।

प्रश्न :—कार्माण-शरीर नाम कर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—ज्ञानावरणादि आठ कर्मो के समूह को कार्माण शरीर कहते है। यह शरीर उपभोग रहित होता है। समस्त संसारी जीवो के होता है।

प्रश्न :—एक जीव के एक साथ कितने शरीर हो सकते है ?

उत्तर .—एक जीव के एक साथ ४ शरीर हो सकते है। अगर दो शरीर हो तो तैजस और कार्माण, तीन शरीर हो तो तैजस, कार्माण और औदारिक अथवा तैजस, कार्माण और वैक्रियक, चार शरीर हो तो तैजस, कर्माण औदारिक और आहारक, अथवा तैजस कार्माण, औदारिक और वैक्रियक शरीर होते है।

प्रश्न .—तैजस-शरीर के कितने प्रकार हैं ?

उत्तर :—शुभ-तैजस और अशुभ-तैजस—इस प्रकार तैजस शरीर दो प्रकार का है।

प्रश्न :—शुभ तैजस का क्या स्वरुप है ?

उत्तर :—शुभ-तैजस शरीर षष्ठम गुणस्थानवर्ती वीतरागी साधु के होता है। जब मुनिराज प्रसन्नचित्त हो गये हो तो सीधी (दाहिनी) भुजा से निकलकर १२ योजन तक सुभिक्ष कर देता है, शुभ्र वर्ण का होता है और सूक्ष्म होता है।

प्रश्न :—अशुभ-तैजस किसे कहते है ?

उत्तर :—यह भी निर्ग्रन्थ साधु के होता है, लाल वर्ण का होता है, महाभयंकर होता है। जब मुनिराज पूर्व पापकर्म के उदय से क्रोधित हो जाते है और अपने स्वरूप से च्युत होते है, तब उनके उल्टी (बायी) भुजा से अशुभ-तैजस निकलता है और १२ योजन तक सबको जलाकर भस्म कर देता है और अन्त मे मुनिराज को भी जला देता है। ये दोनों शरीर लब्धि-विशेष साधु के होते है।

प्रश्न :—पांचों शरीरों की सूक्ष्मता बताइये ?

उत्तर —उक्त पाचों ही शरीर एक की अपेक्षा एक सूक्ष्म है। औदारिक की अपेक्षा वैक्रियक सूक्ष्म, वैक्रियक की अपेक्षा आहारक सूक्ष्म, आहारक की अपेक्षा तैजस सूक्ष्म और तैजस की अपेक्षा कार्माण सूक्ष्म होता है।

प्रश्न :—प्रदेशों की अपेक्षा ये पांचों ही शरीर कैसे हैं ?

उत्तर :—औदारिक शरीर की अपेक्षा असख्यात गुणे प्रदेश (परमाणु) वैक्रियक शरीर में और वैक्रियक की अपेक्षा असंख्यात गुणे प्रदेश आहारक शरीर में और आहारक शरीर की अपेक्षा अनन्तगुणे परमाणु तैजस शरीर में और तैजस शरीर की अपेक्षा कार्माण शरीर में अनन्तगुणे परमाणु होते हैं।

प्रश्न :—अङ्गोपाङ्ग नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अंग और उपांगों की रचना होती है, उसे अंगोपांग नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—इसके कितने भेद हैं ?

उत्तर :—औदारिक शरीरांगोपाग, वैक्रियक शरीरांगोपांग और आहारक शरीरांगोपाग—ये तीन भेद है।

प्रश्न :—अङ्ग और उपाङ्ग कितने प्रकार के है ?

उत्तर :—दो हाथ, दो पांव, नितम्ब, पीठ, वक्ष.स्थल और मस्तक ये ८ प्रकार के अंग है, इनको छोड़कर बाकी सब उपाग है।

प्रश्न :—औदारिक शरीरांगोपांग किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के अगो की और उपांगो की रचना होती है, उसे औदारिक शरीरागोपाग कहते है ।

प्रश्न :—वैक्रियक शरीरांगोपांग किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से वैक्रियक शरीरागोपागो की रचना होती है, उसे वैक्रियक शरीरांगोपाग कहते है ।

प्रश्न :—आहारक शरीरांगोपांग किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से आहारक शरीरांगोपागो की रचना होती है, उसे आहारक शरीरांगोपांग कहते है ।

प्रश्न :—निर्माण नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अगोपाँग की यथास्थान और यथाप्रमाण रचना होती है, उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—बन्धन नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—शरीर-नामकर्म के उदय से ग्रहण किए हुए पुद्गल स्कधो का परस्पर मिलन जिस कर्म के उदय से होता है, उसे बन्धन-नामकर्म कहते है ।

प्रश्न :—इस बन्धन-नामकर्म के कितने भेद है ?

उत्तर :—बन्धन नामकर्म के ५ पाच भेद है । औदारिकबन्धन नामकर्म, वैक्रियकबधन नामकर्म, आहारकबन्धन नामकर्म, तैजसबन्धन नामकर्म और कार्माणबन्धन नामकर्म ।

प्रश्न :—औदारिक बन्धन नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के परमाणु दीवार मे लगे इट और गारे की तरह छिद्र सहित परस्पर सम्बन्ध को प्राप्त होते है, वह औदारिक बन्धन नामकर्म है । इसी प्रकार अन्य भेदों का लक्षण जानना ।

प्रश्न :—संघातनामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर —जिस कर्म के उदय से औदारिकादि शरीरो के प्रदेश परस्पर छिद्र रहित एकमेक होते है, उसे संघात नामकर्म कहते है । इसके पाच भेद है । औदारिक संघात नामकर्म आदि ।

प्रश्न :—संस्थान नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार बनता है, उसे संस्थान नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—इस संस्थान नामकर्म के कितने भेद है ?

उत्तर :—समचतुरस्त्रसस्थान, न्यग्रोधपरिमडलसस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जकसस्थान, वामनसंस्थान और हुडकसस्थान – ये छह भेद है।

प्रश्न :—समचतुरस्त्रसंस्थान नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार ऊपर, नीचे तथा बीच में समान विभाग से जैसे सांचे मे ढला हो, वैसे होता है, उसे समचतुरस्त्रसंस्थान नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार सर्प की बामि (बील) की तरह ऊपर पतला और नीचे मोटा होता है, उसे स्वातिसंस्थान नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—कुब्जकसंस्थान नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर के बीच के भाग मे बहुत से पुद्गलों का समूह इकट्ठा होता है अर्थात् पीठ कुछ उठी रहती है, उसे कुब्जक सस्थान नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—वामनसंस्थान नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर बौना होता है, उसे वामनसस्थान नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—हुंडकसंस्थान नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्गोपाङ्ग किसी खास आकार के न होकर बेडौल होते है, उसे हुडकसस्थान नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—संहनन नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से हड्डियो के बन्धन मे विशेषता होती है, उसे संहनन-नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—इस संहनन नामकर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—इस सहनन नामकर्म के छह भेद है। वज्रर्षभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसहनन, अर्द्धनाराचसहनन, कीलितसहनन और असप्राप्तासृपाटिकासहनन – ये छह भेद है।

प्रश्न :—वज्रर्षभनाराचसंहनन किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से ऋषभ (वेष्ठन), नाराच, (कील) और संहनन (हड्डियां) वज्र के समान अभेद्य होती है, उसे वज्रर्षभनाराचसहनन कहते है।

प्रश्न :—वज्रनाराचसंहनन का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से कोले वा हड्डिया तो वज्र के समान होती है, परन्तु वेष्ठन वज्र के समान नही होता है, उसे वज्रनाराचसहनन कहते है।

प्रश्न :—नाराचसंहनन किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से सामान्य वेष्ठन और कीलिसहित हड्डियां होती है, उसे नाराचसहनन कहते है।

प्रश्न :—अर्धनाराचसंहनन किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से हड्डियों की सधियां अर्धकीलित होती है, उसे अर्धनाराचसंहनन कहते है।

प्रश्न :—कीलितसंहनन किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से हड्डिया परस्पर कीलित होती है, उसे कीलितसहनन कहते है।

प्रश्न :—असंप्राप्तासृपाटिका संहनन किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अलग-अलग हड्डिया नसो से बधी होती है, परस्पर मे कीलित नही होती, उसे असप्राप्तासृपाटिका सहनन कहते है।

प्रश्न :—स्पर्श नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर मे स्पर्श होता है, उसे स्पर्श नामकर्म कहते है। इसके आठ भेद है—हल्का, भारी, रूखा, चिकना, कडा, नरम, ठडा, गरम— इन सबका अनुभव स्पर्श नामकर्म के द्वारा होता है।

प्रश्न :—रस नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर में रस (का ज्ञान) उत्पन्न होता है, उसे रस नामकर्म कहते है। इस रस के ५ पाच भेद है – खट्टा, खारा, मीठा, कडवा, कषायला।

प्रश्न :—गंध नामकर्म किसे कहते हैं? और उसके कितने भेद है?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर में गंध का ज्ञान प्रगट होता है, उसे गध नामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं – सुगन्ध और दुर्गन्ध।

प्रश्न :—वर्ण नामकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर में (रूप) वर्ण होता है, उसे वर्ण नामकर्म कहते है। इसके ५ पांच भेद है – काला, पीला, नीला, लाल और सफेद।

प्रश्न :—आनुपूर्व्य नामकर्म किसे कहते है और उसके कितने भेद हैं?

उत्तर —जिस कर्म के उदय से विग्रहगति मे (मरण से) पूर्व के शरीर के आकार में आत्मा के प्रदेश रहते है, उसे आनुपूर्व्य नामकर्म कहते है। इसके चार भेद है– नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्व्य, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य और देवगत्यानुपूर्व्य, जिस समय मनुष्य या तिर्यञ्च मरकर नरकगति की ओर जाता है, उस समय उसके आत्मा के प्रदेशों का आकार वैसा ही बना रहता है, जैसा उसके पूर्व शरीर का आकार था, जिसे वह छोडकर आया है, उस आकार को नरकगत्यादिनुपूर्व्य कहते हैं। इसी तरह अन्य जान लेना।

प्रश्न :—अगुरूलघु नामकर्म किसे कहते है?

उत्तर '—जिस नामकर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे के गोले की तरह भारी और आक की रूई की तरह हल्का नही होता, उसे अगुरूलघु नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—उपघात नामकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अपने ही घातक (अपना ही घात करने वाले) आगोपाग होते हैं, उसे उपघात नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—परघात नामकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से दूसरे के घातक (घात करने वाले) आंगोपांग होते हैं, उसे परघात नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—आतप नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से आतापकारी शरीर होता है, उसे आतप नामकर्म कहते हैं। इसका उदय सूर्य के विमान मे स्थित बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवो के होता है।

प्रश्न :—उद्योत नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से उद्योतरूप शरीर होता है, उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं। इसका उदय चन्द्रमा के विमान में स्थित पृथ्वीकायिक जीवो के तथा खद्योत (जुगनू) आदि जीवो के होता है।

प्रश्न :—उच्छ्वास नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर में उच्छ्वास होता है, उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—विहायोगति नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से आकाश मे गमन होता है, उसे विहायोगति नामकर्म कहते है। इसके दो भेद है–प्रशस्त विहायोगति और अप्रशस्त विहायोगति।

प्रश्न :—प्रत्येक शरीर नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, उसे प्रत्येक शरीर नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—साधारण नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से एक शरीर के अनेक जीव स्वामी होते है, उसे साधारण नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—त्रस नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव का द्वीन्द्रिय आदि पर्यायो में जन्म होता है, उसे त्रस नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—स्थावर नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से एकेन्द्रिय जाति में जीव का जन्म होता है, उसे स्थावर नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—सुभग नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अन्य जीवों को अपने से प्रीति होने योग्य शरीर होता है, उसे सुभग नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—दुर्भग नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से रूपादि गुणों से युक्त होने पर भी दूसरे जीवों को अपने से प्रीति नही होती है, उसे दुर्भग नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—सुस्वर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तह :—जिस कर्म के उदय से स्वर (आवाज) सुरीला होता है, उसे सुस्वर नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—दुस्वर नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से स्वर अच्छा नही होता है, उसे दुस्वर नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—शुभ नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से मस्तक आदि अवयव सुन्दर हो, उसे शुभ नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—अशुभ नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव देखने में सुन्दर नही होते है, उसे अशुभ नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—सूक्ष्म नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से दूसरों को नही रोकने वाला और दूसरों से नहीं रुकने वाला शरीर प्राप्त होता है, उसे सूक्ष्मशरीर नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—बादरनाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से दूसरो को रोकने वाला तथा दूसरों से रुकने वाला स्थूल शरीर प्राप्त होता है, उसे बादर नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—पर्याप्ति नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अपने योग्य पर्याप्तियां पूर्ण होती है, उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—अपर्याप्ति किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव के एक भी पर्याप्ति पूर्ण नही होती, उसे अपर्याप्ति नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—पर्याप्ति किसे कहते है ?

उत्तर :—आहारवर्गणा, भाषावर्गणा और मनोवर्गणा के परमाणुओ के शरीर तथा इन्द्रियादि रूप परिणमावने की शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते है। पर्याप्ति के छह भेद हैं—१. आहारपर्याप्ति, २ शरीरपर्याप्ति, ३ इन्द्रिय-पर्याप्ति, ४. श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, ५. भाषापर्याप्ति, ६. मनःपर्याप्ति।

प्रश्न :—अपर्याप्तक के कितने भेद है ?

उत्तर :—निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक – ऐसे दो भेद है।

प्रश्न :—निर्वृत्यपर्याप्तक किसे कहते हैं ?

उत्तर :—अपने-अपने योग्य पर्याप्तियो का प्रारम्भ तो साथ-साथ होता है, किन्तु पूर्णता क्रम से होती है। किसी जीव की जब तक शरीर पर्याप्तिपूर्ण नही होती, किन्तु नियम से पूर्ण होने वाली होती है, तब तक उस जीव को निर्वृत्यपर्याप्तक कहते है।

प्रश्न :—लब्ध्यपर्याप्तक किसे कहते है ?

उत्तर .—जिसकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है, उसे पर्याप्तक कहते है। और जिसकी एक भी पर्याप्ति पूर्ण नही होती तथा श्वास के अठारहवे भाग मे मरण हो जाता है, उसे लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं।

प्रश्न :—आहारपर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर :—आहार वर्णना के परमाणुओ को खल वा रस भागरूप परिणमावने को कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को आहारपर्याप्ति कहते है।

प्रश्न :—शरीरपर्याप्ति किसे कहते है ?

उत्तर :—जिन परमाणुओ को खलरूप परिणमवाया था, उनको हड्डि वगैरह कठिन अवयवरूप और जिनको रसरूप परिणमवाया था, उनको रुधिरादिक स्वरूप परिणमावने के कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को शरीरपर्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न :—इन्द्रियपर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर :—आहार वर्गणा के परमाणुओं को इन्द्रिय के आकाररूप परिणमावने को तथा इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने के कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न :—श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति किसे कहते है ?

उत्तर :—आहार वर्गणा के परमाणुओं को श्वासोच्छ्वासरूप परिणमावने के कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति कहते है।

प्रश्न :—भाषापर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर :—भाषावर्गणा के परमाणुओ को वचनरूप परिणमावने के कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को भाषापर्याप्ति कहते है।

प्रश्न :—मनःपर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर :—मनोवर्गणा के परमाणुओ को हृदय स्थान में आठ पखुडी के कमलाकार मनरूप परिणमावने को तथा उसके द्वारा यथावत विचार करने की कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को मन.पर्याप्ति कहते है।

प्रश्न :—कितने इन्द्रिय वाले जीवों को कितनी पर्याप्तियाँ होती हैं ?

उत्तर :—एकेन्द्रिय के भाषा और मन के बिना चार पर्याप्तिया होती है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय के मन के विना पांच पर्याप्तियां होती है। सज्ञीपञ्चेन्द्रिय के छहो पर्याप्तियां होती है। इन सब पर्याप्तियों के पूर्ण होने का काल अन्तर्मुहूर्त है और एक-एक पर्याप्ति का काल भी अन्तर्मुहूर्त है। तथा सबका मिलाकर भी अन्तमुहूर्त ही है। और पहले से दूसरे, तीसरे का इसी तरह छट्ठे तक का काल क्रम से वडा-वडा अन्मुहूर्त है।

प्रश्न :—स्थिर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएँ (रस, रुधिर, मांस, मेद, हाड, मज्जा और शुक्र) तथा उपधातुएँ (वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम और जठराग्नि) अपने-अपने स्थान में स्थिरता को प्राप्त होती है, उसे स्थिर नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—अस्थिर नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएँ तथा उपधातुएँ अपने स्थान मे स्थिर नही रहती, उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—आदेय नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर मे कान्ति होती है, उसे आदेय नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—अनादेय नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर —जिस कर्म के उदय से शरीर मे कान्ति नही होती, उसे अनादेय नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न .—यश:कीर्ति नामकर्म कहते है ?

उत्तर —जिस कर्म के उदय से ससार मे जीव की प्रशसा होती है, उसे यश कीर्ति नामकर्म कहते है ।

प्रश्न :—अयश.कीर्ति नामकर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से लोक मे जीव की निन्दा होती है, उसे अयश कीर्ति नामकर्म कहते है।

प्रश्न :—तीर्थकरत्व कर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से तीर्थङ्करपद की प्राप्ति होती है, उसे तीर्थङ्कर नामकर्म कहते है ।

प्रश्न :—गोत्रकर्म किसे कहते है ? उसके कितने भेद है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव का उच्च या नीच गोत्र मे जन्म होता है, उसे गोत्रकर्म कहते है । इसके दो भेद है—१. उच्चगोत्र, २. नीचगोत्र ।

प्रश्न :—उच्चगोत्र कर्म किसे कहते है ?

उत्तर .—जिस कर्म के उदय से उच्चगोत्र मे जन्म होता है, उसे उच्चगोत्र कर्म कहते है । इससे लोकमान्य पूज्य गोत्र मिलता है ।

प्रश्न :—नीचगोत्र कर्म किसे कहते है ?

उत्तर —जिस कर्म के उदय से प्राणी का लोक निन्द्य नीच कुल मे जन्म होता है, उसे नीचगोत्र कर्म कहते है ।

प्रश्न '—अन्तराय कर्म किसे कहते है ?

उत्तर —जिस कर्म के उदय से दानादिक मे विघ्न होता है, उसे अन्तराय कर्म कहते है। इसके पांच भेद है—१. दानान्तराय, २. लाभान्तराय, ३. भोगान्तराय, ४. उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय।

प्रश्न :—दानान्तराय किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से दान देने की इच्छा होते हुए भी प्राणी दान नही कर सकता, उसे दानान्तराय कहते है। इसी प्रकार और भी अन्तरायों का स्वरूप जान लेना।

प्रश्न :—बंध कितने प्रकार का है और बंध का लक्षण क्या है ?

उत्तर :—बध चार प्रकार का है। प्रकृति बंध, प्रदेश बध, स्थिति बध और अनुभाग बध। अब बध का लक्षण बताते है। कार्मणवर्गणारूप पुद्गल सम्पूर्ण लोक मे ठसाठस भरे हुए है, कषाय के निमित से आत्मा के साथ, उनका सम्बन्ध हो जाता है। यही बन्ध कहलाता है। जैसे तत्वार्थ सूत्र में परिभाषा दी है—

"सकषायत्वाज्जीव : कर्मणो योगान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।"[1]

प्रश्न :—कौनसा बंध किससे होता है ?

उत्तर .—प्रकृतिबध और प्रदेशबध योग से होते है। स्थितिबंध और अनुभागबध कषाय से होते है।

प्रश्न :—प्रकृति बंध किसे कहते है ?

उत्तर —कर्मो मे ज्ञानादिक के ढकने का स्वभाव प्रकृति बन्ध है।

प्रश्न :—प्रदेश बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर :—आत्मा के योग-विशेषो द्वारा त्रिकाल में बंधनवाले, ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियो के कारणभूत, आत्मा के प्रदेशो मे व्याप्त होकर कर्मरूप परिणाम ने योग्य, सूक्ष्म, आत्मा के प्रदेशो मे क्षीर नीर की तरह एक होकर स्थिर रहने वाले तथा अनन्तानन्त प्रदेशो का प्रमाण लिये प्रदेश बन्धरूप पुगदल स्कन्धों को प्रदेशबन्ध कहते है। कहा गया है—

"नाम प्रत्ययाः सर्वतो योग विशेषात् सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्म प्रदेशेष्वनन्तानन्त प्रदेशाः।"[2]

---

१ तत्वार्थ सूत्र–अध्याय : ८, सूत्र. २। २. तत्वार्थ सूत्र अध्याय. ८, सूत्रः २४।

प्रश्न :—स्थिति बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर :—ज्ञानावरणादि कर्मों का अपने स्वभाव से चुत नही होने वाला स्थिति बध है।

प्रश्न :—अनुभाग बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर :—ज्ञानावरणादि कर्मो मे तीव्र या मद आदि फल देने की शक्ति को अनुभाग बध कहते है।

प्रश्न :—ज्ञानावरणादि कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है ?

उत्तर :—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोड़ी सागर है। इस उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के होता है।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोड़ी सागर की है। नाम, गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर की है। आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस कोडा कोडी सागर है।

प्रश्न :—ज्ञानावरणादि कर्मो की जघन्य स्थिति कितनी है ?

उत्तर :—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयु इन पांच कर्मो की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। नाम व गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है।

प्रश्न :—पुण्यप्रकृतियां कौन-कौनसी है ?

उत्तर :—देवायु, मनुष्यायु, तिर्यचायु, सातावेदनीय, उच्चगोत्र, प्रशस्तगति, देवगति, मनुष्यगति, देवगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, निर्माण, श्वासोच्छ्‌वास, बधन ५, सघात ५, देह ५, वर्ण ५, रस ५, (त्रस) तीन आगोपाग, शुभ, गन्ध २, आठ स्पर्श, अगुरुलघु, पंचेन्द्रिय, समचतुरस्र सस्थान, वज्रर्षभनाराचसहनन, बादर, प्रत्येक, स्थिर, पर्याप्त, यसकीर्ति, आतप, उद्योत, परघात, सुस्वर, सुभग, आदेय और तीर्थकर ये ६८ पुण्यप्रकृतिया हैं।

कर्मकाण्ड में इसे इस प्रकार गाथाबद्ध किया है—

"साद तिण्णेवाऊ उच्च णर सुर दुगं च पचिदो।
देहा वन्धणसघा – देगो वगाइ वण्णचओ ॥

समचउरबज्जरिसह उवघादूण गुरू छक्क सग्गमणं ।
तसबारसट्ठसट्ठी, बादालम भेददो सत्था ।।"१

प्रश्न :—पापप्रकृतियां कौन-कौनसी हैं ?

उत्तर :—चारों घातिया कर्म की सैंतालीस प्रकृतिया, असातावेदनीय, नीचगोत्र, नरक आयु, समचतुरस्त्र संस्थान बिना पाच संस्थान, वज्रर्षभनाराच संहनन बिना, पाच संहनन, पाच वर्ण, पाच रस, नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, नरकगति, तिर्यंचगति, आठ स्पर्श, गंध दो, पंचेन्द्री, बिना चारों इन्द्रियां वस्था, अप्रशस्तविहायोगति, अस्थिर, अपर्याप्त, सूक्ष्म, साधारण. उपघात, स्थावर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयसकीर्ति इन सब को मिलाकर सौ पाप प्रकृतिया है ।

इनको गोम्मटसार में इस प्रकार गाथा बद्ध किया है—

"घादी णीचमसाद णिरयाऊ णिरयतिरियदुग जादी
सठाणसहदीण चदुपणपणग च वण्णाचओ ।।
उवघादमसग्गमणं थावरदसयं च अप्पसत्था हु ।
वंधुदयं पडि भेदे अडणउदि सय दुचदुरसीदिदरे ।।"२

प्रश्न :—घातिया कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिसके उदय से जीव के ज्ञानादिक अनुजीवी गुणो का घात होता है, उसे घातिया कर्म कहते है ।

प्रश्न :—घातिया कर्म के कितने भेद है ?

उत्तर :—ज्ञानावरण के ५, दर्शनावरण के ९, मोहनीय के २८ और अन्तराय के ५ कुल मिलाकर घातिया कर्म के सैंतालिस भेद होते है ।

प्रश्न :—अघातिया कर्म किसे कहते है ? और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव के ज्ञानादि अनुजीवी गुणो का घात नही होता, उसे अघातिया कर्म कहते है ।

---

१ गोम्मटसार . कर्मकाण्ड : गाथा ४१–४२ ।

२. गोम्मटसार: कर्मकाण्ड: गाथा ४३, ४४ ।

वेदनीय के २, आयु के ४, नाम ९३ और गोत्र के २ कुल मिलाकर अघातिया कर्म के १०१ भेद होते है।

प्रश्न :—सर्वघाति कर्म किसे कहते हैं और उसके कितने भेद है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अनुजीवी गुणो का पूर्ण रूप से घात होता हो, उसे सर्वघाति कर्म कहते है। केवलज्ञानावरण एक, केवल दर्शनावरण एक, नीद्रा ५, अनन्तानुबन्धि की ४, अप्रत्याख्यानावरण की ४, प्रत्याख्यानावरण की ४, मिथ्यात्व १ और सम्यङ्मिथ्यात्व १ कुल मिलाकर २१ प्रकृति सर्वघाति है।

प्रश्न :—देशघाति कर्म किसे कहते है ? और उसके कितने भेद है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव के अनुजीवी गुणो का एक देश घात होता है, उसे देशघाति कर्म कहते है। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनः पर्यज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, सज्वलन ४, नोकपाय ९, एक सम्यकत्व, पाच अन्तराय ये–सब मिलाकर छब्बिस देशघाति कर्म है।

प्रश्न :—जीव विपाकी कर्म किसे कहते है ? और उसके कितने भेद है ?

उत्तर :—जिस कर्म का फल जीव मे होता है उसको जीव विपाकी कर्म कहते है। इसके अठहत्तर भेद है। घातिया के ४७, गोत्र के २, वेदनीय के २, तीर्थकर प्रकृति, उच्छ्वास, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्ति, अपर्याप्ति, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, यश कीर्ति, अयश कीर्ति, त्रस, स्थावर, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति, सुभग, दुर्भग, गति ४, जाति ५ सब मिलकर अठहत्तर भेद होते है।

प्रश्न :—पुद्गल विपाकी कर्म किसे कहते है ? और उसके कितने भेद है ?

उत्तर :—जिस कर्म का फल पुद्गल मे होता है, उसे पुद्गलविपाकी कहते हैं। इसके बासठ भेद है। कुल कर्म प्रकृतियां १४८ है, उनमे से क्षेत्र विपाकी ४, भवविपाकी ४, जीवविपाकी ७८ इस प्रकार ८६ प्रकृतिया घटाने से शेष ६२ प्रकृतियां पुद्गल विपाकी है।

प्रश्न :—भवविपाकी कर्म किसे कहते है ? भवविपाकी प्रकृतियां कितनी है ?

उत्तर —जिस कर्म के फल से जीवपर्याय मे रहता है, इसकी चार प्रकृतिया है—

नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु ।

प्रश्न :—क्षेत्रविपाकी कर्म किसे कहते है ? और उसकी कितनी प्रकृतियां है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव का आकार विग्रहगति में पूर्वपर्याय जैसा वना रहता है, उसे क्षेत्रविपाकी कर्म कहते है, उसके चार भेद है—चारो गत्यानुपूर्वी ।

प्रश्न :—मिथ्यात्व गुणस्थाने में कौन-कौनसी प्रकृति का बन्ध होता है ?

उत्तर :—कर्म की १४८ प्रकृतियों में स्पर्शादिक २० प्रकृतियों का अभेद विवक्षा से स्पर्शादिक चार मे तथा बन्धन ५ और संघात ५ का, अभेद विवक्षा से पाच शरीरो मे अन्तर्भाव होता है । इस कारण भेदविवक्षा से सर्व १४८ और अभेद विवक्षा से १२२ प्रकृतियां बध योग्य है ।

सम्यङिमथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इन दो प्रकृतियो का बंध नही होता,[1] क्योकि इन दोनो प्रकृतियों की सत्ता सम्यक्त्व परिणामो से मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड करने से होती है, इस कारण अनादि मिथ्यादृष्टि जीव की बन्ध योग्य प्रकृतियां १२० और सत्त्वयोग प्रकृतिया १४६ हैं ।

मिथ्यात्व गुणस्थान मे तीर्थकर प्रकृति, आहारक शरीर और आहारकागोपाग इन तीन प्रकृतियो का बन्धन नही होता, क्योकि इन तीन प्रकृतियो का बन्ध सम्यग्दृष्टि के ही होता है । इसलिये मिथ्यात्व गुणस्थान मे (१२० मे) ३ घटाने पर ११७ प्रकृतियो का बन्ध होता है ।

प्रश्न :—मिथ्यात्व गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर :—सम्यक् प्रकृति, सम्यक् मिथ्यात्व, आहारक शरीर, आहारकागोपांग और तीर्थंकर प्रकृति इन पाच प्रकृतियो का मिथ्यात्व गुणस्थान मे उदय नही होता, इसलिये १२२ मे पाच घटाने पर ११७ का प्रकृतियो उदय होता है ।

प्रश्न —मिथ्यात्व गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों की सत्ता (सत्त्व) रहती है ?

उत्तर :—मिथ्यात्व गुणस्थान में १४८ प्रकृतियो का सत्ता (सत्त्व) रहती है ।

प्रश्न :—दूसरे गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है ?

---

१ जैन दर्शन में मिथ्यात्वादि १४ गुणस्थानों की चर्चा की गई है । प्रत्येक गुण-स्थान मे प्रकृतियो के वन्ध, उदय, सत्व की चर्चा यहां से आगे करते है ।

उत्तर :—दूसरे गुणस्थान में १०१ प्रकृतियो का बध होता है। क्योकि सोलह प्रकृतिया कम हो जाती है। ११७ प्रकृतियो का बंध पहले गुणस्थान मे होता था, इसमे से १६ प्रकृतियों की व्युच्छिति हो जाती है, सो १६ घटाने पर १०१ रह जाती है, इन्ही का इस गुणस्थान मे बध होता है।

प्रश्न :—व्युच्छित्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस गुणस्थान मे जिन कर्म प्रकृतियों का बन्ध, उदय अथवा सत्त्व की व्युच्छित्ति कही है; उस गुणस्थान तक ही उन प्रकृतियो का बन्ध, उदय, अथवा सत्त्व पाया जाता है। आगे के किसी भी गुणस्थान मे उन प्रकृतियो का बन्ध, उदय अथवा सत्त्व, नही होता है, इसी को व्युच्छित्ति कहते है।

प्रश्न :—द्वितीय गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर :—पहिले गुणस्थान मे जो ११७ प्रकृतियो का उदय होता है उनमे से मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन पाच को मिथ्यात्व गुणस्थान की व्युच्छिन्न प्रकृतियो से घटाने पर ११२ रही। परन्तु नरकगत्यानुपूर्वी का इस गुणस्थान में उदय नही होता, इसलिये इस गुणस्थान मे १११ प्रकृतियो का उदय होता है।

प्रश्न :—द्वितीय गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व रहता है ?

उत्तर —इस द्वितीय गुणस्थान मे तीर्थंकर, आहारक शरीर और आहारक आँगोपाग ये तीन नही रहती है, इसलिये इस गुण स्थान मे एक सौ पैतालिस का सत्त्व रहता है।

प्रश्न :—तृतीय गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है ?

उत्तर :—तृतीय गुणस्थान मे बन्धयोग्य प्रकृतियां १०१ थी, उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृतिया पच्चीस, (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, न्यग्रोध परिमडलसस्थान, स्वातिसस्थान, कुब्जक सस्थान, वामनसस्थान, वज्रनाराचसहनन, नाराच-सहनन, अर्द्धनाराचसहनन, कीलितसहनन, अप्रशस्त विहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यञ्चगति, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, तिर्यगायु, उद्योत) घटाने पर शेष रही ७६ प्रकृतियां। परन्तु इस गुणस्थान मे किसी भी आयुकर्म का बन्ध

नही होता है, इसलिये छिहतर में से मनुष्यायु और देवायु इन दो के घटाने पर तृतीय मिश्र गुणस्थान में ७४ प्रकृतियों का बन्ध होता है। नरकायु की पहले गुणस्थान मे और तिर्यञ्चायु की दूसरे गुणस्थान में ही व्युच्छित्ति हो जाती है।

प्रश्न :—तृतीय गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर :—दूसरे गुणस्थान में १११ प्रकृतियों का उदय होता है। इनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियों ९ को (अनन्तानुबंधी ४, एकेन्द्रियादिक ४, स्थावर १ को) घटाने पर शेष १०२ में से नरकगत्यानुपूर्वी के बिना (क्योंकि यह दूसरे गुणस्थान मे घटाई जा चुकी है)। शेष की तीन आनुपूर्व घटाने पर (क्योंकि तीसरे गुणस्थान में मरण न होने से किसी भी आनुपूर्वी का उदय नही होता) शेष ९९ प्रकृतिया और एक सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति का उदय यहां होता है, इस कारण इस गुणस्थान मे १०० प्रकृतियो का उदय होता है।

प्रश्न :—तृतीय गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व रहता है ?

उत्तर :—तृतीय गुस्थान मे तीर्थङ्कर प्रकृति के बिना १४७ प्रकृतियो का सत्व रहता है।

प्रश्न :—अविरत चतुर्थ गुणस्थान में कितनो प्रकृतियों का बंध होता है ?

उत्तर :—तृतीय (मिश्र) गुणस्थान मे ७४ प्रकृतियो का बन्ध होता है। उसमें मनुष्यायु, देवायु और तीर्थकर प्रकृति मिलाने पर ७७ प्रकृतियो का बन्ध होता है।

प्रश्न :—चतुर्थ गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर :—तृतीय गुणस्थान में १०० प्रकृतियो का उदय होता है, उसमें से व्युच्छिन्न प्रकृति सम्यक् मिथ्यात्व को घटाने पर रही ९९ इनमें चार आनुपूर्वी और एक सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व इन पाच प्रकृतियों को मिलाने पर चौथे गुणस्थान मे १०४ प्रकृतियो का उदय होता है।

प्रश्न :—चौथे गुणस्थान मे कितनी प्रकृतियों का सत्व रहता है ?

उत्तर :—सबका अर्थात् १४८ प्रकृतियो का, किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि के १४१ का ही सत्व रहता है।

प्रश्न :—पंचम गुणस्थान में कितने प्रतियों का बंध होता है ?

उत्तर :—चौथे गुणस्थान मे जिन ७७ प्रकृतियों का बन्ध कहा है, उनमे से व्युच्छिन्न दस के (अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यगति, मनुष्य-गत्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिकशरीर, औदारिकांगोपाग वज्रर्षभनाराच-सहनन के) घटाने पर शेष ६७ प्रकृतियो का देशविरत नामक पचम गुणस्थान मे बन्ध होता है ।

प्रश्न :—पंचम गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय रहता है ?

उत्तर :—चौथे गुणस्थान मे जिन १०४ प्रकृतियो का उदय कहा है, उनमे से व्युच्छिन्न सत्रह प्रकृतियो के (अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु, वैक्रियक शरीर, वैक्रियकांगोपाग, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, दुर्भग अनादेय, अयश-स्कीर्ति के) घटाने पर शेष रही ८७ प्रकृतियो का पञ्चम गुणस्थान मे उदय होता है ।

प्रश्न :—पंचम गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्व रहता है ?

उत्तर :—चौथे गुणस्थान मे जिन १४८ प्रकृतियो का सत्व कहा है, उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृति एक नरकायु के बिना १४७ का सत्त्व रहता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से १४० का ही सत्व रहता है ।

प्रश्न :—छठवें गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर :—पचम गुणस्थान मे जिन ६७ प्रकृतियो का बध होता है, उनमे से प्रत्याख्याना-वरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन ४ व्युच्छिन्न प्रकृतियो को घटाने पर शेष ६३ प्रकृतियो का प्रमतविरत नामक छठवे में बन्ध होता है ।

प्रश्न :—छठवें गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर :—पचम गुणस्थान मे जिन ८७ प्रकृतियो का उदय रहता है, उनमे से व्युच्छिन्न आठ प्रकृतियो के (प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यञ्चगति, तिर्यगायु, उद्योत और नीचगोत्र के) घटाने पर शेष ७९ प्रकृतियो मे आहारक शरीर और आहारक आगोपांग इन दो प्रकृतियोको मिलाने से ८१ प्रकृतियो का इस गुणस्थान मे उदय होता है ।

प्रश्न :—छठवें गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्व रहता है ?

उत्तर :—पंचम गुणस्थान में १४७ प्रकृतियो की सत्ता कही है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति एक तिर्यञ्चगति को घटाने पर १४६ प्रकृतियों का छठवे गुणस्थान मे सत्त्व रहता है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि में १३६ का ही सत्त्व कहा है।

प्रश्न :—सातवें गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—छठे गुणस्थान में जिन ६३ प्रकृतियो का बंध कहा है, उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृति छह के (अस्थिर, अशुभ, असाता, अयशस्कीर्ति, अरति, शोक को) घटाने पर शेष रही ५७ में आहारक शरीर और आहार आंगोपांग इन दो प्रकृतियो को मिलाने से सप्तम गुणस्थान में ५६ प्रकृतियो का बन्ध होता है।

प्रश्न :—सप्तम गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—छठे गुणस्थान में जो ८१ प्रकृतियों का उदय कहा है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति पांच (आहारकशरीर, आहारकांगोपाग, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, और स्त्यानगृद्धि) के घटाने पर शेष रही ७६ प्रकृतियों का सप्तम गुणस्थान में उदय होता है।

प्रश्न :—सप्तम गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्व रहता है ?

उत्तर :—छठे गुणस्थान की तरह इस गुणस्थान में भी १४६ की सत्ता रहती है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि के १३६ प्रकृति का ही सत्त्व रहता है।

प्रश्न :—आठवें गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—सातवे गुणस्थान में जिन ५६ प्रकृतियो का बन्ध कहा है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति एक देवायु को घटाने पर ५८ का बंध होता है।

प्रश्त :—आठवें गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय रहता है ?

उत्तर :—सातवे गुणस्थान मे जिन ७६ प्रकृतियो का उदय कहा है, उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृतियां चार (सम्यक्प्रकृति, अर्द्धनाराचसहनन, कीलक, असप्राप्तासृपाटिका-सहनन) के घटाने पर शेष ७२ प्रकृतियो का अष्टम गुणस्थान मे उदय होता है।

प्रश्न :—आठवें गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्व रहता है ?

उत्तर :—सातवे गुणस्थान जो १४६ का सत्त्व कहा है, उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृतिया अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारो को घटाने पर द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी वाले के दर्शनमोहनीय का तीन प्रकृति रहित १३९ का सत्त्व रहता है। और क्षपक श्रेणी वाले के सातवे गुणस्थान की व्युच्छिन्न प्रकृतिया आठ को (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा दर्शन मोहनीय की ३ और एक देवायु को) घटाकर शेष १३८ प्रकृतियो का सत्त्व रहता है।

प्रश्न .—नवम गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर :—आठवे गुणस्थान मे जिन ५८ प्रकृतियो का बन्ध कहा है, उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृतिया छत्तिस (निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, पचेन्द्रियजाति, तैजसशरीर, कार्माणशरीर, आहारकशरीर आहारक आगोपाग, समचतुरस्त्र-सस्थान, वैक्रियआगोपाग, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, रूप, रस, गध, स्पर्श, अगुरूलघुत्व, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, जुगुसा, भय) को घटाने पर शेष २२ प्रकृतियो का नवम गुणस्थान में बन्ध होता है।

प्रश्न :—नवम गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—अष्टम गुणस्थान मे जिन ७२ प्रकृतियो का उदय होता है, उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृतिया छह (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) को घटाने पर शष ६६ प्रकृतियो का उदय होता है।

प्रश्न —नवम गुणस्थान में सत्त्व कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर —अष्टम गुणस्थान की तरह इस गुणस्थान मे भी उपशम श्रेणी वाले द्वितियोपशमसम्यग्दृष्टी के १४२, क्षयिकसम्यग्दृष्टी के १३९ और क्षपकश्रेणी वाले के १३८ प्रकृतियो का ही सत्त्व रहता है।

प्रश्न .—दशम गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है ?

उत्तर —नवम गुणस्थान मे जिन २२ प्रकृतियो का बन्ध होता है, उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृतिया पाच (पुरुषवेद, सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ) को घटाने पर शेष १७ प्रकृतियो का यहा बन्ध होता है।

प्रश्न :—दशम गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर :—नवम गुणस्थान में जिन ६६ प्रकृतियों का उदय होता है, उनमें से व्यच्छिन्न प्रकृतिया छह स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपु सकवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया को घटाने पर शेष ६० प्रकृतियो का दशम गुणस्थान मे उदय होता है ।

प्रश्न :—दशम गुणस्थान में सत्त्व कितनी प्रकृतियों का रहता है ?

उत्तर —उपशम श्रेणी मे तो नवम गुणस्थान की तरह द्वितीयोपशमसम्य सम्यग्दृष्टी के १४२ और क्षायिकसम्यग्दृष्टि के १३९ और क्षपक श्रेणी वाले के नवम गुणस्थान मे जिन १३८ प्रकृतियो का सत्त्व है, उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृतिया छत्तिस तिर्यंगगति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, विकल त्रय की ३, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण निद्रानिद्रा, सूक्ष्म, स्थावर, अप्रत्याख्यानावरण की ४, प्रत्याख्यानावरण की ४, नोकपाय, की सज्वलन क्रोध मान माया नरकगति नरक गत्यानुपूर्वी को घटा शेष १०२ प्रकृतियो का दशम गुणस्थान मे सत्त्व रहता है ।

प्रश्न :—ग्यारहवें गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियों का होता हैं ?

उत्तर —दशम गुणस्थान मे जिन ७, प्रकृतियो का बध होता था, उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृतियां १६ अर्थात् ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ४ अन्तराय की ५, यशस्कीर्ति १, उच्चगोत्र १ के घटाने पर शेप एक मात्र सातावेदनीय का ग्यारहवे गुणस्थान मे बंध होता है ।

प्रश्न :—ग्यारहवें गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता हैं ?

उत्तर '—दसवे गुणस्थान मे जिन ६० प्रकृतियो का उदय होता है, उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृति एक सज्वलन लोभ को घटाने पर शेप ५९ प्रकृतियो का ग्यारहवे गुणस्थान मे उदय होता है ।

प्रश्न :—ग्यारहवें गुणस्थान में सत्त्व कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर '—नवम गुणस्थान और दशम गुणस्थान की तरह द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी के १४२ और क्षायिक सम्यग्दृष्टी के १३९ प्रकृतियो का ग्यारहवे गुणस्थान मे सत्त्व रहता है ।

प्रश्न :—बारहवें गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर :—एक साता वेदनीय मात्र का बध होता है ।

प्रश्न :—बारहवें गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों उदय है ?

उत्तर :—ग्यारहवे गुणस्थान मे जिन ५९ प्रकृतियों का उदय होता है, उनमे से वज्र-नाराच और नाराच इन दो व्युच्छिन्न प्रकृतियो के घटाने पर ५७ प्रकृतियो का बारहवे गुणस्थान मे उदय होता है ।

प्रश्न :—बारहवें गुणस्थान में सत्त्व कितनी प्रकृतियो का होता है ?

उत्तर :—दशवे गुणस्थान मे क्षपक श्रेणी वाले की अपेक्षा १०२ प्रकृतियो का सत्त्व है, उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृति सज्वलन लोभ को घटाने पर शेष १०१ प्रकृतियो का बारहवे गुणस्थान मे सत्त्व रहता है ।

प्रश्न :—तेरहवें गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर —एक मात्र साता वेदनीय का बन्ध होता है ।

प्रश्न :—तेहरवें गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—बारहवे गुणस्थान में जिन सत्तावन प्रकृतिको का उदय होता है, उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृतिया सोलह ज्ञानावरण की ५, अन्तराय की ५, दर्शनावरण की ४, निद्रा और प्रचला को घटाने पर शेष ४१ प्रकृतियो मे तीर्थंकर की अपेक्षा से एक तीर्थंकर प्रकृति को मिलाकर ४२ प्रकृतियो का तेरहवे गुण-स्थान मे उदय होता है ।

प्रश्न :—तेहरवें गुणस्थान में सत्त्व कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—बारहवे गुणस्थान में जिन १०१ प्रकृतियो का सत्त्व है, उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृतिया सोलह (ज्ञानावरण की ५, अन्तराय की ५, दर्शनावरण की ४, निद्रा १, प्रचला) को घटाने पर शेष ८५ प्रकृतियो का तेरहवे गुणस्थान में सत्त्व रहता है ।

प्रश्न :—चौदहवें गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—तेरहवे गुणस्थान में जिन एक साता वेदनीय का बन्ध होता था, उसकी उसी गुणस्थान में व्युच्छित्ति होने से अयोग केवली गुणस्थान मे किसी भी प्रकृति का बन्ध नही होता है ।

प्रश्न :—चौदहवें गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—तेरहवे गुणस्थान में जिन ४२ का उदय होता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियां तीस (वेदनीय १, वज्रऋषभनाराचसहनन १, निर्माण १, स्थिर १, अस्थिर १ शुभ, अशुभ, सुस्वर, दु:स्वर, प्रशस्तविहायोगति १, अप्रशस्तविहायोगति, औदारिक शरीर आङ्गोपाङ्ग, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्र सस्थान, न्यग्रोध, स्वाति, कुब्जक, वामन, हुण्डक, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अगुरूलघुत्व, उपघात, परघात, उच्छ्वास और प्रत्येक को घटाने पर शेष बारह प्रकृतियों का वेदनीय १, मनुष्यगति, मनुष्यायु, पञ्चेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्ति, आदेय, यशः किर्ति, तीर्थकर प्रकृति और उच्च-गोत्र १ का) अयोग केवली गुणस्थान में उदय होता है ।

प्रश्न :—चौदहवें गुणस्थान में सत्त्व कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—तेरहवें गुणस्थान की तरह इस गुणस्थान मे भी ८५ प्रकृतियो का सत्त्व है, परन्तु द्वि चरम समय मे ७२ और अन्तिम समय मे १३ प्रकृतियो का सत्त्व नष्ट करके अरिहन्त भगवान मोक्ष जाते है ।

प्रश्न :—कौनसे संहननवाला जीव कहां पैदा होता है ?

उत्तर :—च्यारो सहननो वाले जीव छठे नरक मे जा सकते है । स्फाटिक और कीलक सहनन वाले जीव छठे नरक में नही जा सकते है । इसीलिये आदि के चारो छठे तक कहे है । कीलक और स्फाटिक दोनों सहनन की छठे मे गति नही है। पहले वज्र वृषभनाराच संहनन वाले जीव सातवे नरक मे जा सकते है । वज्र वृषभनाराच सहनन वाले को छोड़कर पांचो सहनन वाले जीव सातवे नरक मे नहीं जा सकते हैं। छहो सहनन वाले जीव तीसरे नरक तक जा सकते है । पांच सहनन वाले जीव पहले से लेकर चौथे, पाचवे नरक तक जा सकते हैं । और स्फाटिक सहनन वाला जीव तीसरे से आगे नही जाता है–यह नियम है । स्फाटिक सहनन वाला जीव तीसरे तक ही जाता है, इसीलिये चौथे, पाचवे मे पाच संहनन सहित जीव की गति होती है ।

प्रश्न :—छहो संहनन वाले जीव स्वर्ग में जावें तो कहां तक जावें ?

उत्तर —छहो सहनन वाले जीव पहले स्वर्ग से लेकर आठवें स्वर्ग तक जाते है ।

पाच सहनन वाले जीव पहले से लेकर बारहवे स्वर्ग तक जाता है और स्फाटिक सहनन आठवे स्वर्ग से ऊपर नही जाता है–यह नियम है। इसलिये आदिके पाच बारहवे तक जाते है। चारो सहनन वाले जीव पहले से लेकर सोलहवे स्वर्ग तक जायगा। कालिक सहनन वाला बारहवे से ऊपर नही जायेगा, इसीलिए आदि के चारो सहनन कहे है। कीलक और स्फाटिक के बिना वज्र वृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच तीन सहनन वाले जीव नौ ग्रैवेयक तक जाते है। अन्त के तीनो अर्द्धनाराच, कीलक, स्फाटिक सहनन वाले जीव नौ ग्रवेयक तक नही जाते है–ऐसा नियम है। वज्र-वृषभनाराच सहनन इन दो सहनन वाले जीव नव अनुदिश विमानो तक जाते है। और अन्त के नाराच, अर्द्ध नाराच, कीलक, स्फाटिक इन चार सहनन वाले जीव अनुदिश विमान मे नही जाय–यह नियम है। एक आदिका वज्र-वृषभनाराच सहनन वाला जीव पाच अनुत्तर विमान तक जाता है और पाच सहनन वाले नही जाते है–यह नियम है। पहले सहनन के बिना अन्य सहनन वाले नही जाते है। जो जीव चरम शरीरी है, उसके एक पहला वज्रवृषभनाराच सहनन होता है, अन्य सहनन नही होता है–यह नियम है। चरम शरीरी माने जिसके ससार का अन्त आ गया है, आगे अब शरीर धारण नही करेगा और नियम से मोक्ष ही जायगा।

प्रश्न :—छहों काल के जीवों को कौन-कौनसा संहनन होता है और मर कर कहां पैदा होते है ?

उत्तर .—पहला काल सुखमासुखमा। इस काल मे निरतर सुख ही सुख है कल्पवृक्ष से प्राप्त सामग्री से सुख भोगते है। पहले काल मे उत्तम भोग भूमि रहती है, दूसरे काल मे मध्यम भोग भूमि है। इस काल का नाम सुखमा है। तीसरे काल का नाम सुखमादुखमा है, इस काल मे पहले आदि मे सुख और अन्त मे दु ख होता है, इन तीनो कालो मे वज्रवृषभ नाराच सहनन होता है। इन तीनो काल मे भोग भूमि की रचना रहती है। इन कालो के जीवो का छीक तथा जभाई आने पर मरण होता है। जुगलिया का और जुगलिया ही पैदा होते है और पैदा होते ही माता-पिता का मरन हो जाता है, ये भोग भूमि के जीव मर कर नियम से देव ही होते है। जो सम्यदृष्टी है, वे तो सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में

जाते हैं और मिथ्यादृष्टी जीव भवनत्रिक मे जाते है और चौथे काल का नाम दु खमासुखमा है । जैसे किसान पहले खेती कर के खाता है, वैसे ही इस काल के जीव पहले दु ख पाकर धन उपार्जन करते है, फिर सुख से खाते है । इसी चतुर्थ काल मे त्रेपठशलाका पुरुष उत्पन्न होते है । इस काल में छहो ही सहनन रहते है । पांचवे काल का नाम दुखमा है । इस काल के जीव निरन्तर दु.ख ही भोगते है । इस पचम काल मे अन्त के तीन सहनन होते है । आदि के तीन सहनन नही होते है और कर्मभूमि की स्त्री के तीन सहनन होते है । अर्द्ध नाराच सहनन, कीलक, स्फाटिक, ये तीन सहनन अन्त के सदा ही होते है । छठवे काल का नाम दुखमादु.खमा है । इस काल के जीव महान घोर दु ख ही पाते है । इस काल मे एक स्फाटिक सहनन ही होता है । दुसरा कोई भी सहनन नही होता है । द्वीन्द्रिय, त्रीइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय इन विकल चतुप्क को एक अन्त का स्फाटिक सहनन होता है, अन्य दुसरा कोई सहनन नही होता है । पंच स्थावर को कोई सहनन नही होता है, क्योकि वे एकेन्द्रिय है ।

प्रश्न :—कौन-कौन से गुणस्थान वाले जीव को कौन-कौन से संहनन होते है ?

उत्तर —छहो सहनन वाले जीव मिथ्यात्त्व, सासादन, मिश्र, असयम, देशसयम, प्रमत, अप्रमत तक पाये जाते है । वज्र वृषभ नाराच, वज्र नाराच, नाराच ये आदि के तीन सहनन वाले जीव ग्यारवें गुणास्थान तक ही पाये जाते हैं । अन्त के तीनों सहनन वाले जीव श्रेणी आरोहण कभी नही करते है, इसीलिये इन जीवो का सातवा गुणस्थान होता है । क्षपक श्रेणी आरोहण करने वाले जीवो का तेहरवॉ गुणस्थान होता है, आगे अयोग गुणस्थान होता है–सो उसमे सहनन ही नही होता है ।

प्रश्न --दश प्रकार का बंध कौनसा है ?

उत्तर .--जीवो के परणति के भेद से कर्म के बध दश प्रकार से होता है । जीव ने परमे बुद्धि की इसलिये कर्म का बध हुआ ।

(१) जो प्रकृति उदय आये बिना न खिरे उसे उदयवध कहते है ।

(२) जो आयु कर्म के विना सात कर्मो की प्रकृति जबरदस्ति उदीरणा करके

क्षय कर डाले, उसे उदीरणा बंध कहते है ।(३)प्रकृति बंध होकर उदय आवे नही, सत्ता में पडा रहे, सो सत्ता बंध है (४)उत्कर्षण परिणामो से जो प्रकृति वाधी थी, फिर परिणामो का निमित पाकर उस प्रकृति की स्थिति बढावे, उसका नाम उत्कर्षण बंध है ।(५) भुज्यमान आयु के बिना और जिस प्रकृति का बध किया था, फिर परिणामो का निमित पाकर उस प्रकृति की स्थिति घटावे, उसका नाम अपकर्षण बध है। (६) जो प्रकृति बांधी थी, फिर परिणामो के निमित पाकर ताकत से उस प्रकृति को और प्रकृति में मिला दे उसका नाम संक्रमणबंध है। (७)जो कर्म प्रकृति की उदीरणा न होय, सो उपशम बंध है ।(८) जो कर्म प्रकृति वाधी थी फिर वह प्रकृति और प्रकृति में नहो मिले और उस प्रकृति की उदीरणा भी नहीं होती, उसका नाम निधत्तबध कहते हैं ।(९) जो कर्म प्रकृति बाधी थी उस प्रकृति की प्रकृति की स्थिति न घटती है, न बढती है, न उदीरणा होती है, न सक्रमण होती है। ऐसे चार प्रकार के भेद से रहित सो नि काचित बध है। इस प्रकार का दश प्रकार का बध जिनागम में कहा है।

प्रश्न :—आयु कर्म के बंध के नौ भेद कौन कौनसे है ?

उत्तर —आयु कर्म का बध त्रिभाग मे होता है। देव और नारकी के आयु का जब छह महीना शेष रहे तब त्रिभाग पड़ता है। भोग भूमि के मनुष्य और तिर्यञ्ज जीव के आयु के नौ महीना शेष रहे, तब त्रिभाग पड़ता है। कर्म भूमि के जीव एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय पर्यत सम्पूर्ण आयु का ।भाग पडता है।

त्रिभगी किसे कहते है, सो बताते है। आयु के तीन भाग करे। जब दो भाग खत्म हो जाने पर तीसररे भाग के आदि अन्तर्मुहूर्त के अन्दर बध पड़ता है। अगर नही पडा तो जितनी आयु शेष रही, फिर उस का त्रिभाग पडेगा, इस प्रकार नौ वार आयु बधने का समय आता है। इसको आयु त्रिभगी कहते हैं।

प्रश्न :—आयुबध त्रिभंगी का दृष्टान्त क्या है ?

उत्तर ·—जैसे पहले आयु के पैसठ सौ इकसठ भाग करे। उसकी तिहाई इकईस' सौ

सत्यासी बाकी रहे, तब बध का अवसर आता है । अगर यहां भी आयु नही बधी तो फिर इक्कइससौ सत्यासी का त्रिभाग करे। उसका त्रिभाग सातसौ उनतीस बाकी रहेगा अगर इसमे भी आयु नही बधी तो फिर त्रिभाग करे। उसका त्रिभाग दो सौ तैंतालिस बाकी रहे, तब आयु बध होता है । अगर इसमे भी नही बधी तो, फिर त्रिभाग करे। बाकी रही इक्यासी – इस प्रकार त्रिभाग करते जाय। शेष सताइस इसका त्रिभाग ९, इसका त्रिभाग ३, इसका त्रिभाग एक रहता है – इस प्रकार आठ बार आयु बधने का समय आता है । इसमे भी नही बधी तो मरण के अन्त समय में निश्चित ही आयु बधती है । त्रिभाग बिना इस जीव के आयु का बध नही होता है ।

प्रश्न :—गुणस्थानों का गमनागमन किस प्रकार है ?

उत्तर :—मिथ्यात्व गुणस्थान के मार्ग चार है । प्रथम मिथ्यात्व से निकल कर तीसरे गुणस्थान तक जाता है । द्वितीय कोई जीव मिथ्यात्व से चौथे गुणस्थान तक जाता है । तृतीय कोई जीव मिथ्यात्व से निकलकर पाचवे गुणस्थान मे जाता है । चतुर्थ कोई जीव मिथ्यात्व से सातवे गुणस्थान तक जाता है यह मिथ्यात्व गुणस्थान का मार्ग जानना ।

दूसरे सासादन गुणस्थान का एक मार्ग है । सासादन गुणस्थान से च्युत जीव मिथ्यात्व गुणस्थान मे ही आता है, अन्यत्र कही भी नही जाता है ।

तीसरे मिश्र गुणस्थान के दो मार्ग है । मिश्र से ऊपर चढे तो चौथे मे जाता है और नीचे गीरे तो पहले गुणस्थान मे आता है ।

चौथे गुणस्थान के पांच मार्ग है । चौथे गुणस्थान से नीचे गीरे तो प्रथम मिश्र गुणस्थान मे आता है । द्वितीय दूसरे सासादन गुणस्थान में आता है । तृतीय प्रथम गुणस्थान मे आ जाता है – ये तीन मार्ग तो गीरने की अपेक्षा से है और चौथे गुणस्थान से उपर चढ़े तो पाचवे अथवा सातवे गुणस्थान मे पहुच जाता है । ये पांच मार्ग है ।

पाचवे देशव्रत गुणस्थान के पांच मार्ग है । पाचवे गुणस्थान से ऊपर चढे तो सातवे गुणस्थान अप्रमत्त मे जाता है । पाचवे से नीचे गीरे

तो चौथे मे अथवा तीसरे में अथवा दूसरे में वा पहले मे ये चार मार्ग गीरने के है – इस प्रकार पांचवे गुणस्थान के पांच मार्ग है।

छठे गुणस्थान के छह मार्ग हैं। छठे से ऊपर चढे, तो सातवे मे जाता हैं और नीचे गीरे, तो पांचवे अथवा चौथे में अथवा तीसरे मे अथवा दूसरे में अथवा पहले मे जाता है। गीरने के पाच मार्ग और चढ़ने की अपेक्षा एक, ये छह मार्ग छठे गुणस्थान के है।

सातवे अप्रमत्त गुणस्थान, आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान, अनिवृत्तिकरण गुणस्थान, दशवा सूक्ष्मसापराय गुणस्थान ये चार गुणस्थान उपशम श्रेणी के हैं। सातवे, आठवे, नववें, दशवे इन चारों गुणस्थान की अपेक्षा तीन-तीन मार्ग हैं। नीचे गीरे तो एक-एक गुणस्थान चारो अनुक्रम से गीरे और ऊपर चढे तो एक-एक गुणस्थान अनुक्रम से ऊपर चढे और जो मरे तो चतुर्थ गुणस्थान में आवे, तब अव्रतरूपकार्माण निकले और देवगति को प्राप्त करे।

ग्यारहवें उपशांत कषाय गुणस्थान इसके दो मार्ग है। नीचे गीरे तो दशवें सूक्ष्मसापराय गुणस्थान मे आवे और मरण हो तो चौथे मे आकर मरणहोता है और नियम से देव होता है। ऐसा ही नियम जिनागम का है।

प्रश्न :—आठों कर्मो के आठों दृष्टान्त कौन-कौनसे हैं ?

उत्तर :—अब यहा पर आठो कर्मो के अलग-अलग दृष्टान्त कहते हैं।

(१) जैसे प्रतिमा पर कपडा डालने से प्रतिमा दिखाई नही देती है, वैसे ही ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करता है। सो ज्ञानगुण के प्रगट हुवे बिना वस्तु को नही जाने, ज्ञानगुण का आवरण जब हट जाय तब ही यथावत् पदार्थ का स्वरूप जाने।

(२) जैसे दरवाजे का दरवान (पहरेदार) राजा के पास नहीं जाने देता है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म दर्शनगुण को प्रकट नही होने देता है। दर्शन के बिना पदार्थ का स्वरूप यथावत् देखने का अभाव होता है।

(३) जैसे शहद लपेटी तलवार की धार चाटने से शहद से मूँह मीठा होता है, और जीभ कट जाने से दुःख भी होता है, वैसे वेदनीयकर्म जो

उदय मे आवे तब सुख-दु:ख रूप हो जाय, लौकिक सुख में अपने को सुखी जाने, दु ख में अपने को दु खी माने, सुख तो थोडा लेकिन दु ख तो बहुत है, यह वेदनीयकर्म है ।

जैसे शराब पीने से पागल होता है, कुछ भान नही रहता है, वैसे ही ही मोहनीय कर्म के उदय से जीव मोह में मतवाला हो जाता है और विपरीत कार्य करने लग जाता, समझाने पर भी नही समझता है ।

जैसे चोर का काठ (लकडी) मे पाव घुसाकर साकल से बाध दिया जाय, तो वह कही पर भी नही जा सकता है, वैसे आयु कर्म जब अगली गति बधती है, तब वर्तमान गति को छोडे नही छुटे, आयु पहले बधे बिना शरीर को आत्मा नही छोडता है ।

जैसे चित्रकार नाना भांति के चित्र बनाता है, वैसे ही नामकर्म के उदय से जीव एकेन्द्रियादि नाना प्रकार की गति मे भ्रमण करता है, नाना प्रकार के रूप धारण करता है—यह नाम कर्म का ही कार्य है ।

जैसे कुम्हार नाना प्रकार से छोटे बडे वर्तन बनाता है, वैसे ही गोत्र-कर्म जीव को ऊँच नीच कुल में उत्पन्न कराता है ।

जैसे राजा तो दान देना चाहे और भडारी मना करे; वैसे ही जीव तो कोई कार्य करना चाहता है, परन्तु उस कार्य में अन्तराय पड जाता है। उस कार्य को नही होने देता है ।

इन्ही आठ कर्मो के उदाहरणो को चर्चाशतक में छन्दवद्ध किया है—

"देवपै परयो है पट रूपकौं न ज्ञान होय ।
जैसे दरबान भूप देखनौ निवारै है ।
सहत लपेटी असिधारा सुखदु खकार ।
मदिरा ज्यौं जीवनिकौ मोहनी विघारै है ।
काठमै दिया पांव करै थिति को सुभाव ।
चित्रकार नाना नाम चित्र कौ सभारै है ।

चक्री ऊच नीच धरै भूप दीयौ मनै करै ।
एई आठ कर्म हरै सोई हमै तारै है ।।"[१]

प्रश्न :—किस कर्म प्रकृति का कहां बंध और कहां उदय होता है ?

उत्तर :—देवगति, देवायु, देवगत्यानुपूर्वी तीन प्रकृतियाँ, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक आगोपाग ये दो, आहारक शरीर, आहारक आगोपाग ये दो, अयशस्कीर्ति प्रकृति इन आठो प्रकृतिया ऊपर के गुणस्थान मे बधती है और नीचे के गुणस्थान मे उदय मे आती है ।

सज्वलन लोभ के बिना पद्रह कषाय (अनतानुबधी ४, अप्रत्याख्यानी ४, प्रत्याख्यानी ४, सज्वलन ३ (क्रोध, मान, माया) हास्यादिक मे चार – हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, मनुष्यायु, सूक्ष्म, अपर्याप्त प्रकृति, साधारण प्रकृति, आताप प्रकृति, मिथ्यात्व – ये छब्बीस प्रकृतिया जिस-जिस गुणस्थान मे बधती है, उसी उसी गुणस्थान मे उदय मे आती है । शेष छियासी प्रकृतिया, उसमे ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ९, वेदनीय २, गोत्र २, अन्तराय ५, चारित्र मोहनीय की ५, आयु २, नामकर्म की ५६ (गति ३, आनुपूर्वी ३, जाति ५, शरीर ३, औदारिक आगोपाग, वर्णादिक ४, सस्थान ६, सहनन ६, निर्माण १, अगुरुलघु, उपघात, परघात, श्वास, उद्योत, विहायोगति २, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, यशकीर्ति, स्थिर २, शुभ २ सुभग २, त्रस २, तीर्थंकर, आदेय १, सुस्वर २) इन छियासी प्रकृतियो का बंधन नीचे के गुणस्थानो मे होता है और उदय ऊचे गुणस्थानो मे होता है।

ज्ञानावरण की ५, अतराय ५, दर्शनावरणीय ४ इन चौदह प्रकृतियो का बंध दशवे गुणस्थान तक होता है, और उदय बारहवे गुणस्थान तक होता है । यशकीर्ति और ऊचगोत्र इनका बध दशवे गुणस्थान तक है और उदय चौदहवे गुणस्थान के अन्त तक होता है ।

साता वेदनीय कर्म का बध तेरहवे गुणस्थान तक होता है और उदय चौदहवे गुणस्थान तक होता है । असाता वेदनीय का बध छठे गुणस्थान तक होता है और उदय चौदहवे तक होता है ।

---

१ चर्चाशतकः पृष्ठ न० १३९ ।

नीचगोत्र का बध पहले मे है और उदय पाचवे गुणस्थान तक, नपुन्सकवेद का बध पहले गुणस्थान मे होता है, उदय नौवे गुणस्थान के वेद (चौथे) भाग तक है।

स्त्रीवेद का बध दूसरे गुणस्थान तक है और उदय नौवे गुणस्थान के वेद भाग तक है।

सज्वलन लोभ का बध नौवे तक है, उदय दसवे तक है। अरति, शोक इनका बध छठे तक है, उदय आठवे तक है।

निद्रा, प्रचला इनका बध तक आठवे तक है, अपूर्वकरण के प्रथम भाग तक है, उदय क्षीणकषाय के उपात समय तक है। निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि इनका बध दूसरे तक है और उदय छठे गुणस्थान पर्यन्त है।

नरकायु का बध प्रथम गुणस्थान मे ही है, उदय चौथे गुणस्थान तक है। तिर्यग्गायु का बध दूसरे तक है, उदय पांचवे तक है। मनुष्यायु का बध चौथे गुणस्थान तक है, उदय चौदवे गुणस्थान है।

नरकगति तथा आनुपूर्वी इनका बध प्रथम गुणस्थान मे ही है और उदय चौथे में है। तिर्यंगति तथा आनुपूर्वी इनका बध दूसरे तक है, उदय चौथे गुणस्थान तक है और गति का उदय पाचवे तक होता है।

मनुष्यगति का बध चौथे गुणस्थान तक होता है, उदय चौदह गुण-स्थान तक होता है। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चौथे इन्द्रिय का बध पहले मे है, उदय दूसरे तक है।

औदारिक शरीर, औदारिक अगोपाग इनका बध चौथे तक होता है, उदय चौदहवे के उपात समय तक होता है।

पचेद्रिय का बध अपूर्वकरण के छठवे भाग पर्यत है और उदय चौदहवे गुणस्थान तक है।

तैजस, कार्माण का बध आठवे गुणस्थान के छठे भाग तक है और उदय चौदहवे गुणस्थान के उपान्त समय तक है।

हुण्डक का बध पहले गुणस्थान मे है और कुब्जक, वामन, स्वाति, न्यग्रोध परिमडल इन चार का बध दूसरे गुणस्थानो तक है और सम-चतुरस्त्र का बंध आठवे के छठे भाग तक है और सस्थानो (छहो) का उदय तेरहवे तक है।

वज्रवृषभनाराच सहनन का बंध चौथे गुणस्थान तक है। वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलित इनका बध दूसरे गुणस्थान तक है, असप्राप्त-सृपाटिका का बंध प्रथम गुणस्थान मे है। और अत के तीन सहननों का उदय सातवे गुणस्थान तक है। नाराच और वज्रनाराच सहनन का उदय ग्यारहवे गुणस्थान तक है। वज्रवृपभनाराच का तेरहवे गुणस्थान तक है।

निर्माण का बध आठवे के छठे भाग तक है, उदय तेरहवे गुणस्थान तक है।

अप्रशस्तगति का बध दूसरे गुणस्थान तक है। प्रशस्त का आठवे के छठे भाग तक है। और दोनो का उदय तेरहवे सयोग गुणस्थान तक है।

उद्योत का बध दूसरे गुणस्थान तक है और उदय पचम गुणस्थान तक है। अगुरुलघु, उपघात, उछ्वास इन चार का बध आठवे के छठे भाग तक है, उदय तेरहवे तक है।

स्थावर का वन्ध पहले गुणस्थान मे ही है। उदय दूसरे गुणस्थान तक है। त्रस, बादर, पर्याप्त इनका बन्ध अपूर्वकरण के छठे भाग तक है और उदय चौदहवे गुणस्थान तक है।

प्रत्येक शरीर का वन्ध आठवे के छठे भाग तक है, उदय तेरहवे तक है। अस्थिर, अशुभ इन दो का बन्ध छठे गुणस्थान तक है, उदय तेरहवे तक है। स्थिर, शुभ इनका वन्ध आठवे के छठे भाग तक है, उदय तेरहवे गुणस्थान तक है।

दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, इन तीन का बन्ध दूसरे गुणस्थान तक है, उदय तेरहवे गुणस्थान तक है। सुभग, आदेय इनका बन्ध आठवे के छठे भाग पर्यंत है, उदय चौदहवे गुणस्थान तक है। सुस्वर का बन्ध आठवे के छठे भाग तक है, उदय तेरहवे गुणस्थान तक है। तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध

चौथे से लेकर आठवें के छठे भाग तक होता है, उदय चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त होता है।

प्रश्न :—चौदह गुणस्थानों में जीव मर कर कौन-कौन सी गति में जाता है?

उत्तर :—मिश्र गुणस्थान, क्षीणकषाय गुणस्थान, सयोगकेवली गुणस्थान इन तीन गुणस्थानो मे जीव का मरण नही होता है – यह नियम है।

सातवे गुणस्थान, आठवे गुणस्थान, नौवें गुणस्थान, दसवें गुणस्थान और ग्यारहवे गुणस्थान ये पाचो ही गुणस्थान उपशम के है, यहां से मरण करके चौथे गुणस्थान में आवे, अन्तसमय में अव्रतरूप हो कार्माण निकलता है।

प्रथम गुणस्थान मे मरने वाला जीव चारों ही गति मे उत्पन्न हो सकता है, लेकिन देवगति मे जावे तो नौवे ग्रैयवेक तक जाता है। आगे के स्वर्गो मे नही जा सकता।

दूसरे सासादन गुणस्थान में मरण कर जीव नरक गति के बिना बाकी तीनो ही गति मे जा सकता है। सासादन गुणस्थान वाला कभी नरक मे नही जा सकता है – यह नियम है।

जिस जीवने पहले मिथ्यात्व परिणामो मे कोई भी गति का बंध बांध रखा हो और पीछे सम्यक्त्व प्राप्त किया हो, तो ऐसा जीव मर कर चारो ही गति में जा सकता है। यहा इतना विशेष जानना की नरक मे जावे तो तीसरे नरक से आगे नही जावे और क्षायिक सम्यक्त्व वाला जीव प्रथम नरक तक ही जाता है, अगर मनुष्य अथवा तिर्यंच होवे तो भोगभूमि का ही होता है, कर्मभूमि का नही, देवगति में जावे तो स्वर्ग ही जाय। अगर आयु बन्ध पहले नही किया है, तो चौथे गुणस्थान मे मरण कर देवगति में जाता है।

पांचवे गुणस्थान से लेकर ग्यारवें गुणस्थान तक इन सातो ही गुणस्थानो में मरण करने वाला जीव देवगति मे ही जाता है। और गति मे कदापि नही जाता है। और देवगति मे भी कल्पवासी देव ही होता है।

अयोग केवली गुणस्थान मे पडीत-पडीत मरण कर एक सिद्धशीला ही जाता है, फिर यहा से कभी कोई गति ग्रहण नही करता ।

प्रश्न :—नौवें गुणस्थान में ३६ प्रकृतियों का क्षय किस प्रकार है ?

उत्तर :—प्रत्याख्यानावरणीय कषाय ४ और अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय ४, सज्वलन चौकडी में से लोभ को छोड़कर तीन, नौ नो कषाय, चार जाति, विकलत्रय तीन, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म, साधारण और नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्च गति, तिर्यञ्च गत्यानुपूर्वी ये सब मिलाकर ३६ प्रकृतियो नवें गुणस्थान मे क्षपक श्रेणी वाला क्षय करता है ।

प्रश्न :—चौदह गुणस्थानों में कर्मो का आश्रव किस प्रकार है ?

उत्तर :—पहले गुणस्थान मे पांच मिथ्यात्व अन्त मे घटे । दूसरे सासादन गुणस्थान मे अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारो ही घटे । पाचवे गुणस्थान मे ग्यारह प्रकृतिया कम होती है—पांच इन्द्रियां, छठा मन, पाच स्थावर की विराधना ये ग्यारह घटते है और प्रत्याख्यान ४ ये भी कम हो जाती है– कुल मिलाकर १५ कम होती है । वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, अप्रत्याख्यान की ४ और त्रस का घात ये सात चौथे गुणस्थान मे होती है । छठे प्रमत्त गुणस्थान मे आहारक, आहारक मिश्र ये दो कम होती है । आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान मे हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये छह नोकषाये कम हो जाती है । नौवे गुणस्थान में नपुसक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और संज्वलन की ३ क्रोध, मान, माया ये छह कम होती है ।

दसवे गुणस्थान मे एक सूक्ष्म लोभ कम हो जाता है । बारहवे क्षीण कषाय गुणस्थान मे असत्य मन, उभय मन, असत्य वचन, उभय वचन ये चार कम होती है । तेरहवे संयोग केवली गुणस्थान मे सात योग कम होते है । मिश्र योग और कार्माण योग ये चारो ही गुणस्थान मे होते है अर्थात् प्रथम, द्वितीय, चौथे, तेरहवे गुणस्थान मे, आहारक की अपेक्षा मिश्र के छठे प्रमत्त गुणस्थान भी है । कार्माण की अपेक्षा चारो ही गुणस्थान है ।

प्रश्न :—चौदह गुणस्थानों में चारों आयु का बंध और उदय कैसे है ?

उत्तर :—नरक आयु का बध तो प्रथम गुणस्थान में होता है, अन्य गुणस्थानों में नही होता है। नरकायु का उदय मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत इन गुणस्थानो तक है, आगे नही है। तिर्यञ्च आयु का बंध मिथ्यात्व, सासादन इन दो गुणस्थानो मे होता है, आगे बध नही है और तिर्यञ्च आयु का उदय मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, असयम, देशसयम इन पाचो गुणस्थानों मे है, आगे नही है। मनुष्य आयु का वध मिथ्यात्व से लेकर चौथे गुणस्थान तक बध है और देवायु का बंध मिथ्यात्व से लेकर सातवे गुणस्थान तक होता है, और उदय प्रथम गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक होता है, आगे देवायु का उदय नही होता है। मनुष्य अथवा तिर्यञ्च ने सरल परिणामो से अथवा कुटिल परिणामों से नरकायु बाधी तथा तिर्यञ्चायु बांधी तथा मनुष्यायु का बध वांधा हो, तो ऐसे आयु बध वाला गुणस्थान परिपाटी चढे चौथे गुणस्थान से आगे न चढ़े—यह नियम है।

तीसरे गुणस्थान मे नरक आयु तिर्यञ्च आयु मनुष्य आयु, देवायु इन चारो आयु का बध नही होता है, मरण भी नही होता है, यह सिद्धान्त का नियम जानना।

प्रश्न :—छहों लेश्यावाले के मिथ्यात्व गुणस्थान में कौनसे कर्मो का बंध होता है ?

उत्तर —दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ये तीन विकलत्रय से रुके नहीं, सो सूक्ष्म, अनतनि का समुदाय सो साधारन, अन्तरालवर्ती सो अपर्याप्त, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु (इन ११७ का) मिथ्यात्व गुणस्थान मे कृष्ण, नील, कापोत लेश्यावाला जीव एक सौ सत्रह प्रकृति का वध करता है। ऊपर कहे नौ, विकलत्रय ३, नारक ३, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त इन नौ भाव प्रकृति के बिना एक सौ प्रकृति का पीत लेश्यावाला जीव (मिथ्यात्व में बध करता है) एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप इन तीन बिना पद्मलेश्यावाला जीव मिथ्यात्व मे एक सौ पांच प्रकृति का बंध करता है। तिर्यञ्च गति, तिर्यञ्च आयु, तिर्यञ्च गत्यानुपूर्वी, उद्योत इन चार प्रकृति के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान मे शुक्ल लेश्या वाला जीव एक सौ एक प्रकृतियों का बंध करता है।

कोष्टक

गु०	मि	सा	मि.	अ.	दे	प्र.	अ.	अ.	अ	सू.	उ.	क्षी	स.	अ.
लेश्याये														
कृष्ण	११७	१०१	७४	७७	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
नील	११७	१०१	७४	७७	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
कापोत	११७	१०१	७४	७७	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
पीत	१०८	१०१	७४	७७	६७	६३	५६	०	०	०	०	०	०	०
पद्म	१०५	१०१	७४	७७	६७	६३	५६	०	०	०	०	०	०	०
शुक्ल	१०१	६७	७४	७७	६७	६३	५६	५८	२२	१७	१	१	१	०

प्रश्न :—केवलज्ञान के समय ६३ प्रकृतियों का नाश जीव करता है, वे कौनसी है ?

उत्तर :—नरकगति, तिर्यंच गति, नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी ये चार प्रकृतिया और एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, आतप, उद्योत, साधारन, सूक्ष्म, स्थावर—ये तेरह प्रकृतिया नामकर्म की है। देवायु, तिर्यञ्चायु, नरकायु ये १६ प्रकृतियां अघातिया की है। ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, मोहनीय की २८, अन्तराय ५ ये ४७ प्रकृति घातियाया कर्म की है—सब मिला कर ६३ प्रकृतियों का नाश कर जीव केवलज्ञानी बन जाता है।

प्रश्न :—चारों गतियों में बन्ध योग्य प्रकृतियां कितनी हैं ?

उत्तर :—औदारिक, औदारिक आगोपाग, आहारक, आहारक आगोपांग, नरक गति, देव गति, नरकायु, देवायु, नरकगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी ये सब दस प्रकृतियां हुई। दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सूक्ष्म, साधारन, अपर्याप्त इन सोलह प्रकृतियो के बिना एक सौ चार प्रकृतिया देवगति मे सामान्य बधने योग्य है।

एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप इन तीन प्रकृतियो के बिना, नरकगति में नारकी के सामान्य एक सौ एक प्रकृतियो का बध होता है। देवगति में १०४ हैं, उसमें तीन घटावें तो १०१ होती है। एक सौ बीस प्रकृतियो से

तीर्थंकर, आहारक, आहारकाङ्गोपाङ्ग इन तीनो के बिना तिर्यंच के सामान्य एक सौ सत्रह का बध होता है। मनुष्य गति मे एक सौ बीस प्रकृति का बध होता है। इन एक सौ बीस का मनुष्य नाश करता है, तब मोक्ष प्राप्ति होती है।

कोष्टक

गुण	मि	सा.	मि	अ	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ	सू	उ	क्षी	स.	अ.
गति														
मनुष्य	११७	१०१	६९	७२	६०	६३	५९	५८	२२	१७	१	१	१	०
देव	१०४	९६	७०	७२	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
नारक	१०३	९६	७०	७२	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
तिर्यंच	११७	१०१	६९	७२	६७	०	०	०	०	०	०	०	०	०

प्रश्न :—समस्त जीवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर :—गेरू, हरताल आदि कोमल पृथ्वीकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्ष की है। पाषाण आदि कठोर पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष की है। जलकायिक जीव की सात हजार वर्ष, वायुकायिक की तीन हजार वर्ष, वनस्पतिकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की। आकाश मे उडने वाले पक्षियो की आयु बहत्तर हजार वर्ष की और सर्पो की उत्कृष्ट स्थिति बियालीस हजार वर्ष की, अग्निकायिक की उत्कृष्ट स्थिति तीन दिन की। शख आदि दो इन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट स्थिति बारह वर्ष की है। गोभी आदि के त्रिइन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट स्थिति ४९ दिन की। भ्रमर आदि चौइन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट स्थिति छह मास की। जो छाती के बल चलने वाले जीव सरी, सर्प की उत्कृष्ट आयु नव पूर्वाङ्ग की होती है। मत्स्य की उत्कृष्ट आयु एक कोडी पूर्व की है। मनुष्य और तिर्यञ्च की उत्कृष्ट आयु भोग भूमियो की तीन पल्य और कर्म भूमियो की आयु कोटिपूर्व की है। देव और नारकी की उत्कृष्ट आयु तेंतीस सागर की है।

प्रश्न :—चौदह गुणस्थानों में 'सत्तावन' आश्रव कैसे है ?

उत्तर :—पहले गुणस्थान मे पचपन आश्रव है, आहारकद्विक के बिना । सासादन मे ५० का आश्रव है पाच मिथ्यात्व, आहारकद्विक के बिना । मिश्र मे तियालीस का आश्रव है, चार अन्तानुबधी, तीन मिश्र, पांच मिथ्यात्व, दो आहारक के बिना । चौथे मे छियालीस का आश्रव है, ऊपर के ४३ और तीन मिश्र मिलाने से ४६ होते है ।

देशविरत में सैंतीस का आश्रव है—ऊपर के ४६ मे से ४ कषाय, ४ योग, त्रसवध ये नौ घटाने से ३७ का आश्रव होता है । प्रमत्त गुणस्थान मे चौबीस का आश्रव है—कषाय १३, योग ९, आहारक दो । सातवे मे २२ आश्रव है—कषाय १३, योग ९ । आठवे मे भी २२ का आश्रव है । नौवें गुणस्थान मे १६ का आश्रव है—नौ योग, चार सज्वलन तथा तीन वेद । दसवे गुणस्थान मे १० का आश्रव नौ योग, एक सूक्ष्म लोभ । ग्यारहवें गुणस्थान मे नौ योग का आश्रव होता है । और बारहवे मे भी नौ योग का । तेरहवे में ७ योग का आश्रव—काय ३, वचन २, मन २ ये सात । चौदहवे गुणस्थान मे कोई भी आश्रव नही है ।

प्रश्न :—मरण समय कौनसी लेश्यावाला जीव कौनसी गति में जाता है ?

उत्तर :—शुक्ललेश्या के उत्कृष्ट अश से मरा हुआ जीव सर्वार्थसिद्धि को ही जाता है । यहा देवायु की उत्कृष्ट स्थिति तैतीस सागर की होती है । शुक्ललेश्या के मध्यम अंश से मरा हुआ जीव आनत नाम तेरहवे स्वर्ग से लेकर विजयादि चार अनुत्तर विमानों तक मे पैदा होता है । तथा शुक्ललेश्या के जघन्य अश से मरकर शतार सहस्त्रार नाम के स्वर्ग मे जन्मता है । पद्मलेश्या के उत्कृष्ट अश से मरकर सहस्त्रार नाम के बारहवे स्वर्ग मे तथा उससे जघन्य अश से मरकर सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग मे पैदा होता है । तथा पद्मलेश्या के मध्यम अश से मरकर सहस्त्रार से नीचे सनत्कुमार, माहेन्द्र के ऊपर यथा योग्य जन्मता है । तेज या पीतलेश्या के उत्कृष्ट अंश से मरकर सनत्कुमार, माहेन्द्र स्वर्ग के अत के पटल मे चक्र नाम के इन्द्रक सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमानो मे उपजता है । तेजलेश्या के जघन्य अंश से मरकर उसके सौधर्म ईशान स्वर्ग का पहिले रितु नाम के इन्द्रक या इसके श्रेणीबद्ध विमानो में

तथा उसके मध्यम अंश से मरकर सौधर्म ईशान के दूसरे पटल के विमल नाम के इद्रक से लेकर सनत्कुमार माहेन्द्र के अन्तिम पटल के नीचे पटल के बलभद्र नाम के इन्द्रक तक विमानो मे पैदा होता है।

कृष्ण लेश्या के उत्कष्ट अश से मरकर जीव सातवे नरक के अवधि नामा इंद्रक बिल मे पैदा होता है। इसी के जघन्य अश से मरकर जीव पाचवे नरक के अत पटल के तिमिस्त्र नामा इद्रक मे तथा मध्यम अश से मरकर सातवे नरक के शेष चार बिलो मे व छठे नरक के तीनो पटलो मे व पाचवी पृथ्वी के अतिम पटल में यथायोग्य उपजता है।

नील लेश्या के उत्कृष्ट अश से मरकर जीव पांचवे नरक के अतिम पटल से पहले पटल के अध्र नामा इद्रक मे व जघन्य अश से मरकर तीसरी बालुका पृथ्वी के अत पटल मे सप्रज्वलित नाम इद्रक मे व मध्यम अश से मरकर बालुका पृथ्वी के सप्रज्वलित इद्रक से नीचे चौथी पृथ्वी के सात पटलो मे व पांचवे नरक के अध्र इन्द्रक से ऊपर पैदा होता है।

कापोत लेश्या के उत्कृष्ट अश से मरकर जीव तीसरे नरक के आठवे पटल के सप्रज्वलित नाम इन्द्रक मे, जघन्य अश से मरकर पहली पृथ्वी के पहले सीमान्त का नामा इन्द्रक मे, मध्यम अश से मरकर इन दोनो के मध्य मे पैदा होता है।

तथा कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्याओ के मध्यम अंश से मरे ऐसे कर्म भूमिया मिथ्यादृष्टि तिर्यच या मनुष्य और तेजो लेश्या के मध्यम अश से मरे ऐसे भोगभूमिया मिथ्यादृष्टि तिर्यच या मनुष्य तीन प्रकार के भवन वासी, व्यतर व ज्योतिष देवों मे उपजता है।

कृष्ण, नील, कापोत, पीत इन चार लेश्याओ के मध्यम अश से मरे तिर्यच या मनुष्य या भवनवासी, व्यतर, ज्योतिषी या सौधर्म, इशान स्व के वासी देव मिथ्यादृष्टि सो बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक, जलकायिक, व वनस्पतिकायिक मे पैदा होता है। यहा भवनत्रयादि देवो के मात्र पी लेश्यासे व तीर्यच या मनुष्यो के कृष्णादि तीन लेश्याओ से मरण होता है

तथा सामान्य नियम यह है कि भवनत्रिक को आदि लेकर सर्व

सिद्धि तक देव व घम्मा आदि सात पृथ्वी सबधी नारकी अपनी-अपनी लेश्या के अनुसार यथायोग्य मनुष्य गति या तिर्यंच गति को जाता है। यह भी बात जान लेनी चाहिये कि जिस गति सम्बन्धी पहले आयु बाधी हो उस ही गति मे मरण के समय होने वाली लेश्या के अनुसार यह जीव पैदा होता है। जैसे मनुष्य के पहले देव आयु का बध हुवा हो, फिर मरण होते समय कृष्ण आदि अशुभ लेश्या हो तो भवनत्रिक मे ही पैदा होता है–ऐसा ही नियम और स्थानो मे भी जानना।

प्रश्न :—गुरणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर —मोह और योग के निमित्त से आत्मा की तारतम्यरूप (उत्तरोत्तर वर्धनशील) अवस्था विशेष को गुणस्थान कहते है।

प्रश्न :—गुणस्थान के कितने भेद है ?

उत्तर —गुणस्थान के १४ भेद हैं—१ मिथ्यात्व, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ अविरत सम्यग्दृष्टि, ५ देशविरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृतिकरण, १० सूक्ष्मसापराय, ११ उपशात मोह १२ क्षीणमोह, १३ सयोग केवली, १४ आयोग केवली।

प्रश्न :—गुणस्थानों के इस प्रकार के नामों का क्या कारण है ?

उत्तर —मोहनीय कर्म और योग ही इनका कारण है।

प्रश्न :—कौन-कौन से गुणस्थान का क्या-क्या निमित्त है ?

उत्तर —प्राथमिक चार गुणस्थान तो दर्शन मोहनीय कर्म के निमित्त से होते है। पाचवे गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान पर्यत आठ गुणस्थान चारित्र मोहनीय के निमित्त से होते है। तेरहवा और चौदहवा ये दो गुणस्थान योग के निमित्त से होते है।

पहला गुणस्थान दर्शन मोहनीय के उदय से होता है। इसमे आत्मा के परिणाम मिथ्यात्वरूप होते है।

चौथा गुणस्थान दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से होता है। इस गुणस्थान मे आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का प्रादुर्भाव हो जाता है।

तीसरा गुणस्थान सम्यङ्मिथ्यात्वरूप दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से होता है। इस गुणस्थान में औदयिक भाव, चौथे गुणस्थान में आत्मा के परिणाम सम्यङ्मिथ्यात्व अर्थात् उभयरूप होते है।

पहिले गुणस्थान मे औदयिक भाव, चौथे गुणस्थान मे औपशामिक क्षायिक अथवा क्षायोपशमिभाव और तीसरे गुणस्थान में औदयिक भाव होते है।

परन्तु दूसरा गुणस्थान दर्शन मोहनीय कर्म की उदय, उपशम, क्षय, और क्षयोपशम इन चार अवस्थाओ मे से किसी भी अवस्था की अपेक्षा नही रखता है। इसलिये यहा पर दर्शन मोहनीय कर्म की अपेक्षा से पारिणामिक भाव है। किन्तु अनन्तानुबधीरूप चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने से इस गुणस्थान में चारित्र मोहनीय कर्म की अपेक्षा से औदयिक भाव भी कहा जा सकता है। इस गुणस्थान मे अनन्तानुबन्धी के उदय से सम्यक्त्व का घात होता है। इसलिये यहा सम्यक्त्व नही है और मिथ्यात्व का भी उदय नही होता है। इसलिये मिथ्यात्व परिणाम भी नही होता है। अतएव यह गुणस्थान मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अपेक्षा से अनुदय रूप है। इस गुणस्थान का समय छह आवली तक का है।

पांचवें गुणस्थान से दशवे गुणस्थान तक छह गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से होते हैं। इसलिये इन गुणस्थानो मे क्षायोपशमिक भाव होते हैं। इन गुणस्थानो मे सम्यक्चारित्र गुण की क्रम से वृद्धि होती है।

ग्यारहवां गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से होता है। इसलिये ग्यारहवे गुणस्थान मे औपशमिक भाव होते है। यद्यपि यहा पर चारित्र मोहनीय कर्म को पूर्णता या उपशम ही हो जाता है। तथापि योग का सद्भाव होने से पूर्ण चारित्र नही होता, क्योकि सम्यक्चारित्र के लक्षण में योग और कषाय के अभाव से सम्यक्चारित्र होता है—ऐसा लिखा है।

बारहवां गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से होता है। इस लिये यहां क्षायिक भाव होता है। इस गुणस्थान मे भी ग्यारवे गुणस्थान

की तरह सम्यक्चारित्र की पूर्णता नही होती, सम्यग्ज्ञान गुण यद्यपि चौथे गुणस्थान मे ही प्रगट हो जाता है।

भावार्थ—यद्यपि आत्मा का ज्ञान गुण अनादिकाल से प्रवाह रूप चला आ रहा है तथापि दर्शन मोहनीय का उदय होने से वह ज्ञान मिथ्यारूप होता है, परन्तु चौथे गुणस्थान मे जब दर्शन मोहनीय कर्म के उदय का अभाव हो जाता है, तब वही आत्मा का ज्ञान गुण सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है। और पचमादि गुणस्थानो मे तपश्चरण के निमित से अवधि, मन पर्यय ज्ञान भी किसी जीव के प्रगट हो जाते है। तथापि केवल ज्ञान के हुए बिना ज्ञान की पूर्णता नही हो सकती। इसलिये इस बारहवे गुणस्थान तक यद्यपि सम्यग्दर्शन की पूर्णता हो गई है, क्योकि क्षायिक सम्यग्दर्शन के बिना क्षपक श्रेणी नही चढता और क्षपक श्रेणी के बिना १२ वा गुणस्थान नही होता, तथापि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुण अब तक अपूर्ण है, इसलिये अब तक मोक्ष नही हुआ।

तेरहवा गुणस्थान योगो के सद्भाव की अपेक्षा से होता है, इसलिये इसका नाम सयोग और केवल ज्ञान के निमित से सयोग केवली है। इस गुणस्थान में सम्यग्ज्ञान की पूर्णता हो जाती है, परन्तु चारित्र गुण की पूर्णता न होने से मोक्ष नही होता है।

चौदहवा गुणस्थान योगो के अभाव की अपेक्षा है, इसलिये इसका नाम अयोग केवली है। इस गुणस्थान मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र इन तीनो गुणो की पूर्णता हो जाती है। अतएव मोक्ष भी दूर नही रहता। अर्थात अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाच ह्रस्व स्वरो के उच्चारण करने मे जितना काल लगता है, उतने ही काल मे मोक्ष हो जाता है।

प्रश्न :—मिथ्यात्व गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—मिथ्यात्त्व प्रकृति के उदय से अतत्त्वार्थ श्रद्धान रूप आत्मा के परिणाम विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते है। इस मिथ्यात्व गुणस्थान मे रहने वाला जीव मिथ्या श्रद्धावान् होता है। तत्त्वार्थ श्रद्धा और रूची इसकी

नही होती है। जैसे पित्त ज्वर वाले रोगी को दुग्धादिक रस कडुवे लगते है। इसी प्रकार इसको भी समीचीन धर्म अच्छा नही लगता है।

प्रश्न :—मिथ्यात्व के कितने भेद है ?

उत्तर :—मिथ्यात्व के पांच भेद है—एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, सशय-मिथ्यात्व, अज्ञानमिथ्यात्व और विनय मिथ्यात्व।

प्रश्न :—एकान्त मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर :—धर्म धर्मी के 'यहा ऐसा ही है। अन्यथा नही,' इत्यादि एकान्त अभिनिवेश अभिप्राय या श्रद्धा को एकातमिथ्यात्व कहते है। जैसे—पदार्थ को एकान्त से सर्वथा क्षणिक ही मानना या नीत्य ही मानना या अनित्य ही मानना।

प्रश्न —विपरीत मिथ्यात्व किसे कहते है ?

उत्तर :—सग्रन्थ, निर्ग्रन्थ है, केवली कवलाहार करते है-इत्यादि रुचि या श्रद्धा को विपरीत मिथ्यात्व कहते है।

प्रश्न :—संशय मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर :—धर्म का अहिसा लक्षण है या नही–इत्यादि जिनागम मे नाना प्रकार का संशय को या सशयात्मक श्रद्धा को सशय मिथ्यात्त्व कहते है।

प्रश्न .—अज्ञान मिथ्यात्व किसे कहते है ?

उत्तर —जिसमे हिताहित के विवेक का कुछ भी सद्भाव नही हो ऐसी श्रद्धा को अज्ञान मिथ्यात्व कहते है, जैसे पशुवध मे धर्मरूप श्रद्धा।

प्रश्न :—विनय मिथ्यात्व किसे कहते है ?

उत्तर —समस्त देव तथा समस्त मतो मे समान श्रद्धा को विनय मिथ्यात्व कहते हैं।

प्रश्न :—सासादन गुणस्थान किसे कहते है ?

उत्तर —प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितियोपशम सम्यक्त्व के काल मे जब ज्यादा से ज्यादा ६ आवली और कम से कम एक समय शेष रहता है, उस समय किसी एक अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व विहीन परिणाम सासादन गुणस्थान कहलाता है। यह गुणस्थान चतुर्थ गुणस्थान से गीरने की अपेक्षा से होता है।

प्रश्न :—मिश्र गुरगस्थान किसे कहते है ?

उत्तर :—सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के न तो केवल सम्यक्त्व रूप परिणाम होते है और न केवल मिथ्यात्व रूप। किन्तु मिले हुवे दही, गुड के स्वाद की तरह एक भिन्न जाति के मिश्र परिणाम होते है। इसी मिश्र परिणाम को मिश्र गुणस्थान कहते है।

प्रश्न :—अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—दर्शन मोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी की चार इन सात प्रकृतियो के उपशम अथवा क्षय अथवा क्षयोपशम से सम्यक्त्व सहित और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से व्रत रहित परिणाम को अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान कहते है।

नोट :—सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति से मोक्ष का मार्ग प्रारभ होता है। जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन को मोक्ष की प्रथम सीढी कहा हैं। सम्यग्दर्शन का अन्त मोक्ष ही है; अत कही कही तो सम्यग्दर्शन को ही मोक्ष कहा जाता है। चु कि चौथे गुणस्थान मे सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव होता है, अत यहा चौथे गुणस्थान तक का वर्णन किया है। जो मात्र प्रारभिक अवस्था वाले जीवों की अपेक्षा से है।

अध्याय दूसरा : सम्यग्दर्शन

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन का लक्षण क्या है ?

उत्तर :—"श्रद्धान परमार्थानामाप्तागम तपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टागं सम्यग्दर्शनमस्मयम्" ।।१
"अत्तागम तच्चाण सद्दहण सुणिम्मल होइ ।
सकाइ दोसरहियं त सम्मत्त मुणेयव्व" ।।२

प्रथमानुयोग और चरणानुयोग मे सम्यग्दर्शन का स्वरूप प्रायः इस प्रकार वताया गया है कि परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु का तीन मूढताओ और आठ मदो से रहित तथा आठ अंगो से सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी देव कहलाता है। जैनागम मे अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी की देव सज्ञा है। वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि से अवतीर्ण तथा गणधरादिक आचार्यो के द्वारा गुम्फित आगम शास्त्र कहलाता है और विषयो की आशा से रहित निर्ग्रन्थ–निष्परिग्रह एव ज्ञान, ध्यान और तप मे लीन साधु गुरु कहलाते हैं। हमारा प्रयोजन मोक्ष है, उसकी प्राप्ति इन्ही देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धान से हो सकती है। अत. इनकी दृढ प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। भय, आशा, स्नेह या लोभ के वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओ को प्रतीति नही करना चाहिए।

द्रव्यानुयोग मे प्रमुखता से द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो एव पुण्य पाप सहित नौ पदार्थो की चर्चा आती है, अत द्रव्यानुयोग मे सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान (तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्) वताया गया है। तत्त्वरूप अर्थ अथवा तत्त्व अपने-अपने वास्तविक स्वरूप से सहित जीव, अजीवादि पदार्थो का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अथवा

---

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार गाथा – ६

२. वसुनन्दि…………………।

३ समयसार-गाथा १३

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवाय पुण्णपाव च।
आस्सव सवर णिज्जर वन्धो मोक्खो य सम्मत्त ॥१

परमार्थ रूप से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्त्रव, सवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन है। यहाँ विषय और विषयी मे अभेद मानकर जीवादि पदार्थो को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। अर्थात् इन नौ पदार्थो का परमार्थ रूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसी से द्रव्यानुयोग मे स्व पर के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा गया है, क्योकि आस्त्रवादिक तत्त्व स्व-जीव और पर-कर्मरूप अजीव के सयोग से होने वाले पर्यायात्मक तत्त्व है, अत स्व-पर मे ही गर्भित हो जाते है। अथवा इसी द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत अध्यात्म ग्रन्थो मे पर द्रव्यो से भिन्न (दर्शनमात्मविनिश्चिति १) आत्म द्रव्य की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है, क्योकि प्रयोजनभूत तत्त्व तो स्वकीय आत्म द्रव्य ही है। स्व का विनिश्चय होने से पर स्वत छूट जाता है।

मूल मे तत्त्व दो है—जीव और अजीव। चेतना लक्षरण वाला जीव है और उससे भिन्न अजीव है। अजीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से पॉच प्रकार का है। परन्तु यहाँ उन सबसे प्रयोजन नही है। यहां तो जीव के साथ सयोग को प्राप्त हुए नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप अजीव से प्रयोजन है। चैतन्य स्वभाव वाले जीव के साथ अनादिकाल से ये नो कर्म शरीर, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादिक और भावकर्म रागादिक लग रहे है। ये किस कारण से लग रहे है, जब इसका विचार आता है, तव आस्त्रव तत्त्व उपस्थित होता है। आस्त्रव के बाद जीव और अजीव की क्या दशा होती है ? यह बताने के लिये बन्ध तत्त्व आता है। आस्त्रव का विरोधी भाव सवर है, बन्ध का विरोधी भाव निर्जरा है तथा जब सब नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म जीव से सदा के लिये सर्वथा विमुक्त हो जाते है, तब मोक्षतत्त्व होता है। पुण्य और पाप आस्त्रव के अन्तर्गत है। इस तरह आत्मकल्याण के लिए उपर्युक्त सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थ प्रयोजनभूत है। इनका वास्तविक रूप से निर्णय कर प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। ऐसा न हो कि आस्त्रव और बन्ध के कारणो को सवर और निर्जरा का कारण समझ लिया जाय अथवा जीव की रागादिक पूर्ण अवस्था को जीव तत्त्व समझ लिया जाय या जीव की वैभाविक परिणति (रागादिक)

---

१ पुरुपार्थसिद्धयुपाय'।

को सर्वथा अजीव समझ लिया जाय, क्योंकि ऐसा समझने से वस्तु तत्त्व का सही निर्णय नही हो पाता और सही निर्णय के अभाव मे आत्मा मोक्ष को प्राप्त नही हो पाता। जिन भावो को यह जीव मोक्ष का कारण मानकर करता है, वे भाव पुण्यास्त्रव के कारण होकर इस जीव को देवादिगतियो में सागरो पर्यन्त के लिये रोक लेते है। सात तत्वों मे जीव और अजीव का जो सयोग है, वह संसार है तथा आस्त्रव और बन्ध उसके कारण है, जीव और अजीव का जो वियोग-पृथग्भाव है, वह मोक्ष है तथा सवर और निर्जरा उसके कारण है।

जिस प्रकार रोगी मनुष्य को रोग, उसके कारण, रोग मुक्ति और उसके कारण चारो का जानना आवश्यक है। उसी प्रकार इस जीव को ससार, उसके कारण, उससे मुक्ति और उसके कारण – चारो का जानना आवश्यक है।

करणानुयोग में मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होने वाली श्रद्धा गुण की स्वाभाविक परिणति को सम्यग्दर्शन कहा है। करणानुयोग के इस सम्यग्दर्शन के होने पर चरणानुयोग, प्रथमानुयोग और द्रव्यानुयोग मे प्रतिपादित सम्यग्दर्शन नियम से हो जाता है। परन्तु शेष अनुयोगो के सम्यग्दर्शन होने पर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन होता भी है और नही भी होता है। मिथ्यात्व प्रकृति के अवान्तर भेद असख्यात लोक प्रमाण होते है। एक मिथ्यात्व प्रकृति के उदय मे सातवें नरक की आयु का बन्ध होता है। और एक मिथ्यात्व प्रकृति के उदय मे नौवे ग्रैवेयक की आयु का बन्ध होता है और एक मिथ्यात्व प्रकृति के उदय मे इस जीव के मुनि हत्या का भाव होता है और एक मिथ्यात्व प्रकृति के उदय मे स्वय मुनिव्रत धारण करके अट्ठाईस मूलगुणो को निर्दोष पालन करता है। एक मिथ्यात्व के उदय मे कृष्ण लेश्या होती है और एक मिथ्यात्व के उदय में शुक्ल लेश्या होती है। जिस समय मिथ्यात्व प्रकृति का मन्द, मन्द उदय चलता है। उस समय इस जीव के करुणानुयोग और द्रव्यानुयोग के अनुसार सम्यग्दर्शन हो गया है, ऐसा जान पडता है, परन्तु करणानुयोग के अनुसार वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है। एक भी प्रकृति का उसके सवह नही होता है। बन्ध और मोक्ष के प्रकरण मे करणानुयोग का सम्यग्दर्शन ही अपेक्षित रहता है, अन्य अनुयोगो का नही। यद्यपि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन की महिमासर्वोपरि है, तथापि उसे पुरुषार्थपूर्वक प्रान्त नही

किया जा सकता । इस जीव का पुरुषार्थ चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग मे प्रतिपादित सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिये ही अग्रसर होता है । अर्थात् वह बुद्धिपूर्वक परमार्थ देव शास्त्र गुरु की शरण लेता है, उनकी श्रद्धा करता है और आगम का अभ्यास कर तत्त्वो का निर्णय करता है । इन सबके होते हुए अनुकूलता होने पर करुणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन स्वतः प्राप्त होता है और उसके प्राप्त होते ही यह सवर और निर्जरा को प्राप्त कर लेता है ।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन के पांच लक्षण माने गये हैं, वे कौनसे हैं ?

उत्तर :—(१) परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति ।

(२) तत्त्वार्थ श्रद्धान ।

(३) स्वपर का श्रद्धान ।

(४) आत्मा का श्रद्धान ।

(५) सप्त प्रकृतियो के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से प्राप्त श्रद्धा गुण की निर्मल परिणति ।

इन लक्षणो मे पाचवा लक्षण साध्य है और शेष चार साधन है । जहाँ इन्हे सम्यग्दर्शन कहा है, वहाँ कारण मे कार्य का उपचार समझना चाहिये । जैसे अरहत देव, तत्प्रणीत शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरु की श्रद्धा होने से व कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु की श्रद्धा दूर होने से गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है, इस अपेक्षा से ही इसे सम्यग्दर्शन कहा है, सर्वथा सम्यग्दर्शन का वह लक्षण नही है । क्योकि द्रव्यलिगी मुनि आदि व्यवहार धर्म के धारक मिथ्यादृष्टि जीवो के भी अरहतादिक का (सामान्य) श्रद्धान होता है । अथवा जिस प्रकार अणुव्रत, महाव्रत धारण करने पर देश चारित्र, सकल चारित्र होता भी है और नही भी होता है । परन्तु अणुव्रत और महाव्रत धारण किये बिना देशचारित्र, चारित्र कदाचित् नही होता है, इसलिये अणुव्रत, महाव्रत को अन्वयरूप कारण जानकर कारण मे कार्य का उपचार कर इन्हे देशचारित्र, सकलचारित्र कहा है । इसी प्रकार अरहन्त देवादिक का श्रद्धान होने पर सम्मग्दर्शन होता भी है और नही भी होता है, परन्तु अरहन्तादिक की श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन कदापि नही होता, इसलिये अन्वयव्याप्ति के अनुसार कारण मे कार्य का उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है ।

यही पद्धति तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप लक्षण में भी संघटित करना चाहिये, क्योंकि द्रव्यलिगी अपने क्षयोपशम के अनुसार तत्त्वार्थ का ज्ञान प्राप्त कर उसकी श्रद्धा करता है, बुद्धिपूर्वक अश्रद्धा की किसी बात को आश्रय नही देता, तत्वार्थ का ऐसा विशद विशद व्याख्यान करता है कि उसे सुनकर अन्य मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि हो जाय, परन्तु परमार्थ से वह स्वय मिथ्यादृष्टि ही रहता है। उसकी श्रद्धा मे कहा चूक रहती है, यह प्रत्यक्ष ज्ञानी जान सकते है। इतना होने पर भी यह निश्चित है कि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तत्त्वार्थ-श्रद्धानपूर्वक होगी। अत कारण मे कार्य का उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

स्थूल रूप से "शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है" ऐसा स्वपर का भेदविज्ञान द्रव्यलिंगी मुनि को भी होता है। द्रव्यलिंगी मुनि, घानी मे पेल दिये जाने पर भी सक्लेश नही करता और शुक्ल लेश्या के प्रभाव से नौवे ग्रैवेयक तक मे उत्पन्न होने की योग्यता रखता है, फिर भी वह मिथ्यादृष्टि रहता है। उसके स्वपर भेदविज्ञान मे जो सूक्ष्म चूक रहती है, उसे जनसाधारण नही जान सकता। वह चूक प्रत्यक्ष ज्ञान का ही विषय है। इस स्थिति मे यह कहा जा सकता है कि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन इससे भिन्न है, परन्तु उसकी प्राप्ति मे स्वपर का भेदविज्ञान कारण पड़ता है। अत कारण में कार्य का उपचार कर उसे सम्यग्दर्शन कहा है।

कषाय की मन्दता से उपयोग की चञ्चलता दूर होने लगती है, उस स्थिति में द्रव्यलिगी मुनि का उपयोग भी पर पदार्थ से हटकर स्व मे स्थिर होने लगता है। स्व द्रव्य-आत्म द्रव्य की वह बडी सूक्ष्म चर्चा करता है। आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का ऐसा भाव-विभोर होकर वर्णन करता है कि अन्य मिथ्यादृष्टि जीवो को भी आत्मानुभव होने लगता है, परन्तु वह स्वयं मिथ्यादृष्टि रहता है। इस स्थिति मे इस आत्मश्रद्धान को करुणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन का साधन मानकर सम्यग्दर्शन कहा गया है।

इन सब लक्षणो में जो सूक्ष्म चूक रहती है, उसे छद्मस्थ जान नही सकता, इसलिये व्यवहार से इन सबको सम्यग्दर्शन कहा है। इनके होते हुए सम्यक्त्व का घात करने वाली सात प्रकृतियो का उपशमादिक होकर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति, तत्त्वार्थ श्रद्धान, स्वपर श्रद्धान और आत्म

श्रद्धान ये चारो लक्षण एक दूसरे के वाधक नही है, क्योकि एक के होने पर दूसरे लक्षण स्वय प्रगट हो जाते है। पात्र की योग्यता देखकर आचार्यो ने विभिन्न शैलियो से वर्णन मात्र किया है। जैसे आचरण प्रधान शैली को मुख्यता देने की अपेक्षा देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति को, ज्ञान प्रधान शैली को मुख्यता देने की अपेक्षा तत्त्वार्थ श्रद्धान की और कषाय जनित विकल्पों की मन्दमन्दतर अवस्था को मुख्यता देने की अपेक्षा स्वपर श्रद्धान तथा आत्म श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। अपनी योग्यता के अनुसार चारों शैलियों को अपनाया जा सकता है। इन चारो शैलियो मे भी यदि मुख्यता और अमुख्यता की अपेक्षा चर्चा की जावे तो तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप प्रधान शैली मुख्य जान पडती है, क्योकि उसके होने पर ही शेष तीनो शैलियो को बल मिलता है।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन किसे प्राप्त होता है ?

उत्तर :—मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के है—एक अनादि मिथ्यादृष्टि और दूसरे सादि मिथ्यादृष्टि। जिसे आज तक कभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हुआ है, वह अनादि मिथ्यादृष्टि है और जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर छूट गया है, वह सादि मिथ्यादृष्टि जीव है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मोहनीय कर्म की छब्बीस प्रकृतियो की सत्ता रहती है, क्योकि दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन तीन प्रकृतियो मे से एक मिथ्यात्व प्रकृति का ही बन्ध होता है, शेष दो का नही। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होने पर उसके प्रभाव से यह जीव मिथ्यात्व प्रकृति के मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति के भेद से तीन खण्ड करता है, इस तरह सादि मिथ्यादृष्टि जीव के ही सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टि जीवो मे मोहनीय कर्म की सत्ता के तीन विकल्प वनते है–एक २८ प्रकृति की सत्तावाला, और दूसरा २७ प्रकृति की सत्ता वाला और तीसरा २६ प्रकृतियो की सत्ता वाला। जिस जीव के दर्शन मोह की तीनो प्रकृतिया विद्यमान है, वह अट्ठाइस प्रकृतियो की सत्ता वाला है। जिस जीव ने सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना कर दी है, वह सत्ताईस प्रकृतियो की सत्ता वाला है और जिसने सम्यक्त्व मिथ्यात्व प्रकृति की उद्वेलना कर ली है, वह छब्बीस प्रकृतियो की सत्ता वाला है।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इस प्रकार तीन भेद है। यहाँ सर्व प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की अपेक्षा विचार करते है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि को सर्व प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन भी प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम के भेद से दो प्रकार का है। यहाँ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की चर्चा है। द्वितीयोपशम की चर्चा आगे की जायेगी।

इतना निश्चित है कि सम्यग्दर्शन सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक भव्य जीव को ही होता है, अन्य को नही। भव्यो मे भी उसी को होता है, जिसका संसार भ्रमण का काल अर्धपुद्गल परावर्तन के काल से अधिक बाकी नही है। लेश्याओं के विषय मे से कोई लेश्या हो और देव तथा नारकियो के जहाँ जो लेश्या बतलाई है, उसी में औपशमिक सम्यग्दर्शन हो सकता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये गोत्र का प्रतिबन्ध नही है अर्थात् जहाँ उच्च-नीच गोत्रो मे से जो भी सभव हो, उसी गोत्र मे सम्यग्दर्शन हो जाता है। कर्म स्थिति के विषय मे चर्चा यह है कि जिसके बध्यमान कर्मो की स्थिति अन्त कोडा कोडी सागर प्रमाण हो तथा सत्ता में स्थित कर्मो की स्थिति सख्यात हजार सागर कम अन्त कोड़ा कोडी सागर प्रमाण रह गई हो, वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, इसी प्रकार जिसके अप्रशस्त प्रकृतियो का अनुभाग द्विस्थानगत और प्रशस्त प्रकृतियो का अनुभाग चतु स्थानगत होता है, वही औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। यहाँ इतनी विशेषता और भी ध्यान में रखना चाहिये कि जिस सादि मिथ्यादृष्टि के आहारक शरीर और आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग की सत्ता होती है, उसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन नही होता। अनादि मिथ्यादृष्टि के इनकी सत्ता होती ही नही है। इसी प्रकार प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जीव दूसरे प्रथमोपशम सम्यक्त्व को तब तक प्राप्त नही कर सकता जब तक कि वह वेदक काल मे रहता है। वेदक काल के भीतर यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आता है, तो वह वेदक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त करता है। वेदक काल के विषय मे यह कहा गया है, कि सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जो मिथ्यादृष्टि जीव, एकेन्द्रिय पर्याय मे भ्रमण करता है वही सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय होकर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को तभी

प्राप्त कर सकता है, जब उसके सम्यक्त्व तथा सम्यङ्‌मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियो की स्थिति एक सागर से कम शेष रह जावे । यदि इससे अधिक स्थिति शेष है, तो नियम से उसे वेदक–क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही हो सकता है । यदि सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जीव विकलत्रय मे परिभ्रमण करता है, तो उसके सम्यक्त्व और सम्यङ्‌मिथ्यात्व प्रकृति की स्थिति पृथकत्व सागर प्रमाण शेष रहने तक उसका वेदक काल कहलाता है । इस काल मे यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्ति का अवसर आता है, तो नियम से वेदक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को ही प्राप्त होता है । हॉ, सम्यक्त्व प्रकृति की अथवा सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यङ्‌मिथ्यात्व प्रकृति दोनो की उद्वेलना हो गई है, तो ऐसा जीव पुन. सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है ।

तात्पर्य यह है कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सर्व प्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन ही होता है और सादि मिथ्यादृष्टियो मे २६ या २७ प्रकृतियो की सत्ता वाले जीव के दूसरी बार भी प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है, किन्तु २८ प्रकृति की सत्ता वाले जीव के वेदक काल के भीतर दूसरी बार सम्यग्दर्शन हो तो वेदक–क्षायोपशमिक ही होता है । हा, वेदक काल के निकल जाने पर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता रखने वाला सज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक, विशुद्धि युक्त, जागृत, साकार उपयोग युक्त, चारो गति वाला भव्य जीव जब सम्यग्दर्शन धारण करने के सम्मुख होता है, तब क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण इन पांच लब्धियो को प्राप्त होता है ।

चदुगदि भव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो ।
जागारो सल्लेस्सो सलद्धिगो सम्मभुपगमई ।।६५१।।जी.का.

खउठवसमिय विसोही देसण पाउग्ग करण लद्धी च ।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते ।।६५०।।जी.का.

इनमे करण लब्धि को छोडकर शेष चार लब्धिया सामान्य है अर्थात् भव्य और अभव्य दोनो को प्राप्त होती है, परन्तु करणलब्धि भव्य जीव को ही प्राप्त होती है । उसके प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शन नियम से प्रकट होता है ।

प्रश्न :—क्षायोपशमिक लब्धि का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—क्षायोपशमिक लब्धि—पूर्व संचित कर्म पटल के अनुभाग स्पर्धकों की विशुद्धि के द्वारा प्रति समय अनन्त गुणित हीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त होना क्षायोपशमिक लब्धि है। इस लब्धि के द्वारा जीव के परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते है।

प्रश्न :—विशुद्धि लब्धि का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—विशुद्धि लब्धि—साता वेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियो के बन्ध में कारण-भूत परिणामो की प्राप्ति को विशुद्धि लब्धि कहते है।

प्रश्न :—देशना लब्धि का क्या स्वरूप है ?

उत्तर —देशना लब्धि—छहो द्रव्य और नौ पदार्थो के उपदेश को देशना कहते है। उक्त देशना के दाता आचार्य आदि की लब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारणा की शक्ति की प्राप्ति को देशना लब्धि कहते है।

प्रश्न :—प्रायोग्य लब्धि का क्या स्वरूप है ?

उत्तर —प्रायोग्य लब्धि—आयु कर्म को छोड़कर शेष कर्मो की स्थिति को अन्तः कोडा कोडी सागर प्रमाण कर देना और अशुभ कर्मो में से घातिया कर्मो के अनुभाग को लता और दारू इन दो स्थानगत तथा अघातिया कर्मो के अनुभाग को नीम और काजी इन दो स्थानगत कर देना प्रायोग्य लब्धि है।

प्रश्न :—करण लब्धि का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—करण लब्धि—करण भावो को कहते है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाले करणोंभावो की प्राप्ति को करण लब्धि कहते है। इसके तीन भेद हैं—अथाप्रवृत्तकरण अथवा अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। जो करण—परिणाम इसके पूर्व प्राप्त न हुए हों उन्हे अथाप्रवृत्तकरण कहते है। इसका दूसरा सार्थक नाम अव करण है। जिसमें आगामी समय में रहने वाले जीवो के परिणाम पिछले समयवर्ती जीवो के परिणामो से मिलते जुलते हो, उसे अध प्रवृत्तकरण कहते है। इसमें समसमयवर्ती तथा विषमसमयवर्ती जीवो के परिणाम समान और असमान-दोनों प्रकार के होते हैं। जैसे पहले समय मे रहने वाले जीवों के परिणाम एक से लेकर दस नम्बर तक के है और दूसरे समय मे रहने वाले जीवों के परिणाम छह

से लेकर पन्द्रह नम्बर तक के है। पहले समय में रहने वाले जीव के छह से लेकर दस नम्बर तक के परिणाम विभिन्न समयवर्ती होने पर भी परस्पर मिलते-जुलते है। इसी प्रकार प्रथम समयवर्ती अनेक जीवो के एक से लेकर दस तक के परिणामो से समान परिणाम हो सकते है अर्थात् किन्ही दो जीवो के पांच नम्बर का परिणाम है। यह परिणामो की समानता और असमानता नाना जीवो की अपेक्षा घटित होती है। इस करण का काल अन्तर्मुहूर्त है और उसमे उत्तरोत्तर समान वृद्धि को लिए हुए असख्यात लोक प्रमाण होते है।

जिसमे प्रत्येक समय अपूर्व-अपूर्व नये-नये परिणाम होते है, उसे अपूर्वकरण कहते है। जैसे पहले समय मे रहने वाले जीवो के यदि एक से लेकर दस नम्बर तक के परिणाम है, तो दूसरे समय मे रहने वाले जीव के ग्यारह से बीस नम्बर तक के परिणाम होते है। अपूर्वकरण मे समसमयवर्ती जीवो के परिणाम समान और असमान दोनो प्रकार के होते है, परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवो के परिणाम असमान ही होते है। जैसे पहले समय मे रहने वाले और दूसरे समय मे रहने वाले जीवो के परिणाम कभी समान नही होते, परन्तु पहले अथवा दूसरे समय मे रहने वाले जीवो के परिणाम समान भी हो सकते है और असमान भी। यह चर्चा भी नाना जीवो की अपेक्षा से है। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। परन्तु यह अन्तर्मुहूर्त अध प्रवृत्तकरण के अन्तर्मुहूर्त से छोटा है। इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल मे भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होते हुए असख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते है।

जहाँ एक समय मे एक ही परिणाम होता है, उसे अनिवृत्तिकरण कहते है। इस करण मे समसमयवर्ती जीवो के परिणाम समान ही होते है और विषमसमयवर्ती जीवो के परिणाम असमान ही होते है। इसका कारण है कि यहाँ एक समय मे एक ही परिणाम होता है, इसलिये उस समय मे जितने जीव होगे इन सबके परिणाम समान ही होगे और भिन्न समयो मे जो जीव होगे उनके परिणाम भिन्न ही होगे। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। परन्तु अपूर्वकरण की अपेक्षा छोटा अन्तर्मुहूर्त है। इसके प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है। इन दोनो करणो मे परिणामो की विशुद्धता उत्तरोत्तर बढती रहती है।

उपर्युक्त तीन करणों में से पहले अथाप्रवृत्त अथवा अध.करण मे चार अवश्य होते हैं–(१) समय-समय मे अनन्त गुणी विशुद्धता होती है। (२) प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त मे नवीन बन्ध की स्थिति घटती जाती है। (३) प्रत्येक समय प्रशस्त प्रकृतियो का अनुभाग अनन्त गुणा बढता जाता है, और (४) प्रत्येक समय अप्रशस्त प्रकृतियो का अनुभाग अनन्तवाँ भाग घटता जाता है। इसके बाद अपूर्वकरण परिणाम होता है। उस अपूर्वकरण मे निम्नलिखित आवश्यक और होते है। (१) सत्ता मे स्थित प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त मे उत्तरोत्तर घटती जाती है, अत स्थितिकाण्डकघात होता है। (२) प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में उत्तरोत्तर पूर्व कर्म का अनुभाग घटता जाता है इसलिये अनुभागकाण्डकघात होता है और (३) गुणश्रेणी के काल में क्रम से असख्यात गुणित कर्म, निर्जरा के योग्य होते है, इसलिये गुणश्रेणी निर्जरा होती है। इस अपूर्व करण मे गुण सक्रमण नाम का आवश्यक नही होता। किन्तु चारित्र मोह का उपशम करने के लिए जो अपूर्वकरण होता है, उसमे होता है। अपूर्वकरण के बाद अनिवृत्तिकरण होता है, उसका काल अपूर्वकरण के काल के सख्यातवे भाग होता है। इसमे पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल व्यतीत होने पर [किमन्तर· करण नाम? "विवक्खियकम्माण हेट्ठिमोवरिमट्ठिदीओ मोत्तूण मज्से अतो मुहूत्तमेत्ताण ठ्ठिदीण परिणाम बिसेसेण णिसेगाणमभावावीकरण मन्तरणमिदि भण्णदे।" जय धवल अ प्र ६५३। अर्थ :—अन्तरकरण का क्या स्वरूप है? उत्तर –विवक्षित कर्मो की अधस्तन और उपरिम स्थितियो को छोडकर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियो के निषेको का परिणाम विशेष के द्वारा अभाव करने को अन्तरकरण कहते है।] अन्तरकरण होता है अर्थात् अनिवृत्तिकरण के काल के पीछे, उदय आने योग्य मिथ्यात्व कर्म के निषेकों का अन्तर्मुहूर्त के लिए अभाव होता है। अन्तरकरण के पीछे उपशमकरण होता है अर्थात् अन्तरकरण के द्वारा अभाव रूप किये हुये निषेकों के ऊपर जो मिथ्यात्व के निषेक उदय मे आने वाले थे, उन्हे उदय के अयोग्य किया जाता है। साथ ही अनन्तानुबन्धी चतुष्क को भी उदय के अयोग्य किया जाता है। इस तरह उदय योग्य प्रकृतियो का अभाव होने से प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय मे मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड करता है। परन्तु राजवार्तिक मे, अनिवृत्तिकरण के चरम समय में मिथ्यादर्शन के तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व। इन तीन प्रकृतियो तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ

इन चार प्रकृतियो का इस प्रकार सात प्रकृतियो के उदय का अभाव होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। यही भाव षट्खण्डागम (धवल, पुस्तक ६) के निम्नलिखित सूत्रो मे भी प्रगट किया है—

'अहट्टहेदूण मिच्छत्तं तिण्णि भागं करेदि सम्मतं मिच्छत्तं ॥७॥

अर्थ—अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्म के तीन भाग करता है–सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्‌मिथ्यात्व।

दंसण मोहणीयं कम्मं उवसामेदि ॥८॥

अर्थ—मिथ्यात्व के तीन भाग करने के तश्चात् दर्शन मोहनीय कर्म को उपशमाता है।

प्रश्न :—द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन–औपशमिक सम्यग्दर्शन के प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम इस प्रकार दो भेद है। इनमे से प्रथमोपशम किसके और कब होता है। इसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है। द्वितीयोपशम की चर्चा इस प्रकार है। प्रथमोपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का अस्तित्व चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवे गुणस्थान तक ही रहता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को धारण करने वाला कोई जीव, जब सातवे गुण स्थान के सातिशय अप्रमत्त भेद मे उपशम श्रेणी माडने के सम्मुख होता है, तब उसके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इस सम्यग्दर्शन मे अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसयोजन, और दर्शन मोहनीय की प्रकृतियो का उपशम होता है। इस सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला जीव उपशम श्रेणी माडकर ग्यारहवे गुणस्थान तक जाता है, और वहाँ से पतन कर नीचे आता है, पतन की अपेक्षा चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठम गुणस्थान मे भी इसका सद्भाव रहता है।

प्रश्न :—क्षायोपशमिक (वेदक) सम्यग्दर्शन का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :— क्षायोपशमिक अथवा वेदक सम्यग्दर्शन–मिथ्यात्व, सम्यड्‌मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियो के वर्तमान काल मे उदय आने वाले निषेको का उदयाभावी क्षय तथा आगामी काल मे उदय

आने वाले निषेको का सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृतिनामक देशघाती प्रकृति का उदय रहने पर जो सम्यक्त्व होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते है। इस सम्यक्त्व मे सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने से चल, मल और अगाढ दोष उत्पन्न होते रहते है। छह सर्वघाती प्रकृतियो के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम को प्रधानता देकर जब इसका वर्णन होता है, तब इसे क्षायोपशमिक कहते है और जब सम्यक्त्व प्रकृति के उदय की अपेक्षा वर्णन होता है, तब इसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते है। वैसे ये दोनो पर्यायवाची है।

इसकी उत्पत्ति सादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनो के हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टियो मे जो वेदक काल के भीतर रहता है, उसे वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। सम्यग्दृष्टियो मे जो प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि है, उसे भी वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव को चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान मे इसकी प्राप्ति हो सकती है, यह सम्यग्दर्शन चारो गतियो में उत्पन्न हो सकता है।

प्रश्न :—क्षायिक सम्यग्दर्शन का क्या स्वरूप है ?

उत्तर —क्षायिक सम्यग्दर्शन–मिथ्यात्व, सम्यङमिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियो के क्षय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है।

दंसण मोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमि जादो हु।
मणुसो केवलि मूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥७४॥जी.का.॥८॥

दर्शन मोहनीय की क्षपणा का आरम्भ कर्म भूमिज मनुष्य ही करता है, और वह भी केवली या श्रुत केवली के पाद मूल मे।

स्वय श्रुत केवली हो जाने पर फिर केवली या श्रुत केवली के सन्निधान की आवश्यकता नही रहती।

परन्तु इसका निष्ठापन चारो गतियो में हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन वेदक सम्यक्त्व पूर्वक ही होता है तथा चौथे से सातवे गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान मे हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन सादि अनन्त है। होकर कभी छूटता नही है, जबकि औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन असख्यात बार होकर छूट सकते है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि या तो उसी भव से मोक्ष चला जाता है या तीसरे भव मे या चौथे भव मे, चौथे भव से अधिक ससार में नही रहता ।

दंसरण मोहे खविदे सिज्झदि एक्केव तदिय–तुरियभवे ।
णादिक्कदि तुरियभवं ण विरणस्सदि सेससम्म व ।।क्षे.जी.का.स.श्रा.।।६।।

जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि बद्धायुष्क होने से नरक में जाता है अथवा देवगति मे उत्पन्न होता है, वह वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जाता है । इस प्रकार चौथे भव मे उसका मोक्ष जाना बनता है ।

चत्तारि वि खेत्ताइं, आयुगबंधेढ होई सम्मत्तं ।
अणुवद–महव्वदाइं ण लहइ देयाउगं मोत्तुं ।।६५२।।जी.का.।।१०।।

चारो गति सम्बन्धी आयु का बन्ध होने पर सम्यक्त्व हो सकता है, इसलिये बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि का चारो गतियों में जाना सभव है । परन्तु यह नियम है कि सम्यक्त्व के काल में यदि मनुष्य और तिर्यञ्च के आयु बन्ध होता है, तो नियम से देवायु का ही बन्ध होता है और नारकी तथा देव के नियम से मनुष्यायु का ही वध होता हैं ।

प्रश्न —सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के बहिरंग कारण कौनसे हैं ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के बरिङ्ग कारण :–कारण दो प्रकार के होते हैं, एक उपादान कारण और दूसरा निमित्त कारण । जो स्वय कार्य रूप परिणत होता है, वह उपादान कारण कहलाता है । और जो कार्य की सिद्धि मे सहायक होता है, वह निमित्त कारण कहलाता है । अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के भेद से निमित्त के दो भेद है । सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का उपादान कारण

आसन भव्यताकर्म हानिसंज्ञित्व शुद्धि भाक् ।
देशनाद्यस्त मिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ।।सा.ध.।।११।।

आसन्न भव्यता आदि विशेषताओ से युक्त आत्मा है । अन्तरङ्ग निमित्त कारण सम्यक्त्व की प्रतिबन्धक सात प्रकृतियो का उपशम अथवा क्षयोपशम है और बहिरङ्ग निमित्त कारण सद्गुरू आदि है । अन्तरङ्ग निमित्त कारण के मिलने पर सम्यग्दर्शन नियम से होता है, परन्तु बहिरङ्ग निमित्त के

मिलने पर सम्यग्दर्शन होता भी है और नही भी होता है। सम्यग्दर्शन के बहिरङ्ग निमित्त चारों गतियो में विभिन्न प्रकार के होते है। जैसे नरक गति में तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण और तीव्र वेदनानुभव ये तीन। चौथे से सातवे तक जातिस्मरण और तीव्र वेदनानुभव ये दो। तिर्यञ्च और मनुष्यगति मे जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्ब दर्शन ये तीन। देवगति मे बारहवे स्वर्ग तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनकल्याणकदर्शन और देवर्द्धि दर्शन ये चार। तेरहवे से सोलहवे स्वर्ग तक देवर्द्धि दर्शन को छोड़कर तीन और उसके आगे नौवे ग्रैवेयक तक जातिस्मरण तथा धर्मश्रवण दो बहिरङ्ग निमित्त है। ग्रैवेयक के ऊपर सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते है, इसलिये वहां बहिरङ्ग निमित्त की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न .—उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के कितने भेद है ?

उत्तर .—सम्यग्दर्शन के भेद—उत्पति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज दो भेद है। जो पूर्व सस्कार की प्रबलता से परोपदेश के बिना हो जाता है, वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है। और जो पर के उपदेश-पूर्वक होता है, वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है। इन दोनों भेदों मे अन्तरङ्ग कारण—सात प्रकृतियो का उमशमादिक समान होता है, मात्र बाह्यकरण की अपेक्षा दो भेद होते है।

करणानुयोग की पद्धति से सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भेद होते है। जो सात प्रकृतियो के उपशम से होता है, उसे औपशमिक कहते है। इसके प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम की अपेक्षा दो भेद है। जो सात प्रकृतियो के क्षय से होता है, उसे क्षायिक कहते है और जो सर्वघाती छह प्रकृतियो के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाती प्रकृति के उदय से होता है, उसे क्षायोपशमिक कहते है अथवा वेदक सम्यग्दर्शन कहते है। कृतकृत्य सम्यग्दर्शन भी इसी क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का अवान्तर भेद है। दर्शन मोहनीय की क्षपणा करने वाले जिस क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के मात्र सम्यक्त्व प्रकृति का उदय शेष रह जाता है, शेष की क्षपणा हो चुकी है, उसे कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि कहते है।

चरणानुयोग की पद्धति से सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद होते है। वहा परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु की विपरीताभिनिवेश से रहित श्रद्धा करने को निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है और उस सम्यग्दृष्टि की पच्चीस दोषो से रहित जो प्रवृत्ति है, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। शङ्कादिक आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढताएँ ये व्यवहार सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष कहलाते है।

द्रव्यानुयोग की दृष्टि से सम्यग्दर्शन के भेद—द्रव्यानुयोग की पद्धति से भी सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद होते है। यहा जीवाजीवादि सात तत्त्वो के विकल्प से रहित शुद्ध आत्मा के श्रद्धान को निश्चय सम्यग्दर्शन कहते है और सात तत्त्वो के विकल्प से रहित श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते है।

अध्यात्म मे वीतराग सम्यग्दर्शन और सराग सम्यग्दर्शन के भेद से दो भेद होते है। यहा आत्मा की विशुद्धि मात्र को वीतराग सम्यग्दर्शन कहा है और प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार गुणो की अभिव्यक्ति को सराग सम्यग्दर्शन कहते है।

आज्ञा मार्ग समुद्भवमुपदेशात्सूत्र बीज संक्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढं परमावगाढं च ॥१॥ आत्मानुशासन ॥२॥

आत्मानुशासन मे ज्ञान प्रधान निमित्तादिक की अपेक्षा १ आज्ञा सम्यक्त्व २. मार्ग सम्यक्त्व ३ उपदेश सम्यक्त्व ४. सूत्र सम्यक्त्व ५ बीज सम्यक्त्व ६ सक्षेप सम्यक्त्व ७ विस्तार सम्वक्त्व ८ अर्थ सम्यक्त्व ९. अवगाढ सम्यक्त्व और १० परमावगाढ सम्यक्त्व ये दस भेद कहे है।

मुझे जिन आज्ञा प्रमाण है, इस प्रकार जिनाज्ञा की प्रधानता से, जो सूक्ष्म, अन्तरित एवं दूरवर्ती पदार्थो का श्रद्धान होता है, उसे आज्ञासम्यक्त्व कहते है।

निर्ग्रन्थ मार्ग के अवलोकन से, जो सम्यक्त्व होता है, उसे मार्गसम्यक्त्व कहते हैं।

आगमज्ञ पुरुषो के उपदेश से उत्पन्न सम्यगदर्शन उपदेशसम्यक्त्व कहलाता है।

मुनि के आचार का प्रतिपादन करने वाले आचार सूत्र को सुनकर, जो श्रद्धान होता है, उसे सूत्रसम्यक्त्व कहते है।

गणित ज्ञान के कारण बीजो के समूह से, जो सम्यक्त्व होता है, उसे बीज-सम्यक्त्व कहते है ।

पदार्थों के सक्षेपरूप कथन को सुनकर, जो श्रद्धान होता है, उसे सक्षेप-सम्यक्त्व कहते हैं ।

विस्ताररूप जिनवाणी को सुनने से, जो श्रद्धान होता है, उसे विस्तार-सम्यक्त्व कहते है ।

जैनशास्त्र के वचन बिना किसी अर्थ के निमित्त से, जो श्रद्धा होती है, उसे अर्थसम्यक्त्व कहते है ।

श्रुत केवली के तत्त्वश्रद्धान को अवगाढसम्यक्त्व कहते है ।

केवली के तत्त्वश्रद्धान को परमावगाढसम्यक्त्व कहते है ।

इन दश भेदो मे प्रारम्भ के आठ भेद कारण की अपेक्षा और अन्त के दो भेद ज्ञान के सहकारीपना की अपेक्षा किये गए है ।

इस प्रकार शब्दों की अपेक्षा सख्यात, श्रद्धान करने वालो की अपेक्षा असख्यात और श्रद्धान करने योग्य पदार्थो की अपेक्षा अनन्त भेद होते हैं ।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन का निर्देश आदि की अपेक्षा से वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर —सम्यग्दर्शन का निर्देश आदि की अपेक्षा वर्णन—तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वामी ने पदार्थ के जानने के उपायो का वर्णन करते हुए निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन छह उपायो का वर्णन किया है ।

'निर्देश स्वामित्व साधनाधिकरणस्थिति विधानतः'—त० सूत्र १-७।

यहा सम्यग्दर्शन के सदर्भ मे इन उपायो का भी विचार करना उचित जान पडता है । वस्तु के स्वरूप निर्देश को निर्देश कहते हैं । वस्तु के आधिपत्य को स्वामित्व कहते है । वस्तु की उत्पत्ति के निमित्त को साधन कहते हैं । वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं । वस्तु की कालावधि को स्थिति कहते है और वस्तु के प्रकारों को विधान कहते है । संसार के किसी भी पदार्थ के जानने मे इन छह उपायो का आलम्बन लिया जाता है ।

यहा सम्यग्दर्शन का निर्देश स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर देने के लिये कहा गया है कि यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान करना अथवा सप्त तत्त्व, नौ पदार्थ का श्रद्धान करना आदि सम्यग्दर्शन का निर्देश है ।

सम्यग्दर्शन का स्वामी कौन है ? इस प्रश्न का विचार सामान्य और विशेष रूप से किया गया है। सामान्य की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन सञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक भव्यजीव के ही होता है। अत वही इसका स्वामी है। विशेष की अपेक्षा विचार इस प्रकार है—निम्नलिखित चौदह मार्गणाओ मे होता है—

गइ इन्दिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ।।जी० का०।।१३।।

गति की अपेक्षा नरकगति मे सभी पृथिवियो के पर्याप्तक नारकियो के औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते है। तिर्यचगति मे औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक तिर्यचों के ही होता है और क्षायिक तथा क्षायोपशमिक भोग-भूमिज तिर्यचो की अपेक्षा होते है। तिर्यञ्चियो के पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनो ही अवस्थाओ मे क्षायिक सम्यग्दर्शन नही होता, क्योकि दर्शन मोह की क्षपणा का प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्य के ही होता है और क्षपणा के पहले तिर्यञ्च आयु का बन्ध करने वाला मनुष्य, भोग भूमि के पुरुषवेदी तिर्यचों मे उत्पन्न होता है, स्त्रीवेदी तिर्यचो में नही। नवीन उत्पत्ति की अपेक्षा पर्याप्तक तिर्यञ्चियो के औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। मनुष्यगति मे पर्याप्तक और अपर्याप्तक मनुष्यो के क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते है। औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्यो के ही होता है, अपर्याप्तक मनुष्यो के नही, क्योकि प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन मे किसी का मरण होता नही है और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन मे मरा हुआ जीव नियम से देवगति मे ही जाता है। मानुषी-स्त्रीवेदी मनुष्यो के पर्याप्तक अवस्था मे तीनो सम्यग्दर्शन होते है, परन्तु अपर्याप्तक अवस्था में एक भी नही होता। मानुषियो के जो क्षायिक सम्यग्दर्शन बतलाया है, वह भाववेद की अपेक्षा होता है, द्रव्यवेद की अपेक्षा नही। देवगति में पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनो के तीनो सम्यग्दर्शन होते है। द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन में जीव मरकर देवो मे उत्पन्न होते है, इस अपेक्षा वहा अपर्याप्तक अवस्था मे भी औपशमिक सम्यग्दर्शन का सद्भाव रहता है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क देव, उनकी देवाङ्गनाओ तथा सौधर्मेशान की देवागनाओ के अपर्याप्तक अवस्था मे एक भी सम्यग्दर्शन नही होता, किन्तु पर्याप्तक अवस्था मे नवीन उत्पत्ति की अपेक्षा औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते है। स्वर्ग मे देवियो का सद्भाव यद्यपि सोलहवे स्वर्ग तक रहता है, तथापि उनकी उत्पत्ति दूसरे स्वर्ग तक

ही होती है, इसलिये आगे की देवियो का समावेश पहले-दूसरे स्वर्ग की देवियो में ही समझना चाहिये ।

इन्द्रियों की अपेक्षा सज्ञी पञ्चेन्द्रियो को तीनो सम्यग्दर्शन होते है । अन्य इन्द्रिय वालो के एक भी नही होता । काय की अपेक्षा त्रसकायिक जीवो के तीन होते हैं, परन्तु अयोगियों के मात्र क्षायिक ही होता है । वेद की अपेक्षा तीनो वेदों में तीनों सम्यग्दर्शन होते है, परन्तु अपगत वेद वालो के औपशमिक और क्षायिक ही होते है । यहाँ वेद से तात्पर्य भाववेद से है । कषाय की अपेक्षा क्रोधादि चारो कषायों में तीनों होते है, परन्तु अकषाय-कषाय रहित जीवों के औपशमिक और क्षायिक ये दो होते हैं । औपशमिक मात्र ग्यारहवे गुणस्थान तक रहता है । ज्ञान की अपेक्षा मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ज्ञान के धारक जीवो के तीनों होते है, परन्तु केवलज्ञानियों के एक क्षायिक ही होता है । सयम की अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना संयम के धारक जीवो के तीनों होते है, परिहार विशुद्धि वाले के औपशमिक नही होता, शेष दो होते है और सयतासंयत तथा असयतों के तीनो होते है । दर्शन की अपेक्षा चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शन के धारक जीवो के तीनो होते है, परन्तु केवल दर्शन के धारक जीवो के एक क्षायिक ही होता है । लेश्या की अपेक्षा छह लेश्याओं वालो के तीनो होते है, परन्तु लेश्या रहित जीव के एक क्षायिक ही होता है । भव्य जीवों की अपेक्षा भव्यो के तीनो होते है, परन्तु अभव्यो को एक भी नही होता । सम्यक्त्व की अपेक्षा जहाँ जो सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ उसे ही जानना चाहिये । सज्ञा की अपेक्षा संज्ञियो के तीनो होते है, असज्ञियो को एक भी नही होता । सज्ञी और असज्ञी के व्यपदेश से रहित सयोग केवली और अयोग केवली के एक क्षायिक ही होता है । आहार की अपेक्षा आहारको को तीनो होते है, छद्मस्थ आहारको के भी तीनों होते हैं, परन्तु समुद्घात केवली अनाहारक के एक क्षायिक ही होता है ।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन का अधिकरण क्या है ?

उत्तर :—अधिकरण के बाह्य और अभ्यन्तर की अपेक्षा दो भेद है । अभ्यन्तर अधिकरण स्वस्वामिसम्बन्ध से योग्य आत्मा ही है और बाह्य अधिकरण एक राजू चौड़ी तथा चौदह राजू लम्बी लोक नाड़ी है ।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन की स्थिति क्या है ?

उत्तर :—औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है ।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छियासठ सागर प्रमाण है। क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नही होता, इसलिये इस अपेक्षा उसकी स्थिति सादि अनन्त है, परन्तु ससार मे रहने की अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो करोड वर्ष पूर्व तथा तैतीस सागर की है।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन का विधान क्या है ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन के विधान – भेदो का वर्णन पिछले स्तम्भ मे आ चुका है।

सम्यक्त्व मार्गणा और उसका गुणस्थानो मे अस्तित्व – सम्यक्त्व मार्गणा के औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, सम्यङ्-मिथ्यात्व, सासादन और मिथ्यात्व ये छ भेद है। औपशमिक सम्यग्दर्शन के दो भेद है– प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम। इनमे प्रथमोपशम चौथे से लेकर सातवे तक और द्वितीयोपशम चौथे से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक होता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चौथे से लेकर सातवे तक होता है और क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे से लेकर चौदहवे तक तथा सिद्ध अवस्था मे भी रहता है। सम्यङ्मिथ्यात्व मार्गणा तीसरे गुणस्थान में सासादन मार्गणा दूसरे गुणस्थान मे और मिथ्यात्व मार्गणा पहले गुणस्थान मे ही होती है। इसमे जीव के परिणाम दही और गुड से मिले हुए स्वाद के समान सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनो रूप होते हैं। इस मार्गणा मे किसी का मरण नही होता और न मारणान्तिक समुद्घात ही होता है। औपशमिक सम्यक्त्व का काल एक समय से लेकर छह आवली तक शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ मे से किसी एक कपाय का उदय आने से जिनका सम्यक्त्व आसादना-विराधना से सहित हो गया है, वह मिथ्यात्व के अगृहीत और गृहीत की अपेक्षा दो भेद, एकान्त, विपरीत, सशय, अज्ञान और वैनयिक की अपेक्षा पाच भेद अथवा गृहीत, अगृहीत और साशयिक की अपेक्षा तीन भेद होते है।

केषाञ्चिन्द तमसायतेऽगृहीत ग्रहायतेऽन्येषाम्।
मिथ्यात्वमिह गृहीत शल्यति साशयिकमपरेषाम् ॥५॥ सा० ध० १४।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन के अंग कौन-कौन से है ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन के आठ अग – जिन्हे मिलाकर अगी की पूर्णता होती है अथवा अगी को अपना कार्य पूर्ण करने मे जो सहायक होते है, उन्हे अग कहते है।

मनुष्य के शरीर मे जिस प्रकार हाथ, पैर आदि आठ अग होते है, उन आठ अगो के मिलने से ही मनुष्य के शरीर की पूर्णता होती है और वे अग ही उसे अपना कार्य पूर्ण करने मे सहायक होते है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के नि शकित आदि आठ अग है। इन आठ अगों के मिलने से ही सम्यग्दर्शन की पूर्णता होती है और सम्यग्दर्शन को अपना कार्य करने में उनसे सहायता मिलती है। कुन्द-कुन्द स्वामी ने अष्टपाहुड के अन्तर्गत चारित्र पाहुड़ मे चारित्र के सम्यक्त्वाचरण और सयमाचरण इस तरह दो भेद कर सम्यक्त्वाचरण का निम्नलिखित गाथाओ मे वर्णन किया है--

एव चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससकाई।
परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥ ॥१५॥
णिस्सकिय णिक्कखिय णिव्विदिगिछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरण वच्छल्लल पहावणा य ते अट्ठ ॥७॥ ॥१६॥
त चेव गुणविसुद्ध जिणसम्मत्तं सुमुक्ख ठाणाय।
ज चरइ णाणजुत्त पठम सम्मत्तचरणचारित्त ॥८॥ ॥१७॥

ऐसा जानकर हे भव्य जीवो! जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए तथा सम्यक्त्व मे मल उत्पन्न करने वाले शका आदि मिथ्यात्व के दोषों का तीनो योगों से परित्याग करो।

नि शकित, नि काङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यक्त्व के गुण है।

नि शकितादि गुणो से विशुद्ध वह सम्यक्त्व ही जिन-सम्यक्त्व कहलाता है तथा जिन सम्यक्त्व ही उत्तम मोक्ष रूप स्थान की प्राप्ति के लिये निमित्तभूत है। ज्ञान सहित जिन सम्यक्त्व का जो मुनि आचरण करते है, वह पहला सम्यक्त्वाचरण नामक चारित्र है।

तात्पर्य यह है कि शकादिक दोषो को दूर कर निःशंकित आदि गुणो का आचरण करना सम्यक्त्वाचरण कहलाता है, यही दर्शनाचरण कहलाता है, स्वरूपा-चरण इससे भिन्न है।

अष्टपाहुड के अतिरिक्त समयसार की गाथाओ (२२६ से लेकर २३६) में भी कुन्द-कुन्द स्वामी ने सम्यग्दृष्टि के निःशकित आदि गुणो का वर्णन किया है।

यहाँ आठ गुण आगे चलकर आठ अगों के रूप मे प्रचलित हो गये । रत्नकरण्ड मे समन्तभद्र स्वामी ने इन आठ अगो का सक्षिप्त किन्तु हृदयग्राही वर्णन किया है । पुरुषार्थ सिद्धयुपाय मे अमृतचन्द्र स्वामी ने भी इनके लक्षण बतलाने के लिये आठ श्लोक लिखे हैं । यह आठ अगो की मान्यता सम्यग्दर्शन का पूर्ण विकास करने के लिये आवश्यक है । अगो की आवश्यकता बतलाते हुए समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है कि जिस प्रकार कम अक्षरो वाला मन्त्र विष-वेदना को नष्ट करने मे असमर्थ होता है, उसी प्रकार कम अंगो वाला सम्यग्दर्शन ससार की सन्तति छेदने मे असमर्थ रहता है ।

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम् ।
नहि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ।।१८।।

अगो का स्वरूप तथा उनमे प्रसिद्ध पुरुषो का चरित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के प्रथम अधिकार से ज्ञातव्य है ।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन के अन्य गुण कौनसे हैं ?

उत्तर '—सम्यग्दर्शन के अन्य गुणों की चर्चा–प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सम्यग्दर्शन के चार गुण है । बाह्य दृष्टि से ये भी सम्यग्दर्शन के लक्षण है । इनके स्वरूप का विचार पञ्चाध्यायी के उत्तरार्ध मे विस्तार से किया गया है । सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

प्रशमो विषयेषूच्चैर्भाव क्रोधादिकेषु च ।
लोका संख्यात मात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ।।४२६।।१९।।
सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुस्वित् ।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मता ।।४२७।। पंचाध्यायी ।।२०।।

पञ्चेन्द्रियो के विषयों मे और असख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावो में स्वभाव से मन का शिथिल होना प्रशम भाव है । अथवा उसी समय अपराध करने वाले जीवों के विषय मे कभी भी उनके मारने आदि की प्रयोजक बुद्धि न होना प्रशमभाव है ।

संवेग परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः ।
सधर्मस्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ।।४३१।।२१।।

धर्म मे और धर्म के फल में आत्मा का परम उत्साह होना अथवा समान धर्म वालो मे अनुराग का होना या परमेष्ठियो मे प्रीति का होना सवेग है ।

अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थ्यं नैशल्यं वैर वर्जनात् ।।४३२।।२२।।

अनुकम्पा का अर्थ कृपा है या सब जीवों पर अनुग्रह करना अनुकम्पा है या मैत्री भाव का नाम अनुकम्पा है या मध्यस्थभाव का रखना अनुकम्पा है या शत्रुता का त्याग कर देने से निःशल्य हो जाना अनुकम्पा है ।

आस्तिक्यं तत्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चितिः ।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चास्त्यादिमतिश्चितः ।।४५२।।पंचाध्यायीउ०।।२३।।

स्वतः सिद्ध तत्वो के सद्भाव में निश्चय भाव रखना तथा धर्म, धर्म के हेतु और धर्म के फल मे आत्मा की अस्ति आदि रूप बुद्धि का होना आस्तिक्य है । उपर्युक्त प्रशमादिगुणों के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन के आठ गुण और भी प्रसिद्ध है । जैसा कि निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट है—

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा च उवसमो भत्ती ।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ।। (वसु०श्रावकाचार) ।।२५।।

संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकंपा ये सम्यक्त्व के आठ गुण है ।

वास्तव में ये आठ गुण उपर्युक्त प्रशमादि चार गुणो के अतिरिक्त नही है, क्योकि सवेग, उपशम और अनुकपा ये तीन गुण तो प्रशमादि चार गुणो मे नामोक्त ही है । निर्वेद, संवेग का पर्यायवाची है । तथा भक्ति और वात्सल्य सवेग के अभिव्यंजक होने से उसमें गतार्थ है तथा निन्दा और गर्हा उपशम (प्रशम) के अभिव्यंजक होने से उसमे गतार्थ हो जाते है ।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति क्या है ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति—सम्यग्दर्शन दर्शन मोहनीय का त्रिक और अनन्तानुबन्धी का चतुष्क इन सात प्रकृतियो के अभाव (अनुदय) में प्रगट होने वाला श्रद्धागुण का परिणमन है और स्वानुभूति स्वानुभूत्यावरणनामक मतिज्ञानावरण के अवान्तर भेद के क्षयोपशम से होने वाला क्षायोपशमिक ज्ञान है । ये दोनो सहभावी है । इसलिए कितने ही लोग स्वानुभूति को ही सम्यग्दर्शन कहने लगते है, पर वस्तुत. ऐसी वात नही है । दोनों ही पृथक्-पृथक् गुण है । छद्मस्थ का ज्ञान लब्धि और उपयोग रूप होता है, अर्थात्

उसका ज्ञान कभी तो आत्मा के विषय में ही उपयुक्त होता है और कभी ससार के अन्य घट-पटादि पदार्थो मे भी उपयुक्त होता है। अतः सम्यग्दर्शन और उपयोगात्मक स्वानुभूति की विषय व्याप्ति है। जहाँ स्वानुभूति होती है, वहाँ सम्यग्दर्शन अवश्य होता है, पर जहाँ सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ स्वानुभूति भी होती है और घट-पटादि अन्य पदार्थो की भी अनुभूति होती है। इतना अवश्य है कि लब्धि रूप स्वानुभूति सम्यग्दर्शन के साथ नियम से रहती है। यहाँ यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि जीव को ज्ञान तो उसके क्षयोपशम के अनुसार स्व और पर की भूत, भविष्यत, वर्तमान की अनेक पर्यायो का हो सकता है, परन्तु उसे अनुभव उसकी वर्तमान पर्याय मात्र का ही होता है।

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्।
तस्माद् वक्तुम् च श्रोतुं च नाधिकारी विधि क्रमात् ॥४००॥

पंचाध्यायी उ० ॥२६॥

सम्यक्त्वं वस्तुतः स्पष्टं केवलज्ञान गोचरम्।
गोचरं स्वावधिस्वमनः पर्यय ज्ञानयोर्द्वयो ॥३७५॥ २७ ॥

वस्तुत सम्यग्दर्शन सूक्ष्म है और वचनो का अविषय है, इसलिये कोई भी जीव विधि रूप से उसके कहने और सुनने का अधिकारी नही है अर्थात् यह कहने और सुनने को समर्थ नही है कि यह सम्यग्दृष्टि है अथवा इसे सम्यग्दर्शन है। किन्तु ज्ञान के माध्यम से ही उसकी सिद्धि होती है। यहाँ ज्ञान से स्वानुभूति रूप ज्ञान विवक्षित है। जिस जीव के यह स्वानुभूति होती है, उसे सम्यग्दर्शन अवश्य होता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना स्वानुभूति नही होती है। प्रश्न उठता है कि जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव विषयभोग या युद्धादि कार्यो में सलग्न होता है, उस समय उसका सम्यग्दर्शन कहा रहता है? उत्तर यह है कि उसका सम्यग्दर्शन उसी मे रहता है, परन्तु उस काल मे उसका ज्ञानोपयोग स्वात्मा में उपयुक्त न होकर अन्य पदार्थो मे उपयुक्त हो रहा है। इसलिये ऐसा जान पडता है कि इसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, पर वास्तविकता यह है कि उस अवस्था मे भी सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है। लब्धि और उपयोग रूप परिणमन ज्ञान का है, सम्यग्दर्शन का नही। सम्यग्दर्शन तो सदा जागरूक ही रहता है।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन को घातने वाली प्रकृतियो अन्तर्दशा कौन है ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन को घातने वाली प्रकृतियों की अन्तर्दशा —मुख्य रूप से सम्यग्दर्शन को घातने वाली दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ है—मिथ्यात्व, सम्यङ्‌मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति । इनमें मिथ्यात्व का अनुभाव सबसे अधिक है, उसके अनन्तवे भाग सम्यङ्‌मिथ्यात्व का है और उसके अनन्तवे भाग सम्यक्त्व प्रकृति का है । इनमें सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती है । इसके उदय से सम्यग्दर्शन का घात तो नही होता, किन्तु चल, मलिन और अगाढ दोष लगते है । 'यह अरहन्तादिक मेरे है, ये दूसरे के है, इत्यादि भाव होने को चल दोष कहते है—शकादि दोषो का लगना मल दोष है और शान्तिनाथ शान्ति के कर्त्ता है—इत्यादि भाव का होना अगाढ दोष है । ये उदाहरण व्यवहार मात्र है, नियम रूप नही । परमार्थ से सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में कौनसे दोष लगते है, उन दोषों के समय आत्मा मे कैसे भाव होते है, यह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है । इतना नियम रूप जानना चाहिये कि सम्यक्त्व प्रकृति के उदय मे सम्यग्दर्शन निर्मल नही रहता । क्षायोपक्षमिक या वेदक सम्यग्दर्शन में इस प्रकृति का उदय रहता है ।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला कर्मभूमिज मनुष्य जब क्षायिक सम्यग्दर्शन के सम्मुख होता है, तब वह तीन करण करके मिथ्यात्व के परमाणुओ के सम्यङ्‌मिथ्यात्व रूप या सम्यक्त्व प्रकृति रूप परिणमाता है । उसके बाद सम्यङ्‌मिथ्यात्व के परमाणुओ को सम्यक्त्व प्रकृति रूप परिणमाता है, पश्चात् सम्यक्त्व प्रकृति के निषेक उदय मे आकर खिरते है । यदि उसकी स्थिति आदि अधिक हो तो उन्हे स्थितिकाण्डादि घात के द्वारा घटाता है । जब उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की रह जाती है, तब कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है, पश्चात् क्रम से इन निषेको का नाश कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है । अनन्तानुबन्धी का प्रदेश क्षय नही होता, किन्तु अप्रत्याख्यानावरणादि रूप करके उसकी सत्ता का नाश करता है । इस प्रकार इन सात प्रकृतियो को सर्वथा नष्ट कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है ।

सम्यक्त्व होते समय अनन्तानुबन्धी की दो अवस्थाएँ होती है—या तो अप्रशस्त उपशम होता है या विसयोजन होता है । जो अपूर्वादि करण करने पर

उपशम विधान से उपशम होता है, उसे प्रशस्त उपशम कहते है। और जो उदय का अभाव है, उसे अप्रशस्त उपशम कहते है। इनमे अनन्तानुबन्धी का तो प्रशस्त उपशम होता नही है, मोह की अन्य प्रकृतियो का होता है इसका अप्रशस्त उपशम होता है। तीन करण कर अनन्तानुबन्धी के परमाणुओ को जो अन्य चारित्र मोहनीय की प्रकृति रूप परिणमाया जाता है, उसे विसयोजन कहते है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व मे अनन्तानुबन्धी का अप्रशस्त उपशम ही होता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति में अनन्तानुबन्धी की विसयोजना नियम से होती है, ऐसा किन्ही आचार्यो का मत है और किन्ही आचार्यों का मत है कि विसयोजना का नियम नही है। क्षायिक सम्यक्त्व मे नियम पूर्वक विसयोजना होती है। जिस उपशम और क्षायोपशम सम्यग्दृष्टि के विसयोजना के द्वारा अनन्तानुबन्धी की सत्ता का नाश होता है, वह सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्व में आने पर अनन्तानुबन्धी का जब नवीन बन्ध करता है' तभी उसकी सत्ता होती है।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि जब अनन्तानुबन्धी चारित्र मोहनीय की प्रकृति है, तब उसके द्वारा चारित्र का ही घात होना चाहिये, सम्यग्दर्शन का घात उसके द्वारा क्यो होता है ? इसका उत्तर यह है कि अनन्तानुबन्धी के उदय से क्रोधादिक रूप परिणाम होते है, अतत्त्व श्रद्धान नही होता, इसलिये परमार्थ से अनन्तानुबन्धी के उदय मे होने वाले क्रोधादिक के काल मे सम्यग्नर्शन नही होता, इसलिये उपचार से उसे भी सम्यग्दर्शन का घातक कहा है। जैसे त्रसपना का घातक तो स्थावर नाम कर्म का उदय है, परन्तु जिसके एकेन्द्रिय जातिनाम कर्म का उदय होता है, उसके त्रसपना नही हो सकता, इसलिये उपचार से एकेन्द्रिय जातिनाम कर्म को त्रसपना का घातक कहा जाता है। इसी दृष्टि से कहो अनन्तानुबन्धी मे दो प्रकार की शक्तियाँ मान ली गई है—चारित्र को घातने की और सम्यग्दर्शन को घातने की।

प्रश्न :—यदि अनन्तानुबन्धी चारित्र मोहनीय की प्रकृति है, तो उसके उदय का अभाव होने पर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में भी कुछ चारित्र होना चाहिये, उसे असंयत क्यों कहा जाता है ?

उत्तर :—अनन्तानुबन्धी आदि भेद कषाय की तीव्रता या मन्दता की अपेक्षा नही है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के तीव्र या मन्द कषाय के होते हुए अनन्तानुबधी आदि

चारो कषायो का उदय युगपत् रहता है। मिथ्यादृष्टि के कषाय का इतना मन्द उदय हो सकता है कि उस काल में शुक्ल लेश्या हो जावे और असयत सम्यग्दृष्टि के इतनी तीव्र कषाय हो सकती है कि इस काल मे कृष्ण लेश्या हो जावे जिसका अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व के साथ अनुबन्ध-गठबन्धन हो, वह अनन्तानुबन्धी है। जो एकदेश चारित्र का घात करे, वह अप्रत्याख्यानावरण है, जो सकल चारित्र का घात करे, वह प्रत्याख्यानावरण है और जो यथाख्यात चारित्र का घात करे, वह सज्वलन है। असयत सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी का अभाव होने से यद्यपि कषाय की मन्दता होती है, परन्तु ऐसी मन्दता नही होती। जिससे चारित्र नाम प्राप्त कर सके। कषाय के असख्यात लोक प्रमाण स्थान है, उनमे सर्वत्र पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर मन्दता पायी जाती है, परन्तु उन स्थानो मे व्यवहार की अपेक्षा तीन मर्यादाएँ की गई है—१ प्रारम्भ से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक के कषाय स्थान असंयम नाम से, २. पञ्चम गुणस्थान के कषाय स्थान देशचारित्र के नाम से और ३. षष्ठम गुणस्थानो के कषाय स्थान सकल चारित्र के नाम से कहे जाते है।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन की महीमा क्या है ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन की महीमा– सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाते हुए समन्तभद्र स्वामी ने कहा है–रत्नकरण्ड श्रावकाचार ३१-४१ तक कि

ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन श्रेष्ठता को प्राप्त होता है, इसलिये मोक्ष मार्ग में उसे कर्णधार–खेवटिया कहते है।

जिस प्रकार बीज के अभाव मे वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नही होती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव मे सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नही होती।

'निर्मोह–मिथ्यात्व से रहित–सम्यग्दृष्टि गृहस्थ जो मोक्षमार्ग मे स्थित है, परन्तु मोहवान्–मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्ग मे स्थित नही है। मोही मुनि की अपेक्षा मोह रहित गृहस्थ श्रेष्ठ है।

तीनो कालो और तीनो लोको में सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई वस्तु देह धारियो के लिये कल्याण रूप और मिथ्यात्व के समान अकल्याण रूप नही है।

"सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य व्रत रहित होने पर भी नरक और तिर्यञ्च गति, नपुंसक और स्त्री पर्याय, नीच कुल, विकलाङ्गता, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नही होते।"

दुर्गतावायुषो बन्धे सम्यक्त्वं यस्य जायते।
मतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः ॥२८॥

यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पहले किसी मनुष्य ने नरक आयु का बन्ध कर लिया है, तो वह पहले नरक से नीचे नही जाता है। यदि तिर्यञ्च और मनुष्य का बन्ध कर लिया है, तो भोग भूमि का तिर्यञ्च और मनुष्य होता है और यदि देवायु का बन्ध किया है, तो वैमानिक देव ही होता है, भवनत्रिको मे उत्पन्न नही होता। सम्यग्दर्शन के काल मे यदि तिर्यञ्च और मनुष्य का आयु बन्ध होता है, तो नियम से देवायु का ही बन्ध होता है और नारकी तथा देव के नियम से मनुष्यायु का ही बन्ध होता है।

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसिवण भवण सव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे णहि सम्भो ण सासणो णारयापुण्णे ॥१२७॥जी.का.२६॥

सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी गति की स्त्री पर्याय को प्राप्त नही होता। मनुष्य और तिर्यञ्च गति मे नपुसक भी नही होता।

सम्यग्दर्शन से पवित्र मनुष्य, ओज, तेज, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और वैभव से सहित उच्च कुलीन, महान अर्थ से सहित श्रेष्ठ मनुष्य होते है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य यादि स्वर्ग जाते है, तो वहाँ अणिमा आदि आठ गुणों की पुष्टि से सतुष्ट तथा सातिशय शोभा से युक्त होते हुए देवाङ्गनाओ के समूह मे चिर काल तक क्रीडा करते है।

सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग से आकर नौ निधि और चौदह रत्नो के स्वामी समस्त भूमि के अधिपति तथा मुकुटबद्ध राजाओ के द्वारा वन्दित चरण होते हुए सुदर्शन चक्र को वर्ताने मे समर्थ होते है—चक्रवर्ती होते है।

"सम्यग्दर्शन के द्वारा पदर्थो का ठीक-ठीक निश्चय करने वाले पुरुष अमरेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र तथा मुनीन्द्रो के द्वारा स्तुतचरण होते हुए लोक के शरण्यभूत तीर्थंकर होते है।

सम्यदृष्टि जीव अन्त में उस मोक्ष को प्राप्त होते है, जो जरा से रहित है, रोग रहित है, जहाँ सुख और विद्या का वैभव चरम सीमा को प्राप्त है तथा जो कर्म मल से रहित है।

जिनेन्द्र भगवान मे भक्ति रखने वाला—सम्यग्दृष्टि भव्य मनुष्य, अपरिमित महिमा से युक्त इन्द्र समूह की महिमा को, राजाओ के मस्तक से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्ररत्न को और समस्त लोक को नीचा करने वाले धर्मेन्द्र चक्र-तीर्थकर के धर्मचक्र को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त होता है।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन और अनेकान्त क्या है ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन और अनेकान्त :—पदार्थ द्रव्य पर्यायात्मक है। अतः उसका निरूपण करने के लिए आचार्यो ने द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय इन दो नयो को स्वीकृत किया है। द्रव्यार्थिक नय मुख्य रूप से द्रव्य का निरूपण करता है और पयायार्थिक नय मुख्य रूप से पर्याय को विषय करता है। अध्यात्मप्रधान ग्रथो के निश्चयनय और व्यवहारनय की चर्चा आती है। निश्चय नय गुण-गुणी के भेद से रहित तथा पर के संयोग से शून्य शुद्ध वस्तुतत्त्व को ग्रहण करता है और व्यवहार नय, गुण-गुणी के भेद रूप तथा पर के सयोग से उत्पन्न अशुद्धता से युक्त वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन करता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा निश्चय और व्यवहार नय के विषय परस्पर विरोधी है। द्रव्यार्थिक नय पदार्थ को नित्य तथा एक कहता है, तो पर्यायार्थिक अनित्य तथा अनेक कहता है। निश्चयनय आत्मा को शुद्ध तथा अभेदरूप वर्णन करता है, तो व्यवहार नय अशुद्ध तथा भेद रूप बतलाता है। नयो के इस विरोध को दूर करने वाला अनेकान्त है। विवक्षावश परस्पर विरोधी धर्मो को गौण मुख्य रूप से जो ग्रहण करता है, उसे अनेकान्त कहते है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य इसी अनेकान्त का आश्रय लेकर वस्तु स्वरूप को समझता है और पात्र की योग्यता देखकर दूसरो को समझाता है। सम्यग्दर्शन के होते ही इस जीव की एकान्त दृष्टि समाप्त हो जाती है। क्योकि निश्चय और व्यवहार के वास्तविक स्वरूप को समझकर दोनो नयो के विषय मे मध्यस्थता को ग्रहण करने वाला मनुष्य ही जिनागम में प्रतिपादित वस्तु स्वरूप को अच्छी तरह समझ सकता है। सम्यग्दृष्टि जीव

निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभास को समझकर उन्हे छोडता है तथा वास्तविक वस्तु स्वरूप को ग्रहण कर कल्याणपथ मे प्रवर्तता है ।

प्रश्न :—सम्यग्दृष्टि की अन्तर्दृष्टि कैसी है ?

उत्तर :—सम्यग्दृष्टि की अतन्दृष्टि—श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है—"सम्यग्दृष्टे र्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्यशक्तिः" सम्यग्दृष्टि जीव के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति प्रगट हो जाती है, इसलिए वह ससार के कार्य करता हुआ भी अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी रखता है । "मै अनन्तज्ञान का पुञ्ज, शुद्ध-रागादि के विकार से रहित चेतन द्रव्य हूँ, मुझ मे अन्य द्रव्य नही है, मै अन्य आत्मा के अस्तित्व मे दिखने वाले रागादिक भाव मेरे स्वभाव नही है ।" इस प्रकार स्वरूप की ओर दृष्टि रखने से सम्यग्दृष्टि जीव, अनन्त ससार के कारणभूत बन्ध से बच जाता है। प्रशम–सवेगादि गुणो के प्रगट हो जाने से उसके कषाय का वेग ईधन रहित अग्नि के समान उत्तरोत्तर घटता जाता है । यहाँ तक कि बुराई होने पर उसकी कषाय का सस्कार छह महीने से ज्यादा नही चलता । यदि छह माह से अधिक कषाय का सस्कार किसी मनुष्य का चलता है, तो उसके अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय है और उसके रहते हुए वह नियम से मिथ्यादृष्टि है ।

अंतोमुहुत्त पक्खो छम्मासं संख संख णंतभवं ।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण ।।गो.क.कां.।।

ऐसा समझना चाहिये ।सम्यग्दृष्टि जीव अपनी वैराग्य शक्ति के कारण सांसारिक कार्य करता हुआ भी जल मे रहने वाले कमलपत्र के समान निर्लिप्त रहता है । वह मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य का त्यागी हो जाता है । भय, आशा, स्नेह या लोभ के वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओ की उपासना नही करता । किसी पर स्वय आक्रमण नही करता । हाँ, किसी के द्वारा अपने ऊपर आक्रमण होने पर आत्मा रक्षा के लिए युद्ध आदि भी करता है । मास-मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थो का सेवन नही करता । तात्पर्य यह है कि सम्यक्दृष्टि की चालढाल ही बदल जाती है ।

अध्याय तीसरा : सम्यग्ज्ञान

प्रश्न :—सम्यग्ज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—मोक्षमार्ग में प्रयोजन भूत जीवाजीवादि सात तत्वों को संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित जानना सम्यग्ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है–जिस प्रकार मेघपटल के दूर होने पर सूर्य का प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रकट हो जाते है, उसी प्रकार मिथ्यात्व का आवरण दूर होने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ प्रगट हो जाते है। यद्यपि ये दोनों एक साथ प्रगट होते है, फिर भी दीपक और प्रकाश के सामान दोनो मे कारण-कार्य भाव है। अर्थात् सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है।

यहाँ प्रश्न उठता है, कि जब पदार्थ का सम्यग्ज्ञान होगा तभी तो श्रद्धा सम्यक् होकर सम्यग्दर्शन हो सकेगा, इसलिए सम्यग्ज्ञान को कारण और सम्यग्दर्शन को कार्य मानना चाहिये ?

उत्तर यह है कि सम्यग्दर्शन होने के पहले इतना ज्ञान तो होता ही है कि जिसके द्वारा तत्त्वस्वरूप का निर्णय किया जा सके, परन्तु उस ज्ञान मे सम्यक्पद का व्यवहार तभी होता है, जब सम्यग्दर्शन हो जाता है। पिता और पुत्र साथ-ही-साथ उत्पन्न होते है, क्योंकि जब तक पुत्र नही हो जाता तब तक उस मनुष्य को पिता नही कहा जा सकता, पुत्र के होते ही पिता कहलाने लगता है। पुत्र होने के पहले वह मनुष्य तो था, पर पिता नही। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के होने के पहले ज्ञान तो रहता है, पर उसे सम्यग्ज्ञान नही कहा जा सकता। सम्यग्ज्ञान का व्यवहार सम्यग्दर्शन के होने पर ही होता है। जिस प्रकार पिता-पुत्र साथ-साथ होने पर भी पिता कारण कहलाता है और पुत्र कार्य, उसी प्रकार साथ-साथ होने पर भी सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य कहलाता है।

यह सम्यग्ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल के भेद से पांच प्रकार का है। इनमें मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहलाते है, क्योकि उनकी उत्पत्ति इन्द्रियादि पर पदार्थो की सहायता से होती है, और अवधि, मन.पर्यय तथा केवल ये तीन प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते है, क्योकि इनकी उत्पत्ति इन्द्रियादि पर पदार्थो

की सहायता से न होकर स्वत होती है । इनमे भी अवधि और मन पर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्षज्ञान कहलाते है, क्योकि सीमित क्षेत्र और सीमित पदार्थो को ही जानते है । परन्तु केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है, क्योकि वह लोकालोक के समस्त पदार्थो को स्पष्ट जानता है ।

प्रश्न :--मतिज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर —मतिज्ञान—जो पाँच इन्द्रियो और मन की सहायता से पदार्थ को जानता है, वह मतिज्ञान कहलाता है । इसके मूल मे अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद होते है । ये चार भेद बहु आदि बारह प्रकार के पदार्थो के होते है, इसलिये बारह मे चार का गुणा करने पर अडतालीस भेद होते है । ये अडतालीस भेद पाच इन्द्रियो और मन के द्वारा होते है । इसलिए अडतालीस मे छह का गुणा करने पर दो सौ अठासी भेद होते है । अवग्रह के व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह इस प्रकार दो भेद है । व्यञ्जनावग्रह अस्पष्ट पदार्थो का अवग्रह चक्षु और मन से नही होता, इसलिए बहु आदि बारह पदार्थो मे चार का गुणा करने पर उनके अडतालीस भेद होते है । अर्थावग्रह के बहत्तर भेद दो सौ अठासी मे व्यजनावग्रह के अडतासील भेद जोड देने से मतिज्ञान के कुल भेद ३३६ होते है । मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध–आदि मतिज्ञान के ही विशिष्ट रूपान्तर है ।

धवला पुस्तक १३, पृष्ट २४०–२४१ पर मतिज्ञान के उत्तर भेदो की चर्चा करते हुए कहा गया है—

'त जहा ४, २४, २८, ३२ एदे पुव्वुप्पाइदे भगे दोसु ट्ठाणेसु ट्ठविय छहि वारसेहि य गुणिएय पुणरुत्तमवणिय परिवाडीए ट्ठइदे सुत्तपरूविदभगपमाण होदि । त च एद—४, २४, २८, ३२, ४८, १४४, १६८, १९२, २८८, ३३६, ३८४ । जत्तिया मदिणाणवियधा तत्तिया चेव आभिविबोहियणाणावरणीयस्स पर्याडवियप्पा त्ति वत्तव्व ।

इसका भावार्थ विशेषार्थ मे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—यहाँ मतिज्ञान के अवान्तर भेदो का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है । मूल मे अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद है । इन्हे पाच इन्द्रिय और मन से गुणित करने पर २४ भेद होते है । इनमे व्यञ्जनावग्रह के ४ भेद मिलाने पर २८ भेद होते है । ये २८ उत्तर भेद है, इसलिये इनमे अवग्रह आदि ४ मूल भग मिलाने पर ३२ भेद होते

है। ये तो इन्द्रियो और अवग्रह आदि की अलग-अलग विवक्षा से भेद हुए। अब जो बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि सृत, अनुक्त और ध्रुव ऐसे ६ प्रकार के पदार्थ तथा इनके प्रतिपक्षभूत छ इतर पदार्थों को मिलाकर बारह प्रकार के पदार्थ बतलाये है, उनसे अलग उक्त विकल्पों को गुणित किया जाता है, जो सूत्रोक्त मतिज्ञान के सभी विकल्प उत्पन्न होते है। यथा—४×६=२४, २४×६=१४४, २६×६=१५६, ४×१२=४८, २४×१२=२८८, २८ १२=३३६ ३२×१२=३८४।

उक्त सन्दर्भानुसार विवक्षावश मतिज्ञान के ३८४ भेद भी होते है। धवला के इसी सदर्भ मे अवग्रह के अवग्रह, अवधान, सान, अवलम्बना और मेधा। ईहा के—ईहा, उहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमासा, अवाय के – अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रत्यामुण्डा तथा धारणा के – धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये एकार्थक पर्यायवाची नाम दिये है। इनका शब्दार्थ धवला से ही ज्ञात करना चाहिये।

प्रश्न :—श्रुतज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर .—श्रुतज्ञान—मतिज्ञान के बाद अस्पष्ट अर्थ की तर्कणाको लिये हुये हुए जो ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते है, यह श्रुतज्ञान पर्याय, पर्याय समास आदि बीस भेदो मे क्रम से वृद्धि को प्राप्त होता है। दुसरी शैली से श्रुतज्ञान के अगबाह्य और अगप्रविष्ट की अपेक्षा दो भेद होते है। इनमे अगबाह्य के अनेक भेद है और अगप्रविष्ट के १ आचाराग, २ सूत्र कृताग, ३ स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्या-प्रज्ञप्ति अग, ६ धर्मकथाग, ७ उपासकाध्ययनांग, ८. अन्तकृद्दशाग, ९. अनुत्तरौपपादिक दशाग, १० प्रश्न व्याकरणाग, ११. विपाक सूत्राग और १२ दृष्टिवादाग ये बारह भेद है। इनमे बारहवे दृष्टिवाद अग के १ परिकर्म, २. सूत्र, ३ प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत और ५ चूलिका इस प्रकार पाच भेद है। परिकर्म के १. चन्द्र प्रज्ञप्ति, २ सूर्य प्रज्ञप्ति, ३ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ४. द्वीपसागर प्रज्ञप्ति और ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति इस प्रकार पाँच भेद है। पूर्वगत के १. उत्पाद पूर्व २. अग्रायणी पूर्व, ३ वीर्यानुवाद पूर्व ४. अस्तिनास्ति पूर्व, ५ ज्ञानप्रवाद पूर्व, ६ सत्यप्रवादपूर्व, ७. आत्मप्रवाद पूर्व, ८ कर्मप्रवाद पूर्व, ९. प्रत्याख्यान पूर्व, १० विद्यानुवाद पूर्व, ११. कल्याणवाद पूर्व, १२. प्राणवाद पूर्व, १३. क्रियाविशाल पूर्व और १४ त्रिलोक बिन्दुसार ये चौदह भेद है। चूलिका के १. जलगता, २. स्थलगता, ३ मायागता. ४. आकाशगता

और ५. रूपगता इस प्रकार पाँच भेद हैं। सूत्र और प्रथमानुयोग के एक-एक ही भेद है। अगबाह्य के १. सामायिक, २. चतुर्विशतिस्तव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६ कृतिकर्म, दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार, १० कल्पाकल्प, ११. महाकल्प, १२. पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक और १४. निषिद्धक ये चौदह भेद है।

इन सबके वर्णनीय विपय तथा पद आदि की सख्या के लिये जीवकाण्ड की श्रुतज्ञान मार्गणा देखना चाहिये।

यह श्रुतज्ञान स्वार्थ और पदार्थ की अपेक्षा दो प्रकार का है। उनमे परार्थ श्रुतज्ञान द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूतनय, अर्थनय, शब्दनय, निश्चयनय तथा व्यवहारनय आदि भेदो को लिये हुए अनेक नय रूप है।

समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे सम्यग्ज्ञान का अधिक विस्तार न कर मात्र श्रुतज्ञान को मुख्यता देते हुए समस्त शास्त्रो को १. प्रथमानुयोग, २. करणानुयोग, ३. चरणानुयोग और ४. द्रव्यानुयोग के भेद से चार अनुयोगो में विभक्त किया है। मनुष्य इन चार अनुयोगो का अभ्यास कर अपने श्रुतज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान को पुष्ट कर सकता है। अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान तो तत्तत् आवरणो का अभाव होने पर स्वय प्रगट हो जाते है, उनमे मनुष्य का पुरुषार्थ नही चलता है, सिर्फ अनुयोगात्मक श्रुतज्ञान मे पुरुषार्थ चलता है। अत आलस्य छोडकर चारो अनुयोगो का अभ्यास करना चाहिये।

प्रश्न :—अवधिज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—अवधिज्ञान—परपदार्थो की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिये हुए रूपी पदार्थो को जो स्पष्ट जाने उसे अवधिज्ञान कहते है। यह अवधिज्ञान, भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय के भेद से दो प्रकार का होता है। भवप्रत्यय नाम का अवधिज्ञान देव और नारकियो के होता है, मनुष्यो मे तीर्थकरो के भी होता है। सर्वांग से होता है। गुण प्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्य सज्ञी और पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यञ्चो के होता है। यह नाभि के ऊपर स्थित शखादि चिह्नो से होता है। इसके अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित इस प्रकार छ भेद होते है। इनकी परिभाषाएँ नामो से स्पष्ट है। भवप्रत्यय और

गुणप्रत्यय—दोनों ही अवधिज्ञानो में अन्तरंग कारण अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है। इनके सिवाय अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद और होते हैं। ऊपर कहा हुआ भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि के अन्तर्गत होता है। देशावधि चारो गतियो में हो सकता है, परन्तु परमावधि और सर्वावधि चरम शरीरी मुनियों के ही होते है। देशावधिज्ञान प्रतिपाती है, शेष दो ज्ञान अप्रतिपाती है। इन्हें धारण करने वाले मुनि मिथ्यात्व और असयम अवस्था को प्राप्त नही होते। इन तीनो अवधिज्ञानो का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट विषय आगम से जानना चाहिये। गुणप्रत्यय का दूसरा नाम क्षयोपशम निमित्तक भी है।

मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान यदि सम्यग्दर्शन के साथ होते है, तो सम्यग्ज्ञान कहलाते है।

प्रश्न :—मनः पर्ययज्ञान का क्या स्वरूप हैं ?

उत्तर :—मन. पर्ययज्ञान—इन्द्रियादिक की सहायता के बिना दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थो को जो द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुए स्पष्ट जानता है, उसे मनःपर्ययज्ञान कहते है। यह ज्ञान मुनियो के ही होता है, गृहस्थो के नही इसके दो भेद है—एक ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति, सरल मन-वचन-काय से चिन्तित, पर के मन में स्थित, रूपी पदार्थ को जानता है और विपुलमति सरल तथा कुटिल रूप मन-वचन-काय से चिन्तित पर के मन में स्थित रूपी पदार्थ को जानता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मे विशुद्धि अधिक होती है। ऋजुमति सामान्य मुनियो को भी हो जाता है, परन्तु विपुलमति उन्ही मुनियों के होता है, जो उपरितन गुणस्थानो से गिर कर नीचे नही आते। तथा तद्भव मोक्षगामी होते है। इसके दोनो भेदो का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट विषय आगम ग्रन्थो से जानना चाहिये। मन पर्ययज्ञान ईहा-मतिज्ञानपूर्वक होता है। इसका अन्तरंग कारण मन.पर्ययज्ञान का क्षयोपशम है।

प्रश्न :—केवलज्ञान का क्या स्वरूप हैं ?

उत्तर :—केवलज्ञान—जो वाह्य पदार्थो की सहायता के विना लोकालोक के समस्त पदार्थो को उनकी त्रिकाल सम्बन्धी अनन्त पर्यायो के साथ स्पष्ट जानता है, उसे केवलज्ञान कहते है। इसकी उत्पत्ति मोहनीय तथा शेष तीन घातिया कर्मो के

क्षय होने पर तेरहवे गुणस्थान मे होती है। यह क्षायिक ज्ञान कहलाता है और तद्भव मोक्षगामी मनुष्यो के ही होता है। इसे सकल प्रत्यक्ष भी कहते है। यह ज्ञान-गुण की सोंवत्कृष्ट पर्याय है तथा सादि अनन्त है, इसे प्राप्त कर मनुष्य देशोनकोटि वर्ष पूर्व के भीतर नियम से मोक्ष चला जाता है। यह ज्ञान इच्छा के बिना ही पदार्थो को जानता है।

अप्पा झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण
गुरु के प्रसाद से आत्मा को जानकर नित्य उसका ध्यान करना चाहिए।

—मोक्ष पाहुड, गाथा ६४

परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो सुग्गई।
पर द्रव्य के आश्रय से दुर्गति (चतुर्गति) तथा स्व द्रव्य से सुगति (मोक्ष) होती है।

—मोक्ष पाहुड, गाथा १६

सगदव्वमुवादेयं।
अपना आत्मा उपादेय है।

—नियमसार, गाथा ५०

अप्पा सपरपयासो होदि
आत्मा स्व-पर प्रकाशक होता है।

—नियमसार, गाथा १३१

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झ ण केणवि।
सभी जीवो के प्रति मेरी समता है, मेरा किसी से वैर नही है।

—नियमसार, गाथा १०४

अध्याय : चौथा * प्रमाण-नय

प्रश्न :—प्रमाण और नय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—प्रमाण और नय–तत्त्वार्थ सूत्रकार ने जीवाजीवादि तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शनादि गुणो के जानने के उपायों की चर्चा करते हुए 'प्रमाण नयैरधिगमः' इस सूत्र द्वारा प्रमाण और नयो का उल्लेख किया है। जो वस्तु मे रहने वाले अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि समस्त धर्मों को एक साथ ग्रहण करता है, उसे प्रमाण कहते है और जो उपर्युक्त धर्मों को गौण-मुख्य करता हुआ क्रम से ग्रहण करता है, उसे नय कहते है। प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष की अपेक्षा दो भेद है। प्रत्यक्ष भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और परमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। अवधिज्ञान और मन.पर्ययज्ञान ये दो ज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष कहलाते है और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है। उपरोक्त सर्व प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रश्न .—परोक्षप्रमाण के कितने भेद हैं ?

उत्तर .—परोक्षप्रमाण के पाच भेद होते है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

प्रश्न :—स्मृति किसको कहते हैं ?

उत्तर :—पहले ज्ञात या दृष्ट पदार्थ के याद (स्मरण) को स्मृतिज्ञान कहते है।

प्रश्न :—प्रत्यभिज्ञान किसको कहते हैं ?

उत्तर :—स्मृति और प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थो के जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते है। जैसे यह वही मनुष्य है, जिसे कल देखा था।

प्रश्न :—प्रत्यभिज्ञान के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान आदि अनेक भेद है।

प्रश्न :—एकत्व प्रत्यभिज्ञान किसको कहते हैं ?

उत्तर .—स्मृति और प्रत्यक्ष के विषय भूत पदार्थ में एकता दिखाते हुये जोडरूप ज्ञान को एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते है। जैसे यह वही मनुष्य है, कल देखा था।

प्रश्न :—सादृश्य प्रत्यभिज्ञान किसको कहते हैं ?

उत्तर :—स्मृति और प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थों मे सादृश्य दिखाते हुए जोडरूप ज्ञान को सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते है। जैसे—यह गौ गवय के (रोझ के) सदृश है।

प्रश्न :—तर्क किसको कहते हैं ?

उत्तर :—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते है।

प्रश्न :—व्याप्ति किसको कहते है ?

उत्तर —अविनाभावसम्बन्ध को व्याप्ति कहते है।

प्रश्न :—अविनाभाव सम्बन्ध किसको कहते है ?

उत्तर —जहाँ-जहाँ साधन (हेतु) होय, वहाँ-वहाँ साध्य का होना और जहाँ-जहाँ साध्य नही होय, वहाँ-वहाँ साधन के भी न होने को अविनाभाव सम्बन्ध कहते है। जैसे—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है और जहाँ-जहाँ अग्नि नही है, वहाँ-वहाँ धूम भी नही है।

प्रश्न :—साधन किसको कहते है।

उत्तर .—जो साध्य के बिना नही होता। जैसे अग्नि का हेतु (साधन) धूम।

प्रश्न :—साध्य किसको कहते हैं ?

उत्तर —इष्ट, अबाधित, असिद्ध को साध्य कहते है।

प्रश्न :—इष्ट किसको कहते है ?

उत्तर :—वादी और प्रतिवादी जिसको सिद्ध करना चाहे, उसे इष्ट कहते है।

प्रश्न :—अबाधित किसको कहते है ?

उत्तर :—जो दूसरे प्रमाण से बाधित नही होता। जैसे—अग्नि का ठडापन प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। इस कारण यह ठडापन साध्य नही हो सकता।

प्रश्न :—असिद्ध किसको कहते है ?

उत्तर :—जो दूसरे प्रमाण से सिद्ध नही होता, उसे असिद्ध कहते है अथवा जिसका निश्चय नहीं होता, उसे असिद्ध कहते है।

प्रश्न :—अनुमान किसे कहते है ?

उत्तर :—साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते है।

प्रश्न :—हेत्वाभास (साधनाभास) किसे कहते है ?

उत्तर :—सदोष हेतु को हेत्वाभास कहते है ।

प्रश्न :—हेत्वाभास के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—हेत्वाभास के चार भेद है—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक (व्यभिचारी) और अकिञ्चितकर ।

प्रश्न :—असिद्ध हेत्वाभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस हेतु के अभाव (गैर मौजूदगी) का निश्चय होता है अथवा जिसके सद्भाव मे (मौजूदगी मे) सदेह (शक) होता है, उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते है । जैसे "शब्द नित्य है, क्योकि नेत्र का विषय है ।" परन्तु शब्द कर्ण का विषय है, नेत्र का नही हो सकता इस कारण "नेत्र का विषय" यह हेतु असिद्ध हेत्वाभास है ।

प्रश्न :—विरुद्ध हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर —साध्य से विरुद्ध पदार्थ के साथ जिसकी व्याप्ति होती है, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं । जैसे 'शब्द नित्य है, क्योकि – परिणामी है' इस अनुमान में परिणामी की व्याप्ति अनित्य के साथ है, नित्य के साथ नही है । इसलिये नित्यत्व का 'परिणामी हेतु' विरुद्ध हेत्वाभास है ।

प्रश्न —अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हेत्वाभास किसे कहते है ?

उत्तर —जो हेतु पक्ष, सपक्ष, विपक्ष इन तीनो में व्यापता है, उसको अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं । जैसे—इस कोठे मे धूम है, क्योकि इसमे अग्नि है । यहाँ अग्नि हेतु पक्ष, सपक्ष, विपक्ष तीनो मे व्याप्त होने से अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।

प्रश्न :—पक्ष किसको कहते हैं ।

उत्तर :—जहाँ साध्य के रहने का शक होता है । जैसे ऊपर के दृष्टान्त में कोठा ।

प्रश्न :—सपक्ष किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जहाँ साध्य के सद्भाव (मौजूदगी) का निश्चय होता है । जैसे—धूम का सपक्ष गीले (ईंधन) से मिली हुई अग्निवाला रसोई घर ।

प्रश्न :—विपक्ष किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जहाँ साध्य के अभाव (गैर मौजूदगी) का निश्चय हो। जैसे—अग्नि से तपा हुवा लोहे का गोला।

प्रश्न :—अकिञ्चितकर हेत्वाभास किसे कहते है ?

उत्तर :—जो हेतु कुछ भी कार्य (साध्य की सिद्धि) करने मे समर्थ नही होता।

प्रश्न :—अकिञ्चितकर हेत्वाभास के कितने भेद हैं ?

उत्तर —दो है—एक सिद्ध साधन, दूसरा बाधित विषय।

प्रश्न :—सिद्ध साधन किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जिस हेतु का साध्य सिद्ध हो। जैसे—अग्नि गर्म है, क्योकि स्पर्शन इन्द्रिय से ऐसा ही प्रतीत होता है।

प्रश्न :—बाधित विषय हेत्वाभास किसको कहते है ?

उत्तर :—जिस हेतु के साध्य मे दूसरे प्रमाण से बाधा आवे।

प्रश्न :—बाधित विषय हेत्वाभास के कितने भेद है ?

उत्तर :—प्रत्यक्ष बाधित, अनुमान बाधित, आगम बाधित, स्ववचन बाधित आदि अनेक भेद है।

प्रश्न :—प्रत्यक्ष बाधित किसको कहते है ?

उत्तर :—जिस हेतु के साध्य में प्रत्यक्ष से बाधा आती है, जैसे 'अग्नि ठण्डी है, क्योकि यह द्रव्य है' तो यह हेतु प्रत्यक्ष बाधित है।

प्रश्न :—अनुमान बाधित किसको कहते है ?

उत्तर :—जिस हेतु के साध्य में अनुमान से बाधा आती है, जैसे – घास आदि कर्त्ता के बनाये हुवे है, क्योकि ये कार्य है। परन्तु इसमे इस अनुमान से बाधा आती है कि घास आदि किसी की बनाई हुई नही है, क्योकि इनका बनाने वाला शरीरधारी है। जो-जो शरीरधारी की बनाई हुई नही है, वे-वे वस्तुएँ कर्त्ता की बनाई हुई नही है, जैसे—आकाश।

प्रश्न .—आगम बाधित किसको कहते है।

उत्तर :—शास्त्र से जिसका साध्य बाधित होता है, उसे आगम बाधित कहते है। जैसे–पाप सुख को देने वाला है, क्योकि यह कर्म है। जो-जो कर्म होते है, वे-वे सुख देने वाले होते है, जैसे—पुण्यकर्म। इसमें शास्त्र से बाधा आती है। क्योकि शास्त्र मे पाप को दु ख देने वाला लिखा है।

प्रश्न :—स्व वचन बाधित किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जिसके साध्य से अपने वचन से ही बाधा आती है। जैसे—मेरी माता वन्ध्या है, क्योकि पुरुष का संयोग होने पर भी उसके गर्भ नही रहता।

प्रश्न :—अनुमान के कितने अङ्ग है ?

उत्तर :—पांच है। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

प्रश्न :—प्रतिज्ञा किसको कहते है ?

उत्तर :—पक्ष और साध्य के कहने को प्रतिज्ञा कहते है। जैसे—इस पर्वत में अग्नि है।

प्रश्न :—हेतु किसको कहते है ?

उत्तर—साधन के वचन (कथन) को हेतु कहते है। जैसे—क्योंकि यह धूमवान है।

प्रश्न :—उदाहरण किसको कहते है ?

उत्तर :—व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त के कहने को उदाहरण कहते है। जैसे—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है। जैसे—रसोई घर। और जहाँ-जहाँ अग्नि नही है, वहाँ-वहाँ धूम भी नही है। जैसे तालाब।

प्रश्न :—दृष्टान्त किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जहाँ पर साध्य और साधन की मौजूदगी या गैरमौजूदगी दिखाई जाती है। जैसे—रसोई घर अथवा तालाब।

प्रश्न :—दृष्टान्त के कितने भेद हैं ?

उत्तर —दो है—एक अन्वय दृष्टान्त, दूसरा व्यतिरेक दृष्टान्त।

प्रश्न :—अन्वय दृष्टान्त किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जहाँ साधन की मौजूदगी में साध्य की मौजूदगी दिखाई जाती है। जैसे—रसोई के घर में धूम का सद्भाव होने पर अग्नि का सद्भाव दिखाया गया।

प्रश्न :—व्यतिरेक दृष्टान्त किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जहा साध्य की गैर मौजूदगी में साधन की गैर मौजूदगी दिखाई जाती है। जैसे—तालाब मे धूम।

प्रश्न :—उपनय किसको कहते हैं ?

उत्तर .—पक्ष और साधन में दृष्टान्त की सदृशता दिखाने को उपनय कहते है। जैसे – यह पर्वत भी वैसा ही धूमवान् है।

प्रश्न :—निगमन किसको कहते हैं ?

उत्तर .—नतीजा निकालकर प्रतिज्ञा के दोहराने को निगमन कहते हैं। जैसे—इसलिये यह पर्वत भी अग्निमान है।

प्रश्न :—हेतु के कितने भेद है ?

उत्तर :—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी।

प्रश्न :—केवलान्वयी हेतु किसको कहते हैं ?

उत्तर —जिस हेतु मे सिर्फ अन्वय दृष्टान्त होता है। जैसे—जीव अनेकान्त स्वरूप है, क्योकि सत्स्वरूप है। जो-जो सत्स्वरूप होता है, वह अनेकान्त स्वरूप होता है। जैसे—पुद्गलादिक।

प्रश्न :—केवलव्यतिरेकी हेतु किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जिसमे सिर्फ व्यतिरेक दृष्टान्त पाया जाता है। जैसे—जिन्दे शरीर मे आत्मा है। क्योकि इसमे श्वासोच्छवास है। जहां-जहा आत्मा नही होता, वहां-वहा श्वासोच्छवास भी नही होता। जैसे – चौकी वगैरह।

प्रश्न :—अन्वय व्यतिरेकी हेतु किसको कहते है ?

उत्तर —जिसमे अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त दोनो होते है। जैसे– पर्वत मे अग्नि है। क्योकि इसमे धूम है। जहा-जहा धूम है, वहा-वहा अग्नि होती है। जैसे—रसोई का घर। जहा-जहा अग्नि नही होती, वहा-वहा धूम भी नही होता। जैसे—तालाब।

प्रश्न :—आगम प्रमाण किसको कहते है ?

उत्तर .—आप्त के वचन आदि से उत्पन्न हुए पदार्थ के ज्ञान को आगमप्रमाण कहते है।

प्रश्न :—नयके मुख्य रूप से कितने भेद हैं ?

उत्तर '—दो भेद है, द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय।

प्रश्न :—द्रव्यायार्थिक नय किसका कहते है ?

उत्तर —जो नय द्रव्य अर्थात सामान्य को ग्रहण करता है।

प्रश्न :—द्रव्यायार्थिकनय के कितने भेद है ?

उत्तर :—तीन है—नैगम, सग्रह, व्यवहार ।

प्रश्न :—पर्यायार्थिकनय किसको कहते हैं ? और कितने भेद हैं ?

उत्तर :—जो नय को विशेष (गुण अथवा पर्याय) को विषय करता है । इसके चार भेद है, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत ।

प्रश्न :—नैगमनय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जो नय अनिष्पन्न अर्थ के संकल्पमात्र को ग्रहण करता है, उसे नैगमनय कहते है । जैसे – लकड़ी, पानी आदि सामग्री इकट्ठी करने वाले मनुष्य से कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हो ? तो वह उत्तर देता है कि मैं भात पका रहा हू । किन्तु उस समय वह भात पकाने की तैयारी कर रहा है, पर उसका सकल्प भात बनाने का है, अत जो पर्याय अभी निष्पन्न नही हुई, उसे वहा निष्पन्न मानकर व्यवहार करता है, यह नैगमनय है ।

प्रश्न :—संग्रहनय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जो नय अपनी जाति का विरोध नही करके एकपने से समस्त पदार्थो को ग्रहण करता है, उसे सग्रहनय कहते है । जैसे—द्रव्य कहने से समस्त द्रव्यों का, जीव कहने से समस्त जीवो का और पुद्गल कहने से समस्त पुद्गलो का ग्रहण होता है ।

प्रश्न :—व्यवहारनय किसको कहते है ?

उत्तर :—जो नय सग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये हुये पदार्थो का विधिपूर्वक भेद करता है, उसे व्यवहारनय कहते है । जैसे द्रव्य के छह भेद करना । जीव के ससारी और मुक्त आदि भेद करना तथा पुद्गल के परमाणु और स्कन्ध आदि भेद करना । यह नय वहा तक भेद करता है, जहां तक भेद हो सकते है ।

प्रश्न :—ऋजुसूत्र नय किसको कहते हैं ?

उत्तर .—भूत और भावी पर्याय को छोडकर जो वर्तमान स्थूल पर्याय को ही ग्रहण करता है, उसे ऋजुसूत्र नय कहते है ।

प्रश्न :—शब्दनय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जो नय लिग, संख्या, कारक आदि के व्यभिचार को दूर करता है, उसे शब्दनय कहते है । यह नय लिगादिक के भेद से पदार्थ को भेदरूप ग्रहण

करता है। जैसे – दार (पु०), भार्या (स्त्री), कलत्र (पु०) ये तीनो शब्द भिन्न लिग वाले होकर भी एक ही स्त्री पदार्थ के वाचक है। परन्तु यह नय स्त्री पदार्थ को लिग के भेद से तीन भेदरूप मानता है।

प्रश्न :—समभिरूढ-नय किसको कहते है ?

उत्तर —जो नय नाना अर्थो का उल्लघन कर रूढि से एक अर्थ को ग्रहण करता है, उसे समभिरूढ नय कहते है। यह नय पर्याय के भेद से अर्थ को भी भेदरूप ग्रहण करता है—जैसे – इन्द्र, शक्र. पुरन्दर ये तीनो शब्द, इन्द्र के नाम है, परन्तु यह नय इन तीनो के भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करता है।

प्रश्न :—एवम्भूत-नय किसको कहते हैं ?

उत्तर '—जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ है, उसी क्रियारूप परिणमे हुये पदार्थ को जो नय ग्रहण करता है, उसे एवम्भूत नय कहते है। जैसे – पूजारी को पूजा करते समय ही पूजारी कहना। इन नयो का विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्म होता जाता है। ये नय परस्पर सापेक्ष होते है, निरपेक्ष नय मिथ्या माने जाते है।

प्रश्न :—व्यवहार-नय उपनय के कितने भेद है ?

उत्तर .—सद्भूत व्यवहार नय, असद्भूत व्यवहार नय और उपचरित व्यवहार नय अथवा उपचरितासद्भूत व्यवहार नय।

प्रश्न :—सद्भूत व्यवहार-नय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—एक अखड द्रव्य को भेदरूप विषय करने वाले ज्ञान को सद्भूत व्यवहार नय कहते है। जैसे – जीव के केवल ज्ञानादिक या मति ज्ञानादिक गुण।

प्रश्न :—असद्भूत व्यवहार-नय किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जो मिले हुए भिन्न पदार्थो को अभेदरूप ग्रहण करता है। जैसे – यह शरीर मेरा है अथवा मिट्टी के घड़े को घी का घडा कहना।

प्रश्न .—उपचरित व्यवहार-नय अथवा उपचरित असद्भूत व्यवहार-नय किसको कहते हैं ?

उत्तर —अत्यन्त भिन्न पदार्थो को जो भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे – हाथी, घोडा, महल, मकान मेरे है इत्यादि।

प्रश्न —नय किसको कहते है ?

उत्तर —वस्तु के एक देश को जानने वाले ज्ञान को नय कहते है ।

प्रश्न :—नय के कितने भेद है ?

उत्तर —दो है, एक निश्चय नय, दूसरा व्यवहार नय अथवा उपनय ।

प्रश्न :—निश्चय-नय किसको कहते है ?

उत्तर —वस्तु के किसी असली अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को निश्चय नय कहते है । जैसे – मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा कहना ।

प्रश्न —व्यवहार-नय किसको कहते है ?

उत्तर —किसी निमित्त के वश से एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ रूप जानने वाले ज्ञान को व्यवहार नय कहते है । जैसे मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना ।

प्रश्न —निक्षेप किसको कहते हैं ?

उत्तर —युक्ति करके सुयुक्त मार्ग होते हुए कार्य के वश से नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव मे पदार्थ के स्थापन को निक्षेप कहते है ।

प्रश्न —निक्षेप के कितने भेद है ?

उत्तर —नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप ।

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यास. ।।५।।३०।। मोक्षशास्त्र, अध्याय १

प्रश्न —नाम निक्षेप किसको कहते है ?

उत्तर —गुण, जाति, द्रव्य और क्रिया की अपेक्षा के विना लोक व्यवहार के लिये किसी का कोई नाम रखने को नाम निक्षेप कहते है । जैसे – किसी माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम 'इन्द्र' रखा । किन्तु उस पुत्र मे इन्द्र का कोई गुण नही होता । अत वह पुत्र नाममात्र से इन्द्र है, वास्तव मे इन्द्र नही । **स्थापना निक्षेप** – धातु, काष्ठ, पाषाण आदि के चित्र या मूर्ति तथा अन्य पदार्थ मे 'यह वह है' इस प्रकार कल्पना करना स्थापना निक्षेप है । स्थापना दो प्रकार की होती है । तदाकार और अतदाकार । उसी आकार वाले में उसी आकार वाले की कल्पना करना तदाकार स्थापना कहलाती है । जैसे – इन्द्राकार मूर्ति मे इन्द्र की कल्पना करना । भिन्न आकार वाले पदार्थ में भिन्न आकार वाले की कल्पना करना अतदाकार स्थापना कहलाती है । जैसे – सतरंज की गोटी । (मोहर) में बादशाह और वजीर वगैरह की कल्पना करना ।

प्रश्न --द्रव्य निक्षेप किसको कहते है ?

उत्तर '—भूत और भविष्यत् पर्याय की मुख्यता लेकर वर्तमान मे कहना द्रव्यनिक्षेप है। जैसे इन्द्र की मूर्ति बनाने के लिये जो पाषाण या काष्ठ लाया गया हो, उसे इन्द्र कहना। या मुनीमी छोड देने पर भी किसी को मुनीम कहना ?

प्रश्न .—भावनिक्षेप किसको कहते हैं ?

उत्तर '—वर्तमान पर्याय युक्त वस्तु को भावनिक्षेप कहते है। जैसे – देवो के स्वामी साक्षात् इन्द्र को इन्द्र कहना।

प्रश्न :--देशविरत गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर .—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से सयमभाव रहित, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उपशम से श्रावक के व्रतरूप देश चारित्र सहित परिणाम को देश विरत नामक पचम गुणस्थान कहते है। चतुर्थ और पचम आदि ऊपर के समस्त गुणस्थानो मे सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन का अविनाभावी सम्यग्ज्ञान अवश्य होता है। इसके बिना पचम और षष्ठ आदि गुणस्थान नही होते है। प्रथम तो चतुर्थ गुणस्थान में ही, अष्ट मूलगुणो का धारण, सप्त व्यसन का त्याग, रात्री भोजन का त्याग, अन्याय अभक्ष का त्याग होता है। किन्तु व्रतरूप सयम तो पचम गुणस्थान देश चारित्र मे ही होता है। इसीलिये इस गुणस्थान का नाम देश चारित्र है।

नोट :—इस गुणस्थान मे चारित्र का आशिक पारम्भ देखा जाता है। हमने चारित्र अधिकार अलग से बनाया है, जो क्रमश· पठनीय है।

अध्याय : पंचम [चारित्र]

निश्चयरत्नत्रय का स्वरूप तो एसा है कि परद्रव्य से सर्वथा भिन्न अपने को समझना सम्यग्दर्शन है और अपने स्वरूप को जानना, सम्यग्ज्ञान है। अपने आत्मा मे लीन रहना सम्यक्चारित्र है। यहां व्यवहार चारित्र का वर्णन कर रहे है।

प्रश्न :—व्यवहार चारित्र के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—दो है। सकल चारित्र और विकल चारित्र।

प्रश्न :—चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर :—हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापो की प्रणालियो से निवृत्ति होने को चारित्र कहते है। इन पाच पापो का सर्वथा त्याग करना सकल चारित्र है। और पाच पापो का एकदेश त्याग करना विकल चारित्र है। यह परिग्रह सहित गृहस्थों के होते है। सम्यक् चारित्र की उत्पत्ति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही होती है। इसके बिना जो चारित्र होता है, वह मिथ्या चारित्र है। चारित्र की उत्पत्ति का क्रम और प्रयोजन बताते हुए समतभद्र स्वामी ने कहा है।

मोहतिमिरापहरणे, दर्शन लाभादवाप्त संज्ञानं।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥३१॥रत्नक.श्रा.

मिथ्यादर्शन रूपी अन्धकार के नष्ट हो चुकने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है, ऐसा साधु पुरुष राग द्वेष की निवृत्ति के लिये चारित्र को प्राप्त होता है। मूलतः चारित्र को धारण करने का प्रयोजन ही रागद्वेष की निवृत्ति करना है। जिसने चारित्र धारण करके भी राग द्वेष को दूर नही किया परमार्थ से उसे चारित्र प्राप्त ही नही हुवा है। ऐसा समझना चाहिये।

प्रश्न :—विकल चारित्र का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—अप्रत्याख्यानावरण, क्रोध, मान, माया, लोभ का अनुदय होने से जो पांच पापो का एकदेश त्याग होता है, वह विकल चारित्र है।

प्रश्न :—विकल चारित्र के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—मूलरूप में इसके अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत ब्रह्मचर्या-

ण वृत और परिग्रह परमाणाणुव्रत इस प्रकार पाच ये और इन अणुव्रतो की रक्षा के लिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के भेद से सात शील वृत होते है। इस तहर सब मिलाकर विकल चारित्र के बारह भेद है।

वैसे तो आचार्यो ने विकल चारित्र को ग्यारह प्रतिमा रूप मे विभक्त किया है।

प्रश्न :—ग्यारह प्रतिमाओं के क्या नाम है ?

उत्तर :—दर्शन प्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिकप्रतिमा, प्रोषधप्रतिमा, सचित त्यागप्रतिमा, रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा, ब्रह्मचर्यप्रतिमा, आरम्भत्यागप्रतिमा, परिग्रह त्यागप्रतिमा, अनुमति त्यागप्रतिमा और उद्दिष्ट त्यागप्रतिमा—ये ग्यारह प्रतिमाओ के नाम है।

दंसण वय सामाइय, पोसह सचित्त राय भत्तेय।
बंभारंभ परिग्ग अण्णुमणमुद्दिट्ठ देश विरदोय ॥१॥

चारित्र पाहुड॥२२॥

प्रश्न :—दर्शनप्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है और ससार, शरीर और भोगो से विरक्त है, पञ्च परमेष्ठियो के चरणो की शरण जिसे प्राप्त हुई है तथा आठ मूलगुणो को जो धारण कर रहा है, वह दर्शनिक श्रावक है।

सम्यग्दर्शन शुद्ध संसार शरीर भोगनिर्विण्णः।
पञ्चगुरु चरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्व पथगृह्यः ॥१६॥३३॥

रत्नकरंड श्रावका०अ० ५।

जो निरतिचार सम्यग्दर्शन को पालता है, परन्तु व्रतो से सर्वथा रहित है वह अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है। यही जीव जब अष्ट मूलगुणो को अतिचार रहित धारण करता है तथा सप्त व्यसनो का सातिचार त्याग करता है, तब पाक्षिक श्रावक कहलाता है। असयत सम्यग्दृष्टि तथा पाक्षिक श्रावक ये दोनो ही चतुर्थगुण स्थानवर्ती है। इसके आगे जब यह सम्यग्दृष्टि ससार, शरीर और भोगो से विरक्त होकर व्रत धारण करने के क्षेत्र मे अग्रसर होता है।

तथा मद्य, मास और मधु के त्याग के साथ अहिसाणुव्रत आदि पाच अणुव्रतो

का धारक होता है और पच परमेष्ठियो की अखण्ड श्रद्धा रखता है, तब यह दर्शनिक श्रावक कहलाता है। यहा से पञ्चम गुणस्थान का प्रारम्भ होता है। यह नैष्ठिक श्रावक का पहला भेद है।

प्रश्न :—व्रतप्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो शल्य रहित होता हुवा अतिचार रहित पांचो अणुव्रतों को और सातो शीलों को धारण करता है, वह व्रतियो के मध्य में व्रतिक श्रावक व्रतप्रतिमा धारी माना गया है।

निरतिक्रमणमणुव्रत पञ्चकमपि शील सप्तकं चापि।
धारयते नि.शल्यो योऽसौ व्रतीनां मतो व्रतिकः ॥३४॥

पहली प्रतिमा मे तीन शल्यो का अभाव नही हुवा था तथा अणुव्रतों में कदाचित अतिचार लगते थे, परन्तु दूसरी प्रतिमा में आते ही इसकी तीनो शल्ये छुट जाती है, और पांच अणुव्रतो का निरतिचार पालन होने लगता है। तीन गुणव्रतो और चार शिक्षाव्रतो का भी यह पालन करता है, परन्तु इनके पालन में कदाचित् अतिचार लगते है। यह व्रतिक श्रावक कहलाने लगता है।

प्रश्न :—शल्य कितनी और उनका क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—शल्य तीन प्रकार की है मायाशल्य, मिथ्याशल्य और निदान-शल्य। जो आत्मा को काटे की तरह दु.ख देती है, उसे शल्य कहते है।

मायाशल्य—छल, कपट करना। मिथ्याशल्य–तत्त्व श्रद्धा का अभाव। निदानशल्य–आगामी काल मे विषयो की बाछा करना,.ये तीनो प्रकार की शल्ये व्रती श्रावक को नही होती और अगर तीनो मे से एक भी होगी तो व्रतप्रतिमाधारी नही है

प्रश्न '—अणुव्रत किस को कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर '—हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और मूर्च्छा (परिग्रह) इन स्थुल पापो से विरत होना अणुव्रत है।

प्राणातिपातवितथ व्याहारस्तेयकाममूर्च्छाभ्यः।
स्थुलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति ॥३५॥

जिनके सयोग से जीव जीवित और वियोग से मृत कहलाता है, उन्हें प्राण कहते है, इनके द्रव्य प्राण और भाव प्राण की अपेक्षा दो भेद है। स्पर्शनादि पांच

इन्द्रिया, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश द्रव्य प्राण कहलाते है। और ज्ञान, दर्शनादि गुण, भावप्राण कहलाते है। इन प्राणो के अतिपात–घात करने को प्राणातिपात कहते है, इसका प्रचलित नाम हिसा है। जो वस्तु जैसी नही है, उसे उस प्रकार कहना वितथव्याहार–असत्य भाषण है। इसके सदपलापु, असदुद्भावन, अन्य रूपाभिधान तथा गर्हितादि वचन के भेद से चार भेद है। अदत्त वस्तु का ग्रहण-स्तेय है।

स्मरणंकीर्तनंकेलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
सकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृति रेव च ।।३६।।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्ट लक्षणम् ।।३७।।

अर्थ :—स्मरण, कीर्तन, क्रीडा (हासपरिहास), प्रेक्षण, गुह्य भाषण, संकल्प अध्यवसाय और क्रियानिवृति (मैथुन मे प्रवृत्ति) इन आठ प्रकार के मैथुनो मे प्रवृत्ति होना काम या कुशील कहलाता है। तथा धन्य धान्यादि पदार्थो मे ममता भाव रूप परिणाम होना मूर्च्छा है। इसे ही परिग्रह कहते है। लोक मे ये पाचो कार्य पाप कहे जाते है, इनकी स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार की परिणति होती है। आम जनता में जो पाप स्वीकृत किया गया है, और जिसके करने पर राजकीय तथा सामाजिक दण्ड प्राप्त होता है, उन्हे स्थूल पाप कहते है। एसे स्थूलपापो से निवृत्ति होना अणुव्रत कहलाता है। गृहस्थ उक्त पापो का त्याग कर सकता है।

प्रश्न :—अहिंसाणुव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो तीनो योगो के कृत, कारित, अनुमोदना सकल्क से त्रस जीवो को नही मारता उसे हिसादि पापो के त्यागरूप व्रत के विचार करने मे समर्थ मनुष्य स्थूल हिसा का त्याग अर्थात् अहिसा अणुव्रत कहलाता है।

सङ्कल्पात्कृत कारित मननाद्योग त्रयस्य चर सत्त्वान् ।
नाहिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ।।३८।।

सकल्पी, आरम्भी, उद्यमी और विरोधी के भेद हिसा चार की मानी गई है। मैं इस जीव को मारू, इस प्रकार के विचार से बलिदान आदि के समय जो हिसा होती है, उसे सकल्पी हिसा कहते है। गृहस्थी सम्बन्धी अन्य कार्य करने मे जो

हिसा होती है, उसे आरम्भी हिंसा कहते है। खेती तथा अन्य उद्योगो से होने वाली हिंसा भी उद्यमी हिसा है। और शत्रु से अपना बचाव करने के लिए जो हिसा होती है, उसे विरोधिहिंसा कहते है। इन चार प्रकार की हिसाओं में से अहिसाणु-व्रती जीवमाण सकल्पी हिसा का त्याग कर पाता है। शेष तीन हिसाओं का नही और वह भी मात्र त्रसजीवो की हिंसा का। सामान्य रूप से हिसादि पापों का त्याग मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना के भेद से नौ प्रकार का होता है। परन्तु यह गृहविरत गृहस्थ के ही सभव हो सकता है। गृहनिरत गृहस्थ के नही। गृहनिरत–घर मे रहने वाला गृहस्थ यथाशक्ति तीन, छह अथवा नौ कोटियो से हिसादि पापो का त्याग करता है। आचार्य उमास्वामी महाराज ने हिसा का लक्षण लिखा है—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोणं हिंसा।

अर्थात् प्रमत्त योग से प्राणों का व्यपरोपण–विघात करना हिसा है। यहां (प्रमत्तयोग) इस हेतु में ही मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ कोटियो का समावेश किया गया है।

प्रश्न :—अहिंसाणुव्रत की भावनायें कितनी है और उनका क्या स्वरूप है ?

उत्तर .—अहिसाणुव्रत की पांच भावनाये है-। वाग्गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्या समिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन ये भावनाये वृतों की स्थिरता के लिये है, और इसी प्रकार प्रत्येक वृतो की पांच-पाच भावनाये है। भावना किसी वस्तु का वार-वार चिन्तवन करने को कहते है।

वाङ्मनो गुप्तीर्यादाननिक्षेपण समत्यालोकित पान भोजनानि पंच ।।३६।।

मोक्षशास्त्र०अ०७सुत्र नं. ४

वाग्गुप्ति :—वचन की प्रवृति को रोकना।

मनोगुप्ति '—मन की प्रवृति को रोकना।

इर्या समिति—चलते समय चार हाथ प्रमाण जमीन देख कर चलना,

आदाननिक्षेपण समिति—किसी भी वस्तु को रखते व उठाते समय जीव की रक्षा का ध्यान रखते हुए पदार्थ को रखना उठाना।

आलोकित पान भोजन—भोजन पान ग्रहण करते समय देखने और शोधने का ध्यान रखना ।

प्रश्न :—अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार कौनसे हैं और उनका क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—अहिसाणुवृत के, छेदना, बाधना, पीड़ा देना, अधिक भार लादना, और आहार पानी का रोकना अथवा आहार बचाकर रखना ये पाच अतिचार है ।

छेदन बन्धन पीडन मति भाररोपणं व्यतीचाराः ।
आहार वारणापि च स्थूल वधाद् व्युपरितेः पञ्च ।।४०।।

अतिचारोऽशभञ्जनम् । इस लक्षण के अनुसार अतिचार का अर्थ होता है, वृत का एक देशभगङ्ग होना । ऊपर अहिसाणुवृत का लक्षण लिखते हुए, मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदन इन नौ कोटियो का उल्लेख किया गया है, अर्थात उपर्युक्त नौ कोटियो से वृत की पूर्णता होती है । इन नौ कोटियो मे से कुछ कोटियो के द्वारा व्रत को दूषित करना अतिचार कहलाता है । और सभी कोटियो से व्रत को भग कर देना अनाचार कहलाता है ।

इस प्रकार भङ्गाभङ्ग की अपेक्षा अर्थात् किसी अपेक्षा से वृत का भङ्ग होना और किसी अपेक्षा से वृत का भङ्ग नही होना अतिचार का रूप है । छेदन, बन्धन आदि दोषो के बावजूद भी प्राणरक्षा का भाव रहता है, इसलिये वृत का भङ्ग है, यहा छेदन, बन्धन आदि दोषो का व्याख्यान करते समय 'दुर्भाना' शब्द की योजना ऊपर से कर लेना चाहिये अन्यवा लकडी से नाक का छिदाना दूषित अङ्गोपाङ्गो का काटना रोग को दूर करने के लिए आहारादि का रोकना भी अतिचार मे समिलित हो जावेगा । उमा स्वामी महाराज ने भी अहिसाणु वृत के ये ही पाच अतिचार बतलाये है । बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोध., अर्थात् बन्ध, वध, (पीडा), छेद । प्रश्न है कि अणु वृत का धारक मनुष्य घर मे गाय, भैस आति पशुओ के रखने पर उन्हे बाँधता है या नही ? यदि बांधता है तो बन्ध नाम का अतिचार होता है, तो वे उत्पात करते है । इस प्रकार विषय मे आचार्यो ने उत्तम, मध्यम, और जघन्य का विभाग करते हुए तीन व्यवस्थाएँ की है । उत्तम तो यह है कि व्रती मनुष्य, गाय,

भैंस आदि को रखता नही है । मध्यम यह है कि यदि रखता है, तो किसी अहाते मे उन्हे बिना बन्धन के रखता है । जघन्य यह कि ऐसा बन्धन देता है, जिसे वे उपसर्ग के समय तोडकर अपनी प्राण रक्षा कर सके ।

प्रश्न :—सत्याणुव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो स्थूल झूठ को न स्वय बोलता है, न दूसरो से बुलवाता है, और ऐसा सत्य भी न बोलता है, न दूसरे से बुलवाता है, जो दूसरे के प्राण-घात के लिये हो उसे सत्पुरुष स्थूल झूठ का त्याग अर्थात सत्याणुव्रत कहते है ।

उमास्वामी महाराज ने असत्य व्रत का लक्षण लिखा है—

असदभिधानमनृतम् ॥४१॥

इसका व्याख्यान चार प्रकार से होता है—१ न सत् इति असत् अविद्य मानमित्यर्थं तस्य अभिधान कथनमिति असदभिधानम् अर्थात् अविद्यमान पदार्थ का कथन करना, जैसे देवदत्त के न रहने पर भी कहना कि देवदत्त है । यह असदुद्भावन अविद्यमान को प्रगट करने वाला पहला असत्य है । २ 'सतो विद्यमानस्य अभिधानं सदभिधान न सदभिधानमिति असदभिधानम्' अर्थात् विद्यमान पदार्थ का कथन नही करना, जैसे देवदत्त के रहते हुए भी कहना कि देवदत्त नही है । यह सदपलाप–विद्यमान वस्तु को मेटने वाला दूसरा असत्य है ।

३–'ईषत् सत् असत् तस्य अभिधान असदभिधानम् ।'

यहाँ असत् शब्द के साथ जो नञ् का प्रयोग हुवा है, वह 'अनुदरा कन्या' के समान ईषद् अर्थ मे हुआ है अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप मे कहा गया है, उस रूप में तो नही है, परन्तु उसका कार्य सिद्ध कर देता है, इसलिये उसके समान कहा जाता है । जैसे कमण्डलु को घट कहना । यहाँ कमण्डलु जुदा है और घट जुदा है, इसलिये आकार की अपेक्षा कमण्डलु को घट कहना मिथ्या है, परन्तु जल धारणरूप कार्य दोनो का एक सदृश है, इसलिये उक्त वाक्य ईषद् सत् के कथन मे आता है । यह अन्यरूपाभिधान—अन्य को अन्य रूप कहना तीसरा असत्य है । ४ 'सत् प्रशस्त न सत् असत् अप्रशस्तं असच्च तत् अभिधान चेति असदभिधानम्' अर्थात् अप्रशस्त वचन बोलना । जैसे काने को काना, लगड़े को लगडा आदि कहना, निन्दा तथा चुगली के वचन कहना तथा अप्रिय एव कर्कश वचन कहना, यह गर्हितादिवचन नाम का चौथा असत्य है । इन चारो प्रकार के असत्य वचनो का परित्याग करना सत्याणुव्रत है ।

सत्याणुव्रती ऐसा भी सत्य नहीं बोलता है, जो प्राणघात करने वाला हो । जैसे कोई शिकारी अपनी मुट्ठी में जिन्दा चिडिया की गर्दन दबाकर एक सत्यवादी से पूछता है कि बताओ यह जिन्दा है या मरी ? सत्यवादी विचार करता है कि यदि मैं इसे जिन्दा कहता हू तो अभी हाल यह गर्दन को दबाकर इसे मार डालेगा । और मरी कहता हू तो इसे छोडकर कहेगा कि देखो, यह तो जिन्दा है तुम कैसे सत्यवादी हो ? ऐसा विचारकर सत्यवादी ने उत्तर दिया कि 'यह चिडिया मरी है ।' शिकारी ने तत्काल चिडिया को मुठ्ठी से छोडकर कहा कि तुम कैसे सत्यवादी हो ? यहाँ जीव रक्षा का भाव होने से असत्यवचन भी सत्य वचन के रूप मे परिणत हो गया है । विचारणीय प्रश्न यह है कि सत्यवादी के सामने एक कातिल ने एक निरपराध व्यक्ति की हत्या कर दी । हत्या के अपराध मे वह पकडा गया । गवाही के लिए उस सत्यवादी को बुलाया गया । यदि सत्यवादी सत्य कहता है तो कातिल को प्राणदण्ड की सजा मिलती है और असत्य कहता है तो वह छूट तो जाता है, पर उससे अन्याय का समर्थन होता है, जिसके फलस्वरूप उस कातिल के द्वारा अन्य अनेक जीवो की भी हिंसा हो सकती है । इस स्थिति मे सत्यवादी सत्य बोले या असत्य ?

उस समय परिस्थिति के अनुसार सत्यवादी तीन कार्य कर सकता है । प्रथम तो वह इस प्रकार की गवाही के चक्र मे न पडे । द्वितीय यह कि यदि वह कातिल अपने पाप से घृणा करने लगता है और आगामी समय के लिए वैसा अपराध न करे और तृतीय यह है कि अन्य अनेक जीवो की रक्षा के अभिप्राय से वह सत्य बोले, क्योकि ससार में अराजकता फैले तथा उसके फलस्वरूप अनेक जीवो की हत्या हो, यह एक जीव के प्राण-घात की अपेक्षा अधिक पाप है ।

प्रश्न :—सत्याणुव्रत के अतिचार कौनसे है और उनका क्या स्वरूप है ?

उत्तर .—मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, पैशून्य, कूटलेख लिखना और धरोहर को हडप करने के वचन कहना – ये पाच सत्याणुव्रत के अतिचार है ।

परिवाद रहोभ्याख्यापैशुन्यं कूटलेख करणं च ।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमा पञ्च सत्यस्य ।।४२।।

परिवाद का अर्थ मिथ्योपदेश है अर्थात् अभ्युदय और मोक्ष प्रयोजन वाली क्रिया विशेषो मे दूसरे को अन्यथा प्रवृत्ति कराना परिवाद या मिथ्योपदेश है । स्त्री-पुरुषो द्वारा एकान्त में की हुई विशिष्ट क्रिया को प्रगट करना रहोभ्याख्यान है । अग

विकार तथा भौहो का चलाना आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्ष्या-वश उसे प्रकट कर देना पैशून्य है। यही साकार मन्त्र भेद कहलाता है। दूसरे के द्वारा अनुक्त अथवा अकृत किसी कार्य के विषय मे ऐसा कहना कि यह उसने कहा है, अथवा किया है, इस प्रकार धोखा देने के अभिप्राय से कपट पूर्ण लेख लिखना कूट लेख करण है। तथा धरोहर रखने वाला पुरुष अपनी धरोहर की सख्या भूलकर अल्पसख्यक द्रव्य को माग रहा है, तो उससे कहना कि हाँ, ऐसा ही है, इसे न्यासापहारिता कहते है, इस प्रकार परिवादादिक चार और पाचवी न्यासापहारिता, सव मिलाकर सत्याणुव्रत के पॉच अतिचार कहे है।

विशेषार्थ—उमा स्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ मूत्र मे सत्याणुवृत के अतिचार निम्न प्रकार कहे है :—

मिथ्योपदेश रहोभ्याख्यान कूट लेख क्रिया न्यासापहारितासाकारमन्त्रभेदाश्च अर्थात् मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेख क्रिया, न्यासापहारित और साकार मन्त्र भेद ये पॉच सत्याणुवृत के अतिचार है। समन्तभ्रद स्वामी ने अतिचार निरूपण मे उमास्वामी महाराज का अनुकरण तो किया है, परन्तु कितने ही अतिचारो मे उन्होने परिवर्तन भी किया है। जैसे इसी सत्याणुवृत के अतिचारो मे परिवाद और पैशून्य इन दो नवीन अतिचारो का समावेश किया है और मिथ्योपदेश तथा साकारमन्त्र भेद को छोडा है। लोक मे परिवाद का अर्थ निन्दा और पैशून्य का अर्थ चुगली प्रसिद्ध है। सभव है यही अर्थ स्वामी समन्तभद्र को वाञ्छित रहा होगा। परन्तु सस्कृत टीका कार ने तत्वार्थ सूत्र के अतिचारो से मेल बैठाने के लिये परिवाद का अर्थ मिथ्योपदेश और पैशून्य का अर्थ साकारमन्त्र भेद कर दिया है जो कि शब्दो से प्रतिफलित नही होता। समन्तभद्र स्वामी परम विचारक विद्वान थे, इसलिये उन्होने अतिचारो मे तो परिवर्तन किया ही है, गुणवृत और शिक्षावृतो के नामो मे भी परिवर्तन किया है। जैसे तत्त्वार्थ सूत्रकार ने दिग्वृत, देशवृत और अनर्थदण्डवृत इन तीनो को गुणवृत तथा सामायिक, प्रेपधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसविभाग इन चार को शिक्षावृत माना है। परन्तु समन्त भद्र स्वामी ने दिग्वृत, अनर्थदण्डवृत और भोगोप-भोप परिमाणवृत इन तीन को गुणवृत तथा देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य कहा है। कुन्द कुन्द स्वामी ने सल्लेखना का चार शिक्षावृतो मे समावेश किया है। परन्तु तत्वार्थ सूत्रकार तथा स्वामी समन्तभद्र आदि ने इसका पृथक ही वर्णन किया है।

सत्यव्रत की रक्षा के लिये तत्वार्थ सूत्रकार ने 'क्रोध लोभ भीरुत्व हास्य प्रत्याख्यानानुवीचिभाषण पञ्च' अर्थात् क्रोध त्याग, लोभ त्याग, भीरुत्व त्याग, हास्य त्याग और अनुवीचिभाषण-आगमानुकूल भाषण ये पाच भावनाये बतलायी है। इनके होने पर ही सत्यव्रत की रक्षा हो सकती है, अन्यथा नही। असत्य बोलने के दो प्रमुख कारण है–एक कषाय और दूसरा अज्ञान। कषाय निमित्तक असत्य से बचने के लिये कोध, लोभ, भय और हास्य का त्याग कराया है, क्योकि ये चारो ही कषाय के रूप है। और अज्ञान मूलक असत्य से बचने के लिये अनुवीचिभापण— आचार्य परम्परा से प्राप्त आगमानुकूल वचन बोलने की भावना कराई है। इस भावना के लिये आगम का अभ्यास करना पडता है। आगम के अभ्यास से अज्ञान-असत्य दूर होता है।

प्रश्न .—अचौर्याणुव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—रखे हुए, पडे हुए अथवा बिल्कुल भूले हुए बिना दिये हुए दूसरे के धन को जो न स्वय लेता है और न किसी दूसरे को देता है, वह स्थूल स्तेय का परित्याग अर्थात् अचौर्यणुव्रत है।

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृश चौर्य्यादुपारमणम् ।।४३।।

अकृश चौर्य का अर्थ स्थूल चोरी है। अर्थात् लोक मे जो चोरी के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसके लिये राजकीय और सामाजिक दण्ड व्यवस्था निश्चित है। इस स्थूल चोरी से उपारमण–निवृत होना, सो अचौर्याणुव्रत है। अचौर्याणुव्रत का धारक पुरुप किसी के रखे हुए, पडे हुए या भूले हुए धन को बिना दिये न स्वय ग्रहण करता है और न उठाकर दूसरे को देता है।

विशेषार्थ :—तत्त्वार्थ सूत्रकार ने चोरी का लक्षण लिखते हुए 'अदत्तादान स्तेयम्' यह सूत्र लिखा है, जिसका अर्थ है अदत्त–बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना चोरी है। स्वामी समन्तभद्र ने अदत्त शब्द को व्याख्या करते हुए उसके तीन रूप निर्धारित किये है—१. निहित २. पतित और ३. सुविस्मृत। कोई मनुष्य अपने पास किसी वस्तु को रख गया अथवा किसी के निज के मकान मे कोई धन कही रखा था। मकान बेचते समय उसे उस धन को निकालने का ध्यान नही रहा, ऐसे धन को लेना

'निहित' धन की चोरी है। किसी के खरीदे हुए मकान मे यदि कोई धन मिलता है, तो अचौर्याणुव्रत का धारी मनुष्य उस मकान मालिक को वापिस करता है। यदि किसी पुराने खण्डहर आदि मे धन मिलता है, और उसके असली स्वामी का पता नही चलता है तो इस स्थिति मे अचौर्याणुव्रत का धारक मनुष्य इसकी सूचना राज्य में देता है, क्योकि 'अस्वामिकस्य वित्तस्य दायादो मेदिनीपतिः' अर्थात् जिसका कोई स्वामी नही ऐसे धन का स्वामी राजा होता है। मार्ग मे चलते समय किसी की कोई वस्तु गिर जाती है, उसे पतित कहते है। अचौर्याणुव्रत का धारक मनुष्य ऐसे धन को न स्वयं उठाता है, और न उठाकर दूसरे को देता है। यदि मन मे यह विकल्प आता है कि इस पडी हुई वस्तु को मै नही उठाता हूँ, तो न जाने मेरे पीछे आने वाले किसके हाथ मे पड़ेगी और फिर उस वस्तु के मालिक को इसका मिल जाना असभव हो जावेगा, तो उस वस्तु को उठाकर किसी राजकीय कार्यालय में जमा करा देना चाहिये और उसकी सूचना प्रसारित करा देना चाहिये। कोई मनुष्य अपने पास धरोहर के रूप मे कुछ धन रख गया, पीछे भूल गया अथवा रखने वाले व्यक्ति की अकस्मात् मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी पुत्र आदि को उसकी खबर नही। इस स्थिति मे उस धन को मागने के लिये कोई नही आता है, तो ऐसा धन सुविस्मृत कहलाता है। आचौर्याणुव्रत का धारक मनुष्य ऐसे धन को अपने पास नही रखता। वह उसके उत्तराधिकारी को स्वय ही वापिस करता है। अचौर्याणुव्रत का धारक मनुष्य आयकर, विक्रयकर तथा निगमकर आदि को नही चुराता तथा अपने भाईयो आदि के हिस्से को भी नही हडपता।

प्रश्न :—अचौर्याणुव्रत के अतिचार कितने है और उनका क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—चौरप्रयोग, चोरार्थादान, विलोप, सदृशसन्मिश्र और हीनाधिक विनिमान ये पाच अचौर्याणुव्रत के अतिचार है।

चौरप्रयोग चौरार्थादान विलोप सदृश सन्मिश्राः।
हीनाधिक विनिमानं पञ्चास्तेये व्यतीपाताः ॥४४॥

अचौर्याणुव्रत मे निम्नाङिकत पांच अतिचार होते है—

चौर प्रयोग –चोरी करने वाले चोर के लिये स्वयं प्रेरणा देना, दूसरे से प्रेरणा दिलाना और किसी ने प्रेरणा दी हो तो उसकी अनुमोदना चौर प्रयोग है।

चौरार्थादान—जिसे अपने द्वारा प्रेरणा नही दी गई है तथा जिसकी अनुमोदना नही की गई है, ऐसे चोर के द्वारा चुराकर लाई हुई वस्तु को ग्रहण करना चौरार्थादान है। चोरी का माल खरीदने से चोर को चोरी की प्रेरणा मिलती है।

विलोप—उचित न्याय को छोडकर अन्य प्रकार से पदार्थ का ग्रहण करना विलोप कहलाता है। इसे ही विरुद्ध राज्यातिक्रम कहते है। जिस राज्य के साथ अपने राज्य का व्यापारिक सम्बन्ध निषिद्ध है अर्थात् जिस राज्य मे अपने राज्य की वस्तुओ का आना-जाना राज्य की ओर से निषिद्ध किया गया है, उसे विरुद्ध राज्यातिक्रम कहते है। विरुद्ध राज्य मे मँहगी वस्तुएँ स्वल्प मूल्य मे मिलती है, ऐसा मानकर वहाँ स्वल्प मूल्य मे वस्तुओ को खरीदना और तस्कर व्यापार के द्वारा अपने राज्य मे लाकर अधिक मूल्य मे बेचना विरुद्ध राज्यातिक्रम कहलाता है।

सदृशसन्मिश्र—समान रूप-रङ्ग वाली नकली वस्तु, असली वस्तु मे मिलाकर असली वस्तु के भाव से बेचना, जैसे घी को तेल आदि से मिश्रित करना अथवा कृत्रिम–बनावटी–नकली सोना–चादी के द्वारा धोखा देते हुए व्यापार करना सदृशसन्मिश्र कहलाता है।

हीनाधिक विनिमान—जिनसे वस्तुओ का विनिमान–आदान-प्रदान लेन-देन होता है, उन्हे विनिमान कहते है। इन्ही को मानोन्मान भी कहते है। जिसमे भरकर या जिससे तौलकर कोई वस्तु ली या दी जाती है, उसे मान कहते है, जैसे प्रस्थ, तराजू आदि। और जिससे नापकर कोई वस्तु ली या दी जाती है, उसे उन्मान कहते है, जैसे फुट, गज आदि। किसी वस्तु को देते समय हीन मान उन्मान का और खरीदते समय अधिक मान-उन्मान का प्रयोग हीनाधिक मानोन्मान कहलाता है।

अचौर्याणुव्रत का धारी मनुष्य इन सब अतिचारो से दूर रहकर अपने व्रत को सुरक्षित रखता है।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थ सूत्रकार ने भी अचौर्याणुव्रत के ये ही अतिचार निरूपित किये है। जैसे—

'स्तेन प्रयोग तदाहृतादान विरुद्ध राज्यातिक्रम हीनाधिक मानोन्मान प्रतिरूपक व्यवहारा.' अर्थात् स्तेन प्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध राज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पाच अचौर्याणुव्रत के अतिचार है। समन्तभद्र

स्वामी ने विरुद्धराज्यातिक्रम के बदले विलोप शब्द रखा है, जिसका अर्थ राजकीय कानून का उल्लघन करना होता है। विरुद्धराज्यातिक्रम भी इसी मे गतार्थ हो जाता है।

अचौर्य व्रत की रक्षा के लिए तत्त्वार्थ सूत्रकार ने निम्नलिखित पाच भावनाओ का वर्णन किया है—

'शून्यागार विमोचितावास परोपरोधाकरण भैक्ष्य शुद्धि सद्धर्मा विसवादा पञ्च' अर्थात् शून्यागारावास–पर्वत की गुफाओ तथा वृक्ष की कोटरो आदि प्राकृतिक शून्य स्थानो मे निवास करना, विमोचितावास-राजा आदि के द्वारा छुडवाए हुए–उजड़े गृहो मे निवास करना, परोपरोधाकरण–अपने स्थान पर दूसरे के ठहर जाने पर रूकावट नही करना, भैक्ष्य शुद्धि–चरणानुयोग की पद्धति से भिक्षा की शुद्धि रखना और सद्धर्माविसवाद—सह धर्मीजनो के साथ उपकरण आदि प्रसग को लेकर विसवाद नही करना, इन पाच कार्यो से अचौर्यव्रत की रक्षा होती है। मुनि इन भावनाओं का साक्षात्–प्रवृतिरूप और गृहस्थ भावना रूप से पालन करते है।

प्रश्न .—ब्रह्मचर्याणुव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो पाप के भय से परस्त्रियो के प्रति न स्वय गमन करता है, और न दूसरो को गमन कराता है, वह परस्त्रीत्याग अथवा स्वदार सतोष नाम का अणुव्रत है।

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् ।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदार सन्तोषनामापि ॥४५॥

श्लोक मे आये हुए 'परदारान्' शब्द का समास दो प्रकार का होता है— १ 'परस्य दारा परदारास्तान् अर्थात् पर स्त्रिया। इसमे पहले समास से पर के द्वारा परिगृहीत स्त्रियो का बोध होता है और दूसरे समास से पर के द्वारा अपरिगृहीत अविवाहित कन्याओ अथवा वेश्याओ का ग्रहण होता है। इस प्रकार इन परिगृहीत अपरिगृहीत–दोनो प्रकार की परस्त्रियो के साथ पाप के भय से न कि राजकीय और सामाजिक भय से, न स्वय सगम करना और न परस्त्रिलम्पट अन्य पुरुषो को गमन कराना परस्त्रीत्याग अणुव्रत है। इसी को स्वदार सतोषव्रत भी कहते है।

विशेषार्थ—जिसके साथ धर्मानुकूल विवाह हुआ है, उसे स्वस्त्री कहते है, और इसके सिवाय जो अन्य स्त्रिया है, वे परस्त्रिया कहलाती है। परस्त्रिया परिगृहीत

और अपरगृहीत के भेद से दो प्रकार की होती है। जो दूसरे के द्वारा विवाहित है, वे परिगृहीत कहलाती है, और जो अविवाहित है, अथवा वेश्या आदि के समान जो उन्मुक्त–स्वच्छन्द है, वे अपरिगृहीत है। ब्रह्मचर्याणु वृत का धारी पुरुष स्वस्त्री को छोडकर अन्य दोनो प्रकार की परस्त्रियो से दूर रहता है। उसका यह दूर रहना पाप के भय से होता है, राजा आदि के भय से नही, क्योकि अभिप्रायपूर्वक पाप से निवृत्ति होने को ही वृत कहते है, अशक्ति अथवा किसी अन्य भय से निवृत्ति होने को व्रत नही कहते है। आचार्य ने ब्रह्मचर्याणु व्रत के लिए परदार निवृत्ति और स्वदार सतोष इन दो नामो का प्रयोग किया है, उससे यह भाव ध्वनित होता है कि ब्रह्मचर्याणु व्रत का धारक पुरुष देश-काल के अनुसार अपनी अनेक स्त्रिया हो तो उनका समागम कर सकता है, पर स्त्रियो का नही। वह अपनी स्त्रियो मे उसकी विकार पूर्ण दृष्टि नही होती।

प्रश्न :—ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचारों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—अन्य विवाहकरण, अनङ्ग क्रीडा, विटत्व, विपुल तृषा और इत्वरिका गमन ये पाँच ब्रह्मचर्याणु व्रत के अतिचार है।

अन्य विवाहाकरणानङ्ग क्रीडा विटत्व विपुलतृषः।
इत्वरिका गमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतिचाराः ॥४६॥

अ-ईषत् स्मर कामा यस्य स अस्मर तस्य इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके स्वस्त्रीविपयक थोडा राग रहता है, उसे अस्मर अथवा ब्रह्मचर्याणु व्रती कहते है, इस वृत के धारक पुरुप को निम्नाङ्कित पाच अतिचारो का परित्याग करना चाहिये–अन्यविवाहकरण–कन्यादान को विवाह कहते है। अपनी या अपने आश्रित भाई आदि की सतान को छोडकर अन्य लोगो की सतान अन्य सतान है। उन अन्य सतानो का विवाह प्रमुख वनकर करना अन्यविवाहकरण है। 'अन्य विवाहस्य आ समन्तात् करण अन्य विवाहकरणम्' इस व्युत्पत्ति से यह भाव प्रगट होता है, कि जो पटिया बनाकर दूसरो का विवाह सम्वन्ध जुटाते रहते है. उनके उस कार्य के प्रति ही आचार्य का सकेत है। सहधर्मी भाई के नाते उनके पुत्र-पुत्रियो के विवाह मे संमिलित होना वह्मचर्याणु वृती के लिये निषिद्ध नही है। अनगक्रीडा–काम सेवन के लिये निश्चित अगो के अतिरिक्त अन्य अगो मे क्रीडा करना अनगक्रीडा है। विटत्व–शरीर से कुचेष्टा करना और मुख से अश्लील भद्दे वचनो का प्रयोग करना

विटत्व है । विपुलतृषा – काम सेवन की तीव्र आसक्ति को विपुलतृषा कहते है । इत्वरिकागमन – व्यभिचारिणी स्त्री को इत्वरिका कहते है । ऐसी स्त्रियों के साथ उठना-बैठना तथा व्यापारिक सम्पर्क बढाना इत्वरिकागमन है ।

विशेषार्थ :—तत्त्वार्थ सूत्रकार ने ब्रह्मचर्याणुव्रत के निम्नाकित पाँच अतिचार कहे है—'पर विवाह करणेत्वरिका परिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडा कामतीव्राभिनिवेशाः' अर्थात् १. परविवाह करण, २ परिगृहीतेत्वरिका गमन, ३. अपरिगृहीतेत्वरिकागमन, ४. अनगक्रीडा और ५. कामतीव्राभिनिवेश ये पाच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार है । समन्तभद्र स्वामी ने 'परिगृहीतेत्वरिकागमन' और 'अपरिगृहीतेत्वरिकागमन' इन दो अतिचारो को एक इत्वरिकागमन मे सम्मिलित कर विटत्व का अलग से समावेश किया है ।

ब्रह्मचर्याणुव्रत की रक्षा के लिये तत्त्वार्थसूत्रकार ने निम्नलिखित पाँच भावनाओं का उल्लेख किया है—

'स्त्रीरागकथा श्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षण पूर्वरतानुस्मरण वृष्येष्टरस स्व-शरीर सस्कार त्यागा पञ्च' अर्थात् स्त्रियो मे राग बढाने वाली कथाओ के सुनने का त्याग करना, उनके मनोहर अगो के देखने का त्याग करना, पहले भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग करना, गरिष्ठ एव कामोत्तेजक पदार्थों के सेवन का त्याग करना और अपने शरीर की सजावट का त्याग करना इन भावनाओं से ब्रह्मचर्यव्रत सुरक्षित रहता है ।

प्रश्न :—परिग्रहविरति अणुव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—धनधान्य आदि परिग्रह का परिमाणकर उससे अधिक में इच्छा-रहित होना परिमित परिग्रह अथवा इच्छापरिणाम नाम का अणुव्रत कहलाता है ।

धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु नि. स्पृहता ।
परिमित परिग्रहः स्यादिच्छा परिमाण नामापि ।।१५।।४७।।

गाय भैंस आदि को धन कहते है । धान्य, गेहू, चना आदि को धान्य कहते है । आदि शब्द से दासी-दास, स्त्री-मकान, खेत, नगद-द्रव्य, सोना-चाँदी के आभूषण तथा वस्त्र आदि का सग्रह होता है । यही सब परिग्रह कहलाता है । अपनी इच्छानुसार देव अथवा गुरु के पादमूल मे इसका परिमाणकर उससे अधिक में इच्छारहित होना परिमित परिग्रह नाम का अणुव्रत होता है । इस अणुव्रत मे अपनी इच्छा के अनुसार

परिग्रह का परिमाण किया जाता है, इसका दूसरा नाम इच्छा परिमाण भी है।

विशेषार्थ :—'परित गृह्णाति आत्मानमिति परिग्रह.' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो आत्मा के सब ओर से जकड़ ले, उसे परिग्रह कहते है। परिग्रह का वाच्यार्थ मूर्च्छा है। जैसे कि तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—'मूर्च्छा परिग्रहः अर्थात् पर पदार्थो मे जो मूर्च्छा-ममत्वभाव, वही परिग्रह कहलाता है। यह परिग्रह अन्तरग और बहिरग के भेद से दो प्रकार का होता है। अन्तरग परिग्रह मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादि नौ नोकषाय के भेद से १४ प्रकार का होता है। और बहिरग परिग्रह चेतन, अचेतन के भेद से दो प्रकार का होता है। दासी-दास आदि द्विपद और गाय-भैंस आदि चतुष्पद चेतनपरिग्रह और खेत, मकान, सोना, चाँदी आदि अचेतन परिग्रह है। सब मिलाकर क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद चतुष्पद, शयनासन, यान, कुप्प और भाण्ड के भेद से बहिरंग परिग्रह दश प्रकार का माना गया है। परिग्रह त्याग महाव्रत में इन सभी परिग्रहो का त्याग रहता है। परन्तु गृहस्थ परिग्रह का पूर्ण त्याग नही कर सकता है। वह अपनी आवश्यकता के अनुसार उसकी सीमा निश्चित कर सकता है। इसलिये गृहस्थो के लिये परिग्रह परिमाण अणुव्रत धारण करने का उपदेश दिया गया है। गृहस्थ की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। किसी का परिवार थोड़ा है, अतः उसका काम थोडे परिग्रह से चल सकता है और किसी का परिवार बडा होता है, अत. उसे अधिक परिग्रह रखना पड़ता है। इसलिए आचार्यो ने परिग्रह परिमाणव्रत को इच्छा परिमाण भी नाम दिया है। अर्थात् इसमें अपनी इच्छा के अनुसार परिग्रह का परिमाण किया जाता है। परिमाण किये हुये परिग्रह से अधिक परिग्रह मे किसी प्रकार की वाञ्छा नही रखना, इस व्रत की विशेषता है।

प्रश्न :—परिग्रह परिमाणव्रत के अतिचारों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर .—अतिवाहन, अतिसग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ और अतिभार वाहन ये पाँच परिग्रह परिमाण अणुव्रत के अतिचार निश्चित किये जाते है।

अतिवाहनातिसंग्रह विस्मय लोभाति भारवहनानि।
परिमित परिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ॥४८॥

विक्षेप का अर्थ अतिचार है। जिस प्रकार अहिसादि अणुव्रतो के पाच-पाच अतिचार बतलाये गये है, उसी प्रकार परिग्रह परिमाणाणुव्रत के भी पाँच अतिचार

निश्चित किये जाते है। श्लोक में आया हुआ 'च' शब्द 'अपि' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वे अतिचार इस प्रकार हैं—अतिवाहन-लोभ की तीव्रता को कम करने के लिये परिग्रह का परिमाण कर लेने पर भी कोई लोभ के आवेश से अधिक वाहन रखता है, अर्थात् बैल आदि पशु जितने मार्ग को सुख से पार कर सकते है, उसे अधिक मार्ग पर उन्हे चलाता है, तो उसकी यह क्रिया अतिवाहन कहलाती है। इस व्रत के धारी किसी मनुष्य ने बैल आदि की सख्या तो कम कर ली, परन्तु उनकी संख्या के अनुपात से खेती तथा मार्ग का यातायात कम नही किया, इसलिये उन कम किये हुए बैल आदि को ही अधिक चलाकर अपना काम पूरा करता है। ऐसी स्थिति मे अतिवाहन नाम का अतिचार होता है।

अतिसंग्रह—'यह धान्यादिक आगे चलकर अधिक लाभ देगा' इस लोभ के वश से कोई उसका अत्यधिक सग्रह करता है। उसका यह कार्य अतिसंग्रह नाम का अतिचार है। **अतिविस्मय** सगृहीत वस्तु की वर्तमान भाव से बेच देने पर किसी का मूल भी वसूल नही हुआ और दूसरे के द्वारा ठहकर वेचने पर उसे अधिक लाभ हुआ, इस स्थिति मे लोभ के आवेश से अतिविस्मय अति खेद करता है। अतिविस्मय नाम का **अतिलोभ** – विशिष्ट लोभ मिलने पर भी और भी अधिक लाभ की इच्छा से कोई अधिक लोभ करता है, तो उसका वह अतिलोभ नाम का अतिचार है। **अतिभारा-रोपण**—लोभ के आवेश से अधिक भार लादना अतिभारारोपण नाम का अतिचार है। एक अतिभारारोपण अतिचार अहिसाणुव्रत का भी है, परन्तु वहां कष्ट देने का भाव रहता है और यहा अधिक लाभ प्राप्त करने का – अथवा अतिभारारोपण का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि अपने कारोबार को इतना अधिक फैला लेना, जिसकी वह स्वय सभाल नही कर सकता और उसके कारण उसे सदा व्यग्र रहना पडता है।

विशेषार्थ –तत्त्वार्थ सूत्रकार ने परिग्रह परिमाणव्रत के अतिचार दूसरे ही लिखे हुए हैं। यथा – 'क्षेत्र वास्तु हिरण्य सुवर्णधनधान्य दासी दास कुप्य प्रमाणाति-क्रम' अर्थात् क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम—खेत और मकान के प्रमाण का उल्लङ्घन करना, हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम—सोना, चाँदी आदि प्रमाण का उल्लङ्घन करना धनधान्य प्रमाणातिक्रम—पशुधन तथा अनाज के प्रमाण का उल्लङ्घन करना, दासी-दास प्रमाणातिक्रम—दास-दासियो के प्रमाण का उल्लङ्घन करना, कुप्यप्रमाणाति-

क्रम – वस्तु तथा बर्तनों के प्रमाण का उल्लङ्घन करना ये पांच परिग्रह परिमाणाणुव्रत के अतिचार है। क्षेत्र वास्तु आदि के प्रमाण उल्लङ्घन करने का प्रकार ऐसा है—जैसे किसी ने नियम लिया कि मै एक खेत और एक मकान रखूगा। बाद मे पास के खेत और मकान को खरीदकर बीच की सीमा तोड़ दी तथा दोनो को एक कर लिया। यहाँ सख्या तो एक खेत या एक मकान की कर ली, परन्तु उसके प्रमाण मे विस्तार कर लिया। इस स्थिति मे भगाभग की अपेक्षा यह अतिचार बनता है। इसी प्रकार सोना-चादी के विषय में किसी ने नियम किया कि मैं गले का एक, हाथ के दो और पैर का एक आभूषण रक्खूँगा। पीछे लोभ सताने से उसने उन आभूषणो मे और भी सोना-चाँदी मिलवाकर फिर से आभूषण बनवा लिया। यहाँ आभूषणो की सख्या तो पहले की तरह रही, परन्तु उनके परिमाण मे वृद्धि हो गई। इस तरह भगाभग की अपेक्षा यह अतिचार बनता है। इसी प्रकार अन्य अतिचारो के विषय मे लगा लेना चाहिये।

इस व्रत की रक्षा के लिये उमास्वामी महाराज ने निम्नलिखित पाच भावनाएँ लिखी है 'मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय विषय रागद्वेष वर्जनानि पञ्च' स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियो के मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषय मे रागद्वेष नही करना परिग्रह त्यागव्रत की पाच भावनाएँ है।

प्रश्न :—अतिचारों से रहित अणुव्रतों को पालने से क्या फल मिलता है ?

उत्तर —अतिचार रहित पाच अणुव्रत रूपी निधियाँ उस स्वर्ग लोक को फलती हैं—फल देती है, जिसमे अवधिज्ञान, अणिमा, महिमा आदि आठ गुण और सात धातुओ से रहित वैक्रियिक शरीर प्राप्त होते है।

पञ्चाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकम्।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्य शरीरं च लभ्यन्ते ॥४६॥

अतिचार रहित पाँच अणुव्रत निधियो के समान है। इनका निरतिचार पालन करने से नियम पूर्वक स्वर्ग की प्राप्ति होती है और उस स्वर्ग को जहाँ कि अवधिज्ञान—भवप्रत्यय नाम का अवधिज्ञान नियम से प्राप्त होता है। अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ ऋद्धियाँ तथा धातु, उपधातु से रहित परम सुन्दर वैक्रियक शरीर प्राप्त होता है।

विशेषार्थ —अणुव्रत धारण करने वाले जीव बद्धायुष्क और अबद्धायुष्क

की अपेक्षा दो प्रकार के है। जो अणुव्रत धारण करने के पहले आयु बाध चुके है, वे बद्धायुष्क कहलाते है और जो अणुव्रतो के काल में आयु बाधते है, वे अबद्धायुष्क कहलाते है। ये दोनों प्रकार के जीव नियम से देव ही होते है। क्योकि ऐसा नियम है कि देवायु को छोडकर जिस जीव को अन्य आयु का वन्ध हो गया है, वह उस पर्याय में अणुव्रत तथा महाव्रत धारण नही कर सकता और अणुव्रत के काल मे यदि आयु वध होता है, तो नियम से देवायु का ही वध होता है। देवायु मे भी वैमानिक देवायु का ही बन्ध होता है। अणुव्रत धारण करने के पूर्व यदि किसी की मिथ्यादृष्ठि अवस्था है, तो उसमे भवनत्रिक की देवायु बध सकती है, परन्तु अणुव्रत होने पर भवनत्रिक की आयु वैमानिक की आयु के रूप मे परिवर्तित हो जावेगी। अणुव्रतो का धारी जीव सोलहवे स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकता है, उसके आगे नही। उसके आगे नवग्रैवेय आदि में उत्पन्न होने के लिये निर्ग्रन्थ मुद्रा का धारण करना आवश्यक है।

प्रश्न :—पाँचो अणुव्रतों को पालन करने से किसको क्या फल मिला ?

उत्तर .—यमपाल नाम का चाण्डाल धनदेव उसके बाद वारिषेण नाम का राजकुमार और जयकुमार ये क्रम से अहिंसादि अणुव्रतो में उत्तम पूजा के अतिशय को प्राप्त हुए हैं।

मातंगो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च संप्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम् ॥५०॥

हिंसाविरति नामक अणुव्रत से यमपाल चाण्डाल ने उत्तम प्रतिष्ठा प्राप्त की। सत्याणुव्रत से धनदेव सेठ ने पूजातिशय को प्राप्त किया था। चौर्यविरति अणुव्रत से वारिषेण ने पूजा का अतिशय प्राप्त किया था। अब्रह्मविरति अणुव्रत-ब्रह्मचर्याणुव्रत से नीली नाम की वणिकपुत्री पूजातिशय को प्राप्त हुई। परिग्रह विरति अणुव्रत से जयकुमार पूजातिशय को प्राप्त हुआ था।

प्रश्न :—हिंसादि पांच पापों को करने से किसको क्या फल मिला ?

उत्तर.—धनश्री और सत्यघोष, तापस और कोतवाल और श्यश्रुनवनीत ये पाच क्रम से हिंसादि पापों में उपाख्यान करने के योग्य है।

धनश्रीसत्यघोषौ च तापसारक्षकावपि।
उपाख्येयास्तथा श्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ॥५१॥

धनश्री नाम की सेठानी ने हिसा से बहुत प्रकार का दु.खदायक फल भोगा है। सत्यघोष पुरोहित ने असत्य बोलने से, तापस ने चोरी से और कोतवाल ने ब्रह्मचर्य का अभाव होने से बहुत दु ख भोगा है। इसी प्रकार श्मश्रु नवनीत नामक वणिक् ने परिग्रह पाप के कारण दु ख भोगा है।

प्रश्न :—गृहस्थों के अष्ट मूलगुणों के क्या स्वरूप हैं ?

उत्तर .—मुनियो मे उत्तम गणधरादिक देव मद्यत्याग, मासत्याग और मधुत्याग के साथ पाच अणुव्रतो को गृहस्थो के आठ मूलगुण कहते है।

मद्य मांस मधु त्यागैः सहाणुव्रत पञ्चकम्।
अष्टौ मूल गुणानाहु गृहीणां श्रमणोत्तमाः ॥५२॥

श्रमण, श्रवण अथवा शमन ये सब मुनियो के नाम है। इनमे जो उत्तम गणधरादिक देव है, वे श्रमणोत्तम कहलाते है। उन्होने गृहस्थो के आठ मूलगुण इस प्रकार बतलाये है—१ मद्य त्याग २ मास त्याग ३. मधु त्याग ४ अहिसाणुव्रत ५ सत्याणुव्रत ६. अचौर्याणुव्रत ७. ब्रह्मचर्याणुव्रत और ८. परिग्रह परिमाणुव्रत।

विशेषार्थ—मूलगुण मुख्य गुणो को कहते है। जिस प्रकार मूल-जड के बिना वृक्ष नही ठहरते इसी प्रकार मूलगुणो के बिना मुनि और श्रावक के व्रत नही ठहरते। इस तरह मूलगुण का वाच्यार्थ अनिवार्य आवश्यक गुण है। मुनियो के २८ मूलगुण होते है और श्रावको के ८। श्रावको के मूलगुणो का उल्लेख कई प्रकार से मिलता है। सबसे पहला उल्लेख समन्तभद्र स्वामी का है, जिसमे उन्होने मद्य त्याग, मांस त्याग, मधु त्याग और अहिसा आदि पाच अणुव्रत सम्मिलित किये है। उनका अभिप्राय ऐसा जान पडता है कि मुनियो के २८ मूलगुणो मे पाच महाव्रत सम्मिलित है, तो गृहस्थो के आठ मूलगुणो मे पाच अणुव्रतो को स्थान दिया है। मद्यत्याग आदि यद्यपि अहिसाणुव्रत के अन्तर्गत हो जाते है, तथापि विशेषता बतलाने के लिए उनका पृथक् से उल्लेख किया है। आगे चलकर जिनसेन स्वामी ने मधु त्याग को मास त्याग मे गर्भित कर उसके स्थान मे द्यूतत्याग का उल्लेख किया है। जिनसेन के परवर्ती आचार्यो ने और भी सरलता करते हुए पाच अणुवतो के स्थान पर पाच उदुम्बर फलो के त्याग का समावेश किया है। इनके सिवाय प० आशाधर जी ने सागार धर्मामृत मे एक मत का और भी उल्लेख किया है, जिसके आधार पर निम्नलिखित आठ मूल गुण माने जाते है।

१. मद्य त्याग, २ मास त्याग, ३ मधु त्याग, ४. रात्रि भोजन त्याग, ५ पञ्चफली त्याग, ६. आप्तनुति–देवदर्शन, ७. जीव दया और ८. जल गालन। मूलगुणो का पालन करने वाला ही जैन धर्म की देशना का पात्र होता है। यही नही, गृहस्थ की सज्ञा भी इस मनुष्य को तभी प्राप्त होती है जब वह आठ मूलगुणो का पालन करता है।

प्रश्न :—गुणव्रत कितने है और किसे कहते हैं ?

उत्तर —तीर्थकर देव आदि उत्तम पुरुष आठ मूलगुणो की वृद्धि करने के कारण दिग्व्रत अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणवृत को गुणव्रत कहते है।

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोग परिमाणम्।
अनुवृंहणाद्गुणा नामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥५३॥

'गुणै. गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते प्राप्यन्त इत्यार्या' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो गुणों अथवा गुणवान् मनुष्यो के द्वारा प्राप्त किये जावे, उन्हे आर्य कहते है। ऐसे आर्य तीर्थकर देव, गणधर, प्रतिगणधर तथा अन्य आचार्य कहलाते है। 'गुणाय व्रतं गुणव्रतम्' गुण के लिए जो वृत है, उन्हे गुणवृत कहते है। उपरितन श्लोक मे कहे गये आठ मूलगुणो की वृद्धि मे सहायक होने से दिग्वृत, अनर्थदण्डवृत और भोगोपभोग परिमाणवृत इन तीन को आर्य पुरुषो ने गुणवृतो मे परिगणित किया है। दशो दिशाओ मे आने जाने की सीमा निर्धारित करना दिग्वृत है। मन, वचन, काय के निष्प्रयोजन व्यापार के परित्याग को अनर्थदण्डवृत कहते है। भोग और उपभोग की वस्तुओ का समय का नियम लेकर अथवा जीवन पर्यन्त के लिए परिमाण करना भोगोपभोग परिमाणवृत है। जो वस्तु एक बार भोगने मे आती है, उसे भोग कहते है, जैसे भोजन, पेय पदार्थ तथा गन्धमाला आदि। जो बार-बार भोगने मे आवे उसे उपभोग कहते है, जैसे वस्त्र, आभूषण, यान-वाहन, शयन-शय्या आदि। इनका परिमाण काल का नियम लेकर अथवा जीवनपर्यन्त के लिए–दोनो प्रकार से होता है। विशेषार्थ ·—खेत की रक्षा के लिए वाड़ी का जो स्थान है, वही स्थान अणुवृतो की रक्षा के लिए तीन गुणवृतो का है। यातायात की सीमा निर्धारित होने से, निष्प्रयोजन कार्यो का परित्याग करने से तथा भोग–उपभोग की सीमा को निश्चित करने से यह जीव अपने अहिसादि अणुवृतो की रक्षा करने में समर्थ होता है, इसलिए आचार्यो ने इन तीनो कार्यो को गुणवृत मे शामिल किया है। भोग और उपभोग की

जो परिभाषा समन्तभद्र स्वामी को अभीष्ट है, उसके अनुसार सस्कृत-टीकाकार ने उसका स्पष्टीकरण किया है। परन्तु साथ मे यह भी ज्ञातव्य है कि उमास्वामी महाराज ने भोगोपभोग परिमाग के बदले उपभोग परिभोग परिमाण शब्द का प्रयोग किया है। उनके अभिप्रायानुसार उपभोग का अर्थ है जो एक बार भोगने मे आवे और परिभोग का अर्थ है जो बार-बार भोगने मे आवे। समन्तभद्र स्वामी का उपभोग और उमास्वामी का परिभोग एकार्थक है और समन्तभद्र स्वामी का भोग और उमास्वामी का उपभोग एकार्थक है। उमास्वामी ने दिग्वृत, देशवृत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन को गुणव्रत माना है और समन्तभद्र स्वामी ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत को गुणव्रत माना है। यहाँ समन्तभद्र स्वामी का यह अभिप्राय जान पडता है कि भोगोपभोग की वस्तुओ का परिमाण करने से परिग्रह परिमाणाणुव्रत की वृद्धि होती है—रक्षा होती है. इसलिए इसे गुणव्रत मे सम्मिलित करना चाहिए। शिक्षाव्रतो की गणना मे भी दोनो आचार्यों मे मतभेद है।

प्रश्न :—दिग्व्रत किसे कहते है ?

उत्तर .—मरण पर्यन्त सूक्ष्म पापो की निवृत्ति के लिए दिशाओ के समूह को मर्यादा सहित करके मैं इससे बाहर नही जाऊँगा ऐसा सकल्प करना दिग्व्रत होता है।

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति सङ्कल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यैः ।।५४।।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऐशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ऊर्ध्व और अध इस प्रकार दश दिशाएँ होती है। इन सबके समूह का नाम दिग्वलय है। इन दशो दिशाओं की सीमा निश्चित कर ऐसा सकल्प करना कि मैं इनसे बाहर नहीं जाऊँगा, दिग्व्रत कहलाता है। दिग्व्रत मरणपर्यन्त के लिए धारण किया जाता है अर्थात् इसमे देशावकाशिक व्रत के समान घडी, घटा आदि समय की सीमा नही रहती। दिग्व्रत का प्रयोजन सूक्ष्म पापो की निवृत्ति करना है। मर्यादा के भीतर स्थूल पापो से निवृत्ति रहती है, परन्तु मर्यादा के बाहर यातायात सर्वथा वन्द हो जाने से वहाँ सूक्ष्म पापो की भी निवृत्ति हो जाती है।

विशेषार्थ :—परिग्रह स्वय मे एक बडा पाप है। उसी की पूर्ति के लिए यह

मनुष्य जीवों की हिसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, स्त्री में आसक्ति रखता है तथा सर्वत्र यातायात करता है। जिसने परिग्रह सम्बन्धी अनन्त इच्छाओ का दमन कर लिया, उसने अन्य अनेक पापो से अपने आप की रक्षा स्वय कर ली, ऐसा समझना चाहिए। दिग्व्रत मे जो यातायात की सीमा निश्चित की जाती है, वह उसी परिग्रह सम्बन्धी अनन्त इच्छाओ के दमन करने का एक प्रयास है। इस प्रकार दिग्व्रत का मुख्य उद्देश्य आरम्भ और लोभ को कम करने का है, अत. दिग्वृत में तीर्थक्षेत्रो का यातायात सम्मिलित नही। तीर्थ यात्रा या तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि आदि सुनने के लिए मर्यादा के बाहर भी जाया जा सकता है।

प्रश्नः—दिग्व्रत में मर्यादा किस प्रकार ली जाय ?

उत्तर:—दशो दिशाओ के परिगणित करने मे प्रसिद्ध समुद्र, नदी, अटवी, पर्वत, देश और योजन को मर्यादा कहते है।

मकराकर सरिदटवी गिरिजन पदयोजनानि मर्यादा।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥५५॥

मकराकर समुद्र को कहते है, सरित् गगा, सिन्धु आदि नदियो को कहते है, अटवी का अर्थ दण्डकवन आदि सघन जगल है, गिरि का अर्थ सह्य, विन्ध्य आदि पर्वत है। जनपद का अर्थ वराट, वापी तट आदि देश है और योजन का अर्थ बीस योजन, तीस योजन आदि है। लोक व्यवहार मे चार कोश का एक योजन लिया जाता है। व्रत देने वाले और व्रत लेने वाले को जिनका परिचय प्राप्त है, उन्हे प्रसिद्ध कहते है। पूर्वादि दशों दिशाओ सम्बन्धी सीमा निश्चित करने के लिये समुद्र, नदी, जगल, देश अथवा योजन के खम्भो आदि को मर्यादा रूप से स्वीकृत किया जाता है।

विशेषार्थ:—दिग्व्रत का धारक पुरुष ऐसा नियम करता है कि मै अमुक दिशा में अमुक समुद्र तक या अमुक नदी तक या अमुक जगल तक या अमुक देश तक या इतने योजन तक यातायात करूँगा, बाहर नही। ऐसा करने से उसकी इच्छाएँ अर्थात् परिग्रह सम्बन्धी अनन्त लालसाएँ अपने आप सीमित हो जाती है और जहां परिग्रह सम्बन्धी इच्छाएँ कम हुई वही हिसादि पाप स्वय कम हो जाते है। इसलिये दिग्वलय की सीमा प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिये।

प्रश्न :—दिग्विरतिव्रत को धारण करने वाले पुरुषों के मर्यादा के बाहर क्या होता है ?

उत्तर :—दिग्व्रतो को धारण करने वाले पुरुषो के अणुव्रत की की हुई मर्यादा के बाहर सूक्ष्म पापो की भी निवृत्ति हो जाने से पाँच महाव्रत रूप परिणति प्राप्त होती है।

अवधेर्बहिरणु पाप प्रतिविरते दिग्व्रतानि धारयताम् ।
पञ्च महाव्रत परिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ।।५६।।

जो मनुष्य दशो दिशाओ में आने-जाने की मर्यादा कर दिग्व्रतो को धारण करते है, उनके मर्यादा के बाहर सूक्ष्म पाप भी छूट जाते है, इसलिये उनके अणुव्रत महाव्रत जैसी अवस्था को प्राप्त हो जाते है।

विशेषार्थ :—अणुव्रत धारण करने वाले जीवो का मर्यादा के भीतर गमनागमन जारी रहता है, इसलिये हिसादि पापो का स्थूल रूप से ही त्याग हो पाता है। परन्तु मर्यादा के बाहर गमनागमन बिल्कुल ही छूट जाता है, इसलिये मर्यादा के बाह्य क्षेत्र मे उनके अणुव्रत महाव्रतपने को प्राप्त हो जाते है।

प्रश्न :—**गुणव्रतों में महाव्रतों की परिणति कैसे है ?**

उत्तर :—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का मन्द उदय होने से अत्यन्त मन्द अवस्था को प्राप्त हुए, यहां तक कि जिनके अस्तित्व का निर्धारण करना भी कठिन है, ऐसे चारित्र मोह के परिणाम महावृत के व्यवहार के लिये उपचरित होते है – कल्पना किये जाते है।

प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरण मोह परिणामाः ।
सत्त्वेन दुखधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ।।५७।।

'नामकैदेशेन सर्वदेशो गृह्यते' नाम के एक देश से सर्वदेश का ग्रहण होता है, इस नियम से जिस प्रकार भीम पद से भीमसेन का बोध होता है। उसी प्रकार यहाँ प्रत्याख्यान शब्द से प्रत्याख्यानावरण द्रव्य क्रोध, मान, माया, लोभ का ग्रहण होता है, क्योकि प्रत्याख्यान शब्द का अर्थ विकल्पपूर्वक हिसादि पापो का त्याग रूप सयम होता है। उस सँयम को जो आवृत करते है, अर्थात् जिनके उदय से यह जीव हिसादि पापों का पूर्ण त्याग करने के लिए समर्थ नही हो पाता है, वे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहलाते हैं। यह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के होते है। पौद्गलिक कर्म प्रवृत्ति को द्रव्य प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं और उनके उदय से आत्मा मे जो हिसादि पापो के त्याग न करने रूप भाव होते हैं,

उन्हे भाव प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते है। जब गृहस्थ के इन प्रकृतियो का इतना मन्द उदय हो जाता है कि चारित्र मोह के परिणामो का अस्तित्व भी बडी कठिनाई से समझा जाता है, तब उनके उपचार से महाव्रत जैसी अवस्था हो जाती है। दिग्व्रत के धारक जीव के मर्यादा के बाहर के क्षेत्र मे हिसादि पापों की स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार की निवृत्ति हो जाती है, इसलिये उनके अणुव्रत महाव्रत-पने को प्राप्त होते है, परमार्थ से नही। परमार्थ से व्यवहार तभी हो सकता है, जब उसके प्रत्याख्यानावरण कषाय का मन्द उदय भी दूर हो जावे।

विशेषार्थ :—मोहनीय कर्म के दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय की अपेक्षा दो भेद है। उनमे दर्शन मोहनीय आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का घात करता है और चारित्र मोहनीय चारित्र गुण का घात करता है। चारित्र मोहनीय कर्म के कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय की अपेक्षा दो भेद है। इसमे कषाय वेदनीय के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से ४×४=१६ भेद होते है। और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष, नपु सक वेद की अपेक्षा अकषाय वेदनीय के नौ भेद है। अनन्तानु-बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ आत्मा के सम्यक्त्व गुण को घातते है। यद्यपि ये चारित्र मोह की प्रकृतियाँ है, तथापि इनका उदय रहते हुए सम्यक्त्व गुण प्रकट नही हो पाता, इसलिये इन्हे आगम मे सम्यग्दर्शन का घातक कहा गया है। अप्रत्याख्याना-वरण क्रोध, मान, माया, लोभ, एकदेश चारित्र को घातते है अर्थात् इनका उदय रहते हुए श्रावक के व्रतरूप देशचारित्र प्रकट नही हो सकता। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, सकल चारित्र को घातते है, अर्थात् इनका उदय रहते हुए मुनि के व्रतरूप सकल चारित्र प्रकट नही हो सकता और सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, यथाख्यात चारित्र को घातते है, अर्थात् इनका उदय रहते हुए पूर्ण वीतराग रूप यथाख्यात चारित्र प्रकट नही हो पाता। इन अन्तानुबन्धी आदि चारो कषायो की तीव्रतर, तीव्र, मन्द और मन्दतर के भेद से चार-चार प्रकार की अनुभाग दशाएँ होती है। अनन्तानुबन्धी आदि प्रकृतियो के तीव्रतर आदि अवस्थाओं का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अनन्तानुबन्धी के उदय से सहित एक जीव निर्ग्रन्थ साधु का घात करने के लिए प्रवृत होता है और एक स्वयं निर्ग्रन्थ साधु बनकर अट्ठाइस मूल-गुणो का पालन करता हुआ कोलू मे पेल देने पर भी सक्लेश का अनुभय नही करता।

एक जीव अनन्तानुबन्धी के उदय काल मे सातवे नरक की तैंतीस सागर की आयु का बन्ध करता है और एक जीव अनन्तानुबन्धी के उदय काल मे नौवें ग्रैवेयक के अहमिन्द्र की इकतीस सागर की आयु का बन्ध करता है। यद्यपि अन्तानुबन्धी आदि कषायो के मन्दोदय के काल मे इस जीव की अणुव्रत या महाव्रताचरण रूप परिणति हो जाती है, परन्तु करणानुयोग उसे अणुव्रताचरण या महाव्रताचरण रूप से स्वीकृत नही करता। वह तभी स्वीकृत करता है, जब कि प्रतिपक्षी कषाय का अनुदय हो जाता है। यहा प्रकरण यह है कि दिग्व्रत के धारक जीव के अणुव्रत मर्यादा के बाह्य क्षेत्र मे महाव्रत जैसी परिणति को क्यो प्राप्त होते है? उत्तर यह दिया गया है कि प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का अत्यन्त मन्द उदय रहने से उसके उपचार से महाव्रत जैसा व्यवहार होता है, परमार्थ से नही।

प्रश्न :—उपचार का महाव्रत, साक्षात महाव्रत क्यों नहीं होता ?

उत्तर :—हिसा आदिक पाच पापो का मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करना प्रमत्त विरत-आदि गुणस्थानवर्ती महापुरुषों का महाव्रत होता है।

पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचः कायै.।
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥५८॥

पाप बन्ध में कारणभूत हिसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाच पापो का कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, काय इन नौ कोटियो से त्याग करना महाव्रत कहलाता है। यह महाव्रत प्रमत्त सयतादि गुणस्थानवर्ती मुनियो के ही होता है, अन्य के नही।

विशेषार्थ :—'महच्च तत् व्रतञ्चेति महाव्रतम्'— इस विग्रह के अनुसार जो स्वय महान् है—उत्कृष्ट है, उन्हे महाव्रत कहते है। ससार के अधिकांश प्राणियो की प्रवृत्ति हिसादि पांच पापो मे हो रही है और उसके कारण वे पाप कर्मो का बन्ध कर इसी ससार मे भ्रमण करते रहते है। कुछ ही प्राणी इन हिसादि कार्यो को पाप समझ-कर उनका परित्याग करते है। त्याग करने वाले पुरुषो को आचार्यो ने 'महान्' सज्ञा दी है तथा उनके इस कार्य को 'महाव्रत' नाम दिया है। जो पाप स्वय किया जाता है, उसे कृत कहते हैं। जो दूसरो से कराया जाता है, उसे कारित कहते हैं और किसी के

करने पर जिसकी प्रशसा की जाती है, उसे अनुमोदित कहते है। ये तीन कार्य मन से, वचन से, काय से होते है, इसलिए सब मिलाकर ३×३=९ कोटियो से होते है। यह महाव्रत १ अहिसा महाव्रत, २ सत्य महाव्रत, ३ आचौर्य महाव्रत, ४ ब्रह्मचर्य महाव्रत और परिग्रह त्याग महाव्रत के भेद से पाँच प्रकार का होता है। इसका प्रारम्भ प्रमत्तसयत नामक छठवे गुणस्थान से ही होता है। इसके पूर्व पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव का व्रत अणुव्रत कहलाता है। इसके पूर्ववर्ती चार गुणस्थान वर्ती जीव अव्रती कहलाते है। अर्थात् उनमे कोई व्रत नही होता। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय का मन्द उदय होने से किन्ही जीवो के अणुव्रतो और महाव्रतो का आचरण होने लगता है, पर करणानुयोग उन्हे अणुव्रत और महाव्रत नही मानता।

प्रश्न :—दिग्व्रत के अतिचार कौनसे है ?

उत्तर :—अज्ञान अथवा प्रमाद से ऊपर, नीचे और तिर्यक् अर्थात् समान धरातल की सीमा का उल्लघन करना, क्षेत्र का बढा लेना और की हुई सीमाओ का भूल जाना ये पाच दिग्विरति व्रत के अतिचार माने जाते है।

ऊर्ध्वधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाता. क्षेत्र वृद्धिरवधीनाम् ।
विस्मरणं दिग्विरतेत्याशाः पञ्च मन्यन्ते ।।५९।।

ऊपर पर्वत आदि पर चढते समय, नीचे कुआ, बावड़ी या खान आदि में उतरते समय और तिर्यग् अर्थात् धरातल पर चलते समय प्रमाद अथवा अज्ञान के कारण सीमा का उल्लङ्घन करना, प्रमाद और अज्ञान से किसी दिशा का क्षेत्र बढा लेना और व्रत लेते समय दशो दिशाओ मे आने-जाने की जो सीमाये निश्चित की थी, उन्हे भूल जाना ये पाच दिग्विरति व्रत के अतिचार माने जाते है।

विशेषार्थ :—जैसे किसी ने नियम किया कि मैं दस हजार फुट तक ऊपर जाऊँगा, परन्तु किसी पर्वत पर चढते समय या वायुयान से यात्रा करते समय इस नियम का ध्यान नही रखा और की हुई मर्यादा से अधिक ऊँचाई तक चला गया, यह ऊर्ध्वव्यतिपात नाम का अतिचार है। इसी तरह किसी ने नियम किया कि मै इतने फुट तक नीचे जाऊँगा, परन्तु कुआ या खान आदि मे उतरते समय उस नियम का ध्यान नही रक्खा, यह अधस्ताद् व्यतिपात नाम का अतिचार है। यही बात समान धरातल पर की हुई सीमा के विषय मे समझना चाहिये। क्षेत्र वृद्धि का अर्थ यह है

कि जैसे किसी ने चारो दिशाओं में पचास-पचास कोश तक जाने का नियम किया, परन्तु नियम करने बाद पूर्व दिशा मे ६० कोश की दूरी पर अच्छा कारखाना खुल गया वहां से माल लाने मे अधिक लाभ होने लगा और पश्चिम दिशा मे ऐसा कोई कारखाना नही, अतः नियम लेने वाला पूर्व दिशा की सीमा ६० कोश कर लेता है और पश्चिम दिशा की सीमा घटा कर ४० कोश कर लेता है। यहाँ क्षेत्रफल की अपेक्षा तो प्रतिज्ञा का पालन हुआ, परन्तु प्रतिज्ञा करने का मूल उद्देश्य जो आरम्भ और लोभ कम करने का था उसका भङ्ग हो गया। अत. भगाभग की अपेक्षा अतिचार माना गया है। सीमा के विस्मरण का अभिप्राय ऐसा है, जैसे – किसी ने नियम लिया है कि मै अमुक दिशा मे ४० कोश तक जाऊँगा, पीछे वह नियम भूल कर कहने लगा कि मैंने नियम ४० कोश तक का लिया था या ५० कोश तक का ऐसी दुविधा की स्थिति में ४० कोश से आगे जाने में यह अतिचार होता है। इसी को तत्वार्थ सूत्रकार ने स्मृत्यन्तराधान कहा है, अर्थात् की हुई स्मृति के बदले दूसरी स्मृति का धारण करना।

प्रश्न :—द्वितीयगुणव्रतों में अनर्थदंड का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—वृत धारण करने वाले मुनियों में प्रधान तीर्थकरदेवादि दिग्वृत की सीमा के भीतर प्रयोजन रहित पाप सहित योगो से निवृत्त होने को अनर्थदण्डवृत जानते है।

अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।

विस्मरणमनर्थं दण्डव्रतं विदुर्व्रत धराग्रण्यः ॥६०॥

व्रतधर का अर्थ पञ्च महावृतो को धारण करने वाला मुनि होता है। उन मुनियो मे जो अग्रणी-प्रधान है, वे वृतधराग्रणी कहलाते है। इस तरह मुनियो मे प्रधान तीर्थकर देव आदि ने अनर्थदण्डवृत का लक्षण इस प्रकार कहा है कि दिग्विरति-वृत की मर्यादा के भीतर प्रयोजन रहित पाप पूर्ण मन, वचन, काय के व्यापार रूप योगो से निवृत होना अनर्थदण्डवृत है। दिग्वृत मे मर्यादा के बाहर होने वाले पाप-पूर्ण निरर्थक कार्यो से निवृत्ति होती है और अनर्थदण्डवृत मे दिग्वृत की सीमा के भीतर होने वाले पाप पूर्ण निरर्थक कार्यो से निवृत्ति होती है। यह इन दोनो मे अन्तर है।

विशेषार्थ :—'अपगत अर्थः प्रयोजन येषा ते अपार्थकास्तेभ्य' इस समास के

अनुसार जिनका कुछ भी प्रयोजन नही है, उन्हे अपार्थक या अनर्थ कहते है। 'योग प्रवृत्तिर्दण्ड' योगो की प्रवृत्ति को दण्ड कहते है अर्थात् मन से विचार करना वचन से उपदेश देना और शरीर से कुछ कार्य करना दण्ड कहलाता है। यह दण्ड जब पाप से युक्त होता है, तब अपराध कहलाता है। जैसे किसी के विषय मे खोटा चिन्तन करना, पाप कर्मो का उपदेश देना तथा प्रमाद पूर्वक शरीर से प्रवृत्ति करना आदि, जिन कर्यो से अपना कुछ भी प्रयोजन नही है, ऐसे कार्यो से दूर रहना अनर्थदण्डवृत नाम का दूसरा गुणवृत कहलाता है।

प्रश्न :—अनर्थदंड क्या है?

उत्तर :—गणधर देवादिक पापोपदेश, हिसादान, अपध्यान, दु श्रुति और चर्या इन पाच को अनर्थदण्ड कहते है।

पापोपदेश हिंसा दानापध्यान दुश्रु ती: पञ्च।
प्राहु: प्रमाद चर्य्यामनर्थं दण्डान् दण्ड धरा: ॥६१॥

मन-वचन-काय के अशुभ व्यापार को दण्ड कहते है क्योकि, वे दण्ड डडे के समान दूसरो को पीडा करते है। तथोक्त दण्डो को न धारण करने वाले गणधर देव आदि ने पापोपदेश, हिसादान, अपधान, दु श्रुति और प्रमादचर्या इन पाँच को अनर्थ-दण्ड कहा है। इनसे निवृत्ति होना सो पाँच प्रकार का अनर्थदण्ड वृत है।

विशेषार्थ—पाप का उपदेश देना और पाप का उपदेश सुनना ये दोनों कार्य वचन योग की दुष्प्रवृत्ति रूप है। खोटा चिन्तन करना, यह मनोयोग की दुष्प्रवृत्ति है। और हिसा के उपकरण दूसरो को देना तथा प्रमाद पूर्वक शरीर की प्रवृत्ति करना, यह काय योग की दुष्प्रवृत्ति है। इस प्रकार तीनो योगो की दुष्प्रवृत्तिरूप पाँच कार्य होते है—१ पापोपदेश, २ हिसादान, ३ अपध्यान, ४. दु.श्रुति, ५. प्रमादचर्या ये पाँच कार्य अनर्थदण्ड हैं। इनसे व्यर्थ ही पाप का बन्ध होता है, इसलिए वृती मनुष्य इनसे निवृत होकर पाँच प्रकार के अनर्थदण्डवृत को धारण करता है।

प्रश्न :—पापोपदेश अनर्थ दंड का क्या स्वरूप है?

उत्तर :—पशुओ को क्लेश पहुँचाने वाली क्रियाएँ, व्यापार, हिसा, आरम्भ तथा ठगाई आदि की कथाओ के प्रसग उत्पन्न करना पापोपदेश नाम का अनर्थदण्ड स्मरण करने के योग्य है।

तिर्यक् क्लेश वरिणज्यहिंसारम्भ प्रलम्भनादीनाम् ।
कथा प्रसङ्गः प्रसवः स्मर्त्तव्यः पाप उपदेशः ॥६२॥

जो उपदेश पाप के उपार्जन में कारण हो उसे पापोपदेश कहा है। तिर्यक्क्लेश आदि उसके भेद हैं। हाथी आदि को वश मे करने की प्रक्रिया तिर्यक्क्लेश है, लेन-देन आदि व्यापारियो का वारिणज्या है, प्रारिणवध करना हिसा है, खेती आदिक आरम्भ है, तथा दूसरो को किस तरह ठगना आदि की कला प्रलम्भन है। तिर्यक्क्लेश के समान मनुष्यक्लेश भी होता है, अर्थात् ऐसी क्रियाएँ जिनसे कि मनुष्य को क्लेश होता है। इन सबकी कथाओ का उपस्थित करना अर्थात् बार-बार इनका उपदेश देना सो पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड है। इसका परित्याग करने से पापोपदेश अनर्थदण्डव्रत होता है।

विशेषार्थ—कही-कही पापोपदेश अनर्थदण्ड का ऐसा भी व्याख्यान किया जाता है–'क्लेशतिर्यग्वरिणज्यावधकारम्भ कादिषु पाप सयुत वचन पापोदेश' अर्थात् क्लेश वरिणज्या, तिर्यग्वरिणज्या, वधकोपदेश और आरम्भकोपदेश इस प्रकार के पाप सयुक्त जो वचन हैं, उन्हे पापोपदेश कहते है। इस देश मे दास और दासियाँ सुलभ है। उन्हे अमुक देश मे ले जाकर बेचने मे अधिक लाभ होता है ऐसा उपदेश देना क्लेशवरिणज्या है। गाय, भैस आदि को अमुक देश मे खरीदकर अमुक देश मे ले जाकर वेचने मे अधिक लाभ होता है, ऐसा उपदेश तिर्यग्वरिणज्या है। वागुरिक–मृगादिक को पकडने के लिए जाल फैलाने वाले, शौकरिक-सुअर आदि का शिकार करने वाले और शाकुनिक–पक्षियो को मारने वाले लोगो को यह उपदेश देना कि अमुक स्थान पर मृग, शूकर तथा पक्षी आदिक अधिक है वधकोपदेश है। और किसान आदि आरम्भ कर्त्ताओ को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति का आरम्भ इस उपाय से करना चाहिये, ऐसा उपदेश देना आरम्भकोपदेश है, इस श्लोक का उत्तरार्थ 'ध' प्रति में इस प्रकार है, 'प्रसवः कथा प्रसग पाप उपदेश' इस पाठ मे श्लोक का अर्थ इस प्रकार होता है–तिर्यक्क्लेश आदि को उत्पन्न करने वाली कथाओ का जो प्रसग है, उसे पापोपदेश जानना चाहिये। सस्कृत टीका के द्वारा भी इस पाठ का समर्थन होता है।

प्रश्न :—**हिंसादान क्या है ?**

उत्तर :—गरणधरदेवादिक विज्ञपुरुष फरसा, तलवार, कुदारी, अग्नि, शस्त्र,

विष तथा साकल आदिक हिसा के कारणो के दान को हिसादान नाम का अनर्थदण्ड कहते है।

परशु कृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गिशृंखलादीनाम् ।
वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥६३॥

फरसा तथा कुल्हाडी आदि को परशु कहते है, तलवार को कृपाण कहते है, जमीन खोदने के साधन गेती, कुदारी, फावडा आदि को खनित्र कहते है। अग्नि को ज्वलन कहते है, छुरी, लाठी, भाला आदि को आयुध कहते है, विष सामान्य को शृंगी कहते है। और बन्धन के साधन को शृङ्खला कहते है। ये सब हिसा के कारण है। इनका दूसरो के लिये देना सो हिसादान अनर्थदण्ड है। इनका त्याग करना हिसादान-अनर्थदण्ड व्रत है।

विशेषार्थ—यद्यपि व्रती मनुष्य स्वय के उपयोग के लिये परशु, तलवार तथा गेती, फावड़ा आदि हिसा के उपकरणो को रखता है और सावधानी के साथ उनका उपयोग करता है। परन्तु वह दूसरो के लिये मांगने पर नही देता, क्योकि वह दुरूपयोग नही करेगा, इसका विश्वास नही है, यदि कोई परदेशी मनुष्य भोजन बनाने के लिये अग्नि मागता है, तो उसके लिये अग्नि देना इस अनर्थदण्ड मे नही आता है।

प्रश्न :—अपध्यान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—जिनागम मे निपुण पुरुष, द्वेष के कारण किसी के वध, बन्धन और छेद आदि का तथा राग के कारण परस्त्री आदि का चिन्तन करने को अपध्यान कहते है।

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥६४॥

द्वेष के कारण किसी के मर जाने, बँध जाने अथवा अगोपाङ्ग के छिद जाने आदि का और राग के कारण परस्त्री आदि का आध्यान—बार-बार चिन्तन सो अपध्यान नामक अनर्थदण्ड है, ऐसा जिनशासन के ज्ञाता पुरुप कहते है।

विशेषार्थ—(अपकृष्ट ध्यानम् अपध्यानम्) इस व्युत्पत्ति के अनुसार अपध्यान का अर्थ खोटा ध्यान होता है। खोटा ध्यान राग द्वेप के कारण होता है। राग के वशीभूत होकर परस्त्री आदि का ध्यान होता है, और द्वेप के कारण किसी के

मर जाने, बँध जाने अथवा छिद जाने आदि का विचार होता है। यह सब अपध्यान है–मनोयोग की दुष्प्रवृत्ति है। किसी की हार-जीत का विचार भी इसी अपध्यान मे आता है। इसे पाप बन्ध का कारण जानकर व्रती मनुष्य इससे दूर रहता है। यह अपध्यान-अनर्थदण्डव्रत है।

प्रश्न :—दुश्रुतिका का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—आरम्भ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, अहकार और काम के द्वारा चित्त को कलुषित करने वाले शास्त्रो का सुनना दुश्रुति नाम का अनर्थ-दण्ड है।

आरम्भसङ्ग साहस मिथ्यात्व द्वेष राग मदमदनैः।
चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुति र्भवति ।।६५।।

खेती आदि को आरम्भ कहते है, और परिग्रह को सग कहते है। इन दोनो का वर्णन वार्तानीति मे किया गया है, क्योकि 'कृषि पशुपाल्य वाणिज्य च वार्ता इत्यभिधानात्' अर्थात् खेती, पशुपालन और व्यापार यह सब वार्ता है, यह कहा गया है। अर्थशास्त्र को वार्ता कहते है। साहस का अर्थ अत्यन्त आश्चर्य जनक कार्य है। इसका वर्णन वीर मनुष्यो की कथा मे किया जाता है। अद्वैतवाद तथा क्षणिकवाद मिथ्यात्व है। इसका वर्णन प्रमाण विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक शास्त्र के द्वारा किया जाता है। द्वेष का अर्थ प्रसिद्ध है। यह द्वेष विद्वेषीकरण–द्वेष उत्पन्न करने वाले शास्त्र के द्वारा कहा जाता है। वशीकरण आदि शास्त्र के द्वारा राग उत्पन्न किया जाता है, मद अहकार को कहते है। इसकी उत्पत्ति 'वर्णाना ब्राह्मणो गुरु' वर्णो का ब्राह्मण गुरु है, इत्यादि ग्रन्थो से जानी जाती है। मदन का अर्थ काम है। यह रतिगुण विलास पताका आदि शास्त्रो से उत्कृष्ट होता है। इस प्रकार आरम्भ आदि के द्वारा चित्त को कलुषित करने वाले शास्त्रो का श्रवण करना दु श्रुति नामक अनर्थदण्ड है। इसका त्याग करना दुःश्रुति अनर्थदण्डव्रत है।

विशेषार्थ—जो शास्त्र आरम्भ, परिग्रह, अद्भुत कार्य, मिथ्यात्व, द्वेष राग, अहकार और काम की उत्कटता से चित्त को कलुषित करते है, उन्हे दु श्रुति कहते है। इनके सुनने का त्याग करना दु श्रुति नामक अनर्थदण्डव्रत है। व्रती मनुष्य सदा ऐसे ही शास्त्रो का स्वाध्याय करता है, जिससे उसे अपने सर्वज्ञ–वीतराग स्वरूप की श्रद्धा

दृढ हो जावे। इसके विपरीत जिन शास्त्रो के सुनने से आरम्भ आदि की वृद्धि होती है, वे सब कुशास्त्र है, व्रती मनुष्यो को इन सब का त्याग करना चाहिये।

प्रश्न :—प्रमादचर्या का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—निष्प्रयोजन पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु का आरम्भ करना वनस्पति का छेदना, स्वयं घूमना और दूसरो को घुमाना इन सबको प्रमादचर्या नाम का अनर्थदण्ड कहते है।

क्षितिसलिल दहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम्।
सरणं सरणमपि च प्रमादचर्या प्रभाषन्ते ॥६६॥

व्यर्थ ही पृथ्वी को खोदना, पानी को बिखेरना, अग्नि को जलाना, वायु को रोकना, फल फूल पत्ती आदि को तोडना, स्वय निष्प्रयोजन घूमना और दूसरो को भी निष्प्रयोजन घुमाना यह सब प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड है। इससे निवृत्त होने को प्रमादचर्या अनर्थदण्डव्रत कहते है।

विशेषार्थ—कितने ही लोग पृथ्वी को निष्प्रयोजन खोदने लगते है, पानी सीचने लगते है अथवा तालाब, नदी मे घटो तैरते रहते है, अग्नि को प्रज्वलित करते है, पखा आदि चलाकर वायुकायिक जीवो को त्रास देते है, अथवा सिरहाने या गद्दा आदि मे हवा भर कर उस पर शयन करते है, अनावश्यक फूल-फल, पत्ती आदि को तोडकर वनस्पतिकायिक जीवो का घात करते है, स्वय निष्प्रयोजन घूमते है, और दूसरो को भी निष्प्रयोजन घूमने के लिये प्रेरणा करते है। उनका यह सब कार्य प्रमादचर्या अनर्थदण्ड मे आता है। यह ठीक है, कि अणुव्रत के धारक मनुष्य को स्थावर हिसा का त्याग नही है। परन्तु अनावश्यक स्थावर हिसा मुझसे न हो जावे, इस बात का ध्यान उसे रखना आवश्यक है। 'प्रमादात् चर्या प्रमादचर्या' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमादपूर्वक जितनी प्रवृत्ति है, वह सब प्रमादचर्या अनर्थदण्ड में गर्भित है। वृती मनुष्य इनका त्याग कर प्रमादचर्या अनर्थदण्डवृत को धारण करता है।

प्रश्न :—अनर्थ दंड विरती व्रत के पांच अतिचारों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—राग की तीवृता से हास-परिहास में भद्दे वचन बोलना शरीर की कुचेष्टा करना बकवाद करना भोगपभोग की सामग्री का अधिक सग्रह करना और प्रयोजन का विचार किये बिना ही किसी कार्य का अधिक आरम्भ करना ये पाच अनर्थादण्डविरति वृत के अतिचार है।

कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमति प्रसाधनं पञ्च।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः ।।

यद्यपि कोष मे कदर्प का अर्थ काम है, परन्तु यहाँ काम को उत्तेजित करने वाले भद्दे वचन बोलना कदर्प माना गया है। भद्दे वचन बोलते हुए हाथ आदि अगो से शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य कहलाता है। आवश्यकता से अधिक–निष्प्रयोजन बहुत बोलना मौखर्य कहलाता है। जितने पदार्थ से अपने उपभोग और परिभोग की पूर्ति होती है, उससे अधिक का सग्रह करना अति प्रसाधन कहलाता है, तथा असमीक्ष्य–प्रयोजन का विचार किये बिना ही अधिक कार्य का करना असमीक्ष्याधिकरण है। ये पॉच अनर्थदण्डविरति वृत के अतिचार है।

विशेषार्थ—हमजोली चार मित्र इकट्ठे बैठने पर हँसी-मजाक करते हुए भद्दे-भद्दे वचन बोलकर अपनी वर्गणा का दुरुपयोग करता है। साथ ही सभोगादि का सकेत करते हुए शरीर की भद्दी चेष्टा करते है। मित्र गोष्ठी मे बैठकर घण्टो गपशप करते रहते है। स्नानादि के लिये तालाब या नदी आदि को जाते समय तेल आदि शृङ्गगार सामग्री इतनी अधिक ले जाते है, जो अपनी आवश्यकता से अधिक होती है, तथा दूसरे लोग उसका उपयोग कर जीव घात करते है। कितने ही लोग अपना खुद का प्रयोजन थोडा होने पर भी आरम्भकर्त्ताओ से अधिक आरम्भ कराते है। उनके यह सब काम गृहीत वृत को मलिन करने के कारण अतिचार माने गये है। उमा स्वामी महाराज के उपभोग–परिभोगानर्थक्य के स्थान पर समन्तभद्र स्वामी ने अतिप्रसाधन शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु यह शब्दभेद ही है, अर्थभेद नही।

प्रश्न :—भोगोपभोग परिमाण नामक व्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—विषयो के परिमाण के भीतर विषय सम्बन्धी राग से होने वाली आसक्तियो को कृश करने के लिए प्रयोजनभूत भी इन्द्रिय विषयो का परिगमन करना–सीमा निर्धारित करना भोगपभोग परिमाण नाम का गुणवृत है।

अक्षार्थानां परिसख्यानं भोगोपभोग परिमाणम्।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनुकृतये ।।६७।।

परिग्रह परिमाणवृत की जो सीमा निर्धारित की थी, उसके भीतर विषय सम्बन्धी राग के तीव्र उदय से होने वाली आसक्तियो को अत्यन्त कृश करने के लिये

सुखादिरूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाले भी इन्द्रिय सम्बन्धी विषयो का जो परिसख्यान-नियम किया जाता है, वह भोगोपभोग परिमाण नाम का गुणव्रत है। टीकाकार ने 'अर्थवतामपि' शब्द का एक अर्थ यह किया है कि अर्थ परिग्रहरहित मुनि तो इन्द्रिय विषयो का परिणमन करते ही है, परन्तु अर्थवान्–परिग्रह सहित गृहस्थ भी इन्द्रिय विषयों का जो परिणमन करते है, वह भोगोपभोग परिमाणव्रत कहलाता है।

विशेषार्थ—परिग्रह परिमाणव्रत मे भोग और उपभोग की वस्तुओ की जो सख्या निश्चित की जाती है, उनका प्रतिदिन उपभोग नही होता, इसलिये उस सीमा को और भी सकुचित करने के लिये भोगपभोग परिमाणव्रत धारण किया जाता है। स्पर्शनादि पाच इन्द्रियो के विषय भूत जो पदार्थ है, वे सक्षेप में भोग-उपभोग नाम से व्यवहृत होते हैं। विषय सन्बन्धी राग की तीव्रता से विषयो में जो आसक्तियाँ बढ़ती रहती है, उन्हें कम करने के लिये व्रती मनुष्य इन्द्रिय विषयों की सीमा को और भी सकुचित करता है। भोग और उपभोग मे जो अभक्ष्य अथवा अनुपसेव्य पदार्थ है, उनका तो जीवन पर्यन्त के लिये त्याग होता है और जो भक्ष्य तथा उपसेव्य है, उनका जीवन पर्यन्त के लिये अथवा कुछ काल के लिये भी परिगणन किया जाता है। अभक्ष्य के पाच प्रकार है—१ त्रस घात, २ प्रमाद, ३. बहुघात, ४. अनिष्ट और ५ अनुपसेव्य। जो मनुष्य त्रसहिसा का त्याग करना चाहता है, उसे मधु और मास का त्याग करना चाहिये, क्योकि उस की उत्पत्ति त्रास घात के बिना नही होती। जो त्रसघात के साथ प्रमाद का परित्याग करना चाहते है, उन्हे मद्य का त्याग करना चाहिये, क्योकि उसके सेवन से त्रसघात और प्रमाद दोनों उत्पन्न होते है। अदरक, मूली, हल्दी आदि के सेवन मे बहुघात होता है। अनिष्ट तथा अनुपसेव्य पदार्थो का सेवन भी सक्लेश का कारण होता है, अत व्रती मनुष्य इनसे दूर ही रहता है। इसके अतिरिक्त भक्ष्य और उपसेव्य पदार्थो के विषय मे भी नियम किया जाता है कि आज इतने अन्न, इतने रस और इतने सचित्त पदार्थो का सेवन करूँगा। इतने वस्त्र, इतने आभूषण तथा इतने शयन-आसन, वाहन आदि ग्रहण करूँगा। इस व्रत का उद्देश्य विषय सम्बन्धी राग को कम करना है।

प्रश्न :—भोग और उपभोग क्या हैं ?

उत्तर :—भोजन और वस्त्र को आदि लेकर पञ्चन्द्रियो सम्बन्धी जो विषय

भोगकर छोड़ देने के योग्य है, भोग है और जो भोगकर फिर से भोगने योग्य, वह उपभोग है।

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशन वसन प्रभृतिः पाञ्चेन्द्रियो विषयः ॥६८॥

जो पदार्थ एक बार भोग कर छोड़ दिये जाते है, फिर से काम मे नही आते ऐसे भोजन, पुष्प, गन्ध तथा विलेपन आदि पदार्थ भोग कहलाते है, जो पहले भोगकर फिर से भोगने में आते है, ऐसे वस्त्र, आभूषण आदि उपभोग कहलाते है। इनकी सीमा निश्चित करना सो भोगोपभोग परिमाण व्रत है।

विशेषार्थ —'भुज्यते सकृत सेव्यते इति भोग' जो एक बार सेवन मे आवे, सो भोग है और 'उपभुज्यते भूयो भूयः सेव्यते' जो अनेक बार सेवन मे आवे, वह उपभोग है। जैसे भोजन और वस्त्र आदि। भोजनादि भोग का दृष्टान्त है और वसनादि उपभोग का।

प्रश्न :—व्रती को छोड़ने योग्य पदार्थ कौन से हैं ?

उत्तर :—जिनेन्द्र भगवान के चरणो की शरण को प्राप्त हुए पुरुषो के द्वारा त्रस जीवो की हिसा का परिहार करने के लिए मधु और मास और प्रमाद का परिहार करने के लिए मदिरा छोडने के योग्य है।

त्रस हति परिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं जिन चरणौ शरणमुपयातैः ॥६९॥

जो जिनेन्द्र देव के चरणो की शरण को प्राप्त है अर्थात् जैन धर्म धारक है ऐसे श्रावको को द्वीन्द्रियादिक त्रस जीवो की हिसा से बचने के लिए मधु और मास का त्याग करना चाहिए तथा प्रमाद से बचने के लिए मदिरा त्याग करना चाहिए। 'यह माला है अथवा स्त्री है' इस प्रकार के विवेक के अभाव को प्रमाद कहते है।

विशेषार्थ —जैन धर्म धारण करने का प्रारम्भिक नियम है कि मद्य, मास और मधु का त्याग किया जावे। इसके बिना जैन धर्म का धारण नही हो सकता। क्षुद्रा, मधुमक्षिका को कहते है। अत 'क्षुद्राभिः निर्वृत्तय' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मधु-मक्षिकाओ के द्वारा रचा हुआ पदार्थ क्षौद्र या मधु कहलाता है। इसमे अनन्त त्रस जीव उत्पन्न होते रहते है। और पिशित-मास द्वीन्द्रियादिक जीवो का कलेवर है। इसकी भी कच्ची तथा पक्की दोनो अवस्थाओ मे अनन्त त्रस जीव उत्पन्न होते

है। इनके सेवन करने से उन जीवो का घात होता है। इसी प्रकार मद्य भी त्रस हिसा का कारण है। साथ ही उसके सेवन से हिताहित का विवेक भी नष्ट हो जाता है। अतः वह भी श्रावक के द्वारा जीवन पर्यन्त के लिए छोड़ने योग्य है।

प्रश्न :—और भी त्यागने योग्य पदार्थ कौन से हैं ?

उत्तर :—अल्प फल और बहुत त्रस जीवो का विघात होने से मूली, गीला अदरक, मक्खन, नीम के फूल और केतकी-केवडा के फूल तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थ भी श्रावक के द्वारा छोड़ने के योग्य है।

अल्पफल बहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि।
नवनीत निम्ब कुसुमं कैतक मित्येवमवहेयम् ॥७०॥

मूली, गीला अर्थात् बिना सूखा अदरक, उपलक्षण से आलू, घुइया, गाजर, शकरकद आदि मक्खन, नीम के फूल, उपलक्षण से सभी प्रकार के फूल तथा केतकी के फूल और इसी प्रकार के अन्य पदार्थ भी अल्पफल और बहुत जीवो का घात होने से छोडने के योग्य है।

विशेषार्थ —जिन वस्तुओ के खाने मे त्रस जीवो का घात होता है, वे तो त्याज्य हैं ही। परन्तु जिनमे अनन्त स्थावर कायो का घात होता है ऐसो मूली तथा गीली अदरक, घुइयाँ आदि भी त्याज्य है। अङ्गुल के असख्यातवे भाग बराबर अवगाहना के धारक एक निगोद जीव के शरीर मे सिद्धो तथा समस्त भूतकाल के अनन्त गुणित जीवो का निवास है। जिह्वा इन्द्रिय सम्बन्धी अल्प सुख के लिए इन सब जीवो का विघात हो जाता है। दूध या दही को मथकर निकाला हुआ मक्खन नवनीत कहलाता है। इसमे अन्तर्मुहुत के पश्चात् असख्य त्रस जीव उत्पन्न हो जाते है। इसी प्रकार नीम आदि फूल मे भी त्रस जीवो के निवास स्थान है। केतकी-केवडा आदि के फूलो मे भी चलते-फिरते त्रस जीव दिखाई देते है। अत उन फूलो मे सुवासित किये हुए कत्था आदि पदार्थ भी श्रावको के द्वारा छोड़ने योग्य है।

प्रश्न :—जो पदार्थ प्रासुक होने पर भी अनिष्ट और अनुपसेव्य हैं, तो उन्हें क्यों छोड़े ?

उत्तर —क्योंकि जो वस्तु अनिष्ट-अहितकर हो उसे छोड़े और जो सेवन करने

योग्य न हो वह भी छोडे क्योकि योग्य विषय मे अभिप्राय पूर्वक की हुई निवृत्ति व्रत होती है।

यद निष्ठ तदव्रत येद्यच्चानुपसेव्य मेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृता विरति विषया द्योग्याद्व्रतं भवति ।।७१।।

जो वस्तु प्रासुक होने पर भी अनिष्ट है अर्थात् उदरशूल आदि का कारण होने से प्रकृति के अनुकूल नही है, उसे छोडना चाहिए। इसी प्रकार जो भी गोमूत्र, ऊँटनी का दूध, शङ्ख चूर्ण, पान का उगाल, लार, मूत्र, पुरीष तथा खकार आदि वस्तुएँ अनुसेव्य है—शिष्ट मनुष्यो के सेवन करने योग्य नही है, उन्हे भी छोडना चाहिए, क्योकि अनिष्टपन और अनुसेव्यपन के कारण छोडने के योग्य है। विषय से अभिप्राय पूर्वक जो निवृत्ति होती है, वह व्रत कहलाता है।

विशेषार्थ —मनुष्य को प्रकृति भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। कोई वस्तु किसी के लिए लाभ दायक है और किसी के लिए हानिकारक है इस तरह जो वस्तु जिसके लिए हानिकारक हो वह प्रासुक–त्रस स्थावर के घात से रहित होने पर भी अनिष्ट कहलाती है। व्रती मनुष्य को इनका त्याग करना चाहिए। इसी प्रकार जो वस्तुएं शिष्ट मनुष्यो मे सेवन मे नही आती है, वे अनुसेव्य है। व्रती मनुष्य को इनका भी त्याग करना चाहिए, क्योकि योग्य विपय का अभिप्राय पूर्वक त्याग किया जाता है, वही व्रत कहलाता है। इस प्रकार व्रती मनुष्य को १ त्रस घात, २ बहुघात, ३. प्रमादवर्धक, ४ अनिष्ट और ५ अनुसेव्य इन पाँच प्रकार के अभक्ष्यो का त्याग करना चाहिए।

प्रश्न :—परिग्रह त्याग दो प्रकार का कैसे है ?

उत्तर .—भोग और उपभोग के परिमाण का आश्रय कर नियम और यम दो प्रकार से व्यवस्थापित है—प्रतिपादित है। उनमे जो काल के परिमाण से सहित है, वह नियम है और जो जीवन पर्यन्त के लिए धारण किया जाता है, वह यम कहलाता है।

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारात् ।
नियमः परिमित कालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ।।७२।।

भोग और उपभोग का परिमाण नियम और यम के भेद से दो प्रकार का होता है। जो परिमाण समय की अवधि से लेकर किया जाता है, वह नियम कहलाता

है और जो जीवन पर्यन्त के लिए धारण किया जाता है, वह यम कहलाता है।

विशेषार्थ—जो वस्तुएँ ऊपर कहे हुए पाँच प्रकार के अभक्ष्य की कोटि में आती है, उनका तो यम रूप से त्याग करना चाहिए अर्थात् जीवन पर्यन्त के लिए त्याग करना चाहिए और जो अभक्ष्य की कोटि मे नही आती है, उनका अपने परिमाण तथा देश-काल की योग्यता देखते हुए नियम और यम दोनो रूप से त्याग किया जाता है।

प्रश्न :—भोगोपभोग परिमाण व्रत में परिमित काल वाला जो नियम रूप त्याग है, वो कैसे ?

उत्तर ·—भोजन, सवारी, शयन, स्नान, पवित्र अङ्गविलेपन, पुष्प, पान, वस्त्र, आभूषण, काम सेवन, सगीत और गीत के विषय मे आज, एक दिन, एक रात अथवा एक पक्ष, एक माह और एक ऋतु—दो माह अथवा एक अयन—छह माह इस प्रकार समय के विभाग पूर्वक त्याग करना नियम होता है।

भोजन वाहन शयन स्नान पवित्राङ्ग राग कुसुमेषु।
ताम्बूल वसन भूषण मन्मथ संगीत गीतेषु ।।७३।।
अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्त्तु रयनं वा।
इति काल परिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियम. ।।७४।।

भोजन का अर्थ प्रसिद्ध है, घोडा आदि को वाहन कहते है, पलग आदि को शयन कहते है, स्नान का अर्थ प्रसिद्ध है, अपवित्र वस्तुओ के सम्पर्क से रहित केशर आदि के विलेपन को पवित्राङ्ग राग कहते है, यह अङ्गराग अञ्जन तथा तिलक आदि का उपलक्षण है। अङ्गराग के साथ जो पवित्र विशेषण दिया गया है, वह दोषो को दूर करने के लिए दिया गया है। इसलिए सदोष औषध तथा अगराग का निराकरण होता है। कुसुम का अर्थ प्रसिद्ध है, ताम्बूल पान को कहते है, वसन वस्त्र को कहते है, कटक आदि को भूषण कहते है, काम सेवन को मन्मथ कहते है, जिसमें गीत, नृत्य और वादित्र ये तीनो होते है, उसे सगीत कहते है और जिसमे केवल गीत होता है, नृत्य और वादित्र नही होते, उसे गीत कहते है। इन सबके विषय मे समय की अवधि लेकर जो त्याग होता है, वह नियम कहलाता है। जिस दिन में एक घड़ी, एक पहर आदि काल का परिमाण कर त्याग करना आज का त्याग है। दिन और रात्रि अर्थ स्पष्ट है। पन्द्रह दिन को पक्ष कहते है। तीस दिन को मास कहते है।

दो मास को ऋतु कहते है। एक वर्ष मे चैत्र और वैशाख से लेकर दो-दो मासो में क्रम से वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर ये, छह ऋतुएँ होती है। उत्तरायण और दक्षिणायन के भेद से वर्ष मे छह-छह मास के दो अयन होते है। इस प्रकार समय की अवधि रखकर भोजन आदि का त्याग करना नियम कहलाता है।

विशेषार्थ :—मै आज एक बार या दो बार भोजन करूँगा, आज सवारी पर नही बैठूँगा, आज पलग पर नही सोऊँगा, आज एक बार ही स्नान करूँगा, आज शरीर मे विलेपन नही लगाऊँगा, आज फूलो की माला नही पहनूँगा, आज पान बिलकुल नही खाऊँगा अथवा इतने परिमाण मे खाऊँगा, आज दो वस्त्र अथवा चार, पाच आदि वस्त्र पहनूँगा, आज आभूषण नही पहनूँगा अथवा इतने आभूषण पहनूँगा, आज काम सेवन नही करूँगा, आज सगीत मे शामिल नही होऊँगा और आज गीत बन्द रक्खूँगा। इस प्रकार काल का परिमाण रखकर जो त्याग किया जाता है, वह नियम कहलाता है। और इन्ही वस्तुओ का जीवन पर्यन्त के लिये जो त्याग होता है, वह यम कहलाता है।

प्रश्न :—भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचारों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—विषय-रूपी विष से उपेक्षा नही होना अर्थात् उसमे आदर रखना, भोगे हुए विषयों का बार-बार स्मरण करना वर्तमान विषयो मे अधिक लम्पटता रखना आगामी विषयो की अधिक तृष्णा रखना और वर्तमान विषय का अत्यन्त आसक्ति से अनुभव करना ये पांच भोगोपभोग परिमाण वृत के अतिचार कहे जाते है।

विषय विषतोऽनुपेक्षानुस्मृति रति लौल्यमतितृषाऽनुभवौ।
भोगोपभोग परिमाणव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥७५॥

विषय विष के समान है, क्योकि जिस प्रकार विष, प्राणियो को दाह तथा सताप आदि कराता है, उसी प्रकार विषय भी प्राणियो को दाह और सताप आदि उत्पन्न कराते है। इस विषय रूपी विष से उपेक्षा नही होना अर्थात् उनके प्रति आदर का भाव बना रहना अनुप्रेक्षा नाम का अतिचार है। विषयो का अनुभव—उपभोग विषय सम्बन्धी वेदना के प्रतिकार के लिये किया जाता है, सो विषयानुभव से वेदना का प्रतिकार हो जाने पर भी फिर से सभाषण तथा आलिङ्गन आदि मे जो आदर है, वह अत्यन्त आसक्ति का जनक होने से अतिचार माना जाता है। विषयानुभव से

वेदना का प्रतिकार हो जाने पर भी सौन्दर्य जनित सुख का साधन होने से विषयो का बार-बार स्मरण करना यह अनुस्मृति नाम का अतिचार है। अत्यन्त आसक्ति का कारण होने से यह अतिचार माना जाता है। विषयो में अत्यन्त गृद्धता रखना अर्थात् विषयानुभव से वेदना का प्रतिकार हो जाने पर भी बार-बार उसके अनुभव की आकाक्षा रखना अतिलौल्य नाम का अतिचार है। आगामी भोगोपभोग आदि की अत्यधिक गृद्धता के साथ प्राप्ति की आकाक्षा रखना अतितृषा नाम का अतिचार है। और नियतकाल मे भी जब भोग और उपभोग का अनुभव करता है, तब अत्यन्त आसक्ति से करता है, वेदना के प्रतिकार की भावना से नही, यह अत्यनुभव नाम का अतिचार है।

विशेषार्थ —तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वामी महाराज ने भोगोपभोग परिमाण वृत के सचित्ताहार, सचित्त सम्बन्धाहार, सचित्तसमिश्राहार, अभिषवाहार और दु पक्वाहार ये पाच अतिचार निरूपित किये है। भोग और उपभोग की वस्तुएँ अनेक है, अत सबसे सम्बद्ध अतिचारो का दिग्दर्शन असम्भव जानकर उन्होने मात्र भोजन सम्बन्धी अतिचारो का वर्णन किया है। उपलक्षण से अन्य भोगोपभोग सम्बन्धी अतिचारो की ओर सकेत किया है। परन्तु समन्तभद्र स्वामी ने भोगोपभोग सामान्य को लक्ष्य मे रखकर अतिचारो का वर्णन किया है। अनुप्रेक्षा, अनुस्मृति, अतिलौल्य, अतितृषा और अत्यनुभव इनका सम्बन्ध प्रत्येक भोग उपभोग के साथ होता है। अनुप्रेक्षा आदि अतिचार क्यो है ? इसका स्पष्टीकरण टीकार्थ मे किया जा चुका है।

✠ शिक्षावृत ✠

प्रश्न :—शिक्षाव्रतो के नाम कौनसे हैं ?

उत्तर :—देशावकाशिक, सामायिक, प्रोपधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षावृत कहे गये है।

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥७६॥

श्लोक मे जो 'वा' शब्द है, वह परस्पर के समुच्चय अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। शिक्षावृत के चार प्रकार कहे गये है—१. देशावकाशिक, २. सामायिक, ३ प्रोषधोपवास और ४ वैयावृत्य। इन सबके स्वरूप ग्रन्थकार स्वय ही आगे कहेगे।

विशेषार्थ :—'शिक्षायै वृत शिक्षावृतम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मुनिवृत की शिक्षा के लिये जो वृत होते है, उन्हे शिक्षावृत कहते है। शिक्षाव्रत चार है, इस विषय मे तो सर्व आचार्य सहमत है। परन्तु उनके नाम निर्धारण में आचार्यो के विभिन्न मत है। सर्वप्रथम कुन्दकुन्द स्वामी ने १ सामायिक, २. प्रोषध, ३ अतिथिपूजा और ४. सल्लेखना इन चार को शिक्षाव्रत माना है। उमास्वामी ने १ सामायिक, २ प्रोष-धोपवास, ३. भोगोपभोग परिमाण और ४. अतिथिसविभाग इन चार को शिक्षावृत कहा है। समन्त भद्र स्वामी ने १ देशावकाशिक, २ सामायिक, ३. प्रोपधोपवास, और ४. वैयावृत्य इन चार को शिक्षाव्रत मे परिगणित किया है। आचार्य वसुनन्दी ने १. भोगपरिमाण, २. उपभोग परिमाण, २ अतिथि सविभाग, ४. सल्लेखना इन चार को शिक्षाव्रत माना है। चूँकि सामायिक और प्रोषध को तृतीय और चतुर्थ प्रतिमा का रूप दिया गया है, इसलिये वसुनन्दी ने इन्हे शिक्षाव्रतो मे शामिल नही किया है। कुन्दकुन्द स्वामी ने देशावकाशिक (देशव्रत) का वर्णन गुणव्रत मे किया है। इसी प्रकार समन्तभद्र स्वामो ने भोगोपभोग परिमाणव्रत को भी गुणव्रतो मे सम्मिलित किया है। कुन्दकुन्द स्वामी की सल्लेखना को शिक्षाव्रत मानने सम्बन्धी मान्यता अन्य आचार्यो को समत नही हुई, क्योकि सल्लेखना मरण काल मे ही धारण की जा सकती है और शिक्षाव्रत सदा धारण किया जाता है। इसी दृष्टि से अन्य आचार्यो ने सल्लेखना का वर्णन बारह व्रतो के अतिरिक्त किया है। इसके स्थान पर उमास्वामी ने अतिथि सविभाग और समन्तभद्र ने वैयावृत्य को शिक्षाव्रत स्वीकृत किया है, वैयावृत्य, अतिथि सविभाग व्रत का ही विस्तृत रूप है। कुन्दकुन्द स्वामी ने सल्लेखना को जो शिक्षाव्रत मे सम्मिलित किया है, उसमे उनका अभिप्राय सल्लेखना की भावना से जान पडता है, अर्थात् शिक्षाव्रत मे सदा ऐसी भावना रखना चाहिये कि मैं जीवनान्त में सल्लेखना से मरण करूँ। ऐसी भावना सदा रक्खी जा सकती है।

प्रश्न :—देशवकाशिक शिक्षाव्रत का क्या लक्षण है ?

उत्तर . – अणुव्रत के धारक श्रावको का प्रतिदिन समय की मर्यादा के द्वारा देश का सकोच किया जाना देशावकाशिक व्रत होता है।

देशावकाशिकं स्यात्काल परिच्छेदनेन देशस्य ।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥७७॥

मर्यादित देश मे नियतकाल तक रहना देशावकाश कहलाता है। या

देशावकाश जिस व्रत का प्रयोजन है, उसे देशावकाशिक व्रत कहते है । दिग्व्रत नामक गुणव्रत मे जीवनपर्यन्त के लिये जो विशाल क्षेत्र निश्चित किया था, उसमे एक दिन, एक पहर आदि काल की मर्यादा लेकर और भी सकोच करना देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहलाता है । वह व्रत अणुव्रत के धारक श्रावको के होता है । 'अणूनि सूक्ष्माणि व्रतानि येषा ते अणुव्रता. तेषाम्' इस प्रकार समास करने से अणुव्रत का अर्थ श्रावक हो जाता है ।

विशेषार्थ :—श्रावक को प्रतिदिन प्रात काल समय की अवधि लेकर अपने यातायात की सीमा निश्चित करना चाहिये, क्योकि दिग्व्रत का क्षेत्र जीवनपर्यन्त के लिये होने से विस्मृत होता है । उतने विस्तृत क्षेत्र मे प्रतिदिन गमन नही होता । इसलिये अपनी उस दिन की आवश्यकताओ को देखकर विस्तृत क्षेत्र को सकुचित कर देना चाहिये ।

प्रश्न :—देशवकाशिकव्रत में किस प्रकार मर्यादा की जाती है ?

उत्तर :—गणधरदेवादिक चिरन्तन आचार्य घर, छावनी, गाव और खेत, नदो, वन तथा योजनो को देशावकाशिक शिक्षाव्रत की सीमा स्मरण करते है ।

गृह हारिग्रामाणां क्षेत्र नदीदावयोजनानां च ।
देशवकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धा ॥७८॥

'तपसा वृद्धास्तपोवृद्धाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो तप से वृद्ध है, ऐसे गणधरदेवादिक चिरन्तन—प्राचीन आचार्यो का ग्रहण होता है । उन्होने देशावकाशिक व्रत की सीमाये बतलाते हुए मर्यादा के रूप मे घर, छावनी, ग्राम, खेत, नदी, वन अथवा योजन का सीमारूप मे स्मरण किया है । 'सीम्नाम्' यहाँ पर कर्म अर्थ में 'स्मृत्यर्थदयेशा कर्म' इस सूत्र से षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है । सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—स्मृत्यर्थक धातुएँ तथा दय और ईश धातु के कर्म मे षष्ठी विभक्ति होती है ।

विशेषार्थ :—मैं आज अमुक महानुभाव के घर तक जाऊँगा, मैं आज नगर मे बनी हुई छावनी तक जाऊँगा, मैं आज अमुक गाव तक जाऊँगा, मैं आज अमुक वन तक जाऊँगा और मै आज इतने योजन तक जाऊँगा, इस प्रकार का नियम प्रतिदिन श्रावक को करना चाहिये । चार कोश का एक योजन होता है । जिस प्रकार आजकल मार्ग मे माइलस्टोन—मील के पत्थर गड़े रहते है, उसी प्रकार पहले योजन के स्तम्भ

बनाये जाते थे । सीमा निर्धारित करते समय योजन के स्तम्भो की भी सीमा निश्चित की जाती थी । आजकल उसके स्थान पर मील के पत्थर की सीमा निश्चित की जा सकती है ।

प्रश्न :—देशावकाशिक व्रत में कालावधि का प्रतिपादन किस प्रकार है ?

उत्तर :—गणधर देवादिक बुद्धिमान् पुरुष एक वर्ष एक ऋतु – दो माह, एक अयन – छह माह, एक माह, चार माह, एक पक्ष – पन्द्रह दिन और एक नक्षत्र को देशावकाशिक व्रत की काल की मर्यादा कहते है ।

संवत्सरमृतुमयनं मास चतुर्मास पक्ष मृक्षं च ।
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ।।७९।।

देशावकाशिक व्रत मे काल की मर्यादा बताते हुए गणधर देवादिक ने एक वर्ष, एक ऋतु, एक अयन, एक माह, चार माह, एक पक्ष अथवा एक नक्षत्र को कालावधि कहा है । अर्थात् सवत्सर आदि की सीमा लेकर देशावकाशिक व्रत मे यातायात का क्षेत्र निश्चित किया जाता है । ऋक्ष नक्षत्र दो प्रकार के होते है— एक चन्द्र भुक्ति की अपेक्षा और दूसरे सूर्य भुक्ति की अपेक्षा । चन्द्र भुक्ति की अपेक्षा अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्र प्रतिदिन बदलते रहते है, अर्थात् एक दिन मे एक नक्षत्र रहता है और सूर्य भुक्ति की अपेक्षा एक वर्ष मे अश्विनी आदि सत्ताईस नक्षत्र क्रम से परिवर्तित होते है । सवत्सर आदि का अर्थ स्पष्ट है ।

विशेषार्थ :—देशावकाशिक व्रत के क्षेत्र की अवधि का वर्णन पूर्व श्लोक मे किया गया था, यहाँ काल की अवधि का वर्णन किया गया है । उसे इस प्रकार समझना चाहिये कि मै एक वर्ष तक, अथवा अमुक ऋतु – दो माह तक, एक अयन – छह माह तक, एक माह तक, चार माह तक, एक पक्ष तक अथवा अमुक नक्षत्र तक इस स्थान से आगे नही जाऊँगा । इस प्रकार समय की सीमा निश्चित करना चाहिये । दिग्व्रत जीवन पर्यन्त के लिये होता है, परन्तु देशावकाशिक व्रत समय की मर्यादा लेकर धारण किया जाता है ।

प्रश्न :—देशावकाशिक व्रत के लेने पर मर्यादा के आगे क्या होता है ?

उत्तर :—सीमाओ के अन्त भाग के आगे स्थूल और सूक्ष्म पाँचो पापो का सम्यक् प्रकार त्याग हो जाने से देशावकाशिक व्रत के द्वारा भी महाव्रत सिद्ध किये जाते है ।

सीमान्तानां परतः स्थूलेतर पञ्च पाप संत्यागात् ।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥८०॥

देशावकाशिक व्रत में जो क्षेत्र और काल की अपेक्षा सीमाएँ निर्धारित की गई है, उनके आगे हिसादि पांच पापो का स्थूल तथा सूक्ष्म दोनो प्रकार से परित्याग हो जाता है, इसलिये दिग्व्रत के समान देशावकाशिक व्रत के द्वारा भी महाव्रतो की साधना की जाती है ।

विशेषार्थ—क्षेत्र मर्यादा मे जो गृह, छावनी आदि की मर्यादा ली थी तथा काल मर्यादा मे जो सवत्सर आदि की मर्यादा निश्चित की थी, उन मर्यादाओं के आगे गमन न होने से स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार से पांच पापो का परित्याग हो जाता है । इसलिये वहां अणुव्रत धारियो के भी महाव्रत जैसी अवस्था हो जाती है ।

प्रश्न :—देशावकाशिक व्रत के अतिचारों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—प्रेषण, शब्द, आनयन, रूपाभिव्यक्ति और पुद्गलक्षेप ये पाच देशावकाशिक शिक्षाव्रत के अतिचार कहे जाते है ।

प्रेषण शब्दानयनं रूपाभिव्यक्ति पुद्गल क्षेपौ ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥८१॥

स्वय मर्यादित देश में रहकर 'तुम यह काम करो' इस प्रकार कहकर दूसरे को मर्यादा के बाहर भेजना प्रेषण नाम का अतिचार है । मर्यादा के बाहर कार्य करने वाले कार्यकर्ताओ के प्रति खकार या खाँसी आदि शब्द करना शब्द नाम का अतिचार है । मर्यादा के बाह्य क्षेत्र में रहने वाले लोगो को प्रयोजन वश यह आज्ञा देना कि तुम अमुक वस्तु लाओ आनयन नाम का अतिचार है । स्वय मर्यादित क्षेत्र के भीतर स्थित रहकर बाह्य क्षेत्र मे काम करने वाले लोगो को अपना शरीर दिखलाना रूपाभिव्यक्ति नाम का अतिचार है और उन्ही लोगो को लक्ष्य कर ककड़ पत्थर आदि फेकना पुद्गल क्षेप नाम का अतिचार है । देशावकाशिक व्रत के ये पाच अतिचार है ।

विशेषार्थ—व्रत धारण करने का मूल प्रयोजन रागादि भावों का नियन्त्रण प्राप्त करना है । जहाँ इन भावो का नियन्त्रण नही हो पाता है, वहाँ व्रत निर्दोष नही पलता है—उसमे अनेक दोष लगने लगते है । उन दोषो का नाम ही अतिचार है । देशावकाशिक व्रत के अतिचारों का वर्णन इस प्रकार है—किसी ने नियम लिया कि मै इतने समय तक इस स्थान से आगे नही जाऊँगा । नियम के अनुसार वह अपने

मर्यादित क्षेत्र मे स्थित है, परन्तु राग की उत्कटता से दूसरे लोगो को मर्यादा के बाहर भेजकर अपना प्रयोजन सिद्ध करता है। यहाँ कृत की अपेक्षा व्रत की रक्षा होती है और कारित की अपेक्षा भग हो जाता है। इस प्रकार भगाभग की अपेक्षा यह प्रेषण नाम का अतिचार है। स्वय तो मर्यादा के भीतर स्थिर रहता है, परन्तु मर्यादा के बाहर काम करने वाले लोगो को खांस कर या खकार कर सावधान करता है, यह शब्द का अतिचार है। मर्यादा के बाहर फोन आदि करना भी इसी अतिचार के अन्तर्गत है। स्वय मर्यादा के भीतर रहकर बाहर के क्षेत्र से किसी वस्तु को बुलवाना आनयन अतिचार है। तार या पत्र देकर आर्डर से वस्तु को बुलवाना भी इसी अतिचार मे गर्भित है। स्वय मर्यादा के क्षेत्र मे स्थित रहकर मर्यादा के बाहर के लोगो को अपना रूप दिखाना, ऐसे स्थान पर बैठना जिससे मर्यादा के बाहर काम करने वाले लोग अपना रूप देखकर सावधानी से काम करते रहे, यह रूपाभिव्यक्ति नाम का अतिचार है। टेलिविजन के द्वारा अपना चित्र प्रसारित करना भी इसी अतिचार के अन्तर्गत है। स्वय मर्यादा के भीतर रहकर मर्यादा के बाहर काम करने वाले लोगो को ककड, पत्थर आदि फेंककर सावधान करना पुद्गल क्षेप नाम का अतिचार है। मर्यादा के बाहर पत्र भेजना भी इसी मे गर्भित है।

प्रश्न :—सामायिक शिक्षाव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—आगम के ज्ञाता गणधर देवादिक सब जगह—मर्यादा के भीतर और बाहर की सम्पूर्ण रूप से पाच पापो का किसी निश्चित समय तक त्याग करने को सामायिक नाम का शिक्षावृत कहते है।

आसमयमुक्ति मुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन ।
सर्वत्र च सामयिका सामयिकं नाम शंसन्ति ।।८२।।

किसी समय की अवधि लेकर उतने समय तक मर्यादा और बाहर दोनो जगह सम्पूर्ण रूप से हिसादि पाच पापो का त्याग करना सामायिक नाम का शिक्षाव्रत कहलाता है। देशावकाशिक व्रत मे मर्यादा के बाह्य क्षेत्र मे पाच पापों का त्याग होता है, मर्यादा के भीतर नही। परन्तु सामायिक शिक्षावृत मे भीतर और बाहर दोनो जगह त्याग होता है। अत उसकी अपेक्षा सामायिक शिक्षावृत मे भेद है। श्लोक मे

जो 'मुक्त' शब्द है, उसमें भाववाचक 'क्त' प्रत्यय हुआ है इसलिये 'मुक्त' का अर्थ 'मोचन' छोड़ना होता है। आसमय मुक्ति यह इसका विशेषण है।

विशेषार्थ—जिनागम मे सामायिक और सामयिक इस तरह दो शब्द प्रचलित है। उनमें 'सामायिक' शब्द का व्युत्पत्यर्थ इस प्रकार है—'समाय'—समता प्रयोजनं यस्य स. सामायिक' इस व्युत्पत्ति के अनुसार समाय—समता भाव की प्राप्ति जिसका प्रयोजन है, वह सामायिक कहलाता है। मुनिवृत मे सदा समता भाव धारण करना पड़ता है, इसलिये मुनियों के पञ्चविध चारित्र में सामायिक शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु गृहस्थ सदा के लिये समता भाव धारण करने मे असमर्थ है, अतः वह दिन में दो बार अथवा तीन बार, दो घड़ी, चार घडी अथवा छह घड़ी के लिये समस्त पापो का परित्याग कर समता भाव धारण करता है। समय की अवधि से सहित होने के कारण उसकी यह क्रिया सामयिक शिक्षावृत कहलाती है। जितने समय की अवधि लेकर वह सामयिक में बैठा है, उतने समय के लिये वह पूर्ण मध्यस्थ रहता है। सुख-दुःख, बन्धु वर्ग—शत्रु सयोग वियोग आदि इष्टानिष्ट परिणतियो मे उसे हर्ष विषाद नहीं होता। तथा पञ्च पापो का भी उतने समय के लिये पूर्ण त्यागी होता है। समन्त भद्र स्वामी ने इस प्रकरण सम्बन्धी समस्त श्लोको मे सामयिक शब्द का ही प्रयोग किया है। इससे जान पडता है, कि उन्हे शिक्षावृत का नाम इष्ट है, सामायिक नही।

प्रश्न :—यहां पर जो समय शब्द कहा उसका स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—आगम के ज्ञाता पुरुष केश, मुट्ठी, वस्त्र बंध के काल को और पालथी बांधने के काल को अथवा खड़े होने के काल को और बैठने के काल को सामायिक का समय जानते है।

मूर्ध रुहमुष्टि वासो बन्धं पर्य्यङ्कबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥८३॥

मूर्ध रुह, मुष्टि और वासस् इन तीन शब्दो का द्वन्द्व समास हुआ है। 'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाण पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस नियम के अनुसार यहां द्वन्द्व के अन्त मे श्रूयमाण बन्ध शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक शब्द के साथ होता है। अतः मूर्धरुह बन्ध, मुष्टिबन्ध और वासोबन्ध ये तीन शब्द निष्पन्न हुए है। बन्ध का अर्थ बन्ध काल है। इसी तरह पर्यंङ्कबन्धन, स्थान और उपवेशन मे और उनके काल का

ज्ञान ग्राह्य है । जब तक चोटी मे गाठ लगी है, मुठी बधी है, वस्त्र मे गाठ लगी है, पालथी बाधकर बैठा हूँ, कायोत्सर्ग मुद्रा से खडा हूँ अथा पद्मासन से बैठा हूँ, तब तक सामयिक करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा सामयिक करने वाला करता है । इसलिये इन सब मे जो काल लगता है, वही सामयिक का काल कहलाता है ।

विशेषार्थ—जिस प्रकार समय का ज्ञान करने के लिये आजकल घडियो का प्रचलन चल पड़ा है, उस प्रकार पहले इनका प्रचलन नही था । पहले समय का ज्ञान करने के लिये श्रावक सामयिक मे बैठते समय ऐसा विचार कर लेते थे कि जब तक सहज स्वभाव से चोटी की गाठ लगी रहेगी, अथवा जब तक मुट्ठी बाध सकूगा, अथवा जब तक दुपट्टा आदि की गाठ सहज स्वभाव से लगी रहेगी, अथवा जब तक पालथी बाधकर निराकुलता से बैठा रहूँगा अथवा जब तक निराकुलता से खडा रहूँगा, अथवा जब तक निराकुलता पूर्वक पद्मासन से बैठा रहूँगा तब तक सामयिक करूँगा । वही उनका सामयिक का काल कहलाता था ।

सस्कृत मे समय का एक अर्थ आचार भी होता है । अत 'समय जानन्ति मर्मज्ञा' यहा पर समय का अर्थ आचार हो सकता है, और आचार का अर्थ विधि है । अत सामयिक के लिये बैठते समय श्रावक को चाहिये कि वह अपने केशो और वस्त्रो को सभालकर बाध ले, जिससे वे बीच मे खुलकर आकुलता उत्पन्न न करे । हाथो की अगुलियो को खुला न रखे, किन्तु उनकी अजुलि बाँध ले । आसनो मे पालथी बाधना, कायोत्सर्ग से खडे होना अथवा पद्मासन से बैठना इन तीन आसनो मे जिस आसन से निश्चित समय तक निराकुलता पूर्वक रह सके उस आसन को स्वीकृत करे सामयिक के बीच मे आसनो मे परिवर्तन न करे । उक्त श्लोक का एक अर्थ यह भी होता है ।

प्रश्न :—सामयिक का विशेष अभ्यास कहां बढ़ाना चाहिये ?

उत्तर :—वह सामयिक निर्मल बुद्धि के धारक श्रावक के द्वारा स्त्री, पुरुष तथा नपुसको से रहित प्रदेश मे, चित्त मे चञ्चलता उत्पन्न करने वाले कारणो से रहित स्थान मे, वनो मे, मकानो मे अथवा मन्दिरो मे भी बढने के योग्य है ।

एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च ।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ।।८४।।

पूर्व श्लोक मे सामायिक का काल बतलाया था, इस श्लोक मे सामायिक का

क्षेत्र बतलाया जा रहा है। सर्वप्रथम सामायिक के लिये एकान्त स्थान होना चाहिये। एकान्त का अर्थ है, जो स्त्री, पुरुष तथा नपु सको से रहित हो। फिर निर्व्याक्षेप स्थान होना चाहिये। अर्थात् जिसमे शीत वायु तथा मच्छर आदि का उपद्रव न हो, ऐसा स्थान अटवियो, अपने मकानो, मन्दिरो अथवा पर्वतो की गुफा आदि मे कही भी हो, वहा प्रसन्न चित्त होकर सामायिक करना चाहिये। 'प्रसन्नधिया' शब्द में प्रसन्न धिर्यस्य स प्रसन्नधिस्तेन' इस प्रकार कर्मधारय समास भी होता है। बहुव्रीहि समास के पक्ष में 'प्रसन्नधिया आत्मना' इस प्रकार विशेष्य की कल्पना ऊपर से करनी चाहिये और कर्म धारय समास के पक्ष में 'प्रसन्नधिया' पद का हेतुरूप से व्याख्यान करना चाहिये।

विशेषार्थ—सामायिक को प्रसन्न चित्त से करना चाहिये, वेगार समझकर नही। और उसके लिये बुद्धि पूर्वक ऐसा स्थान चुनना चाहिये, जहा किसी प्रकार का उत्पात न हो या चित्त को चञ्चल बनाने वाले कारणो का प्रसग उपस्थित न हो। बुद्धिपूर्वक निर्द्वन्द स्थान मे सामायिक के लिये बैठ चुकने पर यदि कोई बाधा उपस्थित होती है, तो उसे उपसर्ग समझकर समता भाव से सहन करना चाहिये।

प्रश्न :—सामायिक में कैसे भाव होने चाहिये ?

उत्तर :—शरीरादिक की चेष्टा और मन की व्यग्रता अथवा कलुषता से से निवृत्ति होने पर मानसिक विकल्पों की विशिष्ट निवृत्ति पूर्वक उपवास के दिन अथवा एकाशन के दिन और अन्य समय भी सामायिक करना चाहिये।

व्यापार वैमनस्याद्वि निवृत्त्या मन्तरात्मविनिवृत्त्या।
सामायिकं बध्नीयादुपवासे चैक भुक्ते वा ॥८५॥

पिछले दो श्लोको मे सामायिक के योग्य काल और क्षेत्र की चर्चा कर चुकने के वाद इस श्लोक मे सामायिक के योग्य भाव की चर्चा की जा रही है। सामायिक किस भाव मे किस समय बढायी जा सकती ? इसका उत्तर देते हुए, कहा गया है कि व्यापार-शरीर और वचन की चेष्टा तथा वैमनस्य—मन की व्यग्रता अथवा मन की कलुषता से विनिवृति होने पर अन्तरात्मा—मानसिक विकल्पो को विशिष्ट रूप से दूर करते हुए उपवास और एकाशन के दिन विशेषरूप से सामयिक को बढ़ाना चाहिये। यहा चकार का ग्रहण किया है, उससे अन्य समयो का भी समुच्चय होता है अर्थात् उपवास और एकाशन के सिवाय अन्य दिनों मे भी सामयिक को बढाना चाहिये।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे सामयिक के योग्य भावो की चर्चा करते हुए कहा

गया है, कि सामयिक के पहले शरीर तथा वचन की चेष्टा अर्थात् शरीर का हिलाना डुलाना तथा वचन का जोर से उच्चारण और वैमनस्य-मन की व्यग्रता अथवा कलुषता को दूर करना चाहिये। साथ ही अन्तरात्मा-मन मे जो नाना प्रकार के विकल्प उठते है, उन्हें विशेष रूप से दूर करना चाहिये। ऐसे भावो से ही सामयिक मे वृद्धि हो सकती है। सामयिक की वृद्धि, उपवास अथवा एकाशन के दिन विशिष्ट रूप से करना चाहिये।

प्रश्न :—क्या सामायिक प्रतिदिन करना चाहिए ?

उत्तर :—आलस्य से रहित और चित्त की एकाग्रता से युक्त पुरुष के द्वारा हिसा त्याग आदि पाँच व्रतों की पूर्ति का कारण सामयिक प्रतिदिन भी योग्य विधि के अनुसार बढाने योग्य है।

सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं।
व्रत पञ्चक परिपूरण करणमवधान युक्तेन ।।८६।।

पिछले श्लोक मे उपवास तथा एकाशन के दिन सामायिक को बढाने की बात कही गई थी, इसलिए कोई ऐसा न समझ ले कि उसी दिन करने के योग्य है, अन्य दिनो में नही। इसका निराकरण करने के लिए इस श्लोक मे कहा गया है कि सामयिक प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधि से करना चाहिए, क्योकि यह सामयिक हिसाविरति आदि पाँच व्रतों की परिपूर्णता अर्थात् उनकी महाव्रतरूपता का कारण है। सामयिक करने वाले पुरुष को आलस्य रहित तथा चित्त की एकाग्रता से युक्त होना चाहिए।

विशेषार्थ :—कितने ही लोग आलस्य के वशीभूत होकर बिस्तर पर बैठे-बैठे ही सामयिक करने लगते है तथा खडे होकर चारो दिशाओ मे दण्डवत्, आवर्त्त तथा शिरोनति नही करते है। अथवा कुछ लोग ऊँघते-ऊँघते हुए सामयिक करते है। उन्हें सचेत करते हुए आचार्य ने 'अनलसेन' विशेषण दिया है, जिसका अर्थ होता है कि सामयिक आलस्य रहित होकर करना चाहिये अर्थात् सामयिक के जो अङ्ग आगम मे बतलाये गये है, उन्हे विधि पूर्वक करना चाहिए। कितने ही लोग मालाएँ फेरने को ही सामयिक समझ लेते है। अत वे चित्त की स्थिरता की ओर ध्यान न देकर मात्र चार-छह मालाएँ फेरकर ही अपना सामयिक का काल पूरा कर लेते है। उन्हे सचेत करते हुए आचार्य ने 'अवधानयुक्तेन' विशेषण दिया है। अर्थात् सामयिक चित्त की

एकाग्रता से युक्त होकर करना चाहिये। सामायिक से हिंसाविरति आदि पांचो व्रतो मे पूर्णता आती है। फलतः उनमे महाव्रत जैसा व्यवहार होने लगता है। इसलिए सामायिक को न केवल उपवास या एकाशन के दिन मे करना चाहिये, किन्तु प्रतिदिन करना चाहिए और जैसा तैसा नही, किन्तु यथावत्-शास्त्रोक्त विधि का उल्लघन न करते हुए करना चाहिए। इस श्लोक मे सामायिक करने वाले पुरुष के लिए जो 'अनलसेन' और 'अवधानयुक्तेन' ये दो विशेषण दिये है, उनसे सामायिक के योग्य द्रव्य का वर्णन आचार्य ने किया है, ऐसा जान पड़ता है। और इससे सामायिक का काल, क्षेत्र, भाव तथा द्रव्य इन चारो की उपेक्षा वर्णन पूर्ण हो जाता है।

प्रश्न :—अणुव्रत ही महाव्रतों मे कैसे परिणत होते है ?

उत्तर :—क्योकि सामायिक के काल मे आरम्भ सहित परिग्रह ही नही है, इसलिए उस समय गृहस्थ उपसर्ग के कारण वस्त्र से वेष्टित मुनि ने समान मुनिपने को प्राप्त होता है।

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्ट मुनिरिव गृही तदा याति यदि भावम् ॥८७॥

जब गृहस्थ सामायिक मे वैठता है, तब उसके खेती आदि के आरम्भ से सहित वाह्य और अन्तरग तथा चेतन अचेतन के भेद से सभी प्रकार के परिग्रह नही होते, इसलिए उस समय वह उपसर्ग से वस्त्र ओढाये हुये मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ —सामायिक मे बैठने वाला गृहस्थ अमुक निश्चित समय के लिए हिंसादि समस्त पापो तथा सब प्रकार के आरम्भो का त्याग कर चुकता है। उतने समय के लिए वह समस्त परिग्रहो का भी त्याग कर देता है। यद्यपि पद के अनुरूप शरीर पर वस्त्र धारण किये हुए है, तो भी उन वस्त्रो मे उसके ममत्व भाव नही रहता। यदि सामयिक के काल मे कोई दुष्ट मनुष्य उसके शरीर पर स्थित उन वस्त्रो को निकालने की चेष्टा करे तो वह सामयिक से विचलित नहीं होता। उसकी उस समय की अवस्था उस मुनि के समान होती है, जिस प्रकार किसी दुष्ट मनुष्य ने उपसर्ग करने के लिये वस्त्र ओढ़ा दिया है। ऐसे मुनि वाह्य में यद्यपि वस्त्र ओढ़े हुये दिखाई देते है, तथापि वस्त्र के प्रति ममत्वभाव न होने से वे वस्त्र रहित ही माने जाते है। इसी प्रकार गृहस्थ भी सामयिक के काल में यद्यपि अपने पद के अनुरूप वस्त्र

धाररग किये हुये है तथापि उन वस्त्रो से उन्हे ममत्वभाव नही रहता। इस प्रकार सामयिक करने वाला गृहस्थ सब प्रकार के परिग्रहो से रहित होने के काररग मुनि जैसी अवस्था को प्राप्त होता है।

प्रश्न :—सामायिक करने वाले गृहस्थ और भी क्या करें ?

उत्तर :—सामयिक को स्वीकृत करने वाले गृहस्थ स्थिर समाधि अथवा गृहीत अनुष्ठान को न छोड़ते हुए मौनधारी होकर शीत, उष्ण तथा दंशमशक परिषह को और उपसर्ग को भी सहन करे।

शीतोष्ण दंशमशक परिषहमुपसर्गमपि च मौन धराः।
सामयिकं प्रतिपन्ना अधि कुर्वीरन्नचल योगाः ॥८८॥

जिन्होने सामयिक को स्वीकार किया है, ऐसे गृहस्थो को अपने योग-ध्यान मे स्थिर रहकर तथा पीडाकारक परिस्थिति के आने पर भी अपनी गृहीत प्रतिज्ञा से विचलित नही होते हुए मौन धारी बनकर शीत, ऊष्ण तथा तिर्यचों के द्वारा किये हुए उपसर्ग को सहन करना चाहिए।

विशेषार्थ —सामयिक में बैठने पर यदि सर्दी, गर्मी की बाधा आती है, मच्छरों का उपद्रव होता है अथवा दुष्ट देव, मनुष्य या तिर्यंचो के द्वारा कोई उपसर्ग किया जाता है, तो उसे दीनता के वचन न कहते हुए चुपचाप सहन करना चाहिए तथा अपनी गृहीत प्रतिज्ञा से विचलित नही होना चाहिये।

प्रश्न :—सामायिक में क्या विचार करे ?

उत्तर :—सामयिक मे स्थित मनुष्य इस प्रकार ध्यान करे कि मैं शरण रहित, अशुभ, अनित्य दुःख स्वरूप और अनात्मस्वरूप ससार में निवास करता हूँ और मोक्ष उससे विपरीत स्वरूप वाला है।

अशरणमशुभ मनित्यं दुःखमनात्मानभावयामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥८९॥

अपने द्वारा गृहीत कर्मो के वश से चारों गतियो मे परिभ्रमरग करना भव कहलाता है। मै जिस भव मे रह रहा हूँ वह अशररग है—इसमें मृत्यु से कोई रक्षा करने वाला नही है। अशुभ काररगो से उत्पन्न होने तथा अशुभ कार्य को करने के काररग अशुभ है। चारो गतियो मे परिभ्रमरग का काल नियत होने से अनित्य है। दु ख का काररग होने से दु.ख रूप है और आत्म स्वरूप से भिन्न होने के काररग

अनात्मा है। सामयिक मे स्थित मनुष्य इस प्रकार संसार के स्वरूप का विचार कर और मोक्ष इससे विपरीत है अर्थात् शरण है, शुभ है, नित्य है, सुखरूप है तथा आत्म स्वरूप है, इस प्रकार मोक्ष के स्वरूप का विचार करे।

विशेषार्थ :—सामयिक के समय तत्व-चिन्तन होना चाहिए। तत्वो मे प्रमुख जीव तत्व है और जीव तत्व की संसार तथा मोक्ष के भेद से दो अवस्थाएँ हैं। इन दोनो अवस्थाओ का चिन्तन करते हुये ससार और मोक्ष की विशेषता का विचार किया जाता है। ससार की विशेषताओ का चिन्तन करते हुए विचार करना चाहिए कि यह ससार अशरण, अशुभ, अनित्य, दु:ख रूप तथा अनात्मा है अर्थात् आत्मा की शुद्ध अवस्था नही है। परन्तु मोक्ष इससे विपरीत शरण, शुभ, नित्य, सुखरूप तथा आत्मा है—आत्मा की शुद्ध अवस्था है। ऐसा विचार करने से ससार से उपेक्षा और मोक्ष के प्रति आदर का भाव उत्पन्न होता है। जीव की यह ससार अवस्था, कर्म नोकर्मरूप अजीव के सम्बन्ध से हुई है और वह सम्बन्ध भी आस्रव व बन्ध का कारण हुआ है। इस तरह ससार के स्वरूप चिन्तन के अन्तर्गत अजीव आस्त्रव और बन्ध तत्व का चिन्तन आता है। और मोक्ष अवस्था, कर्म-नोकर्म रूप अजीव के साथ जीव का सम्बन्ध विघट जाने से होती है और वह सम्बन्ध का विघटन सवर तथा निर्जरा के द्वारा होता है। इस तरह मोक्ष के स्वरूप-चिन्तन के अन्तर्गत संवर और निर्जरा तत्व का चिन्तन आता है।

प्रश्न :—सामयिक के अतिचार कौन कौन से है ?

उत्तर :—वचन, काय और मन के दुष्प्रणिधान अर्थात् वाग्दुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और अस्मरण ये पाँच परमार्थ से सामयिक के अतिचार प्रकट किये जाते है।

वाक्काय मानसानां दु:प्रणिधानान्यनादरास्मरणे।
सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥६०॥

वचन, काय और मन ये तीन योग है। इनकी खोटी प्रवृत्ति करने को दुष्प्रणिधान कहते है। इस तरह तीन योग सम्बन्धी खोटी प्रवृत्ति के कारण तीन अतिचार होते है। अनादर का अर्थ अनुत्साह है और अस्मरण का अर्थ एकाग्रता का अभाव है। सब मिलाकर सामयिक के पॉच अतिचार कहे जाते है।

विशेषार्थ—मन्त्र या सामयिक पाठ का उच्चारण करते समय अशुद्ध

उच्चारण करना वचन दुष्प्रणिधान कहलाता है। शरीर को हिलाना डुलाना, इधर-उधर देखना, मच्छर को भगाना तथा बीच मे आसन बदलना यह सब कायदुष्प्रणिधान कहलाता है और मन को तत्त्वचिंतन से हटाकर इधर-उधर के विषयो मे लगाना मनोदुष्प्रणिधान है। बेगार समझकर अनुत्साह से सामयिक करना अनादर कहलाता है। चार आदमियो की सुखद गोष्ठी चल रही है। इतने मे सामयिक का समय हो गया। इस स्थिति मे गोष्ठी को छोड़कर अनादर से सामयिक करने को अनादर नाम का अतिचार बनता है। चित्त की एकाग्रता न होने से मन्त्र या सामयिक पाठ को भूल जाना अस्मरण कहलाता है। जब इन पाच अतिचारो को भाव पूर्वक बचाने का प्रयत्न किया जाता है, तभी निरतिचार सामयिक शिक्षाव्रत होता है। ऊपर कहे पाच अतिचारो में यद्यपि मनोदुष्प्रणिधान नामक अतिचार को बचाना कठिन कार्य है, तथापि अभ्यास पूर्वक वह बचाया जा सकता है। उसके विषय मे कहा गया है कि मनोदुष्प्रणिधान योगमूलक और कषायमूलक के भेद से दो प्रकार का है। मन की जो साधारण चञ्चलता है, वह योग मूलक दुष्प्रणिधान है और बुद्धि पूर्वक किसी के इष्ट-अनिष्ट का चिन्तन करने से जो चचलता होती है, वह कषाय मूलक दुष्प्रणिधान है। सर्वप्रथम कषायमूलक दुष्प्रणिधान को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये अर्थात् सामयिक में बैठकर किसी के इष्ट-अनिष्ट का विचार नही करना चाहिये। तदन्तर योग मूलक दुष्प्रणिधान को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। सामयिक मे जो मन्त्र पाठ बोला जाता है, उसके अर्थ की ओर लक्ष्य करने से यह योग मूलक वचन या दुष्प्रणिधान भी दूर किया जा सकता है। धर्मध्यान के जो आज्ञाविचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और सस्थान-विचय अथवा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से अनेक भेद बताये गये है, उनका चिन्तन करने से भी मन की एकाग्रता होती है – अत. सामयिक के साथ ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

प्रश्न :—प्रोषधोपवास का क्या लक्षण है ?

उत्तर :—चतुर्दशी और अष्टमी के दिन सर्वदा के लिये व्रत विधान की वाञ्छा से चार प्रकार के आहारो का त्याग करना प्रोषधोपवास जानना चाहिये।

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु।
चतुरभ्यवहार्य्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ॥६१॥

अन्न, पान, खाद्य और लेह्य के भेद से आहार के चार भेद है। इन चारो

प्रकार के आहार का प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमी के दिन व्रतविधान की इच्छा से त्याग करना प्रोषधोपवास जानना चाहिये। यहाँ 'सदा' शब्द देने से यह बात सिद्ध की गई है कि यह चार प्रकार के आहार का त्याग सदा के लिये – जीवन पर्यन्त की अष्टमी-चतुर्दशी के लिये होना चाहिये, न कि दो-चार माह की अष्टमी-चतुर्दशी के लिये। इसी प्रकार 'इच्छाभिः' पद देने से यह सिद्ध किया गया है कि यह त्याग व्रत धारण करने की भावना से होना चाहिये, न कि लोक व्यवहार में किये हुए धारणा आदि की भावना से। अपनी किसी माँग को स्वीकृत कराने के लिये जो आहार त्याग किया जाता है, उसे धारणा कहते है। धारणा देने के लिये किया गया आहार त्याग प्रोपधोपवास मे सम्मिलित नही है।

विशेषार्थ :—मुनि व्रत मे पराश्रित भोजन होने के कारण चाहे जब निराहार रहना पडता है। यदि गृहस्थ अवस्था मे निराहार रहने का अभ्यास नही किया है, तो मुनि पद मे निराहार रहने का अवसर आने पर सक्लेश होगा, इसलिये गृहस्थ को यह आवश्यक नियम रखा गया है कि प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को चार प्रकार के आहार का बुद्धिपूर्वक त्याग कर निराहार रहने की शिक्षा ग्रहण करे। दाल, भात, रोटी आदि अशन कहलाते है, प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमी की इन चार प्रकार के आहारों का त्याग करना प्रोपधोपवास कहलाता है। प्रोषधोपवास पद का शब्दार्थ ग्रन्थकर्त्ता १९ वे श्लोक में स्वय करेंगे। जैन धर्म मे अष्टमी और चतुर्दशी को अनादि पर्व माना गया है। प्रत्येक मास मे दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार चार पर्व आते है। इन पर्वो के दिन व्रत धारण की इच्छा से चार प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिये। यह त्याग सदा के लिये अर्थात् जीवनपर्यन्त के लिये होता है, समय की अवधि को लेकर नही होता। कुछ टीकाकार 'सदेच्छाभि' के स्थान पर 'सदिच्छाभिः' पाठ की कल्पना कर उसकी व्याख्या करते है—प्रशस्त अभिप्राय से। परन्तु सपादन के लिये प्राप्त प्रतियो मे 'सदेच्छाभि' यही पाठ मिलता है, तथा सस्कृत-टीकाकार ने भी 'सदेच्छाभि' पद की ही टीका की है। इसलिये नवीन पाठ की कल्पना करना उचित मालूम नही होता। प्रोषधोपवास तप का स्वरूप है और तप शक्ति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। ऋतुचक्र का भी मनुष्य की शक्ति पर प्रभाव पडता है। इसलिये पीछे चलकर आचार्यो ने प्रोषधोपवासव्रत को उपवास, अनुपवास तथा एकाशन नाम देकर उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य इन तीन भेदो मे विभक्त कर दिया है। चारो

प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है सिर्फ पानी लेना अनुपवास है और एक बार भोजन करना एकाशन है।

प्रश्न :—उपवास के दिन क्या करना चाहिये ?

उत्तर :—उपवास के दिन पाच पापों, अलकार धारण करना, खेती आदि आरम्भ करना, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थो का लेपन करना, पुष्प मालाएँ धारण करना या पुष्पो को सू घना, स्नान करना, अञ्जन, काजल, सुरमा आदि लगाना तथा नाक से नस आदि सू घना इन सबका त्याग करना चाहिये।

पञ्चानां पापानामलं क्रियारम्भ गन्ध पुष्पाणाम् ।
स्नानाञ्जन नस्याना मुपवासे परिहृतिं कुर्य्यात् ।।९२।।

उपवास करने वाले व्यक्ति को चाहिये कि वह उपवास के दिन हिसा, असत्य, चौर्य, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापो का त्याग करे। शरीर की सजावट, वाणिज्य आदि व्यापार तथा गन्ध पुष्प आदि के प्रयोग और स्नान, अञ्जन तथा नस आदि के सेवन का परिहार-परित्याग करे। यह सब उपलक्षण है, अतः गीत नृत्य आदि राग के कारणो का भी त्याग आ जाता है।

विशेषार्थ :—उपवास का मूल उद्देश्य कषाय, विपय और आहार का त्याग करना है। जिसमे मात्र आहार का त्याग किया जाता है, कपाय और विषयो-स्पर्शनादि पञ्च इन्द्रियो के विषयो का त्याग नही किया जाता वह उपवास नही कहलाता, किन्तु लङ्घन कहलाती है। इसी उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिये आचार्य ने उपवास के दिन न करने योग्य कार्यो का निर्देश किया है। न करने योग्य कार्यो मे स्नान का भी निषेध बतलाया है, सो यहां स्नान शब्द से तेल तथा उद्धर्तन आदि लगाकर किये जाने वाले विशिष्ट स्नान का त्याग समझना चाहिये। शुद्ध प्रासुक जल से किये हुए साधारण स्नान का निषेध नही है, क्योकि उसके बिना जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक तथा पूजन आदि की क्रिया नही हो सकती। श्लोक मे जिन कार्यो के न करने के लिये आचार्य ने निर्देश किया है, वे उपलक्षण मात्र है। इसलिये रागवर्धक गीत, नृत्य आदि का भी उस दिन त्याग करना चाहिये, यह सिद्ध होता है।

प्रश्न :—और भी क्या करना चाहिये ?

उत्तर —उपवास करने वाला व्यक्ति उत्कण्ठित होता हुआ कानो से धर्म-

रूपी अमृत को स्वय पीवे अथवा दूसरो को पिलावे अथवा आलस्य रहित होता हुआ ज्ञान और ध्यान में तत्पर होवे ।

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान् ।
ज्ञान ध्यान परो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥६३॥

समस्त प्राणियो के संतोष का कारण होने से धर्म को अमृत कहा है । उपवास करने वाला व्यक्ति यदि धर्म का विशेष ज्ञाता नही है, तो वह बड़ी उत्सुकता-पूर्वक दूसरे विशिष्ट ज्ञानी जनो के मुख से होने वाले धर्मोपदेश को अपने कानो से सुने और यदि स्वय विशिष्ट ज्ञानी है, तो वह दूसरो को धर्मोपदेश सुनावे । इसके अतिरिक्त आलस्य को जीतता हुआ स्वय ज्ञान और ध्यान मे तत्पर रहे । स्वाध्याय में लीन रहता हुआ अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्म इन बारह भावनाओ के चिन्तन मे दत्तचित्त रहे । अथवा आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चार धर्मध्यान मे तत्पर रहे ।

विशेषार्थ :—उपवास के पूर्व दिन में मध्याह्न का भोजन करने के बाद उपवास का नियम लेकर सब प्रकार के आरम्भ का त्याग करना चाहिये । यहां तक कि शरीरादिक मे भी ममत्वभाव नही रखना चाहिये । एकान्त वसतिकाल में जाकर समस्त पाप पूर्ण योग का त्याग करे, समस्त इन्द्रियों के विषयो से निवृत हो और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति का पालन करता हुआ रहे । धर्मध्यान मे लीन होता हुआ दिन का शेप भाग व्यतीत करे । फिर साध्याकालीन सामायिक कर स्वाध्याय से निद्रा को जीतता हुआ पविभ्र सस्तर पर रात्रि को व्यतीत करे । उपवास के दिन प्रातःकाल उठकर प्रात कालीन सामायिक आदि क्रियाओ को करके प्रासुक द्रव्य से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करे । तदन्तर स्वाध्याय और ध्यान के द्वारा समस्त दिन, रात्रि और तृतीय दिन के अर्ध भाग को व्यतीत करे । इस प्रकार समस्त पाप कार्यो से निवृत होकर जो सोलह पहरो को व्यतीत करता है उसके पूर्ण अहिसाव्रत होता है । देशव्रती श्रावको के भोगोपभोग मूलक ही स्थावर जीवों की हिसा होती है । परन्तु उपवास के दिन भोगोपभोग का त्याग हो चुकता है, इसलिये हिसा का अंश भी उनके नही होता । वचन गुप्ति होने से असत्य पाप से निवृत्ति है, सब प्रकार की वस्तुओं के ग्रहण का अभाव होने से चोरी से निवृत्ति है, मैथुन का त्याग होने से अब्रह्म पाप से

निवृत्ति है और शरीर में भी जब मूर्च्छा-ममता भाव से रहित है, तब परिग्रह से निवृत्ति स्वत. सिद्ध है। इस प्रकार समस्त हिंसादि पापो से रहित वह प्रोषधोपवास करने वाला व्यक्ति उपचार से महाव्रती अवस्था को प्राप्त होता है। परन्तु प्रत्याख्याना-वरण नाम का चारित्र मोह का उदय रहने के कारण वह सयम के स्थान को प्राप्त नही होता है।

प्रश्न :—प्रोषधोपवास का क्या लक्षण है ?

उत्तर :—चार प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है। एक बार भोजन करना प्रोषध है और उपवास करने के बाद पारणा के दिन एक बार भोजन करना वह प्रोपधोपवास है।

चतुराहार विसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥६४॥

अशन, पान, खाद्य और लेह्य के भेद से आहार चार प्रकार का होता है। भात मू ग आदि अशन कहलाते हैं, छाछ आदि पीने योग्य पदार्थ पान कहलाते हैं, लाडू आदि खाद्य पदार्थ है और खड़ी आदि चाटने योग्य पदार्थ लेह्य कहलाते है। इन चारो प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है। एक बार भोजन करना प्रोषध कहलाता है और धारणा तथा पारणा के दिन एकाशन के साथ पर्व के दिन जो उपवास किया जाता है, वह प्रोपधोपवास कहलाता है। 'प्रोषधाभ्या धारणकपारण-कदिने सकृद्भुक्तिभ्यां सह उपवासः प्रोपधोपवासः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार धारणा और पारणा के दिन एकाशन करते हुए अष्टमी तथा चतुर्दशी को उपवास करना प्रोषधोपवास कहलाता है।

विशेषार्थ :—श्री समन्तभद्र स्वामी प्रोपधोपवास का लक्षण इस परिच्छेद के १६वे श्लोक में लिख चुके है और बाद के श्लोको मे उपवास के दिन न करने योग्य तथा करने योग्य क्रियाओ का वर्णन कर चुके है। अब इस श्लोक मे उन्होने पुन उपवास, प्रोषध और प्रोपधोपवास का लक्षण लिखा है जो कि पुनरुक्त सा प्रतीत होता है। यहाँ उपवास का लक्षण तो वही है, जो कि १६वे श्लोक मे लिखा है, परन्तु प्रोपध का लक्षण अतिरिक्त लिखा है और प्रोषधो के साथ जो उपवास है, उसे प्रोषधोपवास कहा है। अन्य ग्रन्थो मे प्रोपध का अर्थ पर्व अष्टमी चतुर्दशी लिखा है। अतः पर्व के दिन किया हुआ उपवास प्रोपधोपवास कहलाता है। वहाँ धारणा और

पारणा के दिन एकाशन करने की चर्चा नही है। यहां इस श्लोक मे धारणा और पारणा के दिन एकाशन की भी चर्चा की गई है। जान पडता है कि समन्तभद्र स्वामी ने इस श्लोक मे किसी अन्य मान्यता का उल्लेख किया है। धारणा के दिन एकाशन करने की चर्चा तो पुरुपार्थसिद्धयुपाय मे अमृतचन्द्र स्वामी ने भी की है। उन्होने प्रोपधोपवास के १६ पहरो का विवरण देते हुए लिखा है कि उपवास के पूर्व दिन मध्याह्नका भोजन करने के वाद उपवास का नियम लेकर एकान्तवसतिका में चला जाना चाहिये। इस सदर्भ मे उन्होने तृतीय दिन के मध्याह्न तक का कार्य विवरण दिया है। इससे सिद्ध होता है कि धारणा के दिन एकाशन किया जाता था। परन्तु पारणा के दिन एकाशन की चर्चा अन्यत्र देखने मे नही आयी। इस श्लोक में आरम्भ का अर्थ सस्कृत टीकाकार ने 'सकृद्भुक्ति' किया है। पर आरम्भ का अर्थ सकृद्भुक्ति' कैसे हो गया, यह बुद्धि में नही आता। आरम्भ का अर्थ आरम्भ ही है। उपवास के पूर्व दिन मध्याह्न के भोजन के वाद उपवास का नियम लेकर 'मुक्त समस्तारम्भ' हुआ था, अब सोलह पहर के बाद वह आरम्भ-गृहस्थी के अन्य कार्य करने के लिये स्वतन्त्र हो जाता है। यह अर्थ प्रसगानुसार सगत प्रतीत होता है। वर्तमान मे उपवास के तीन रूप प्रचलित है—१. सोलह पहर का, २. बारह पहर का और ३. आठ पहर का। सोलह पहर का उपवास पूर्व दिन के मध्याह्न के भोजन के बाद शुरू होता है, और तृतीय दिन के दोपहर तक चलता है। बारह पहर का उपवास पूर्व दिन के शाम के भोजन के बाद शुरू होता है, और तृतीय दिन के सूर्योदय तक चलता है। और आठ पहर का उपवास सूर्योदय के समय से लेकर आगमी दिन के सूर्योदय तक चलता है।

प्रश्न :—प्रोषधोपवास के अतिचारों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो बिना देखे तथा बिना शोधे पूजा आदि के उपकरणो को ग्रहण करना, मल मूत्रादि को छोडना और सस्तर आदि बिछाना तथा अनादर और अस्मरण है, वे प्रोषधोपवास व्रत के पांच अतिचार हैं।

ग्रहणविसर्गा स्तरणान्य दृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे।
यत्प्रोषधोपवास व्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ॥६५॥

यहा जीव-जन्तु है या नही, इस प्रकार चक्षु से देखना दृष्ट कहलाता है, और कोमल उपकरण से प्रमार्जन करना मृष्ट कहलाता है। जिसमें ये दोनो न हो, उसे अदृष्ट मृष्ट कहते है। अदृष्ट मृष्ट शव्द का सम्बन्ध ग्रहण, विसर्ग और आस्तरण इन

तीनो के साथ होता है, इसलिए अदृष्टमृष्ट ग्रहण अतिचार उसके होता है, जो भूख से पीडित होकर अर्हन्त आदि की पूजा के उपकरण तथा अपने वस्त्र आदि बिना देखे, बिना शोधे ग्रहण करता है। अदृष्ट मृष्ट विसर्ग अतिचार उसके होता है, जो भूख से पीडित होने के कारण बिना देखी, बिना शोधी भूमि में मलमूत्र छोड़ता है, और अदृष्ट मृष्टास्तरण अतिचार उसके होता है, जो भूख से पीड़ित होने के कारण बिना देखे, बिना शोधे स्थान पर बिस्तर बिछाता है। इन तीनो के सिवाय अनादर, अस्मरण ये दो अतिचार और होते है। जिसमे अनादर का अर्थ है, भूख से पीडित होने के कारण आवश्यक कार्यो मे आदर नही करना अर्थात् उन्हें उपेक्षा भाव से करना और अस्मरण का अर्थ है अनेकाग्रता अर्थात् चित्त मे एकाग्रता का नही होना।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी इस व्रत के ये ही पाच अतिचार बतलाये है, मात्र शब्दों मे अन्तर है, भाव मे नही। जैसे—१ अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितोत्सर्ग, २. अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितदान, ३ अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जित सस्तरोपक्रमण, ४. अनादर और ५ अस्मरण। अनादर और अस्मरण ये दो अतिचार सामयिक शिक्षाव्रत मे भी आते है। वहां सामयिक से सम्बन्ध है, यहा प्रोषधोपवास से सम्बन्ध है। अनादर का एक अर्थ यह भी उचित जान पडता है कि कोई व्यक्ति उपवास तो करता है, परन्तु अनादर-अनुत्साह पूर्वक करता है। जैसे-ग्रीष्म ऋतु में उपवास की शक्ति क्षीण हो जाने से कोई प्रतिज्ञा पूर्ति के लिए उपवास करता है, उत्साह पूर्वक नही। इसी प्रकार अस्मरण का एक अर्थ यह भी उचित जान पडता है कि पर्व के दिन का स्मरण नही रखना। जैसे-अष्टमी, चतुर्दशी के निकल जाने पर कोई किसी से पूछता है कि आज अष्टमी तो नही है? चतुर्दशी तो नही है? इस तरह समयान्तर मे पूर्व के दिन का उपवास करता है।

प्रश्न :—वैयावृत्य शिक्षाव्रत का लक्षण क्या है ?

उत्तर :—(तपोधनाय) तपरूप धन से युक्त तथा सम्यग्दर्शनादि गुणो के भण्डार गृह त्यागी—मुनीश्वर के लिए विधि, द्रव्य आदि सम्पत्ति के अनुसार प्रतिदान और प्रत्युपकार की अपेक्षा से रहित धर्म के निमित्त जो दान दिया जाता है, वह वैयावृत्य कहलाता है।

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥९६॥

तप ही जिनका धन है, तथा सम्यग्दर्शनादि गुणो के जो निधि आश्रय है, ऐसे भाव आगार और द्रव्य आगार से रहित मुनीश्वर के लिये उपचार–प्रतिदान तथा उपक्रिया–प्रत्युपकार की भावना से रहित अपनी विधि, द्रव्य आदि सम्पदा के अनुसार जो आहार आदि का दान दिया जाता है, वह वैयावृत्य कहलाता है।

विशेषार्थः—व्यावृत्ति, दुःख निवृत्ति प्रयोजन यस्य तत् वैयावृत्यं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार दुःख निवृत्ति जिसका प्रयोजन है, उसे वैयावृत्य कहते है। अन्य आचार्यो ने वैयावृत्य के स्थान पर अतिथिसविभाग शब्द रखा है। अतिथिसविभाग व्रत जिस प्रकार अतिथि के लिए दान की प्रधानता है, उसी प्रकार वैयावृत्य मे भी दान की प्रधानता है, क्योकि आहार आदि दान के द्वारा अतिथि की दु खनिवृत्ति का प्रयोजन सिद्ध होता है। फिर अतिथिसविभाग शब्द को परिवर्तित करने का प्रयोजन क्या है ? यह प्रश्न उठता है। उसका उत्तर यह है कि अतिथिसविभाग शब्द में मात्र चार प्रकार के दानों का समावेश होता है, उसके अतिरिक्त सयमीजनो की जो सेवा-सुश्रुषा है, उसका समावेश नही होता। परन्तु वैयावृत्य शब्द मे दान और सेवा-सुश्रुषा सबका समावेश होता है। इसलिये समन्तभद्र स्वामी ने 'वैयावृत्य' इस व्यापक शब्द को स्वीकृत किया है।

दान देते समय पात्र का विचार करना आवश्यक है। इस लिये पात्र का विचार करते हुए आचार्य ने तीन विशेषण दिये हैं–'तपोधनाय' 'गुणनिधये' और 'अगृहाय' पात्र वही हो सकता है जो तपस्वी हो, सम्यग्दर्शनादि गुणो का आधार हो और गृह त्यागी हो। दान देते समय यही एक उद्देश्य होना चाहिये कि इससे रत्न-त्रय रूप धर्म की वृद्धि हो। दान के बदले मुनीश्वर हमे कुछ देवे अथवा मन्त्र, तन्त्र आदि के द्वारा हमारा कुछ प्रत्युपकार करे ऐसी भावना नही रखना चाहिये। इसके सिवाय दान अपने विभव-सामर्थ्य के अनुसार देना चाहिये, क्योकि सामर्थ्य का उलङ्घन कर जो दान दिया जाता है, वह सक्लेश का कारण होता है।

प्रश्न :—वैयावृत्य माने क्या ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्रीति से देशव्रत और सकलव्रत के धारक सयमी जनो की आई हुई नाना प्रकार की आपत्ति को दूर करना, पैरो का उपलक्षण से हस्तादिक अङ्गो का दवाना और इसके सिवाय अन्य भी जितना उपकार है, वह सब वैयावृत्य कहा जाता है।

व्यापत्ति व्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमीनाम् ।।६७।।

देशव्रती और सकलव्रती के भेद से सयमी दो प्रकार के है। इनके ऊपर यदि बीमारी आदि नाना प्रकार की आपत्तिया आई है, तो उन्हे गुणानुराग से प्रेरित होकर दूर करना, उनके पैर आदि अगो का मर्दन करना तथा इसके सिवाय और भी जितनी कुछ समयानुकूल सेवा है, वह सव वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत है। यह वैयावृत्य व्यवहार अथवा किसी दृष्ट फल की अपेक्षा से न होकर मात्र गुणानुराग अर्थात् भक्ति के वश से की जाती है।

विशेषार्थ :—मुनियो के योग्य छह अन्तरग तपो मे एक वैयावृत्य नाम का तप है। जिसका अर्थ होता है, वालक, वृद्ध अथवा ग्लान-रुग्ण आदि मुनियो की सेवा कर उन्हे मार्ग मे स्थिर रखना। परस्पर की सहानभूति की प्रवृत्ति से ही चतुर्विध मुनि सघ का निर्वाह होता है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, सघ, साधु और मनोज इन दस प्रकार के मुनियो का वैयावृत्य नाम का शिक्षावृत रखा गया है। गृहस्थ को चाहिये कि उसके नगर मे यदि किसी देशव्रती या महाव्रती के ऊपर कोई कष्ट आया है, तो उसे पूर्ण तत्परता के साथ दूर करे। इस वैयावृत्य शिक्षाव्रत मे सभी दानो का समावेश होता है। वैयावृत्य करते समय किसी प्रकार की ग्लानि या मान-अपमान का भाव नहीं रखना चाहिये, क्योकि स्वार्थ बुद्धि से किया हुआ वैयावृत्य धर्म का अग नही होता। सेवा को श्ववृत्ति भी कहा है, और परमधर्म भी कहा है। जव सेवा किसी स्वार्थ बुद्धि से की जातो है, तव श्ववृत्ति-कुकुरवृत्ति कहलाती है और जव नि स्वार्थ भाव से की जाती है, तव परम धर्म कहलाती है-कर्म निर्जरा का कारण मानी जाती है।

प्रश्न :—दान किस को कहते हैं ?

उत्तर —सात गुणो से सहित और कौलिक, आचारिक तथा शारीरिक शुद्धि से सहित गृह सम्बन्धी कार्य तथा खेती आदि के आरम्भ से रहित, सम्यग्दर्शनादि गुणों से सहित मुनियो का नवधा भक्ति पूर्वक जो आहारादि के द्वारा गौरव किया जाता है, वह दान माना जाता है।

नव पुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुण समाहितेन शुद्धने ।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ।।६८।।

जीवघात के स्थान को सूना कहते है। संक्षेप से सूना के पांच भेद है। जैसा कि कहा गया है-खण्डनोति खण्डनी-उखली से कूटना, पेषणी चक्की से पीसना, चुल्ली–चूला सिलगाना, उदकुम्भ-पानी के घट भरना और प्रमार्जनी-बुहारी से भूमि को बुहारना ये पॉच हिसा के कार्य गृहस्थ के होते है, अत. वह मोक्ष को प्राप्त नही होता। खेती आदि व्यापार सम्बन्धी कार्य आरम्भ कहलाते है। जिनके सूना और आरम्भ नष्ट हो चुके है ऐसे सम्यग्दर्शनादि गुणो से सहित मुनियों का आहार आदि दान के द्वारा जो गौरव या आदर किया जाता है, वह दान कहलाता है। यह दान सात गुणों से सहित दाता के द्वारा दिया जाता है। जैसा कि कहा गया है—श्रद्धेति श्रद्धा, सतोष, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्य ये सात गुण जिसके होते है, उस दाता की प्रशसा करते है। इन सात गुणो के सिवाय दाता को शुद्ध भी होना चाहिये। दाता की शुद्धता का विचार तीन प्रकार से किया जाता है–कुल से, आचार से और शरीर से। जिसकी वश परम्परा शुद्ध हो उसे कुल शुद्ध कहते है, जिसका आचरण शुद्ध हो उसे आचार शुद्ध कहते है और जिसने स्नानादि कर शुद्ध वस्त्र धारण किये है, अग भग नही है, तथा जिसके शरीर मे रुधिरादिक को झराने वाली कोई बीमारी नही है, उसे शरीर शुद्ध कहते है। यह दान नव प्रकार के पुण्योपार्जन के कारणो के साथ दिया जाता है। जैसा कि कहा गया है—पडिगहमिति पडिगाहना, उच्च स्थान देना, पाद प्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि और एषण–आहार शुद्धि ये नव पुण्य कहलाते है। इन्ही को नवधा भक्ति कहते है।

विशेषार्थ — इस श्लोक मे दान, दाता, पात्र और दान की विधि बतलाई गई है। पात्र को देखकर उसके प्रति जो आदर प्रकट किया जाता है, वह दान कहलाता है। जो श्रद्धा आदि सात गुणो से सहित हो तथा शुद्ध हो उसे दाता कहते है। जो चक्की, चूला आदि घर सम्बन्धी तथा खेती आदि व्यापार सम्बन्धी आरम्भ से रहित हो ऐसे रत्नत्रय के धारक मुनि ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका तथा आर्यिका आदि पात्र कहलाते हैं और नवधा भक्ति को दान की विधि कहते है। दान देते समय इन सबका विचार रखना चाहिये। दाता के सात गुणो का वर्णन कई प्रकार का मिलता है। एक वर्णन सस्कृत–टीका मे उद्धृत 'श्रद्धा तुष्टि' आदि श्लोक के आधार पर टीकार्थ मे किया जा चुका है। दूसरा वर्णन सस्कृत टीका की 'घ' प्रति मे उद्धृत 'श्रद्धा शक्ति'–आदि श्लोक के आधार पर इस प्रकार है–श्रद्धा, शक्ति, अलुब्धता, भक्ति,

ज्ञान, दया और क्षमा ये सात गुण गृहस्थो के होते है। इस वर्णन मे सतोष के बदले शक्ति और सत्य के बदले दया का उल्लेख हुआ है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे अमृतचन्द्र सूरि ने दाता के निम्नलिखित सात गुण लिखे है—१. ऐहिक फल की अपेक्षा नही करना, २. शान्ति, ३. निष्कपटता, ४. अनसूया–अन्यदातारो से ईर्ष्या नही करना, ५. अविषादित्व, ६. मुदित्व और ७ निरहकारित्व। इस वर्णन में शाति–क्षमा को छोडकर सभी नवीन गुणो का समावेश हुआ है।

प्रश्न :—दान देने का क्या फल है ?

उत्तर :—निश्चय से जिस प्रकार जल खून को धो देता है, उसी प्रकार गृह रहित–निर्ग्रन्थ मुनियों के लिए दिया हुआ दान गृहस्थी सम्बन्धी कार्यो से उपर्जित अथवा सुदृढ़ कर्म को भी नष्ट कर देता है।

गृह कर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथानां प्रतिपूजा रूधिमलं धावते वारि ॥६६॥

जिन्होने अन्तरग और बहिरग से घर का त्याग कर दिया है, तथा सब तिथियाँ जिन्हे एक समान है, किसी खास तिथि से राग-द्वेष नही है, ऐसे मुनियो के लिये जो दान दिया जाता है, वह सावद्य व्यापार–सपाप कार्यो से सचित बहुत भारी कर्म को भी उसी तरह नप्ट कर देता है, जिस तरह कि जल, मलिन रुधिर को धो देता है–नप्ट कर देता है।

विशेषार्थ .—गृहस्थ का जीवन ऐसा जीवन है कि उसमें हिसा के कार्य अवश्य होते है। जैसे उखली से धान आदि को कूटना, चक्की से गेहूँ आदि को पीसना, चूल्हा जलाना, पानी के घट भरना और बुहारी से भूमि को झाडना तथा व्यापार के लिये खेती अदि करना। इन सब कामो मे गृहस्थ के निरन्तर पाप कर्मो का सचय होता रहता है। इस सचय के होते हुए भी यदि गृहस्थ परमार्थ से गृह के त्यागी मुनियो के लिये दान देता है, तो उससे उत्पन्न हुआ पुण्य उस सचित कर्म को उसी तरह शीघ्र नष्ट कर देता है। जिस प्रकार कि पानी मलिन तथा अपवित्र खून को धो डालता है–नष्ट कर देता है।

प्रश्न :—नवधा भक्ति करने से क्या फल होता है ?

उत्तर .—तप के भाँडार स्वरूप मुनियो को नमस्कार करने से उच्च गोत्र, आहारादि दान देने से भोग, प्रतिग्रहण आदि करने से सम्मान, भक्ति करने से सुन्दर रूप और स्तुति करने से सुयश प्राप्त किया जाता है।

उच्चै गोंत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा ।
भक्तेः सुन्दरं रूप स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ।।१००।।

तपस्वियो को प्रणाम करने से उच्च गोत्र, दानादिक देने से भोग, पड़गाहने से पूजा-प्रभावना, भक्ति अर्थात् गुणानुराग से उत्पन्न श्रद्धा विशेष से सुन्दर रूप, तथा 'आप ज्ञान के सागर है' इत्यादि स्तुति करने से कीर्ति प्राप्त होती है ।

विशेषार्थ :—जिस कुल मे मोक्ष मार्ग-मुनिमार्ग का प्रचलन हो, उसे उच्च गोत्र कहते है, ऐसा उच्च गोत्र मुनियो को प्रणाम करने से प्राप्त होता है । सुन्दर एव सुखदायी भोजन आदि को भोग कहते है । इसकी प्राप्ति मुनियो को आहारादि दानो के देने से होती है । सर्वत्र सम्मान का होना पूजा कहलाती है । इसकी प्राप्ति मुनियो की उपासना-पड़गाहना आदि नवधा भक्ति करने से होती है । गुणो के अनुराग से अन्तरग मे जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसे भक्ति कहते है । मुनियो की ऐसी भक्ति करने से सुन्दर रूप प्राप्त होता है । तथा दिग्दिगन्त तक फैलने वाले सुयश को कीर्ति कहते है । इस कीर्ति की प्राप्ति मुनियो के स्तवन से होती है ।

प्रश्न :—थोडा सा दान विशिष्ट फल कैसे प्राप्त कराता है ?

उत्तर :—उचित समय मे योग्य पात्र के लिये दिया हुआ थोड़ा भी दान उत्तम पृथ्वी मे पडे हुए वट वृक्ष के बीज के समान प्राणियो के लिये माहात्म्य और वैभव से युक्त, पक्ष मे छाया की प्रचुरता से सहित बहुत भारी अभिलषित फल को फलता है-देता है ।

क्षितिगतमिव वट बीजं पात्र गतं दानमल्पमपि काले ।
फलति च्छायाविभवं बहु फल मिष्टं शरीरभृताम् ।।१०१।।

जिस प्रकार उत्तम भूमि मे उचित समय में डाला हुआ छोटा-सा वट का बीज ससारी जीवो के बहुत भारी छाया के साथ बहुत से इष्ट फल को फलता है, उसी प्रकार उचित समय मे सत्पात्र के लिये दिया हुआ थोडा भी दान ससारी प्राणियो के लिये अभिलषित सुन्दर रूप तथा भोगोपभोग आदि अनेक प्रकार के फल को प्रदान करता है । दान पक्ष मे 'छाया-विभव' का समास इस प्रकार होता है-'छाया महात्म्य विभव सम्पत् तौ विद्येते यस्मिन् इति फलस्य विशेषण' छाया का अर्थ महात्म्य होता है, और विभव का अर्थ सम्पति होता है । छाया और माहात्म्य ये दोनो जिस फल मे विद्यमान है, दान उस फल को देता है । वट बीज पक्ष में छाया का अर्थ

अनातप–धाम का अभाव होता है और विभव का अर्थ प्राचुर्य–अधिकता लिया जाता है। 'छाया-आतप निरोधिनी तस्या विभव. प्राचुर्य यथाभवत्येव' इस प्रकार क्रिया-विशेषण किया जाता है।

विशेषार्थ :—अधिक परिमाण मे दिया हुआ दान ही सफल होता हो यह आवश्यक नही है। किन्तु योग्य पात्र के लिए योग्य समय मे दिया हुआ थोडा सा दान भी अधिक फल देता है। इस विपय में वट बीज का दृष्टान्त बहुत उपयुक्त है। अर्थात् जिस प्रकार वट का छोटा-सा बीज यदि योग्य समय मे अच्छी भूमि मे डाल दिया जाता है तो वह आगे चलकर बहुत भारी छाया के साथ अनेक इष्ट फल प्रदान करता है। उसी प्रकार सत्पात्र के लिए योग्य काल में यदि थोड़ा भी दान दिया जाता है तो वह आगे चलकर बहुत भारी माहात्म्य और सम्पत्ति के साथ अनेक फल प्रदान करता है। इससे सिद्ध है कि दान मे परिमाण की अपेक्षा भावना का विशिप्ट फल है। दान के विषय मे पात्र का विचार अवश्य रखना चाहिये। पात्र उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारक मुनि उत्तम पात्र है, श्रावक मध्यम पात्र है तथा अविरति सम्यग्दृष्टि गृहस्थ जघन्य पात्र है। मिथ्यादर्शन के साथ जो जैन आचार का पालन करता है, वह कुपात्र कहलाता है तथा मिथ्यादर्शन के साथ जो मिथ्याचार का पालन करता है वह अपात्र कहलाता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य पात्र दान के फलस्वरूप स्वर्ग मे उत्पन्न होता है और मिथ्यादृष्टि मनुष्य भोग भूमि में उत्पन्न होता है। कुपात्र दान का फल कुभोग भूमि है और अपात्रदान का फल नरक-निगोदादिक है।

प्रश्न :— दान कितने प्रकार का है ?

उत्तर :—विद्वज्जन आहार, औषध और उपकरण तथा आवास के भी दान से वैयावृत्य को चार प्रकार का कहते हैं।

आहारौषधयोरप्युकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्त्राः ॥१०२॥

भक्त पान आदि को आहार कहते है, बीमारी को दूर करने वाले पदार्थ को औषध कहते है, ज्ञानोपकरण आदि को उपकरण कहते है और वसतिका आदि को आवास कहते है। इन चारो वस्तुओ को देने से वैयावृत्य चार प्रकर का होता है। ऐसा पण्डितजन निरूपण करते है।

विशेषार्थ :—वैयावृत्य का प्रचलित अर्थ दान है और वह दान चार प्रकार का है—१ आहारदान, २. औषधदान, ३ उपकरणदान, ४. आवासदान। अन्य शास्त्रकारो ने उपकरण दान के स्थान पर ज्ञान दान और आवास दान के स्थान पर अभयदान का उल्लेख किया है। परन्तु ज्ञान दान की अपेक्षा उपकरण दान अधिक व्यापक जान पडता है, क्योकि ज्ञान दान मे मात्र ज्ञान के उपकरण–शास्त्रो का दान गर्भित होता है जबकि उपकरण दान मे सयम का उपकरण–मयूरपिच्छ का तथा शौच का उपकरण-कमण्डलु का दान भी गर्भित हो जाता है। यद्यपि आवासदान-वसतिका का दान, अभयदान का ही एक रूप है तथापि इसकी अपेक्षा आवासदान शब्द अधिक व्यापक जान पडता है। पूज्यपाद तथा अकलक स्वामी ने भिक्षा, औषध उपकरण तथा प्रतिश्रय के भेद से अतिथिसविभाग व्रत के चार भेद माने है, जो कि समन्तभद्राचार्य के द्वारा निरूपित चार भेदो के अनुरूप ही है।

प्रश्न :—वह चार प्रकार का दान किस किस के द्वारा दिया गया ?

उत्तर :—श्रीषेण, वृषभसेना, कौण्डेश और सूकर ये चार भेद वाले वैयावृत्य के दृष्टान्त मानने के योग्य है।

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेश सूकरश्च दृष्टान्ताः ।
वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥१०३॥

श्रीषेण राजा आहारदान, वृषभसेना औषधदान, कौण्डेश उपकरणदान और शूकर आवासदान के दृष्टान्त है, ऐसा जानना चाहिये।

प्रश्न :—क्या वैयावृत्य करने वाले श्रावक को दान और पूजा भी करना चाहिये ?

उत्तर :—श्रावक को आदर से युक्त होकर प्रतिदिन मनोरथो को पूर्ण करने वाले और काम को भस्म करने वाले अरहन्त भगवान के चरणो मे समस्त दु खों को दूर करने वाली पूजा करना चाहिये।

देवाधिदेव चरणे परिचरणं सर्व दुःख निर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥१०४॥

इन्द्रादिक देवो के द्वारा वन्दनीय अरहन्त भगवान देवाधिदेव कहलाते है। उनके चरण वाञ्छित फल को देने वाले है तथा काम को भस्म करने वाले है। श्रावक को चाहिये कि वह आदर पूर्वक प्रतिदिन उनके चरणों की पूजा करे, क्योकि

उनकी पूजा समस्त दु.खों को हरने वाली है।

विशेषार्थ :—गृहस्थ के छह आवश्यक कार्यो में देव पूजा का प्रमुख स्थान है। पूजा करते समय पूज्य, पूजक, पूजा और पूजा के फल का विचार करना चाहिये। जिसने कामादिक विकारी भावों को भस्म कर दिया है ऐसे वीतराग जिनेन्द्रदेव पूज्य है। उपलक्षण से उपर्युक्त विकारी भावों को आशिक रूप से नष्ट करने वाले निर्ग्रन्थ गुरु तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होने से समीचीन शास्त्र भी पूज्य है। यद्यपि ये सब पूजा से प्रसन्न होकर किसी का कुछ नष्ट नही करते है तथापि 'कामदुह' मनोरथो को पूर्ण करने वाले कहे जाते है। उसका कारण यह है कि इनकी पूजा के काल में पुजा करने वाले मनुष्य के हृदय में जो शुभ राग उत्पन्न होता है, उसके फलस्वरूप पुण्यकर्म का बन्ध होता है और पाप कर्म का अनुभाग क्षीण होता है, इसलिए सुख की प्राप्ति और दु.ख का नाश स्वयमेव हो जाता है। उनके गुणो में जिसे अत्यन्त आदर का भाव है वह पूजक कहलाता है। परिचर्या, सेवा, उपासना को पूजा कहते है और समस्त दु:खो का दूर होना पूजा का फल है। यहाँ आचार्य ने 'कामदुहि कामदाहिनि देवाधि देवचरणे' इन पदों के द्वारा पूज्य का वर्णन करते हुए कहा है कि पूज्य वही हो सकता है जो मनोरथो को पूर्ण करने वाला हो तथा कामादिक विकारी भावो को भस्म करने वाला हो। पूजक का वर्णन करते हुए 'आदृता' इस विशेषण द्वारा प्रकट किया है कि पूजक वही हो सकता है जो पूज्य के गुणों में अत्यन्त आदर भाव रखता है। पूजा का वर्णन करते हुये 'परिचरण' शब्द द्वारा प्रकट किया है कि देव, शास्त्र तथा गुरु की उनकी पद के अनुरूप परिचर्या करना अर्थात् प्रतिमारूप देव की अभिषेक तथा पूजन करना, शास्त्रो की विनय करते हुये उनकी सुरक्षा तथा उनके द्वारा प्रतिपाद्य तत्वो का प्रचार करना और निर्ग्रन्थ गुरुओ की पूजा करते हुये उनकी आहारादि की व्यवस्था करना यह सब पूजा कहलाती है। और पूजा के फल का वर्णन करते हुये 'सर्व दु ख निर्हरणम्' इस पद के द्वारा प्रकट किया है कि पूजा सब दु:खो को सम्पूर्ण रूप से नष्ट करने वाली है। सम्यग्दृष्टि पुरुष भगवान् जिनेन्द्र की पूजा करते समय यह भाव रखता है कि हे भगवन्! जैसी शान्त निर्विकार मुद्रा आपकी है वैसी ही मेरी मुद्रा है, यह मेरा स्वभाव है। परन्तु मै स्वभाव को भूलकर विभाव रूप परिणमन करता हुआ ससार के दु:ख उठा रहा हूँ। आपकी पूजा के फलस्वरूप मै यही चाहता हूँ कि मै स्वकीय

शुद्ध स्वभाव मे स्थिर रहूँ । इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के पद की मुझे चाह नही है, उन्हें तो मै अनन्त बार प्राप्त कर चुका हूँ । उपर्युक्त शुद्ध भावो से की हुई पूजा, परिणामो मे अत्यन्त आह्लाद उत्पन्न करती है । पुण्य बन्ध तो उससे होता ही है यदि कुछ समय के लिए स्वरूप समावेश हो गया तो निर्जरा का भी कारण हो जाती है । जो मनुष्य निश्चल भाव से जिस किसी भी विधि से भगवान् की पूजा करता है तो उसके सब मनोरथ सिद्ध होते हैं और दिशाएँ उसकी इच्छाओ को पूर्ण करती है अर्थात् जहाँ जाता है, वही उसकी इच्छाएँ पूर्ण होती है ।

प्रश्न :—पूजा का फल किस किसको मिला ?

उत्तर :—हर्ष से प्रमत्त मेढक ने राजगृह नगर में एक पुष्प के द्वारा भव्य जीवों के आगे अर्हन्त भगवान् के चरणो की पूजा का माहात्म्य प्रकट किया था ।

अर्हच्चरण सपर्या महानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥१०५॥

विशिष्ट धर्मानुराग से हर्षित हुए मेढक ने राजगृह नगर मे भव्य जीवों को बतलाया था कि एक फूल से ही अर्हन्त देव के चरणो की पूजा करने का क्या फल होता है ।

❋ वैयावृत्य के अतिचार ❋

वैयावृत्य के अतिचारों का वर्णन ।

निश्चय से हरित पत्र आदि से देने योग्य वस्तु को ढकना तथा हरित पत्र आदि पर देने योग्य वस्तु को रखना, अनादर, अस्मरण और मत्सरत्व ये पॉच वैयावृत्य के अतिचार कहे जाते है ।

हरितपिधान निधाने ह्यनादरास्मरण मत्सरत्वानि ।
वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥१०६॥

हरे कमल पत्र आदि से आहार को ढाकना हरितपिधान नाम का अतिचार हैं । हरे कमल पत्र आदि पर आहार को रखना हरितनिधान नाम का अतिचार है । देते हुए भी आदर का अभाव होना अनादर कहलाता है । आहारादि दान इस समय ऐसे पात्र के लिए देना चाहिये अथवा देने योग्य वस्तुओ मे यह वस्तु दी है अथवा नही दी है इस प्रकार की स्मृति का अभाव होना अस्मरण कहलाता है और अन्य

दाता के दान तथा गुणो के विषय में असहनशीलता का होना मत्सरत्व कहलाता है। ये पाच वैयावृत्य शिक्षाव्रत के अतिचार कहे जाते है ।

विशेषार्थ :—यहा चार प्रकार के दानो मे आहारदान की मुख्यता से अतिचारो का वर्णन किया जाता है । मुनि सचित वस्तु के त्यागी होते है, अत' उन्हे अचित्त-प्रासुक वस्तु ही दी जाती है । परन्तु उस अचित वस्तु को सचित्त कमल पत्र आदि से ढक कर दिया अथवा सचित्त कमल पत्र आदि पर रखकर दिया इस तरह सचित्त सम्बन्ध की अपेक्षा हरितपिधान और हरितनिधान ये दो अतिचार बनते है । मुनि को आहार दिया तो सही, परन्तु बेगार समझकर अनादर भाव से दिया इस स्थिति मे अनादर नाम का अतिचार बनता है । आहारादि की विधि को भूल जाने अथवा किसी वस्तु के देने या न देने का स्मरण न रखने पर अस्मरण नाम का अतिचार होता है । और दूसरे दाता के गुणो मे असहनशीलता के होने पर मत्सरत्व नाम का अतिचार होता है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने सचित्त निक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पाच अतिचार बताये है । उनमे सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान और मत्सरत्व ये तीन अतिचार तो समन्तभद्र स्वामी के द्वारा प्रतिपादित अतिचारो मे भी परिगणित है । परन्तु परव्यपदेश और कालातिक्रम ये दो अतिचार भिन्न है । दूसरे दातार के द्वारा देने योग्य वस्तु को देना परव्यपदेश है । अथवा स्वय आहार न देकर नौकर-चाकरो से दिलाना यह अनादर नामक अतिचार का ही रूपान्तर है । आहार के समय को उल्लघन कर देर से आहार देना यह कालातिक्रम नाम का अतिचार है ।

प्रश्न :—सामायिक प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर : —जो चार बार तीन तीन आवर्त करता है, चार प्रणाम करता है, कायोत्सर्ग से खड़ा होता है, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्यागी होता है, दो बार बैठकर नमस्कार करता है, तीनो योगो को शुद्ध रखता है और तीनो सध्याओ मे वन्दना करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी है ।

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः ।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोग शुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ।।१०७।।

इस श्लोक मे से सामायिक प्रतिमा का लक्षण बतलाते हुए उसकी विधि का भी निर्देश किया गया है । सामायिक करने वाला पुरुष एक-एक कायोत्सर्ग के बाद चार बार

तीन आवर्त करता है, अर्थात् प्रत्येक दिशा मे "णमो अरहताण" इस आद्य सामायिक दण्डक और "थोस्सामिह्" इस अन्तिम स्तव दण्डक के तीन-तीन आवर्त और एक-एक प्रणाम इस तरह बारह आवर्त और चार प्रणाम करता है। श्रावक इन आवर्तादिक की क्रियाओ को खडे होकर करता है, सामायिक को अवधि के भीतर यथाजात नग्न मूद्राधारी के समान बाह्याभ्यन्तर परिग्रह की चिन्ता से दूर रहता है। 'देववन्दना करने वाले को प्रारम्भ मे और समाप्ति में बैठकर प्रणाम करना चाहिये' इस विधि के अनुसार दो वार बैठकर प्रणाम करता है अर्थात् सामायिक प्रारम्भ करने के लिये प्रथम वार कायोत्सर्ग कर तीन आवर्त करता है, उसके बाद बैठकर पृथिवी में शिर भुकाता हुआ नमस्कार करता है। और सामायिक के बाद कायोत्सर्ग करता है। उसके वाद भी बैठकर पृथिवी मे शिर भुकाता हुआ नमस्कार करता है और सामयिक के बाद कायोत्सर्ग करता है, उसके बाद भी बैठकर पृथिवी में शिर भुकाता हुआ नमस्कार करता है। तीनो को शुद्ध रखता है अर्थात् उनके सावद्य व्यापार का त्याग करता है और तीनो सध्याओ से वन्दना करता है। यह प्रतिमाधारी श्रावक तीनो ही काल प्रात, मध्याह्न और सायंकाल मे कम से कम अडतालीस मिनट तो सामायिक करने को नियम से बैठता है, सामायिक का काल उत्कृष्ट रूप से सवा दो घण्टे का है। दूसरी प्रतिमा मे जो सामायिक शिक्षाव्रत है, उसका शीलव्रत के रूप मे पालन होता है। उसमे २ घडी के समय का और तीन वार करने का नियम नही रहता है। परन्तु सामायिक प्रतिमा मे नियम रहता है।

प्रश्न :—प्रोषधोपवास प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो प्रत्येक मास मे चारो पर्व के दिनों में अपनी शक्ति को न छिपाकर प्रोषध सम्बन्धी नियम को करता हुआ एकाग्रता में तत्पर रहता है, वह प्रोपधोपवास प्रतिमाधारी है।

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनि गुह्यः ।
प्रोषधनियमविधायी प्रणिधिपरः प्रोषधानशनः ॥१०८॥

'प्रोपधेन अनशनमुपवासो यस्यासौ प्रोषधानशन' इस विग्रह के अनुसार धारणा-पारणा के दिन एकासन के साथ पर्व के दिन जो उपवास करता है, वह प्रोष-धोपवास व्रत का धारक कहलाता है। इस प्रतिमा के धारी को प्रत्येक मास की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार पर्व के चारो दिनो में अपनी शक्ति को न छिपा

कर उपवास करना होता है। साथ ही धाररगा-पाररगा के दिन नियम पूर्वक एकासन करना होता है। इस प्रतिमा का धारक शुभ ध्यान मे तत्पर रहता है।

जिन आचार्यो ने प्रोषध का अर्थ एकासन न कर पर्व किया है, उनके मत से 'प्रोषधानशन:' शब्द का समास इस प्रकार होता है 'प्रोषधे पर्वरिग अनशनमुपवासो यस्यासौ' अर्थात् पर्व के दिन जो उपवास करता है। इस पक्ष मे प्रोषधनियमविधायी इस शब्द का विग्रह इस प्रकार होता है—'प्रोषधस्य पर्वरगो नियम विदधातीति प्रोषधनियमविधायी' अर्थात् पर्व के दिन पञ्च पापो, अलकार, आरम्भ, गन्धपुष्प, स्नान, अजन, तथा नस्य आदि के त्याग का जो नियम बताया गया है, उसका पालन करता है और उपवास के समय अपने चित्त को एकाग्र रखता है। अर्थात् शुभ ध्यान मे लीन रहता है। प्रारिगधान 'प्ररिगधि:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्ररिगधि का अर्थ चित्त की एकाग्रता है, उसमें जो तत्पर है, वह प्ररिगधिपर कहलाता है। यहा चित्त की एकाग्रता से शुभ ध्यान का अर्थ ग्राह्य है। श्लोक मे जो 'स्वशक्तिमनिगुह्य' पद दिया गया है, उससे सूचित किया है कि शक्ति के रहते हुए तो अवश्य ही उपवास करना चाहिये। परन्तु वृद्धावस्था या बीमारी आदि के कारण यदि उपवास की शक्ति क्षीरग हो गई है, तो अनुपवास या एकासन भी कर सकता है।

प्रश्न :—सचित्त त्याग प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो दया की मूर्ति होता हुआ, अपक्व – कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द, प्रसून और बीज को नही खाता है, वह यह सचित्त त्यागी है।

मूल फल शाक शाखा करीर कन्द प्रसून बीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्त विरतो दयामूर्तिः ॥१०६॥

मूली, गाजर, शकरकन्द आदि मूल कहलाते है, आम, अमरूद आदि फल कहलाते है, भाजी को शाक कहते है, वृक्ष की नई कोपल को शाखा कहते है, वास के अकुर को करीर कहते है, जमीन मे रहने वाले अगोठा आदि को कन्द कहते है। गोभी आदि के फूल को प्रसून कहते है और गेहूँ चना आदि को बीज कहते है। ये सव अपक्व अवस्था मे सचित्त-सजीव होते है। अत: दया का धारक श्रावक इन्हे नही खाता है, गेहूँ चना आदि बीज हरी अवस्था मे तो सचित्त है ही, परन्तु अकुरोत्पादन की शक्ति की अपेक्षा शुष्क अवस्था मे भी सचित्त माने जाते हैं, अत व्रती मनुष्य इन्हे खण्डित अवस्था मे ही खाता है।

इस श्लोक मे जो मूल आदि वनस्पतिया गिनाई गई है, वे उनकी जातिया

इस प्रतिमा का नाम रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा है। प्रश्न है कि जब छठवी प्रतिमा मे चार प्रकार के आहार का त्याग कराया जा रहा है। तब क्या इसके पहले रात्रि भोजन की छूट रहती है ? दूसरी ओर जब पहली दर्शन प्रतिमा मे ही रात्रि जल का त्याग हो जाता है, तब भोजन की सम्भावना ही कहां रहती ? इस स्थिति मे इस प्रतिमा की क्या उपयोगिता है ? इसका उत्तर यह है कि इस प्रतिमा के पूर्व की प्रतिमाओं मे कृत की अपेक्षा नही, परन्तु इस प्रतिमा मे कृत, कारित, अदुमोदना तथा मन, वचन, काया इन नौ कोटियो से त्याग हो जाता है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक न स्वय रात्रि को भोजन करता है, न दूसरों को कराता है और न करते हुए की अनुमोदना करता है।

किन्ही-किन्ही आचार्यो ने इस प्रतिमा का नाम दिवामैथुन त्याग रखा है, अर्थात् दिन मे मैथुन का त्याग होना। यहा भी प्रश्न होता है कि जब दूसरी प्रतिमा मे ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचारो मे कामतीव्राभिनिवेश नामक अतिचार का त्याग हो जाता है, तब पाचवी प्रतिमा तक दिवामैथुन की सभावना कहा रहती है, जिसका कि इस प्रतिमा मे त्याग कराया जाता है ? बिना कामतीव्राभिनिवेश के दिवामैथुन मे प्रवृत्ति नही हो सकती, उसका उत्तर यह है कि इस प्रतिमा मे उपर्युक्त नौ कोटियो से त्याग होता है।

प्रश्न :—ब्रह्मचर्य प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—शुक्र शोणितरूप मलसे उत्पन्न मलिनता का कारण मलमूत्रादि को झराने वाले दुर्गन्ध से सहित और ग्लानि को उत्पन्न करने वाले शरीर को देखता हुआ जो काम सेवन से विरत होता है, वह ब्रह्मचारी अर्थात् ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारक होता है।

मलबीजंमलयोनिं गलन्मलं पूति गन्धि बीभत्सम्।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमतियो ब्रह्मचारी सः ॥२२॥११३॥

काम से आकुलित स्त्री-पुरुष एक दूसरे के शरीर को देखकर उसके सेवन मे प्रवृत्त होते है। यहा शरीर की यथार्थता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह शरीर मलबीज है अर्थात् शुक्रशोणितरूप मल ही इसका कारण है, मलयोनि है अर्थात् मलिनता-अपवित्रता का कारण है। इससे सदा मलमूत्र तथा पसीना आदि झरता रहता है, दुर्गन्धित है और बीभत्स है अर्थात् समस्त अवयवों मे देखने वालो को ग्लानि

उत्पन्न करने वाले है। इस प्रकार शरीर के घृणित रूप का विचार जो कामसेवन-मैथुन क्रिया से निवृत्त होता है, वह ब्रह्मचारी है।

'ब्रह्मणि आत्मनि चरतीति ब्रह्मचारी' जो आत्मा में चरण करता है-अपने ज्ञातादृष्टा स्वरूप में लीन रहता है, वह ब्रह्मचारी है। जिस पदार्थ से राग घटाना, इष्ट होता है, उसके बिभत्सरूप का चिन्तन करना आवश्यक होता है। यहां आचार्य को शरीर से राग घटाना इष्ट है, उसके बिभत्सरूप का वर्णन किया गया है। तत्त्व दृष्टि से विचार करने पर शरीर घृणा का ही स्थान है, क्योकि माता-पिता के शुक्र-शोणितरूप अपवित्र उपादान से इसकी उत्पत्ति हुई है, मलिनता-अपवित्रता का कारण है, प्रत्येक समय इसके नव द्वारों से अपवित्र पदार्थ झरते है। दुर्गन्धित है, और देखने वालो को ग्लानि उत्पन्न करने वाला है, ऐसे शरीर से राग घटा कर विषय सेवन से निवृत होना ब्रह्मचारी का लक्षण है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिये शरीर की ओर से अनुराग भरी दृष्टि को हटाकर अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में दृष्टि स्थिर करना चाहिये। ब्रह्मचारी की वेषभूषा रहन सहन तथा भोजन आदि सभी सात्त्विक रहते हैं।

प्रश्न .—आरम्भ त्याग प्रतिमाका का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो प्राण घात के कारण सेवा, खेती तथा व्यापार आदि आरम्भ से निवृत्त होता है, वह आरम्भ त्याग प्रतिमा का धारक होता है।

सेवा कृषि वाणिज्य प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणाति पातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥११४॥

यहाँ आरम्भ से निवृत्त होने के लिये ग्रथकार ने 'व्युपारमति' क्रिया का प्रयोग किया है, जो वि, उप और आङ् उपसर्गपूर्वक रम धातु का रूप है। उपसर्गो के कारण उसका अर्थ 'विशेषेण आसमन्तात् आरम्भेभ्य उपरतो जायते' अर्थात् आरम्भ से विशेषतापूर्वक सब ओर से निवृत्त होना होता है। आरम्भ का अर्थ परिग्रह संचय करने की विधि विशेष है। उस विधि मे सेवा-नौकरी, खेती तथा वाणिज्य प्रमुख है। आरम्भ त्याग क्यो किया जाता है ? इसका समाधान करने के लिए आरम्भ का 'प्राणातिपात हेतोः' यह हेत्वर्थक विशेषण दिया है, अर्थात् जो आरम्भ, प्राण घात का हेतु है, उससे उसकी निवृत्त होना चाहिये। इस विशेषण के देने से यह सिद्ध हो जाता है कि आरम्भत्याग प्रतिमा का धारी श्रावक अभिषेक, दान, पूजन आदि का

आरम्भ कर सकता है। उससे उसकी निवृत्ति नही होती, क्योकि वह प्राण घात का कारण नही है, प्राणिहिसा को बचाकर ही कार्य किये जाते है। यहा यह विकल्प उठाया जा सकता है, कि जिस वाणिज्य आदि आरम्भ में प्राणिहिसा नही होती, उसे कर सकता है क्या ? इसका उत्तर टीकाकार ने दिया है कि ऐसे आरम्भ से उसकी निवृत्ति न हो यह हमे अनिष्ट नही है अर्थात् स्वीकृत है, क्योकि जो आरम्भ प्राण घात का हेतु है, उसी से निवृत होने वाले श्रावक के यह प्रतिमा होती है।

प्रश्न यह उठता है कि आरम्भ त्याग प्रतिमा का धारी श्रावक पच सूनाओ का भी त्यागी होता है ? अपने स्नान आदि के लिये पानी भरेगा ? अपने वस्त्र स्वय धोवेगा ? अपने स्थान को बुहारी से साफ करेगा ? और अपने लिये भोजन बनावेगा या नही ? समन्तभद्र स्वामी ने आरम्भ के लिये जो 'सेवा कृषि वाणिज्य प्रमुखात्' और 'प्राणातिपात हेतोः' ये दो विशेषण दिये है, उनसे सिद्ध होता है कि यहा व्यापार सम्बन्धी आरम्भ का त्याग कराना ही उन्हे इष्ट है। सस्कृत टीकाकार का भी यही भाव विदित होता है। आगामी प्रतिमा का नाम परिग्रह त्याग प्रतिमा है उस प्रतिमा की भूमिका के रूप मे आरम्भ त्याग प्रतिमा है, अर्थात जो आगे चल कर परिग्रह का त्याग करने वाला है, उसे इस प्रतिमा में नवीन परिग्रह का अर्जन करना छोड देना चाहिये। जो कुछ पहले का किया हुआ सचय उसके पास है, उसीसे अपना निर्वाह करना चाहिये। सस्कृत टीकाकार की तो यह भी समति जान पड़ती है कि जिस आरम्भ मे प्राणिघात नही है, वह आरम्भ भी किया जा सकता है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक परिग्रह रखते हुए भी निमन्त्रण न होने की स्थिति मे स्वय भोजन बनाकर नही खांबे-भूखा रहे, यह कुछ उचित नही जान पड़ता। इस प्रतिमा का धारक श्रावक भोजन के विषय मे स्वाश्रित है, पराश्रित नही है। इसलिये वह सावधानी पूर्वक अपना भोजन स्वय बना सकता है और पात्र दान का अवसर आता है, तो उसे भी कर सकता है। पानी भरना, कपडे धोना तथा अपने स्थान को कोमल बुहारी आदि से साफ करना यह कार्य स्वय सिद्ध है। 'सेवा कृषि वाणिज्य प्रमुखात्' इस विशेषण में जो प्रमुख शब्द है, उसेसे पशु पालन आदि हिसक व्यापारो का सग्रह करना विवक्षित है, सूनाओं का नही, स्वामी समन्तभद्र ने 'अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्' इस श्लोक मे सूनाओ और आरम्भो का पृथक् पृथक् उल्लेख किया है, इससे सिद्ध होता है कि उन्हे आरम्भ शब्द से व्यापार ही अभीष्ट है, सूनाओ का

आरम्भ में समावेश करना उन्हे अभीष्ट नही है।

प्रश्न :—परिग्रह त्याग प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—दश प्रकार के बाह्य परिग्रह में ममता भाव को छोड़कर निर्ममत्व भाव में लीन होता हुआ जो आत्म स्वरूप मे स्थित तथा सतोष में तत्पर रहता है, वह सब ओर से चित्त में स्थित परिग्रह से विरत होता है।

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्व मुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः संतोषपरः परिचित्त परिग्रहाद्विरतः ॥११५॥

'परि समन्तात् चित्तस्थ. परिग्रहोहि परिचित्त परिग्रहः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो परिग्रह निरन्तर चित्त मे स्थित रहता है, ऐसे ममता के स्थान भूत परिग्रह को परिचित्त परिग्रह कहते है। इस परिग्रह से विरत वही हो सकता है, जो क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, शयनासन, यान, कुप्य और भाण्ड इन दश बाह्य वस्तुओ मे ममता–मूर्च्छा भाव को छोडकर निर्ममत्व भाव मे स्थित रहता है, अर्थात् ऐसा विचार करता है कि ये बाह्य पदार्थ मेरे नही है और मै भी इनका नही हूँ, मायाचार आदि से रहित होकर सदा स्वस्थ रहता है—अपने ज्ञाता दृष्टा स्वरूप मे स्थित रहता है, और सतोष मे तत्पर रहता है—परिग्रह की आकांक्षा से निवृत्त रहता है।

क्षेत्रमिति—जहा धान्य उत्पन्न होता है, ऐसे डोहलिका आदि स्थानो को खेत कहते हैं। जिस खेत मे चारो ओर से बधान डालकर पानी रोक लेते है। ऐसे धान्य के छोटे-छोटे खेतों को डोहलिका कहते है, इन्हे ग्राम्य भाषा मे मढा या डँया आदि भी कहते है। मकान आदि को वास्तु कहते हैं। सोना चांदी आदि को धन कहते हैं धान, गेहूँ, चना आदि को धान्य कहते है। दासी दास आदि को द्विपद कहते है, गाय, भैंस आदि को आसन कहते है, डोली–पालकी आदि को यान कहते है, रेशम, सूती तथा कोशा आदि के वस्त्रो को कुप्य कहते है और चदन, मजीठ, कांसा तथा ताम्बा आदि के बर्तनो को भाण्ड कहते है। यह दश प्रकार का परिग्रह उपयोगी होने से निरतर मनुष्य के मन में स्थित रहता है, इससे ममत्व भाव को छोड़ना सो परिग्रह त्याग प्रतिमा कहलाती है।

जो परिग्रह अनुपयोगी रूप से घर मे पड़ा है, उसके त्याग में कोई खास महत्त्व नही रहता, क्योकि त्याग के पूर्व भी उसमे खास ममत्व भाव नही रहता।

किन्तु जो गृहस्थी के निर्वाह के लिये आवश्यक होने से मन मे अपना स्थान बनाये रखते है, ऐसे परिग्रहो से निवृत्त होना इस प्रतिमा की विशेषता है । बाह्य परिग्रह के त्याग का कारण संतोष है, क्योकि जब तक सतोष नही होता तब तक त्याग नही हो सकता, इसलिये ग्रंथकर्त्ता ने त्याग करने वाले को 'सतोषपर' विशेषण दिया है, जितना कुछ परिग्रह उसने अपने लिये निश्चित किया है, उसमे सतुष्ट रहने से ही उसके व्रत की रक्षा हो सकती है । त्याग करने का लक्ष्य स्वस्थ होना है, अर्थात् अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव मे स्थिर होना ही परिग्रह त्याग का प्रयोजन है । यदि इस प्रयोजन की ओर लक्ष्य नही है, तो उस त्याग से लाभ नही होता । परिग्रह त्याग प्रतिमा का धारी श्रावक अपने निर्वाह के योग्य वस्त्र तथा बर्तनो को रखकर शेष परिग्रह से अपना स्वामित्व छोड देता है । यदि पुत्र है तो समीचीन शिक्षा के साथ अपने परिग्रह का भार उसे सौपता है । यदि पुत्र नही हे तो दत्तक पुत्र या भाई भतीजा आदि को परिग्रह का भार सौपकर निश्चिन्त होता है । घर रहता है और घर मे भोजन करता है । यदि अन्य साधर्मी भाई निमन्त्रण करते है, तो उनके घर भी जाता है । स्वय व्यापार नही करता, परन्तु पुत्र आदि यदि किसी वस्तु के सग्रह आदि मे अनुमति मागते है, तो उन्हे योग्य अनुमति देता है ।

प्रश्न :—अनुमति त्याग प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—निश्चय से खेती आदि के आरभ मे अथवा परिग्रह मे अथवा इस लोक सम्बन्धि कार्यो मे जिसकी अनुमोदना नही है, वह समान बुद्धि का धारक श्रावक अनुमति त्याग प्रतिमा का धारी माना जाना चाहिये ।

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे एहिकेषु कर्मसु वा ।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥१४६॥

जो खेती आदि आरम्भ, धनधान्यादिक परिग्रह तथा इस लोक सम्बन्धि विवाह आदि कार्यो मे अनुमति नही देता तथा इष्ट अनिष्ट परिणति मे समबुद्धि रहता है । उसे अनुमति त्याग प्रतिमा का धारक श्रावक जानना चाहिये ।

आरम्भ त्याग प्रतिमा मे नई कमाई का त्याग करता है, परिग्रह त्याग प्रतिमा मे परिग्रह के स्वामित्व से निवृत्त होता है और अनुमति त्याग प्रतिमा मे परिग्रह सम्बन्धि किसी प्रकार की अनुमति भी नही देता । पुत्र आदि उत्तराधिकारी अपनी बुद्धि से जो कुछ करते है, उसमे मध्यस्थ भाव रखता है । हानि लाभ के अवसर पर

चित्त मे सक्लेश नही करता। भोजन के अवसर पर घर के या समाज के लोगों मे जो भी प्रार्थना करते है, उनके यहां भोजन करता है, किसी का निमन्त्रण पहले से स्वीकृत नही करता और न किसी से किसी इच्छित वस्तु के बनाने आदि की इच्छा प्रकट करता है। एक बार ही आहार पानी को ग्रहण करता है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक पारलौकिक धार्मिक कार्यो मे अनुमति दे सकता है, परन्तु स्वय अग्रसर होकर किसी कार्य के करने का विकल्प अपने ऊपर नही लेता।

प्रश्न :—उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो घर से मुनियो के पास वन को जाकर गुरु के पास व्रत ग्रहण कर भिक्षा भोजन करता हुआ तपश्चरण करता है तथा वस्त्र के खण्ड को धारण करता है, वह उत्कृष्ट श्रावक है।

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरुपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्ट श्चेल खण्डधरः ॥११७॥

उद्दिष्ट त्याग नामक ग्यारहवे स्थान से युक्त श्रावक उत्कृष्ट कहलाता है। यह कौपीन—लगोट मात्र वस्त्र को धारण करता है। भिक्षा एव भैक्ष्य, इस तरह स्वार्थ, मे ष्य प्रत्यय अथवा भिक्षाणा समूहो भैक्ष इस तरह समूह अर्थ मे अण प्रत्यय होने पर भैक्ष शब्द सिद्ध होता है। इस प्रतिमा का धारी भिक्षा से भोजन करता है अर्थात् मुनियो की तरह चर्या के लिये निकलता है। पडगाहे जाने पर जहाँ अनुकूल विधि मिलती है, वहाँ भोजन करता है। अथवा जो अनेक भैक्ष्य होता है, वह किसी पात्र में गृहस्थो के घर से भिक्षा को लेता है जब उदर पूर्ति के योग्य भोजन एकत्रित हो जाता है तब किसी श्रावक के घर प्रासुक जल लेकर भोजन करता है। इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक घर छोडकर मुनियों के वन मे चला जाता है तथा उनके पास व्रत धारण कर उन्ही की देख-रेख मे तपश्चरण करता है। मुनिवन का अर्थ मुनियो का आश्रम है। समन्तभद्र स्वामी के समय मुनि, वन में ही निवास करते थे इसलिये उत्कृष्ट श्रावक को गृहत्याग कर मुनि वन मे जाने की आज्ञा दी गई है। इस समय मुनियो मे ग्रामवास या चैत्यवास चल पड़ा है, इस लिए मुनिवन का अर्थ मुनियो का आश्रम लिया जाता है।

विशेषार्थ—इस प्रतिमा धारी को भैक्ष्याशन कहा है। उसी से सिद्ध है कि यह उद्दिष्ट आहार का त्यागी होता है। किसी खास व्यक्ति के उद्देश्य से जो आहार

बनाया जाता है, वह उद्दिष्टाहार कहलाता है, इस प्रतिमा धारी के ऐलक और क्षुल्लक की अपेक्षा दो भेद प्रचलित है। ऐलक लिङ्ग का परदा अर्थात् लगोट धारण करते है और क्षुल्लक लगोट के शिवाय एक खण्ड वस्त्र भी रखते हैं। खण्ड वस्त्र का अर्थ इतना छोटा वस्त्र लिया जाता है कि जिससे सिर ढकने पर पैर न ढक सके पैर ढकने पर शिर न ढक सके। मार्जन के लिये क्षुल्लक मयूरपिच्छ से निर्मित पिच्छी या वस्त्र के एक खण्ड को रखते है। तथा ऐलक पीछी ही रखते है।

क्षुल्लक केश लोच भी करते है कैंची, छुरा से क्षौर कर्म कराते है, परन्तु ऐलक केश लोच ही करते है। क्षुल्लक पात्र मे भोजन करते है, परन्तु ऐलक हाथ मे ही भोजन करते हैं, क्षुल्लक और ऐलक दोनो बैठकर ही भोजन करते है। दोनो ही पैदल विहार करते है। रेल, मोटर आदि मे यात्रा करना इस पद मे वर्जित है।

पहली से लेकर छठवी प्रतिमा तक के श्रावक, सातवी से नौवी प्रतिमा तक के श्रावक को मध्य श्रावक और दसवी तथा ग्यारवी प्रतिमा के धारक को उत्तम श्रावक कहा जाता है। ग्यारहवी प्रतिमा के धारक श्रावक को आर्य कहते है, और स्त्री को आर्यिका कहते है। आर्यिका सफेद रग की १६ हाथ की साडी रखती है। स्त्री पर्याय मे धारण किये जाने वाले व्रत का यह सर्वश्रेष्ठ रूप है, इसलिये इसे उपचार से महाव्रत का धारक माना जाता है। अर्यिका से उतरता हुआ दूसरा स्थान क्षुल्लिका है। यह १६ हाथ की साडी के सिवाय एक चद्दर भी रखती है। ऐलक क्षुल्लक आर्यिका और क्षुल्लिका दूसरे दिन शुद्धि के समय बदलने के लिये दूसरा लगोट चद्दर और साडी भी रखती है, साथ के ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी स्त्रियो उसकी व्यवस्था रखती है। पिछले दिन के वस्त्रो को धोकर यही सुखाती है। आर्यिका के केशलोच तथा भोजन की विधि ऐलक के समान है और क्षुल्लिका के केश-लोच तथा आहार की व्यवस्था क्षुल्लक के समान है।

सद्वेधा प्रथमः श्मश्रु मूर्धजानायेत् ।
सित कौपीन संव्यानः कर्त्तार्या वा क्षुरेण वा ।।३८।।

सागार धर्मामृत–अध्याय–७

वह उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकार का है, सफेद लगोटी तथा सफेद उत्तरीय वस्त्र को धारण करने वाला, पहिला श्रावक, दाढी मस्तक के केशो को कैंची से अथवा

छुरी से अलग करे। कही कही वह श्रावक गेरुऐ रग के कपड़े भी धारण करता है। और एकादश तार की जनेऊ (यज्ञोपवीत) भी धारण करता है। ऐसा आगम में पाया जाता है।

स्थानादिषु प्रतिलिखेत् मृदूपकरणेन सः।

कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं च तुर्विधम् ।।३६।।सा०ध०अ०७।।११८।।

जैसे मुनि पिछि रखते है, उसी प्रकार जीवो की विराधना से बचने के लिए क्षुल्लक भी बैठते समय, उठते समय, सोते समय, पुस्तकादि उठाते रखते समय पिछि से जीवो को बचावे अर्थात् जमीन वगैरह की मृदु वस्त्र आदि से शुद्धि करके आसनादि का उपयोग करे और चार पर्व सम्बन्धी उपवासों को जरूर करे। वह अतिथि (मुनि) की तरह पर्वोपवास से सम्बन्ध नही छोड़ सकता है।

प्रश्न :—एक घर क्षुल्लक और अनेक घर क्षुल्लक में क्या भेद है ?

उत्तर :—स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्पाणिपात्रेऽथ भाजने।

स श्रावकगृहं गत्वा पात्र पाणिस्तदङ्गणे।।४०।।११६।।

स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत् वा।

मौनेन दर्शयित्वाऽगं लाभालाभे समोऽचिरात् ।।४१।।१२०।।

निर्गत्याऽन्यद् गृहं गच्छेद् भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित्।

भोजनायार्थितोऽद्यात्तद्भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक् ।।४२।।

प्रार्थयेन्यथाभिक्षां यावत्स्वोदर पूरणीम्।

लभेत प्रासु यत्राम्भस्तत्रसंशोध्य तां चरेत् ।।४३।।

अर्थ :—क्षुल्लक बैठकर पात्र मे भोजन करे अथवा हाथ में श्रावक के द्वारा अर्पित भोजन करे। क्षुल्लक अपने हाथ मे पात्र लेकर भिक्षा को निकले। श्रावक के घर जावे, धर्म लाभ कहे और भिक्षा की याचना करे। अथवा मौन से श्रावक के आगन मे केवल खड़ा होकर भिक्षा की प्रार्थना करके चला आवे। भोजन के मिलने अथवा न मिलने पर किसी प्रकार का हर्ष विषाद न करे, राग द्वेष न करे और दूसरों के घर जावे। यदि बीच मे कोई श्रावक भोजन के लिये रोके, प्रार्थना करे, तो उसके घर पर भी भोजन करे। परन्तु इतना ध्यान रहे कि पहले जो भिक्षा प्राप्त की है उसे शोधकर खाने के बाद भोजन करे। यदि किसी ने बीच मे न रोका हो तो शरीर के लिए जितनी भिक्षा आवश्यक है उसकी पूर्ति जब-तक न हो तब तक भिक्षा के

लिये श्रावको के यहा जावे, तथा जहा पर प्रासुक जल मिले वहा सशोधन करके भोजन करे ।

आकांक्षन् संयमं भिक्षापात्र प्रक्षालनादिषु ।
स्वयं यतेत चादर्पः परथाऽसंयमो महान् ।।४४।।१२१।।
ततो गत्वा गुरुपान्तं प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् ।
गृह्णीयाद्विधिवत्सर्वं गुरोश्चालोचयेत्पुरः ।।४५।।१२२।।

प्राणिरक्षारूप संयम की रक्षा करने की इच्छा करने वाला वह क्षुल्लक विद्या अतिशय आदि के मद से रहित होकर अपने भोजन करने के पात्र को रखना, उठाना तथा उच्छिष्टादि को स्वच्छ करना आदि अपने हाथ से करे, दूसरे शिष्यादि से न करावे । शिष्यादि से कराने से महान असयम होता है । क्षुल्लक आहार के बाद गुरु के पास जाकर शास्त्रोक्त विधि से चार प्रकार के आहार का त्याग करे, तथा आहार के लिए जाने से लेकर आने तक जो कुछ भी अपनी चेष्टाएँ हुई उन सबकी गुरु के सामने आलोचना करे । और गोचरी सम्बन्धी दोषो का निराकरण करने के लिए प्रतिक्रमण करे । अब अनेक घर क्षुल्लक का स्वरूप कहते है ।

यस्त्वेक भिक्षानियमो गत्वाऽद्यादनु मन्यसो ।
भुक्त्यभावे पुनः कुर्यादुपवासमवश्यकम् ।।४६।।१२३।।

ग्यारहवी प्रतिमा धारी क्षुल्लक के दो भेद है । एक घर मे भिक्षा के नियम वाला तथा अनेक घर भिक्षा करने वाला । उसमें अनेक घर भिक्षा करने वाला क्षुल्लक दातार के घर में जाकर भिक्षा लेकर दूसरे घर मे जाकर भोजन कर सकता है । परन्तु जिनको एक घर भिक्षा करने का नियम है—वह मुनियो की चर्या होने के बाद दातार के घर जाने तथा उसी के घर मे बैठ कर भोजन करे । कारणवशात् भोजन नही मिलने पर अवश्य ही उपवास करे । एक घर मे से निकलकर अनेक घर भिक्षु के समान दूसरे घर में नही जावे ।

उसकी विधि विशेष को कहते है—

वसेन्मुनिवने नित्यं शुश्रूषेत् गुरूंश्चरेत् ।
तपो द्विधाऽपि दशधा वैयावृत्यं विशेषतः ।।४७।।१२४।।

वह क्षुल्लक सदैव सयतो के निकट उनके आश्रम मे रहे । धर्माचार्य की सेवा करे । और अन्तरग बहिरग के भेद से दो प्रकार का तप है, उसका आचरण करे ।

और विशेष रूप से संयमियो की आपत्ति को दूर करने वाली दश प्रकार की वैयावृत्ति करे यद्यपि अन्तरंग तप मे वैयावृत्ति का सग्रह होता है। फिर भी अतिशय रूप से मुख्य कार्य वैयावृत्य है, यह बताने के लिए उसका अलग से उल्लेख किया जाता है।

ग्यारहवी प्रतिमा के क्षुल्लक और द्वितीय ऐल्लक ऐसे दो भेदो को वर्णन किया है। उसमे क्षुल्लक के एक घर भिक्षु तथा अनेक घर भिक्षु ऐसे दो भेदों का वर्णन किया है।

आगे द्वितीय उद्दिष्ट विरति श्रावक का लक्षण बताते है—

तद्वद् द्वितीयः किन्त्वार्यसंज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान्।

कौपीन मात्रयुग्धत्ते यतिवत्प्रतिलेखनम् ॥४८॥सागार धर्मा.॥१२५॥

द्वितीय ऐल्लक श्रावक की क्रिया प्रथम क्षुल्लक के समान ही है। विशेषता केवल इतनी है क्षुल्लक छुरी आदि से बाल बनवा सकता है और एक लगोटी उत्तरीय वस्त्र रखता है। परन्तु ऐल्लक दाढी तथा शिर के बालों को हाथों से उखाडता है, कैंची आदि से नही कटवा सकता है। तथा गुह्य अग को प्रच्छादन करने के लिए लगोटी मात्र रखता है। उत्तरीय वस्त्र नही रख सकता। तथा मुनियों के समान संयम का उपकरण पिच्छिका रखे।

स्वपाणिपात्र एवात्ति संशोध्यान्येन योजितम्।

इच्छाकारं समाचारं मिथः सर्वे तु कुर्वते ॥४६॥सागार०॥१२६॥

ऐल्लक गृहस्थी के द्वारा अर्पण किये हुये आहार को अपने हाथ मे ही सशोधन करके भोजन करता है, थाली आदि मे नहीं कर सकता तथा वे सब ऐल्लक परस्पर में "इच्छामि" मैं तुम्हारे पद की इच्छा करता हूँ, इस प्रकार साधारण समाचार का व्यवहार करे।

प्रश्न :—क्या ये क्षुल्लक सिद्धान्त ग्रन्थ वीरचर्यादि कर सकते हैं ?

उत्तर :—श्रावको वीर चर्य्याहः प्रतिमातापनादिषु।

स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ॥५०॥सागार०॥१२७॥

ग्यारहवी प्रतिमाधारी श्रावक स्वय भ्रामरी के द्वारा वीरचर्या का अधिकारी नही है, तथा दिन प्रतिमा ग्रीष्म ऋतु मे सूर्य के सन्मुख, पर्वत के शिखर पर ध्यान करना, वर्षा काल में बर्फ के नीचे ध्यान करना और शीतकाल की रात्रि मे चौराहे पर खड़े रहकर ध्यान करना आदि लक्षण वाले कायक्लेश विशेष, आतापनादि

त्रिकाल योग धारण करने का अधिकारी नही है तथा सूत्र रूप सिद्धान्त शास्त्र का और रहस्य रूप प्राचीन शास्त्रो का पढने का अधिकारी भी नही है। इसीप्रकार आर्यिकाओं को और सामान्य गृहस्थो को भी उपरोक्त अधिकार नही है।

[सागार धमामृत, पं० आक्षाधर जी, ही. आ. सुपार्श्व]

* आर्यिकाओं के समाचार का वर्णन *

एसो अज्जाणंपि य समाचारो जहाविखओ पुव्वं।
सव्वह्मि अहोरत्ते विभासि दव्वो जधाजोग्गं ॥१२८॥

मूलगुणों के अनुरूप आचारण को समाचार कहते है। अर्थात् मुनि के समाचार का इतः पूर्व में जैसा वर्णन किया है, वैसा ही आर्यिका का भी वर्णन समझना चाहिए। विशेष यह है कि वृक्षमूलयोग, आतापनयोग, अभ्रावकाशयोग ऐसे योगादिक आचरण का आर्यिकाओं को निषेध है। क्योकि वह उनके आत्मशक्ति के बाहर का है अर्थात् उनके अनुरूप नही है।

प्रश्न :—आर्यिकाओं का परस्पर किस प्रकार का व्यवहार होता है ?

उत्तर :—अण्णोण्णणु कूलाओ अण्णोण्ण हिरक्खणाभिजुत्ताओ।
गयरोसवेरमाया सलज्जमज्जाद किरियाओ ॥१२९॥

ये आर्यिकाएँ वसतिका मे मत्सरभाव छोडकर रहती है। अन्योन्य अर्थात् आपस में रक्षण करने के अभिप्राय मे पूर्ण तत्पर रहती है। उनसे रोष, वैर, कपट जैसे विकार नष्ट हुए है। ये विकार मोहनीय कर्म के विशेष उदय से होते है। उनका वह मोहनीय कर्मविशेष नष्ट होने से वे विकार भी नष्ट हुए है। लोकापवाद से डरना, यह लज्जा का लक्षण है अर्थात् जिस आचरण के लोक मे अपनी निदा होगी ऐसे आचरण से वे सर्वदा दूर रहती है। रागद्वेष को दूर रखकर न्याय्य आचरण करना मर्यादा का लक्षण है। उभयकुलानुरूप आचरण को क्रिया कहते है। अर्थात् लज्जा, मर्यादा तथा क्रियाओ से वे अर्यिकाएँ अपने चारित्र का रक्षण करती है।

प्रश्न :—आर्यिकाओं के विशिष्ट आचरण क्या हैं ?

उत्तर :—आज्झयणे परियट्टे सवणे कहणे तहाणुपेहाए।
तवविणयसंजमेसु य अविरहिदुवओग जुत्ताओ ॥१३०॥

जिस शास्त्र का पूर्व काल में अध्ययन नही किया था, उसके अध्ययन में, पढ़े हुए शास्त्र को कठस्थ करने मे, सुना हुआ अथवा न सुना हुआ शास्त्र श्रवण करने में, जिस शास्त्र का ज्ञान अपने को है ऐसे शास्त्र का अन्यों को उपदेश करने मे तथा शास्त्र के जीवादि सप्त तत्वो को मन से चिन्तन करने में तथा अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं का मन से बार बार विचार करने में वे आर्यिका सतत तत्पर रहती है। अनशनादि बाह्य तप तथा प्रायश्चित्तादि अन्तरग तप पालने में मन, वचन और शरीर से दृढ रहना, इद्रियो को वश रखना, जीव वध से दूर रहना अर्थात् प्राणिसयम पालना, सतत ज्ञानाभ्यास मे उद्यु क्त रहना, ऐसे कार्यो में वे तत्पर होती हैं। मन, वचन, कायो से शुभाचरण करती है। इस प्रकार की उनकी प्रवृत्ति होती हैं।

और भी विशेषाचरण

अविकार वत्थवेसा जल्ल मलविलित्त चत्त देहाओ।
धम्मकुल कित्ति दिक्खापडिरूवविसुद्ध चरियाओ ॥१३१॥

जिनके स्वभाव मे कोपादि विकार उत्पन्न नही होते, जो निर्विकार वस्त्र धारण करतो है। अर्थात् जो रगीले तथा चित्र विचित्र वस्त्र कदापि धारण नही करती है। जिनकी गति-गमन, विलास रहित व देखना कटाक्ष रहित है, (सर्वाग में पसीना आकर उसके ऊपर धूल बैठती है, ऐसी मलिनता को जल्ल कहते है तथा शरीर के एक अवयव में उत्पन्न हुई मलिनता को मल कहते है। ऐसे) जल्ल और मल से जो युक्त है, जिनका देह सजावट से रहित है, धर्म, कुल, कीर्ति और दीक्षा के अनुरूप निर्मल आचरण जो धारण करती हैं। अर्थात् क्षमादिक धर्म, माता पिता कुल, यश और व्रत इनको अबाधित रखने वाला आचरण ये आर्यिकाये धारण करती है।

प्रश्न :—वे आर्यिकाएँ अकेली रहती हैं अथवा मिलकर रहती हैं ?

उत्तर :—अगिहत्थमिस्सणिलये असण्णिलये विसुद्ध संचारे।
दो तिण्णिव अज्जाओ बहुगोओ वा सह त्यांति ॥१३२॥

जिस स्थान मे आर्यिका निवास करती है, उसका वर्णन इस प्रकार है—

जहाँ स्त्री, धन धन्यादि परिग्रह युक्त गृहस्थ नही रहते है, ऐसे स्थान मे वे रहती है। तथा जहा पर परस्त्री-लपट, चोर, चुगली करने वाला, दुष्ट तथा पशुओं का अभाव है, ऐसे स्थान मे वे रहती है। यतियो के निवास स्थान से भी वह

आर्यिकाओ का स्थान दूर रहता है। तथा वह स्थान बाधा रहित होता है। वह सक्लेश रहित अथवा जो गुप्तसचार करने के लिये योग्य हो अर्थात् जो मलोत्सर्ग करने के प्रदेश के योग्य हो। जहाँ बाल, वृद्ध, रोगीजन आ जा सकते है, तथा जो शास्त्राध्ययन के लिये उपयुक्त हो ऐसे स्थान मे वे आर्यिकाएँ दो, तीन तीस चालीस तक एकत्र रहती है।

प्रश्न :—वे आर्यिका परगृह में कभी जाती है या नहीं ?

उत्तर :—ण य परगेह मकज्जे गच्छे कज्जे अवस्सगमणिज्जे।
गणिणीमा पुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज ॥१९३॥

मुनिओ की वसतिका और गृहस्थ का घर ये दोनो ही परगृह कहे जाते है। इन परघरो मे प्रयोजन के बिना आर्यिकाओ का जाना निषिद्ध है। यदि जाने का कुछ आवश्यक प्रयोजन उत्पन्न हो तो आर्यिका अपनी महत्तरिका-मुख्या को पूछकर जा सकती है। अर्थात् भिक्षा प्रतिक्रमण वगैरह के समय मे गणिनी को मुख्य आर्यिका को पूछकर आर्यिका को जाना चाहिये। परन्तु अकेली जाना निषिद्ध है। अपने साथ अन्य अन्य आर्यिकाओ को लेकर जाना चाहिये।

प्रश्न :—स्वस्थान में अथवा परस्थान में कौनसी क्रियायें नहीं करना चाहिये ?

उत्तर :—रोवणण्हावण भोयण पयणं सुत्तं च छव्विहारंभे।
विरदाण पादमक्खण धोवणगेयं च ण वि कुज्जा ॥१९४॥

स्वस्थान में अथवा परस्थान मे दु:खार्त्त को देखकर रोना, अश्रुमोचन करना, बालकादि को स्नान कराना, उनको जिमाना, रसोई बनाना, कपडा सीना, सूत कातना इत्यादि कार्य आर्यिका को करना निषिद्ध है। तथा यतिओ के चरण धोना, उनको तेल लगाकर अभ्यगस्नान करना, गीत गाना इन कार्यो का निषेध है। ये क्रियाये करने से आर्यिकाओ की निदा होती है।

प्रश्न :—आरम्भ के छह प्रकारों का वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर :—पाणियणयणं छेणं गिहबोहरणं च गेहसारमणं।
कुरावलिप्पणं कुड्डुविदे एदंतु छव्विहारंभो ॥१९५॥

पानी लाना, छेण। घर का कूडा कचरा बाहर फेककर घर साफ करना, घर गोवर से लेपना, सम्मार्जन करना, भित्ती लिपना, तथा भित्ती को साफ करना,

ऐसे छह प्रकार के आरम्भ है। आर्यिका ऐसे कार्यो को न करे।

प्रश्न :—भिक्षा के लिये वे किस प्रकार से गमन करती है ?

उत्तर :—तिण्णिव पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ।

थेरीहिं संहृतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा ॥१३६॥

तीन किवा पाच अथवा सात आर्यिकाएँ परस्पर मे रक्षण करने का अभिप्राय मन मे धारण करती हुई वृद्ध आर्यिकाओं के पीछे-पीछे अनुगमन करती हुई, भोजन के लिये इर्यापथ समितिपूर्वक विहार करती है। यहाँ 'भिक्षा ग्रहण करना' यह कार्य उपलक्षण रूप समझना चाहिये। जैसे कौवे से दही का रक्षण करो, अर्थात् कौवे, चूहे वगैरह प्राणिओ से दही, दूध वगैरह का रक्षण करो ऐसा अर्थ माना जाता है। वैसे भिक्षा के समान देव वदना वगैरह कार्य के लिये जाने के समय मे भी उपर्युक्त पद्धति से ही आर्यिकाओ की प्रवृत्ति होवे। ऐसा अभिप्राय आचार्य ने प्रकट किया है।

प्रश्न :—आचार्यादिकों की वंदना मुनियों के समान ही करती है क्या ?

उत्तर :—पंच छ्द सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।

परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ॥१३७॥

आचार्य को आर्यिकाये पाच हाथ दूर से, उपाध्याय को छह हाथ दूर से तथा साधु को सात हाथ दूर से गवासना से ही बैठकर वदना करती है। जिस प्रकार से गौ बैठती है, उसी प्रकार से बैठना उसको गवासन कहते है। आलोचना, अध्ययन, स्तुति इनकी अपेक्षा से भेद समझना चाहिये। जैसे—आलोचना करते समय आचार्य से पाच हाथ दूर रहकर आर्यिका आलोचना करे। छह हाथ दूर रहकर उपाध्याय से अध्ययन करे तथा साधु से सात हाथ दूर रहकर उनकी स्तुति करे।

एवं विधाण चरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।

ते जगपुज्जं कित्ति सुहं च लध्दूण सिज्झंति ॥१३८॥

इस प्रकार अर्थात् इस अध्याय मे जो समाचार का सविस्तर वर्णन किया है, उसके अनुसार जो साधु और आर्यिकाये प्रवृत्ति करती है। वे जगत के द्वारा सम्मान, कीर्ति और सुख प्राप्त करती है और अन्त मे मुक्त होती है।

[मूलाचार-अध्याय ४ पृष्ठ स. १००]

प्रश्न :—छठे प्रमत्तविरत नामक गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—सज्वलन और नो कषाय के तीव्र उदय से समयभाव तथा मल-

जनक प्रमाद युक्त परिरणाम को प्रमत्त विरत गुरणस्थान कहते है।

यद्यपि सज्वलन और नो कषाय का उदय चारित्र गुरण का विरोधी है, तथापि वह प्रत्याख्यानावररण कषाय का उपशम होने से प्रादूर्भूत सकल सयम के घातने में समर्थ नही है। इस काररण उपचार से सयम का उत्पादक कहा है। इसलिये इस गुरणस्थान वर्ती मुनि को प्रमत्तविरत अर्थात् चित्रलाचररण कहते है।

❋ सकल चारित्र ❋

प्रश्न :—प्रमत्तविरत तपोधन का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रह ।

ज्ञानध्यानतपो रत्नस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१॥१३९॥

जो विषयो की आशा के वश से रहित हो, आरम्भ रहित हो, परिग्रह रहित हो और ज्ञान, ध्यान, तथा तप रूपी रत्नो से सहित हो, वह गुरू प्रशसनीय है।

स्पर्शनादि इन्द्रियो के विषय भूत माला तथा स्त्री आदि विषयो की आकाक्षा सम्बन्धी अधीनता जिनकी नष्ट हो गई है, अर्थात् जिन्होने इन्द्रिय विषयो पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, जो खेती आदि व्यापार का परित्याग कर चुके है। जो बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से रहित है तथा ज्ञान, ध्यान और तप को ही जो रत्नो के समान श्रेष्ठ समझ कर उन्ही की प्राप्ति मे लीन रहते है, अट्ठाईस मूल गुरणो को धाररण करते है, एसे ही सद्गुरू मुनि तपस्वी होते है। येही सच्चे मुनिओ का लक्षरण है।

प्रश्न :—मूलगुरण किसे कहते है ?

उत्तर :—मुनियो के प्रधान आचररण को मूलगुरण कहते हैं। इन मूलगुरणो का पालन करने से उत्तर गुरण धाररण करने की शक्ति आती है। मूल शब्द के अनेक अर्थ होते है, तो भी यहा मूल-प्रधान, मुख्य ऐसा अर्थ समझना चाहिए, गुरण शब्द के भी अनेक अर्थ है, परन्तु यहां आचररण विशेष समझना चाहिये।

प्रश्न —मुनियों के मूलगुण कितने होते है ? और उनका क्या स्वरूप हैं ?

उत्तर :—पंचय महव्वयाइं समिदिओ पंच जिरण वरोछिट्ठा ।

पंचेविंदियरोहाछप्पिय आवासया लोचो ॥२॥१४०॥

अच्चेलकमण्हारगां खिदिसयरणमदंत घस्सरगं चेव ।

ठिदि भोयणेय भत्तं मूलगुरणा अट्ठवीसादु ॥३॥१४१॥मूलाचार अ.१

पांच महाव्रत, पाच समितियां, पांच ही इन्द्रियो के निरोध, छह आवश्यक, लोच, आचेलक्य, अस्नान, पृथिवीशयन, अदतघर्षण, स्थितिभोजन, एक भक्त ये मुनिगणों के अट्ठाईस मूलगुण है।

प्रश्न :—प्रथम पांच महाव्रतों के नाम क्या है ?

उत्तर :—हिसा का त्याग, सत्य, चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग – ये पांच महाव्रत कहे गये है।

प्रश्न :—अहिंसा महाव्रत का क्या लक्षण है ?

उत्तर :—कायेंदियगुण मग्गण कुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं।

णाऊण य ठाणादिसु हिंसादि विवज्जण महिंसा ॥५॥१४२॥

काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणास्थान, कुल, आयु, योनि—इनमे सब जीवों को जानकर कायोत्स र्गादि क्रियाओ मे हिसा आदि का त्याग उसे अहिसा महाव्रत कहते है।

प्रश्न :—सत्य महावत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—रागादीहिं असच्चं चत्ता परताव सच्चवयणोत्ति।

सुत्तत्थाणवि कहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं ॥६॥१४३॥

रागद्वेषमोह आदि कारणो से असत्य वचन को तथा दूसरे को सताप करने वाले एसे सत्य वचन को छोडना और द्वादशाग शास्त्र के अर्थ कहने मे अपेक्षा रहित वचन छोडना वह सत्य महाव्रत है।

प्रश्न .—अचौर्य महाव्रत का क्या लक्षण है ?

उत्तर ·—गामादिसु पडिदाइं अप्पप्पहुदिं परेण संगहिदं।

णादाणं परदव्वं अदत्त परिवज्जणं तं तु ॥७॥१४४॥

ग्राम आदिक मे पडा हुआ, भूला हुआ, रक्खा हुआ इत्यादि रूप अल्प भी स्थूल सूक्ष्म वस्तु तथा दूसरे का इकट्ठा किया हुआ ऐसे पर द्रव्य का ग्रहण नही करना (नही लेना) वह अदत्त त्याग अर्थात् अचौर्य महावृत है।

प्रश्न :—ब्रह्मचर्य महावत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर —मादुसुदा भगिणी विय दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं।

इत्थिकहादिणियत्ती तिलोय पुज्जं हवे बंभं ॥८॥१४५॥

माता, पुत्री और बहिन के समान बूढी, बालिका और तरुण स्त्रियों को

समभना यह त्रैलोक्यपूज्य ब्रह्मचर्य है। स्त्रियो के फोटो, भीत पर लिखे हुए स्त्रियो के आकार चित्र, मिट्टी, पाषाण इत्यादिक से बने हुए स्त्रीचित्र अर्थात् मनुष्य, देवागना और तिर्यचिग्गी इनके प्रतिबिब देखकर इनके ऊपर कामुक नही होना यह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का सरक्षण करने के लिये स्त्रीकथा का त्याग करना चाहिये तथा उनमे माता, सुता और बहिन का सकल्प रखना चाहिये। अर्थात् स्त्रियो का कोमल भाषण, मृदु स्पर्श, रूपावलोकन, नृत्य, गीत, हास्य, कटाक्ष निरीक्षण प्रेम से तिरछा देखना इत्यादिको मे अभिलाषा नही रखना यह त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्य महावृत है। इस व्रत के नौ, इक्यासी और एक सौ बासठ भेद होते है।

प्रश्न :—परिग्रह त्याग महाव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जीवरिगबद्धा बद्धा परिग्गाहा जीव संभवा चेव।
तेसिं सक्कच्चागो इयरह्मि य रिगम्मग्रोऽसंगो ॥११॥१४६॥

बद्ध—जीव मे उत्पन्न होने वाले अर्थात् जीव के आश्रय से रहने वाले विकार जैसे – मिथ्यात्व, वेद-स्त्री, पुरुष और नपुंसक इनको भोगने की अभिलाषा, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ से अन्तरग चौदह परिग्रह है, ये जीवाश्रित है। दासी, दास, गाय, घोड़ा वगैरह को भी चेतन परिग्रह कहते है।

अबद्ध —अनाश्रित जीव से पृथक रहने वाले परिग्रह जैसे खेत, घर, धन, धान्य वगैरह। इनका सग्रह करने की अभिलापा उत्पन्न होतो है, इसलिये ये भी परिग्रह है। जीव सभव–जीवो से जिनकी उत्पत्ति होती है, ऐसे पदार्थो को जीवोद्भव परिग्रह कहते है, जैसे—मोती, शख, सीप, चर्म, दाँत, कबल वगैरह। तथा मुनिपना के अयोग्य ऐसे क्रोधादिक। इन सब परिग्रहो का शक्ति से त्याग करना चाहिये। अर्थात् इनके ऊपर अभिलाषा रखना ही नही। इनका मन, वचन और शरीर से सर्वथा त्याग करना चाहिये। इस सयम, ज्ञान और शौच के उपकरणभूत पिछी शास्त्र कमडलु इत्यादि मे ममत्व रहित होना चाहिये। इस सयमोपकरणादिक मे अतिमूर्च्छा नही रखना चाहिये। यह पाचवा परिग्रह त्याग-महाव्रत है।

प्रश्न :—पांच समितिओं के भेद और लक्षण क्या है ?

उत्तर :—इरिया भासा एसरण रिगक्खेवादारणमेव समिदीओ।
पदिठावरिगया य तहा उच्चारादीरग पंचविहा ॥१२॥१४७॥

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और प्रतिष्ठापना समिति—इस प्रकार समिति के पाच भेद है।

विशेषार्थ :—ईर्यासमिति—आना, जाना, बैठना वगैरह क्रिया करना अर्थात् अच्छी तरह से देखकर तथा मन को स्थिर कर गमनागमन क्रिया करना।

भाषासमिति :—बोलने की सम्यक् प्रवृत्ति करना अर्थात् आगम व धर्म से अविरुद्ध तथा पूर्वापर संबध को न छोड़कर निष्ठुरता, कर्कश, मर्मच्छेदक वगैरह दोषों से रहित ऐसा भाषण बोलना। एषणासमिति—लोकनिद्य तथा सूतकादि दोष सहित ऐसे कुलो को छोड़कर शुद्ध कुल के गृहस्थो के घर में आहार ग्रहण करना। निक्षेपादान समिति–आँखो से देखकर व पिछि से साध कर यत्नपूर्वक वस्तु को रखना और ग्रहण करना। प्रतिष्ठापना समिति–जन्तुरहित प्रदेश में अच्छा निरीक्षण कर मल मूत्रादिकों का त्याग करना। इस प्रकार से पांच समितियां है।

प्रश्न :—ईर्यासमिति का विशेष स्पष्टीकरण क्या है ?

उत्तर :—पासुयमग्गेण दिवा जुगन्तरप्पेहिणा सकज्जेण।

जंतूण परिहरंतेणिरियासमिदी हवे गमणं ॥१३॥१४८॥

जिसमे से जीव चले गये है अर्थात् निर्जन्तुक मार्ग से सूर्योदय होने पर चार हस्त प्रमाण जमीन देखकर एकाग्रचित करके शास्त्र श्रवण, तीर्थयात्रा, गुरुवदना इत्यादि धर्म कार्य के लिए एकेंद्रियादि-प्राणियो का रक्षण करते हुए जो मुनिराज गमन करते है, उसको ईर्यासमिति कहते है। विशेष—हाथी, घोडा, गाय महिष वगैरह प्राणि हमेशा जाने से जो मार्ग निर्जन्तुक हो गया है, ऐसे मार्ग से ही धर्म कार्य के लिए गमन करते है। सूर्योदय होने के अनतर आखो में पदार्थ देखने की सामर्थ्य व्यक्त हो जाती है तब चार हाथ तक आगे की भूमि निहारते हुये और एकेंद्रियादिक प्राणिओ का रक्षण करते हुए मुनि गमन करते है। ऐसे आगमोक्त गमन को ईर्यासमिति कहते है।

प्रश्न :—भाषा समिति का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—पेसुण्णहास कक्कसपरणिंदा पप्पसंस विकहादी।

वज्जित्ता सपरहियं भासा समिदी हवे कहणं ॥१४॥१४६॥

पैशून्य—निर्दोष व्यक्ति के ऊपर दोषारोपण करना, हास-हास्यकर्म के उदय से धर्म की हसी उडाकर हर्ष मानना, कर्कश-कर्ण कठोर काम-युद्ध कलह प्रवर्तक वचन

बोलना, परनिंदा– दूसरो के सच्चे व झूठे दोष प्रकट करना अथवा दूसरो के गुण नही सहना, आत्म प्रशंसा– स्वत के गुण प्रगट करने का अभिप्राय रखना, विकथादि स्त्री कथा, भोजन कथा, चोर कथा और राजकथा वगैरह रागद्वेषोत्पादक कथा कहना। ये भाषा के सर्व दोष छोडकर अपना व अन्य का जिससे कल्याण होगा ऐसा, कर्म बंध के कारणो से रहित वचन बोलना वह भाषासमिति है।

प्रश्न :—एषरणा समिति का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—छादाल दोस सुद्धं कारणजुत्तं विसुद्धणवकोडी।
सीदादी समभुत्तो परिसुद्धा एसणा समिदी ॥१५॥१५०॥

मुनि जो आहार लेते है, वह उद्गमादि छियालीस दोषों से रहित–निर्दोष होता है। (उद्गम दोष के सोलह भेद है। उत्पादन दोष भी सोलह प्रकार का है। एषणा दोष के दस भेद हैं। तथा अगारादिदोष के चार भेद है। इनका वर्णन पिंड शुद्धि अधिकार में करेंगे।) असातावेदनीय कर्म का उदय होने से उत्पन्न हुई क्षुधा को मिटाने के लिए और वैयावृत्यादि करने के लिये मुनि आहार लेते है। बल और आयुष्य वृद्धिगत होने की इच्छा से वे आहार नही लेते है। दाता स्वत. के लिए जो निर्दोष आहार बनाता है, वही मुनि लेते है। मुनि मन, वचन, शरीर, कृत, कारित और अनुमोदना इन नौ भेदो से रहित आहार लेते है। आहार बनाने के लिए मुनि श्रावको को वचनादि से प्रेरणा नही करते है। वे नव कोटियो से निर्दोष आहार लेते है। शीत, उष्ण, लवण, रुक्ष, स्निग्ध वगैरह आहारो में वे रागद्वेष रहित रहते है। इस प्रकार का आहार लेने वाले मुनिराज की यह निर्दोष एषणासमिति है।

प्रश्न :—आदान निक्षेपण समिति का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—णाणु वहिं संजमुवहिं सउचुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा।
पयदं गहणिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा ॥१६॥१५१॥

ज्ञानोपधि-श्रुतज्ञान के उपकरण शास्त्र, सयमोपधि-हिंसादि पापक्रियाओ का त्यागरूप जो सयम उसका सरक्षण करने के कारण अर्थात् प्राणिदया के निमित्त ऐसे पिच्छिकादि संयमोपधि है। शौचोपधि– मलमूत्रादि मल हरण के उपकरण कमडलु आदि पदार्थ। इन पदार्थो का उपयोग प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये। अर्थात् ये पदार्थ लेते समय और रखते समय जीवदया का ख्याल रखकर लेने की व रखने की प्रवृत्ति करे तथा उपर्युक्त पदार्थ से भिन्न ऐसे चटाई, फलक, तृण वगैरह पदार्थ लेते या

रखते समय प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए। इस प्रकार की प्रवृत्ति को आदान निक्षेपण समिति कहते है।

प्रश्न :—प्रतिष्ठापनिका समिति का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—एगंते अच्चित्ते दूर गूढे विसालमविरोहे।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी ॥१७॥१५२॥

एकान्त—जहाँ असंयमी जनो का आना जाना नहीं ऐसा प्रदेश; अच्चित्ते—हरितकाय वनस्पति और द्वीद्रियादिक जीव रहित प्रदेश, जले हुए के समान दिखने वाला प्रदेश, दूरे-ग्राम नगरादिक से दूर ऐसा प्रदेश। अर्थात् ऊपर कहे हुए विशेषणो से युक्त स्थान मे यत्न पूर्वक मल मूत्रादि का त्याग करने के लिए मुनि जाते है। उनकी यह प्रतिष्ठापनिका समिति है।

प्रश्न :—समिति बंध का कारण क्यों नहीं है ?

उत्तर :—जियदु व मरदु व जीवो अयदाचारस्य णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥१८॥१५३॥

जो प्रमाद युक्त होकर आना, जाना, उठना, बैठना इत्यादि क्रिया करता है उसको जीव-प्राणी जीये या मरे हिसा का दोप अवश्य लगता है। वह हिसक समझना चाहिये। परन्तु जो गमनागमन क्रिया प्रमाद रहित होकर समिति पूर्वक करता है उसको जीव हिसा होने पर भी पाप कर्म का वध नही होता है।

प्रश्न :—इन्द्रिय निरोध व्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इंदिया पंच।
सग सग विसए हिंतो णिरोहियव्वा सया मुणिणा ॥१९॥१५४॥

आख, कान, नाक, जीभ और स्पर्शन ऐसी पांच इद्रिया है। इन इद्रियों से क्रम से पाच प्रकार का रूप, कर्कश, कोमल वगैरह शब्द, सुगंध और दुर्गंध, पाँच प्रकार के मधुरादि रस और शीत, ऊष्ण वगैरह आठ प्रकार के स्पर्श जाने जाते है। अपने-अपने विषयों मे प्रवृत्ति करके ये इंद्रियां आत्मा को रागी, द्वेपी, मोही वनाती है। अत इन मनोहर और अमनोहर विषयो से सयमप्रिय मुनिराज इंद्रियों को परावृत करते है। ये मुनिराज के पाच मूलगुण है।

प्रश्न :—चक्षु निरोध मूलगुण का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—सचित्ताचित्ताणं किरियासंठाणवण्ण भेएसु ।

रागादि संग हरणं चक्खु णिरोहो हवे मुणिणो ॥२०॥१५५॥

सचित्ताचित्ताणं—ज्ञान दर्शनोपयोगात्मक चैतन्य जिनमें है ऐसे पदार्थ अर्थात् देव मनुष्यादि स्त्रियो के रूप, सचित्त द्रव्य रूप पदार्थ है। जिनमे चैतन्य नही है, ऐसे सचित्त द्रव्य के प्रतिबिब को अचित्त द्रव्य रूप कहते है। तथा अचित्तद्रव्य—अजीव द्रव्य घटपटादि द्रव्य को भी अचित्तद्रव्य कहते है। इन चेतन अचेतन पदार्थों के क्रिया, सस्थान-आकृति और वर्ण के भेदो मे राग, द्वप और अभिलाषा नही रखना यह मुनिराज का चक्षुनिरोध अर्थात् नेत्रेद्रिय को वश रखना इस नाम का मूलगुण है।

विशेषार्थ :—स्त्रियो की क्रिया–गीत, विलास, नृत्य, तिरछा अवलोकन और इधर उधर सविलास आना जाना। सस्थान उनके देह की सुन्दर आकृति अथवा एक हाथ कटी पर रखकर एक हाथ ओष्ठ पर रखना इत्यादि आकर्षक खड़े रहने के प्रकारो को सस्थान कहते है। वर्ण स्त्रियो के शरीर का श्यामादिक रग। ये सब इष्टानिष्ट प्रकार देखकर जो राग, द्वेष, अभिलाष उत्पन्न होते है, उनका निराकरण करना यह चक्षुनिरोध नामक मूलगुण है। स्त्री पुरुषो के अचेतन प्रतिबिम्ब की क्रियादिक देखकर उसमे भी रागद्वेष वश न होना, अभिलाप रहित होना यह भी चक्षुनिरोध नामक मुलगुण है।

प्रश्न :—कर्ण निरोध मूलगुण का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—सड्गादिजीव सद्दे वाणादि अजीव संभवे सद्दे ।

रागादीव णिमित्तो तदकरणं सोदरोधो दु ॥२०॥१५६॥

षड्ज, ऋपभ, गाधार वगैरह सात स्वर के ध्वनि सुनने से तथा वीणा और गधा वगैरह के चेतन अचेतन, प्रिय अप्रिय शब्द सुनने से हृदय में रागद्वेषादि विकार उत्पन्न होते है। अत उपर्युक्त स्वर शब्द को स्वत सुनने की अभिलापा मुनिराज मन मे उत्पन्न नही होने देवे। स्वत. षड्जादि स्वर से गायन नही करे। यदि अन्यजन षड्जादि स्वरोच्चार करने लगे तो रागादिभाव से वे स्वर नही सुने। इस प्रकार की प्रवृत्ति रखना यह कर्ण निरोध नामक मूलगुण है।

प्रश्न :—घ्राणेन्द्रिय निरोध व्रत का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—पयडीवासणगंधे जीवाजीवप्पगे सुहे असुहे ।
रागाद्दोसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स ।।२१।।१५७।।

कुछ पदार्थो मे स्वभावत अच्छा और बुरा गंध रहता है और कुछ पदार्थो मे अन्य पदार्थ के सयोग से अच्छा और बुरा गध उत्पन्न होता है। अच्छा गध मुख उत्पन्न करता है और उस पर राग भाव उत्पन्न होता है। बुरा गन्ध दुःखद होता है और उसमे द्वेष होता है, कस्तूरी गोरोचन वगैरह सुगधि-वस्तु हरिण, गाय वगैरह प्राणियों मे उत्पन्न होती है, अतः इनको जीवात्मक गंध कहते हैं और चदन गधादिक अचेतनात्मक गध है। इनमें रागद्वेषादिक नहीं करना यह मुनीश्वर का घ्राणनिरोध नामक मूलगुण है।

प्रश्न :—रसनेन्द्रिय निरोध का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—असणादिचदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिखज्जे ।
इठ्ठाणिठ्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओऽगिद्धी ।।२२।।१५८।।

जीव रहित—सम्मूर्छनादि जोव रहित अर्थात् प्रासुक आहार मुनि लेते हैं। जो आहार स्वय सचित्त है अथवा जिससे सम्मूर्छनादिक उत्पन्न हो रहे है ऐसा आहार मुनियो के लिए ग्राह्य नही होता। जिस आहार के लेने से पापास्रव होता है। तथा लोक मे निंदा होती है. वह आहार मुनि नही लेते हैं। आहार के अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ऐसे चार भेद है। भात, रोटी, पूरी वगैरह अशन है। दूध, खीर, रबड़ी पेयाहार है। लाडू, पेढा वगैरह खाद्याहार है, और इलायची, लवग वगैरह स्वाद्य है। तीखा, कडुवा, कसायला, अम्ल और मधुर ऐसे पाच रस उस आहार मे रहते हैं। लवग रस का मधुर रस मे अन्तर्भाव होता है। कोई आहार मनोहर होता है और कोई अप्रिय होता है। उपर्युक्त विशेषणो से सहित आहार दाता के द्वारा दिये जाने पर उसमे मुनि गृद्धि नही रखते है। मधुरादिक प्रिय आहार मुझको हमेशा मिले और कटु आहार कभी भी नही मिले ऐसी इच्छा अर्थात् राग द्वेष भाव मुनि मन मे नही रखते हैं। यह उनका रसनेन्द्रिय निरोध नामक मूलगुण है।

प्रश्न :—स्पर्शनेन्द्रिय निरोध का लक्षण स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—जीवा जोवा समुत्थे कक्कसमउगादि अठ्ठभेदजुदे ।
फासे सुहे य असुहे फासणिरोहो असंमोहो ।।२३।।१५९।।

चेतन और अचेतन पदार्थो से उत्पन्न हुए कठोर, मृदु, स्निग्ध-चिकना, रूक्ष,

हलका, भारी, ठंडा और उष्ण ऐसे आठ भेद जिसके आधार भूत है ऐसे स्पर्श मे मुनि गण आनद और खेद नही मानते है। यह उनका स्पर्शनिरोध नामक मूलगुण है।

❋ छह आवश्यक ❋

समदा थवो य वंदण पडिक्कमणं तहेव णादव्वं ।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीया वासया छप्पि ।।२४।।१६०।।

समता–राग द्वेष मोह वगैरह भावो से रहित होना अथवा त्रिकाल पच नमस्कार करना इसको सामयिक भी कहते है। स्तव-ऋपभादि चौबीस तीर्थकरों की स्तुति। वदना–एक तीर्थंकर का दर्शन और वदन करना अथवा पच गुरु भक्ति पर्यन्त दर्शन वदना करना। प्रतिक्रमण - जिसके द्वारा मुनि पूर्व सयम के प्रति गमन करते है वह क्रिया प्रतिक्रमण नाम की है। अर्थात् अशुभ मन वचन और शरीर के द्वारा जो प्रवृत्ति हुई थी, उससे परावृत्त होना, अशुभ क्रिया नही करना यह प्रतिक्रमण है। किये हुए अपराधों का शोधन करना यह प्रतिक्रमण है। इसके दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्पिक व उत्तमार्थिक ऐसे सात भेद है। प्रत्याख्यान अयोग्य द्रव्य का त्याग करना किवा योग्य द्रव्य का त्याग करना। विसर्ग–देह के ऊपर ममत्व रहित होकर जिनगुण चिन्तन युक्त कायोत्सर्ग करना। ऐसे छह आवश्यक है। इन्द्रिय, कषाय, नो कपाय, रागद्वेषादिक के वश जो नही होता है, वह अवश है। ऐसे अवश मुनि का जो कर्त्तव्य उसको आवश्यक कहते है।

समता का स्वरूप—

जीविदमरणे लाहालाहे संजोगविप्प जोगेय ।
बंधुरि सुहदुक्खादिसु समदा सामायियं णाम ।।२५।।१६१।।

जीवित–औदारिक वैक्रियिकादि देह धारण करना, मरण-मृत्यु, प्राणी का प्राणों से वियोग होना। लाभ–इच्छित वस्तु की प्राप्ति। अलाभ–उसकी अप्राप्ति। अर्थात् आहारादिक की प्राप्ति होने पर अथवा इष्ट वियोग मे शत्रु, सुख, दु ख, भूख प्यास, शीत, उष्ण वगैरह में समता रखना यह सामयिक है। जीवित मरण वगैरह में जो समान परिणाम–रागद्वेष रहित भाव होना वह सामायिक है। त्रिकाल देव वदना करना यह भो सामयिक व्रत है।

सामायिक–

समतासर्वभूतेषु संयमे शुभ भावना ।
आर्त्तरौद्र परित्यागः तद्धि सामायिकं मतम् ।।१६२।।

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग कर, सयम मे शुभ भावना रखते हुवे सर्व जीवो पर समता धारण करना सामायिक है ।

ध्यान–

'एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानम्' एकाग्रता से चित का निरोध करना ही ध्यान है । किसी पदार्थ मे ही चित का एकाग्र हो जाना ध्यान है ।

प्रश्न :—ध्यान कितने प्रकार का है ?

उत्तर :—ध्यान के मूलभेद चार है–आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल । ध्यान के उत्तरभेद सोलह है ।

आर्तध्यान के चार भेद—इष्ट वियोग, अनिष्ट सयोग, पीडाचितन, और निदान ।

रौद्र ध्यान के चार भेद है । हिसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी परिग्रहानन्दी,

धर्म ध्यान चार प्रकार का है—आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय, और सस्थान विचय ।

शुक्ल ध्यान के चार भेद है—पृथकत्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरतक्रिया निवर्तनी ।

इन ध्यानो में चार आर्त ध्यान और चार रौद्रध्यान ये जीव को नरक तिर्यच मे ले जाने वाले है, इसलिये अशुभ है । इन आर्त ध्यान और रौद्रध्यान को छोड़कर जो योगी धर्म ध्यान और शुक्लध्यान को ध्याता है । उसकी सच्ची सामायिक होती है । धर्म ध्यान से जीव स्वर्ग जाता है, पुण्य बध का कारण है । और छट्ठे गुणस्थान में जीव को ही होता है । शुक्ल ध्यान सातवे गुणस्थान से शुरू होता है ।

यहा अब धर्म ध्यान का विशेष वर्णन करते है क्योकि प्रमत मुनि इसी ध्यान का सहारा लेकर अपने सामायिक में स्थित रहता है । सामायिक मे स्थित योगी किस प्रकार धर्म ध्यान का चिंतवन करते है और ध्यान में क्या चितवन करते है, सो कहते है । यति होकर ध्यान से कैसे च्युत हो जाता है ।

ध्यानों का वर्णन—

अनादि विभ्रमान्मोहादनभ्यासाद संग्रहात् ।
जात मप्यात्मनस्तत्वं प्रस्खलत्येव योगिनः ॥१६३॥

योगी (मुनि) आत्मा के स्वरूप को यथार्थ जानता हुआ भी अनादि विभ्रम की वासना के तथा मोह के उदय से तथा बिना अभ्यास से और उस तत्त्व के सग्रह के अभाव मार्ग से च्युत हो जाता है अर्थात् मुनि भी तत्व स्वरूप से चलायमान हो जाता है ।

अविद्यावासना वेस विशेष विवशात्मनाम् ।
योन्यामान मपि स्वास्मिन् चेत्तः कुरुते स्थितिम् ॥१६४॥

तथा आत्मा के स्वरूप को यथार्थ जान कर अपने मे जोड़ता हुआ भी अर्थात् ध्यान में एकाग्र होता हुआ भी अविद्या की वासना के वेग से विशेषतया विवश है आत्मा जिनका उनका चित स्थिरता को धारण नही करता ।

साक्षारकर्त्तु मंतः क्षिप्रं विश्वतत्वं यथास्थितम् ।
विशुद्धि चात्मनः शश्वद्धस्तुधर्मे स्थिरी भवत् ॥१६५॥

इस प्रकार पूर्वोक्त ध्यान के विघ्न के कारण दूर करने के लिये तथा स'.स्त. वस्तुओं के स्वरूप का यथास्थित तत्काल साक्षात् करने के लिये तथा आत्मा की विशुद्धता करने के लिये तिरन्तर वस्तु के धर्म मे स्थिरीभूत होवे । भावार्थ–ध्येय मे एकाग्र मनका लगना ध्यान है, उसमे विघ्न के पूर्वोक्त कारण है । इनको दूर के लिये समस्त वस्तु का यथार्थ स्वरूप निश्चय करके सशयादिक रहित वस्तु के धर्म मे ठहरे । यह धर्म ध्यान की सिद्धि का उपाय है सो विशेषता कहते है ।

अलक्ष्यं लक्ष्यसंबन्धात् स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्तयेत् ।
सालम्बाञ्च निरालम्बं तत्त्व वित्तत्व मञ्जसा ॥१६६॥

तत्त्वज्ञानी इस प्रकार तत्त्व को प्रकटतया चितवन करें कि लक्ष्य के (जो अपने लखने मे आवे उसके) सम्बन्ध से तो अलक्ष्य को (जो अनुभव गोचर नही उसको) चितवन करे और स्थूल इन्द्रिय गोचर पदार्थ से सूक्ष्म इन्द्रियो के अगोचर पदार्थो का चितवन करें इसी प्रकार सालम्ब कहिये किसी ध्येय का आलबन लेकर उससे निरालम्ब वस्तु स्वरूप से तन्मय होना चाहिये । भावार्थ—दृष्ट पदार्थ के सम्बन्ध से अदृष्ट का ध्यान करना कहा गया है, यहां प्रकरण मे परमात्मा का ध्यान

है, और परमात्मा जो अर्हन्त सिद्ध परमेष्ठी है, वे छद्मस्थ करके (अल्पज्ञानी के) दृष्ट नही है, तथा उनके समान अपना स्वरूप निश्चय नय से कहा है, वह भी शक्ति रूप है, सो वह भी छद्मस्थ के ज्ञान का उपयोग दृष्ट है सो इसी के सबंध से सर्वज्ञ के आगम से परमात्मा का स्वरूप निश्चय कर श्रुतज्ञान के भेद रूप शुद्ध नय के द्वारा परमात्मा का ध्यान करना चाहिये इसी से परमात्म पद की प्राप्ति होती है ।

प्रश्न :—धर्म ध्यान के कितने भेद है ?

उत्तर :—आज्ञापाय विपाकानां क्रमशः संस्थितेस्तथा ।
विचयो यः पृथक् तद्धि धर्म ध्यानं चतुर्विधम् ।।१६७।।

आज्ञा, अपाय, विपाक तथा सस्थान इनका भिन्न-भिन्न विचय (विचार) अनुक्रम से करना ही धर्म ध्यान के चार प्रकार है । यहाँ विचय नाम विचार करने अर्थात् चितवन करने का है, तथा इन चारो के नाम इस प्रकार कहने चाहिये—१ आज्ञा विचय, २ अपाय विचय, ३. विपाक विचय और ४. संस्थान विचय ।

प्रश्न :—आज्ञाविचय धर्म ध्यान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—वस्तु तत्त्वं स्वसिद्धान्तं प्रसिद्धं यत्र चिन्तयेत् ।
सर्वज्ञा भियोगेन तदाज्ञा विचयो मतः ।।१६८।।

जिस धर्म ध्यान मे अपने जैन सिद्धान्त में प्रसिद्ध वस्तु स्वरूप को सर्वज्ञ भगवन् की आज्ञा की प्रधानता से चितवन करे, सो आज्ञा विचय नामा धर्म ध्यान का प्रथम भेद है ।

अनन्त गुण पर्याय संयुतं तत्त्रयारयारभकम् ।
त्रिकाल विषमं साक्षाज्जिनाज्ञा सिद्धमामननेत् ।।१६९।।

आज्ञा विचय धर्म ध्यान में तत्त्व अनन्त गुण पर्यायो सहित त्रयात्मक त्रिकाल गोचर साक्षात् जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा से सिद्ध हुआ चितवन करें ।

सूक्ष्मं जिनेन्द्र वचनं हेतु भियन्न हन्यते ।
आज्ञा सिद्धं च तद् ग्राह्यं नान्यथा वादिनो जिनाः ।।१७०।।

जिनेन्द्र सर्वज्ञ देव के वचनों से कहे हुए मूक्ष्म तत्त्व हेतु से बाध्य नही है, ऐसे तत्त्व आज्ञा से ही ग्रहण करने (मानने) चाहियेः क्योंकि जिनेन्द्र भगवान्

वीतराग है, वे अन्यथा वादी नही होते यदि सर्वज्ञ न हो तो बिना जाने अन्यथा कहे अथवा वीतराग न हो तो रागद्वेष के कारण अन्यथा कहे और सर्वज्ञ और वीतराग हो वह कदापि अन्यथा नही कहेगा।

प्रमाणनय निक्षेपै निर्णीतं तत्व मन्जसा ।
स्थित्युत्पतिव्ययोपेतं चिद चिल्लक्षणं स्मरेत् ॥१७१॥

आज्ञा विचय ध्यान मे प्रमाण नय निक्षेपो से निर्णय किये हुए स्थिति, उत्पति और व्यय संयुत अर्थात् उपजे विनशें स्थिर रहे ऐसा और चेतन अचेतन रूप है लक्षण जिसका, ऐसे तत्त्व समूह का चिन्तवन करे।

श्रीमत्सर्वज्ञ देवोक्तं श्रुतज्ञानं च निर्मलम् ।
शब्दार्थं निचितं चित्र मत्र चिन्त्यमविप्लुत्तम् ॥१७२॥

तथा इस आज्ञा विचय ध्यान में श्रीमत्त्सर्वज्ञ करके कहे हुए निर्मल और शव्द तथा अर्थ में परिपूर्ण नाना प्रकार के निर्वाध श्रुतज्ञान का चिन्तवन करना चहिये।

श्रुतज्ञान का वर्णन—

परिस्फुरति यत्रंत द्विश्वविद्या कदम्बकम् ।
द्रव्यभावभिदा तद्धि शब्दार्थज्योतिर ग्रिमम् ॥१७३॥

शव्द और अर्थ का प्रकाश है मुख्य जिसमे ऐसा तथा जो समस्त प्रकार की विद्याओ का समूह है। अर्थात् आचार आदि अग पूर्व अग बाह्य प्रकीर्णक रूप विद्या का समूह है। तथा द्रव्य श्रुत (शब्द रूप) और भावश्रुत (ज्ञानरूप) ये दो है भेद जिसके ऐसा सर्वज्ञ भगवान का कहा हुआ श्रुतज्ञान है।

अपार मति गम्भीरं पुण्यतीर्थं पुरातनम् ।
पूर्वापर विरोधादिकलङ्क परिवर्जितम् ॥१७४॥

फिर कैसा है श्रुतज्ञान अपार है, क्योंकि जिसके शब्दों का पार कोई अल्पज्ञानी नहीं पा सकता। तथा गंभीर है क्योंकि जिसके अर्थ की थाह हर कोई नही पा सकता तथा पुण्य तीर्थ है। क्योकि जिसमे पाप का लेश नही है अर्थात् निर्दोष है इसी कारण जीवों को मारने वाला है तथा पुरातन है अर्थात् अनादि काल से चला आया है और पूर्वापर विरोध आदि कलंको से रहित है।

नयोपनय संताप गहनं गणिभि. स्तुतम् ।
विचित्र मपि चित्रार्थं संकीर्णं विश्व लोभनम् ।।१७५।।

फिर कैसा है श्रुतज्ञान ? द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय और सद्भूत असद्भूत व्यवहारादिक उपनयो के संपात से तो गहन है तथा गणधरादिको करके स्तुति करने योग्य है तथा विचित्र कहिये अपूर्व है, तथापि चित्र कहिये अनेक प्रकार के अर्थो से भरा हुआ है तथा समस्त लोक को दिखाने के लिये नेत्र के समान है ।

अनेक पद विन्यासैरङ्गपूर्वं प्रकीर्णकैः ।
प्रसृत्तं यन्दि भात्युच्चं रत्नाकर इवापरः ।।१७६।।

फिर कैसा है ? श्रुतज्ञान अनेक पदो का विन्यास (स्थान) है, जिनमे ऐसे आचारादि अग तथा अग्रायणी आदि पूर्व और सामायिकादि प्रकीर्णको से विस्तार रूप है, सो वह श्रुतज्ञान जिस प्रकार रत्नाकर (समुद्र) शोभता है, उसी प्रकार शोभता है ।

मदमतोद्वतक्षुद्र शासनाशीविषान्तकम् ।
दुरन्तधन मिथ्यात्व ध्वान्त धर्माशुमण्डलम् ।।१७७।।

फिर कैसा है श्रुतज्ञान ? मदसे माने उद्धत क्षुद्र (नीच) सर्वथा एकान्त वादियो का शासन (मत) रूपी अशी विष कहिये सर्प का अन्तक है, अर्थात् नष्ट करने वाला है तथा दुरन्त कहिये जिसका अन्त बहुत दूर है ऐसे दृढ मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के दूर करने को सूर्य मण्डल के समान है ।

यत्पवित्र जगत्यस्मिन्विशुद्धयति जगत्रयी ।
येन तद्धि सत्तां सेव्यं श्रुतज्ञानं चतुर्विधम् ।।१७८।।

फिर कैसा है श्रुतज्ञान ? इस जगत मे पवित्र है, क्योकि जिसके द्वारा ये तीनो जगत् पवित्र होते है, इसी कारण ही वह श्रुतज्ञान सत्पुरुषो के सेवने योग्य है । यह श्रुतज्ञान प्रथमानुयोग, करुणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार प्रकार का है ।

स्थित्युत्पत्ति व्ययोपेतं तृतीयं योगि लोचनम् ।
नयद्वय समावेशात्साधनादि व्यवस्थितम् ।।१७९।।

फिर कैसा है श्रुतज्ञान ? उत्पाद, व्यय, धौव्य करके सयुक्त है तथा योगीश्वरो का तीसरा नेत्र है तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयो के कारण

सादि अनादि व्यवस्था रूप है, द्रव्यनय से सतान की अपेक्षा अनादि है और पर्यायनय की अपेक्षा तीर्थकरो की दिव्य ध्वनि प्रकट होता है, इस कारण सादि है ।

निः शेषनय निक्षेप निकषग्राव सन्निभम् ।
स्याद्वाद पविनिर्घात भग्नान्यमत भूधरम् ॥१८०॥

फिर यह श्रुतज्ञान समस्त नय निक्षेपो से वस्तु के स्वरूप की परीक्षा करने के लिये कसोटी के समान है तथा स्याद्वाद कहिये कथचित् वचनरूपी वज्र के निर्घात से भग्न किये है, अन्यमत रूपी पर्वत जिसने ।

इत्यादि गुण संदर्भ निर्भरं भव्य शुद्धिदम् ।
ध्यायन्तु धीमतां श्रेष्ठाः श्रुतज्ञान महार्णवम् ॥१८१॥

इत्यादि पूर्वोक्त गुणों की रचना से भरा हुआ भव्य जीवो की शुद्धि को देने वाला श्रुतज्ञान रूप महासमुद्र है, सो इसको बुद्धिमानो से जो श्रेष्ठ है, वे ध्यावो (चितवन करो) यह प्रेरणारूप उपदेश है ।

श्रुतज्ञान की महिमा—

यज्जन्मज्वर घातकं त्रियुवनाधीशैर्यदभ्यर्चितं ।
यत्स्याद्वाद महाध्वजं नय शता कीर्णम् यत्पठ्यते ॥
उत्पाद स्थिति भङ्गलाच्छनयुता यस्मिनपदार्थाः स्थिता ।
स्तच्छ्रीवीरमुखार विन्दगदितं दद्याच्छ्रुतं व शिवम् ॥१८२॥

जो श्रुतज्ञान ससार रूपी ज्वर का तो घातक है और तीन भुवन के ईश इन्द्रों से पूजित है । तथा जो स्याद्वाद रूपी बडी ध्वजा वाला है और सैकडो नयो से पूर्ण है, ऐसा कहा जाता है तथा जिसमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य लाछन युक्त पदार्थ रहते है, ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामी के मुख कमल से कहा हुआ श्रुत ज्ञान तुम श्रोता जनो को कल्याण रूप हो ऐसा आशीर्वचन है ।

वाग्देव्याः कुल मन्दिरं बुधननानन्दैक चन्द्रोदयं ।
मुक्ते मङ्गिल मग्रिमं शिव पथ प्रस्थान दित्यानकम् ॥
तत्वाभासकरङ्गपञ्च वदनं भव्यान्विनेतुं क्षमं ।
तच्छ्रोत्राञ्जलिभिः पिबन्तु गुणिनः सिद्धान्त वार्द्धेः पय. ॥१८३॥

जो वाग्देवी (सरस्वती के रहने का कुलगृह है, तथा विद्वानो के आनन्द उपजाने के लिये अद्वितीय चन्द्रमा का उदय है । मुक्ति का मुख्य मगल व

मोक्षमार्ग में गमन करने के लिए दिव्य आनक कहिये पटह नाम का बाजा है, तत्वाभास (मिथ्यात्व) रूपी हिरण के नाश करने को सिंह के समान है तथा भव्य जीवो को मोक्ष मार्ग मे चलाने के लिये समर्थ है। ऐसे इस सिद्धान्त रूपी समुद्र के जल को हे गुणी जनो। कर्ण रूपी अञ्जलियों से पान करो।।२०।।

येनैते निपतन्ति वादि गिरयस्तु ष्यन्ति योगीश्वराः ।
भव्या येन विदन्ति निर्वृति पदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः ।।
यद्बन्धुर्यमिनां यदक्ष सुखस्या धार भूतं नृणां ।
तल्लोकद्वय शुद्धिदं जिनवचः पुष्याद्विवेक श्रियम् ।।१८४।।

जिसके द्वारा प्रसिद्ध वादीरूप पर्वत गिरते है, अर्थात् खड-खड हो जाते है, तथा जिसके द्वारा योगीश्वर प्रसन्न होते है जिसके द्वारा भव्य जीव मोक्षपद को जाते है, अर्थात् प्राप्त होते है, तथा जिसको पढ़कर पडित जन ससार के मोह को छोड देते है, तथा जो वचन संयमी मुनियो का बधु (हित करने वाला है) तथा जो पुरुषो का अविनाशी सुख का आधारभूत है, इस प्रकार दोनों लोको की शुद्धता का देने वाला जिनेन्द्र भगवान का वचन भव्य जीवों की विवेक रूपी श्री को पुष्ट करे। इस प्रकार यह आशीर्वाद है।

सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान् विचिन्तयेत् ।
यत्र तद्ध्यानमाम्नात माज्ञाख्यं योगि पुङ्गवै. ।।१८५।।

जिस ध्यान मे सर्वज्ञ की आज्ञा को अग्रेसर (प्रधान) करके पदार्थों को सम्यक्प्रकार चितवन करे (विचारे) सो मुनियो ने आज्ञा विचय नाम धर्म ध्यान कहा है।

अपायविचय धर्मध्यान का स्वरूप—

अपाय विचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः ।
अपाय' कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः ।।१८६।।

जिस ध्यान में कर्मों का अपाय (नाश) हो तथा सोपाय कहिये पडितजना करके इस प्रकार जिसमे चिन्तवन किया जाय कि इन कर्मों का नाश किस उपाय से होगा? उस ध्यान को बुद्धिमान् पुरुषो ने अपाय विचय कहा है।

अपायविचय धर्मध्यान में योगी यह विचार करे कि—

श्री मत्सर्वज्ञ निर्दिष्ट मार्ग रत्नत्रयात्मकम् ।
अनासाद्य भवाख्ये चिरं नष्टाः शरीरिण. ॥१८७॥
मज्जनोन्मज्जनं शश्वद्भजन्ति भव सागरे ।
वराकाः प्राणिनोऽप्राप्य यानपात्रं जिनेश्वरम् ॥३॥१८८॥

इस ध्यान मे ऐसा चिन्तन होता है कि ये प्राणी श्रीमत्सर्वज्ञ जिनेन्द्र के उपदेश किये हुए सम्यग्दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चरित्र रूप मार्ग न पाकर ससार रूप वन में बहुत काल पर्यन्त नष्ट होते हुए जन्म मरण और उपार्जन किये कर्मो के नाश करने का उपाय जो रत्नत्रय सो उन्होने नही पाया । तथा ये रग प्राणी जिनेश्वर देवरूपी जहाज को न पाकर ससार रूप समुद्र मे निरन्तर मज्जन उन्मज्जन करते है, अर्थात् निरन्तर जन्म-मरण पाते रहते है । और दु.ख भोगते है, इस प्रकार चिन्तवन करे ।

महाव्यसन सप्तार्चिः प्रदीप्ते जन्म कानने ।
भ्रमताऽद्य मया प्राप्तं सम्यग्ज्ञानाम्बुधेस्तटम् ॥१८९॥

फिर ऐसा चितन करे कि महान कष्ट रूपी अग्नि से प्रज्वलित इस ससार रूपी वन मे भ्रमण करता हुआ मै इस समय सम्यग्ज्ञान रूपी समुद्र तट (किनारा) पा गया।

अद्यापि यदि निर्वेद विवेकागेन्द्र मस्तकात् ।
स्खलेत्तदैव जन्मान्ध कूपपातोऽनिवारित ॥१९०॥

फिर इस प्रकार चिन्तन करे कि मैने इस समय सम्यग्ज्ञान पाया है, सो यदि अब भी वैराग्य और भेद ज्ञान रूप पर्वत के शिखर से गिरू तो ससार रूप अधकूप मे अवश्य गिर पड़ना होगा ॥५॥

अनादिभ्रम संभूतं कथं निर्वार्यते मया ।
मिथ्यात्वा विरति प्रायं कर्मबन्ध निबन्धनम् ॥१९१॥

तत्पश्चात् इस प्रकार चिन्तन करे कि अनादि अविद्या से उत्पन्न हुए तथा जिसमे मिथ्यात्व व अविरत की बहुलता है, ऐसे कर्मबध होने के कारण मुझ से किस प्रकार निवारण किये जायेगे ।

सोऽहं सिद्धः प्रसिात्मा छग्बोध विमलेक्षणः ।
जन्म पक्के चिरं-खिन्न खण्डयमानः स्वकर्मभा ॥१९२॥

फिर ऐसा चिन्तन करे कि प्रसिद्ध है स्वरूप जिसका ऐसा मैं सिद्ध हूँ दर्शन ज्ञान ही निर्मल नेत्र है, जिसके ऐसा हू तथापि ससार रूपी कीचड़ मे अपने उपार्जन किये हुए कर्मो से खण्ड-खण्ड किया चिरकाल से खेद खिन्न हुआ हू ।

एकतः कर्मणां सैन्यमहमेकस्ततोऽन्यत ।
स्थातव्यमप्रमत्तेन मयास्मिन्नरि संकटे ॥१९३॥

इस संसार मे एक ओर तो कर्मो की सेना है और एक तरफ मे अकेला हूँ इस कारण इस शत्रुसमूह में मुझको अप्रमत (सावधान) होकर रहना चाहिये । असावधान रहूगा तो कर्मरूप बैरी है, इसलिए वे मुझे बिगाड देगे ।

किमुपेयो ममात्मायं किंवा विज्ञान दर्शने ।
चरणं वापवर्गाय त्रिभिः सार्द्धं स एव वा ॥१९४॥

फिर ऐसा विचार करे मोक्ष के लिये मेरा यह आत्मा उपादेय है, अथवा ज्ञान दर्शन उपादेय है, अथवा चारित्र उपादेय है, अथवा ज्ञान दर्शन चारित्र इन तीनों सहित आत्मा ही उपादेय है ।

कोऽहं ममास्त्रवः कस्मात्कथं बन्धः का निर्जरा ।
का मुक्तिः किं विमुक्तस्य स्वरूपं च निगद्यते ॥१९५॥

फिर ऐसा विचारे कि मैं कौन हू और मेरे कर्मो का आस्त्रव क्यो होता है? तथा कर्मो का बध क्यो होता है और किस कारण से निर्जरा होती है और मुक्ति क्या वस्तु है ? एव मुक्त होने पर आत्मा का क्या स्वरूप कहा जाता है ।

जन्मनः प्रतिपक्षस्य मोक्षस्यात्यन्तिकं सुखम् ।
अव्या बाधं स्वभावोत्थं केनोपायेन लभ्यते ॥१९६॥

फिर ऐसा विचारे कि ससार का प्रतिपक्षी जो मोक्ष है, उसका अविनाशी अनन्त अव्याबाध (बाधा रहित) स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ (स्वाधीन) सुख किस उपाय से प्राप्त हो ।

मय्येव विदिते साक्षाद्विज्ञातं भुवनत्रयम् ।
यतोऽहमेव सर्वज्ञः सर्वदर्शी निरञ्जनः ॥१३॥

फिर ऐसा ध्यान करे कि मेरे स्वरूप को जानने से मैने तीनों भुवन जान लिये, क्योकि मै ही सर्वज्ञ सबका देखने वाला निरजन और समस्त कर्म कालिमा से रहित हू ।

एको भावः सर्वभाव स्वभावः सर्वे भावा एक भाव स्वभावाः ।
एको भावस्तत्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्वतस्तेन बुद्धाः ॥१९७॥

एक भाव सर्व भावों के स्वभाव स्वरूप है और सर्व भाव के स्वभाव स्वरूप है, इस कारण जिसने तत्त्व (यथार्थपने) से एक भाव को जाना, उसने समस्त भावो को यथार्थतया जाना ।

भावार्थ – आत्मा का एक ज्ञान भाव ऐसा है कि जिसमे समस्त भाव (पदार्थ) प्रतिबिम्बित होते है, उन पदार्थो के आकार स्वरूप भाव होता है, तथा वे भाव सब ज्ञेय है, उनके जितने आकार है, वे एक ज्ञान के आकार होते हैं । इस कारण जो इस प्रकार के ज्ञान के स्वरूप को यथार्थ जानता है, उसने सब ही पदार्थ जाने अर्थात् ज्ञान ज्ञेयाकार हुआ इस कारण ज्ञान को जाना तब सब ही जाना, क्योकि ज्ञान ही आत्मा है, इस कारण ऐसा कहा है ।

यावद्यावच्च सम्बन्धो मम स्याद्बाह्यवस्तुभिः ।
तावत्तावत्स्वयं स्वस्मिस्मिन्स्थितिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥१९८॥

फिर ऐसा ध्यान करे कि जब-जब मेरे वस्तुओ से सम्बन्ध होते हैं, तब-तब मेरी आप से ही अपने मे ही स्थिति होना स्वप्न मे भी दुर्घट है ।

तथैवैतेऽनुभूयन्ते पदार्थाः सूत्र सूचिताः ।
अतो मार्गेऽत्र लग्नोऽहं प्राप्त एव शिवास्पदम् ॥१९९॥

फिर ऐसा विचारे कि जिनसूत्र मे जो पदार्थ कहे है, वे वैसे ही अनुभव किये जाते है और जैसे कहे है वैसे ही दिखते है । इस कारण इस सूत्र के मार्ग मे लगा हूं । इसी कारण मोक्ष स्थान भी पाया हुआ है ऐसा मानता हूँ, क्योकि जब मार्ग पाया और उस मार्ग मे चला तो असली ठिकाना प्राप्त हुआ ही कहा जाता है ।

इत्युपायो विनिश्चयो मार्गाच्यवन लक्षणः ।
कर्मणां च तथापाय उपायश्चात्म सिद्धये ॥२००॥

इस प्रकार पूर्वोक्त मोक्ष मार्ग से नही छूटना है, लक्षण जिसका ऐसा तो उपाय निश्चय करना तथा वैसे ही कर्मो का अपाय (नाश) निश्चय करना इस प्रकार अपाय और उपाय दोनो का आत्मा की सिद्धि के लिये निश्चय करना चाहिये ।

इति नय ज्ञात सीमालम्बि निर्ध्दंत दोषं,
च्युत सकल कलङ्कं कीर्तितं ध्यान मेतत् ।

अविरत मनुपूर्वं ध्यायतोऽस्त प्रमादं,
स्फुरति हृदि विशुद्धे ज्ञान भास्वत्प्रकाशः ॥२०१॥

यह पूर्वोक्त प्रकार का अपाय विचय नामा ध्यान सैकड़ो नयो को अवलम्बन करने वाला है, तथा दूर किये है, समस्त दोष जिसने ऐसे समस्त कलक रहित सर्वज्ञ देव ने कहा है, सो जो कोई पुरुप इसको अनुक्रम से निरन्तर प्रमाद रहित होकर ध्याता है, उसके हृदय मे निर्मल ज्ञान रूप सूर्य का प्रकाश स्फुरायमान होता है ।

विपाक विचय धर्मध्यान—

स विपाक इति ज्ञेयो य स्वकर्म फलोदयः ।
प्रतिक्षरण समुद्भूत चित्ररूपः शरीरिणाम् ॥२०२॥

प्राणियो के अपने उपार्जन किये हुए कर्म के फल का जो उदय होता है, वह विपाक नाम से कहा है । सो वह कर्मोदय क्षरण प्रतिक्षरण उदय होता है और ज्ञानावरणादि अनेक रूप है ।

कर्मजातं फलं दत्ते विचित्रमिह देहिनाम् ।
आसाद्य नियतं नाम द्रव्यादिक चतुष्टयम् ॥२०३॥

जीवो के कर्मो का समूह निश्चित द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप चतुष्टय को पाकर इस लोक मे अनेक प्रकार से अपने नामानुसार फल (आगे कहते है उस प्रकार) को देता है ।

स्त्रक् शय्या सनया वस्त्र वनिता वादित्र मित्राङ्गनान्,
कर्पूरा गुरु चन्द्र चन्दन वनक्रीड़ाद्रि सौधध्वजान् ।
मातङ्गांच्च विहङ्ग चामर पुरीभक्षान्नपानानि वा,
छत्रा दीनु पलभ्य वस्तु विनयान्सौख्यं श्रयन्तेऽङ्गिनः ॥२०४॥

ये प्राणी पुप्पमाला, सुन्दर शय्या, आसन, यान, वस्त्र, स्त्री, बाजे, मित्र, पुत्रादि को तथा कर्पूर अगुरु चन्द्रमा चन्दन वनक्रीड़ा पर्वत महल ध्वनादिक को तथा हस्ती घोड़े, पक्षी चामर नगरी और खाने योग्य अन्नपानादिक को तथा छत्रादिक वस्तुसमूह को पाकर सुख का आश्रय करते है अर्थात् भोगते है ।

क्षेत्राणि रमणीयानि सर्वर्तु सुख दायिनि च ।
काम भोगास्पदान्युच्चैः प्राप्त सौख्यं निषेव्यते ॥२०५॥

सर्व ऋतुओ मे सुख देने वाले रमणीय और काम भोग के स्थान ऐसे क्षेत्रो को प्राप्त होकर अतिशय सुख का अनुभव करते है।

प्रासा सिदनुर यन्त्र पन्न गगर व्यालानलोग्रग्रहान्।
शीर्णाङ्गक्रमि कीटक करजः क्षारा स्थिपङ्कोपलान्॥
काराशृङ्खल शङ्ककाण्ड निगड क्रूरारि वैरास्तथा।
द्रव्याण्याप्य भजन्ति दुःख मखिलं जीवा भवाह्वस्थिताः॥२०६॥

ससार रूप मार्ग में रहते हुए जीव माला तलवार छुरा यन्त्र, बन्दूक आदि शस्त्र और सर्पविप दुष्ट हस्ती अग्नि तीव्र खोटे ग्रहादिक को तथा दुर्गन्धित सडे हुए अंग, लट, रज, क्षार, वैरी, वैर इत्यादि द्रव्यों को प्राप्त होकर दुःखो को भोगते है।

निसर्गेणातिरौद्राणि भयल्केशास्पदानि च।
दुःख मेवाप्नुवन्त्युच्चैः क्षेत्राण्या साद्य जन्तवः॥२०७॥

ये प्राणी स्वभाव से ही रौद्र भय और क्लेश के ठिकाने ऐसे क्षत्रो को प्राप्त होकर अतिशय दुखो को ही पाते है।

अरिष्टोत्पात निर्मुक्तो वात वर्षा दिवर्जितः।
शीतोष्ण रहित : काल : स्यात्सुखाय शरीरिणाम्॥२०८॥

अरिष्ट (दुःख देने वाले) उत्पात से रहित तथा पवन वर्षा आदि से वर्जित और अति उष्णता रहित काल जीवो के सुख के लिए है।

वर्षात पतुषाराढ्य ईत्युत्पातादि संकुलः।
काल सदैव सत्वानां दुःखानल निबन्धनम्॥२०९॥

वर्षा आतप, हिम (बर्फ) सहित तथा ईति कहिये स्वचक्र परचक्रादिको के उत्पात आदि सहित काल जीवो को निरन्तर दुःख रूप अग्नि का कारण है।

प्रश्न :—जीव को किस भाव से सुख अथवा दुःख होता है।

उत्तर :—प्रशमादि समुद्भूत्तो भावः सौख्याय देहिनाम्।
कर्म गौर वजः सोऽयं महाव्यसन मन्दिरम्॥२१०॥

जो कर्म के उपशमादिक से उत्पन्न हुआ भाव है। वह तो जीवो को सुख के अर्थ है और जो कर्म के तीव्र गुरुपना से उत्पन्न हुआ भाव है सो महान् कष्ट का घर है।

मूल प्रकृतयस्तत्र कर्मणामष्ट कीर्तिताः ।
ज्ञानावरण पूर्वास्ता जन्मिनां बन्ध हेतवः ।।२११।।

कर्म की मूल प्रकृति (भेद) आठ है, ज्ञानावरणादिक, वे जीवो के बधन का कारण है ।

ज्ञाना वृतिकरं कर्म पञ्च भेद प्रपञ्चितम् ।
निरुद्धं येन जीवानां मतिज्ञानादि पञ्चकम् ।।२१२।।

उन आठ कर्म प्रकृतियो मे से प्रथम ज्ञान को आवरण करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म पांच भेद रूप कहा गया है, इन पाचों ज्ञानावरण कर्मो ने जीवो के मति ज्ञानादिक (मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय और केवल) पांचो ज्ञानो को रोक रक्खा है अर्थात् ढक रक्खा है ।

नवभेदं मतं कर्म हगावरण सञ्ज्ञकम् ।
रुद्धयते येन जन्तूनां शश्वदिष्टार्थ दर्शनम् ।।२१३।।

दूसरा दर्शनावरण नामक कर्म वह नव प्रकार का है, जिसने जीवो के निरन्तर इष्ट वस्तु के दर्शन को रोक रक्खा है, अर्थात् ढक रक्खा है ।

वेदनीयं विदुः प्राज्ञा द्विधा कर्म शरीरिणाम् ।
यन्मधूच्छिष्टध्यक्त शस्त्र धारा समप्रभम् ।।२१४।।

इसके पश्चात् तीसरा वेदनीय कर्म दो प्रकार का है, एक साता वेदनीय और दूसरा असाता वेदनीय, सो यह कर्म जीवो को शहद-लिपटी तलवार की धार के समान किंचित् सुखदायक है ।

सुरोरगनराधीश सेवितं श्रयते सुखम् ।
सातोदयवशात्प्राणी संकल्पानन्तरोद्भवम् ।।२१५।।

असद्वेद्योदयात्तीव्रं शारीरं मानसं द्विधा ।
जीवो विसह्यते दुःखं शश्वच्छ्वभ्रादि भूमिषु ।।२१६।।

यह प्राणी साता वेदनीय के उदय के वश से तो देवेन्द्र, नागेन्द्र,, धरणीन्द्र व चक्रवर्तियो से सेवित तथा मन के सकल्प करते ही प्राप्त होने वाले सुख को प्राप्त होता हैं । और असाता वेदनीय के उदय से शरीर सबन्धी और मन सबन्धी दो प्रकार के तीव्र दु:ख नरकादिक पृथ्वियों मे भोगता है ।

दृष्टमोह प्रकोपेन दृष्टि : साध्वी विलुप्यंते ।
तद्विलोपान्निमज्जन्ति प्राणिनः श्वभ्रसागरे ।।२१७।।

तत्पश्चात् चौथा मोहनीय कर्म है। उसके दो मूलभेद है। एक दर्शन मोहनीय और दूसरा चारित्र मोहनीय इनमे से दर्शन मोहनीय नामक कर्म के प्रकोप (उदय) से जीवो का सम्यक्दर्शन लोपा जाता है, सम्यक् दर्शन के लोप से जीव नरक रूपी समुद्र में डूबता है, इस दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व ऐसी तीन प्रकृतियाँ है।

चरित्र मोह पाकेन नाङ्गिभिर्लभ्यते क्षणम् ।
भाव शुद्धया स्वसात्कर्तुं चरणं स्वान्त शुद्धिदम् ।।२१८।।

दूसरा चारित्र मोह कर्म है, उसके उदय से यह प्राणी मन की शुद्धि देने वाले चारित्र को भाव की शुद्धता से अगीकार करने के लिए क्षणमात्र भी समर्थ नही होता।

लब्ध्वापि यत्प्रमान्ति यत्स्खलनत्थ संयमात् ।
सोऽपि चरित्र मोहस्य विपाकः परिकीर्तितः ।।२१९।।

जो सयम (चरित्र) को ग्रहण करके भी जीव प्रमाद रूप होता है। और सयम से भ्रष्ट हो जाता है। उसका कारण भी चरित्र मोह का उदय कहा है।

भावार्थ—पहिले श्लोक में तो चरित्र मोह के उदय से सयम को ग्रहण ही न कर सके, ऐसा कहा है और यहा ऐसा कहा है कि कदाचित चरित्र मोह के क्षयोपशय से चरित्र (सयम) ग्रहण कर ले तो उसमे भी प्रमाद होता है। अथवा तीव्र उदय होता है तो सयम से भ्रष्ट भी हो जाता है। इस चरित्र मोह की प्रकृति जो क्रोध मान माया लोभादिक २५ कषाये है, उनका वर्णन अन्य ग्रन्थो से जानना।

प्रश्न :—आयु कर्म का विपाक किस प्रकार है ?

उत्तर :—सुरायुरारम्भ ककर्मपाकात्संभूय नाके प्रथितभावे ।
समर्थ्यते देहिभिरायुरश्यं सुखा मृतस्वाद लोलचित्तः ।।२२०।।

पांचवां आयुकर्म है, उसके ४ भेद है—देवायु मनुष्यायु तिर्यगायु और नरकायु सो इनमें से देवायु उत्पन्न करने वाले कर्म के उदय से प्राणी स्वर्ग मे उत्पन्न होकर विख्यात है प्रभाव जिसका और सुखामृत के आस्वादन मे आसक्त है चित जिसका ऐसा देव हो स्वर्ग के सुख भोगता है।

नरायुष. कर्म विपाक योगान्नरत्व मासाद्य शरीर भाजः ।
सुखा सुखा क्रान्तधियो नितान्त नयन्ति कालं बहुभि· प्रपञ्चः ॥२२१॥

तथा प्राणी मनुष्यायु नामा कर्म के उदय भोग से मनुष्यत्व को पाकर कुछ सुख दु.ख से व्याप्त है वुद्धि जिसकी ऐसे हो नाना प्रकार के प्रपञ्चो (कार्यो) से काल यापन करते है।

चर स्थिर विकल्पासु तिर्यग्गतिषु जन्तुभिः ।
तिर्यगायुः प्रकोपेन दुःख मेवानुभूयते ॥२२२॥

तथा प्राणी तिर्यञ्च गतियो मे उत्पन्न होकर केवल दुःख ही दुःख भोगते हैं।

नारकायुः प्रकोपेन नरकेऽचिन्त्यवेदने ।
निपतन्त्यङ्गिन स्तूर्णं कृतार्ति करुण स्वना ॥२२३॥

तथा नारकायु कर्म के उदय से प्राणी अचिन्त्य वेदना वाले नरको के विलो में जिनके सुनने से करुणा हो आवे ऐसे शब्द करते हुए उत्पन्न होते हैं और पाच प्रकार के दुःख भोगते है।

नाम कर्मोदयः साक्षाद्दत्ते चित्राण्यनेकधा ।
नामनि गतिजात्यादि विकल्पानीह देहिनाम् ॥२२४॥

तथा जीवों को नाम कर्म का उदय अनेक प्रकार के गति जाति आदि ९३ भेद वाले नामो को साक्षात् धारण करता हैं, नामकर्म की ९३ प्रकृतियो का नाम लक्षणादि विशेप भेद गोमटसार ग्रथ से जानना ।

गोत्राख्यं जन्तु जातस्य कर्म दत्ते स्वकं फलम् ।
शस्ता शस्त्रेषु गोत्रेषु जन्म निष्पाद्य सर्वथा ॥२२५॥

तथा गोत्र नाम कर्म जीवो के समूह को ऊच नीच गोत्र मे उत्पन्न कर सर्व प्रकार से अपना फल देता है।

निरुणद्धिः स्वसामार्थ्याद्यानला भादिपञ्चकम् ।
विघ्नसन्तति विन्यासैर्विघ्न कृत्कर्म देहिनाम् ॥२२६॥

आठवाँ कर्म अन्तराय है सो विघ्न करने वाला है। यह अपनी सामर्थ्य (उदय) मे जीवो के प्राप्त होने वाले शक्ति दान लाभ भोग उपभोग मे विघ्न सन्तति की रचना करता है। अर्थात दान योगादिक मे अन्तराय डाल कर उनको रोकता है।

मन्द वीर्याणि जायन्ते कर्माण्यति बालान्यपि।

अपक्वपाचना योगार फलानीव वनस्पतेः ॥२२७॥

पूर्वोक्त अष्टकर्म अतिशय वलिष्ठ हैं तथापि जिस प्रकार वनस्पति के फल विना पके भी पवन के निमित (पाल आदि) से पक जाते हैं, उसी प्रकार इन कर्मों की स्थिति पूरी होने से पहिले भी तपश्चरणादि से मन्द वीर्य (अल्प फल देने वाले) हो जाते हैं।

अपक्वः क्रियतेऽस्ततन्द्रैस्तपोभिर्न्वर शुद्धि युक्तैः।

क्रमाद् गुणश्रेणि समाश्रयेण सुसंवृतान्तः करणै मुनीन्द्रैः ॥२२८॥

नष्ट हुआ है प्रमाद जिनका और सम्यक प्रकार से सवर रूप हुआ है चित्त जिनका ऐसे मुनीन्द्र उत्कृष्ट विशुद्धता सहित तपों से अनुक्रम से गुणश्रेणी निर्जरा का आश्रय करके विना पके कर्मों को भी पका कर स्थिति पूर्ण हुए विना ही निर्जरा करते हैं।

द्रव्याद्युत्कृष्ट सामग्रीमासाद्योग्रतपोबलात्।

कर्माणि घातयन्त्युच्चैस्तुर्य ध्यानेन योगिनः ॥२२९॥

योगीश्वर द्रव्य क्षेत्र काल भाव की उत्कृष्ट सामग्री को प्राप्त होकर तीव्र तप के बल से इस विपाक विचय नामा ध्यान के पश्चात् चौथे संस्थान विचय नाम ध्यान से कर्मों को अतिशयता के साथ नष्ट करते हैं।

विलीना शेष कर्माणि स्फुरन्तमति निर्मलम्।

स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥२३०॥

उक्त विधान से कर्मों की निर्जरा से वलय हुए हैं समस्त कर्म जिसके ऐसा स्फुरायमान निर्मल पुरुषाकार स्वरूप अपने अंग मे ही प्राप्त हुए आत्मा को स्मरण करते हैं। अर्थात् चिन्तवन (ध्यान) करते हैं।

इति विविध विकल्पं कर्म चित्र स्वरूपं।

प्रति समय मुदीर्ण जन्म वर्त्यङ्ग भाजाम् ॥

स्थिरचर विषयाणां भावयन स्ततन्द्रो।

दहति दुरित कक्षं संयमो शान्त मोहः ॥२३१॥

पूर्वोक्त प्रकार अनेक है भेद (विकल्प) जिसमें ऐसे कर्म स्वरूप ससार में वर्तने वाले प्राणी स्थावर त्रसों के समय-समय प्रति उदयरूप है, उसको शान्त मोह मयमी मुनि प्रमाद रहित होकर विचारता हुआ पाप रूपी वन को दग्ध करता है।

इत्थं कर्मकटुप्रपाक फलिताः संसार घोरार्णवे ।
जीवा दुर्गति दुःख वाडव शिखा सन्तान संतापिताः ।।
मृत्युत्पत्ति महोर्मिजाल निचिता मिथ्यात्व वातेरिताः ।
क्लिश्यन्ते तदिदं स्मरन्तु नियतं धन्याः स्वसिद्धयर्थिनः ।।२३२।।

इस प्रकार भयानक ससार रूप समुद्र में जो जीव है वे ज्ञानवरणदिक कर्मो के कटु पाक (तीव्रोदय) से सयुक्त है। वे दुर्गति के दुःख रूपी बड़वानल की ज्वाला से सतान से सतापित है तथा मरण जन्म रूपी बड़ी लहर से परिपूर्ण भरे है तथा मिथ्यात्व रूप पवन के प्रेरे हुये क्लेस भोगते है, सो जो धन्य पुरुष है, वे अपनी मुक्ति की सिद्धि के लिए इस प्रकार विपाक विचय ध्यान का स्मरण करे (ध्यावें)।

इस प्रकार विपाक विचय ध्यान का वर्णन किया इसका सक्षेप यह है कि ज्ञानावरणादि कर्म जीवो के अपने तथा पर के निरन्तर उदय से आते है, सो यह विपाक है, इसको चिन्तवन करने से परिणाम विशुद्ध हो जाने पर कर्मो के नाश करने का उपाय करे तब मुक्त होता है।

❋ संस्थान-विचय-धर्मध्यान ❋

संस्थान विचय धर्मध्यान का स्वरूप

आगे सस्थान विचय नामक धर्म ध्यान के चौथे भेद का वर्णन करते हैं, इस ध्यान मे लोक का स्वरूप विचार किया जाता है, इस कारण लोक का वर्णन किया जाता है।

अनन्तानन्तमाकाशं सर्वतः स्वंप्रतिष्ठितम् ।
तन्मध्येऽयं स्थितो लोकः श्रीमत्सर्वज्ञवर्णितः ।।२३३।।

प्रथम तो सर्व तरफ (चारो ओर) अनन्तानन्त प्रदेश रूप आकाश है, सो वह स्व प्रतिष्ठित है, अर्थात् आप ही अपने आधार पर है, क्योंकि उससे बड़ा अन्य कोई पदार्थ नही है जो उसका आधार हो। उस आकाश मध्य (बीच) में यह लोक स्थित है सो श्रीमतसर्वज्ञ देव ने वर्णन किया है, इस कारण प्रमाण भूत, है क्योंकि असत्य कल्पना करके अन्य किसी ने नही कहा सर्वज्ञ भगवान् ने प्रत्यक्ष देख कर जैसा है वैसा ही वर्णन किया है।

लोक का स्वरूप—

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतैः पदार्थैश्चेतनेतरैः ।
सम्पूर्णोऽनादि संसिद्धः कर्त्तृव्यापार वर्जितः ॥२३४॥

यह लोक ध्रौव्य उत्पाद और व्यय (क्षय) करके सयुक्त चेतन अचेतन पदार्थ से सम्पूर्ण तथा भरा हुआ है और अनादि संसिद्ध है, कर्त्ता के व्यापार से वर्जित है, अर्थात् कोई अन्यमती इस लोक का कर्त्ता हर्त्ता ईश्वर आदि को कहते है तथा कच्छप वा शेष नाग के ऊपर स्थित है, इत्यादि बुद्धि कल्पित असत्यार्थ कल्पना करके कहते है, सो वैसा नही है; सर्वज्ञ ने जैसा कहा है वैसा ही सत्य है ।

ऊर्ध्वाधोमध्य भागैर्यो बिभर्ति भुवनत्रयम् ।
अतः स एवं सूत्रज्ञैस्त्रै लोक्याधार इष्यते ॥२३५॥

तथा यह लोक उर्ध्व, मध्य अधोभाग से तीन भुवनों को धारण करता है, इस कारण सूत्र जानने वाले तीन लोक (तीन जगत) का आधार इस लोक को कहते है ।

उपर्युपरि संक्रान्तैः सवतोऽपि निरन्तरैः ।
त्रिभिर्वायुभिरा कीर्णो महावेगै महाबलैः ॥२३६॥

तथा यह लोक उपरि उपरि (एक के ऊपर एक) सर्व तरफ से अन्तर रहित महावेगवान महाबल वाले तीन पवनो से बैठा हुआ है ।

तीनों पवनों के नाम—

घनाब्धिः प्रथमस्तेषां ततोस्त्यैव घनमारूतः ।
तनुवात स्तृतीयोऽन्ते विज्ञेयावायवः क्रमात् ॥२३७॥

उन तीन पवनो मे से प्रथम तो यह लोक धनोदधि नाम पवन से बेढा हुआ है, उसके ऊपर घनवात नाम का पवन बेढ़ा हुआ है और उसके ऊपर अन्त मे तनुवात नाम का पवन है, इस प्रकार तीन पवनो से लोक बेढ़ा हुआ है. इसी कारण उधर इधर हट नही सकता किन्तु, आकाश के मध्य भाग मे स्थित है ।

प्रत्येक पवन २०–२० बीस-बीस हजार योजन मोटा है—

उद्धृत्य सकलं लोकं स्वशक्त्यैव वयवस्थिताः ।
पर्यन्त रहिते व्योम्नि मरुतः प्रांशु विग्रहाः ॥२३८॥

और ये तीनो पवन तीन लोकों को धारण करके अपनी शक्ति से ही अन्तर

रहित आकाश मे अपने शरीर को विस्मृत किये स्थित हैं।

घनाब्धि वलये लोकः स च नान्ते व्यवस्थितः।
तनुवातान्तरे सोऽपि स चाकाशे स्थितः स्वयम् ।।२३६।।

यह लोक तो धनोदधि नाम के वात वलय में स्थित है और धनोदधि वात वलय धनवात वलय के मध्य में है, अर्थात् धनोदधि वातवलय के चारों ओर धनवात वलय घिरा हुआ है, और घनवातवलय के चारों तरफ तनुवातवलय घिरा हुआ है और तनुवात वलय आकाश में स्वयमेव स्थित है। इसमें किसी का कोई कर्तव्य नही है। अनादि काल से इसी प्रकार की व्यवस्था है।

अधो वेत्रासना कारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः।
मृदङ्गा भस्ततोव्यूर्ध्व स त्रिधेति व्यवस्थितः ।।२४०।।

यह लोक नीचे से तो वेत्रासन कहिये मोढे के आकार का है अर्थात् नीचे से चौडा है फिर घटता-घटता मध्य लोक पर्यन्त सँकड़ा है फिर मध्य लोक झालर के आकार का है और उसके ऊपर ऊर्ध्व लोक मृदग के आकार का है अर्थात् बीच में कुछ चौडा है ऐसे तीन प्रकार के लोक की व्यवस्था है।

अस्य प्रमाण मुन्नात्या सप्त च रज्जवः।
सप्तैका पञ्च चैका च मूल मध्यान्त विस्तरे ।।२४१।।

इस लोक की ऊचाई तो सात-सात राजू है अर्थात् नीचे से लगाकर मध्य लोक पर्यन्त सात राजू है और उससे ऊपर राजू है इस प्रकार चौदह राजू ऊचा है, और मूल मे चौडा सात राजू है, सो घटता-घटता मध्य लोक में एक राजू चौडा है और उसके ऊपर बीच मे पाच राजू चौडा है और अन्त में और आदि में मध्य लोक के निकट एक-एक राजू चौडा है।

अधोलोक

तत्राधो भागमासाद्य संस्थिताः सप्त भूमयः।
यासु नारकषण्ढानां निवासः सन्ति भीषणाः ।।२४२।।

इस लोक के अधोभाग में सात पृथ्वि है जिनमें नारकी नपुंसक जीवो के बडे भयकारी निवास स्थान है।

काश्चिन्दज्ज्वानलप्रख्याः काश्चिच्छीतोष्णसंकुलाः।
तुषार बहुलाः काश्चिद् भूमयोऽत्यन्त भीतिदाः ।।२४३।।

उन सप्त नरक की पृथ्वियो में कई तो वज्राग्नि के समान उष्ण है, कई शीत उष्णता से व्याप्त हैं और कई अत्यन्त हिमवाली हैं इस प्रकार अतिशय भय-कारक है।

उन नरकों में शीत उष्ण की बाधा—

उदीर्णानलदीप्तासु निसर्गोष्णासु भूमिषु ।
मेरुमात्रोऽप्ययः पिण्डः क्षिप्तः सद्यो विलीयते ॥२४४॥

उदय रूप है अग्नि जिनमें ऐसी स्वाभाविक उष्णरूप भूमियो मे यदि मेरु पर्वत के समान लोहे का पिंड डाला जाय तो तत्काल गल कर भस्म हो जाय ऐसी उन भूमियो में उष्णता है।

शीत भूमिष्वपि प्राप्तो मेरु मात्रोऽपि शीर्यते ।
शतधा सावयः पिण्डः प्राप्य भूमि क्षणान्तरे ॥२४५॥

जिस प्रकार उष्ण भूमियो मे मेरु समान लोहे का पिड गल जाता है, उसी प्रकार शीत प्रधान भूमियो में भी मेरु के समान लोहे का पिड डाला जाय तो शीत के कारण क्षण मात्र में खड-खड होकर बिखर जायेगा।

उन नरकों के जीव—

हिंसास्तेयानृता ब्रह्म ब्रह्वारम्भादि पातकैः ।
विशन्ति नरकं घोरं प्राणिनोऽन्तनिर्दयाः ॥२४६॥

उन घोर नरको में हिसा झूठ चोरी कुशील और बहुत आरंभ परिग्रहादि पापो के करने से ही अत्यन्त निर्दयी जीव प्रवेश करते है। भावार्थ—हिसादि पाच पाप अथवा सात व्यसनो के सेवी जीव ही उन घोर नरको मे जाकर दु ख भोगते है।

मिथ्यात्वाविरति क्रोध रौद्र ध्यान परायणाः ।
पतन्ति जन्तवः श्वभ्रे कृष्ण लेश्या वशं गताः ॥२४७॥

तथा मिथ्यात्व अविरति क्रोध रौद्रध्यान मे तत्पर तथा कृष्ण लेश्या के वश हुए प्राणी नरक में पड़ते है।

उन नरकों में दुःख—

असि पत्रवनाकीर्णे शस्त्र शूला सिसंकुले ।
नरकेऽत्यन्तदुर्गन्धे वसासृक् कृमिकर्दमे ॥२४८॥

शिवाश्वव्याघ्रकङ्काढये मांसाशिविहगान्विते ।
वज्रकण्टक संकीर्णे शूलशाल्मलिदुर्गमे ॥२४६॥

संभूय कोठ्टिकामध्ये ऊर्ध्वपादा अधोमुखाः ।
ततः पतन्ति साक्रन्दं वज्रज्वलन भूतले ॥२५०॥

नरक कैसे है? कि असिपत्र (तलवार) सरीखे है पत्र जिनके ऐसे वृक्षो से तथा शूल तलवार आदि शस्त्रों से व्याप्त है अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त है वसा (अपकमास) रुधिर और कीटो से भरा हुआ कर्दम है जिनमे ऐसे है तथा सियाल श्वान व्याघ्रदिक से तथा मास भक्षी पक्षियो से भरे हुए है, तथा वज्र मय काटो से और शूल शाल्मलि आदि से दुर्गम है अर्थात् जिनमें गमन करना दु ख दायक है ऐसे नरको में बिलो के सपुट मे उत्पन्न होकर वे नारकी जीव ऊँचे पाव और नीचे मुख ऐसे चिल्लाते हुए उन सपुटो से वज्राग्निमय पृथ्वी मे गिरते है ।

अयः कण्टक कीर्णासु द्रुत लोहाग्निवीथिषु ।
छिन भिन्न विशीर्णाङ्गा उत्पतन्ति पतन्ति च ॥२५१॥

उस नरक भूमि में वे नारकी जीव छिन्न भिन्न खंड-खड होकर बिखेरे हुए अग से पडकर बार-बार उछल-उछल के गिरते है, सो कैसी भूमि में गिरते है कि जहा पर लोहे के कांटे बिखरे हुए है और जिनमें लोहा गल जाता है ।

दुःसहा निष्प्रतीकारा ये रोगाः सन्ति केचन ।
साकल्येनैव गात्रेषु नारकाणां भवन्ति च ॥२५२॥

जो रोग असह्य है जिनका कोई उपाय (चिकित्सा) नही है ऐसे समस्त प्रकार के रोग नरकों मे रहने वाले नारकी जीवों के शरीर के रोम-रोम मे होते है ।

अदृष्ट पूर्वं मालोक्य तस्य रौद्रं भयास्पदम् ।
दिशः सर्वाः समीक्षन्ते वराकाः शरणार्थिनः ॥२५३॥

फिर वे नारकी जीव उस नरक भूमि को अपूर्व और रौद्र (भयानक) देख-कर किसी की शरण लेने की इच्छा से चारो तरफ देखते है, परन्तु कही कोई सुख का कारण नही दिखता और न कोई शरण ही प्रतीत होता है ।

न तत्र सुजनः कोऽपि न मित्रं न च बान्धवाः ।
सर्वे ते निर्दयाः पापाः क्रूरा भीमोग्रविग्रहाः ॥२५४॥

उस नरक भूमि मे कोई सुजन वा मित्र वा बाँधव नही है, सभी निर्दय, पापी, क्रूर और भयानक प्रचण्ड शरीर वाले है।

सर्वे च हुण्ड संस्थानाः स्फुलिङ्ग सदृशेक्षणः।
विर्द्धिता शुभ ध्यानाः प्रचण्डाश्चण्ड शासनाः ॥२५५॥

वे सभी नारकी जीव हुडक सस्थान वाले है अर्थात् जिनके शरीर का प्रत्येक अग अति भयानक बेडौल है और अग्नि के स्फुलिग के समान जिनके नेत्र है तथा प्रचण्ड, आर्त्त रौद्र ध्यान को बढाये हुए है, तथा क्रोधी है और जिनका शासन भी प्रचण्ड है।

तत्राक्रन्दरवैः साद्ध श्रूयन्ते कर्कशाः स्वनाः।
दृश्यन्ते गृध्रगोम्युसर्पशार्दल मण्डलाः ॥२५६॥

उस नरक भूमि मे चारों ओर से पुकारने के शब्द बड़े कर्कश सुने जाते हैं, तथा गृधपक्षी, सियाल, सर्प, सिह, कुत्ते ये सब जीव बड़े भयानक दीखते है।

घ्रायन्ते पूतयो गन्धाः स्पृश्यन्ते वज्र कण्टकाः।
जलानि पूति गन्धीनि नद्योऽसृग्मांस कर्दमाः ॥२५७॥

जिस नरक भूमि मे दुर्गंध सू घनी पडती है और वज्रमय काटों मे छिदना पडता है और जल जहा दुर्गन्धमय है और रुधिर मास का है कादा जिनमे ऐसी नदियाँ है।

चिन्तयन्ति तदालोक्यं रौद्र मत्यन्त शङ्किताः।
केयं भूमिः क्व चानीताः के वयं केन कर्मणा ॥२५८॥

उस स्थान को रौद्र (भयानक) देखकर वे नारकी गण (जो नवीन उत्पन्न हुए है) अत्यन्त शकित होकर विचरते है कि यह भूमि कौनसी हो और हम कौन है कौन से कर्म से यहा आये है।

ततो विदुर्विभङ्गात्स्वं पतितं श्वभ्रसागरे।
कर्मणात्यन्तरौद्रेण हिसाद्यारम्भ जन्मना ॥२५९॥

तत्पश्चात् विभङ्गावधि (कुअवधिज्ञान) से जानते है कि हिसादिक आरम्भो से उत्पन्न हुए अत्यन्त रौद्र (खोटे) कर्म से हम नरक रूपी समुद्र मे पडे है।

ततः प्रादुर्भवत्युच्चैः पश्चातापोऽति दुःसहः।
दहन्न विरतं चेतो वज्राग्निरिव निर्दयः ॥२६०॥

तत्पश्चात् नारकी जीवो के दु:सह पश्चाताप अतिशय करके प्रगट होता है। वह दु सह पश्चाताप वज्राग्नि के समान निर्दय हो चित्त को दहन करता हुआ प्रगट हुआ है।

मनुष्यत्वं समासाद्य तदा कैश्चिन्महात्मभिः ।
अपवर्गाय संविग्नैः कर्म पूज्यमनुष्ठितम् ॥२६१॥
विषया रामपाकृत्य विध्याप्य मदनानलम् ।
अप्रमत्तैस्तपश्चीर्णं धन्यैर्जन्मार्ति शान्तये ॥२६२॥
उपसर्गाग्निपातेऽपि धैर्य मालम्ब्य चोन्नतम् ।
तैः कृतं तदनुष्ठानं येन सिद्धं समी हृतम् ॥२६३॥
प्रमादमदमुत्सृज्य भाव शुद्धया मनीषिभिः ।
केनाप्य चिन्त्यवृत्तेन स्वर्गो मोक्षश्च सधितः ॥२६४॥
शिवाभ्युदयदं मार्ग दिशन्तोऽप्यतिवत्सलाः ।
मया वधीरताः सन्तो निर्मत्स्यि कटुकाक्षरैः ॥२६५॥

कितने बड़े पुरुषो ने मनुष्यत्व पाकर वैराग्य सहित हो मोक्ष के लिये पूजनीय पवित्राचरण किया और उन महाभागी मुनियो ने विषयो की आशा को दूर करके कामरूप अग्नि को बुझाकर निष्प्रमादी हो ससार पीड़ा की शाति के लिये तप का संचय किया। तत्पश्चात उन उत्तम पुरुषो ने उपसर्गरूपी अग्नि के आने पर बड़े धैर्य का आलवन कर वह आचरण किया कि जिससे वांछित कार्य सिद्ध हुआ तथा उन बुद्धिमान पुरुषो ने प्रमाद और मद को छोडकर भाव की शुद्धता से किसी अचित्य आचरण से स्वर्ग तथा मोक्ष साधा, उन सत्पुरुषो ने वातसल्य भाव से युक्त हो मुझे मोक्ष और स्वर्ग आदि के मार्ग का उपदेश दिया, परन्तु मैने बड़े कटु अक्षरों से उनका तिरस्कार करके निदा की उनका उपदेश अगीकार किया, इत्यादि पश्चाताप करते है।

तस्मिन्नपि मनुष्यत्वे परलोकैक शुद्धिदे ।
मया तत्संचितं कर्म यज्जातं श्वभ्रशंलवम् ॥२६६॥

फिर भी नारकी पश्चाताप करता है कि परलोक की अद्वितीय शुद्धता देने वाले उन मनुष्य भव मे भी मैंने वह कर्म सचय किया कि जिससे नरक का शवल (पाथेय राह खर्च) हुआ अर्थात् उस कर्म ने सहज मे ही नरक में ला पटका।

अविद्याक्रान्तचित्तेन विषयान्धीकृतात्मना ।
चरस्थिराङ्गिः संघातो निर्दोषो हतो मया ॥२६७॥

फिर नारकी विचारता है कि अविद्या से आक्रान्त है चित्त जिसका तथा विषयों से अंधा होकर मैंने त्रस स्थावरो के समूह को मारा है ।

परवित्तामिषासक्तः परिस्त्रीसंग लालसा ।
बहुव्यसन विध्वस्तो रौद्र ध्यान परायणः ॥२६८॥
यत स्थितः प्राक् चिरं कालं तस्यैतत्फल भागतम् ।
अनन्तयातनासारे दुरन्ते नरकार्णवे ॥२६९॥

नारकी फिर पश्चाताप करता है कि मै परके धन में और मांस मे अथवा पर के धनरूपी मांस मे, आसक्त होकर पर स्त्री सग करने मे लुब्ध हुआ तथा बहुत प्रकार के व्यसनों से पीडित होकर रौद्र ध्यानी हुआ, पूर्व जन्म मे इस प्रकार रहा इस कारण उसका यह अनन्त पीड़ा से असार-अपार नरकरूपी समुद्र फल आया है ।

यन्मया वञ्चितो लोको वराको मूढ़मानसः ।
उपायैर्बहुभिः पापैः स्वाक्ष सन्तर्पणार्थिना ॥२७०॥
कृतः पराभवो येषां धनभूस्त्री कृते मया ।
घातश्च तेऽत्र संप्राप्ताः कर्तुं तस्माच निष्क्रियाम् ॥२७१॥

फिर विचारता है कि मैंने भोले जनो को अति अन्यायरूप उपायो से इन्द्रियो को पोषने के लिए ठगा तथा पर का धन पर की भूमि वा स्त्री लेने के लिए जिनका अपमान किया तथा घात किया वे लोग यहां नरक भूमि मे उसका दड देने के लिये आकर प्राप्त हुए है ।

ये तदा शशकप्राया मया बलवता हता. ।
तेऽद्य जाता मृगेन्द्राभा मां हन्तुं विविधैर्वधैः ॥२७२॥

उस मनुष्य भव मे जब मैं था तो वे शशक (खरगोश) समान थे और मैं बलवान् था सो मैंने मारा किन्तु वे आज यहा पर सिंह के समान होकर अनेक प्रकार के घातो से मुझे मारने के लिए उद्यत है ।

मानुष्येऽपि स्वतंत्रेण यत्कृतं नात्मनो हितम् ।
तदद्य किं करिष्यामि दैवपौरुष वर्जितः ॥२७३॥

फिर विचारता है कि जब मनुष्य भव मे स्वाधीन था । तब भी मैंने अपना

हित साधन नही किया तो अब यहां दैव और पौरुष दोनों से रहित होकर क्या कर सकता हूं, यहा कुछ भी हित साधन नही हो सकता ।

यदान्धेनापि पापेन निस्त्रि शेनास्त बुद्धिना ।
विराध्या राध्य सन्तानं कृतं कर्माति निन्दितम् ।।२७४।।

फिर विचारता है कि मद से अन्धे पापी निर्दय नष्ट बुद्धि मैंने आराधने योग्य जो भले मार्ग में प्रवर्तनेवाले उन पूज्य पुरुषों के सन्तान को विराधकर निदनीय कर्म किया ।

यत्पुरग्राम विन्ध्येषु मया क्षिप्तो हुताशनः ।
जल स्थल बिलाकाश चरिणो जन्तवो हताः ।।२७५।।
कृन्तन्ति मम मर्माणि स्मर्यमाणान्य तारतमं ।
प्राचीतान्यद्य कर्माणि कचानीव निर्दयम् ।।२७६।।

फिर विचारता है कि मैंने पूर्व भव मे पुर ग्राम वन में अग्नि डालकर दब लगाई और जल भर, थल भर आकाश भर तथा बिलो मे रहने वाले असख्य जीवों को मारा, वे पूर्व के पापकर्म इस समय स्मरण आने से निरन्तर मेरे मर्म स्थानों को दया रहित करवत के समान भेदते है ।

किं करोमि क्व गच्छामि कर्मजाते पुरः स्थिते ।
शरणं कं प्रपश्यमि वराको दैव वञ्चितः ।।२७७।।

फिर विचारता है कि ऐसे नरको के दुःख मे भी कर्मो का समूह मेरे सामने है, उसके होते हुए मै क्या करूं, कहा जाऊँ, किसकी शरण देखूं, मै रक दैव से ठगा हुआ है, मुझे कुछ भी सुख का उपाय नही दिखता ।

यन्निमेष मपि स्मर्तुं द्रष्टुं श्रोतुं न शक्यते ।
तद्दु खमग सोढव्यं वर्द्धमानं कथं मया ।।२७८।।

फिर विचारता है कि नेत्र के टिमकार मात्र भी जिसके स्मरण करने व सुनने की समर्थता नही प्रतिक्षण बढ़ता हुआ वह दु ख मैं कैसे सहूँगा ।

विषज्वलन संकीर्णं वर्द्धमानं प्रतिक्षणम् ।
मम मूर्ध्नि विनिक्षिप्तं दुःखं दैवेन निर्दयम् ।।२७९।।

फिर विचारता है कि विष तथा अग्नि से व्याप्त क्षण क्षण में बढ़ने वाले ये सब दु ख दैव (कर्म) ने दया रहित होकर मेरे ही माथे पर डाले है ।

न दृश्यन्ते ते मृत्या न पुत्रा न च बान्धवाः ।
येषां कृते मया कर्म कृत स्वस्यैव घातकम् ।।२८०।।
न कलगारिण मित्राणि न पाप प्रेरको जनः ।
पदमव्येतमायातो मया सार्द्धं गतमपः ।।२८१।।

फिर ऐसा विचारता है कि जिनके लिए मैने अपने घातक पापकर्म पूर्व जन्म में किये इस समय न तो वे चाकर, न पुत्र, कलत्र, मित्र गण पाप मे प्रेरणा करने वाले बांधव कोई देखने में आते है । वे ऐसे निर्लज्ज हो गये कि एक कदम भी मेरे साथ नहीं आये ।

आश्रयन्ति यभा वृक्षं फलितं पत्रिणः पुरा ।
फलापाये पुनर्यान्ति तथा ते स्वजना गताः ।।२८२।।

फिर ऐसा विचारता है कि जिस प्रकार पक्षी पहिले तो फले हुए वृक्ष का आश्रय करते है, परन्तु फलो का अभाव हो जाता है, तब-तब पक्षी उड़ जाते है, उसी प्रकार मेरे स्वजन जाते रहे, ये दुःख भोगने को कोई साथ नही आया ।

शुभाशुभनि कर्माणि यान्त्येव सह देहिभिः ।
स्वार्जिता नीति यत्प्रोचुः सन्तस्तत्सत्यतां गतम् ।।२८३।।

फिर विचारता है कि जो सत्पुरुष कहते थे कि अपने उपार्जन किये हुए शुभ अशुभ कर्म हैं, वे ही जीव के साथ जाते हैं, अन्य कोई साथ नही जाता सो वह आज सत्य प्रतीत हुआ ।

धर्म एव समुद्धर्तुं शक्तोऽस्माच्छ्वभ्रसागरात् ।
न स स्वप्नेऽपि पापेन मया सम्यक्पुरार्जितः ।।२८४।।

फिर विचारता है कि इस नरकरूपी समुद्र से उद्धार करने के लिये एक धर्म ही समर्थ है; परन्तु मुझ पापिष्ठने पहिले स्वप्न मे भी उसका उपार्जन किया ।

सहायः कोऽपि कस्यापि नामून्न च भविष्यति ।
मुक्तवैकं प्राकृतं कर्म सर्वसत्वाभिनन्दकम् ।।२८५।।

फिर विचारता है कि इस ससार में कोई किसी का सहायक न है, न हुआ और न होगा; किन्तु समस्त जीवो को आनन्द करने वाला अर्थात् जिसमे सब की दया हो ऐसा शुभ कर्म ही सहायक होता है ।

तत्कुर्वन्त्यमाः कर्म जिह्वोपस्थादि दण्डितः ।
येनत्वभ्रेषु पच्यन्ते कृतार्त्तकरुण स्वनाः ।।१८६।।

फिर विचारता है कि जो अधम (पापी) पुरुष जिह्वा उपस्थेन्द्रिय से दण्डित होते है, वे ऐसा कर्म करते है कि जिस कर्म से वे पापी पीडित होकर नरकों मे पचाये जाते है, रोते है वा शब्द करते है, जिसको सुनने से अन्य को दया उपज आवे।

चक्षुरुन्मेषमात्रस्य सुखस्यार्थे कृतं मया।
तत्पापं येन सम्पन्ना अनन्ता दुःखराशयः ॥२८७॥

फिर विचारता है कि मैने नेत्रो के टिमकार मात्र सुख के लिये ऐसा पाप किया कि जिससे अनन्त दु.खों की राशि प्राप्त हुई।

याति सार्द्धं ततः पाति करोति नियतं हितम्।
हन्ति दुःखं सुख दत्ते यः स बन्धुनी योषितः ॥२८८॥

फिर विचारता है कि यह धर्मरूप बन्धु (हितू) ऐसा है कि साथ जाता है और जहा, जाता है, वही रक्षा करता है और यह मित्र नियम से हित ही करता है, दु ख का नाश करके सुख देता है, ऐसे धर्मरूपी मित्र को मैने पोसा ही नहीं और जिनको मित्र समझ के पोसा उनमे से कोई एक भी साथ नही आया।

परिग्रह महाग्राह संग्रस्ते नार्तं चेतसा।
न दृष्टा यम शार्दूल चपेटा जीवनाशिनी ॥२८९॥

फिर विचारता है कि परिग्रहरूपी महाग्राह से पकड़े हुए पीडित चित्त होकर मैंने जीव को नाश करने वाली यमरूपी शार्दूल की चपेट नही देखी अर्थात् परिग्रह में आसक्त होकर निरन्तर पाप ही करता रहा।

पातयित्वा महाघोरे मां श्वभ्रेऽचिन्त्यवेदने।
क्व गतास्तेऽधुना पापा मद्वित्तफल भोगिनः ॥२९०॥

फिर विचारता है कि जो कुटुम्बादिक मेरे उपार्जन किये हुये धन के फल भोगने वाले थे, वे पापी मुझे अचिन्त्य वेदनामय इस घोर नरक में डाल कर अब कहां चले गये ? यहा दु ख मे कोई साथी न हुआ।

इत्यजस्त्रं सुदु.खार्त्ता विलापमुखराननाः।
शोचन्ते पाप कर्माणि वसन्ति नर कालये ॥२९१॥

इस पूर्वोक्त प्रकार से नारकी जीव निरन्तर महादुःख से पीडित हुए, मुख से पुकारते हुए, विलाप करते हुए अपने पापकार्यो को स्मरण कर करके शोच करते है

और नरक मंदिर मे बसते है ।

इति चिन्तानलेनोच्चैर्दह्यमानस्य ते तदा ।
धावन्ति शरशूलासिकराः क्रोधाग्नि दीपिताः ॥२६२॥
वैरं पराभवं पापं स्मारयित्वा पुरातनम् ।
निर्भर्त्स्य कटुकालापैः पीडयन्त्यति निर्दयम् ॥२६३॥

इस पूर्वोक्त प्रकार की चिन्तारूप अग्नि से अतिशय जलते हुए नारकी के ऊपर उसी समय अन्य पुराने नारकी बाण, शूल, तलवार लिये हुए, क्रोधरूपी अग्नि से जलते हुए दौड़ते है और पूर्व के पाप तथा वैर को याद कराते हुए कटु वचनो से तिरस्कार करके उसे अतिनिर्दयता से जिस प्रकार बनता है, दु ख देते है ।

उत्पाटयन्ति नेत्राणि चूर्णयन्त्यस्थि संचयम् ।
दारयन्त्युदरं क्रुद्धास्त्रोटयन्त्यत्र मालिकाम् ॥२६४॥

वे पुराने नारकी उस विलाप करते हुए नये नारकी के नेत्रों को उखाडते है, हड्डियो को चूर्ण कर डालते है, उदर को फाडते है और क्रोधी होकर उसकी आंतो को तोड़ डालते है ।

निष्पीडयन्ति यन्त्रेषु दलन्ति विषमोपलैः ।
शाल्मलीषु निघर्षन्ति कुम्भीषु क्वाथयन्ति च ॥२६५॥

तथा वे नारकी उसे घानी मे डाल कर पीलते है और कठिन पाषाणो से दलते है, लोहे के कांटे वाले वृक्षो से घिसते (रगड़ते) है तथा कुम्भियो मे (कलशियो मे) डालकर काढा करते (उबालते) है ।

असह्यदुःख सन्तान दान दक्षाः कलिप्रियाः ।
तीक्ष्णदंष्ट्रा करालास्या भिन्नाञ्जन समप्रभाः ॥२६६॥
कृष्णलेश्योद्धताः पापा रौद्र ध्यानैक भाविताः ।
भवन्ति क्षेत्र दोषेण सर्वे ते नारकाः खलाः ॥२६७॥

तथा वे नारकी असह्य दुःखों की निरन्तरता देने मे चतुर है, कलह करना ही जिनको प्रिय है, तीक्ष्ण दाढो से भयानक मुख वाले है, बिखरे हुए काजल के समान जिनके शरीर की काली प्रभा है; तथा कृष्णलेश्या के कारण उद्धत है, पापरूप है और रौद्रध्यान के भावने वाले है, एव क्षेत्र के दोष से वे सब ही नारकी दुष्ट होते है ।

वैक्रियिक शरीरत्वाद्धि क्रियन्ते यहृच्छया ।
यन्त्राग्निश्वापदाङ्गं स्ते हन्तुं चित्रैर्वधैः परान् ॥२६८॥

उन नारकियो का वैक्रियिक शरीर होने के कारण इच्छानुसार पाणी अग्नि हिस्त्र जन्तु सिहादिक का रूप बनाकर अनेक प्रकार से परस्पर मारने के लिये विक्रिया करते है।

न तत्र बान्धवः स्वामी मित्रभृत्याङ्गनाङ्गजाः ।
अनन्तयातना सारे नरकेऽत्यन्त भीषणे ॥२६६॥

यहा अत्यन्त भयानक नरक मे न तो कोई बाधव है, न पुत्र है, न कोई स्वामी है, न कोई मित्र है, न कोई भृत्य ही है, न स्त्री है, न पुत्र है, केवल अनन्त यातना का भयानक वृष्टिपात ही है ।

तत्र ताम्रमुखा गृध्रा लोहतुण्डाश्च वायसाः ।
दारयन्त्येव मर्माणि चञ्चुभिर्नखरैः खरैः ॥३००॥

उस नरक मे मुख – चोच जिनके ऐसे तो गृध्रपक्षी है और लोहे की चोच वाले काक है, सो चोचो से तथा तीक्ष्ण नखो से नारकी जीवो के मर्मो को विदारते है ।

कृमयः पूतिकुण्डेषु वज्रसूची समाननाः ।
भित्वा चर्मास्थि मांसानि पिबन्त्याकृष्य लोहितमम् ॥३०१॥

तथा उस नरक मे पीब के कुण्डो मे वज्र की सुई समान है, मुख जिनके ऐसे कीडे वा जौ के नारकी जीवों के चमडे और हाड, मांस को बिदा कर रक्त (खून) को को पीते है ।

बलाद्विदार्य संदंशैर्वदनं क्षिप्यते क्षणात् ।
विलीनं प्रज्वलत्ताम्रं यैः पीतं मद्यमुद्धतैः ॥३०२॥

तथा जिन पापियो ने मनुष्य जन्म मे उद्धत होकर मद्यपान किया है; उनके मुख को सडासी से फाड फाड़ कर तुरन्त के पिघलाये हुए ताम्बे को पिलाते है ।

परमांसानि यैः पापैर्भक्षितान्यतिनिर्दयैः ।
शूलापक्वानि मांसानि तेषां खादन्ति नारकाः ॥३०३॥

और जिन पापियो ने मनुष्य भव में निर्दय होकर अन्य जीवों का मांस भक्षण किया है, उनके मास के शूले पका पका कर नारकी जीव खाते है ।

यैः प्राक्परकलत्राणि सेवितान्यात्मवञ्चकैः ।
योज्यन्ते प्रज्वलन्तीभिः स्त्रीभिस्ते ताम्रजन्मभिः ।।३०४।।

तथा जिन आत्मवञ्चक पापी जनो ने पूर्व भव मे परस्त्री सेवन की है, उनको ताम्बे की अग्नि से लाल की हुई स्त्रियों से सगम कराया जाता है ।

न सौख्यं चक्षुरुन्मेषमात्रमप्युपलभ्यते ।
नरके नारकै र्दीनैर्हन्यमानैः परस्परम् ।।३०५।।

नरक में नारकी जीव परस्पर एक दूसरे को मारता है, सो वे दिन एक पलक मात्र भी सुख को नही पाते ।

किमत्र बहुनोक्तेन जन्म कोटि शतैरपि ।
केनापि शक्यते वक्तुं न दुःख नरकोद्भवम् ।।३०६।।

आचार्य महाराज कहते है कि कहा तक कहे ? क्योकि उस नरक मे उत्पन्न हुये दु.ख को कोटि जन्म लेकर भी कोई कहने को समर्थ नही है, हम क्या कह सकते है ।

विस्मृतं यदि केनापि कारणेन क्षणान्तरे ।
स्मारयन्ति तदाभ्येत्य पूर्व वैरं सुराधमाः ।।३०७।।

यदि वे नारकी किसी कारण से क्षण मात्र के लिए भूल जाते है तो उसी समय नीच असुर देव आकर उन्हे पूर्व वैर याद करा देते है, जिससे फिर वे परस्पर मार पीट करके अपने को महादुःखी कर लेते है ।

बुभुक्षा जायतेऽत्यर्थं नरके तत्र देहिनाम् ।
यां न शामयितुं शक्तः पुद्गलप्रचयोऽखिलः ।।३०८।।

तथा उस नरक मे नारकी जीवो को भूख ऐसी लगती है कि समस्त पुद्गलो का समूह भी उसको शमन करने में असमर्थ है ।

तृष्णा भवति या तेषु वाडवाग्निरिवोल्वणा ।
न सा शाम्यति निःशेष पीतैरप्यम्बुराशिभिः ।।३०९।।

तथा नरक मे नारकी जीवों के जो तृषा वड़वाग्नि के समान अति उत्कट (तीव्र) होती है सो समस्त समुद्रो का जल पीलें तो भी नही मिटती ।

बिन्दु मात्रं न तैर्वारि प्राप्यते पातुमातुरैः ।
तिल मात्रोऽपि नाहारो ग्रसितुं लभ्यते हितैः ।।३१०।।

यद्यपि नरको में उपर्युक्त भूख प्यास की तीव्रता है, परन्तु न तो किसी काल मे तिल मात्र किसी को भोजन मिलता है और न एक बिन्दु पानी ही कही मिलता है; इस प्रकार आतुर हो कर निरन्तर भूख प्यास सहते है।

तिलादप्यति सूक्ष्माणि कृतखण्डानि निर्दयैः ।

वपुर्मिलति वेगेन पुनस्तेषां विधेर्वशात् ॥३११॥

तथा उन नारकीयो के शरीर निर्दय नारकीयो के द्वारा तिल तिल मात्र खण्ड किये जाते है, परन्तु मृत्यु नही आती, तत्काल मिलकर शरीर बन जाता है, इनके ऐसा भी कर्मोदय है, जो मरण नहीं होता, सागरों की आयु पूर्ण होने पर ही मरण होता है; अकाल मृत्यु कभी नही होती।

यातनारुक् शरीरायुर्लेश्या दुःख भयादिकम् ।

वर्द्धमानं विनिश्चेयमधोऽधः श्वभ्रभूमिषु ॥३१२॥

उन नरक की भूमियो मे पीडा, रोग, शरीर, आयु, लेश्या, दुःख, भय इत्यादि नीचे नीचे बढता हुआ है; अर्थात् पहिले नरक (पृथ्वी) से दूसरे नरक में अधिक है, दूसरे से तीसरे मे और तीसरे से चौथे मे और चौथे से पांचवे में और पाचवे से छठे में और छठे से सातवे मे इस क्रम से अधिक-अधिक है; यह अधोलोक का वर्णन हुआ।

❋ मध्यलोक ❋

मध्यभागस्ततो मध्ये तत्रास्ते झल्लीरोनिभः ।

यत्र द्वीप समुद्राणां व्यवस्था वलयाकृतिः ॥३१३॥

उस अधोलोक के ऊपर झालर (घटा बजाने की घडवली) के समान गोलाकार मध्य लोक का मध्य भाग है, उसमे गोलगोल वलयो (कडो) के समान असख्यात द्वीप समुद्र हैं।

जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयोऽर्णवाः ।

स्वयम्भूरमणान्तास्ते प्रत्येकं द्वीप सागराः ॥३१४॥

उस मध्यलोक मे जम्बूद्वीपादिक तो द्वीप है और लवण समुद्रादिक समुद्र है सो अन्त के स्वयम्भूरमण पर्यन्त भिन्न-भिन्न है। भावार्थ—सबके बीच एक लाख योजन चौडा लम्बा गोला जम्बूद्वीप हैं, और उसके चारों को दो लाख योजन के व्यास की खाई के समान लवण समुद्र है, इसी प्रकार समुद्र के चारो ओर द्वीप और

द्वीपों के चारो ओर समुद्र, इस प्रकार स्वयंम्भूरमण समुद्र पर्यन्त द्वीप समुद्रो की स्थिति है।

द्विगुणा द्विगुणा भागाः प्रावर्त्यान्योन्यमास्थिताः।
सर्वे ते शुभ नामानो वलयाकार धारिण. ॥३१५॥

तब वे द्वीप और समुद्र दूने-दूने विस्तार वाले है तथा परस्पर एक दूसरे को लपेटे हुए है; गोलाकार कडे के आकार है और उनके नाम भी जम्बूद्वीप, धातकी खंड द्वीप, पुष्कर द्वीप, लवण समुद्र, कालोदधि आदि उत्तमोत्तम है।

मानुषोत्तर शैलेन्द्रमध्यस्थ मति सुन्दरम्।
नर क्षेत्रं सरिच्छैलसुराचल विराजितम् ॥३१६॥

तथा मानुपोत्तर पर्वत के मध्यस्थ नदी पर्वत मेरुपर्वत से अति सुन्दर मनुष्य क्षेत्र है। भावार्थ—सबसे बीच मे एक लाख योजन व्यास का जबूद्वीप है, जम्बूद्वीप के चारो ओर दो लाख योजन का लवण समुद्र है, लवण समुद्र के चारो तरफ चार लाख योजन धातकी खड द्वीप है और धातकीखंड द्वीप के चारो तरफ आठ लाख योजन का कालोदधि समुद्र है और कालोदधि समुद्र के चारों तरफ सोलह लाख योजन चौड़ा पुष्कर द्वीप है, पुष्कर द्वीप के उत्तरार्द्ध मे अर्थात् अगले आगे के भाग मे ८ लाख योजन चौड़ा मानुषोत्तर नाम का दीवार के समान पर्वत पडा हुआ है, इस कारण इस द्वीप को पुष्करार्द्ध द्वीप कहते है, इन अढ़ाई द्वीपो मे ही मनुष्य रहते है, अगले द्वीपों मे मनुप्य नही है और न उससे आगे मनुष्य जा ही सकते है। इसी कारण उस पर्वत का नाम मानुषोत्तर पर्वत है।

तत्रार्यम्लेच्छखण्डानि भूरि भेदानि तेष्वमी।
आर्या म्लेच्छा नराः सन्ति तत्क्षेत्र जनितै गुणैः ॥३१७॥

उस मनुष्य क्षेत्र में अर्थात् अढाई द्वीपो मे अनेक आर्य खड और म्लेच्छखड है, और आर्य क्षेत्रो मे आर्य पुरुष और म्लेच्छ क्षेत्रो मे म्लेच्छ रहते है, उन क्षेत्रो के अनुसार ही उनके गुण आचारादिक है; अर्थात् आर्यो के उत्तम आचार, उत्तम गुण है, और म्लेच्छो के निकृष्ट आचार और धर्मशून्यतादि निकृप्ट गुण है।

क्वचित्कुमानुषोपेतं क्वचिद्व्यन्तर संभृतम्।
क्वचिद्भोग धराकीर्णं नरक्षेत्रं निरन्तरम् ॥३१८॥

यह मनुष्य क्षेत्र निरतर कही तो कुमानुष कुभोगभूमि सहित है, कही व्यन्तर देवो से

भरा है, कही उत्तम भोगभूमि सहित है, इस प्रकार संक्षेप से मध्यलोक का वर्णन किया।

❋ उर्ध्वलोक ❋

ततो नभसि तिष्ठन्ति विमानानि दिवौकसाम् ।
चरस्थिर विकल्पानि ज्यौतिष्काणां यथाक्रमम् ।।३१६।।

उस मध्य लोक के ऊपर आकाश मे ज्योतिषी देवो के विमान रहते है, वे चिर स्थिर भेद से दो प्रकार के है; अर्थात् कई विमान तो निरन्तर गमन करते रहते है और कई विमान स्थिर रहते है।

तदूर्ध्वे सन्ति देवेशकल्पाः सौधर्म पूर्वकाः ।
ते षोडशाच्युत स्वर्ग पर्यन्ता नभसि स्थिताः ।।३२०।।

ज्योतिषी देवो के विमानो के ऊपर कल्पवासी देवो के कल्प (विमान) है; जिनके सौधर्म स्वर्ग, ईशान स्वर्ग आदि नाम है; वे अच्युत स्वर्ग पर्यन्त सोलह है और आकाश मे स्थित है।

उपर्युपरि देवेशनिवास युगलं क्रमात् ।
अच्युतान्तं ततोऽप्यूर्ध्व मेकैकत्रिदशास्पदम् ।।३२१।।

वे देवो के निवासः (स्वर्ग) आकाश मे दो स्वर्ग के ऊपर दो स्वर्ग फिर उन दो के ऊपर फिर दो स्वर्ग इस प्रकार दो-दो के आठ युगल है और उनके ऊपर एक-एक विमान करके नव ग्रैवेयक विमान है, तथा एक अनुदिश और एक अनुत्तर विभान भी है।

निशादिनविभागोऽयं न तत्र त्रिदशास्पदे ।
रत्नालोकः स्फुरत्युच्चैः सततं नेत्र सौख्यदः ।।३२२।।

उन देवो के निवासो मे रात्रि दिन का विभाग नही है, क्योकि वहा पर सूर्य चन्द्रमा नही है, किन्तु नेत्रो को सुख देने वाला रत्नो का उत्तम प्रकाश निरन्तर स्फुरायमान रहता है।

वर्षातपतुषारादि समयैः परिवर्जितः ।
सुखदः सर्वदा सौम्यस्तत्र काल प्रवर्त्तते ।।६२।।३२३।।

उन स्वर्गो मे वर्षा, शीत, आतप आदिक समय व ऋतुओं से रहित सदाकाल सुख देने वाला सौम्य मध्यस्थ काल (वसन्त ऋतु) रहता है।

उत्पातभयसन्तापभङ्ग चौरारिविद्वराः ।
न हि स्वप्नेऽपि दृश्यन्ते क्षुद्रसत्त्वाश्च दुर्जनाः ॥३२४॥

तथा उन स्वर्गो मे उत्पात, भय, संताप, भंग, चोर, शत्रु, वञ्चक तथा क्षुद्रजीव, दुर्जन ये स्वप्न मे नही दिखते ।

चन्द्रकान्तशिलानद्धाः प्रवालदल दन्तुराः ।
वज्रेन्द्र नील निर्माणा विचित्रास्तत्र भूमयः ॥३२५॥

उन देवों के निवासो मे पृथ्वी चन्द्रकान्त मणियो से बधी हुई है तथा मू गे के पत्र की समान रची हुई है, तथा कही कही हीरा इन्द्रनीलमणि आदि नाना प्रकार के रत्नो से बनी हुई है ।

माणिक्यरोचिषां चक्रैः कर्बुरीकृत दिङ्मुखाः ।
वाप्य स्वर्णाम्बुजच्छन्ना रत्नसोपानराजिताः ॥३२६॥

तथा स्वर्गो में वापिकाये माणिक की किरणो के समूहो से दशो दिशाओ को अनेक वर्ण मय कर रही है तथा सुवर्णमय कमलो से आच्छादित और रत्नमय सीढ़ियो से सुशोभित है ।

सरांस्यमल वारीणि हंसकारण्ड मण्डलैः ।
वाचालै रुद्धतीर्थानि दिव्यनारीजनेन च ॥३२७॥

स्वर्ग मे सरोवर भी अतिस्वच्छ निर्मल जल वाले है, हस वा कारड जाति के पक्षियों के समूह से तथा देवागना वा अप्सराओ से रुके हुए है तट जिनके ऐसे है ।

गावः कामदुधाः सर्वाः कल्पवृक्षाश्च पादपाः ।
चिन्तारत्नानि रत्नानि स्वर्गलोके स्वभावतः ॥३२८॥

तथा उस स्वर्ग मे गौ है वे तो कामधेनु है, वृक्ष है, सो कल्पवृक्ष है और रत्न है सो चिन्तामणि रत्न है, ये सब क्षेत्र के स्वभाव से निरन्तर रहते है ।

ध्वजचामर छत्राङ्कैर्विमानैर्वनिता सखाः ।
संचरन्ति सुरासारैः सेव्यमानाः सुरेश्वराः ॥३२९॥

उन स्वर्गो के अधिपति इन्द्र ध्वजा, चमर, छत्रो से चिह्नित हुए विमानो के द्वारा अनेक देवांगनाओ सहित यत्र-तत्र विचरते है, उनकी अनेक देव सेवा करते है ।

यक्ष किन्नर नारीभिर्मन्दार वन वीथिषु ।
कान्ताश्लिष्टाभिरानन्दं गीयन्ते त्रिदशेम्बराः ॥३३०॥

तथा वहां के इन्द्र, मदार वृक्षो की गलियो में यक्ष और किन्नर जातीय देवो की देवागनाये, जो अपने पति सहित आलिगित आनंद से भरी गाती है, के गीत सुनते है ।

क्रीडागिरि निकुञ्जेषु पुष्प शय्या गृहेषु वा ।
रमन्ते त्रिदशा यत्र वरस्त्रीवृन्द वेष्टिताः ॥३३१॥

तथा उन स्वर्गो के देव क्रीडा पर्वतो की कु जो में, पुष्पलतादि कृत कंदराओं मे पुष्पो की शय्या मे सुन्दर देवांगाओ के समूह के साथ वेष्टित होकर नाना प्रकार की आनंद-क्रीडा करते है ।

मन्दार चम्पकाशोक मालती रेणुरञ्जिताः ।
भ्रमन्ति यत्र गन्धाढ्या गन्धवाहाः शनैः शनैः ॥३३२॥

उन स्वर्गो मे मंदार, चम्पक, अशोक, मालती के पुष्पों की रज से रंजित भ्रमरो सहित मन्दमन्द सुगन्ध पवन बहता है ।

लीलावन विहारैश्च पुष्पावचय कौतुकैः ।
जल क्रीडादि विज्ञानै विलासास्तत्र योषिताम् ॥३३३॥

तथा उन स्वर्गो में देवागनाओ के विलास, क्रीडावन के विहारो से तथा पुष्पो के चुनने के कौतुक से तथा जल क्रीडा के विज्ञानों (चतुराइयो) से बड़ी शोभा है ।

वीणामादाय रत्यन्ते कलं गायन्ति योषितः ।
ध्वनन्ति मुरजा धीरं दिवि देवाङ्गनाहताः ॥३३४॥

तथा उन स्वर्गो मे देवांगनाये संभोग के अन्त में वीणा लेकर सुन्दर गान करती है तथा उनके बजाए हुए मृदग धीरे धीरे बजते है ।

कोकिलाः कल्पवृक्षेषु चैत्यागारेषु योषितः ।
विबोधयन्ति देवेशांल्ललितै र्गीत निःस्वनैः ॥३३५॥

तथा उन स्वर्गो में कल्प वृक्षो पर तो कोकिलाये और चैत्य मन्दिरों में देवागनाये सुन्दर गीत और शब्दो से इन्द्रों को आनन्द प्रदान करती है ।

नित्योत्सवयुतं रम्यं सर्वाभ्युदय मन्दिरम् ।
सुख संपद् गुणाधारं कैः स्वर्गमुपमीयते ॥३३६॥

प्रत्येक स्वर्ग नित्य ही उत्सवों सहित है, रमणीक है, समस्त अभ्युदयो के भोगो का निवास है तथा सुख, सपद् और गुणो का आधार है, सो उसको किसकी उपमा दी जाय ?

पञ्चवर्ण महारत्न निर्माणाः सप्त भूमिकाः ।
प्रासादाः पुष्करिण्यश्च चन्द्रशाला वनान्तरे ॥३३७॥

तथा उन स्वर्गो के बागो में पाच वर्णो के रत्नो से बने हुए सात-सात खण्ड के महल है और वापिका तथा चन्द्रशाला (शिरोगृह-अटे) है ।

प्राकार परिखावप्रगोपुरोत्तुङ्ग, तोरणैः ।
चैत्यद्रुम सुरागारैर्नगर्यो रत्नराजिताः ॥३३८॥

तथा उन स्वर्गो में जो नगरी है, वे कोट, खाई, बडे दरवाजो और ऊँचे तोरणो से तथा चैत्य वृक्ष और देवो के मन्दिर आदिक से रत्नमयी शोभती है ।

इन्द्रायुध श्रियं धत्ते यत्र नित्यं नभस्तलम् ।
हर्म्याग्रलग्नमाणिक्य मयूखैः कर्बुरीकृतम् ॥३३९॥

तथा स्वर्गो मे आकाश महलो मे लगे हुए रत्नो की किरणो से विचित्र वर्ण का होकर इन्द्रधनुष की सी शोभा को नित्य धारण किये हुए रहता है ।

सप्तभिस्त्रिदशानीकैर्विमानै रङ्ग नान्वितैः ।
कल्पद्रुम गिरीन्द्रेषु रमन्ते विबुधेश्वराः ॥३४०॥

स्वर्गो के इन्द्र सात प्रकार की देव सेनाओं से तथा देवागना सहित विमानो के द्वारा कल्पवृक्षो तथा क्रीडावनों मे रमते (आनन्द करते) है ।

हस्त्यश्वरथ पादात वृष गन्धर्वनर्त्तकि ।
सप्तानीकानि सन्त्यस्य प्रत्येकं च महत्तरम् ॥३४१॥

हस्ती, घोड़े, रथ, प्यादे, बैल, गन्धर्व, नर्तकी इस प्रकार सात प्रकार की सेना इन्द्र की होती है, सो प्रत्येक एक से बढकर एक है ।

शङ्गारसार सम्पूर्णा लावण्यवन दीर्घिकाः ।
पीनस्तनभरा क्रान्ताः पूर्णचन्द्र निभाननाः ॥३४२॥
विनीताः कामरूपिण्यो महर्द्धि महिमान्विता ।

हाव भाव विलासाढया नितम्ब भरमन्थरा ।।३४३।।
मन्ये शृंगार सर्वस्य मेकीकृत्य विनिर्मिताः ।
स्वर्गवास विलासिन्यः संति मूर्त्ता इव श्रियः ।।३४४।।

उन स्वर्गो मे विलासीन देवागनायें शृंगार का सार है जिनके ऐसी लावण्य रूपी जल को वापिका ही है तथा पीन कुचो के भार सहित है, जिनके मुख पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान है, विनीत है, चतुर है, महा ऋद्धि की शोभा सहित है, मुख के हाव भाव चित्तविकार, विलास, भ्रू विकार आदि से भरी हुई है, नितम्बो के भार से धीर गति वाली है; आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते है कि वे देवांगनाये मानो शृंगार का सर्वस्व एकत्र करके ही बनाई गई है, जिससे मूर्तिमान लक्ष्मी समान ही शोभती है।

गीतवादित्र विद्यासु शृंगार रस भूमिषु ।
परिरम्भादि सर्वेषु स्त्रीणां दाक्ष्यं स्वभावतः ।।३४५।।

स्वर्गो मे शृंगार रस की भूमि ऐसी गीत व बाजे की विद्याओ तथा आलिंग-नादि समस्त क्रियाओं में स्त्रियों की स्वभाव से ही प्रवीणता होती है।

सर्वावयव सम्पूर्णा दिव्य लक्षण लक्षिताः ।
अनङ्ग प्रतिमा धीराः प्रसन्नाः पांशु विग्रहाः ।।३४६।।
हारकुण्डल केयूर किरीटाङ्गद भूषिताः ।
मंदार मालती गन्धा अणिमादि गुणान्विताः ।।३४७।।
प्रसन्नामल पूर्णेन्दु कान्ताः कान्ताजन प्रियाः ।
शक्तित्रय गुणोपेताः सत्त्व शीलावलम्बिनः ।।३४८।।
विज्ञान विनियोद्दाम प्रीति प्रसर संभृताः ।
निसर्ग सुभगाः सर्वे भवन्ति त्रिदिवौकसः ।।३४९।।

उन स्वर्गो मे देव जो कि शरीर के समस्त अवयव जिनके सम्पूर्ण सुडौल है, दिव्य मनोहर लक्षणो सहित है, कामदेव के समान सुन्दर है, धीर (क्षोभ रहित) है, प्रसन्न वा विस्तीर्ण है शरीर जिनका ऐसे है तथा हार कुण्डल केयूर (भुजबन्ध) किरीट (मुकुट) अंगद (कटक आदि) इन आभूषणो से भूषित है, मन्दार मालती के पुष्पो के समान जिनके अग मे सुगन्धि है, अणिमा महिमादि अष्ट ऋद्धि सहित है प्रसन्न निर्मल पूर्ण चन्द्रमा समान मनोहर है और कान्ताजन कहिये

स्त्रियो को अतिशय प्रिय लगने वाले हैं, तीन शक्ति कहिये प्रभुत्व, मन्त्र, उत्साह इन गुणो सहित है, तथा सत्व, पराक्रम और शील कहिये सुस्वभाव के अवलम्बन करने वाले है तथा विज्ञान, प्रवीणता और विनय वा उत्तम प्रीति के प्रसर कहिये वेग से भरे है। स्वर्ग मे समस्त देव इसी प्रकार स्वभाव से सुन्दर होते है।

न तत्र दुःखितो दीनो वृद्धो रोगी गुणच्युतः।
विकलाङ्गो गतश्रीकः स्वर्गलोके विलोक्यते ।।३५०।।

तथा उस स्वर्ग मे कोई ऐसा नही देखा जाता जो दुःखी, दीन, वृद्ध या गुण रहित, किल–अग अथवा कान्ति हीन हो।

सभ्य सामानिका लोक पाल प्रकीर्णकाः।
मित्राद्यभिमतस्तेषां पार्श्व वर्त्ती परिग्रहः ।।३५१।।

स्वर्गो में सभा के देव, सामानिक देव, अमात्यादिक देव, लोक पाल देव, प्रकीर्णक देव ये भेद है। तथा मित्र आदिक सब ही इन इन्द्रों के पार्श्ववर्त्ती परिवार उनके अभिमत (इष्ट प्रीति करने वाले) है।

बन्दि गायन सैरन्ध्री स्वाङ्ग रक्षाः पदातय ।
नटवेत्रि विलासिन्यः सुराणां सेवको जनः ।।३५२।।

तथा स्वर्गो मे उन देवो की सेवा करने वाले देव है, बन्दीजन है, गाने वाले हैं, अङ्ग रक्षक है, दंड धरने वाले है तथा नाचने वाली विलासिनी अप्सराये है।

तत्रातिभव्यताधारे विमाने कुन्द कोमले।
उपपादि शिला गर्भे संभवन्ति स्वयं सुराः ।।३५३।।

स्वर्गो में अति मनोज्ञता का आधार ऐसे विमान मे कुन्द के पुष्प समान कोमल ऐसी उपपादि शिला के मध्य से देव स्वयमेव उत्पन्न होते है। भावार्थ :—देवो के उत्पन्न होने की उपपादि शय्या है, उस पर जन्म लेते है, जिस प्रकार कोई सोया हुआ आदमी उठता है, इसी प्रकार जिसका स्वर्ग मे जन्म होता है, वह जीव पूर्णाग उस उपपाद शय्या पर उठता है।

सर्वाक्ष सुखदे रम्ये नित्योत्सव विराजिते।
गीत वादित्र लीलाढये जय जीवस्वना कुले ।।३५४।।
दिव्याकृति सुसंस्थानाः सप्तधातु विवर्जिताः।
काय कान्ति पयः पूरैः प्रसादित दिगन्तराः ।।३५५।।

शिरीषसुकुमाराङ्गाः पुण्य लक्षण लक्षिताः ।
अणिमादि गुणोपेता ज्ञान विज्ञान पारगाः ॥३५६॥

मृगाङ्क मूर्त्ति संकाशाः शान्त दोषाः शुभाशयाः ।
अचिन्त्य महिमोपेता भयक्लेशार्त्ति वर्जिताः ॥३५७॥

वर्द्धमान महोत्साहा वज्रकाया महाबलाः ।
अचिन्त्य पुण्य योगेन गृह्णन्ति वपुरूर्जितम् ॥३५८॥

उस उपपाद शय्या का स्थान कैसा है कि समस्त इन्द्रियो को सुख देने वाला है, रमणीक है, नित्य ही उत्सव सहित विराजता है, गीत वादित्रादि लीलाओं सहित है, तथा "जयवन्त होओ, चिरजीवी होओ" ऐसे शब्दो से व्याप्त है ऐसे स्थान पर जो देव उत्पन्न होते है, वे कैसे है कि दिव्य सुन्दराकार है सस्थान जिनका सप्त धातु रहित शरीर है, जो शरीर की प्रथा रूपी जल के प्रभावो से समस्त दिशाओं को प्रसन्न करने वाले है जिनका शरीर शिरीष पुष्प के समान कोमल है, पवित्र लक्षणो सहित है, अणिमा महिमादि गुणो से युक्त है, अवधिज्ञानादि विज्ञान चतुरताओं के पारगामी है तथा चन्द्रमा की मूर्ति समान है; जिनसे सब दोष शान्त हो गये है, जिनका चित्त शुभ है, अचिन्त्य महिमा सहित है, भय क्लेश पीडा से रहित है जिनका उत्साह बढता ही रहता है, वज्र के समान दृढ शरीर है, पराक्रमी है, इस प्रकार के देव अचिन्त्य पुण्य से उस उपपाद स्थान में शरीर को धारण करते है ।

सुखामृतमहाम्भोधेर्मध्यादिव विनिर्गताः ।
भवन्ति त्रिदशाः सद्यः क्षणेन नवयौवनाः ॥३५९॥

उस उपपाद शय्या मे वे देव उत्पन्न होते है, सो जिस प्रकार समुद्र में से कोई मनुष्य निकले उसी प्रकार वे देव सुख रूपी महा समुद्रो में से तत्काल नव यौवन रूप होकर उत्पन्न होते है ।

किं च पुष्पफलाक्रान्तैः प्रवालदल दन्तुरैः ।
तेषां कोकिला वाचालैर्द्रुमै र्जन्म निगद्यते ॥३६०॥

फूल फलो से भरपूर, कोमल पत्तो से अकुरित और कोकिलाओं से शब्दायमान वृक्षो करके उनके जन्म की सूचना की जाती है ।

गीत वादित्र निर्घोषैर्जय मंगल पाठकैः ।
विबोध्यन्ते शुभैः शब्दैः सुखनिद्रात्यये यथा ।।३६१।।

तथा वे देव उस उपपाद शय्या में ऐसे उत्पन्न होते है कि जैसे कोई राजकुमार सोता हो और वह गीत वादित्रों के शब्दो से, 'जय जय' इत्यापि मगल के पाठो से तथा उत्तमोत्तम शब्दो से सुखनिद्रा का अभाव होने पर जगाया जाता है, उसी प्रकार देव भी उस उपपाद शिला (शय्या) से उठकर सावधान होते है ।

किञ्चिद्भ्रममपाकृत्य वीक्षते स शनैः शनैः ।
यावदाशा मुहुः स्निग्धैस्तदा कर्णान्तिलोचनैः ।।३६२।।

तथा उस उपपाद शय्या मे सावधान होकर कुछ भ्रम को दूर करके उस समय कर्णान्ति पर्यन्त नेत्रों को उघाड कर दृष्टि फेर फेर चारों ओर देखता है ।

इन्द्रजालमथ स्वप्नः किं नु मायाभ्रमोनु किम् ।
दृश्यमान मिदं चित्रं मम नायाति निश्चयम् ।।३६३।।

फिर सावधान होकर वह देव ऐसा विचारता है कि अहो ! यह क्या इन्द्रजाल है ? अथवा मुझे क्या स्वप्न आ रहा है ? अथवा यह मायामय कोई भ्रम है, यह तो बडा आश्चर्य देखने मे आता है, निश्चय नही कि यह क्या है ? इस प्रकार सन्देह रूप होता है ।

इदं रम्यमिदं सेव्य मिदं श्लाघ्यमिदं हितम् ।
इदं प्रियमिदं भव्यमिदं चित्त प्रसत्तिदम् ।।३६४।।
एतत्कन्द लितानन्द मेतत्कल्याण मन्दिरम् ।
एतन्नित्योत्सवाकीर्ण मेतदत्यन्त सुन्दरम् ।।३६५।।
सर्वर्द्धिमहिमोपेतं महर्द्धिक सुरार्चितम् ।
सप्तानी कान्वितं भाति त्रिदशेन्द्र सभाजिरम् ।।३६६।।

तत्पश्चात् वह देव विचार करता है कि यह वस्तु रमणीय है, यह सेवनीय है, यह सराहने योग्य है, यह हितरूप है, यह प्रिय है, यह सुन्दर है, यह चित्त को प्रसन्नता देने वाली है तथा यह आनन्द को उत्पन्न करने वाला कल्याण का मदिर निरन्तर उत्सव रूप तथा अत्यन्त सुन्दर है, इत्यादि विचार करता है तथा यह स्थान समस्त ऋद्धि और महिमा सहित महाऋद्धि के धारक देवो से पूजनीय सात प्रकार की सेना सहित देवेन्द्र के स्थान के समान दीखता है ।

मामेवोद्दिश्य सानन्दः प्रवृत्तः किमयं जनः ।
पुण्यमूर्त्तिः प्रियः श्लाघ्यो विनीतोऽत्यन्त वत्सलः ।।३६७।।
त्रैलोक्यनाथ संसेव्यः कोऽयं देशः सुखाकरः ।
अनन्त महिमा धारो विश्व लोकाभिनन्दितः ।।३६८।।
इदं पुरमति स्फीतं वनोप वनराजितम् ।
अभिभूय जगद्भूत्या वलातीव ध्वजांशुकैः ।।३६९।।

फिर वह देव विचारता है कि ये सामने जो लोग खड़े है, वे मुझे ही देखकर आनन्द सहित प्रवृत्त हैं, ये पवित्र है, उज्जवल है, मूर्ति जिनकी ऐसे है तथा ये सब वहुत प्रिय हैं, प्रशंसनीय हैं, विनीत हैं, चतुर हैं, अत्यन्त प्रीति युक्त है तथा फिर विचारता है कि यह सुख को खानि तीन लोक के स्वामी द्वारा सेवने योग्य कौनसा देश है ? यह देश अनन्त महिमा का आधार हैं, सवको वाञ्छनीय है तथा यह नगर भी अति विस्तीर्ण है, वह उपवनों से शोभित है, संपदा के द्वारा समस्त जगत को जीतकर ध्वजाओं के वस्त्रो के हिलने से मानो दौडता है, नृत्य ही करता है, इत्यादि विचारता है ।

आकलय्य तदाकूतं सचिवा दिव्य चक्षुषः ।
नति पूर्वं प्रवर्त्तन्ते वक्तुं कालोचितं तदा ।।३७०।।
प्रसादः क्रियतां देव नतानां स्वेच्छया दृशा ।
श्रूयतां च वचोऽस्माकं पौर्वापर्यं प्रकाशकम् ।।३७१।।

तत्पश्चात् उसी समय वहा के मत्री देव दिव्यनेत्रों से उस उत्पन्न हुए देवेन्द्र के अभिप्राय को समझकर नमस्कार करके कहते है कि हे देव । हम सेवको पर प्रसन्न होइये, निर्मल दृष्टि से देखिये और हमारे पूर्वा पर परिपाटी के प्रकाश करने वाले वचनो को सुनिये ।

अद्य नाथ वयं धन्याः सफलं चाद्य जीवितम् ।
अस्माकं यत्त्वया स्वर्गः संभवेन पवित्रितः ।।३७२।।
प्रसीद जय जीव त्वं देव पुण्यस्तवोद्भवः ।
भव प्रभु समग्रस्य स्वर्गलोकस्य सम्प्रति ।।३७३।।
सौधर्मोऽयं महाकल्पः सर्वामर शतार्चितः ।
नित्याभिनवकल्याणवार्द्धि वर्द्धन चन्द्रमाः ।।३७४।।
कल्पः सौधर्म नामायमीशान प्रमुखाः सुराः ।
इहोत्पन्नस्य शक्रस्य कुर्वन्ति परमोत्सवम् ।।३७५।।

अत्र संकल्पिताः कामा नवं नित्यं च यौवनम् ।
अत्राविनाश्वरा लक्ष्मीः सुखं चात्र निरन्तरम् ॥३७६॥
स्वर्विमानमिदं रम्यं कामगं कान्तदर्शनम् ।
पादाम्बुजनता चेयं तव त्रिदशमण्डली ॥३७७॥
एते दिव्याङ्गनाकीर्णाश्चन्द्रकान्ता मनोहराः ।
प्रासादा रत्नवाप्यश्च क्रीडानद्यश्च भूधराः ॥३७८॥
सभा भवनमेतत्ते नतामर शतार्चितम् ।
रत्नदीप कृतालोकं पुष्पप्रकर शोभितम् ॥३७९॥
विनीत वेष धारिण्यः कामरूपा वरस्त्रियः ।
तवादेशं प्रतीक्षन्ते लास्यलीलारसोत्सुकाः ॥३८०॥
आतपत्र मिदं पूज्यमिदं च हरिविष्टरम् ।
एतश्च चामरव्रातमेते विजय केतवः ॥३८१॥
एता अग्रे महादेव्यो वर स्त्रीवृन्द वन्दिताः ।
तृणीकृत सुराधीश लावण्यैश्वर्य सम्पदः ॥३८२॥
शृंगार जल धेर्वेला-विलासोल्लासित भ्रुवः ।
लीलालंकार सम्पूर्णास्तव नाथ समर्पिता ॥३८३॥
सर्वावयव निर्माण श्रीरासां नोपमास्पदम् ।
यासां श्लाध्यामलस्निग्ध पुण्याणु प्रभवं वपुः ॥३८४॥
अयमैरावणो नाम देवन्ती महामनाः ।
धत्ते गुणाष्टकैश्वर्याच्छ्रियं विश्वातिशायिनीम् ॥३८५॥
इदं मत्तगजानी कमितोश्वीयं मनोजवम् ।
एते स्वर्णरथास्तुङ्गा वलगन्त्येते पदातयः ॥३८६॥
एतानि सप्त सैन्यानि पालितान्यमरेश्वरैः ।
नमन्ति ते पदद्वन्द्वं नति विज्ञप्ति पूर्वकम् ॥३८७॥
समग्रं स्वर्ग साम्राज्यं दिव्य भूत्योपलक्षितम् ।
पुण्यैस्ते सम्मुखीभूतं गृहाण प्रणतामरम् ॥३८८॥
इति वादिनि सुस्निग्धे सचिवेऽत्यन्तन्त वत्सले ।
अवधि ज्ञान मासाद्य पौर्वापर्यं स बुद्धयति ॥३८९॥

यदि कोई मनुष्य सौधर्म स्वर्ग में इन्द्र उत्पन्न होता है, तो उसका मन्त्री सबकी तरफ से इस प्रकार कहता है कि हे नाथ ! आपने यहा उत्पन्न होकर इस स्वर्ग को पवित्र किया सो आज हम धन्य हुए, हमारा जीवन भी आज सफल हुआ हे नाथ ! आप प्रसन्न होइये. चिरंजीव रहियें, हे देव ! आपका उत्पन्न होना पुण्यरूप है, पवित्र है, आप इस स्वर्ग लोक के स्वामी होइये यह सौधर्म नामा स्वर्ग है, सैकडो देवो से पूजित है; यह स्वर्ग सर्व देवो के कल्याणरूप समुद्र को बढाने के लिये चन्द्रमा के समान है। यह सौधर्म नामा स्वर्ग ऐसा है कि इसमे जो इन्द्र उत्पन्न होता है, उसका ईशान इन्द्र आदि समस्त देव परमोत्सव करते है। इस स्वर्ग मे वांछित पदार्थ भोगने योग्य है, यहा नित्य नया यौवन है, अविनश्वर लक्ष्मी है, निरन्तर सुख ही सुख है। तथा यह स्वर्गीय विमान जहाँ जाना चाहे वही जा सकता है, इसका दर्शन अति मनोहर है, यह देवो की मडली (सभा) आपके चरण कमलो मे नम्रीभूत है। ये मनोहर अप्सराओ से भरे हुए चन्द्रकान्त के समान मनोहर आपके महल है, ये रत्नमयी वापिकाये है, ये क्रीडानदियाँ तथा पर्वत है। यह सभा भवन है सो नम्रीभूत देवो के द्वारा सेवा करने योग्य है, पूजित है, यह रत्नमयी दीपको से प्रकाशमान पुष्पसमूहो से शोभित। और विनीत चतुरवेश की धरने वाली कामरूपिणी सुन्दर स्त्रियाँ नृत्य सगीतादि रस मे उत्सुक होकर आपके सामने नृत्य करने के लिये आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रही है। तथा यह आपका छत्र है, यह आपका पूजनीय सिहासन है, यह चमरो का समूह है, ये विजय की ध्वजाये है। और ये सब आपकी अग्रमहिषी अर्थात् पट्टदेवियाँ है, ये श्रेष्ठ देवागनाओ द्वारा वदने योग्य है तथा इन्द्र के ऐश्वर्य को तृण की समान समझने वाली है। तथा शृ गाररूपी समुद्र को लहरो के समान चचल है, विलास के कारण जिनकी भौहे प्रफुल्लित है औह लीलारूपी अलकार से पूरित है; सो हे नाथ ! ये आपके चरणो मे समर्पित है। इन पट्टदेवियो के शरीर की शोभा अनुपम है, क्योकि इनका शरीर योग्य निर्मल स्निग्ध पवित्र परमाणुओ के द्वारा बना हुआ है। हे नाथ ! वह आपका महामन वाला ऐरावत नामा हस्ती है, यह अणिमा महिमादि आठ गुणो के ऐश्वर्य से समस्त प्रकार की विक्रियारूप लक्ष्मी को धरने वाला है। और यह आपकी मदोन्मत्त हस्तियों की सेना है, यह घोड़ो की सेना है, इसका वेग मन के समान है; यह सुवर्णमयी ऊँचे-ऊँचे रथो की

सेना है और ये प्यादे है। तथा यह आपकी सात प्रकार की सेना है, पूर्व के इन्द्रों द्वारा पालित है, यह आपके चरण कमलो को प्रार्थना पूर्वक नमस्कार करती है। यह समस्त स्वर्गीय राज्य दिव्य सम्पदाओं से शोभित है, सो आपके पुण्य के प्रताप से आपके सन्मुख हुआ है, नम्रीभूत है देव जिसमे ऐसा है, सो आप ग्रहण कीजिये। इस प्रकार अति स्नेहयुक्त अत्यन्त प्रीति पूर्वक कहता है, उसी समय इन्द्र अवधिज्ञान को प्राप्त होकर पूर्व जन्म सम्बन्धी समस्त वृतान्त को जान जाता है।

अहो तपः पुरा चीर्णं मयान्यजनदुश्चरम् ।
वितीर्णं चाभयं दानं प्राणिनां जीवितार्थिनाम् ॥३६०॥
आराधितं मनः शुद्धया दृग्बोधादि चतुष्टयम् ।
देवश्च जगतां नाथः सर्वज्ञः परमेश्वरः ॥३६१॥
निर्दग्धं विषयारण्यं स्वरवैरी निपातितः ।
कषायतरु वश्छिन्ना राग शत्रुर्नियन्त्रितः ॥३६२॥
सर्वस्तस्य प्रभावोऽयमहं येनाद्य दुर्गतेः ।
उद्धृत्य स्थापितं स्वर्गराज्ये त्रिदशवन्दिते ॥३६३॥

तत्पश्चात् वह इन्द्र अवधिज्ञान से सब जानकर मन ही मन मे कहता है कि अहो! देखो, मैने पूर्व भव मे अन्य से आचरण करने मे नही आवे ऐसे तप को धारण किया तथा अनेक जीवो को मैने अभयदान दिया। तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, इन चारो आराधनाओं से त्रैलोक्य के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर देवाधि देव का आराधन किया था। तथा मैने पूर्व भव मे इन्द्रियो के विषय रूप वन को दग्ध किया था, काम रूप शत्रु का नाश किया था, कषाय रूप वृक्षो को काट दिया था और रागरूपी शत्रु को पीड़ित किया था। उसी का यह प्रभाव है; उक्त आचरणों ने ही इस समय मुझे दुर्गति से बचाकर इस देवो के वदनीय स्वर्ग के राज्य में स्थापित किया है।

रागादिदहन ज्वाला न प्रशाम्यन्ति देहिनाम् ।
सद्वृत्तवार्य संसिक्ताः क्वचिज्जन्म शतैरपि ॥३६४॥
तन्नात्र सुलभं मन्ये तत्कि कुर्मोऽधुना वयम् ।
सुराणां स्वर्गलोकेऽस्मिन्दर्शनस्यैव योग्यता ॥३६५॥

अतस्तत्त्वार्थ श्रद्धा मे श्रेयसी स्वार्थ सिद्धये ।
अर्हद्देव पद द्वन्द्वे भक्तिश्चात्यन्त निश्चला ।।३९६।।

यान्यत्र प्रतिबिम्बानि स्वर्ग लोके जिनेशिनाम् ।
विमान चैत्य वृक्षेषु मेर्वाद्युपवनेषु च ।।३९७।।

तेषां पूर्वमहं कृत्वा स्वद्रव्यैः स्वर्ग संभवैः ।
पुष्प चन्दन नैवेधैर्गन्ध दीपाक्षतोत्करैः ।।३९८।।

गीत वादित्र निर्घोषैः स्तुति स्तोमैर्मनोहरैः ।
स्वर्गेश्वर्यं ग्रहीष्यामि ततस्त्रिदशवन्दितः ।।३९९।।

इति सर्वज्ञ देवस्य कृत्वा पूजामहोत्सवम् ।
स्वीकरोति ततो राज्यं पट्टबन्धादि लक्षणम् ।।४००।।

तत्पश्चात् वह इन्द्र विचारता है कि जीवो के रागादिक रूप अग्नि की ज्वाला सम्यक् चारित्र रूपी जल को सींचे बिना सैंकडो जन्म लेने पर भी नही बुझती। ऐसा सम्यक् चारित्र इस स्वर्ग में सुलभ नही है, इसलिए क्या करूं? इस स्वर्ग लोक में तो सम्यग्दर्शन की ही योग्यता है, चारित्र की योग्यता नहीं है। इस कारण मेरे स्वार्थ के लिए तत्त्वार्थ श्रद्धान ही कल्याणकारी व श्रेष्ठ है, तथा अरहन्त भगवान के चरण युगल मे अत्यन्त निश्चल भक्ति करना ही कल्याणकारी है। इसलिए यहा स्वर्ग मे विमानो, चैत्यवृक्षो तथा मेरु आदि के उपवनो मे जो जिनेन्द्र भगवान के प्रतिबिम्ब है। उनका प्रथम ही इस स्वर्ग के उत्पन्न हुए अपने द्रव्य पुष्प, चदन, नैवेद्य, गन्ध, दीपक व अक्षतो के समूह से पूजन करके तथा गीत नृत्य वादित्रो के शब्दो सहित मनोहर स्तुतियाँ करके तत्पश्चात् इस देवो से वदनीय स्वर्ग के ऐश्वर्य को ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार विचार कर वह इन्द्र सर्वज्ञ देव की पूजा करके महान् उत्सव पूर्वक पट्टबधादिक है लक्षण जिसका ऐसे स्वर्ग के राज्य को ग्रहण करता है।

तस्मिन्मनोजवैर्यानैर्विचरन्तो यदृच्छया ।
वनाद्रि सागरान्तेषु दीव्यन्ते ते दिवौकसः ।।४०२।।

तत्पश्चात् वे स्वर्ग के देव मन के समान वेग वाले विमानो के द्वारा स्वच्छन्द विचरते हुए वन, पर्वत व समुद्रो के तीर पर क्रीडा करते रहते है।

संकल्पानन्तरोत्पन्नं दिव्य भोगैः समन्वितम् ।
सेवमानाः सुरानीकैः श्रयन्ति स्वर्गिणः सुखम् ।।४०३।।

तथा सकल्प करते ही उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के दिव्य मनोहर भोगो को भोगते हुए देवो की सेना सहित वे स्वर्ग के सुख भोगते रहते है ।

महाप्रभाव सम्पन्ने महाभूत्योपलक्षिते ।
कालं गतं न जानन्ति निमग्नाः सौख्यसागरे ।।४०४।।

इस प्रकार महाप्रभाव सहित महाविभूति युक्त स्वर्गो के सुख रूपी समुद्र मे निमग्न रहते हुये समय को नही जानते कि कितना बीत गया ।

क्वचिद्गीतैः क्वचिन्नृत्यैः क्वचिद्वाद्यैर्मनोरमैः ।
क्वचिद्विलासिनी व्रात क्रीडा शृङ्गार दर्शनैः ।।४०५।।
दशाङ्ग भोगजैः सौख्यैर्लभ्यमानाः क्वचित् क्वचित् ।
वसन्ति स्वर्गिणः स्वर्गे कल्पनातीत वैभवे ।।४०६।।

इस प्रकार कही तो मन को लुभाने वाले गीत तथा नृत्य वादित्रो सहित तथा कही विलासिनी अप्सराओ के समूह से किये हुए क्रीडा शृंगार सहित तथा कही पर दश प्रकार के भोगो (कल्प वृक्षो) से उत्पन्न हुए सुखो सहित कल्पनातीत विभव वाले स्वर्गो में वे देव रहते है ।

दशांग भोगों का स्वरूप—
मद्यतूर्यं गृह ज्योति भूषा भाजन विग्रहाः ।
स्त्रग्दीप वस्त्र पात्राङ्गा दशधा कल्प पादपाः ।।४०७।।

मद्य, वादित्र, गृह, ज्योति, भूषण, भोजन, माला, दीपक, वस्त्र, पात्र इन दस प्रकार के भोगों के देने वाले दश प्रकार के कल्प वृक्ष स्वर्गो मे होते है, इस कारण स्वर्ग के देव देशाग भोग भोगते है ।

यत्सुखं नाकिनां स्वर्गे तद्वक्तुं केन पार्यते ।
स्वभाव जमनातङ्कं सर्वाक्ष प्रीण नक्षमम् ।।४०८।।

स्वर्गो मे स्वर्ग वासियो को जो सुख है, उसका वर्णन करने मे कोई समर्थ नही है, क्योकि वह सुख बिना प्रयास के स्वयमेव उत्पन्न होता है, उस स्वर्ग मे ग्रातक (रोगादिक) नही है और समस्त इन्द्रियो को तृप्त करने मे समर्थ है ।

अशेष विषयोद्‍भूतं दिव्यस्त्री संगसंभवम् ।
विनीत जन विज्ञान ज्ञानाद्यैश्वर्यलाञ्छितम् ।।४०६।।

स्वर्गो का सुख समस्त प्रकार के विषयो से उत्पन्न हुआ है तथा दिव्य स्त्रियों के सगम से उत्पन्न हुआ है तथा विज्ञान चतुराई ज्ञानादिक ऐश्वर्य सहित उत्पन्न हुआ है, उसका वर्णन कौन कर सकता है ?

सौधर्माद्यच्युतान्ता ये कल्पाः षोडशवर्णिताः ।
कल्पातीतास्ततो ज्ञेया देवा वैमानिकाः परे ।।४१०।।
अहमिन्द्राभिधानास्ते प्रवीचारविवर्जिताः ।
विवर्द्धित शुभध्यानाः शुक्ललेश्यावलम्बिनः ।।४११।।

सौधर्म स्वर्ग मे लगाकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त सोलह स्वर्ग कल्प कहे जाते है, उनसे ऊपर जो नव ग्रैवेयको में वैमानिक देव है, वे कल्पातीत कहलाते है। वे देव अहमिन्द्र नाम से वर्णन किये जाते है अर्थात् उनका आचार्यो ने अहमिन्द्र नाम कहा है; वे अहमिन्द्र काम रहित है उनके स्त्री का मैथुन नही है, इसी कारण वहा देवांगनाये नही होती; उन देवो का शुभ ध्यान उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ है और वे शुक्ल लेश्या के धरने वाले है ।

अनुत्तर विमानेषु श्री जयन्तादिपञ्चसु ।
संभूय स्वर्गिणश्च्युत्वा व्रजन्ति पदम व्ययम् ।।४१२।।

तत्पश्चात् उन नव ग्रैवेयक विमानों से ऊपर श्री जयन्तादिक पाँच अनुत्तर विमान है, उनमे जो देव उत्पन्न होते है, वे वहाँ से गिरकर मनुष्य हो अवश्य ही मोक्ष को पाते है ।

कल्पेषु च विमानेषु परतः परतोऽधिकाः ।
शुभ लेश्यायुर्विज्ञान प्रभावैः स्वर्गिणः स्वयम् ।।४१३।।

तथा कल्पो में और कल्पातीत विमानो मे शुभ लेश्या आयु विज्ञान प्रभावादिक करके देव स्वय ही अगले विमानों में अधिक-अधिक बढते हुए है ।

ततोऽग्रे शाश्वतं धाम जन्मजातङ्क विच्युतम् ।
ज्ञानिनां यदधिष्ठानं क्षीण निःशेष कर्मणाम् ।।४१४।।

उन अनुत्तर विमानों से आगे अर्थात् ऊपर शाश्वत धाम (मोक्ष स्थान व सिद्ध शिला) है सो संसार से उत्पन्न हुए क्लेश दुःखादि से रहित है और समस्त कर्मो

के नाश करने वाले सिद्ध भगवानो का आश्रय स्थान है ।

चिदानन्दगुणोपेता निष्ठितार्था विबन्धनाः ।
यत्र सन्ति स्वयं बुद्धाः सिद्धाः सिद्धेः स्वयंवराः ।।४१५।।

उस मोक्ष स्थान मे सिद्ध भगवान विद्यमान है, वे चैतन्य और आनन्द कहिये गुणों से सयुक्त है, कृत-कृत्य है, कर्म बन्ध से रहित है, स्वयं बुद्ध हैं, अर्थात् जिनके स्वाधीन अतीन्द्रिय ज्ञान है तथा सिद्ध (मुक्ति) को स्वय वरने वाले है ।

समस्तोऽयमहो लोकः केवलज्ञान गोचरः ।
तं व्यस्तं वा समस्तं वा स्वशक्त्या चिन्तयेद्यतिः ।।४१६।।

अहो भव्य जीवों! यह समस्त लोक केवल ज्ञान गोचर है । तथापि इस सस्थान विचय नामा धर्म ध्यान मे मुनि सामान्यता से सबको ही तथा व्यस्त कहिये कुछ भिन्न-भिन्न को अपनी शक्ति के अनुसार चिन्तवन करे ।

विलीना शेष कर्माणं स्फुरन्तमति निर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्ग गर्भगतं स्मरेत ।।४१७।।

तथा इस लोक के सस्थान के चिन्तवन के पश्चात् अपने शरीर मे प्राप्त पुरुपाकार अपने आत्मा को कर्म रहित स्फुरायमान अति निर्मल चिन्तवन (स्मरण) करें ।

इति निगदितमुच्चैर्लोक संस्थानमित्थं, नियत मनियतं वा ध्यायतः शुद्धबुद्धेः ।
भवति सतत योगाद्योगिनो निष्प्रमादं, नियतमति दूर केवल ज्ञान राज्यम् ।।४१८।।

आचार्य महाराज कहते है कि इस पूर्वोक्त प्रकार से कहे हुए लोक के स्वरूप (सस्थान) को इस प्रकार नियत मर्यादा सहित वा अनियत मर्यादा रहित चिन्तवन करता हुआ जो निर्मल बुद्धि मुनि है उसको प्रमाद रहित ध्यान करने से नियम से शीघ्र ही केवल ज्ञान राज्य की प्राप्ति होती है । भावार्थ—अप्रमत्त नामा सातवें गुणस्थान मे यह धर्मध्यान उत्कृष्ट होता है, उस गुणस्थान से फिर क्षपक श्रेणी का प्रारम्भ करने पर अन्तमुहूर्त्त मे केवल ज्ञान की उत्पत्ति होती है ।

इस प्रकार सस्थान विचय नाम धर्मध्यान मे लोक सस्थान का चिंतवन करना होता है, इस कारण लोक के सस्थानो का वर्णन किया, यदि किसी को लोक का विशेष वर्णन देखना हो तो त्रिलोकसारादि ग्रन्थो से देखे ।

संस्थान विचय धर्मध्यान के अन्तर्गत प्रथम पिण्डस्थ ध्यान का वर्णन—

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीव भास्करैः ॥४१६॥

जो भव्य रूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य के समान योगीश्वर है, उन्होने ध्यान को पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ऐसे चार प्रकार का कहा है ।

पिण्डस्थं पञ्च विज्ञेया धारणा वीरवर्णिताः ।
संयमी यास्व संमूढो जन्म पाशान्निकृन्तति ॥४२०॥

पिण्डस्थ ध्यान मे श्री वर्द्धमान स्वामी ने कही हुई जो पांच धारणाएँ हैं, उनमे सयमी मुनि ज्ञानी होकर ससार रूपी पाश को काटता है ।

पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी ।
तत्त्व रूपवती चेति विज्ञेयास्तां यथाक्रमम् ॥४२१॥

वे धारणाये पार्थिवी, आग्नेयी तथा श्वसना, वारुणी और तत्व रूपवती ऐसे यथाक्रम से होती है ।

पार्थिवीधारणा का स्वरूप

तिर्यग्लोक समं योगी स्मरति क्षीरसागरम् ।
नि.शब्दं शान्त कल्लोलं हारनीहार संनिभम् ॥४२२॥

प्रथम ही योगी मध्यलोक में स्वयभूरमण नामा समुद्रपर्यन्त जो तिर्यक् लोक है, उसके समान निःशब्द, कल्लोल रहित तथा हार और बरफ के सदृश सफेद क्षीर समुद्र का ध्यान (चिन्तवन) करे ।

तस्य मध्ये सुनिर्माणं सहस्त्र दल मम्बुजम् ।
स्मरत्यमित मादीप्तं द्रुत हेम समप्रभम् ॥४२३॥

उस क्षीर समुद्र के मध्य भाग मे सुन्दर है निर्माण (रचना) जिसकी और अमित फैलती हुई दीप्ति से शोभायमान, पिघलाये हुए सुवर्ण की सी प्रभा वाले एक सहस्रदल के कमल का चिन्तवन (ध्यान) करे । (चित्र नं. १)

अब्जराग समुद्भूत केसरालि विराजितम् ।
जम्बूद्वीप प्रमाणं च चित्तभ्रमर रञ्चकम् ॥४२४॥

फिर इस कमल को कैसा ध्यावे कि कमल के रोग से उत्पन्न हुई केसरों की

पंक्ति से विराजमान (शोभायमान) तथा चित्त रूपी भ्रमर को रंजायमान करने वाले जम्बूद्वीप के बराबर लाख योजन का चिन्तवन करे।

स्वर्णाचलमयीं दिव्यां तत्र स्मरति कर्णिकाम् ।
स्फुरत्पिङ्ग प्रभा जाल पिशङ्गित दिगन्तराम् ।।४२५।।

तत्पश्चात् उस कमल के मध्य सुवर्णाचल (मेरु) के समान, स्फुरायमान है, पीतरंग की प्रभा का समूह जिसमे तथा उसके द्वारा पीतरग को कर दी है दशों दिशाये जिसने, ऐसी एक कर्णिका का ध्यान करे।

शरच्चन्द्र निभं तस्यामुन्नतं हरिविष्टरम् ।
तत्रात्मानं सुखा सीनं प्रशान्तमिति चिन्तयेत ।।४२६।।

उस कमल की कर्णिका मे शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान श्वतवर्ण का एक ऊंचा सिहासन चितवन करे, उस सिहासन मे अपने आत्मा को सुख रूप, शान्त स्वरूप, क्षोभ रहित चितवन करे। (चित्र न० २ देखे)

आग्नेय धारणा का स्वरूप

रागद्वेषादि निःशेष कलङ्क क्षपणक्षमम् ।
उद्युक्तं च भवोद्‌ भूत कर्म सन्तान शातने ।।४२७।।

उस सिहासन पर बैठे हुए अपने आत्मा को ऐसा विचारे कि यह रागद्वेषादिक समस्त कलको को क्षय करने मे समर्थ है और ससार मे उत्पन्न हुए जो जो कर्म है, उनके सन्तान को नाश करने मे उद्यमी है।

ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात्कमलं नाभिमण्डले ।
स्मरत्यति मनोहारि षोडशोन्नत पत्रकम् ।।४२८।।

तत्पश्चात् योगी (ध्यानी) निश्चल अभ्यास से अपने नाभिमण्डल मे १६ सोलह ऊंचे ऊंचे पत्रो के एक मनोहर कमल का ध्यान (चितवन) करे।

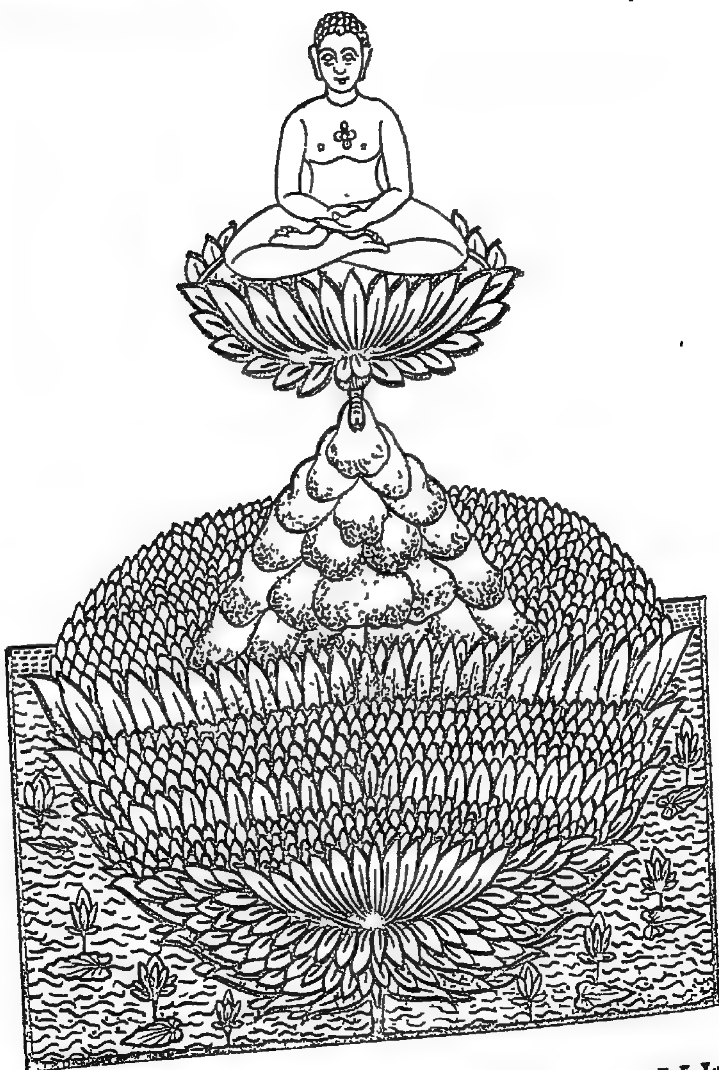
प्रतिपत्र समासीन स्वर माला विराजितम् ।
कर्णिकायां महामन्त्रं विस्फुरन्तं विचिन्तयेत् ।।४२९।।

तत्पश्चात् उस कमल की कर्णिका मे महामन्त्र का (जो आगे कहा जाता है उसका) चिन्तवन करे और उस कमल के सोलह पत्रो पर 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' इन १६ अक्षरो का ध्यान करे। (चित्र न० ३)



एकान्त सेवन विचार

(मो प्र चि चित्र नं० १)



पृथ्वी धारणा

(गो प्र चि चित्र नं० २)



बिन्दु-कमल

(गो प्र चि चित्र नं० ३)



'ह्रैं' विचार

(गो प्र. चि चित्र नं० ६)



कर्मरूपी कमल

(गो प्र. चि चित्र न० ५)



अग्नि धारणा

(गो प्र चि चित्र नं० ६)

उस महामन्त्र का स्वरूप—

रेफरूद्धं कलाबिंद् लाञ्छितं शून्यमक्षरम् ।
लसादिन्दुच्छटा कोटि कान्ति व्याप्तं हरिन्मुखम् ॥४३०॥

रेफ से रूद्ध कहिये आवृत और कला तथा बिन्दु से चिह्नित और शून्य कहिये हकार ऐसा अक्षर लसत् देदीप्यमान होते हुए इदु की छटा कोटि की कान्ति से व्याप्त किया है दिशा का मुख जिसने ऐसा महामन्त्र "र्हं" उस कमल की कर्णिका मे स्थापन कर, चिन्तवन करे । चित्र न० ४ ।

फिर कैसा चिन्तवन करें—

तस्य रेफाद्विनिर्यान्तीं शनै धूंम शिखां स्मरेत् ।
स्फुलिङ्ग संतति पश्चाज्ज्वालालीं तदनन्तरम् ॥४३१॥
तेन ज्वाला कलापेन वर्द्धमानेन सन्ततम् ।
दहत्यविरतं धरिः पुण्डरीकं हृदि स्थितम् ॥४३२॥

तत्पश्चात् उस महामन्त्र के रेफ से मंद-मद निकलती हुई धुम (धुआँ) की शिखा का चिन्तवन करे तत्पश्चात् उसमें से अनुक्रम से प्रवाह रूप निकलते हुए स्फुलिगो की पंक्ति का चिन्तवन करे और तत्पश्चात् उसमें से निकलती हुई ज्वाला की लपटो को विचारे । तत्पश्चात् भोगी मुनि क्रम से बढ़ते हुए ज्वाला के समूह से अपने हृदयस्थ कमल को निरन्तर जलाता हुआ चिन्तवन करे ।

हृदय कमल का विशेष स्वरूप—

तदष्ट कर्म निर्माणमष्ट पत्र मधोमुखम् ।
दहत्येव महामन्त्र ध्यानोत्थ प्रबलोऽनलः ॥४३३॥

वह हृदयस्थ कमल अधो मुख आठ पत्र का (पाखु डीवाल) है; उन आठ पत्रो (दलो) पर आठ कर्म स्थित हो, ऐसे कमल को नाभिस्थ कमल की कर्णिका में स्थित "र्हं" महामन्त्र के ध्यान से उठी हुई प्रबल अग्नि निरतर दहती है; इस प्रकार चिन्तवन करे, तव अष्ट कर्म जल जाते है, यह चैतन्य परिणामों को सामर्थ्य है ।

चित्र न० ५–६ ।

ततो बहिः शरीरस्य त्रिकोणं वह्निमण्डलम् ।
स्मरेज्ज्वाला कलापेन ज्वलन्तमिव वाडवम् ॥४३४॥

वह्नि बीज समाक्रान्तं पर्यन्ते स्वस्तिकाङ्कितम् ।
ऊर्ध्वं वायु पुरोद्भूतं निर्द्धमं काञ्चन प्रभम् ॥४३५॥
अन्तर्दहति मन्त्रार्चिर्बहिर्वह्निपुरं पुरम् ।
धगद्ध गिति विस्फूर्जज्ज्वालाप्रचय भासुरम् ॥४३६॥
भस्म भाव मसौ नीत्वा शरीरं तच्च पङ्कजम् ।
दाह्याभावात्स्वयं शान्ति याति वह्निः शनैः शनैः ॥४३७॥

उस कमल के दग्ध हुए पश्चात् शरीर के बाह्य त्रिकोण वह्नि (अग्नि) का चिन्तवन करे, सो ज्वाला के समूहो से जलते हुए बडवानल के समान ध्यान करे। तथा अग्नि बीजाक्षर 'र' से व्याप्त और अन्त मे साथिया के चिह्न से चिह्नित हो, ऊर्ध्व वायुमडल से उत्पन्न धूम रहित काचन की सी प्रभा वाला चितवन करे। इस प्रकार यह धगधगायमान फैलती हुई लपटो के समूह से देदीप्यमान बाहर का अग्निपुर (अग्निमडल) अतरग की मत्राग्नि को दग्ध करता है। तत्पश्चात् यह अग्निमडल उस नाभिस्थ कमल और शरीर को भस्मीभूत करके दाह्य (जलाने योग्य पदार्थ) का अभाव होने से धीरे-धीरे अपने आप यह अग्नि शान्त हो जाती है।

चित्र नं० ७-८-९ देखे।

मारुती धारण का स्वरूप—

विमानपथ मापूर्णं संचरन्तं समीरणम् ।
स्मरत्यविरतं योगी महावेगं महाबलम् ॥३४८॥

योग (ध्यान करने वाल मुनि) आकाश मे पूर्ण हो कर विचरते हुए महा-वेग वाले और महाबलवान् ऐसे वायुमडल का चिन्तवन करे।

चालयन्तं सुरानीकं ध्वनन्तं त्रिदशाचलम् ।
दारयन्तं घनव्रातं क्षोभयन्तं महार्णवम् ॥४३९॥
व्रजन्तं भुवना भोगे संचरन्तं हरिन्मुखे ।
विसर्पन्तं जगन्नीडे निविशन्तं धरातले ॥४४०॥
उध्दूय तद्रजः शीघ्रं तेन प्रबल वायुना ।
ततः स्थिरी कृताभ्यासः समीरं शांति मानयेत्॥४४१॥

तत्पश्चात् उस पवन को ऐसा चिन्तवन करे कि देवो की सेना को चलायमान करता है, मेरु पर्वत को कँपाता है, मेघों के समूह को बिखेरता हुआ, समुद्र को क्षोभ

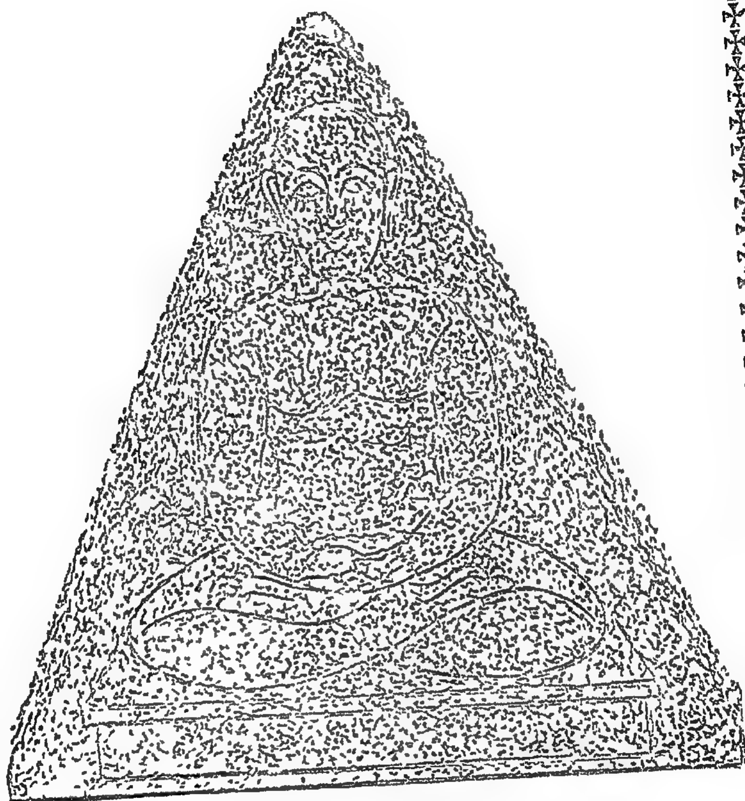


अग्नि विस्तार धारणा

(गो. प्र. चि. चित्र नं० ७)



पूर्ण अग्नि धारणा



शरीर रूपी खाख की ढेरी धारणा

(गा प चि चित्र नं० ६)



वायु धारणा।





शुद्ध स्वरूप भावना धारणा

(गो [illegible] चि चित्र नं० १७)

रूप करता हुआ । तथा लोक के मध्य गमन करता हुआ, दशो दिशाओं सचरता हुआ, जगत रूप में घर में फैला हुआ । पृथ्वि तल मे प्रवेश करता हुआ चिन्तवन करे । तत्पश्चात् ध्यानी (मुनि) ऐसा चितवन करे कि वह जो शरीरादिक की भस्म है, उसको उस प्रबल वायुमंडल ने तत्काल उडा दिया, तत्पश्चात् इस वायु को स्थिर रूप चिन्तवन करके शान्त रूप करे । चित्र न १० ।

वारुणी धारण का स्वरूप—

वारुण्या स हि पुण्यात्मा घन जाल चितं नभः ।
इन्द्रायुधतडिद्गर्जच्चमत्काराकुलं स्मरेत् ॥४४२॥

वही पुण्यात्मा (ध्यानी मुनि)इन्द्र धनुष, बिजली, गर्जनादि चमत्कार सहित मेघों के समूह से भरे हुए आकाश का ध्यान (चिन्तवन) करे ।

सुधाम्बु प्रभवैः सान्द्रै बिन्दुभिर्मौक्तिकोज्ज्वलैः ।
वर्षन्तं तं स्मरेद्धीरः स्थूलस्थूलं निरन्तरम् ॥४४३॥

तथा उन मेघो को अमृत से उत्पन्न हुए मोती समान उज्ज्वल बड़े-बड़े विन्दुओं से निरन्तर धारा रूप वर्षते हुए आकाश को धीर, वीर मुनि स्मरण करे अर्थात् ध्यान करे । चित्र नं० ११ ।

ततोऽर्देन्दुसमं कान्तं परं वरुणलाञ्छितम् ।
ध्यायेत्सुधापयः परैः ल्पावयन्तंनभस्तलम् ॥४४४॥

तत्पश्चात अर्द्धचन्द्राकार, मनोहर, अमृत मय जल के प्रवाह से आकाश को बहाते हुए वरुणपुर(वरुणमडल) का चिन्तवन करे ।

तेनाचिन्त्यप्रभावेण दिव्यध्यानोत्थितास्बुना ।
प्रक्षालयति निःशेषं तद्रजः कायसंभवम् ॥४४५॥

अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे दिव्य ध्यान से उत्पन्न हुए जल से शरीर के जलने से उत्पन्न हुए समस्त भस्म को प्रक्षालन करता है अर्थात् धोता है, ऐसा चिन्तवन करे ।

सप्तधातु विनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रामलत्विषम् ।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति संयमी ॥४४६॥

तत्पश्चात् सयमी मुनि सप्त धातु रहित, पूर्ण चन्द्रमा के समान है निर्मल प्रभा जिसकी ऐसे सर्वज्ञ समान अपने आत्मा का ध्यान करे ।

मृगेन्द्र विष्ट रारुढं दिव्यातिशय संयुतम् ।
कल्याण महिमोपेतं देव दैत्योरगार्चितम् ॥४४७॥
विलीनाशेष कर्माणं स्फुरन्त मति निर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥४४८॥

तत्पश्चात् अपने आत्मा के अतिशय युक्त, सिहासन पर आरूढ, कल्याण की महिमा सहित, देव दानव धरणेद्रादि से पूजित है, ऐसा चिन्तवन करे। तत्पश्चात् विलय हो गये है आठ कर्म जिसके ऐसा स्फुरायमान (प्रगट) अति निर्मल पुरुषाकार अपने शरीर मे प्राप्त हुए अपने आत्मा का चितवन करे। इस प्रकार तत्वरूपवती धारणा कही गई। चित्र नं० १२।

इत्यविरतं स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः ।
शिव सुख मनन्य साध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥४४९॥

इस प्रकार पिडस्थ ध्यान मे जिसका निश्चल अभ्यास हो गया है वह ध्यानी मुनि अन्य प्रकार से साधने मे न आवे ऐसे मोक्ष के सुख को शीघ्र (अल्प समय मे) ही प्राप्त होता है।

इत्थं यत्रानवद्यं स्मरति नव सुधा सान्द्र चन्द्रांशुगौरं ।
श्रीमत्सर्वज्ञकल्पं कनक गिरितटे वीत विश्वप्रपञ्चम् ॥
आत्मानं विश्वरूपं त्रिदशगुरु गणैरप्य चिन्त्यप्रभावं ।
तत्पिण्डस्थं प्रणीतं जिन समय महाम्भोधिपारं प्रयातैः ॥४५०॥

उक्त प्रकार से जिस पिण्डस्थ ध्यान मे निर्दोष, नये अमृत से भीगी हुई चन्द्रमा की किरण सदृश-गोरे वर्ण, श्रीमत्सर्वज्ञ भगवान् समान तथा मेरु गिरी के तट वा शिखर पर बैठा, बीते है समस्त प्रपच जिसके ऐसे तथा विश्वरूप-समस्त ज्ञेय पदार्थो के आकार जिसमे प्रतिविम्बित हो रहे है, ऐसे देवेद्रो के समूह से भी जिसका अधिक प्रभाव हो ऐसे आत्मा का जो चिन्तवन किया जाय, उसको जिन सिद्धान्त रूपी महासमुद्र के पार पहुँचने वाले मुनिश्वरो ने पिण्डस्थ ध्यान कहा है।

विद्यामण्डलमन्त्रयन्त्र कुहककूराभिचाराः क्रियाः ।
सिंहाशी विष दैत्यदन्ति शरभा यान्त्येव निःसारताम् ॥
शाकिन्यो ग्रह राक्षसप्रभृतयो मुञ्चन्त्यसद्वासनां ।
एतद्धयानधनस्य सन्निधिवशाभ्दानोर्यथा कौशिकाः ॥४५१॥

जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर उलूक (घूघू) भाग जाते है, उसी प्रकार इस पिण्डस्थ ध्यानरूपी धन के समीप होने से विद्या, मडल, मंत्र, यन्त्र, इन्द्रजाल के आश्चर्य (प्रसिद्ध कपट) क्रूर अभिचार (मरणादि) स्वरुप क्रिया तथा सिह, आशीविष (सर्प) दैत्य हस्ती अष्टापद ये सब ही नि सारता को प्राप्त हो जाते है अर्थात् किसी प्रकार का उपद्रव नही करते तथा शाकिनी ग्रह राक्षस वगैरह भी खोटी वासना को छोड देते हैं।

भावार्थ :—पिण्डस्थ ध्यान के प्राप्त होने वाले मुनि के निकट कोई दुष्ट जीव किसी प्रकार का उपद्रव नही कर सकते, समस्त विघ्न दूर से नष्ट हो जाते है।

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान का वर्णन किया। यहाँ कोई ऐसा कहे कि ध्यान तो ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा का ही करना है। इतनी पृथ्वि, अग्नि, पवन, जलादिक की कल्पना किस लिये करनी ? उसको कहा जाता है कि :—

यह शरीर पृथ्वि आदि धातुमय है और सूक्ष्म पुद्गल कर्म के द्वारा उत्पन्न हुआ है; उसका आत्मा के साथ सबध है, इनके सबध से आत्मा द्रव्य भाव रूप कलंक से उत्पन्न होते है। उन विकल्पो के निमित्त से परिणाम निश्चल नही होते। उनको निश्चल करने के लिये स्वाधीन चिन्तवनो से चित्त को वश करना चाहिये। सो ध्यान में किसी का आलम्बन किये बिना चित्त निश्चल नही होता, इस कारण उसको अलम्बन करने के लिए पिण्डस्थ ध्यान मे पृथ्वि आदि पाच प्रकार की कल्पना स्थापन की गई है। सो, प्रथम तो पृथ्वि सबधी धारणा से मन को थांभे, तत्पश्चात् अग्नि धारणा से कर्म और शरीर को दग्ध करने की कल्पना करके मन को रोके। तत्पश्चात् पवन की धारणा को कल्पना करके शरीर तथा कर्म की भस्म को उड़ाकर मन को थाभे, तत्पश्चात् जल की धारणा से उसमे से बचा बचाई रज को धो देने रूप ध्यान से मन को थाभे, तत्पश्चात् आत्मा शरीर और कर्म से रहित शुद्ध ज्ञानानदमय कल्पना करके, उसमे मन का स्तभन करे। इस प्रकार मन को थांभते-थांभते अभ्यास के करने से ध्यान का दृढ अभ्यास हो जाता है, तब आत्मा शुक्ल ध्यान में ठहरता है, उस समय घाति कर्मो का नाश करके केवल ज्ञान की प्राप्ति हो कर मोक्ष हो जाता है तथा अन्यमती भी इसी प्रकार पार्थिवी आदि धारणा करने को कहते है; परन्तु उनके आत्म तत्त्व का यथार्थ निरुपण नही होने के कारण उनके यहाँ सत्यार्थ धारणा नही होती, कुछ लौकिक चमत्कार सिद्ध हो तो हो जाओ, परन्तु मोक्ष की प्राप्ति

तो यथार्थ तत्त्व के श्रद्धान ज्ञान आचरण बिना होती ही नही। इस कारण इसमे सन्देह नही करना।

✠ पदस्थ-ध्यान ✠

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्र नय पारगैः ॥४५२॥

जिसको योगीश्वर पवित्र मत्रो के अक्षर स्वरूप पदो का अवलम्बन करके चितवन करते है, उसको अनेक नयो के पार पहुँचने वाले योगीश्वरो ने पदस्थ ध्यान कहा है।

वर्णमातृका ध्यान का स्वरूप—

ध्यायेदनादि सिद्धान्त प्रसिद्धां वर्णमातृकाम्।
निःशेष शब्द विन्यास जन्म भूमि जगन्नुताम् ॥४५३॥

अनादि सिद्धान्त मे प्रसिद्ध जो वर्णमातृका अर्थात् अकारादि स्वर और ककारादि व्यञ्जनों का समूह है, उसका चिन्तवन करे, क्योकि यह वर्ण मातृका सम्पूर्ण शब्दो के रचना की जन्म भूमि है और जगत से वदनीय है।

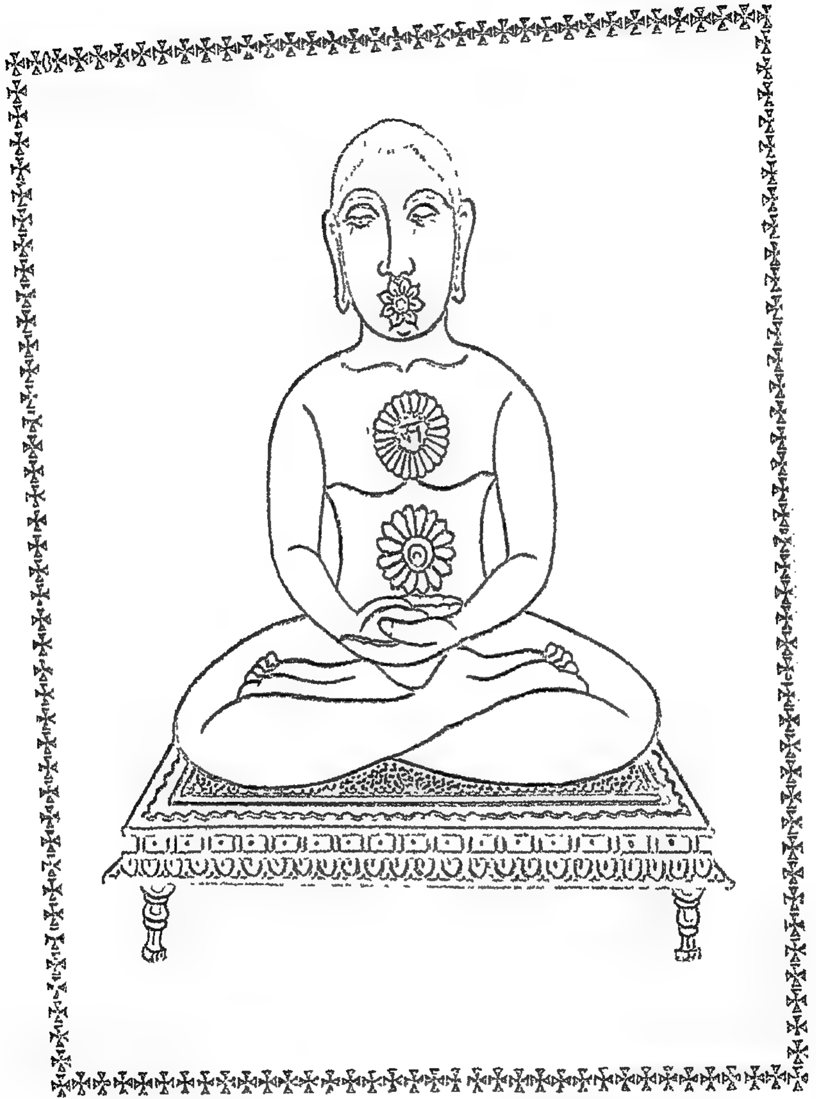
द्विगुणाष्टदलाम्भोजे नाभिमण्डल वर्तिनि।
भ्रमन्तीं चिन्तयेद्ध्यानी प्रतिपत्रं स्वरावलीम् ॥४५४॥

ध्यान करने वाला पुरुष नाभि मडल पर स्थित सोलह दल (पँखडी) के कमल में प्रत्येक दल पर क्रम से फिरती हुई स्वरावली का अर्थात् अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन अक्षरो का चिन्तवन करे।

चतुर्विंशति पत्राढ्यं हृदि कञ्जं सकर्णिकम्।
तत्र वर्णा निमान्ध्यायेत्संयमी पञ्चविंशतिकम् ॥४५५॥

तत्पश्चात् ध्यानी अपने हृदय स्थान पर कर्णिका सहित चौबीस पत्रो का कमल सयमी मुनि चिन्तवन करके उसकी कर्णिका तथा पत्रो मे क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म इन पच्चीस अक्षरो का ध्यान करे।

ततो वदन राजीवे पत्राष्टक विभूषिते।
परं वर्णाष्टक ध्यायेत्सञ्चरन्त प्रदक्षिणम् ।४५६॥



त्रिकमल ध्यान स्वर व्यंजनात्मक

(ना प्र चि चित्र न० १३)



अनाहत ध्यान

(गां प्र नि चित्र नं० १४)

तत्पश्चात् आठ पत्रो से विभूषित मुख कमल के प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करते हुए य र ल व श ष स ह इन आठ वर्णो का ध्यान करे ।

इत्यजस्त्रं स्मरन् योगी प्रसिद्धां वर्णमातृकाम् ।

श्रुतज्ञानाम्बुधेः पारं प्रयाति विगतभ्रमः ।।४५७।।

इस प्रकार प्रसिद्ध वर्ण मातृका का निरन्तर ध्यान करता हुआ योगी भ्रम रहित होकर श्रुत ज्ञान रूपी समुद्र के पार (उत्तर तट) को प्राप्त हो जाता है । भावार्थ – इस प्रकार ध्यान करने वाला मुनि श्रुतकेवली हो सकता है ।

कमलदलोदर मध्ये ध्यायन्वर्णाननादिसंसिद्धान् ।

नष्टादि विषय बोधं ध्याता सम्पद्यते कालात् ।।४५८।।

ध्यान करने वाला पुरुष कमल के पत्र और कर्णिका के मध्य में अनादि संसिद्ध (पूर्वोक्त ४९) अक्षरो का ध्यान करता हुआ कितने की काल में नष्टादि वस्तु सम्बन्धी ज्ञान को प्राप्त करता है ।

जाप्याज्जयेत् क्षयमरोचक मग्निमान्द्यं,

कुण्ठोदरात्मक सनश्व सनादि रोगान् ।

प्राप्नोति चाप्रतिमवांमगहतीं महद्भ्यः,

पूजां परत्र च गतिं पुरुषोत्तमाप्ताम् ।।४५९।।

इस वर्ण मातृका के जाप से योगी क्षयरोग, अरुचिपना, अग्निमंदता, कुष्ठ, उदर रोग, कास तथा श्वास आदि रोगों को जीतता है; और वचनसिद्धता, महान् पुरुषो से पूजा तथा परलोक मे उत्तम पुरुषो से प्राप्त की हुई, श्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है । चित्र न १३

मन्त्रराज का स्वरूप, जो अनाहत है—

अथ मन्त्रपदाधीशं सर्वं तत्त्वैकनायकम् ।

आदि मध्यान्तभेदेन स्वरव्यञ्जन सम्भवम् ।।४६०।।

ऊर्ध्वा धोरेफसंरुद्धं सपर बिन्दु लाञ्छितम् ।

अनाहत युतं तत्त्वं मन्त्रराजं प्रचक्षते ।।४६१।।

अब समस्त मन्त्र पदों का स्वामी, सब तत्त्वो का नायक, आदि मध्य और अन्त के भेद से स्वर तथा व्यञ्जनो से उत्पन्न, ऊपर और नीचे रेफ (र्) से रुका हुआ तथा विन्दु (ं) से चिह्नित सपर कहिये हकार अर्थात (र्हं) ऐसा बाजीक्षर तत्त्व है

अनाहत सहित इसको योगीजन मन्त्रराज कहते है ।

अनाहत का क्या स्वरूप है ?

अनाहत का लक्षण ।

उंबिन्द्वाकारहरोद्धर्वरेफ विन्द्वान वाक्षरम् ।
मालाधः स्यन्दि पीयूषबिन्दुं विदुरनाहतम् ।।४६२।।

इसमे ९ अक्षर मिले हुए है ।

१. उंकार, २ अनुस्वार, ३. ईकार, ४. उर्द्ध रेफ, ५. हकार, ६. हकार, ७. रेफ, ८. अनुस्वार, ९. ईकार ।

देवासुरनतं भीमदुर्बोध ध्वान्त भास्करम् ।
ध्यायेन्मूर्द्धस्थ चन्द्रांशुकला पाक्रान्त दिङ्मुखम् ।।४६३।।

देव और असुर कर रहे है, नमस्कार जिसको ऐसे, अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान तथा मस्तक पर स्थित जो चन्द्रमा उसकी किरणो के समूह से व्याप्त किया है, दिंशाओ का मुख (कादि) भाग जिसने ऐसे इस मन्त्रराज का ध्यान करे ।

इस अनाहत मंत्रराज का कैसा ध्यान करे ?

कनक कमल गर्भे कर्णिकायां निषण्णं,
विगतमलकलङ्कं सान्द्रांशुगौरम् ।
गगनमनुसरन्तं सञ्चरन्तं हरित्सु,
स्मर जिनवरकल्पं मन्त्रराजं यतीन्द्र ।।४६४।।

हे मुनीन्द्र ! सुवर्णमय कमल के मध्य मे कर्णिका पर विराजमान, मल तथा कलंक से रहित, शरद ऋतु के पूर्ण चन्द्रमा की किरणों के समान गौरवर्ण के धारक, आकाश में गमन करते हुए तथा दिशाओ मे व्याप्त होते हुए ऐसे श्री जिनेन्द्र के सदृश इस मन्त्रराज का स्मरण अर्थात् ध्यान करो ।

उस मंत्रराज के क्या मत्त है ?

बुद्ध कैश्चिद्धरिः कैश्चिदजः कैश्चिन्महेश्वरः ।
शिवः सार्वस्तथैशानः सोऽयं वर्णः प्रकीर्तितः ।।४६५।।

कितने ही इस (ह्रैं) अक्षर को कितने ही हरि ब्रह्मा, बुद्ध कितने ही महेश्वर, कितने ही शिव, कितने ही सार्व और कितने ही ईशानस्वरूप कहते हैं ।

यथार्थ में यह अक्षर क्या है ?

मन्त्रमूर्ति समादाय देव देवः स्वयं जिनः ।
सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः सोऽयं साक्षाद्व्यवस्थितः ।।४६६।।

यह मन्त्रराज (ह्लँ) अक्षर ऐसा है कि मानो सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, शान्तमूर्त्ति के धारक देवाधिदेव स्वय श्री जिनेन्द्र भगवान् ही मन्त्रमूर्त्ति को धारण करके साक्षात् विराजमान है । भावार्थ – यह मन्त्रराज अक्षर साक्षात् श्री जिनेन्द्र स्वरूप है ।

ज्ञानबीजं जगद्वन्द्यं जन्मज्वलनवार्युचम् ।
पवित्रं मतिमान्ध्यायेदिमं मन्त्र महेश्वरम् ।।४६७।।

बुद्धिमान पुरुष मन्त्रराज को ज्ञान का बोज, जगत् से वदनीय तथा संसार रूपी अग्नि के लिये अर्थात् जन्म सताप को दूर करने के लिये मेघ के समान ध्यावे ।

सकृदुच्चारितं येनं हृदि स्थितिम् ।
तदैव जन्म सन्तान प्ररोहः प्रविशीर्यते ।।४६८।।

जिस समय यह महातत्त्व मुनि के हृदय मे स्थिति करता है, उस ही काल ससार के सन्तान का अकुर गल जाता है, अर्थात् टूट जाता है ।

इस मंत्रराज का ध्यान कैसे करें ?

स्फुरन्तं भ्रूलतामध्ये विशन्तं वदनाम्बुजे ।
तालुरन्ध्रेण गच्छन्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः ।।४६९।।
स्फुरन्तं नेत्र पत्रेषु कुर्वन्त मलके स्थितिम् ।
भ्रमन्तं ज्योतिषां चक्रे स्पर्द्ध मानं सितांशुना ।।४७०।।
संचरन्तं दिशामास्ये प्रोच्छलन्तं नभस्तले ।
घंदयन्तं कलङ्कौघं स्फोटयन्तं भवभ्रमम् ।।४७१।।
नयन्तं परमस्थानां योजयन्तं शिवश्रियम् ।
इति मन्त्राधिपं धीर कुम्भकेन विचिन्तयेत् ।।४७२।।

धैर्य का धारक योगी कुम्भक प्राणायाम से इस मत्रराज को भौह की लताओ मे स्फुरायमान होता हुआ, तालुआ के छिद्र से गमन करता हुआ, तथा अमृतमय जल से झरता हुआ, नेत्र की पलको पर स्फुरायमान होता हुआ, केशों मे स्थित करता हुआ तथा ज्योतिषियों के समूह में भ्रमता हुआ, चन्द्रमा के साथ स्पर्द्धा करता हुआ, दिशाओ में सचरता हुआ, आकाश में उछलता हुआ कलक के समूह को

छेदता हुआ, ससार के भ्रम को दूर करता हुआ तथा परमस्थान (मोक्षस्थान) को प्राप्त करता हुआ, मोक्ष लक्ष्मी से मिलाप कराता हुआ ध्यावे ।

अनन्यशरणः साक्षात्तत्संली नैकमानसः ।
तथा स्मरत्यसौ ध्यानी यथा स्वप्नेऽपि न स्खलेत् ।।४७३।।

ध्यान करने वाला इस मन्त्राधिप को अन्य किसी की शरण न लेकर; इसमे ही साक्षात् तल्लीन मन करके स्वप्न में भी इस मत्र से च्युत न हो एसा दृढ होकर ध्यावें ।

इति मत्वा स्थिरीभूतं सर्वावस्थासु सर्वथा ।
नासाग्रे निश्चलं धत्ते यदि वा भ्रूलतान्तरे ।।४७४।।

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार से महामन्त्र के ध्यान के विधान को जानकर मुनि समस्त अवस्थाओ में स्थिर स्वरूप सवथा नासिका के अग्रभाग में अथवा भौंह लता के मध्य में इसको निश्चल धारण करे ।

तत्र कैश्चिच्च वर्णादि भेदैस्तत्कल्पितं पुनः ।
मन्त्र मण्डल मुद्रादि साधनैरिष्ट सिद्धिदम् ।।४७५।।

इस नासिका के अग्रभाग अथवा भौंह लता के मध्य मे निश्चल धारण करने अवसर में कई आचार्यो ने उस मंत्राधिप को ध्यान करने मे अक्षरादिक के भेद करके कल्पना की है और मंडल मुद्रा इत्यादिक साधनों से इष्ट की सिद्धि का देने वाला कहा है । चित्र नं. १४ ।

"अकारादि हकारान्तं रेफ मध्यं सबिन्दुकम् ।
तदेव परम तत्त्वं यो जानाति स तत्त्ववित् ।।४७६।।

अकार है आदि में जिसके, हकार है अन्त मे जिसके और रेफ है मध्य मे जिसके और बिन्दु सहित ऐसा जो अह पद है, वही परम तत्त्व है । जो कोई इसको जानता है, वह तत्त्व को जानने वाला है ।

सर्वावयव संपूर्णं ततोऽवयवविच्युतम् ।
क्रमेण चिन्तयेद्ध्यानी वर्ण मात्रं शशिप्रभम् ।।४७७।।

प्रथम तो ध्यानी अर्हं अक्षर का पूर्वोक्त समस्त अवयवो सहित चिन्तवन करें, तत्पश्चात् अवयव रहित ध्यान करें, फिर क्रम से चन्द्रमा समान प्रभावाला वर्णमात्र (हकार) स्वरूप चितवन करें ।

बिन्दुहीनं कलाहीनं रेफद्वितयवर्जितम् ।
अनक्षर त्वमापन्न मनुच्चार्यं च चिन्तयेत् ।।४७८।।

तत्पश्चात् इस मत्रराज का बिन्दु (अनुस्वार) रहित, कला(अर्द्ध चन्द्राकार) रहित, दोनो रेफ (र्) रहित, अक्षर रहितता को प्राप्त, तथा उच्चारण करने योग्य न हो ऐसा क्रम से चितवन करें ।

चन्द्रलेखासमं सूक्ष्मं स्फुरन्तं भानु भास्वरम् ।
अनाहताभिधं देवं दिव्यरूपं विचिन्तयेत् ।।४७९।।

चन्द्रमा की रेखा समान सूक्ष्म और सूर्य सरीखा देदीप्यमान, स्फुरायमान होता हुआ तथा दिव्य रूप का धारक ऐसा जो अनाहत नाम का देव है, उसका चिन्तवन करे ।

अस्मिंस्थिरी कृताभ्यासाः सन्त. शान्तिं समाश्रिताः ।
अनेन दिव्य पोतेन तीर्त्वा जन्मोग्र सागरम् ।।४८०।।

इस अनाहत नामा देव मे किया है स्थिर अभ्यास जिन्होंने, ऐसे सत्पुरुष इस दिव्य जहाज के इस ससार रूप घोर समुद्र को तिर कर, शान्ति को प्राप्त हो गए है ।

इस चिन्तवन का अन्य प्रकार—

तदेव च पुनः सूक्ष्मं क्रमाद्बालाग्रसन्निभम् ।
ध्याये देकाग्रतां प्राप्य कर्तुं चेतः सुनिश्चलम् ।।४८१।।

और फिर एकाग्रता को प्राप्त होकर, चित्त को स्थिर (निश्चल) करने के लिए उस ही अनाहत को अनुक्रम से सूक्ष्म ध्याता हुआ बाल के अग्रभाग समान ध्यावे ।

ततोऽपि गलिता शेष विषयीकृत मानसः ।
अध्यक्ष मीक्षते साक्षाज्जगज्ज्योतिर्मयं क्षणे ।।४८२।।

उसके पश्चात् गलित हो गये है समस्त विषय जिसमे, ऐसे अपने मन को स्थिर करने वाला योगी क्षण मे ज्योतिर्मय साक्षात् जगत को प्रत्यक्ष अवलोकन करता है ।

सिद्धयन्ति सिद्धयः सर्वा अणिमाद्या न संशयः ।
सेवां कुर्वन्ति दैत्याद्या आज्ञैश्वर्यं च जायते ।।४८३।।

इस अनाहत मंत्र के ध्यान मे ध्यानी के अणिमा आदि सर्व सिद्धियाँ होती हैं, और दैत्यादिक सेवा करते हैं तथा आज्ञा और ऐश्वर्य होता है, इसमे सदेह नही है।

क्रमात्प्रच्याव्य लक्ष्येभ्यस्ततोऽलक्ष्ये स्थिरं मनः ।
दधतोऽस्य स्फुरत्यन्त ज्योंतिरत्यक्ष मक्षयम् ।।४८४।।

तत्पश्चात् क्रम से लक्ष्यों (लखने योग्य वस्तुओ) से छुड़ा कर, अलक्ष्य मे अपने मन को धारण करते हुए ध्यानी के अन्तरंग में अक्षय इंद्रियो के अगोचर ज्योति अर्थात् ज्ञान प्रकट होता हैं ।

इति लक्ष्यानुसारेण लक्ष्याभावः प्रकीर्तितः ।
तस्मिन्स्थितस्य मन्येऽहं मुनेः सिद्ध समीहितम् ।।४८५।।

इस प्रकार लक्ष्य के अनुसार लक्ष्य का अभाव कहा गया; सो, आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा से कहते है कि उस अलक्ष्य में स्थिर रहने वाले मुनि के वांछित कार्य को मैं सिद्ध हुआ मानता हूँ ।

एतत्तत्त्वं शिवाख्यं वा समालम्व्य मनीषिणः ।
उत्तीर्णा जन्मकान्तार मनन्तं क्लेशसंकुलम् ।।४८६।।

इस अनाहत तत्त्व अथवा शिवनामा तत्त्व का अवलवन करके मनीषि गण अनन्त क्लेश सहित ससार रुपी वन से पार हो गये; इस प्रकार मत्रराज और अनाहत दोनों मंत्रों के ध्यान का विधान कहा । चित्र नं० १५ देखें ।

'ओं' कार के ध्यान का स्वरूप—

स्मर दुःखानल ज्वाला–प्रशान्तेर्नवनीरदम् ।
प्रणमं वाङ्मन्यज्ञान प्रदीपं पुण्य शासनम् ।।४८७।।

हे मुने ! तू प्रणम नामा अक्षर का स्मरण कर अर्थात् ध्यान कर, क्योंकि यह प्रणव नामा अक्षर दु.ख रूपी अग्नि की ज्वाला को शान्त करने के लिए मेघ की समान है तथा वाङ्मय (समस्त श्रुत) के प्रकाश करने के लिये दीपक है और पुण्य का शासन है ।

यस्माच्छब्दात्मकं ज्योतिः प्रसूतमति निर्मलम् ।
वाच्य वाचक संबंधस्तेनैव परमेष्ठिनः ।।४८८।।

इस प्रणव से अतिनिर्मल शब्द रुपी ज्योति अर्थात् ज्ञान उत्पन्न हुआ है और परमेष्ठी का वाच्य वाचक सबध भी इसी प्रणव से होता है अर्थात् परमेष्ठी तो इस



अर्हं का ध्यान



ॐ का ध्यान स्वर और व्यंजनो से वेष्टित

(गा प्र चि चित्र नं० १६)

प्रणव का वाच्य और यह परमेष्ठी का वाचक है ।

हृत्कञ्जकर्णिकासीनं स्वरव्यञ्जन वेष्टितम् ।
स्फीत मत्यन्तदुर्द्धर्षं देवदैत्येन्द्र पूजितम् ।।४८९।।
प्रक्षरन्मूर्ध्नि संक्रान्त चन्द्र लेखामृत प्लुतम् ।
महाप्रभाव सम्पन्नं कर्म कक्ष हुताशनम् ।।४९०।।
महातत्त्वं महाबीजं महामन्त्रं महत्पदम् ।
शरच्चन्द्र निभं ध्यानी कुम्भकेन विचिन्तयेत ।।४९१।।

ध्यान करने वाला सयमी हृदय कमल की कर्णिका में स्थिर और स्वर व्यन्जन अक्षरो से बेढ़ा हुआ, उज्ज्वल, अत्यन्त दुर्धर्ष, देव और दैत्यो के इन्द्रो से पूजित तथा झरते हुए मस्तक मे स्थित चन्द्रमा की (लेखा) रेखा के अमृत से आद्रित, महा प्रभाव सम्पन्न, कर्म रूपी वन को दग्ध करने के लिये अग्नि समान ऐसे इस महा तत्त्व, महाबीज, महातत्र, महापद स्वरूप तथा शरद के चन्द्रमा के समान गौर वर्ण के धारक 'ओ' को कु भक प्राणायाम से चितवन करे ।

विशेष विधान का प्रकार—

सान्द्रसिंदूर वर्णाभं यदि वा विद्रुमप्रभम् ।
चिन्त्यमानं जगत्सर्वं क्षोभ यत्यभिसंगतम् ।।४९२।।
जाम्बूनदनिभं स्तम्भे विद्वेषे कज्जलत्विषम् ।
ध्येयं वश्यादिके रक्तं चन्द्राभं कर्मशातने ।।४९३।।

यह प्रणव अक्षर गहरे सिदूर के वर्ण के समान अथवा मूगे के समान चिन्तवन किया हुआ मिले हुए जगत को क्षोभित करता है । तथा इस प्रणव को स्तंभन के प्रयोग मे सुवर्ण के समान पीला चिन्तवन करे और द्वेष के प्रयोग मे कज्जल के समान काला तथा वश्यादि प्रयोग मे रक्त (लाल) वर्ण और कर्मो के नाश करने में चन्द्रमा के समान श्वेत वर्ण का ध्यान करे ।

इस प्रकार प्रणव अर्थात् ॐ कार मन्त्र के ध्यान का विधान कहा; अब पंच परमेष्ठी के नमस्कार रूप मत्र के ध्यान का विधान कहते है । चित्र न० १६ ।

पंच परमेष्ठि महामन्त्र का चिन्तवन—

गुरु पञ्च नमस्कार लक्षणं मंत्र मूर्जितम् ।
विचिन्तयेज्जगज्जन्तु पवित्रीकरणक्षमम् ।।४९४।।

पच परमेष्ठियो को नमस्कार करने रूप है लक्षण जिसका, ऐसे महामत्र का चिन्तवन करे, क्योंकि यह नमस्कारात्मक मत्र जगत के जीवो को पवित्र करने मे समर्थ है ।

स्फुरद्विमलचन्द्राभे दलाष्टक विभूषिते ।
कञ्जे तत्कर्णिकासीनं मन्त्रं सप्ताक्षरं स्मरेत् ।।४६५।।
दिग्दलेषु ततोऽन्येषु विदिक् पत्रेष्वनुक्रमात् ।
सिद्धादिकं चतुष्कं च दृष्टि बोधादिकं तथा ।।४६६।।

स्फुरायमान निर्मल चन्द्रमा की कान्ति समान आठ पत्र से शोभित जो कमल है, उसकी कर्णिका पर स्थित सात अक्षर के "णमो अरहताण" मत्र का चिन्तवन करे । और उस कर्णिका से बाहर के आठ पत्रो मे से ४ दिशाओ के ४ दलो पर णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण, ये ४ मत्र पद और विदिशाओ के चार पत्रो पर सम्यग्दर्शनाय नम , सम्यग्ज्ञानाय नम , सम्यक् चारित्राय नम , सम्मक्तपसे नम. इन चार नमस्कार मत्रो का चिन्तवन करे, इस प्रकार अष्टदल का कमल और एक कर्णिका मे नव मत्रो को स्थापन कर चिन्तवन करे ।

श्रियमात्यन्तिकीं प्राप्ता योगिनो येऽत्र केचन ।
अमुमेव महामन्त्रं ते समाराध्य केवलम् ।।४६७।।

इस लोक मे जिन कितने ही योगियो ने आत्यन्ति की लक्ष्मी (मोक्ष लक्ष्मी) को प्राप्त किया है, उन सबो ने एक मात्र इस महामन्त्र का आराधन करके ही प्राप्त किया है ।

प्रभावमस्य निःशेषं योगिनामप्यगोचरम् ।
अनोभिज्ञो जनो ब्रूते यः स मन्येऽनिलार्दित ।।४६८।।

इस महामन्त्र का पूर्ण प्रभाव योगी मुनीश्वरो के भी अगोचर है, उनके द्वारा भी कहने मे नही आता और जो इसको नही जानने वाला पुरुष इसके प्रभाव को कहता है, उसको मै वायु रोग से प्रलाप करने वाला मानता हूँ ।

अनेनैव विशुद्धयन्ति जन्तवः पापपङ्किता ।
अनेनैव विमुच्यन्ते भवक्लेशान्मनीषिणः ।।४६९।।

जो जीव पाप से मलिन हैं, वे इसी मन्त्र से विशुद्ध होते है और इसी मन्त्र



अष्टदल कमल का ध्यान

(यो प्र वि चित्र नं० १७)



षोडशाक्षरी ध्यान जप

(णा प्र. चि चित्र नं० १८)

के प्रभाव से मनीषिगण (बुद्धिमान्) ससार के क्लेशों से छूटते है।

असावेव जगत्यस्मिन्भव्यव्यसन बान्धवः।
अमुं विहाय सत्त्वानां नान्यः कश्चित्त्वत्कृपापरः ॥५००॥

भव्य जीवो को आपदा के समय यही मन्त्र इस जगत में बांधव (मित्र) है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी जीवो पर कृपा करने मे तत्पर नही है।

भावार्थ :—सबका रक्षक यही एक महामन्त्र है।

एतद् व्यसन पाताले भ्रमत्संसार सागरे।
अनेनैव जगत्सर्वमुद्धत्य विधृतं शिवे ॥५०१॥

आपदा अर्थात कष्ट ही है पातालगर्त्त जिसमे ऐसे ससार रूपी समुद्र में भ्रमते हुए इस जगत को इस मन्त्र ने ही उद्धार करके मोक्ष में धारण किया है।

कृत्वा पाप सहस्राणि हत्वा जन्तु शतानि च।
अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः ॥५०२॥

पूर्व काल में हजारो पाप करके तथा सैकडों जीवो को मार कर तिर्यञ्च भी इस महामन्त्र का शुद्ध भावो से आराधन करके स्वर्ग को प्राप्त हुए है, उनकी कथा पुराणो मे प्रसिद्ध है।

शतमष्टोत्तर चास्य त्रिशुद्धया चिन्तयन्मुनिः।
भुञ्जानोऽपि चतुर्थस्य प्राप्नोत्य विकलं फलम् ॥५०३॥

मन वचन काय को शुद्ध करके इस मन्त्र को एक सौ आठ बार चिन्तवन करे तो वह मुनि आहार करता हुआ भी चतुर्थ कहिये एक उपवास के पूर्ण फल को प्राप्त होता है। चित्र न० १७।

षोडशाक्षरी विद्या का ध्यान—

स्मर पञ्च पदोद्भूतां महाविद्यां जगन्नुताम्।
गुरु पञ्चक नामोत्थां षोडशाक्षर राजिताम् ॥५०४॥

हे मुने! तू सोलह अक्षरो से विराजमान जो महाविद्या है, उसका स्मरण कर अर्थात् ध्यान कर; क्योकि षोडशाक्षरी विद्या पञ्च पदों और पच परम गुरु के नामो से उत्पन्न हुई है और जगत मात्र से नमस्कार करने योग्य है; वह सोलह अक्षरी विद्या यह है—अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः।

अस्याः शतद्वयं ध्यानी जपन्नेकाग्रमानसः ।
अनिच्छन्नप्यवाप्नोति चतुर्थं तपसः फलम् ॥५०५॥

जो जीव षोडशाक्षरी विद्या का एकाग्र मन होकर, दो सौ बार जप करता है, वह नही चाहता हुआ भी चतुर्थ तप अर्थात् एक उपवास के फल को प्राप्त होता है । चित्र नं० १८ ।

षडाक्षरो विद्या का ध्यान—

विद्यां षड्वर्ण सम्भूतामजय्यां पुण्य शालिनीम् ।
जपन्प्रागुक्तमभ्येति फलं ध्यानी शत त्रयम् ॥५०६॥

तथा "अरहन्त सिद्ध" इस प्रकार छह अक्षरो से उत्पन्न हुई विद्या का तीन सौ बार जब करने वाला मनुष्य एक उपवास के फल को प्राप्त होता है, क्योकि यह षडक्षरी विद्या जप्य है और पुण्य को उत्पन्न करने वाली तथा पुण्य से शोभित है । चित्र नं० १९ ।

चार अक्षर की विद्या का ध्यान--

चतुर्वर्णमयं मन्त्रं चतुर्वर्ग फल प्रदम् ।
चतुः शतं जपन्योगो चतुर्थस्य फलं लभेत् ॥५०७॥

"अरहत" इन चार अक्षरो का मन्त्र है, सो धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप फल को देने वाला है इसका जो चार सौ बार जप करता है, वह एक उपवास का फल पाता है ।

दो अक्षर वाली विद्या का ध्यान—

वर्णयुग्मं श्रुत स्कन्धसार भूतं शिवप्रदम् ।
ध्यायेज्जन्मोद्भवाशेषक्लेश विध्वंसनक्षमम् ॥५०८॥

'सिद्ध' इन दो अक्षरो का युग्म है, सो श्रुत स्कन्ध (द्वादशांग शास्त्र) का सार भूत है, मोक्ष को देने वाला है, ससार से उत्पन्न हुए समस्त क्लेशो को नाश करने में समर्थ है, इसलिये योगी इसका ध्यान करे ।

एक अक्षर का जाप—

अवर्णस्य सहस्त्रार्द्ध जपन्नानन्दसंभृतः ।
प्राप्नोत्येकोपवासस्य निर्जरं निर्जिताशयः ॥५०९॥

जो मुनि अपने चित्त को वश करके आनंद से 'अ' इस वर्ण मात्र का पांच



षडाक्षरी ध्यान

(गो प्र चि चित्र नं० १९)



१३ अक्षरी विद्या का ध्यान

(णो प्र वि चित्र नं० ७०)

सौ बार जप करता है, वह एक उपवास के निर्जरा रूप फल को प्राप्त होता है।

एतद्धि कथितं शास्त्रो रुचिमात्र प्रसाधकम् ।
किन्त्वमीषां फलं सम्यक्स्वर्ग मोक्षैक लक्षणम् ॥५१०॥

यह जो शास्त्र मे इन मन्त्रो का उपवास रूप फल कहा है सो केवल मन्त्र जपने की रुचि कराने के लिये है, किन्तु वास्तव में उक्त मत्रो का उत्तम फल स्वर्ग और मोक्ष ही है।

पंचाक्षरी विद्या का ध्यान—

पञ्च वर्ण मयीं विद्यां पञ्च तत्त्वोपलक्षिताम् ।
मुनि वोरैः श्रुत स्कन्धा द्वीज बुद्धया समुद्धताम् ॥५११॥

पाँच तत्त्वो से युक्त, पाँच अक्षर मयी विद्या को मुनिश्वरो ने द्वादशाग शास्त्र मे से सारभूत समझ कर निकाली है, वह पचाक्षर मयी विद्या "ॐ ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रौँ ह्रः असि आ उ सा नम." इस प्रकार है।

अस्यां निरन्तराभ्यासा द्वशीकृत निजाशयः ।
प्रोच्छिन्नत्याशु निःशङ्को निगूढं जन्म बन्धनम् ॥५१२॥

इस पूर्वोक्त पचाक्षरमयी विद्या मे निरन्तर अभ्यास करने से वशीभूत कर लिया है, मन जिसने ऐसा मुनि नि.शक होकर अति कठिन ससार रूपी बन्धन को शीघ्र ही काट देता है।

मगलोतमशरण पदों के ध्यान का फल—

मङ्गल शरणोत्तम पद निकुरम्बं यस्तु संयमी स्मरति ।
अविकलमेकाग्रधिया स चापवर्गश्रियं श्रयति ॥५१३॥

जो सयमी मुनि एकाग्र बुद्धि से मगल, शरण, उत्तम इन पदों के समूह का स्मरण करता है, वह मोक्ष लक्ष्मी का आश्रय करता है। वह मगलकारक उत्तम पदो का समूह यह है—चत्तारि मगल। अरहन्त मगल। सिद्ध मगल। साहू मगलं। केवलिपण्णत्तो धम्मो मगलं। चत्तारि लोगुत्तमा। अरहन्त लोगुत्तमा। सिद्ध लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा। केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरण पव्वज्जामि। अरहते सरण पव्वज्जामि। सिद्धे सरणं पव्वज्जामि। साहू सरणं पव्वज्जामि। केवलिपण्णत्त धम्मं सरण पव्वज्जामि।

तेरह अक्षर वाली विद्या का ध्यान—

सिद्धेः सौधं समारोढुमियं सोपान मालिका ।
त्रयोदशाक्षरोत्पन्ना विद्या विश्वाति शायिनी ।।५१४।।

जगत मे अतिशय रूप तेरह अक्षरों से उत्पन्न हुई यह विद्या मोक्ष के महल पर चढ़ने के लिए सीढियों की पक्ति है । वह १३ तेरह अक्षर का मंत्र 'ॐ अर्हंत् सिद्ध सयोग केवली स्वाहा' इस प्रकार है ।

प्रसादयितुमुद्युक्तै मुर्क्ति कान्तां यशस्विनीम् ।
दूतिकेयं मता मन्ये जगद्वन्द्यै मुंनीश्वरैः ।।५१५।।

यश की धारक मुक्ति रूपी स्त्री को प्रसन्न करने के लिए उद्यमी हुये ऐसे तथा जगत् से पूज्य मुनीश्वरों ने इस तेरह अक्षरी विद्या को मुक्ति को प्रसन्न करने के अर्थ दूती माना है, ऐसा मैं मानता हूँ । (चित्र नं. २०)

नीचे लिखित विद्या का चिन्तवन का प्रभाव जो सप्ताक्षरमय है—

सकल ज्ञान साम्राज्य दान दक्षं विचिन्तय ।
मन्त्रं जगत्त्रयी-नाथ-चूडारत्नं कृपास्पदम् ।।५१६।।

यह मन्त्र सकल ज्ञान के साम्राज्य (केवल ज्ञान) के देखने मे प्रवीण है और जगत्त्रय के नाथो के चूडा रत्न समान है तथा कृपा का स्थान है, सो हे मुने, तू चिन्तवन कर । वह मन्त्र—'ॐ ह्री श्री अर्हं नमः' है ।

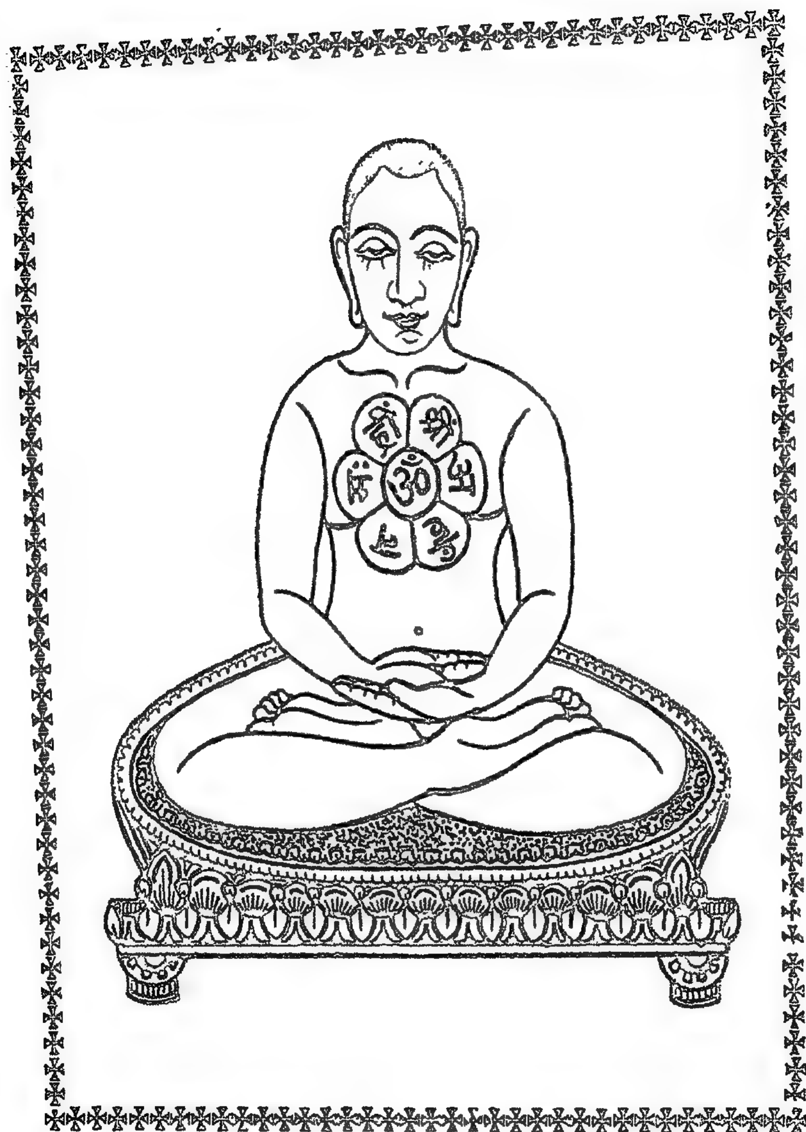
न चास्य भुवने कश्चित्प्रभावं गदितुं क्षमः ।
श्रीमत्सर्वज्ञ देवेन यः साम्यमवलम्बते ।।५१७।।

इस मन्त्र का प्रभाव लोक में कोई भी कहने को समर्थ नहीं है, क्योकि वह मन्त्र श्रीमत्सर्वज्ञ देव की समानता को धारण करने वाला है । (चित्र २१)

पंचाक्षरी विद्या का प्रभाव—

स्मरकर्म कलङ्कौघ ध्वान्त विध्वंस भास्करम् ।
पञ्च वर्णं मयं मंत्रं पवित्रं पुण्य शासनम् ।।५१८।।

हे मुने, तू पंच अक्षरमयी जो मन्त्र है, उसे चिन्तवन कर; क्योकि यह मन्त्र कर्म कलकों के समूह रूप अधकार का विध्वंस करने को सूर्य के समान है, पवित्र है और पुण्य शासन है । यह मन्त्र 'णमो सिद्धाणं' यह है । (चित्र न. २२ देखे)



सप्ताक्षरी ध्यान

(गो प्र दि चित्र नं० २१)



पंचाक्षरी विद्या का ध्यान

(गो. प्र. चि चित्र नं० २२)

क्लेशसंतति काटने वाली विद्या और उसका प्रभाव—

सर्वं सत्त्वाभयस्थानं वर्णमाला विराजितं ।
स्मर मंत्रं जगज्जंतुक्लेश संततिघातकम् ।।५१९।।

हे मुनि! तू समस्त जीवो का अभय स्थान तथा जगत के जीवों के क्लेश की सन्तति को काटने वाला और अक्षरो की पंक्ति से विराजमान ऐसे मन्त्र का चिन्तवन कर। वह मन्त्र यह है—'ॐ नमोऽर्हते केवलिने परमयोगिनेऽनन्त शुद्धि परिणाम विस्फुर दुरु शुक्लध्यानाग्नि निर्दग्ध कर्म बीजाय प्राप्तानन्त चतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मगलाय वरदाय अष्टादश दोष रहिताय स्वाहा'।

मुख कमल में मंत्र का ध्यान—

स्मरेन्दु माण्डलाकारं पुण्डरीकं मुखोदरे ।
दलाष्टक समासीनं वर्णाष्टक विराजितं ।।५२०।।

हे मुने! तू मुख मे चन्द्र मण्डल के आकार का, आठ अक्षरो से शोभायमान, आठ पत्रो का एक कमल चिन्तवन करे।

ॐणमो अरहंताणमिति वर्णानपि क्रमात् ।
एकशः प्रतिपत्रं तु तस्मिन्नेव निवेशयेत् ।।५२१।।

'ॐ णमो अरहताण' ये आठ अक्षर मुख मे स्मरण किये हुए उस कमल के आठों पत्रो पर क्रम से एक-एक अक्षर का स्थापन कर ध्यान करना चाहिए।

स्वर्णगौरीं स्वरोद्भूतां केशरालीं ततः स्मरेत् ।
कर्णिकां च सुधास्यन्द बिन्दु व्रज विभूषिताम् ।।५२२।।

तत्पश्चात् अमृत के झरनो के बिन्दुओ से सुशोभित कर्णिका का चिन्तवन करे और उसमे स्वरो से उत्पन्न हुई तथा सुवर्ण के समान गौर वर्ण वाली केशरो की पंक्ति का ध्यान करे।

प्रोद्यत्संपूर्ण चंद्राभं चंद्राबिम्बाच्छनैः शनैः ।
समागच्छत्सुधाबीजं माया वर्णं तु चिंतयेत् ।।५२३।।

पश्चात् उदय को प्राप्त होते हुये, पूर्ण चन्द्रमा के कान्ति समान, चन्द्रबिंब से मद-मद अमृत बीज को प्राप्त होते हुए माया वर्ण ह्रीं का चिन्तन करे।

मायाबीज ह्रीं का ध्यान—

विस्फुरन्तमति स्फीतं प्रभा मण्डल मध्यगम् ।
संचरन्तं मुखाम्भोजे तिष्ठन्तं कर्णिकोपरि ।।५२४।।

भ्रमन्तं प्रतिपत्रेषु चरन्तं वियति क्षणे।
छेदयन्तं मनोध्वान्तं स्त्रवन्त ममृताम्बुभिः ॥५२५॥
व्रजन्तं तालुरन्ध्रेण स्फुरन्तं भ्रूलतान्तरे।
ज्योतिर्मय मिवा चिन्त्य प्रभावं भावयेन्मुनिः ॥५२६॥

उपर्युक्त माया वीज ह्रीं अक्षर को स्फुरायमान होता हुआ, अत्यन्त उज्जवल प्रभा मंडल के मध्य प्राप्त हुआ, कभी पूर्वोक्त मुखस्थ कमल मे सचरता हुआ तथा कभी-कभी उसकी कर्णिका के उपरि तिष्ठता हुआ, तथा कभी-कभी उस कमल के आठो दलो पर फिरता हुआ तथा कभी-कभी क्षण भर में आकाश में चलता हुआ, मन के अज्ञान अधकार को दूर करता हुआ, अमृतमयी जल से चूता हुआ तथा तालुका के छिद्र से गमन करता हुआ तथा भौंहो की लताओ मे स्फुरायमान होता हुआ, ज्योतिर्मय के समान अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे माया वर्ण का चिन्तवन करे।

वाक्यथातीत माहात्म्यं देव दैत्योरगार्चितम्।
विद्यार्णवमहापोतं विश्वतत्त्व प्रदीपकम् ॥५२७॥

इस मन्त्र का महात्म्य वचनातीत है, इसको देव दैत्य नागेन्द्र पूजते है तथा यह मन्त्र विद्यारूपी समुद्र के तिरने को महान् जहाज है और जगत के पदार्थो को दिखाने के लिए दीपक ही है।

अमुमेव महामन्त्रं भावयन्नस्त संशयः।
अविद्या व्याल संभूतं विष वेग निरस्यति ॥५२८॥

इसी महामन्त्र का सशय रहित होकर ध्यान करने वाला मुनि अविद्या रूपी सूर्य से उत्पन्न हुए विष के वेग को दूर करता है।

इति ध्यायन्नसौ ध्यानी तत्संलीनैक मानसः।
वाङ्मनोमल मुत्सृज्य श्रुताम्भोधि विगाहतो ॥५२९॥

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार इस मन्त्र का ध्यान करता हुआ और उस ध्यान में ही लीन है, मन जिसका ऐसा जो ध्यानी है, वह अपने मन तथा वचन के मल को नष्ट करके श्रुत समुद्र मे अवगाहन करता है अर्थात् शास्त्र रूपी समुद्र मे तैरता है।

ततो निरन्तराभ्यासान्मासैः षड्भिः स्थिराशयः।
मुखरन्ध्राद्वि निर्यान्तीं धूमवर्ति प्रपश्यति ॥५३०॥

तत्पश्चात् वह ध्यान स्थिर चित्त होकर निरन्तर अभ्यास करने पर छह

महीने में अपने मुख में निकलती हुई (धूम) धुंए की वर्त्तिका देखता है।

ततः संवत्सरं यावत्तथैवाभ्यस्यते यदि।

प्रपश्यति महाज्वालां निःसरन्तीं मुखोदरात् ।।५३१।।

तत्पश्चात् यदि एक वर्ष पर्यन्त उसी प्रकार अभ्यास करे तो मुख मे से निकलती हुई महा अग्नि की ज्वाला को देखता है।

ततोऽतिजात संवेगो निर्वेदालम्बितो वशी।

ध्यायन्पश्यत्य विश्रान्तं सर्वज्ञ मुख पङ्कजम् ।।५३२।।

तत्पश्चात् अतिशय उत्पन्न हुआ है, धर्मानुराग जिसके ऐसा वैराग्यावलम्बित जितेन्द्रिय मुनि निरन्तर ध्यान करता-करता सर्वज्ञ के मुख कमल को देखता है।

अथाप्रति हतानन्द प्रीणितात्मा जितश्रमः।

श्रीमत्सर्वज्ञ देवेशं प्रत्यक्षमिव वीक्षते ।।५३३।।

यहां से वही ध्यानी अनिवारित आनद से तृप्त है, आत्मा जिसका और जीता है दुःख जिसने ऐसा होकर श्रीमत्सर्वज्ञ देव का प्रत्यक्ष अवलोकन करता है।

सर्वातिशय संपूर्णं दिव्यरूपोपालक्षितम्।

कल्याणमहिमोपेतं सवसत्त्वाभय प्रदम् ।।५३४।।

सर्वज्ञ को ध्यानी कैसे प्रत्यक्ष देखता है कि सर्व अतिशयो से परिपूर्ण दिव्य रूप से उपलक्षित पंच कल्याणक की महिमा सहित समस्त जीवों को अभयदान देने वाला है।

प्रभावलय मध्यस्थं भव्य राजीव रञ्जकम्।

ज्ञान लीलाधरं वीरं देवदेवं स्वयंभुवम् ।।५३५।।

प्रभावलय के बीच में स्थित हुए भव्यरूप कमलों को रंजायमान करने वाले, ज्ञान की लीला के धरने वाले, विशिष्ट लक्ष्मी वाले, देवो के देव स्वयंभू ऐसे सर्वज्ञ को साक्षात् देखता है।

ततो विधूत तन्द्रोऽसौ तस्मिन्संजातनिश्चयः।

भवभ्रम मपाकृत्य लोकाग्रमधि रोहति ।।५३६।।

तत्पश्चात् इस मन्त्र का ध्यान करने वाला मुनि प्रमाद को नष्ट करके तथा इस मत्र मे सर्वज्ञ के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर संसार भ्रम को दूर करके लोक के अग्रभाग मोक्ष स्थान का आश्रय करता है।

इस प्रकार मुख कमल में अष्टदल कमल मे आठ अक्षरो को स्थापन करके कर्णिका के केशरों में सोलह स्वर स्थापन पूर्वक ह्री वर्ण का जो पूर्वोक्त प्रकार से ध्यान करे, उसका फल (महिमा) वर्णन किया। चित्र न २३।

क्ष्वीं, विद्याका ध्यान किस प्रकार करना चाहिये ?

स्मर सकल सिद्ध विद्यां प्रधानभूतां प्रसन्न गम्भीराम्।
विधु बिम्ब निर्गतामिव क्षरत्सुधार्द्रा महाविद्याम् ॥५३७॥

हे मुने, तू सकल सिद्ध विद्या का भी चितवन कर, क्योंकि वह विद्या प्रधान स्वरूप है, प्रसन्न है, गम्भीर है तथा चन्द्रमा के बिम्ब से निकली हुई के समान जो झरती हुई सुधा है, उससे आर्द्रित है, ऐसी वह महाविद्या 'क्ष्वीं' ऐसा अक्षर है।

अविचल मनसा ध्यायंल्ललाट देशे स्थितामिमां देवीम्।
प्राप्नोति मुनिरजस्त्रं समस्त कल्याण निकुरम्बम् ॥५३८॥

इस विद्या देवी को ललाट देश पर स्थित करके, निश्चल मन से निरन्तर ध्यान करता हुआ मुनि समस्त कल्याण के समूह को प्राप्त होता है।

अमृत जलधिगर्भात्रिः सरन्तीं सुदीप्ता,
मलकतल निषण्णां चन्द्रलेखां स्मरत्वम्।
अमृतकण विकीर्णा प्लावयन्ती सुधाभिः,
परम पद धरित्र्यां धारयन्तीं प्रभावम् ॥५३९॥

हे मुनि, तू इस अमृत के समुद्र से निकलती हुई, भले प्रकार देदीप्यमान, ललाट देश स्थित, अमृत के कणों से बिखरी हुई और अमृत से आद्रित करती हुई, चंद्रलेखा का स्मरण कर; क्योंकि यह विद्या मोक्षरूपी पृथ्वी मे अपने प्रभाव को धारण करने वाली है।

एतां विचिन्तयन्नेव स्तिमितेनान्तरात्मना।
जन्मज्वरक्षयं कृत्वा याति योगी शिवास्पदम् ॥५४०॥

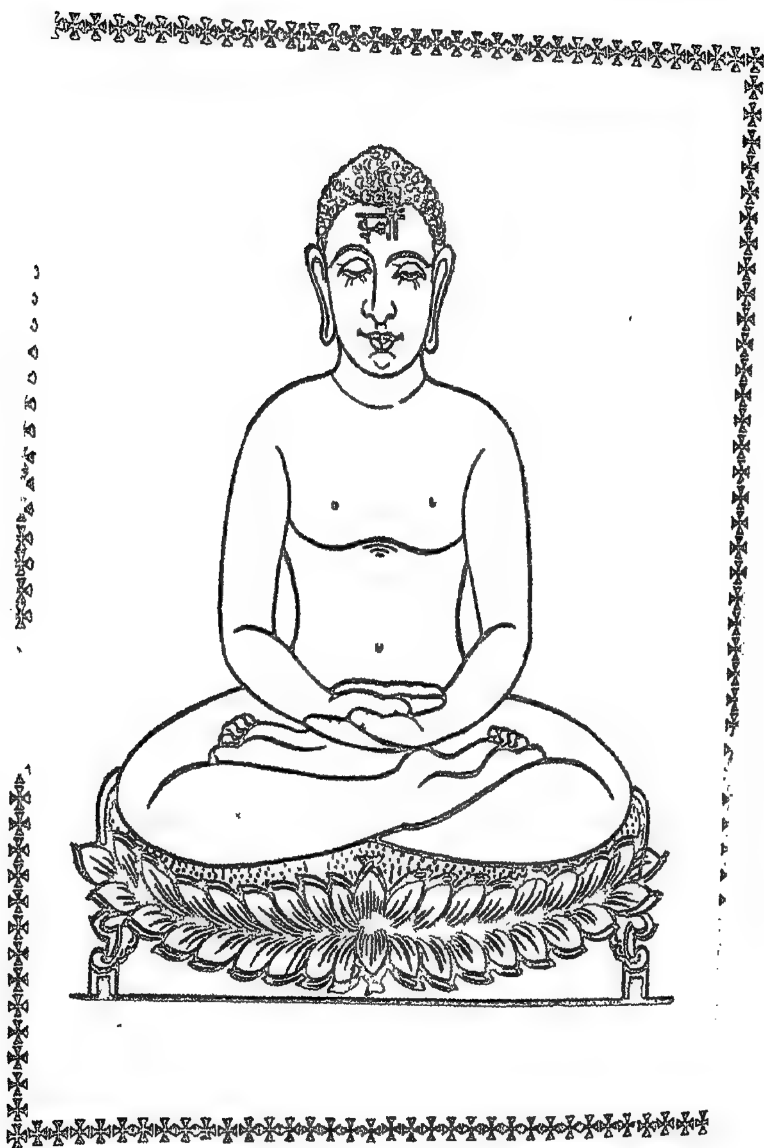
इस विद्या को पूर्वोक्त प्रकार से अपने निश्चल मन से ध्यान करता हुआ ध्यानी योगी संसाररूप ज्वर का क्षय करके मोक्ष स्थान को प्राप्त होता है।

चित्र नं० २३–क देखें।



अष्टाक्षरीविद्या स्वर और मायाबीज का ध्यान

(गो प्र चि. चित्र नं० २३)



क्ष्वीं विद्या का ध्यान

(गो प्र वि चित्र नं० २२(क))



"णमो अरहंताणं" सप्ताक्षरी विद्या

(गो प्र. चि चित्र न० २३ ख)



(जो० प० चि० चित्र — ७१)

सप्ताक्षरीविद्या का स्मरण कैसे करें ?

यदि साक्षात्समुद्विग्नो जन्मदावोग्र संक्रमात् ।
तदा स्मरादि मन्त्रस्य प्राचीनं वर्ण सप्तकम् ॥५४१॥

हे मुने, जो तू ससाररूप अग्नि के तीव्र सक्रम (संयोग) से उद्वेगरूप हुआ है, अर्थात् दुःखी हुआ है तो आदि मत्र जो पच नमस्कार मन्त्र है, उसके पहिले सात अक्षरो का ध्यान कर, वे सात अक्षर 'णमो अरहताण' ये है। चित्र न० २३ ख।

प्रणव, शून्य तथा अनाहत ये तीन अक्षरो को कहां स्थापन कर ध्यान करना चाहिये—

यदत्र प्रणवं शून्यमनाहतमिति त्रयम् ।
एतदेव विदुः प्राज्ञास्त्रैलोक्य तिलकोत्तमम् ॥५४२॥

जो इस प्रकरण मे प्रणव और शून्य तथा अनाहत ये तीन अक्षर है, इन तीनो (ॐ ह अ) अक्षरों को ही बुद्धिमानो ने तीन लोक के तिलक समान कहा है।

नासाग्रदेश संलीनं कुर्वन्नत्यन्त निर्मलम् ।
ध्याता ज्ञानम वाप्नोति प्राप्यपूर्वं गुणाष्टकम् ॥५४३॥

इन तीन अक्षरो को नासिका के अग्र भाग में अत्यन्त लीन करता हुआ, ध्यानी अणिमा महिमादिक आठ ऋद्धियो को प्राप्त होकर तत्पश्चात् अति निर्मल ज्ञान (केवलज्ञान) को प्राप्त होता है।

शङ्खेन्दुकुन्द धवला ध्याता देवास्त्रयो विधानेन ।
जनयन्ति सर्व विषयं बोधं कालेन तद्ध्यानात् ॥५४४॥

पूर्वोक्त ये तीन देव (अक्षर) शख के समान, कुन्द के पुष्प के समान तथा चन्द्रमा समान विधानपूर्वक ध्याये जावे तो इनके ध्यान से कितने ही काल मे समस्त विषयो का ज्ञान करने वाला केवलज्ञान उत्पन्न होता है। चित्र नं० २४।

अंत में है हंसपद जिसके ऐसे प्रणव और मायाबीजों का ध्यान कहां करना चाहिये ?

प्रणव युगलस्य युग्मं पार्श्वे माया युगं विचिन्तयति ।
मूर्द्धस्थं हंस पदं कृत्वा व्यस्तं वितन्द्रात्मा ॥५४५॥

प्रणव युगल कहिये दो ओंकार का युग्म और दोनों तरफ दो माया युगल ह्री ह्री ऐसे और इनके उपरि हस पद रखकर, प्रमाद रहित होकर, ध्यानी भिन्न-भिन्न चितवन करे। वह मत्र 'ह्रो ॐ ॐ ह्री हंसः' ऐसा है।

स्त्रीं, बीज का कहां ध्यान करना चाहिये ?

ततो ध्यायेन्महाबीजं स्त्रीकारं छिन्नमस्तकम् ।
अनाहतयुतं दिव्यं विस्फुरन्तं, मुखोदरे ।।५४६।।

तत्पश्चात् महाबीज जो 'स्त्री' ऐसा अक्षर और छिन्न मस्तक अर्थात् जिस पर बिन्दु, अनुस्वार नहीं हैं, उसको अनाहत सहित दिव्य मुख पर स्फुरायमान होता हुआ चितवन करे। चित्र न० २५।

वर्द्धमान प्रभु के मुख से निकलने वाली कौन विद्या है ?

श्री वीर वदनोद्गीर्णा विद्यां चाचिन्त्यविक्रमाम् ।
कल्पवल्ली मिवाचिन्त्य फल संपादन क्षमाम् ।।५४७।।

और श्री वीर वर्द्धमान भगवान के मुख से निकली हुई विद्या का चितवन करे; कैसी है, वह विद्या ? अचिन्त्य पराक्रम वाली और कल्पवेल के समान अचिन्त्य फल देने में समर्थ है। ऐसी विद्या "ॐ जोग्गे मग्गेतच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे-पक्खे जिरणपारिस्से स्वाहा" तत्पश्चात् ऐसा मत्र है, "ॐ ह्री स्वर्हं नमो नमोऽर्हताण ह्री नमः" ऐसे अक्षर है।

इस विद्या का ध्यान करने से क्या फल मिलता है ?

विद्यां जपति य इमां निरन्तरं शान्त विश्वविस्पन्दः ।
अरिणमादि गुणांल्लब्ध्वा ध्यानी शास्त्रार्णवं तरति ।।५४८।।

जो ध्यानी शान्त वेग निश्चल होकर इस विद्या को निरन्तर जपता है, वह अणिमादिक गुणो को प्राप्त होकर, शास्त्र समुद्र के पार हो जाता है अर्थात् श्रुत केवली होता है।

त्रिकाल विषयं साक्षाज्ज्ञान मस्योपजायते ।
विश्वतत्त्व प्रबोधश्च सतताभ्यासयोगतः ।।५४९।।

इस विद्या का ध्यान करने वाले के निरन्तर अभ्यास करने से समस्त तत्त्वों का ज्ञान और त्रिकाल विषयक साक्षात् ज्ञान कहिये केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

समस्त उपसर्ग हर विद्या के ध्यान का फल—

साम्यन्ति जन्तवः क्रूरास्तथान्ये व्यन्तरादयः ।
ध्यान विध्वंस कर्तारो येन तद्धि प्रपञ्च्यते ।।५५०।।

अब ध्यानी के उपसर्ग करने वाले क्रूर जन्तु तथा ध्यान को नाश करने वाले व्यन्तरादिक जिस ध्यान से उपशमता को प्राप्त होते हैं, उस ध्यान का विस्तार से वर्णन करते है ।

दिग्दलाष्टक सम्पूर्णे राजीवे सुप्रतिष्ठितम् ।
स्मरत्वात्मानमत्यन्त स्फुर द्ग्रीष्मार्क भास्करम् ।।५५१।।

प्रणवाद्यस्य मन्त्रस्य पूर्वादिषु प्रदक्षिणम् ।
विचिन्तयति पत्रेषु वर्णैकैकमनुक्रमात् ।।५५२।।

अधिकृत्य छदं पूर्व सर्वाशासन्मुखः परम् ।
स्मरत्यष्टाक्षरं मन्त्रं सहस्त्रैक शताधिकम् ।।५५३।।

प्रत्यहं प्रतिपत्रेषु महेन्द्रा शाद्यनुक्रमात् ।
अष्ट रात्रं जपेद्योगी प्रसन्नामल मानसः ।।५५४।।

तस्याचिन्त्य प्रभावेण क्रूराशय कलङ्किताः ।
त्यजन्ति जन्तवो दर्पं सिंहत्रस्ता इव द्विपाः ।।५५५।।

आठ दिशा सम्बन्धी आठ पत्रो से पूर्ण कमल मे भले प्रकार स्थापित और अत्यन्त स्फुरायमान ग्रीष्मऋतु के सूर्य के समान देदीप्यमान आत्मा का स्मरण करे । प्रणव है, आदि मे जिसके ऐसे मन्त्र को पूर्वादिक दिशाओ में प्रदक्षिणा रूप एक-एक पत्र पर अनुक्रम से एक-एक अक्षर का चिन्तवन करे । वे अक्षर "ॐ णमो अरहंताण" ये है । इनमे से प्रथम पत्र को मुख्य करके सर्व दिशाओ के सन्मुख होकर इस अष्टाक्षर मत्र को ग्यारह सौ बार चिन्तवन (ध्यान) करे। इस प्रकार प्रतिदिन प्रत्येक पत्र मे पूर्व दिशादिक के अनुक्रम से आठ रात्रि पर्यन्त प्रसन्न होकर जपे । उसके अचिन्त्य प्रभाव से क्रूरचित जीव सिंह से भयभीत होकर जिस प्रकार हाथी गर्व छोड़ देते है, उसी प्रकार अपना गर्व छोड देते हैं ।

प्रणववर्जित सप्ताक्षरी विद्या और उसके ध्यान का फल—

अष्टरात्रे व्यक्तिक्रान्ते कमलस्यास्यवर्त्तिनः ।
निरूपयति पत्रेषु वर्णानिताननुक्रमात् ।।५५६।।

आलम्ब्य प्रक्रियामेना पूर्वं विघ्नौघशान्तये ।
पश्चात्सप्ताक्षरं मन्त्रम् ध्यायेत्प्रणव वर्जितं ।।५५७।।

मन्त्रः प्रणवपूर्वोऽयं निश्शेषाभीष्टसिद्धिदः ।
ऐहिकानेक कामार्थं मुक्त्यर्थं प्रणवच्युतः ।।५५८।।

तत्पश्चात् पूर्वोक्त आठ रात्रियो के व्यतीत होने के पश्चात् इस कमल के पत्रों पर वर्तने वाले अक्षरो को अनुक्रम से निरूपण करके देखे। इस प्रकार इस प्रक्रिया को प्रथम विघ्न के समूह की शान्ति के लिए आलबन करके तत्पश्चात् प्रणववर्जित सात अक्षर स्वरूप "णमो अरहंताण" इस मन्त्र का ध्यान करे। जब इस मन्त्र को प्रणवपूर्वक ध्यावे, तब यह समस्त मनोवाछित सिद्धि का देने वाला है तथा इस लोक सम्वन्धी अनेक कार्यो के लिए है और प्रणववर्जित ध्यान करने से यह मन्त्र मुक्ति का कारण है। (चित्र नं. २६ देखे)

जन्म समूह का नाश करने वाली विद्या का फल—

स्मर मन्त्रपदं वान्यज्जन्मसंघात घातकम् ।
रागाद्युग्रतमस्तोमप्रध्वंसर विमण्डलम् ।।५५९।।

अब कहते है कि हे मुने, तू अन्य एक मन्त्र पद का स्मरण कर, क्योकि वह मन्त्र जन्म समूह को घात करने वाला है और रागादिक रूप तीव्र अधकार को नष्ट करने के लिए सूर्यमण्डल के समान है। वह मन्त्र "श्रीमद्वृषभादि वर्द्धमानान्तेभ्यो नमः" ऐसा है।

पाप भक्षिणि विद्या और उसका प्रभाव—

मनः कृत्वा सुनिष्कम्पं तां विद्यां पापभक्षिणीम् ।
स्मर सत्त्वोपकाराय या जिनेन्द्रैः प्रकीर्तिता ।।५६०।।

तत्पश्चात् हे मुने, तू निश्चल मन से उस पापभक्षिणी विद्या का स्मरण कर, जिसको कि समस्त जीवो के उपकारार्थ श्री जिनेन्द्र भगवान ने कही है। वह विद्या यह है "ॐ अर्हन्मुख कमलवासिनि पापात्मक्षयकरि श्रुतज्ञान ज्वाला सहस्र प्रज्वलिते सरस्वति मत्पाप हन हन दह दह क्षा क्षी क्षूं क्षौं क्षः क्षीरवर धवले अमृतसंभवे व व हूं हूं स्वाहा"। ये पाप भक्षिणी विद्या के अक्षर है।

चेतः प्रसत्तिमाधत्ते पापपङ्कः प्रलीयते ।
आविर्भवति विज्ञानं मुनेरस्याः प्रभावतः ।।५६१।।

इस पापभक्षिणी विद्या के प्रभाव से मुनि का चित्त प्रसन्नता को धारण करता है, पाप रूपी पक प्रलय हो जाता है और विशिष्ट ज्ञान प्रकट होता है।



(गो. प्र. चि. चित्र नं० २६)



सिद्धधारणा

(गो. प्र. चि. चित्र नं० २६)

मुनिभिः संजयन्ताद्यैं विद्या वादात्समुद्धतम् ।
भुक्ति मुक्त : परं धाम सिद्ध चक्राभिधम् स्मरेत् ।।५६२।।
तस्य प्रयोजकम् शास्त्रम् तदाश्रित्योरदेशतः ।
ध्येयम् मुनीश्चरैं जंन्म महाव्यसन शान्तये ।।५६३।।

तत्पश्चात् सिद्धचक्र नामा मत्र को सजयन्तादिक महामुनियों ने विद्यानुवाद नामा दशम पूर्व से उध्दृत किया है, सो यह मन्त्र भोग और मोक्ष का उत्कृष्ट धाम है, इसका ध्यान करे । इस सिद्धचक्र मन्त्र के प्रयोजक शास्त्र का आश्रय लेकर उसके उपदेश से जन्मरूप महाकष्ट की शान्ति के लिए मुनीश्वरों को ध्यान करना चाहिये; इसके अक्षरादिक का विधान उसके प्रयोजक शास्त्र से जानना ।

असि आउसा, विद्या का ध्यान—

स्मर मन्त्र पदाधीशम् मुक्ति मार्ग प्रदीपकम् ।
नाभि पङ्कज संलीन मवर्णं विश्वतोमुखं ।।५६४।।
सिवर्णं मस्तकाम्भोजे साकारं मुखपङ्कजे ।
आकारं कण्ठकञ्जस्थं स्मरोकारं हृदि स्थितम् ।।५६५।।

हे मुने! तू मन्त्र पदो का स्वामी और मुक्ति के मार्ग को प्रकाश करने वाले अकार अक्षर को नाभिकमल मे चिन्तवन कर, यह अक्षर सर्वव्यापी है; और 'सि' अक्षर को मस्तक कमल पर, 'आ' अक्षर को कंठस्थ कमल मे, 'उ' अक्षर को हृदय कमल पर, और 'सा' अक्षर को मुखस्थ कमल पर ऐसे 'अ सि आ उ सा' इन पॉच अक्षरो को पॉच स्थानों पर चिन्तवन कर । (चित्र न. २८ देखे)

सर्व कल्याण बीजानि बीजान्यन्यान्यपि स्मरेत् ।
यान्याराध्य शिवं प्राप्ता योगिनः शीलसागराः ।।५६६।।

सर्व कल्याण के बीज अन्यान्य भी मत्र है, जिनका आराधन करके शील के सागर योगी गण मोक्ष को प्राप्त हुये है, उन सब ही अक्षरो को ध्यानी मुनि चिन्तवन करे । "नम सर्व सिद्धेभ्यः' यह भी एक मन्त्र पद है । (चित्र न. २९ देखें)

श्रुत सिन्धु समुद्भूत मन्यद्वा पदमक्षरम् ।
तत्स मुनिभिर्ध्येयं स्यात्पदस्थ प्रसिद्धये ।।५६७।।

अन्य भी पद या अक्षर जो श्रुत समुद्र द्वादशाग शास्त्र से उत्पन्न हुए है, वे सब ही पदस्थ ध्यान की प्रसिद्धतार्थ होते हैं; उन्हें भी मुनिगुणो को ध्यान गोचर

करना चाहिये।

एवं समस्तवर्णेषु मंत्र विद्या पदेषु च।
काय क्रमेण विश्लेषो लक्ष्य भाव प्रसिद्धये ॥५६८॥

इस प्रकार समस्त अक्षरो मे तथा मन्त्र पद और विद्या पदों में अनुक्रम से लक्ष्य भाव की प्रसिद्धता के लिए भेद करना अर्थात् भिन्न भिन्न चिन्तवन करना चाहिये।

अण्यद्यद्यच्छ्रुत स्कन्ध बीजं निर्वेदकारणं।
तत्तद्धयायन्नसौ ध्यानी नापवर्ग पथि स्खलेत् ॥५६९॥

अन्य जो जो द्वादशांग शास्त्र के बीजाक्षर हैं तथा वैराग्य के कारण है, उन उन मत्रों का ध्यान करता हुआ मुनि मोक्ष मार्ग मे गमन करता हुआ डिगता नही। भावार्थ—जो ज्ञान वैराग्य के कारण मन्त्र, पद वा बीजाक्षर है, वे सब ही मोक्ष मार्ग मे ध्यान करने योग्य (ध्येय) हैं।

ध्येयं स्याद्वीत रागस्य विश्ववर्त्यंथ संचयम्।
तद्धर्मव्यत्यया भावान्माध्यस्थ्यमधितिष्ठतः ॥५७०॥

जो वीतराग है, उसके इस लोक मे प्रवर्त्तने वाले समस्त पदार्थो के समूह ध्येय है, क्योंकि वीतराग उस पदार्थ के स्वरूप मे विपरीतता के अभाव से मध्यस्थता का आश्रय करता है। भावार्थ—वीतराग के ज्ञान में जो ज्ञेय आता है, उसका स्वरूप यथार्थ जानने के कारण उसके इष्ट अनिष्ट ममत्व भाव नही होते, इस कारण उनसे मध्यस्थ भाव रहता है, अर्थात् वीतरागता से नही डिगते।

वीतरागो भवद्योगी यत्किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
तदेव ध्यान माम्नातमतोऽन्यद् ग्रन्थ विस्तरः ॥५७१॥

वीतराग योगी जो कुछ चिन्तवन करे, वही ध्यान है, इस कारण अन्य कहना वह ग्रन्थ का विस्तार मात्र है, वीतराग के सब ही ध्येय है।

वीतरागस्य विज्ञेया ध्यान सिद्धिध्रुवं मुनेः।
क्लेश एव तदर्थं स्याद्रागार्त्तस्येह देहिनः ॥५७२॥

जो मुनि वीतराग है, उसके ध्यान की सिद्धि अवश्य होती है और जो राग से पीड़ित है उसका ध्यान करना क्लेश के लिये ही है अर्थात् रागी के ध्यान की सिद्धि नही होती।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि सर्वथा वीतराग तो सर्व मोह का अभाव होने से होता है, उसके ध्यान करने की इच्छा ही नही होती और जो इच्छा होती है, तो वह वीतराग कैसे हो ? उसका समाधान यह है कि यहा पर राग ससार देह भोग सबन्धी है, उसकी अपेक्षा वीतराग कहा है, ध्यान से राग करने को राग नही कहा जाता, क्योकि ध्यान राग का अभाव करने वाला है; इस राग से भी मुनि के राग नही है, इस कारण वीतराग ही कहा जाता है, परमार्थ अपेक्षा यह एकदेश सर्वदेश का व्यवहार जानना ।

निर्मथ्य श्रुतसिन्धु मुन्नतधियः श्रीवीर चन्द्रोदये ।
तत्त्वान्येव समुद्धरन्ति मुनया यत्नेन रत्नान्यतः ।।
तान्येतानि हृदि स्फुरन्ति सुभगन्यासानि भव्यात्मनां ।
ये वाञ्छन्त्यनिशं विमुक्तिललानासम्भोग संभावनाम् ।।५७३।।

श्री वीर वर्द्धमान स्वामी रूप चन्द्र के उदय होते हुए जो उन्नत बुद्धि मुनि हैं, वे शास्त्र रूपी समुद्र को मथकर सुन्दर है रचना जिनकी ऐसे मत्र रूप तत्त्वों (रत्नो) को निकालते हैं और ये सब मत्र पदरूप रत्न मुक्ति रूपो स्त्री के सभोग की निरतर वांछा करने वाले भव्य पुरुषो के ही हृदय मे स्फुरायमान होते है ।

भावार्थ :—जो मुक्ति चाहने वाले है, वे इन मत्र रूप पदो का अभ्यास करे ।

विलानाशेष कर्माणं स्फुरन्तमति निर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ।।५७४।।

इन मत्र पदो के अभ्यास के पश्चात् विलय हुए हैं । समस्त कर्म जिसमें ऐसे निर्मल स्फुरायमान अपने आत्मा को अपने शरीर मे चिन्तवन (ध्यान) करे ।

भावार्थ :—इन मत्र पदो के अभ्यास से विशुद्धता बढती है और चित्त एकाग्र हो जाने पर शुद्ध स्वरूप का निर्मल प्रतिभास होता है और उस स्वरूप मे उपयोग स्थिरता को प्राप्त होता है तथा सवर होता है और कर्मो की निर्जरा होती है, तथा घाति कर्मो का नाश करके केवल ज्ञान को प्राप्त हो मोक्ष को पाता है ।

इस प्रकार यह मत्र पदो का ध्यान मोक्ष का महान् उपाय है और लौकिक प्रयोजन भी इससे अनेक प्रकार के सिद्ध होते है, अणिमा महिमादिक ऋद्धिया प्राप्त होती है, परन्तु मोक्ष के इच्छुक मुनियो को इनसे कोई प्रयोजन नही है ।

यहाँ कोई पूछे कि गृहस्थ इन मंत्रो का ध्यान करे कि नही ? उसका समाधान यह है कि जैसा ध्यान मुनि के होता है, वैसा गृहस्थ के होता ही नही, परन्तु जो अपनी शक्ति के अनुसार धर्मार्थी होकर ध्यान करे तो शुभ फल की प्राप्ति होती है; लौकिक प्रयोजन विषय कषाय साधने के लिये आकर्षण विद्वेषण उच्चाटन मारण आदि के लिये ध्यान करने का मोक्ष मार्ग मे निषेध किया है।

चित्र नं० ३० का ध्यान।

मैं उस चौकी पर बैठा विचारता हूं कि मेरे नाभि स्थान पर सोलह पत्तो का श्वेत रंग का कमल खिला हुआ है। उस कमल में ह्रीं, माया बीज स्थापन है। वह कमल बहुत विस्तार में फैला है, तथा जो शुद्ध और साफ है। मै अपनी ज्ञान दृष्टि उस पर जमाता हूं ऐसा विचार करे।

चित्र नं० ३१ देखे।

ध्यानी विचार करे की मेरे हृदय में आठ पांखुडी के कमल की रचना है, प्रत्येक पाखुडी पर बारा-बारा विन्दु लगे हुवे है और बारह विन्दु मध्य की कर्णिका पर लगे हुए है। इस प्रकार बिन्दु सहित कमल का विचार करके फिर प्रत्येक पाखुंडी की प्रत्येक बिन्दु पर णमोकार मत्र का जप करे। इस प्रकार चिन्तवन करने से मन की एकाग्रता होती है।

रूपस्थ ध्यान का वर्णन

रूपस्थ ध्यान का स्वरूप—

आर्हंत्य महिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरम्।
ध्यायेद्देवेन्द्र चन्द्रार्कसभान्तस्थं स्वयम्भुवम् ॥५७५॥
सर्वातिशय संपूर्णं सर्वलक्षण लक्षितम्।
सर्वभूत हितं देवं शील शैलेन्द्र शेखरम् ॥५७६॥
सप्त धातु विनिर्मुक्तं मोक्ष लक्ष्मी कटाक्षितम्।
अनन्त महिमा धारं सयोगि परमेश्वर ॥५७७॥
अचिन्त्य चरितं चारु चारित्रैः समुपासितम्।
विचित्र नय निर्णीतं विश्वं विश्वैक बान्धवम् ॥५७८॥
निरुद्ध करण ग्रामं निषिद्ध विषय द्विषम्।
ध्वस्त रागादि सन्तानं भवज्वलन वार्मुचम् ॥५७९॥



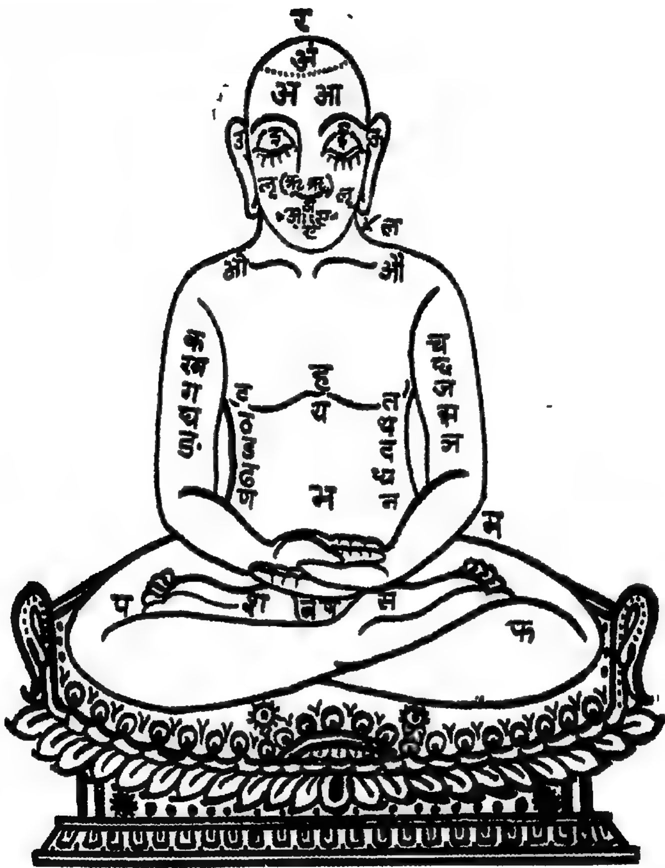
कमलधारणा

(गो प्र चि. चित्र नं० ३०)

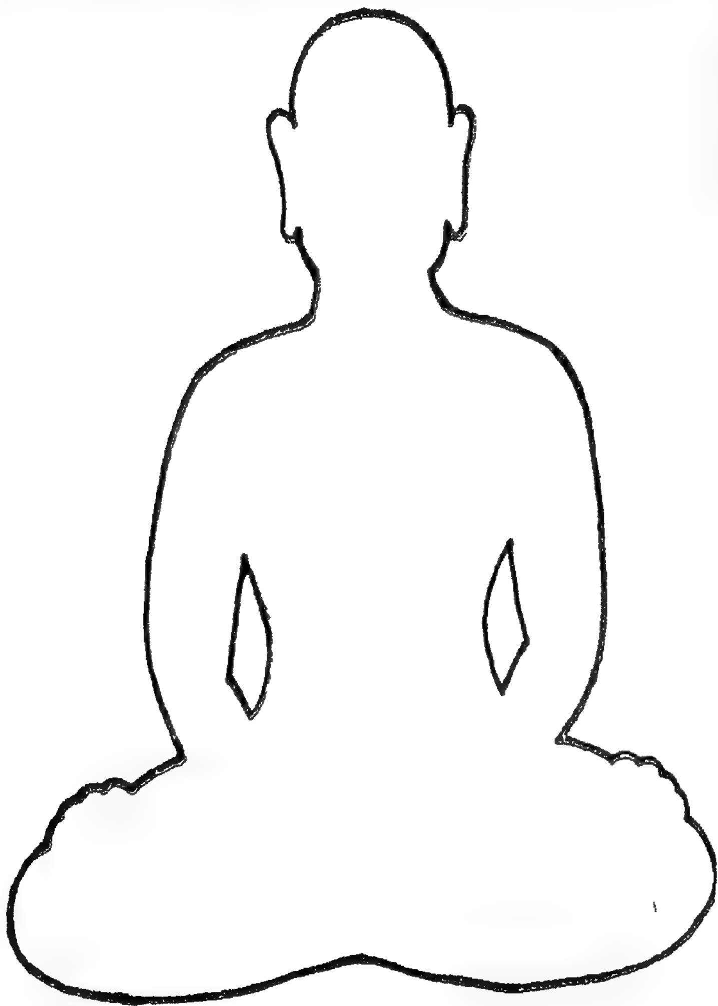


[illegible]

[illegible]



स्वर और व्यंजनों के पहले ॐ ह्रीं लगाकर ध्यान करे
निश्चित ही मन एकाग्र होगा और कर्म निर्जरा होगी
(गो प्र. चि चित्र नं० ३२)



आत्मा द्रव्य कर्म भाव कर्म नो कर्म से रहित
शुद्ध स्वरूप का ध्यान करे
(गो प्र चि चित्र नं० ३३)

दिव्यरूप धरं धीरं विशुद्ध ज्ञान लोचनम् ।
अपित्रिदश योगीन्द्रैः कल्पनातीत वैभवम् ।।५८०।।
स्याद्वाद पविनिर्घातभिन्नान्यमतभूधरम् ।
ज्ञानामृत पयः पूरैः पवित्रितप्तगत्त्रयम् ।।५८१।।
इत्यादि गणनातीत गुण रत्नमहार्णवम् ।
देव देवं स्वयम्बुद्धं स्मराद्यं जिनभास्करम् ।।५८२।।

इस रूपस्थ ध्यान मे अरहन्त भगवान का ध्यान करना चाहिये; जिसमें अरहंत का किस प्रकार का स्वरूप चिन्तवन करना चाहिये सो कहते हैं—अरहन्तता की महिमा जो समवशरणादि की रचना है उस सहित, सर्वज्ञ, परमेश्वर, देवेन्द्र चन्द्रमा सूर्यादि की सभा के मध्य में स्थित, स्वयभु । तथा समस्त अतिशयों से सपूर्ण, सव लक्षणो से लक्षित, तथा जिनसे समस्त जीवों का हित होता है, ऐसे, और शील कहिये उत्तम गुणरूपी पर्वत के शिखर । तथा सप्त धातु से रहित और मोक्ष लक्ष्मी जिनको कटाक्ष पूर्वक देखती है ऐसे, अनन्त महिमा के आधार सयोग केवली, परमेश्वर । तथा अचिन्त्य है चरित जिनका, और सुन्दर चरित्र वाले गणधरादिक मुनिगुणो से सेवनीय तथा अनेक नयों से निर्णय किया है विश्व अर्थात् समस्त वस्तुओ का आकार स्वरूप जगत् जिन्होने ऐसे, और समस्त जगत् के हितू । तथा इन्द्रियो के ग्रामो को रोकने वाले, विषय रूप शत्रुओं को निषेध कर देने वाले तथा रागादिक सन्तान का कर दिया है नाश जिन्होने ऐसे, और ससार रूपी अग्नि के बुझाने को मेघ के समान । तथा दिव्य रुप के धारक, धीर अर्थात् क्षोभ रहित, निर्मल ज्ञान ही जिनके नेत्र है ऐसे, देव और योगीश्वरो की कल्पना से अतीत है विभव जिनका ऐसे । तथा स्याद्वाद रूप वज्र से खड़े है अन्य मत रूपी पर्वत जिन्होने ऐसे, तथा ज्ञान रूप अमृत मय जल के प्रवाहो से पवित्र स्वरूप किया है तीन जगत जिन्होने ऐसे, इनको आदि लेकर गणना से अतीत गुणरूप रत्नो के महासमुद्र, देवो के देव, स्वय बुद्ध, जिनो के सूर्य, ऐसे श्री ऋषभ देव सर्वज्ञ का हे मुने, तू चिन्तवन (ध्यान) कर ।

जन्म मृत्यु जरा क्रान्तं रागादिविष मूर्छितम् ।
सर्वं साधारणं दोषै रष्टादशभिरावृतम् ।।५८३।।
अनेक व्यसनोच्छिष्टं संयम ज्ञान विच्युतम् ।
संज्ञा मात्रेण केचिच्च सर्वज्ञं प्रतिपेदिरे ।।५८४।।

कई अन्यमति जन्म जरा मरण से व्याप्त रागद्वेषादि विष से मूर्छित, सर्व साधारण मनुष्य के समान क्षुधा तृषा आदि १८ दोषो से आच्छादित। तथा अनेक व्यसनों (कष्ट आपदाओं) कर सहित, सयम और ज्ञान से रहित, ऐसे आत्मा को नाम मात्र से सर्वज्ञ मानते है।

इतरोऽपि नरः षड्भिः प्रमाणैं वंस्तु संचयम्।
परिच्छिन्दन्मतः कैश्चित्सर्वज्ञः सोऽपि नेक्ष(ष्य)ते॥५८५॥

तथा कई ने १. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. आगम, ५. अर्थापत्ति और ६ अभाव, इन छः प्रमाणो से वस्तु के समूह को जानते हुए अन्य पुरुष को भी सर्वज्ञ माना है, सो वह भी सर्वज्ञ नही है।

अतः सम्यक्स विज्ञेयः परित्यज्यान्य शासनम्।
युक्त्यागम विभागेन ध्यातु कामैं मंनीषिभिः ॥५८६॥

इस कारण जो सर्वज्ञ भगवान का ध्यान करने के इच्छुक बुद्धिमान् पुरुष है, उनको चाहिये कि अन्य मतो को छोडकर, युक्ति और आगम से निर्णय करके सर्वज्ञ को सम्यक् प्रकार से निश्चय करे।

युक्त्या वृषभ सेनाद्यैं निद्धूयासाधु वल्गितम्।
यस्य सिद्धिः सतां मध्ये लिखिता चन्द्र मण्डले ॥५८७॥

जिस सर्वज्ञ की सिद्धि वृषभसेन आदि गणधर और आचार्यो ने युक्ति से असाधु दुर्जनों के कथन का खंडन करके, सत्पुरुषो के बीच मे निर्मल चन्द्र मण्डल में लिखी है।

अनेक वस्तु संपूर्णं जगद्यस्य चराचरम्।
स्फुरत्य विकलं बोध विशुद्धा दर्शमण्डले ॥५८८॥

स्वभावजमसंदिग्धं निर्दोषं सर्वं दोदितम्।
यस्य विज्ञानमत्यक्षं लोकालोकं विसर्पति ॥५८९॥

यस्य विज्ञान घर्मांशु-प्रभा प्रसर पीडिताः।
क्षणादेव क्षयं यान्ति खद्योता इव दुर्नयाः ॥५९०॥

पाद पीठीकृता शेष त्रिदशेन्द्र सभाजिरम्।
योगिगम्यं जगन्नाथं गुण रत्न महार्णवम् ॥५९१॥

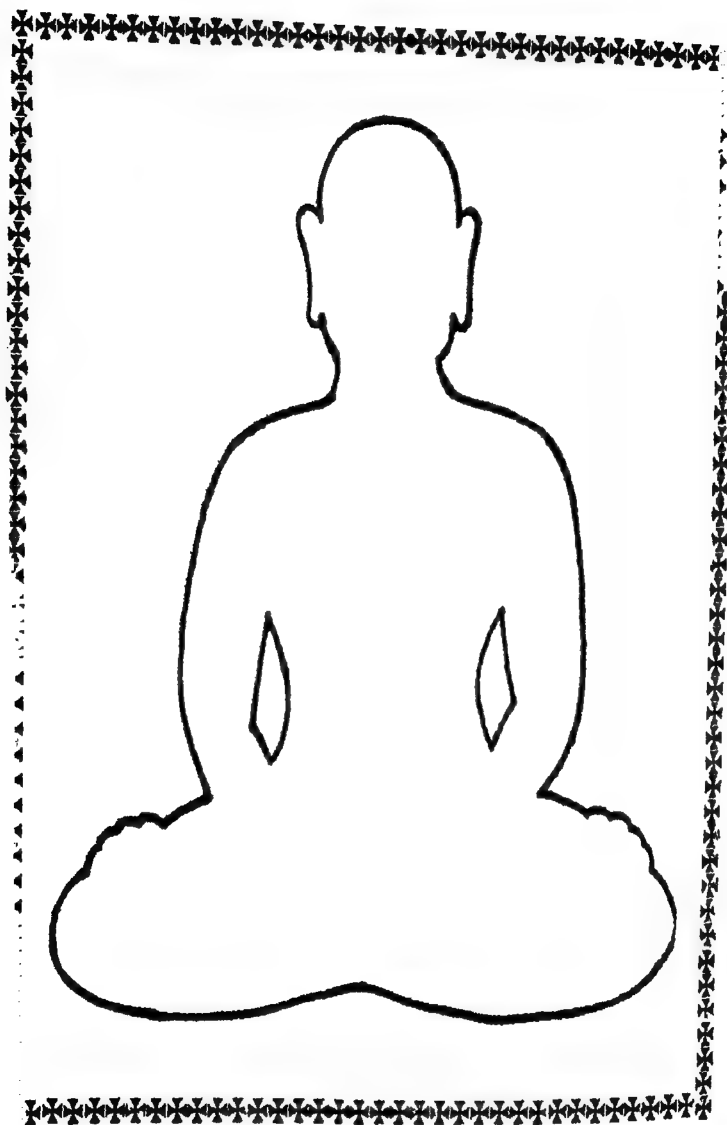
पवित्रित धरा पृष्ठं समुद्धृत जगत्त्रयम् ।
मोक्ष मार्ग प्रणेतारमनन्तं पुण्य शासनम् ॥५९२॥
भामण्डल निरुद्धार्कं चन्द्र कोटि समप्रभम् ।
शरण्यं सर्वगं शान्तं दिव्यवाणी विशारदम् ॥५९३॥
अक्षोरगशकुन्तेशं सर्वाभ्युदय मन्दिरम् ।
दुःखार्णवप तत्सत्त्वदत्त हस्तावलम्बनम् ॥५९४॥
मृगेन्द्रविष्टरारूढं मारमातङ्ग घातकम् ।
इन्दुत्रय समोद्दामच्छत्र त्रय विराजितम् ॥५९५॥
हंसालीपातलीलाढय चामर व्रज वीजितम् ।
वीत तृष्णं जगन्नाथं वरदं विश्व रूपिणम् ॥५९६॥
दिव्य पुष्पानकाशोक राजितं राग वर्जितम् ।
प्रातिहार्य महा लक्ष्मी लक्षितं परमेश्वरम् ॥५९७॥
नव केवल लब्धि श्री संभवं स्वात्मसंभवम् ।
तुर्य ध्यान महावह्नौ हुत कर्मेन्धनोत्करम् ॥५९८॥
रत्नत्रय सुधास्यन्द मन्दीकृत भवभ्रमम् ।
वीतसंगं जितद्वैतं शिवं शान्तं सनातनम् ॥५९९॥
अर्हन्तमजमव्यक्तं कामदं कामनाशकम् ।
पुराण पुरुषं देवं देव देवं जिनेश्वरम् ॥६००॥
विश्वनेत्रं जगद्वन्द्यं योगिनाथं महेश्वरम् ।
ज्योति र्मय मनाद्यन्तं त्रातारं भुवनेश्वरम् ।६०१॥
योगीश्वरं तमीशानमादिदेवं जगद्गुरुम् ।
अनन्तमच्युतं शान्तं भास्वन्तं भूतनायकम् ॥६०२॥
सन्मति सुगतं सिद्धं जगज्ज्येष्ठं पितामहम् ।
महावीरं मुनिश्रेष्ठं पवित्रं परमाक्षरम् ॥६०३॥
सर्वज्ञं सर्वदं सर्वं वर्द्धमानं निरामयम् ।
नित्यमव्ययम व्यक्तं परिपूर्णं पुरातनम् ॥६०४॥
इत्यादि सान्वयानेक पुण्य नामोपलक्षितम् ।
स्मर सर्वगतं देवं वीरममर नायकम् ॥६०५॥

आचार्य महाराज कहते हैं कि हे मुने, तू आगे लिखे हुए प्रकार से सर्वज्ञ देव का स्मरण कर कि जिस सर्वज्ञ देव के ज्ञान रूप निर्मल दर्पण के मडल में अनेक वस्तुओं से भरा हुआ चराचर यह जगत प्रकाशमान है। तथा जिनका ज्ञान स्वभाव से उत्पन्न होता है, सशयादिक रहित निर्दोष है, सदाकाल उदय रुप है, तथा इद्रियो का उल्लघन करके प्रवर्तने वाला है और लोका लोक मे सर्वत्र विस्तरता है। तथा खद्योत (जुगनू) के समान जिसके विज्ञान रुप सूर्य की प्रभा से पीड़ित हुये दुर्नय (एकन्त पक्ष) क्षण मात्र में नष्ट हो जाते है। तथा जिसने समस्त इद्रों की सभा के स्थान को सिहासन रुप किया है तथा योगी गणों से गम्य है, जगत का नाथ है, गुण रुपी रत्नो का महान् समूह है। तथा पवित्र किया है पृथ्वीतल जिसने, तथा उद्धरण किया है तीन जगत का जिसने ऐसा और मोक्ष मार्ग का निरुपण करने वाला है, अनन्त है और जिसका शासन पवित्र है तथा जिसने भामडल से सूर्य को अच्छादित किया है, कोटि चन्द्रमा के समान प्रभा धारक है, जो जीवो को शरण भूत है, सर्वज्ञ जिसके ज्ञान की गति है, शान्त है, दिव्य वाणी मे प्रवीण है। इन इन्द्रिय रूपी सर्पो को गरुड समान है, समस्त अभ्युदय का मदिर है, तथा दु ख रूप समुद्र मे पडते हुए जीवो को हस्तावलबन देने वाला है। तथा सिहासन पर स्थित है, काम रूप हस्ती का घातक है, तथा तीन चन्द्रमा के समान मनोहर तीन छत्र सहित विराजमान है। तथा हस पक्ति के पड़ने की लीलापूर्ण चमरों के समूह से वीजित है, तृष्णा रहित है, जगत का नाथ है, वर का देने वाला और विश्व रूपी है, अर्थात् ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थो के रूप देखने वाला है। तथा दिव्य पुष्पवृष्टि, आनक अर्थात् दु दुभि बाजे तथा अशोक वृक्षो सहित विराजमान है, तथा राग रहित (वीतराग) है, प्रतिहार्य महालक्ष्मी से चिह्नित है, परम ऐश्वर्यंकर के सहित (परमेश्र) है। तथा १. अनंतज्ञान, २. दर्शन, ३. दान, ४ लाभ, ५ भोग, ६. उपभोग, ७. वीर्य, ८. क्षायिक सम्यक्त्व और ९. चरित्र इन नव लब्धि रूपी लक्ष्मी की जिससे उत्पत्ति है, तथा अपने आत्मा से ही उत्पन्न है, और शुक्ल ध्यान रूपी महान अग्नि मे होम दिया है कर्म रूपी इधन का समूह जिसने ऐसा है। तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चरित्र रूप अमृत के झरनो से ससार के खेद को दूर करने वाला है, परिग्रह रहित है, जीत लिया हैं द्वैत भाव जिसने ऐसा है कल्याण स्वरूप, शान्तरूप तथा सनातन अर्थात् नित्य रूप है। तथा अरहन्त है, अजन्मा है, अव्यक्त है अर्थात् इद्रिय गोचर नही है तथा कामद (मनो वांछित दाता) है. काम का नाशक है, पुराण पुरुष है, देव



अर्हन्त का ध्यान

(गो प्र चि चित्र न० ३४)



(गो. प्र. चि. चित्र नं० ३५)

है, देवो का देव है, जिनेश्वर है । तथा समस्त लोक को देखने वा दिखाने को नेत्र समान है जगत के वदने योग्य है, योगियो का नाथ है, महेश्वर है, ज्योतिर्मय (ज्ञान प्रकाश मय) है, आदि अन्त रहित है, सबका रक्षक है, तीन भुवन का ईश्वर है । योगीश्वर है, ईशान है, आदि देव है, जगद् गुरु है, अनन्त है, अच्युत है, शान्त है, तेजस्वी है, भूत-नायक है, सन्मति है, सुगत है, सिद्ध है, जगत् मे ज्येष्ठ है, पितामह है, महावीर है, मुनिश्रेष्ठ है, पवित्र है, परमाक्षर है, सर्वज्ञ है, सबका दाता है, सर्व हितैषी है, वर्द्धमान है, निरामय (रोग रहित) है, नित्य है, अव्यय (नाश रहित) है, अव्यक्त है, परिपूर्ण है, पुरातन है – इत्यादिक अनेक सार्थ पवित्र नाम सहित, सर्वगत, देवों का नायक, सर्वज्ञ जो वीर तीर्थङ्कर है, उसका हे मुने ! तू स्मरण कर ।

इस प्रकार दोष रहित, सर्वज्ञ देव, अरहृत जिनदेव का ही ध्यान करना चाहिये; अन्यमति गुण रहित दोष सहित को सर्वज्ञ कहते है, सो नाममात्र है, कल्पित है, वह सर्वज्ञ ध्यान करने योग्य नही है ।

अनन्यशरणं साक्षात्तत्संलीनैक मानसः ।
तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयतां गतः ।।६०६।।

उपर्युक्त सर्वज्ञदेव का ध्यान करने वाला ध्यानी अन्य शरण से रहित हो साक्षात् उसमे ही संलीन है, मन जिसका ऐसा हो, तन्मयता को पाकर, उसी स्वरूप को प्राप्त होता है ।

यमाराध्य शिवं प्राप्ता योगिनो जन्म निस्पृहाः ।
यं स्मरन्त्यनिशं भव्याः शिवश्री संगमोत्सुकाः ।।६०७।।
यस्य वागमृतस्यैकामासाद्य कणिकामपि ।
शाश्वते पथि तिष्ठन्ति प्राणिनः प्रास्तकल्मषाः ।।६०८।।
देव देवः स ईशानो भव्याम्भोजैक भास्करः ।
ध्येयः सर्वात्मना वीरः निश्चलीकृत्य मानसम् ।।६०९।।

जिस सर्वज्ञदेव का आराधन करके संसार से निःस्पृह मुनिगण मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, तथा मोक्ष लक्ष्मी के सगम में उत्सुक भव्यजीव जिसका निरन्तर ध्यान करते है । तथा जिनके वचनरूपी अमृत की एक कणिका मात्र को पाकर ससारी जीव कल्मष (मिथ्यात्व पापों) को नष्ट करके शाश्वत मोक्षमार्ग मे तिष्ठते है । सो देवो का देव, ईशान, भव्यजीव रूप कमलो को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य समान

ऐसा श्री वीर जिनेन्द्र मन को निश्चल करके ध्यान करने योग्य (ध्येय) है; अन्य कल्पित ध्येय (ध्यान करने योग्य) नही है।

तस्मिन्निरन्तराभ्यास वशात्संजात निश्चलाः।
सर्वावस्थासु पश्यन्ति तमेव परमेष्ठिनम् ।।६१०।।

उस सर्वज्ञदेव के ध्यान में अभ्यास करने के प्रभाव से निश्चल हुए योगीगरण सर्व अवस्थाओ में उसी परमेष्ठी को देखते है।

तदालम्ब्य परं ज्योतिस्तद् गुरण ग्रामरञ्जितः।
अविक्षिप्तमना योगी तत्स्वरूप मुपाश्नुते ।।६११।।

योगी (ध्यानी मुनि) उस सर्वज्ञदेव परम ज्योति का आलबन करके उसके गुरण ग्रामों में रजायमान होता हुआ मन मे विक्षेप रहित होकर उसी स्वरूप को प्राप्त होता है।

इत्थं तद्भावनानन्द सुधास्यन्दाभिनन्दितः।
नहि स्वप्नाद्यवस्थासु ध्यायन्प्रच्यवते मुनिः ।।६१२।।

इस प्रकार उस सर्वज्ञ देव की भावना से उत्पन्न हुए आनन्दरूप अमृत के वेग से आनन्दरूप हुआ मुनि स्वप्नादिक अवस्थाओ में भी ध्यान से च्युत नही होता।

तस्य लोकत्रयैश्वर्यं ज्ञानराज्यं स्वभावजम्।
ज्ञानत्रयजुषां मन्ये योगि नामप्य गोचरम् ।।६१३।।

जो उस सर्वज्ञदेव के तीन लोक का ईश्वरत्व है, स्वभाव से उत्पन्न ज्ञान का राज्य है, वह मति श्रुत अवधि इन तीन ज्ञान सहित योगी मुनियो के भी अगोचर है, ऐसा मैं मानता हूं।

साक्षान्निर्विषयं कृत्वा साक्षं चेतः सुसंयमी।
नियोजयत्य विश्रान्तं तस्मिन्नेव जगद्गुरौ ।।६१४।।

यद्यपि सर्वज्ञ देव का रूप छद्मस्थ ज्ञानी के अगोचर है तथापि इन्द्रिय और मन को अन्य विषयों से हटाकर सुसंयमी मुनि निरन्तर साक्षात् उसी भगवान् के स्वरूप मे अपने मन को लगाता है।

तद्गुणग्राम संलीन मानसस्तद्गताशयः।
तद्भाव भावितो योगी तन्मयत्वं प्रपद्यते ।।६१५।।

उस परमात्मा मे मन लगावे तब उसके ही गुणो में लीन चित्त होकर उसमें

ही चित्त को प्रवेश कराके उसी भाव से भावित योगी मुनि उसी की तन्मयता को प्राप्त होता है।

यदाभ्यासवशात्तस्य तन्मयत्वं प्रजायते ।
तदात्मानमसौ ज्ञानी सर्वज्ञीभूत मीक्षते ।।६१६।।

जब अभ्यास के वश से उस मुनि के उस सर्वज्ञ के स्वरूप से तन्मयता उत्पन्न होती है, उस समय वह मुनि अपने असर्वज्ञ आत्मा को सर्वज्ञ स्वरूप देखता है।

एष देवः स सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपतां गतः ।
तस्मात्स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ।।६१७।।

जिस समय सर्वज्ञ स्वरूप अपने को देखता है, उस समय ऐसा मानता है कि यह वही सर्वज्ञदेव है, वही तत्स्वरूपता को प्राप्त हुआ मैं हूं, इस कारण वही सर्व का देखने वाला मैं हू, अन्य मैं नही हूं, ऐसा मानता है।

येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ।।६१८।।

जिस-जिस भाव से यह यंत्र वाहक (जीव) जुडता है, उस-उस भाव से तन्मयता को प्राप्त होता है, जैसे निर्मल स्फटिक मणि जिस वर्ण से युक्त होता है, वैसा ही वर्ण स्वरूप हो जाता है।

भव्यतैव हि भूतानां साक्षान्मुक्ते निबन्धनम् ।
अतः सर्वज्ञता भव्ये भवन्ती नात्र शङ्क्यते ।।६१९।।

अथवा इस प्रकार है कि जीवों के भव्यत्व भाव है सो साक्षात् मुक्ति का कारण है, इस कारण भव्य प्राणी मे सर्वज्ञता होने में सदेह नही करना अर्थात् भव्य के निःसदेह सर्वज्ञता होती ही है।

अयमात्मा स्वसामर्थ्या द्विशुद्धयति न केवलम् ।
चालयत्यपि संक्रुद्धो भुवनानि चतुर्दश ।।६२०।।

यह आत्मा अपने सामर्थ्य से केवल विशुद्ध ही नही होता है, किन्तु जो क्रोध-रूप होता है तो चौदह भुवनो को (लोको को) भी चला देता है। भावार्थ-आत्मा की अचिन्त्य सामर्थ्य है कि जो आप सर्वज्ञ के ध्यान से तन्मय होता है तो सर्वज्ञ हो जाता है और किसी समय यदि क्रोध से तन्मय हो जाय तो चौदह भुवनो को चला देता है।

त्रैलोक्यनन्दबीजं जनन जलनिधेर्यान पात्रं पवित्रं,
लोकालोक प्रदीपं स्फुरद मलशरच्चन्द्र कोटि प्रभाढयम् ।
कस्यामप्यग्र कोटौ जगदखिलमतिक्रम्य लब्धप्रतिष्ठं,
देवं विश्वैकनाथ शिवमजमनघं वीतरागं भजस्व ॥६२१॥

हे मुने, तू वीतराग देव का ही ध्यान कर; कैसे हैं, वीतराग भगवान ? तीनों लोकों के जीवों को आनन्द के कारण है, संसाररूप समुद्र के पार होने के लिये जहाज तुल्य है तथा पवित्र, अर्थात् द्रव्यभाव मल से रहित है तथा लोक-अलोक के प्रकाश करने के लिये दीपक के समान है और प्रकाशमान तथा निर्मल ऐसे जो करोड शरद के चन्द्रमा उनकी प्रभा से अधिक प्रभा के धारक हैं तथा किसी मुख्य कोटि में समस्त जगत का उल्लघन कर पाई है, प्रतिष्ठा जिन्होने ऐसे हैं जगत के अद्वितीय नाथ है, शिवस्वरूप है, अजन्मा है, पापरहित है, ऐसे वीतराग भगवान का ध्यान करो ।

इस प्रकार रूपस्थ ध्यान का वर्णन किया । इसमे अरहन्त सर्वज्ञ सर्व अतिशयों से पूर्ण का ध्यान करना कहा है; उसी के अभ्यास से तन्मय होकर, उसके समान अपने आत्मा को ध्यावना, जिससे वैसा ही हो जाता है, इस प्रकार वर्णन किया ।

* रूपातीत ध्यान का वर्णन *

रूपातीत ध्यान किस प्रकार किया जाय ?

वीतरागं स्मरन्योगी वीतरागो विमुच्यते ।
रागी सराग मालम्ब्य क्रूरकर्माश्रितो भवेत् ॥६२२॥

ध्यान करने वाला योगी वीतराग का ध्यान करता हुआ वीतराग होकर कर्मों से छूट जाता है और रागी का अलम्बन करके ध्यान करने से रागी होकर क्रूर कर्मों के आश्रित हो जाता है, अर्थात् अशुभ कर्मो से बध जाता है ।

मन्त्र मण्डल मुद्रादि प्रयोगैर्ध्यातुमुद्यतः ।
सुरासुरनरव्रातं क्षोभयत्यखिलं क्षरणात् ॥६२३॥

यदि ध्यानी मुनि मन्त्र, मंडल, मुद्रादि प्रयोगो से ध्यान करने मे उद्यत हो तो समस्त सुर, असुर और मनुष्यों के समूह को क्षरण मात्र मे क्षोभित कर सकता है ।

क्रुद्धस्याप्यस्य सामर्थ्यमचिन्त्यं त्रिदशैरपि ।
अनेक विक्रिया सार ध्यान मार्गावलम्बिनः ॥६२४॥

अनेक प्रकार की विक्रिया रूप असार ध्यान मार्ग का अवलम्बन करने वाले क्रोधी के भी ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, कि जिसका देव भी चिन्तवन नही कर सकते ।

बहूनि कर्माणि मुनिप्रवीरै विद्यानुवादात्प्रकटी कृतानि ।
असंख्य भेदानि कुतूहलार्थं कुमार्गकुध्यानगतानि सन्ति ।।६२५।।

ज्ञानी मुनियो ने विद्यानुवाद पूर्व से असख्य भेद वाले अनेक प्रकार के विद्वेषण उच्चाटन आदि कर्म कौतूहल के लिये प्रकट किये है, परन्तु वे सब कुमार्ग और कुध्यान के अन्तर्गत है ।

असावनन्त प्रथितप्रभावः स्वभावतो यद्यपि यन्त्रनाथः ।
नियुज्यमानः स पुनः समाधौ करोति विश्वं चरणाग्रलीनम् ।।६२६।।

यद्यपि यह आत्मा स्वभाव से ही अनन्त और जगत्प्रसिद्ध प्रभाव का धारक है, फिर समाधि (ध्यान) मे जोडा हुआ तो यह समस्त जगत को अपने चरणों में लीन कर लेता है ।

स्वप्नेऽपि कौतुकेनापि नासद्ध्यानानि योगिभिः ।
सेव्यानि यान्ति बीजत्वं यतः सन्मार्गहानये ।।६२७।।

परन्तु योगी मुनियो को चाहिये कि असमीचीन ध्यानो को कौतुक से स्वप्न मे भी न विचारे, क्योकि असमीचीन ध्यान सन्मार्ग की हानि के लिये बीज स्वरूप (कारण) है ।भावार्थ-खोटे ध्यान से खोटा मार्ग ही चलता है, इस कारण मुनि जनों को बुरा ध्यान कदापि नही करना चाहिये ।

सन्मार्गात्प्रच्युतं चेतः पुनर्वर्षशतैरपि ।
शक्यते न हि केनापि व्यवस्थापयितुं पथि ।।६२८।।

खोटे ध्यान के कारण सन्मार्ग से विचलित हुए चित्त को फिर सैकड़ों वर्षो मे भी कोई सन्मार्ग में लाने को समर्थ नही हो सकता, इस कारण खोटा ध्यान कदापि नही करना चाहिये ।

असद्ध्यानानि जायन्ते स्वनाशायैव केवलम् ।
रागाद्यसद्ग्रहावेशात्कौतुकेन कृतान्यपि ।।६२९।।

असमीचीन (खोटे) ध्यान कौतुक मात्र से किये हुये भी रागादि रूप खोटे ग्रहो के आवेश से केवल अपने नाश के लिये ही होते हैं ।

निर्भरानन्द सन्दोहपद संपादन क्षमम् ।
मुक्ति मार्ग मतिक्रम्य कः कुमार्गे प्रवर्त्तते ॥६३०॥

इस कारण अतिशय रूप आनन्द के समूह के स्थान को उत्पन्न करने में समर्थ ऐसे मोक्ष मार्ग (समीचीन ध्यान) को छोडकर ऐसा कौन है जो कुमार्ग (खोटे ध्यान) में प्रवृत्ति करे, ज्ञानवान् तो कदापि नही करे ।

क्षुद्रध्यान पर प्रपञ्च चतुरा रागानलोद्दीपिताः,
मुद्रामण्डल यन्त्र मन्त्र करणैराराधयन्त्यादृताः ।
काम क्रोध वशीकृतानिह सुरान् संसार सौख्यार्थिनो,
दुष्टाशाभिहताः पतन्ति नरके भोगार्तिभिर्वञ्चिताः ॥६३१॥

जो पुरुप खोटे ध्यान के उत्कृष्ट प्रपञ्चो को विस्तार करने में चतुर है, वे इस लोक मे राग रूप अग्नि से प्रज्वलित होकर मुद्रा, मंडल, यंत्र, मत्र आदि साधनो के द्वारा काम, क्रोध से वशीभूत कुदेवो का आदर से आराधन करते है सो सांसारिक सुख के चाहने वाले और दुष्ट आशा से पीडित तथा भोगो की पीड़ा से वंचित होकर वे नरक में पड़ते है, इस कारण कहते है कि—

तद्धयेयं तदनुष्ठेयं तद्विचिन्त्यं मनीषिभिः ।
यज्जीव कर्म सम्बन्ध विश्लेषायैव जायते ॥६३२॥

वही बुद्धिमानों को ध्यान करने योग्य है और वही अनुष्ठान व चिन्तवन करने योग्य है, जो कि जीव और कर्मो के सम्बन्ध को दूर करने वाला हो, अर्थात् जिस कार्य से कर्मो से मोक्ष हो, वही कार्य करना योग्य है ।

स्वयमेव हि सिद्धयन्ति सिद्धयः शान्तचेतसाम् ।
अनेक फल सम्पूर्णा मुक्ति मार्गावलम्बिनाम् ॥६३३॥

जो मुनि शान्त चित्त है और मुक्ति मार्ग का अवलम्बन करने वाले है, उनके अनेक प्रकार के फलो से भरी हुई सिद्धियां स्वयमेव सिद्ध हो जाती हैं । भावार्थ समीचीन ध्यान से नानाप्रकार की ऋद्धिया बिना चाहे ही सिद्ध हो जाती है; फिर खोटे आशय से खोटे ध्यान करने से क्या लाभ है ?

संभवन्ति न चाभीष्ट सिद्धयः क्षुद्रयोगीनाम् ।
भवत्येव पुनस्तेषां स्वार्थ भ्रंशोऽनिवारितः ॥६३४॥

जो खोटे ध्यान करने वाले क्षुद्र योगी है, उनको इष्ट सिद्धियां कदापि नही होती, किन्तु उनके उलटी स्वार्थ की अनिवार्य हानि ही होती है ।

भवप्रभव सम्बन्ध निरपेक्षा मुमुक्षवः ।

न हि स्वप्नेऽपि विक्षिप्तं मनः कुर्वन्ति योगिनः ।।६३५।।

जो मोक्षाभिलाषी योगीश्वर मुनि है, वे जिससे ससार की उत्पत्ति हो ऐसे सम्बन्धो से निरपेक्ष रहते है, वे अपने मन को स्वप्न मे भी चलयमान नही करते है । भावार्थ—उनको किसी प्रकार की ऋद्धि प्राप्त हो, कोई देवता आकर उनकी महिमा करे तथा किसी को ऋद्धिवान् देखे तो भी वे मोक्ष मार्ग से कदापि अपने मन को च्युत नही करते हैं ।

रूपातीत ध्यान कैसे किया जाय ?

अथ रूपे स्थिरीभूत चित्तः प्रक्षीणविभ्रमः ।

अमूर्त्तमजमव्यक्तं ध्यातुं प्रक्रमते ततः ।।६३६।।

इसके पश्चात् रूपस्थ ध्यान में स्थिरीभूत है, चित्त जिसका तथा नष्ट हो गये है विभ्रम जिसके, ऐसा ध्यानी अमूर्त्त, अजन्मा, इन्द्रियो से अगोचर ऐसे परमात्मा के ध्यान का प्रारम्भ करता है ।

चिदानन्दमयं शुद्धममूर्त्तं परमाक्षरम् ।

स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीत मिष्यते ।।६३७।।

जिस ध्यान मे ध्यानी मुनि चिदानन्दमय, शुद्ध, अमूर्त्त, परमाक्षर रूप आत्मा को आत्मा से ही स्मरण करे, अर्थात् ध्यावे सो रूपातीत ध्यान माना गया है ।

वदन्ति योगिनो ध्यान चित्तमेवमनाकुलम् ।

कथं शिवत्वमापन्नमात्मानं संस्मरेन्मुनिः ।।६३८।।

योगीश्वर चित्त के आकुलता रहित होने अर्थात् क्षोभरहित होने को ही ध्यान कहते हैं; तो कोई मुनि मोक्ष प्राप्त आत्मा का स्मरण कैसे करे ? भावार्थ—जब ध्येय और ध्यानी पृथक्-पृथक् है तो चित्त को क्षोभ अवश्य होगा ।

विवेच्य तद्गुणग्रामं तत्स्वरूपं निरूप्य च ।

अनन्यशरणो ज्ञानी तस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ।।६३९।।

प्रथम तो उस परमात्मा के गुण समूहो को पृथक्-पृथक् विचारे और फिर उन गुणों के समुदाय रूप परमात्मा को गुण गुणी के अभिन्न भाव से विचारे और

फिर किसी अन्य के शरण से रहित होकर ज्ञानी पुरुष उसी परमात्मा में लीन हो जावे। भावार्थ – इस ध्यान में प्रथम तो गुण और गुणी का पृथक् रूप से विचार है, परन्तु अन्त में परमात्मा मे लीन होने से ध्येय और ध्यानी पृथक् रूप न रहेगे।

तद्गुण ग्राम सम्पूर्णं तत्स्वभावैकभावितः।

कृत्वात्मानं ततो ध्यानी योजयेत्परमात्मनि ॥६४०॥

परमात्मा के स्वभाव से एक रूप भावित्त अर्थात् मिला हुआ ध्यानीमुनि उस परमात्मा के गुण समूहों से पूर्णरूप अपने आत्मा को करके फिर उसे परमात्मा मे योजन करे, ऐसा विवान है।

द्वयोर्गुणैर्मतं साम्यं व्यक्ति शक्ति व्यपेक्षया।

विशुद्धेतरयोः स्वात्मतत्त्वयोः परमागमे ॥६४१॥

परमागम में विशुद्ध अर्थात् कर्म रहित और उससे इतर अर्थात् कर्म सहित इन दोनों स्वात्मतत्त्वो में शक्ति और व्यक्ति की अपेक्षा से गुणो से समानता मानी है। भावार्थ – जब शक्ति और व्यक्ति को भिन्न-भिन्न मानते है, तब तो कर्म रहित विशुद्ध आत्मा व्यक्तिरूप से परमात्मा है और कर्म सहित आत्मा शक्तिरूप से परमात्मा है; और यदि शक्ति और व्यक्ति को अभिन्न मानते है तो दोनों ही समान है।

यः प्रमाणनयैर्नूनं स्वतत्त्वमवबुद्धयते।

बुद्धयते परमात्मानं स योगी वीतविभ्रमः ॥६४२॥

जो मुनि प्रमाण और नयों के द्वारा अपने आत्मतत्त्व को जानता है, वही योगी विना किसी सन्देह के परमात्मा को जानता है। भावार्थ – जब तक प्रमाण और नयों का स्वरूप तथा इनके द्वारा आत्मा का स्वरूप न जाना जायगा तब तक कर्म सहित ही आत्मा शक्ति की अपेक्षा से कर्म रहित है, वह विरोध भी दूर न हो सकेगा; इन दोनों का विरोध दूर करने वाला स्याद्वाद है; इसलिए स्याद्वाद को समझ कर फिर यदि इन दोनों का विचार करते है, तो कोई विरोध नही रहता और न भ्रम ही रहता है।

अब कर्म रहित परमात्मा का स्वरूप कहते हैं कि जिसके द्वारा यह योगी अपने आत्मा कों रूपातीत ध्यान में चिन्तवन करे—

कर्मरहित परमात्मा का ध्यान कैसे किया जाय ?

व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम् ।
चरमाङ्गात्कियन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ।।६४३।।
लोकाग्रशिखरासीनं शिवीभूतमनामयम् ।
पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्त्तं च चिन्तयेत ।।६४४।।

आकाश के आकार अर्थात् अमूर्त, अनाकार अर्थात् पुद्गल के आकार से रहित, निष्पन्न अर्थात् फिर जिसमें किसी प्रकार की हीनाधिकता न हो, शान्त अर्थात् क्षोभ रहित, अच्युत अर्थात् जो अपने रूप से कभी च्युत न हो, चरम शरीर से किंचित् न्यून अर्थात् जिस शरीर से मोक्ष हुआ है, उस शरीर से नासिकादि रन्ध्र प्रदेशो से हीन, अपने घनीभूत प्रदेशो से स्थित तथा लोकाकाश के अग्रभाग मे स्थित, शिवीभूत अर्थात् पहिले अकल्याण रूप से अब कल्याण रूप हुए ऐसे, अनामय अर्थात् रोगादिक से सर्वथा रहित और पुरुषाकार को प्राप्त होकर भी अमूर्त अर्थात् आकार तो पुरुष का है, परन्तु तो भी उसमें रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादिक नही है, ऐसे परमात्मा का ध्यान इस रूपातीत ध्यान मे करे ।

निष्कलस्य विशुद्धस्य निष्पन्नस्य जगद्गुरोः ।
चिदानन्दमयस्योच्चैः कथं स्यात्पुरुषाकृतिः ।।६४५।।

जो परमात्मा निष्कल अर्थात् देह रहित है, विशुद्ध अर्थात् द्रव्यभाव रूप दोनों मलो से रहित है, निष्पन्न अर्थात् जिसमे कुछ हीनाधिकता होने वाली नही हैं, जो जगत का गुरु है और जो चिदानन्द स्वरूप अर्थात् चैतन्य और आनन्द स्वरूप है, महान् है, ऐसे परमात्मा के पुरुषाकृति अर्थात् पुरुष का आकार कैसे हो सकता है ?

विनिर्गतमधूच्छिष्ट प्रतिमे मूषिकोदरे ।
यादृग्गगन संस्थानं तदाकारं स्मरेद्विभुम् ।।६४६।।

जिससे मोम निकल गया है, ऐसी मूषिका के उदर में जैसा आकाश का आकार है, तदाकार परमात्मा प्रभु का ध्यान करे ।

इसका दृष्टान्त क्या है ?

सर्वावयवसम्पूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
विशुद्धादर्शसङ्क्रान्त प्रतिबिम्ब समप्रभम् ।।६४७।।

समस्त अवयवो से पूर्ण और समस्त लक्षणो से लक्षित ऐसे निर्मल दर्पण में पड़ते हुए प्रतिबिम्ब के समान प्रभा वाले परमात्मा का चिन्तवन करे ।

भावार्थ—जैसे निर्मल दर्पण मे पुरुष के समस्त अवयव और लक्षण दिखाई पड़ते है, उसी तरह परमात्मा के प्रदेश शरीर के अवयव रूप परिणत है और उनमें समस्त लक्षणों की तरह समस्त गुण रहते है।

इत्यसौ सन्तताभ्यासवशात्संजातनिश्चयः।
अपि स्वप्नाद्यवस्थासु तमेवाध्यक्ष मीक्षते ॥६४८॥

इस प्रकार जिसके निरन्तर अभ्यास के वश से निश्चय हो गया है, ऐसा ध्यानी स्वप्नादिक अवस्था में भी उसी परमात्मा को प्रत्यक्ष देखता है। भावार्थ—दृढ अभ्यास से स्वप्नादिक में भी परमात्मा ही दिखाई पड़ता है।

सोऽहं सकल वित्सार्वः सिद्धः साध्यो भवच्युतः।
परमात्मा परं ज्योति विश्वदर्शी निरञ्जनः ॥६४६॥
तदासौ निश्चलोऽमूर्तो निष्कलङ्को जगद्गुरुः।
चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यात् विवर्जितः ॥६५०॥

पूर्वोक्त प्रकार से जब परमात्मा का निश्चय हो जाता है और दृढ़ अभ्यास से उसका प्रत्यक्ष होने लगता है, उस समय परमात्मा का चिन्तवन इस प्रकार करे कि ऐसा परमात्मा मैं ही हूं, मैं ही सर्वज्ञ हूं, सर्व व्यापक हूँ, सिद्ध हूं, तथा मैं ही साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य था, ससार से रहित परमात्मा, परम ज्योति स्वरूप, समस्त विश्व का देखने वाला मैं ही हूं, मैं ही निरञ्जन हूं, ऐसा परमात्मा का ध्यान करे; उस समय अपना स्वरूप निश्चल, अमूर्त्त अर्थात् शरीर रहित, निष्कलङ्क, जगत् का गुरु, चैतन्य मात्र और ध्यान तथा ध्याता के भेद रहित ऐसा अतिशय स्फुरायमान होता है।

पृथग्भावमतिक्रम तथैक्यं परमात्मनि।
प्राप्नोति स मुनिः साक्षाद्यथान्यत्वं न बुध्यते ॥६५१॥

यह मुनि जिस समय पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मा का ध्यान करता है, उस समय परमात्मा मे पृथक् भाव अर्थात् अलगपने का उल्लघन करके साक्षात् एकता को इस तरह प्राप्त हो जाता है कि जिससे पृथक्पने का बिल्कुल भान नही होता। भावार्थ – उस समय ध्याता और ध्येय में द्वैत भाव नही रहता।

निष्कलः परमात्माहं लोकालोकावभासकः।
विश्वव्यापी स्वभावस्थो निकार परिर्वाजतः ॥६५२॥

निष्कल अर्थात् लोक और अलोक को देखने और जानने वाला, विश्व में व्यापक, स्वभाव मे स्थिर, समस्त विकारो से रहित ऐसा परमात्मा मै हूँ ऐसा अन्य ग्रन्थो मे भी अभेद भाव दिखाया है ।

इति विगत विकल्पं क्षीणरागादि दोषं,
विदितसकल वेद्यं व्यक्तविश्व प्रपञ्चम् ।
शिवमजनवद्यं विश्व लोकैकनाथं,
परमपुरुषमुच्चै र्भावशुद्धया भजस्व ॥६५३॥

यहाँ आचार्य विशेष उपदेश रूप प्रेरणा करते है कि हे मुने, इस प्रकार जिसके समस्त विकल्प दूर हो गए है, जिसके रागादिक सब दोष क्षीण हो गए है, जो जानने योग्य समस्त पदार्थो का जानने वाला है, जिसने ससार के समस्त प्रपञ्च छोड़ दिये है, जो शिव अर्थात् कल्याण स्वरूप अथवा मोक्ष स्वरूप है, जो अज अर्थात् जिसको आगे जन्म मरण नही करना है, जो अनवद्य अर्थात् पापों से रहित है तथा जो समस्त लोक का एक अद्वितीय नाथ है, ऐसे परम पुरुष परमात्मा को भावों की शुद्धतापूर्वक अतिशय करके भज । भावार्थ – शुद्ध भावो से ऐसे परम पुरुष परमात्मा का ध्यान कर ।

इस प्रकार रूपातीत ध्यान का निरूपण किया; इसका सक्षेप भावार्थ यह है कि जब ध्यानी सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान का अभ्यास करके शक्ति की अपेक्षा से आपको भी उनके समान जानकर और आपको उनके समान व्यक्तरूप करने के लिये उस (आप) मे लीन होता है, तब आप कर्म का नाश कर व्यक्त रूप सिद्ध परमेष्ठी होता है ।

❋ धर्मध्यान का फल वर्णन ❋

धर्मध्यान का विशेष फल—

प्रसीद शान्ति व्रज सन्निरुद्धयतां दुरन्तजन्मज्वर जिह्मितं मनः ।
अगाधजन्मार्णवपारवर्त्तिनां यदि श्रियं वाञ्छसि विश्व दर्शिनाम् ॥६५४॥

हे आत्मन् यदि तू अगाध ससाररूपी समुद्र के पारवर्त्ती और समस्त लोका-लोक के देखने वाले ऐसे अरहन्त और सिद्ध भगवान् की लक्ष्मी की इच्छा करता है तो प्रसन्न हो, शान्तता धारण कर और दुरन्त संसाररूप ज्वर के मूर्छित मन को वश कर ।

भावार्थ – आचार्य का उपदेश है कि यदि तू ध्यान करना चाहता है तो प्रथम ही अपने मन को वश में कर और शान्तभाव धारण कर।

यदि रोद्धुं न शक्नोति तुच्छवीर्यो मुनिर्मनः।
तदा रागेतरध्वंसं कृत्वा कुर्यात्सुनिश्चलम् ॥६५५॥

और तुच्छवीर्य मुनि अर्थात् सामर्थ्यहीन मुनि यदि अपने मन को वश नही कर सके तो रागद्वेष का नाश करके मन को निश्चल करे। भावार्थ – मन को रागद्वेप-रूप परिणत न होने दे।

अनुप्रेक्षाश्च धर्मस्य स्युः सदैव निबन्धनम्।
चित्तं भूमौ स्थिरीकृत्य स्व स्वरूपं निरूपय ॥६५६॥

हे मुने! अनित्य अशरणादिक बारह अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्यादिक का चिन्तवन करना सदा धर्म ध्यान का कारण है; इसलिये अपनी चित्तरूपी भूमि में उन अनुप्रेक्षाओं को स्थिर करके अपने स्वरूप का अवलोकन कर। भावार्थ – यदि तेरा चित्त स्थिर न होता हो तो बारह भावनाओं का चिन्तवन कर, ये भावनाये धर्म-ध्यान में कारण हैं।

स्फोटयत्याशु निष्कम्पो यथा दीपोघनं तमः।
तथा कर्मकलङ्कौघं मुनेर्ध्यानं सुनिश्चलम् ॥६५७॥

जैसे निष्कम्प अर्थात् अचल दीपक सघन अन्धकार को शीघ्र ही दूर कर देता है; उसी तरह मुनि का निश्चल ध्यान भी कर्मकलंक के समूह को शीघ्र ही नाश करता है। भावार्थ – कर्म के नाश करने के लिये ध्यान करना ही चाहिये।

चलत्येवाल्प सत्त्वानां क्रियमाणमपि स्थिरम्।
चेतः शरीरिणां शश्वद्विषयैर्व्याकुली कृतम् ॥६५८॥

न स्वामित्वमतः शुक्ले विद्यतेऽत्यल्पचेतसाम्।
आद्यसंहननस्यैव तत्प्रणीतं पुरातनैः ॥६५९॥

छिन्ने भिन्ने हते दग्धे स्वमिव दूरगम्।
प्रपश्यन् वर्षवातादि दुःखैरपि न कम्पते ॥६६०॥

न पश्यति तदा किञ्चन्न शृणोति न जिघ्रति।
स्पृष्टं किञ्चिन्न जानाति साक्षान्निर्वृ त्त लेपवत् ॥६६१॥

अल्पवीर्य अर्थात् सामर्थ्यहीन प्राणियों का मन स्थिर करते हुए भी निरन्तर विषयो से व्याकुल होता हुआ चलायमान होता ही है; इसलिये अतिशय अल्प चित्त वालो का शूक्लध्यान करने मे अधिकार नही है; प्राचीन मुनियों ने पहिले के (वज्र-वृषभनाराच) सहनन के ही शुक्लध्यान कहा है। इसका कारण यह है कि इस सहनन वाले का ही चित्त ऐसा होता है कि शरीर को छेदने, भेदने, मारने और जलाने पर भी अपने आत्मा को उस शरीर से अत्यन्त दूर अर्थात् भिन्न देखता हुआ चलायमान नही होता, और न वर्षाकाल के पवन आदिक दु.खो से चलायमान होता है; तथा उस ध्यान के समय लेप की मूर्ति अर्थात् रग से निकाली हुई चित्राभ की मूर्ति की तरह हो जाता है, इस कारण यह योगी न तो कुछ देखता है, न कुछ सुनता है, न कुछ सूंघता है और न कुछ स्पर्श किये हुए को जानता है।

भावार्थ—ऐसे पुरुष के शुक्ल ध्यान होता है।

आद्य संहननोपेता निर्वेदपदवीं श्रिताः।
कुर्वन्ति निश्चलं चेतः शुक्लध्यानक्षमं नराः ॥६६२॥

जिनके आदि का सहनन है और जो वैराग्य पदवी को प्राप्त हुए है, ऐसे पुरुष ही अपने चित्त को शुक्ल ध्यान करने में समर्थ है ऐसा निश्चल करते है।

सामग्रयोरुभयोर्ध्यातुर्ध्यानं बाह्यान्तरङ्गयोः।
पूर्वयोरेव शुक्लं स्यान्नान्यथा जन्मकोटिषु ॥६६३॥

इस प्रकार पूर्व कही हुई बाह्य और आभ्यन्तर अर्थात् आदि के सहनन और वैराग्य भाव इन दोनो सामग्रियो से ध्यान करने वाले के शुक्ल ध्यान होता है, अन्यथा अर्थात् बिना आदि के सहनन और वैराग्य भाव के, करोडो जन्मो मे भी नही हो सकता।

अतिक्रम्य शरीरादि सञ्ज्ञानात्मन्यवस्थितः।
नैवाक्षमनसा योगं करोत्येकाग्रताश्रितः ॥६६४॥

धर्म ध्यान करने वाला शरीरादिक परिग्रहो को छोड़ आत्मा में अवस्थित होता हुआ, एकाग्रता को धारण कर, इन्द्रिय और मन का संयोग नही करता है अर्थात् इन्द्रियो से जो पदार्थो का ग्रहण होता है, उनका मन से सयोग नही करता; मन को केवल स्वरूप मे ही स्थिर रखता है।

इस ध्यान का फल—

असंख्येयम संख्येयं सदृष्ट यादिगुणेऽपि च।
क्षीयते क्षपकस्यैव कर्म जात मनुक्रमात् ॥६६५॥
शमकस्य क्रमात् कर्म शान्तिमायाति पूर्ववत्।
प्राप्नोति निर्गतातङ्कः स सौख्यं शम लक्षणम् ॥६६६॥

इस धर्म ध्यान में कर्मो का क्षय करने वाला क्षपक के सदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुण स्थान से लेकर सातवे अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त अनुक्रम से असख्यात असंख्यात गुण कर्म का समूह क्षय होता है, और जो कर्मो का उपशम करने वाला उपशमक है, उसके क्रम से असख्यात-असख्यात गुणा कर्म का समूह उपशमहोता है; इसलिये ऐसा धर्म ध्यानी आतक दहादि दुःखो से रहित होता हुआ उपशम भाव रूप सुख को प्राप्त होता है।

धर्मध्यानस्य विज्ञेया स्थिति रान्त मुहूर्तिकी।
क्षामोप शमिको भावो लेश्या शक्लेव शाश्वती ॥६६७॥

इस धर्म ध्यान की स्थिति अन्त मुहूर्त है, इसका भाव क्षायोपशमिक है और लेश्या सदा शुक्ल ही रहती है।

भावार्थ—धर्म ध्यान अन्तर्मुहूर्त रहता है। धर्मध्यान वाले क्षायोपशमिक भाव और शुक्ल लेश्या होती है।

इदमत्यन्त निर्वेद विवेक प्रशमोद्भवम्।
स्वात्मानुभवमत्यक्षं योलयत्यङ्गिनां सुखम् ॥६६८॥

यह धर्म ध्यान जीवो को अत्यन्त निर्वेद अर्थात् ससार देह भोगादिकों से अत्यन्त वैराग्य तथा विवेक अर्थात् भेद ज्ञान और प्रशम अर्थात् मद कषाय इनसे उत्पन्न होने वाले अपने आत्मा के ही अनुभव में आने वाले इन्द्रियो से अतीत अर्थात् अतीन्द्रिय ऐसे सुख को प्राप्त करता है।

अलौल्य मारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्धः शुभो मूत्र पुरीषमल्पम्।
कान्तिः प्रसादः स्वर सौम्यता च योग प्रवृतेः प्रथमं हि चिह्नम् ॥६६९॥

अलौल्य अर्थात् विषयो मे इन्द्रियो की लपटता न होना और मन का चपल न होना, आरोग्य अर्थात् शरीर नीरोग होना, निष्ठुरता न होना, शरीर का गध शुभ होना, मल मूत्र का अल्प होना, शरीर कान्ति सहित होना अर्थात् शक्तिहीन न होना,

चित्त का प्रसन्न होना अर्थात् खेद शोकादिक मलिन भाव रूप न होना, और स्वर अर्थात् शब्दो का उच्चारण सौम्य होना, ये चिह्न योग की प्रवृत्ति के अर्थात् ध्यान करने वाले के प्रारम्भ दशा में होते है।

भावार्थ —ऐसे चिह्न वाले पुरुष के ध्यान का प्रारम्भ होता है।

अथावसाने स्वतनुं विहाय ध्यानेन संन्यस्तसमस्तसङ्गाः।
ग्रैवेयकानुत्तर पुण्य वासे सर्वार्थसिद्धौ च भवन्ति भव्याः ॥६७०॥

जो भव्य पुरुष इस पर्याय के अन्त समय में समस्त परिग्रहों को छोड़कर, धर्म ध्यान से अपना शरीर छोडते है, वे पुरुष पुण्य के स्थान रूप ऐसे ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानो में तथा सर्वार्थसिद्धि मे उत्पन्न होते है।

भावार्थ —यदि परिग्रह का त्याग कर मुनि हो, धर्म ध्यान से इस पर्याय को छोडे तो नव ग्रैवेयक, नव अनुत्तर और सर्वार्थसिद्धि में उत्तम देव हो।

तत्रात्यन्त महाप्रभाव कलितं लावण्य लीलान्वितं।
स्रग्भूषाम्बर दिव्य लाञ्छनचितं चन्द्रावदातं वपुः ॥

सम्प्राप्योन्नत वीर्य बोध सुभगं काम ज्वरार्त्तिच्युतं।
सेवन्ते विगतान्तरायमतुलं सौख्यं चिरं स्वर्गिणः ॥६७१॥

जो जीव धर्म ध्यान के प्रभाव से स्वर्ग में उत्पन्न होते है, वे वहा अत्यन्त महा प्रभाव सहित, सुन्दरता और क्रीडायुक्त तथा माला, भूषण, वस्त्र और दिव्य लक्षणादि सहित, चन्द्रमा सदृश शुक्लवर्ण शरीर को पाकर, उन्नत वीर्य और ज्ञान से सुभग, काम ज्वर की वेदना से रहित और अन्तराय रहित ऐसे अतुल सुखों को चिर-काल पर्यन्त भोगते है।

ग्रैवेयकानुत्तरवास भाजां वीचार हीनं सुखमत्युदारम्।
निरन्तरं पुण्य परम्पराभिर्विवर्द्धते वार्धिरिवेन्दुपादैः ॥६७२॥

ग्रैवेयक और अनुत्तरादि विमानो मे रहने वाले देवो का सुख काम सेवन से रहित होता है, अर्थात् उनके काम सेवन सर्वथा नही है तथापि उनका सुख अत्यन्त उदार है, और वह जैसे चन्द्रमा की किरणों से समुद्र बढ़ता है, वैसे ही निरन्तर पुण्य की परम्परा से बढता ही रहता है।

भावार्थ—वहाँ का सुख वृद्धि रूप है।

देवराज्यं समासाद्य यत्सुखं कल्पवासिनाम् ।
निर्विशन्ति ततोऽनन्तं सौख्यं कल्पातिवर्त्तिनः ।।६७३।।

इन्द्र पद को पाने पर कल्पवासियो को जो सुख मिलता है, उससे अनन्त गुणा सुख कल्पातीतो (नव ग्रैवेयक, नव अनुत्तर और विजयादिक पांच विमानों में रहने वाले अहमिन्द्रों) को प्राप्त होता है ।

संभवन्त्यथ कल्पेषु तेऽप्यचिन्त्यविभूतिदम् ।
प्राप्नुवन्ति पर सौख्यं सुराःस्त्रीभोग लाञ्छितम् ।।६७४।।

अथवा धर्म ध्यान से पर्याय छोडकर, जो उन कल्पस्वर्गो (सोलह स्वर्गो) में उत्पन्न होते है, वे देव भी अचिन्त्य विभूति के देने वाले और स्त्रियो के भोगो सहित उत्कृष्ट सुख को प्राप्त होते है ।

दशाङ्ग भोग सम्भूतं महाष्टगुण वर्द्धितम् ।
यत्कल्प वासिनां सौख्यं तद्वक्तुं केन पार्यते ।।६७५।।

कल्पवासी देवो का सुख दशाङ्ग भोगो से उत्पन्न हुआ है और अणिमादिक आठ महा गुणो से बढा हुआ है; इसलिये उस सुख का कौन वर्णन कर सकता है ।

सर्वद्वन्द्व विनिर्मुक्तं सर्वाभ्युदय भूषितम् ।
नित्योत्सवयुतं दिव्यं दिवि सौख्यं दिवौकसाम् ।।६७६।।

स्वर्ग मे देवों का सुख सर्वद्वन्द अर्थात् क्षोभों से रहित है, समस्त अभ्युदयों से भूषित, नित्य उत्सवो सहित और दिव्य है ।

प्रति समयमुदीर्णं स्वर्ग साम्राज्यरूढं ।
सकल विषय बीजं स्वान्तदत्ताभिनन्दम् ।।
ललित युवति लीलालिङ्गनादि प्रसूतं ।
सुखमतुल मुदारं स्वर्गिणो निर्विशन्ति ।।६७७।।

स्वर्ग के देव प्रत्येक समय मे उदय रूप अर्थात् विच्छेद रहित, स्वर्ग के साम्राज्य से प्रसिद्ध, समस्त विषयो का कारण, अन्त करण को आनन्द देने वाले, सुन्दर देवाङ्गनाओ को लीला और आलिगनादिक से उत्पन्न, अतुल और उदार सुख का अनुभव करते है ।

सर्वाभिमत भावोत्थं निर्विघ्नं स्वः सुखामृतम् ।
सेव्यमाना न बुद्ध्यन्ते गतं जन्म दिवौकसः ।।६७८।।

स्वर्ग निवासी देव अपने समस्त मनोवांछित पदार्थो से उत्पन्न और निर्विघ्न ऐसे स्वर्ग के सुख रूप अमृत का सेवन करते हुए व्यतीत हुए जन्म को अर्थात् गई हुई देव पर्याय को नही जानते ।

तस्माच्च्युत्वा त्रिदिवपटलाद्दिव्य भोगावसाने ।
कुर्वन्त्यस्यां भुवि नरनुते पुण्य वंशेऽवतारम् ॥
तत्रैश्वर्यं परमवपुषं प्राप्य देवोपनीतैं—
र्भोगैर्नित्योत्सव परिणतैर्लाल्यमाना वसन्ति ॥६७६॥

फिर वे स्वर्ग के देव दिव्य भोगो को भोग कर, उस स्वर्ग पटल से च्युत होते है और इस भूमडल में जिसको लोग नमस्कार करते है ऐसे उत्तम पुण्य वश में अवतार लेते है, और वहाँ भी परम (उत्कृष्ट) शरीर और ऐश्वर्य को पाकर, नित्य उत्सव रूप परिणत ऐसे देवोपनीत अनेक भोगो से लालित और पुष्ट हुए निवास करते है; यह सब धर्म ध्यान का फल है ।

ततो विवेक मालम्ब्य विरज्य जननभ्रमात् ।
त्रिरत्नशुद्धिमासाद्य तपः कृत्वान्य दुष्करम् ॥६८०॥
धर्मध्यानं च शुक्लं च स्वीकृत्य निजवीर्यतः ।
कृत्स्नकर्म क्षयं कृत्वा व्रजन्ति पदम व्ययम् ॥६८१॥

उसके बाद अर्थात् उत्तम मनुष्य भव के सुख भोग कर, पुन भेद ज्ञान (शरीरादिक से आत्मा की भिन्नता) को अवलम्बन कर, ससार के परिभ्रमण से विरक्त हो, रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की शुद्धता को प्राप्त कर, दुर्धर तप कर तथा अपनी शक्ति के अनुसार धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान को धारण कर और समस्त कर्मो का नाश कर, अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त होते है, यह धर्म ध्यान का परपरारूप फल है; इस प्रकार धर्म ध्यान का फल निरूपण किया ।

ध्यान का वर्णन शुभचन्द्राचार्य कृत ज्ञानर्णव से लिया है ।

चतुर्विंशतिस्तव का लक्षण—

उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च ।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धिपणमो थवोणेओ ॥६८२॥

ऋषभ, अजित, सभव आदि चौवीस तीर्थकरो के नामों का योग्य अर्थ समझ लेना चाहिये तथा उनके घाति कर्म का क्षय होने पर उन्होने धर्म रूपी तीर्थ का प्रसार

किया, वे देवं और मनुष्यों से वंदनीय हुए, उन्होने परमार्थ तत्त्व–जीव तत्त्व का सत्य स्वरूप जान लिया है। वे अठारह दोषों से रहित और सर्वज्ञ बने हैं ऐसा उनके गुणो का वर्णन करना चाहिये। तथा गुण वर्णन के साथ तीर्थकरों के चरणों का गध धूपादि से पूजन कर मन वचन शरीर की विशुद्धि से उनके चरणो को नमस्कार करना यह चतुर्विशति स्तव है।

आवश्यक–

अरहंत सिद्ध पडिमात वसुदगुण गुरुगुरुण रादीणं।
किदियम्मेणिदरेण य तियरण संकोचरणं पणमो ॥६८३॥

अरहंत और सिद्धों के प्रतिबिम्ब, अनशनादिक तप, अगश्रुत ज्ञान व पूर्वरूप श्रुत ज्ञान, व्याकरण तर्कादिक का ज्ञान विशेष रूपी गुण तथा इनसे जो श्रेष्ठता को प्राप्त हुए है, जो दीक्षा से श्रेष्ठ है ऐसे गुरुओं को कृतिकर्म में कही हुई विधि के अनुसार मन शुद्धि, वचन शुद्धि और शरीर शुद्धि कर स्तुति पूर्वक नमस्कार करना वन्दना नामक मूलगुण है।

विशेष :—घातिकर्म का क्षय जिन्होने किया है, वे अर्हत् अर्थात् अरिहन्त हैं। और जिन्होने आठ कर्मो का नाश किया है। वे सिद्ध समझे जाते है अथवा गति, वचन और स्थान इन हेतुओं से अरिहन्त और सिद्ध में भेद है। अरिहन्त को मनुष्य गति का उदय है। सिद्ध गति रहित है। अरिहन्त दिव्य ध्वनि से उपदेश करते है। सिद्ध उपदेश रहित है और अशरीरी होने से वचन रहित है। अरिहन्त मध्य लोक मे विहार करते है। सिद्ध लोकाग्र में मोक्ष शिला पर सदा विराजमान हैं। **प्रतिमा–** अरिहन्त की प्रतिमा प्रातिहार्य सहित होती है और सिद्धो की प्रतिमा प्रातिहार्य रहित होती है। अथवा कृत्रिम प्रतिमाओ को अर्हंतप्रतिमा कहते है। और अकृत्रिम प्रतिमा को सिद्ध प्रतिमा कहते है। तप-शरीर और इद्रियो को जो तप्त करता है और कर्म की निर्जरा करता है, वह तप है।

कृति कर्म—सिद्ध भक्ति, श्रुतभक्ति और गुरु भक्ति पूर्वक कायोत्सर्गादिक के साथ वंदना करना। मुंड वदना–श्रुत भक्त्यादि रहित कायोत्सर्गादि रहित केवल मस्तक से वंदना करना। मन शुद्धि, वचन शुद्धि और काय शुद्धि करके अर्हंदादिको को प्रणाम करना वह वंदना नामक मूल गुण है।

प्रतिक्रमण मूल गुण का स्वरूप—

दव्वे खेत्ते काले भावे य कया वराह सोहणयं ।
णिंदणगर हण जुत्तो मण वचिकायेण पडिकमणं ।।६८४।।

द्रव्य-शरीर और आहारादिक पदार्थ। क्षेत्र-वसतिका, तृणादिक फलक, चटाई और गमनादि क्रियामार्ग। काल—प्रातः काल, मध्यान्ह, दिवस, रात्रि, पक्ष, महिना, वर्ष, भूत, वर्तमान, भविष्यादि काल। भाव—मन की अनेक प्रकार की परिणति। इनके आश्रय से जो दोष उत्पन्न होते है अर्थात् अहिसादि व्रतों मे जो अतिचारादि दोष उत्पन्न होते है, उनका नाश करना प्रतिक्रमण है। निंदा और गर्हापूर्वक प्रतिक्रमण विधि करना चाहिये। स्वसाक्षिक दोषो का उच्चार करना वह निंदा अथवा निंदन है और आचार्यादिक के सन्निधि मे किये हुए दोषों का आलोचना पूर्वक वर्णन करना गर्हा अथवा गर्हण है। शुभ मन, शुभ वचन और शुभ शरीर की प्रवृत्ति के द्वारा प्रतिक्रमण करे अर्थात् अशुभ मन, वचन और काय के द्वारा किये हुए अशुभ योग से निवृत्त होना अर्थात् अशुभ परिणाम से उत्पन्न हुए—किये गये दोषों का त्याग करना यह प्रतिक्रमण है। सारांश—निंदा गर्हायुक्त होकर मन, वचन व शरीर के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र और भाव के विषय मे किये हुये जो व्रत दोष उनका शोधन-त्याग करना यह प्रतिक्रमण है।

प्रत्याख्यान मूलगुण का स्वरूप—

णामादीणं छण्हं अजोग परिवज्जणं तियरणेण ।
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले ।।६८५।।

समीप के भविष्यकाल मे अर्थात् नजदीक के मुहूर्त, दिवस, सप्ताह इत्यादिक भविष्यकाल मे नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ऐसे अनागत छहो दोषो का त्याग करना तथा आगत-उपस्थित नामादिक छहो दोषो का त्याग करना प्रत्याख्यान मूलगुण है। अथवा दूर के भविष्य काल मे अथवा समीप के भविष्य काल मे अयोग्य ऐसे छहो नामादिक दोषो का त्याग करना प्रत्याख्यान है। अथवा अनागत काल मे नामादिक अयोग्य छहो प्रकार का जो आगमन होगा उसका मन वचन शरीर से त्याग करना प्रत्याख्यान है। पाप के कारण भूत ऐसे नाम स्थापनादिकों का त्याग करना प्रत्याख्यान है।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में अन्तर—अतीत काल में—भूतकाल मे उत्पन्न

हुये दोषों का त्याग करना प्रतिक्रमण है। भविष्यकाल और वर्तमान काल मे द्रव्यादिक के दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। ऐसा इन दोनों में भेद है। तपश्चरण के लिए निर्दोप ऐसे भी द्रव्यादिको का त्याग करना प्रत्याख्यान है और प्रतिक्रमण दोष परिहार के लिए ही किया जाता है। ऐसी इनमें भिन्नता है।

विशेषार्थ—भविष्यकाल में और वर्तमान काल में नामादिक छह अयोग्य-पापास्त्रव के कारणों का शुभ मन वचन काय से त्याग करना यह प्रत्याख्यान है। इसका खुलासा मैं शरीर के द्वारा किसी का अशुभ नाम न करूंगा, न कराऊगा और अनुमोदन नही दूंगा। वचन के द्वारा मैं अयोग्य नाम नही कहूगा, मैं नही कहाऊगा और कहने वालो को अनुमोदन मैं नही दूगा। मन के द्वारा अशुभ नाम का चितन नहीं करूगा, नही कराऊंगा और उसके विषय में अनुमोदन भी नही दूगा। इस ही प्रकार अशुभ स्थापना को मैं शरीर से नही करूंगा, नही कराऊगा और करने वालो को सम्मति नही दूगा। वचन से नही बोलूगा, नही बुलवाऊंगा और बोलने वाले को सम्मति नही दूंगा। मन से मैं अशुभ स्थापना का चितन नही करूगा, दूसरो से चितन न कराऊगा और अशुभ स्थापना का चितन करने वाले को अनुमोदन नही दूंगा। दोप सहित द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावो का मैं शरीर के द्वारा सेवन नही करूंगा, सेवन नही कराऊगा और सेवन करने वालो को अनुमति नही दूगा। वचन से सेवन कर मैं ऐसा नही कहूगा, नही कहाऊंगा और सेवन करने वाले को तूने अच्छा किया ऐसी अनुमति वचन से नही दूंगा। मन के द्वारा मैं अशुभ द्रव्यादिको का चितन नही करूगा, दूसरो को चिंतन न कराऊंगा और करने वालो को सम्मति नही दूगा। ऐसे सत्ताईस प्रकार के नामादिक छहो के दोपों का त्याग शुभ मन, वचन, काय से करना प्रत्याख्यान है।

कायोत्सर्ग का स्वरूप—

देवसियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि।
जिण गुण चिंतण जुत्तो काउस्सग्गो तणु विसग्गो ।।६८६।।

दिवस, रात्रि, पाक्षिक, चार महीने की, वार्षिक वगैरह निश्चय क्रियाओ में अर्हत्परमेष्ठियों ने जो पच्चीस, सत्ताईस, एक सौ आठ वगैरह प्रमाण रूप उच्छ्वास सख्या जिस काल मे कही है, उस काल में जिन गुण स्मरण सहित अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, शुक्ल ध्यान, धर्म ध्यान, अनंत ज्ञानादिचतुष्टय इत्यादि गुणों के चितन

सहित जो शरीर के ऊपर के ममत्व का त्याग किया जाता है। वह कार्योत्सर्ग नामक मूलगुण है।

लोच मूल गुण का स्वरूप—

वियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो ।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो ॥६८७॥

हाथ से मस्तक के केश, दाढ़ी और मूंछ उखाडना यह लोच का लक्षण है। यह लोच सम्मूर्छनादि जीवो की उत्पत्ति मस्तकादिको में न होवे इस वास्ते तथा शरीर मे राग मोह विकार न होवे इसलिये स्वशक्ति प्रगट करने के लिए, सर्वोत्कृष्ट, तपश्चरण के लिए, मुनिलिंग के गुण समझने के लिये मुनि करते है। इस लोच के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद है। इन भेदों से क्रम से उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य आचरण के भेद सूचित होते है। उत्कृष्ट लोच दो महीने पूर्ण होने पर अथवा अपूर्ण होने पर मुनि करते है। यह लोच दिन मे उपवास पूर्वक करना चाहिये। पाक्षिक चातुर्मासिक प्रतिक्रमण के समय लोच करे। परन्तु उपवास पूर्वक ही करे। प्रतिक्रमण रहित दिवस मे भी लोच करे। अथवा 'सप्रतिक्रमणे दिवसे' इन पदो का अभिप्राय 'लोच करके प्रतिक्रमण करे' ऐसा होता है। लोच शब्द लुंच् धातु से बना है और इस धातु का अर्थ अपनयन—दूर करना, निकालना ऐसा है। प्रश्न –केशों का अपनयन–निकालना क्षुरादिक से–कैंची, उस्तरा आदि से भी होता है तो हाथ से मस्तक के और दाढी, मूंछ के केश क्यो उखाड़ना चाहिये ? उत्तर—दीनता, याचना, परिग्रह, अपमान इत्यादिक दोष क्षुरादिक के द्वारा केश निकालने मे होते है। अत. मुनिराज अपने हाथ से ही केशलोच करते है।

अचेलकत्व मूल गुण का स्वरूप—

वत्थाजिण वक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं ।
णिब्भूसणणिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पुज्जं ॥६८८॥

वस्त्र-धोती, दुपट्टा, कंबलादिक, अजिन-हरिण, वाघ वगैरह का चर्म। वल्कल-वृक्ष की छाल से बने हुए वल्कल वस्त्र इनके द्वारा शरीर को न ढकना यह आचेलक्य मूलगुण है। अथवा वृक्ष के पत्तो, तृण वगैरह से अपना शरीर न ढकना यह भी आचेलक्य मूलगुण है। यह आचेलक्य कडा, केयूर, हार, मुकुट वगैरह अलकार

तथा विलेपनादि से रहित होने से रागादिक विकार उत्पन्न नही करता है। यह नैर्ग्रन्थ–बाह्यभ्यंतर परिग्रहो से रहित हैं। इन वस्त्रादिकों को मुनिराज मन, वचन, काय से त्यागते है। यह आचेलक्य मूलगुण जगत में महापुरुषो के द्वारा स्वीकार किया गया है, अतः वंदनीय है–मान्य है। प्रश्न—वस्त्रादिक को ग्रहण करने से कौन दोष उत्पन्न होते है? उत्तर—वस्त्रादिक को ग्रहण करने पर यूकादिक जीवो की हिसा, वस्त्र प्राप्त करने की इच्छा, प्रक्षालन, याचना करना इत्यादिक दोष उत्पन्न होते है। ध्यानाध्ययनादिक में विघ्न उत्पन्न होता है, अतः मुनिराज आचेलक्य मूलगुण के धारक होते है।

अस्नान व्रत का स्वरूप—

ण्हाणादिवज्जणेण य विलित्त जल्लमल सेद सव्वंगं।
अण्हाणं घोर गुणं संजम दुगपालयं मुणिणो ॥६८६॥

स्नानादि वर्जन अर्थात् जल में प्रवेश करके स्नान करना, शरीर में सुगन्धी उबटन लगाना, आखो में अजन लगाना, अग को जल से धोना, ताबूल भक्षण करना इत्यादिक अगोपांग को सुखी करने के साधन है। इनका त्याग करने से अस्नान नामक व्रत का पालन होता है। सर्व अंग जिससे मलिन होता है, ढक जाता है ऐसे मल को जल्ल कहते है। अग का एकाकि भाग जिससे व्याप्त होता है; उसको मल कहते है। रोम के छिद्रो से जो जल बाहर आता है, उसको स्वेद कहते है। इस अस्नानव्रत के धारण करने से शरीर उपर्युक्त जल्लादिक मल से व्याप्त होता है। यह अस्नान व्रत महागुण है। इससे उत्कृष्ट गुणो की प्राप्ति होती है। इस व्रत से प्राणिसंयम और इद्रियसयम का पालन होता है।

प्रश्न—स्नानादिक का त्याग करने से अशुचिपना आवेगा? उत्तर—स्नान करने से मुनि को पवित्रता नही आती। व्रतों से मुनि पवित्र होते हैं। यदि व्रत रहित प्राणी जलावगाहनादिक से पवित्र होते है, तो मत्स्य, मगर और दुराचारी लोक पवित्र मानने पड़ेगे। परन्तु उनको कोई पवित्र नही मानते है। अतः व्रत, नियम, संयम ही पवित्रता के कारण है। जलादिक नाना सूक्ष्म जन्तुओ से भरा हुआ है, जल स्नान सर्व पाप का मूल है। इसलिये मुनि गण जलादिक से स्नान नही करते है।

भूमिशयन व्रत का वर्णन—

फासुयभूमिपएसे अप्पमसंथारिदम्हि पच्छण्णे ।
दंड धणुव्व सेज्जं खिदिसमणं एयपासेण ॥६६०॥

जहाँ जीव हिसा, मर्दन, कलह सक्लेश परिणाम नही होते है, ऐसे जीव वध रहित निर्जन्तुक भूमि प्रदेश मे जहां अल्प भी तृणादिक प्रक्षिप्त नही है, अर्थात् जहां शयन के लिये थोडा भी तृण नही है । अथवा जहाँ अल्पसस्तर है, अर्थात् तृणमय काष्ठ का बना हुआ फलक किवा शिला है, ऐसे भूप्रदेश में जो कि गृहस्थ योग्य प्रच्छादन और शय्या से रहित है, ऐसे स्थान में सोना यह भूशयन नामक मूलगुण है । अथवा जहाँ आत्मना—स्वत तृणादिक बिछाया है, ऐसे भूप्रदेश में—किवा अपने शरीर के प्रमाणानुसार—सस्तर—चारित्र योग्य—प्रासुक—तृणादिक है, ऐसे भूमि प्रदेश मे सोना चाहिये । वह भूमि प्रदेश गुप्त अर्थात् एकात युक्त होना चाहिए तथा स्त्री, पशु व नपु सक रहित, असयत लोको के सचार से रहित होना चाहिये । ऐसे भूमि प्रदेश मे दण्ड के समान किवा धनुष्य के समान एक बगल से सोना चाहिए । नीचे मुख करके अथवा ऊपर मुख करके नही सोवे । क्योकि ऐसे सोने से स्वप्न दोष उत्पन्न होते है । उपर्युक्त प्रकार से सोना क्षितिशयन मूलगुण है । प्रश्न—इसका पालन क्यो करना चाहिये ? उत्तर—इद्रिय सुख का त्याग करने के लिए, तथा तप मजबूत होने के लिए तथा शरीरादिको पर निःस्पृहता उत्पन्न होने के लिए यह भूशय्या नामक मूलगुण है ।

अदन्तधोवन व्रत का लक्षण—

अंगुलिणहावलेहणि कलीहिं पासाणछल्लि यादीहिं ।
दंत मला सोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं ॥६६१॥

हाथ की अंगुली, नख, दात स्वच्छ करने की निंब वगैरह की लकड़ी तथा तृण विशेष इनके द्वारा और पाषाण, वृक्ष की छाल, खप्पर अथवा ठिकरा, तदुल का भूसा अथवा आटा इन पदार्थों के द्वारा मुनि दांतो का मल नही निकालते है । दांतो का मल नही निकालने से उनके इद्रियसयम का रक्षण होता है । इस मूल गुण का पालन करने से मुनियो को वीरागता प्राप्त होती है तथा सर्वज्ञ जिनेश्वर की आज्ञा का पालन होता है ।

स्थिति भोजन—खड़े होकर भोजन करना इस मूलगुण का स्वरूप—

अंजलि पुडेण हिच्चा कुड्डाइ विवज्जणेण समपायं ।
पडि सुद्धे भूमितिये असणं ठिदि भोयणं णाम ॥६६२॥

मुनि खड़े होकर अजलि पुट के द्वारा अर्थात् हाथ रूपी पात्र के द्वारा आहार लेते है। भित्ती, खांब वगैरह का आश्रय लेकर तथा बैठकर किवा सोते हुए और तिरछे लेटकर आहार नही लेते है। खड़े होकर आहार लेते समय अपने दो पावो के बीच में चार अगुल का अन्तर रखना चाहिये। जीववधादिक से रहित ऐसे तीन भूमि प्रदेश में मुनि आहार लेते है। जिस स्थान पर मुनि आहार के लिए खड़े होते हैं, ऐसा प्रदेश उनके चरणो का भूमि प्रदेश, उच्छिष्ट जहां पड़ता है ऐसा प्रदेश, तथा दाता जहां खड़ा होकर आहार देता है वह प्रदेश, ऐसे तीन भूमि प्रदेश जीव वधादिक दोषो से रहित होने चाहिये। ऐसे शुद्ध प्रदेश मे खड़े होकर पावों में चार अगुल का अन्तर रखकर भीत, खाब वगैरह का आश्रय नही लेते हुए हस्त पुट से आहार लेना इसको स्थिति भोजन कहते हैं।

विशेषार्थ—मुनि दिन में एक बार ही भोजन करते है। उनके आहार का काल जघन्य तीन मुहूर्त तक कहा है। परन्तु तीन मुहूर्त तक पावों को समान्तर रखकर अंजलिपुट के द्वारा आहार लेना चाहिये, ऐसा उसका अभिप्राय नही है। उसका अभिप्राय इस प्रकार है। तीन मुहूंत काल के बीच में जब कभी मुनि भोजन करते हैं उस समय में चरण समान्तर रखकर अजुलिपुट से भोजन करे। यदि भोजन क्रिया के समपाद और अजुलिपुट ये विशेषण नही माने जायेंगे तो हाथ धोने पर भी अन्यत्र आहार के लिये जाते समय, 'जानूपरिव्यतिक्रम्' नाम का जो अन्तराय आगम में कहा है उसकी व्यर्थता होगी। 'नाभेर धोनिर्गमन' नाम का अन्तराय मानने की भी आवश्यकता नही होगी। इससे यह सिद्ध होता है कि, तीन मुहूर्त के मध्य मे किसी दाता के घर में भोजन क्रिया आरंभ करके किसी कारण से हाथ धोकर मौन से अन्य श्रावक के घर आहार के लिए मुनि जावे।

यदि उपर्युक्त अन्तराय एक घर में ही आहार करने वाले मुनि को होता है ऐसे कहोगे तो 'जानूपरिव्यतिक्रम' यह विशेषण व्यर्थ होगा तथा समपाद मे थोडी सी भी चचलता आई तो अन्तराय माना जावेगा 'नाभेर धोनिर्गमन' अन्तराय तो दूर ही रहा उसकी संभावना भी नही होगी। अतः उनका परिहार करने के लिये जो उनका

स्वरूप कहा है वह व्यर्थ होगा। इसी प्रकार पांव से कुछ ग्रहण करना (पादेन किंचिद्ग्रहण) इत्यादिक अन्तरायो का वर्णन करना व्यर्थ है ऐसा समझना पड़ेगा। अञ्जलीपुट छोडकर अन्यत्र जाने का यदि निषेध ही होगा तो 'हाथ से कुछ ग्रहण करना यह भोजन का अन्तराय है' ऐसा कहना योग्य नही होगा। मुनि हाथ से ग्रहण करे अथवा न करे अञ्जलिपुट छूटने से अन्तराय हुआ ऐसा मानना पड़ेगा तो अन्यत्र आहार को कैसे जा सकेगे। गोडो के नीचे के अवयव का स्पर्शन होना यह भी अन्तराय का विशेषण नही हो सकेगा। ये अन्तराय सिद्ध भक्ति जब तक नही की है तब तक होते है ऐसा भी न समझे। ऐसा समझने पर तो भोजन का अभाव हो जावेगा। परतु ऐसी कल्पना अयोग्य है। जब तक सिद्धभक्ति मुनियो ने नही की है तब तक वे बैठते है व सिद्ध भक्ति करने के अनन्तर खड़े होकर भोजन करेंगे। जब तक बैठे है तब तक काकादि पिड हरण नाम के अन्तराय की सभावना नही होती है। (कौवे वगैरह पक्षी का हाथ मे से ग्रास को उठा लेना)।

प्रश्न :—यह स्थिति भोजन मुनि क्यों करते है ?

उत्तर :—जब तक मेरे हाथ और पांव चलते फिरते है, तब तक आहार ग्रहण योग्य है। अन्यथा नही यह सूचित हो इसलिए वे स्थिति भोजन करते है। अपने दो हाथ में ही भोजन करना, यह बैठकर पात्र के द्वारा अथवा अन्य के हाथ से से मै भोजन नही करूगा इस प्रतिज्ञा का पालन करने के लिये समझना चाहिये। अपने हाथ के तल शुद्ध होते है और स्व हस्त मे भोजन करने से बहुत अन्न का विर्सजन-छोड देना नही होता है (यदि पात्र मे भोजन मुनि करेगे तो सर्व आहार से भरी हुई थाली छोड देगे। तथा ऐसा छोडना दोष है। इद्रिय सयम और प्राणि सयम का पालन करने के लिये मुनि खडे होकर भोजन करते है। मुनि जन जब तक आहार करते है तब तक समपाद व अञ्जलिपुट धारण करके ही रहे। यदि उसमे समपादता विगड जायगी या अञ्जलिपुट छूट जायगा तो आहार छोड़ना चाहिये। क्योकि यह अन्तराय हुआ है ऐसा समझना चाहिये।

एक भक्त का स्वरूप—

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए मुहुत्त कालेय भत्तं तु ॥६६३॥

सूर्योदय की तीन घटिका और सूर्यास्त की तीन घटिका छोड़कर बीच के एक मुर्हूतकाल में, दोनों मुर्हूतकाल में किंवा तीन मुर्हूत काल में जो आहार लेना वह एक भक्त है।

विशेषार्थ :—तीन घटिका प्रमाण उदयकाल और अस्तकाल को छोडकर तथा मध्यान्ह सामायिक काल भी छोड़कर मध्य काल में भोजन करना यह एक भक्त है। अथवा अहोरात्र मध्ये भोजन वेला दो है। उसमे से दिन को भोजन वेला मे ऊपर के कथानुसार भोजन करना एक भक्त है। एक भक्त और एक स्थान इसमे फरक–तीन मुर्हूत के बीच में एक स्थान मे चरण–विक्षेप न करके अर्थात् एक स्थान छोडकर अन्य स्थान मे न जाकर भोजन करना एक स्थान है; और तीन मुर्हूत मे एक क्षेत्र की मर्यादा न करते हुए अन्यत्र भोजन करना एक भक्त है। प्रायश्चित्त ग्रथ मे एक स्थान उत्तर गुण है व एक भक्त मूल गुण है ऐसा कहा है। यह भेद इंद्रिय जय, अभिलाषा का त्याग, महा पुरुषो का आचरण अपन पाले इस हेतु से किया है।

प्रश्न :—इस प्रकार महाव्रत में भेद क्यो किया है ?

उत्तर :—छेदोपस्थापना सयम के आश्रय से अहिंसा, सत्य, अचौर्य इत्यादि पांच भेद होते हैं।

प्रश्न :—महाव्रत और समिति में क्या विशेषता है ?

उत्तर :—महाव्रत और समिति में अभेद है ऐसा समझना योग्य नही है। समिति में जाना, बैठना, भोजन करना मल मूत्र क्षेपण करना इत्यादिक क्रिया यत्नाचार पूर्वक होती है। अर्थात्, समिति क्रियात्मक है और महाव्रत अक्रियात्मक है अर्थात् परिणामात्मक होने से अक्रियात्मक है। मैं हिंसा वगैरह पापो का सर्वथा त्याग करता हूँ ऐसा संकल्प महाव्रतों मे है बाह्य क्रियात्मकता उनमें नही है इसलिये वे अक्रियात्मक हैं।

ये महाव्रत और समिति धारण करने से आत्मा को दुःख होता है ऐसा समझना अयोग्य है। जैसे वैद्य रोगी का फोडा फोड़ता है तो रोगी का दु.ख दूर करता है। वैसे महाव्रत समिति का आचरण दु.ख के लिये नही है। उनसे सुख की प्राप्ति होती है।

तप और गुप्ति का कहां अन्तर्भाव होता है ?

१. अनशन तप—भोजन का त्याग करना, उसके तीन प्रकार हैं। मै मन के द्वारा

भोजन करहीं करूंगा, अन्य को भोजन नहीं कराऊंगा, भोजन करने वाले को मैं अनुमति नही दूंगा। मैं भोजन करता हूँ, तुमको भोजन कराता हूँ, तुम भोजन करो ऐसा नही कहता हूँ। चार प्रकार के आहार का सकल्प पूर्वक शरीर से ग्रहण नही करता हूं। हाथ के इशारे से दूसरे को प्रवृत नही करता हूँ और भोजन में प्रवृत को शरीर से अनुमति नही देता हूं। इस प्रकार कर्म बंधन की कारणभूत ऐसी मन, वचन व शरीर की क्रियाओ का त्याग करना अनशन तप है।

२. अवमोदर्य—तृप्ति और दर्प उत्पन्न करने वाले भोजन का मन, वचन, काय से त्याग करना अर्थात् अल्प भोजन करना।

३. वृत्ति परिसंख्यान—घर, पात्र, दाता इत्यादिकों का नियम करके आहार संज्ञा को जीतना।

४. रस परित्याग—मन, वचन और शरीर से रस विषयक लंपटता को छोड़ना।

५ काय क्लेश—शरीर में सुखाभिलाषा का त्याग करना।

६ विविक्त शय्यासन—चित्त की व्याकुलता के कारण जहां नही है ऐसे एकान्त स्थान में सोना और बैठना। इस प्रकार बाह्य तप के छह प्रकार हैं। अभ्यंतर तप वर्णन इस प्रकार समझना—

१. आलोचना—स्वयं किये हुए अपराध नही छिपाना।

२ प्रतिक्रमण—स्वत उत्पन्न किये अशुभ मनो वचन काय की प्रवृत्तियों से हटना अर्थात् मेरी यह प्रवृत्ति मिथ्या हो, ऐसी खोटी प्रवृत्ति नही करूंगा ऐसा सकल्प करना।

३ तदुभय—उपर्युक्त दोनों का त्याग करना अर्थात् दोपों को न छिपाना और अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना।

४. विवेक – जिससे अथवा जिसमें अशुभयोग हुआ था उस वस्तु को छोड़ना, उससे दूर होना।

५. कायोत्सर्ग—देह के ऊपर ममत्व नही रखना।

६ तप—उत्पन्न हुए दोषो का परिहार करने के लिये उपवासादिक करना।

७. छेद—असंयम से ग्लानि होने के लिये दीक्षा के दिन मासादिक कम करना।

८. मूल—पुनः चारित्र ग्रहण करना अर्थात् पुनः मुनि दीक्षा धारण करना मूल प्रायश्चित है ।

९. परिहार—ऋषि, यति, अनगार, मुनि ऐसे चार प्रकार के सघ से कुछ काल तक बहिष्कार करना यह परिहार प्रायश्चित है ।

श्रद्धान—मिथ्यात्व को प्राप्त हुए मन को लौटाकर सम्यग्दर्शन मे स्थिर करना ।

विनयतप—अशुभ क्रिया करना ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप के अतिचार है । इन अतिचारों को दूर करना यह विनय तप है ।

वैयावृत्य—चारित्र के कारण रूप औषध, शरीर शुश्रूषा, मल मूत्र साफ करना यह वैयावृत्य तप है ।

स्वाध्याय—अग व पूर्वो का निर्दोष विधि पूर्वक अध्ययन करना ।

ध्यान—शुभ विषय मे चित्त को स्थिर करना ध्यान है ।

गुप्ति—सावद्य–पाप योग से आत्मा का रक्षण करना । गुप्ति के मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और काय गुप्ति ऐसे तीन भेद है । सर्व प्रकार के तप, गुप्ति और नित्य क्रियाओं का अन्तर्भाव मूल गुणो मे ही होता है और कादाचित्क क्रियाओ का अर्थात् आतापनादि योगो का उत्तर गुणों मे अन्तर्भाव होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र का भी मूल गुणो मे ही अन्तर्भाव होता है । कारण इनके बिना मूल गुण होता ही नही ।

मूल गुण पालन करने से फल—

एवं विहाणजुत्तो मूल गुणे पालिऊण तिविहेण ।
होऊण जगादि पुज्जो अक्खय सोक्खं लहदि मोक्खं ।।६९४।।

ऊपर कहे हुए प्रकार से सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञानादि पूर्वक क्रम से कहे हुए अट्ठावीस मूल गुणो को मन, वचन और शरीर से उत्तम रीति से निर्दोष पालन करके मुनीराज जगत मे पूज्यनीय होते है और अन्त में वाधा रहित, अष्टकर्मो के नाश से मोक्ष सुख को पाते है ।

अन्तरायों का स्वरूप—

कागा मेज्झा छद्दी रोहण रुहिरं च अस्सुवादंच ।
जण्हूहिठ्ठामरिसं जण्हुवरि वदिक्कमो चेव ।।६९५।।

१. **काक नाम का अन्तराय**—काक शब्द से बक, श्येन अर्थात् बाज वगैरह पक्षिओ का भी उपलक्षण से ग्रहण करना चाहिये। मुनि आहार को जा रहे है अथवा आहार के लिये खड़े हो गये है ऐसे समय यदि कौवा, बक और श्येन वगैरह पक्षी मुनियों के शरीर पर मल मूत्र करेंगे तो भोजनातराय होता है।

२. **अमेध्यान्तराय**—अपवित्र विष्टादिक से पादादिक लिप्त होने पर भोजनांतराय होता है।

३ **छर्दि**—मुनिराज को वमन होना।

४. **रोधन**—आहार के लिए तुम नही जा सकते ऐसा कहकर प्रतिबंध करना।

५. **रुधिर**—अपना रक्त अथवा अन्य का रक्त देह से चार अंगुल पर्यन्त वहता हुआ दृष्टिगत होने पर भोजनातराय होता है। इससे कम वहने पर अन्त- नही हैं। गाथा में च शब्द आया है उससे पीव आदि पदार्थ अपने या पर के देह से चार अंगुल पर्यन्त वहते हुए दीखने पर भी अन्तराय समझना चाहिये।

६. **अश्रुपात**—दुःख से अपने नेत्रों मे तथा पर के नेत्रों मे यदि अश्रु आते हो तो भोजनांतराय होता है।

७. **जान्वधः परामर्श**—गोडे घोटे के नीचे यदि हाथ से स्पर्श हो जावे तो अंतराय होता है।

८. **जानू परिव्यतिक्रम**—गोडे के ऊपर के अवयवों का स्पर्श होने पर अंतराय होता है।

णाभिअधोणिग्गमणं पच्चाविखय सेवणा य जंतुवहो।
कागादि पिंड हरणं पाणीदो पिंड पडणं च ॥४०॥

९. **नाभ्यधोनिर्गमन**—नाभि के नीचे मस्तक करके यदि जहाँ आहार को जाना पड़ता हो तो वह अन्तराय होता है।

१०. **प्रत्याख्यात सेवन**—जिस वस्तु का देव, गुरु की साक्षी से त्याग किया है उस वस्तु को भक्षण करना आहार का अन्तराय होता है।

११. **जंतुवध**—अपने सामने मार्जारादिक के द्वारा चूहा वगैरह प्राणी का वध होना।

१२. **काकादिपिंड हरण**—कौवा, गीध पक्षी इत्यादिकों के द्वारा साधु के हाथ से अन्न का ग्रास हरण करने पर भोजनांतराय होता है।

१३. **पिंड पतन**—भोजन करते समय मुनि के हाथ से ग्रास गिर जाना।

पाणीए जंतुवहो मंसादी दंसणे य उवसग्गो।
पादंतरम्मि जीवो संपादो भायणाणं च ॥४१॥

१४. **पाणौ जन्तु वध**—हस्त पात्र में प्राणी आकर स्वय यदि मरे तो अन्तराय है।

१५. **मांसादि दर्शन**—मांस, मद्य और मरे हुए पचेन्द्रिय का शरीर ये पदार्थ दीखने पर अतराय समझना।

१६. **पादान्तरे जीव**—आहार लेते समय दोनो पावों के बीच मे से पचेन्द्रिय जीव का निकल जाना।

१७. **देवाद्युपसर्ग**—देव, मनुष्य, तिर्यचो में से किसी के द्वारा आहार लेते समय मुनि को उपद्रव होने पर अतराय होता है।

१८. **भोजन संपात**—परोसने वाले के हाथ से पात्र गिर जाने पर अतराय होता है।

उच्चारं पस्सवणं अभोज्जगिहपवेसणं तहा पडणं।
उववेसणं सदंसं भूमी संफास णिट्ठवणं ॥४२॥

१९. **उच्चार**—आहार के समय अपने उदर में से मल-विष्ठा यदि निकलेगा तो अन्तराय होता है।

२०. **प्रस्त्रवण**—मूत्र और शुक्रादिक यदि निकलेगे तो अन्तराय होता है।

२१. **अभोज्य गृह में प्रवेश**—आहार के लिये निकले हुए साधु का यदि चांडालादि अस्पृश्य लोगो के गृह में प्रवेश हो जाय तो अतराय होता है। "अभोजिगिह भोजरण" ऐसा भी पाठ है। इस पाठ का अर्थ-भोजन के लिये अयोग्य ऐसे चाडालादिक अस्पृश्य लोक अभोज्य माने जाते हैं और सूतक पातकादिक का संबंध जिनको प्राप्त हुआ है ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी अभोज्य माने जाते है इनके घर में भोजन करना अन्तराय है।.

२२. **पतनं**—भ्रम, थकावट, मूर्च्छादिक से यदि साधु गिर जाय तो अन्तराय है।

२३. **उपवेशन**—साधु यदि बैठ गये तो अन्तराय है।

२४. **सदंश**—कुत्ता, बिल्ली वगैरह का दश होने से अन्तराय है।

२५. **भूमि स्पर्श**—सिद्ध भक्ति होने पर हाथ से भूमिका स्पर्श हो जाये तो अन्तराय है ।

२६. **निष्ठीवन**— कफ, थूक आदिक यदि मुनि के द्वारा जमीन पर किया जाय तो अन्तराय होता है। हाथ से मुनि भूमि पर कुछ वस्तु ग्रहण करे तो अन्तराय होता है ।

उदरविकमिणि ग्गामणं अदत्तग्गहणं पहारगामडाहो ।
पादेण किंचि गहणं करेण वा जं च भूमिए ॥६६६॥

उदर क्रिमि निर्गमन—पेट में से यदि कृमि निकले तो अंतराय होता है ।

अदत्त ग्रहण—नही दी हुई वस्तु का ग्रहण करना ।

प्रहार--अपने ऊपर अथवा अन्य के ऊपर प्रहार हो तो ।

ग्राम दाह—गाव मे यदि आग लगी हो तो ।

पादेन किञ्चिद् ग्रहणं—पाद से-पाव से यदि कुछ वस्तु भूमि पर से ग्रहण की जाय तो आहार का अतराय होता है ।

एदे अण्णे बहुगा कारण भूदा अभोजणस्सेह ।
बोहण लोग दुगुंछण संजमणिव्वेदणठ्ठं च ॥६६७॥

पूर्वोक्त ये सर्व काकादिक अतराय भोजन त्याग के अतराय माने गये है। इनसे भी भिन्न दूसरे भोजन त्याग के हेतु माने है। वे इस प्रकार चांडालादि स्पर्श, कलह, इष्ट मरण, साधर्मिक सन्यास पतन, प्रधान मरण वगैरह। इन अंतरायों का पालन करना चाहिये। ये अन्तराय राज भय, लोकनिदा यदि होगी तो सयम पालन के लिए व वैराग्य के लिये धारण करना चाहिये ।

चौदह मलों का वर्णन—

णहरोमजंतु अठ्ठी कण कुंडयपूय चम्म रूहिरमंसाणि ।
बीय फल कंद मूला छिण्णाणि मला चउद्दसा होंति ॥६६८॥

मनुष्य अथवा तिर्यंच के हाथ पैरो के नख, रोम–मनुष्य अथवा पशु का केश, जन्तु–मरा हुआ प्राणी (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय मरा हुवा प्राणी) अर्थात् द्वीन्द्रियादि विकलत्रय जीवो का मृत शरीर। अठ्ठी-अस्थि। १. कण–जौ, गेहूँ वगैरह् धान्य का वाह्य अवयव, २. कुडक–शालि वगैरह धान्य का अदर का सूक्ष्म अवयव। पूय-पका हुआ रक्त जखम में उत्पन्न होने वाला पीव। चर्म-शरीर का चमडा-पहिला,

धातु, रुहिर-रक्त दूसरी धातु, मांस रक्त को आधारभूत तृतीयधातु, १. बीज-अकुर होने योग्य जौ, गेहूँ प्रभृति धान्य, फल-बीजसहित आम्र, बेर, वगैरह फल, कद-जमीन मे उत्पन्न होने वाला अंकुर की उत्पत्ति का कारण अथवा सूरण वगैरह, मूल-पीपल वगैरह वृक्षों के जड अदरख वगैरह चौदह मल है। इनमे कोई महा मल है, कोई अल्प मल-अल्प दोप है। रक्त, मांस, अस्थि, चमडा, पीव ये महादोप है। आहार मे इनके दर्शन से सर्व आहार का त्याग करके प्रायश्चित भी लेना चाहिये। द्वीन्द्रियादि विकल-त्रिक का शरीर और बाल अन्न में यदि दिख पड़े तो आहार त्याग करना चाहिये। नख दिख पडा तो आहार त्याग के साथ अल्प प्रायश्चित्त लेना चाहिये। अकुरोत्पन्न धान्य, कण, कुँड, बीज, कद, फल और मूल ये अन्न से अलग कर आहार कर सकते है। अन्यथा आहार का त्याग करना चाहिये। सिद्ध भक्ति करने पर अपने शरीर मे से अथवा भोजन परोसने वाले के शरीर से रक्त पीव यदि गलने लग जाय तो आहार का त्याग करना चाहिये।

पिण्डशुद्धि आदि का वर्णन

पिण्डशुद्धि के आठ भेदों का स्वरूप—

उग्गम उप्पादण एसणं च संजोजणं पमाणं च।
इंगाल धूम कारण अट्ठविहा पिण्डसुद्धी दु ॥६६६॥

अर्थ—उद्गम दोष, उत्पादन दोष, एषणा दोष सयोजन दोष, प्रमाण दोष, इंगाल दोष, धूम दोष और कारण दोष ऐसे पिण्डशुद्धि के आठ दोष है। इन दोपों से रहित पिण्डशुद्धि होती है। तात्पर्य – पिण्डशुद्धि के दोषो के सामान्य आठ भेद है और विशेष भेदों का वर्णन आगे क्रम से आचार्य करेंगे।

उद्गम दोष—दाता के रत्नत्रय का नाश करने वाले अभिप्रायो के द्वारा आहार, औषध, वसति और उपकरणो में जो दो दोष उत्पन्न होते है, उनको उद्गम दोप कहते है।

उत्पादन दोष—यति के रत्नत्रय का नाश करने वाले अभिप्रायों के द्वारा जो दोष उत्पन्न होते है, उन्हे उत्पादन दोप कहते है।

एषणा दोष—जो मुनि के करपुट में आहार अर्पण करते है – परोसते हैं, उनसे होने वाले दोषो को एपणा दोष कहते हैं।

संयोजन दोष—सयोग से होने वाले दोष को सयोजन दोष कहते है।

प्रमणातिरेक दोष—प्रमाण से अधिक आहार लेना।

इंगाल दोष—लम्पटता से आहार लेना।

धूम दोष—निंदा से आहार लेना।

कारण दोष—विरूद्ध कारणो से बना हुआ आहार लेना।

ऐसे पिण्डशुद्धि के दोषो के आठ विभाग कहे है।

उद्गम दोषों का नामनिर्देश

उद्गम दोषों का नाम निर्देश—

आधाकम्मुद्देसिय अज्झोवज्झे य पूदि मिस्से य।
ठविदे बलि पाहुडिदे पादुक्कारे व कीदे य ।।७००।।
पमिच्छे परियट्टे अभिहडमुब्भिण्ण माल आरोहे।
अच्छिज्जे अणिसट्ठे उग्गमदोसा दु सोलसिमे ।।७०१।।

अधःकर्म—यह दोष गृहस्थाश्रित है। इसमे पचशूना होती है। अर्थात् पानी भरना, झाडना, रसोई करना, धान्य कूटना और पीसना इन कार्यो से षट्काय जीवो की विराधना होती है। विराधनारूप यह महादोष है। आठ प्रकार के पिडशुद्धि के दोषो से भिन्न है, यह महादोष। निकृष्ट प्रवृत्ति को अधः कर्म कहते है। षट्काय जीवो के समूह का इसमे वध होने से यह महादोष है।

औद्देशिक—उद्देश्य से आहार बनाना। अध्यधि-मुनियो को देखकर आहार बनाने को प्रारम्भ करना। पूति-प्रासुक और अप्रासुक मिश्र-आहार।

मिश्र—असयतों के साथ मुनि को आहार देना।

स्थापित—अपने घर मे अथवा अन्य के घर मे स्थापन किया हुआ आहार।

बलि—यक्षादिको को अर्पण करके अवशिष्ट रहा हुआ आहार।

प्रावर्तित—काल की हानि वृद्धि करके बनाया हुआ आहार।

प्राविष्करण—आहार के लिये साधु आने पर पडदा हटाना, भाजन भस्म से मांजना इत्यादि।

क्रीत—अन्न खरीदकर लाना।

प्रामृष्य—ऋण लेकर आहार बनाना।

परिवर्तन—शालि आदि देकर उसके वदले में अन्य धान्य लेकर आहार बनाना।

अभिघट—अन्य स्थान से अन्न लाकर मुनि को देना।

उद्भन्न—उद्भन्न-भाजन के ऊपर का बधन निकालकर आहार देना।

मालारोह—घर के ऊपर सीढियो से चढकर आहार की वस्तु लाकर मुनि को आहार देना।

आच्छेद्य—राजादि के भय से आहार देना।

अनीशार्थ—अप्रधान दाताओ ने दिया हुआ आहार। ऐसे उद्गमादिक सोलह दोष है। इनका क्रम से वर्णन करते है।

गृहस्थाश्रित अधः कर्म दोष का स्वरूप—

छज्जीवरिणकायाणं विराहणोछावणादिरिणप्पण्णं।

आधाकंम्मं णेयं सयपरकदमादसंपण्णं ॥७०२॥

यह अधः कर्म दोष षट्काय जीवों की विराधना से होता है। अर्थात् पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवो को दु:ख देना उसको विराधना कहते है। उछावन-जीवो का वध करना। जीवो को पीडा देकर और उनका नाश कर जो आहार बनाया जाता है, उस आहार को भी अधः कर्म दोप कहते है। यह दोष स्वय करना, पर के द्वारा कराना, अथवा दूसरों ने किये दोष को अनुमति देना। जीवो को पीडा देकर और उनका नाश कर यह दोष मुनि करेंगे तो उनका मुनिपना नष्ट होगा। इसमे वैयावृत्त्यादिक गुण नही होने से मुनियों को यह कार्य सर्वथा वर्ज्य है। वैया-वृत्यादिक से रहित और स्वत के आहार लिये भोजन बनाना षट्काय जीवो का नाश होने मे निमित्त है। अतः यह दोष मुनि स्वतः नही करे और दूसरो से न करावे और करने वालो को अनुमति न देवे, मन, वचन, काय से न करे, न करावे, न अनुमति देवे। अर्थात् नौ प्रकार से अधः कर्म का त्याग करे। यह दोष छियालीस दोषो से अलग है। और यह गृहस्थ का कर्तव्य है। मुनि को इस दोष से सर्वथा दूर रहना चाहिये, यह दोष करने वाला मुनि गृहस्थ होता है। मुनिपना का नाशक यह दोप है। मुनिओं को षट्काय जीव वध का त्याग ही होता है, अतः मुनि इस दोप से सर्वथा दूर रहते ही हैं। फिर इसका यहा क्यो वर्णन किया है।

अन्य पाखडि साधुओं मे यह दोष पाया जाता है। वे ऐसा प्राणिवध युक्त आहार बनाते है, वैसा जैन मुनि नही करे। अन्य साधु ऐसा आहार बनाते है, अत. वे गृहस्थ हैं। जैन मुनि निष्परिग्रही है। उनको यह दोप निषिद्ध है।

उद्गम दोषों के सोलह भेद है। उनमें से पहिला औद्देशिक दोष है—

देवदपासंडट्ठं किविणट्ठं चावि जं तु उद्दिसियं।

कदमण्ण समुद्देसं चदुविहं वा समासेण ॥७०३

अधः कर्म महादोष है। उसके अनतर औद्देशिक दोष है। यद्यपि वह सूक्ष्म दोष है तो भी उसका त्याग करना चाहिये। देवता-नाग यक्षादिकों को देवता कहते हैं। पाखडि – जैन दर्शन से बाह्य मिथ्यादृष्टि कुतप करने वाले पारिव्राजक वगैरह साधु। कृपण-दीन लोक। देवताओ के लिये, पाखंडी साधुओं के लिए, दीन जनों के लिये जो आहार तैयार किया जाता है, उसे औद्देशिक आहार कहते है। अर्थात् औद्देशिक दोष के सक्षेप से चार भेद है।

औद्देशिक दोष के चार भेदों का स्वरूप—

जावदियं उद्देसो पासंडोत्ति य हवे समुद्देसो।

समणोत्ति य आदेसो णिग्गंथोत्ति य हवे समादेसो ॥७०४॥

यावानुद्देश—जो कोई आवेगे उन सबको मैं भोजन देऊगा ऐसा उद्देश-सकल्प मन में करके जो भोजन बनाया जाता है, उसको यावानुद्देश कहते है। जो कोई पाखडी आवेगे उन सबको आहार देऊगा, ऐसे उद्देश से बनाये गये अन्न को पाखडी समुद्देश कहते है। जो कोई श्रवण, आजीवक, तापस, रक्तपट, परिव्राजक और छात्र-शिष्य आवेंगे उन सबको मैं आहार देऊगा ऐसे सकल्प से बनाये हुए अन्न को श्रमणादेश यह सज्ञा है। जो कोई निर्ग्रंथ मुनि आवेगे उनको मै आहार देऊगा ऐसे उद्देश से अन्न किया जाता है, उसको निर्ग्रंथ समादेश कहते है। तात्पर्य सामान्य के उद्देश्य से, पाखडिओं के उद्देश्य से, श्रमणो के उद्देश्य कर और निर्ग्रंथों के उद्देश्य कर जो अन्न बनाना वह चार प्रकार का औद्देशिक दोष होता है। उद्देश से बनवाये आहार को औद्देशिक आहार कहना चाहिये।

अध्यधि दोष का स्वरूप—

जल तंदुलपक्खेवो दाणटं संजदाण सयपयणे।

अज्झोवज्झं णेयं अहवा पागं तु जाव रोहो वा ॥७०५॥

अपने लिये जो अन्न पकाया जाता है, उसी मे सयत को देखकर उसके लिये भी जो पानी और तंदुलादिको का पुन. अधिक क्षेपण करना उसको अध्यधि दोष कहते है अथवा जितने काल मे आहार तैयार होगा उतने काल तक आहार के लिये

आये हुए मुनिराज को पूजा के लिये और धर्मप्रश्न आदि के निमित्त स्थापन करना वह भी अध्यधि दोष है ।

पूति दोष का स्वरूप—

अप्पासुएण मिस्सं पासुयदव्वं तु पूदि कम्मं तं ।
चुल्ली उक्खलि दव्वी भायणगंधत्ति पंचविहं ।।७०६।।

प्रासुक ऐसा भी अन्न अप्रासुक सच्चित्तादिक अन्न के साथ मिश्रण करने से पूति दोष उत्पन्न होता है । अथवा प्रासुक होने पर भी जिसमे संकल्प किया जाता है, उसको भी पूतिकर्म दोष पांच प्रकार का है । जैसे – चुल्लि-जिस पर अन्न पकाया जाता है, ऐसी सेगडी अथवा चूल । उक्खलि – जिसमें चटणी आदि कूटकर किये जाते है । दर्वी-सडासी । भाजन-अन्न पकाने का पात्र । गंध-गध युक्त द्रव्य । चूल के ऊपर भात आदि पकाकर साधु को प्रथम देंगे अनतर स्वत अथवा इतर लोगो को देऊगा ऐसी कल्पना से प्रासुक भी द्रव्य पूतिकर्म से निष्पन्न होने से पूति कहा जाता है । उद्खल – इस उखली मे चूर्ण कर जब तक वह ऋषिओ को नही देऊगा तब तक स्वतः के लिये अथवा अन्य के लिये वह उपयोग मे नही लाऊगा ऐसी कल्पना से यह उद्खली नामक पूतिकर्म दोष है । यद्यपि वह चूर्ण प्रासुक है तो भी उपर्युक्त संकल्पना से पूति कर्म होता है । दर्वी – संडासी से जब तक मुनि को आहार मै कही दूगा तब तक स्वः को अथवा अन्य को वह योग्य नही है ऐसे सकल्प से यह भी पूतिकर्म दोप है । गध– यह गध जब तक ऋपि को भोजन पूर्वक नही दूंगा तब तक अन्यो को नही दूगा । ऐसे सकल्प से यह भी पूतिकर्म दोष होता है । इस प्रकार पूतिकर्म दोप पाँच प्रकार का है । दाता उपर्युक्त संकल्प करके चुल्ली वगैरह से प्रथम आरम्भ कर्म करता है, अतः ऐसे आहार को यदि छोड़ देते है । यद्यपि इसमे आहार के अन्नादिक पदार्थ प्रासुक है तो भी दाता के उपर्युक्त संकल्प से सदोष है, ऐसा समझना चाहिये ।

मिश्रदोष के स्वरूप का निरूपण—

पासंडेहिं य सद्धं सागारेहिं य जदण्णमुद्दिसियं ।
दादुमिदि संजदाणं सिद्धं मिस्सं वियाणाहि ।।७०७।।

प्रासुक अन्न तैयार होने पर भी अर्थात् भात आदि अन्न प्रासुक होने पर भी पाखडिओ के साथ और गृहस्थो के साथ मुनिओ को जो देने का सकल्प किया

जाता है, तब वह अन्न मिश्र दोष से युक्त होता है । पाखंडियों के साथ मुनियो को आहार देने से और गृहस्थो के साथ उनको आहार देने से मुनियों का यथा योग्य आदर नही हो सकता, अतः इस प्रकार के आहार दान मे अनादर दोष उत्पन्न होता है । तथा पाखडियो के साथ मुनियो के दान मे स्पर्शदोष उत्पन्न होता है, क्योकि पाखडी चाहे जहा उच्च नीच लोगो के घर में आहार लेते है । तथा पाखडी स्वत' उच्च और नीच जाति के भी होते है, अत. इनके साथ मुनियों को आहार देने से स्पर्श दोष भी उत्पन्न होता है ।

स्थापित दोष का स्वरूप—

> **पागादु भायणाओ अण्णम्हि य भायणम्मि पक्खविय ।**
> **सघरे व परघरे वा णिहिदं ठविदं वियाणाहि ।।७०८।।**

जिस स्थाली मे आहार पकाया था, उसमें से वह आहार निकाल कर अन्य स्थाली मे–पात्र मे वह स्थापना करके स्वगृह मे अथवा परगृह में ले जाकर स्थापन करना वह स्थापित दोष है । दाता मे भय होने से वह आहार के पदार्थ अन्य भाजन मे रखकर अपने अथवा दूसरे के घर मे रखकर दान देता है अथवा उसके साथ उसके स्वजनो का विरोध होने से वह अन्य के घर मे आहार के पदार्थ रखता है, अतः यह दान भय और विरोधादि दोषो से दूषित होता है ।

बलिदोष का स्वरूप—

> **जक्खयणागादीणं बलिसेसं बलित्ति पण्णत्तं ।**
> **संजद आगमणट्ठं बलियम्मं वा बलिं जाणे ।।७०९।।**

यक्ष, नाग, मातृका, कुलदेवता, पितर आदि के लिए जो बलि किया जाता है, उसमे से बचा हुआ जो बलि का अश वह मुनि के लिए भी उपयोग मे लाना, यह वलि दोष है । अथवा नागयक्षादि के लिये जो चदनादिक उपयोग में लाकर अवशिष्ट रहे थे, उनका मुनियो के पूजा मे भी उपयोग करना यह बलिदोष है, किंवा मुनियों को स्थापन कर चन्दनादिक अर्पण करना, उदक क्षेपण करना, पुष्पफल पत्रादिक तोडकर उससे अर्चन करना यह सावद्य दोष से युक्त होने से दोष मुक्त माना जाता है ।

प्राभृत दोष के स्वरूप का निरूपण—

> **पाहुडियं पुण दुविहं बादर सुहूमं च दुविहमेक्केक्कं ।**
> **ओकस्सण मुक्कस्सण महकालो वट्ट णावड्ढो ।।७१०।।**

प्राभृत दोष के बादर और सूक्ष्म ऐसे दो भेद है। पुनः बाहर के उत्कर्षरण और अपकर्षरण ऐसे दो भेद है। सूक्ष्म के भी उत्कर्षण और अपकर्षण ऐसे दो-दो भेद होते है।

बादर के दो भेद और सूक्ष्म के दो भेद—

दिवसे पक्खे मासे वास परत्तीय बादरं दुविहं।
पुव्व परमज्झवेलं परियत्तं दुविह सुहुमं च ॥७११॥

ठहराया हुआ–निश्चित किया हुआ दिवस, पक्ष, महिना और वर्ष को बदलकर जो दान दिया जाता है, वह बादर प्राभृतकदोष से दूषित होता है। यह बादर प्राभृतकदोष दो प्रकार का है। उसका खुलासा-शुक्लाष्टमी के दिन देने के लिए निश्चित किया आहार, दिन कम करके शुक्लपचमी के दिन देना। और शुक्ल पंचमी के दिन आहार देने का निश्चय बदलकर शुक्लाष्टमी को आहार देना। यह दिवस परावृत्ति-प्राभृतकदोष है। चैत्र शुक्ल पक्ष मे देने का निश्चय बदलकर चैत्र कृष्ण पक्ष में देना और चैत्र कृष्ण मे देने का निश्चय बदलकर चैत्र शुक्ल में देना। चैत्र मास में आहार देने का निश्चय बदलकर फाल्गुन मे देना और फाल्गुन का आहार देने का निश्चय बदलकर चैत्र मास मे आहार देना यह मासपरावृत्ति-प्राभृतकदोष है। आगे के वर्ष मे देने का निश्चय बदलकर अब के वर्ष मे दान देना तथा साप्रतिक वर्ष का निश्चय बदलकर उत्तरवर्ष मे आहार देना निश्चित करना इस प्रकार बादर प्राभृत के दो भेदो का वर्णन किया है।

सूक्ष्म प्राभृत के दो भेद इस प्रकार समझना चाहिए—दिन के पूर्व काल में आहार देने का निश्चय बदलकर मध्यान्हकाल मे देना, मध्यान्हकाल का निश्चय बदलकर पूर्वान्हकाल मे देना। इस प्रकार काल की हानि और वृद्धि के आश्रय से प्राभृतक दोष के दो भेद कहे है। सक्लेश परिणाम और आरम्भ दोष इनमे दीखता है, अतः ये दोष दाता के द्वारा त्याज्य है।

प्रादुष्कार दोष का वर्णन—

पादुक्कारो दुविहो संकमरणपयासरणा च बोद्धव्वो।
भायरण भोयरण दीणं मंडल विरलादियं कमसो ॥७१२॥

प्रादुष्कार दोष के सक्रमण और प्रकाशन ऐसे दो भेद हैं। संक्रमण प्रादुष्कार दोष—भोजन और भोजन के पात्र एक स्थान से स्थानातर मे ले जाना।

प्रकाशन प्रादुष्कार–आहार के उपयुक्त पात्र भस्मादिक से मांजना धोना अथवा आहार के उपयुक्त पात्र फैल कर रख देना। छत, चन्द्रोपक वगैरह ऊपर लगा देना, भीत और जमीन गोवर और मिट्टी से लेपना, साफ सुथरी करना, दीपक जलाना इत्यादिक कार्य करना प्रादुष्कार दोप का स्वरूप है। ये कार्य करते समय ईर्यापथशुद्धि नही रहती है, अतः यह दोप उत्पन्न होता है। एक स्थान से अन्य स्थान मे आहारादिक के पात्र ले जाते समय ईर्यापथशुद्धि का पालन करना चाहिए। वह न होने से प्रादुष्कार दोष उत्पन्न होता है।

क्रीततर दोष का स्वरूप—

कीदयडं पुण दुविहं दव्वं भावं च सग परं दुविहं।
सच्चित्तादी दव्वं विज्जामंतानि भावं च ॥७१३॥

क्रीततर के द्रव्य और भाव ऐसे दो भेद है। द्रव्य के भी स्वद्रव्य और परद्रव्य ऐसे दो भेद है। भाव के स्वभाव और परभाव ऐसे दो भेद है। गाय, भैंस, अश्व इत्यादि को द्रव्य कहते हैं। विद्या मन्त्रादि को भाव कहते है। गाय, भैंस, अश्व आदि को सचित्तद्रव्य कहते है और तावूल वस्त्रादिको को अचित्त द्रव्य कहते है। जव मुनि आहार के लिए श्रावक के घर मे आते है उस समय श्रावक अपना अथवा अन्य का सचित्तादि द्रव्य और तावूल वस्त्रादिक अन्य श्रावक को देकर उससे आहार ग्रहण कर यदि मुनिराज को आहार देगा तो क्रीत दोष उत्पन्न होता है। तथा स्वमंत्र अथवा परमत्र, स्वविद्या अथवा परविद्या देकर आहार प्राप्ति कर लेता है और यति को वह आहार यदि श्रावक देगा तो यह भी क्रीतदोष कहा जाता है। प्रज्ञप्त्यादिकों को विद्या कहते है और चेटक आदि को मत्र कहते है। इनके द्वारा आहार उत्पन्न करके मुनि को आहार देने मे कारुण्यदोप उत्पन्न होता है, संक्लेश परिणाम भी उत्पन्न होते हैं।

ऋण दोष का स्वरूप—

दहरिय रिणं तु भणियं पामिच्छं ओदणादि अण्णदरं।
तं पुण दुविहं भणिदं सवाड्ढियमवड्ढियं चावि ॥७१४॥

लघु ऋण को 'दहरिय' कहते है। भात वगैरह अन्न को पामिच्छ कहते है। यह ऋण और अन्नादिक वृद्धि सहित और वृद्धि रहित ऐसे दो प्रकार के है। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार से समझना–जब मुनि आहार के लिए जाते है। तब

दाता अन्य श्रावक के घर में जाकर अन्नादिक की याचना करता है, अर्थात् मेरे घर पर मुनि आहार के लिए आये है, यदि इस समय आप मेरे को अन्नादिक देगे तो मै आपको उससे अधिक अथवा उतने ही अन्नादिक वस्तु दूंगा, इस प्रकार कहकर उनसे अन्नादिक लेकर मुनि को देना यह प्रामृष्यदोष है। इस प्रकार से आहार देने में दाता के परिणामों की निर्मलता नही रहती है और आहार लेने के लिए अनेक घरो में जाने के कष्ट भी होते है, अत इस प्रकार से आहार देना सदोष माना है। ऋण लेकर दान देना यह दोष है।

परावर्त दोष का स्वरूप—

वीहीकूरादीहि य सालीकूरादियं तु जं गहिदं।
दादुमिदि संजदाणं परियट्ठं होदि णायव्वं ॥७१५॥

अन्य श्रावको के पास जाकर व्रीहिओ के भात वगैरह पदार्थ देकर उनसे शाल्योदनादि पदार्थ लेकर मुनियो को आहार देना यह परिवर्तन नामक दोष है। अथवा मडकादिक पदार्थ देकर व्रीहिओ का भात वगैरह उनसे लेना यह परिवर्तन दोष है। इसमें दाता को सक्लेश परिणाम उत्पन्न होते है, अतः यह दोष हैं।

अभिघट दोष का स्वरूप—

देसोत्ति य सव्वोत्ति य दुविहं पुण अभिहडं वियाणाहि।
आचिण्णमणाचिण्णं देसाभिहडं हवे विदियं ॥७१६॥

देशाभिघट और सर्वाभिघट ऐसे अभिघट दोष के दो भेद है। किसी एक प्रदेश से आये हुए भात आदिक पदार्थ को देशा भिघट कहते है। अनेक स्थानो से आये हुए भात आदि पदार्थ को सर्वाभिघट कहते है। देशाभिघट के आचिन्न देशाभिघट और अनाचिन्न देशाभिघट ऐसे दो भेद है।

आचिन्न और अनाचिन्न का स्वरूप—

उज्जु तिहिं सत्तहिं वा घरेहिं जदि आगदं दु आचिण्णं।
परदो वा तेहिं भवे तव्विवरीदं अणाचिण्णं ॥७१७॥

सरल पक्ति स्वरूप तीन अथवा सात घरो से आये हुए भात, लड्डू आदिक अन्न को आचिन्न कहते है। ऐसा अन्न मुनियो के ग्रहण योग्य माना है। उसमे दोष नही है। परन्तु जो एक पंक्ति मे नही है, ऐसे घरों में से अन्नादिक लाते समय ईर्यापथ शुद्धि नही होती है। अतः अक्रमपक्तिस्थित घरो से आया हुआ आहार मुनियो

को निषिद्ध है।

सर्वाभिघट दोष का स्वरूप—

सव्वाभिघडं चदुधा सयपरगामे सदेस परदेसे ।
पुव्वापर पाडण थडं पढमं सेसं पि णादव्वं ।।७१८।।

सर्वाभिघट के स्वग्राम, परग्राम, स्वदेशे और परदेशे ऐसे चार भेद है। जिस ग्राम में मुनि तिष्ठे हैं, वह स्वग्राम है। उससे भिन्न ग्राम को परग्राम कहते है। जिस देश में मुनि स्थित है, वह स्वदेश है और उससे अन्य देश को परदेश कहते है। स्वग्राम से आये हुए अन्नादिक को स्वग्रामाभिघट दोष कहते है। स्वग्राम से आये हुए अन्नादिक को ग्रहण न करे। इसका स्पष्टोकरण—एक गली मे से दूसरे गली मे अन्नादिक को ले जाना, पूर्व की गली में से पश्चिम दिशा की गली मे अन्नादिक ले जाना, यह स्वग्रामाभिघट नामक दोष है। दूसरे ग्राम से अपने ग्राम को अन्नादिक लाना परग्रामाभिघट नाम का दोप है। अपने देश से अपने ग्राम को अन्नादिक लाना परग्रामाभिघट नाम का दोष है। अपने देश से अपने ग्राम को अन्नादिक लाना, यह परदेशाभिघट नामक दोष है। ऐसे सर्वाभिघट दोष के चार भेद है। इसमें दूर से अन्नादिक लाने से ईर्यापिथ शुद्धि नही रहती है, अतः इस सर्वाभिघट दोष को त्यागना चाहिये ।

उद्भिन्न दोष का वर्णन—

पिहिदं लंछिदियं वा ओसहघिदसक्करादि जं दव्वं ।
उब्भिण्णिऊण देयं उब्भिण्णं होदि णादव्वं ।।७१६।।

ढक्कन से बद किये हुए अथवा कीचड़ से लिप्त किवा लाख से मुद्रित ऐसे पात्रों मे रखे हुए जो औषध, घी, गुड, शक्कर, लड्डू, खजूर, आदिक पदार्थ ढक्कन खोलकर वा मुहर तोडकर यति को देना वह उद्भिन्न नामक दोष है। ढके हुए पात्रों मे चीटी आदिक जन्तु प्रवेश करते है और उस पात्र में से गुड, खांड वगैरह पदार्थ मुनियों को देते समय चीटी आदिको की बाधा होती है, अतः इस प्रकार का आहार उद्भिन्नदोष से दूषित है।

मालारोहण दोष का वर्णन—

णिस्सेणी कट्ठाविहि णिहिदं पूयादियं तु घेत्तूणं ।
मालारोहं किच्चा देयं मालारोहणं णाम ।।७२०।।

निसैनी से चढ़कर घर के दूसरे मजले में–माडी रक्खे हुए मडक, लड्डू आदिक पदार्थ को लेकर मुनियो को देना, यह मालारोह नामक दोष है। निसैनी के द्वारा माड़ी पर से लड्डू आदिक पदार्थ लाने वाला दाता नीचे गिरकर पडने की सभावना है, दाता को अपाय होने की इसमे सभावना होती है, अत. यह दोष त्याज्य है।

अच्छेद्यदोष का स्वरूप—

राजाचोरादीहि य संजद भिक्खा समं तु दट्ठूण।
बीहेदूण णिजुज्जं अच्छेज्जं होदि णादव्वं ॥७२१॥

मुनियो को भिक्षा का कष्ट होता है, ऐसा समझकर राजा तथा राजा के समान अधिकारी व्यक्ति और चौरादिक श्रावकों को भय दिखा कर उनसे मुनियो को आहार दिलाते है, इस प्रकार आहार देना यह आच्छेद्य नामक दोष है। राजादिक श्रावकों को इस प्रकार कहते है—तुम यदि यतियो को आहार न देंगे तो तुम्हारा धन हम लूटेगे, गांव से निकाल देगें, इस प्रकार डराकर के जो दान दिया जाता है, वह आच्छेद्य नामक दोष है।

अनीशार्थ दोष के स्वरूप का विवरण—

अणिसट्ठं पुण दुविहं इस्सरमहणिस्सरं च तिवियप्पं।
पढमिस्सरसारक्खं वत्तावत्तं च संघाडं ॥७२२॥

अनीशार्थ—अप्रधान हेतु को अनीशार्थ कहते हैं, वह अनीशार्थ ईश्वर औ अनीश्वर ऐसा दो प्रकार का है। अथवा धनेश्वर ऐसा पाठ है। जिस अन्न लड् आदिक पदार्थ के अप्रधान अर्थ कारण है, उन लड्डू आदिक पदार्थो को अनीश कहते है। ऐसे पदार्थ को ग्रहण करने में जो दोष होता है, उस दोष को भी अनीश कहते है। इस अनीशार्थ के ईश्वर और अनीश्वर ऐसे दो भेद हैं।

सारक्षईश्वर, यह दान का पहला भेद है। अमात्य पुरोहितादिको को आ कहते है, आरक्षो से सहित दान देने वाले ईश्वर को सारक्षईश्वर कहते हैं। इ अभिप्राय–दाता के मन मे मुनि को दान देने की इच्छा है तो भी वह नही दे स है, क्योंकि दूसरे लोग देते समय उससे विरोध करते हैं। अर्थात् दाता को दान है, परन्तु अमात्य पुरोहितादिक विरोध करते है, इस प्रकार से यदि उस दात ... अन्न लेंगे तो यह पहला ईश्वर नामक अनीशार्थ दोप है।

अनीशार्थ— जिस दान का अप्रधान पुरुष हेतु होता है, वह दान अनीशार्थ कहा जाता है। और ऐसे दान से उत्पन्न हुए दोष को भी अनीशार्थ कहते है। यहाँ कार्य में कारण का उपचार किया है। दान ग्रहण करना यह कारण है और उससे उत्पन्न हुआ दोष कार्य माना जाता है। कार्य रूप दोष को कारण का नाम देने से कार्य मे कारण का उपचार हुआ है।

यह अनीशार्थ तीन प्रकार का है—व्यक्त, अव्यक्त और सघाटक। अनीश्वर दानादिक का स्वामी नही माना जाता है। परन्तु व्यक्त-बुद्धी से, विवेक से कार्य करने वाले अनीश्वर को व्यक्तानीश्वर कहते है। ऐसे अनीश्वर के द्वारा दिया जाने वाला आहार यदि मुनि ग्रहण करेंगे, तो यह व्यक्त अनीश्वर, अनीशार्थ नामक दोप होता है।

अव्यक्त अनीश्वर अनीशार्थ—अनीश्वर दान का स्वामी नही माना जाता है, यह ऊपर कह चुके है। अव्यक्त—जो अविवेक से कार्य करता है, ऐसे अनीशने दिया हुआ अन्न ग्रहण करना वह अव्यक्त अनीश्वर नामक अनीशार्थ दोप है।

व्यक्ताव्यक्त अनीश्वर नामक अनीशार्थ दोष—इसकी ही संघाटक अनीश्वर नामक अनीशार्थ दोष ऐसा दूसरा नाम है। व्यक्त और अव्यक्त ऐसे अनीश्वर के द्वारा दिया जाने वाला आहार साधु यदि ग्रहण करे तो यह दोष होता है। ऐसा आहार लेना अपायकारक है। अथवा इस दोष का स्पष्टीकरण इस प्रकार से भी होता है। ईश्वर–दान देने वाला अर्थात् दानपति स्वामी। व्यक्ताव्यक्त दानपति के द्वारा जिसका निषेध किया है, ऐसा दान यदि साधु ग्रहण करेंगे, तो वह व्यक्ता-व्यक्तेश्वर नामक अनीशार्थ दोष होता है।

व्यक्ताव्यक्तेश्वर नामक अनीशार्थ दोष–जो दान का स्वामी नही है ऐसे व्यक्ताव्यक्त के द्वारा दिया हुआ जो दान मुनि ग्रहण करते है, तब यह दोष उत्पन्न होता है।

सघाटक–समुदाय-अर्थात् कोई पुरुप दान का निषेध करता है और कोई दान देता है। इस प्रकार का दान साधु ग्रहण करेंगे तो यह सघाटक नामानीशार्थ दोष है।

ईश्वर व्यक्ताव्यक्त, सघाटभेद से दो प्रकार का है। ईश्वर–दान का स्वामी आहार देने के लिये उद्युक्त हुआ है और ईश्वर ही व्यक्त, अव्यक्त, सघाट के द्वारा

जब दान का निषेध करता है तब यह दोष उत्पन्न होता है ।

गाथा मे जो 'च' शब्द है वह समुच्चयार्थक है उसका स्पष्टीकरण–ईश्वर दो प्रकार का है और अनीश्वार भी दो प्रकार का है ।

ईश्वर-दानपति दान देता है और व्यक्त, अव्यक्त ऐसे अनीश उसका निषेध करता है । अथवा व्यक्त किंवा अव्यक्त ईश्वर के द्वारा निषिद्ध दान को ग्रहण करना ऐसे दो भेद ईश्वरानीशार्थ के हैं । तथा व्यक्त और अव्यक्त अनीश के द्वारा निषिद्ध दान ग्रहण करना ये दो भेद अनीश्वर अनीशार्थ के होते है ।

संघाटक के द्वारा निषिद्ध किया हुआ दान ग्रहण करना यह भी उपर्युक्त दोषो से भिन्न दोष है, क्योकि इसमे सर्वत्र निषेध ही दिख पडता है ।

अथवा निसृष्ट शब्द का–मुक्त ऐसा अर्थ है अर्थात् जो निषेवा जाता है उसको निसृष्ट कहते है । जिसकी मनाई की गई है वह अनिसृष्ट है । अनिसृष्ट के ईश्वर और अनीश्वर ऐसे दो भेद है । पुनः चार भेद इस प्रकार होते हैं––ईश्वर के सारक्ष, व्यक्त, अव्यक्त और सघाटक ऐसे चार भेद है। मंत्र्यादियुक्त स्वामी को सारक्ष कहते है। बालक स्वामी को अव्यक्त कहते है । प्रेक्षापूर्वकारी विवेकी स्वामी को व्यक्त कहते हैं । व्यक्ताव्यक्त का समूह संघाटक कहा जाता है । इस प्रकार अनीश्वर के भी भेद हैं। इन्होने निषेधा हुआ अथवा दिया हुआ दान यदि साधु लेंगे तो अनिसृष्ट दोष होता है । इस प्रकार अनिसृष्ट दोष का विवरण हुआ ।

उत्पादन दोषों का प्रतिपादन––

धादीदूदणिमित्ते आजीवे वणिवगे य तेगिछे ।
कोधी माणी मायी लोही य हवंति दस एदे ।।७२३।।

धादी–माता । दूत–वार्ताहर । निमित्त–ज्योतिष । आजीव–आजीविका वनीपक–दाता के भनुकूल भाषण करना । चिकित्सा–वैद्य शास्त्र । क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी इस प्रकार उत्पादन दोष के दस भेद हैं ।

पुव्वी पच्छा संथुदि विज्जामते य चुण्णजोगे य ।
उत्पादण य दोसो सोलसमो मूलकम्मे य ।।७२४।।

पूर्व स्तुति–दान ग्रहण के पूर्व दाता की स्तुति करना । पश्चात्स्तुति–दान ग्रहण के पश्चात् दाता की स्तुति करना । विद्या–आकाशगामिनी, रूपपरावर्तिनी, शास्त्र स्तंभिनि इत्यादि विद्याओ का माहात्म्य कहना । मत्र–सर्प विप, वृश्चिकविस दूर करने वाले मत्र के द्वारा अपना महत्त्व दिखाकर दाता से आहार ग्रहण करना ।

चूर्ण, योग-शरीर को सुगंधित और भूषित करने वाले उवटन आदिकों का उपदेश करना ये सब उत्पादन दोष हैं। मूल कर्म-जो वश नहीं है, उनको वश करना ऐसे सोलह उत्पादन दोष है।

धात्री दोष का विवरण—

मज्जरा मंडरगधादी खेल्लावरगखीर अंबधादी य।
पंच विध धादिक म्मेगुप्पादो धादिदोसो दु ॥७२५॥

जो बालक का सरक्षरग करती है पोषरग करती है, उसको दूध पिलाती है, उसको धात्री कहते है। धात्री के पांच भेद है। उनका विवेचन-मार्जनधात्री-जो बालक को स्नान करवाती है उसको मार्जनधात्री कहते है। जो बालक को तिलक, अंजन और आभूषरग से सजाती है उसको मडन धात्री कहते है। जो बालक को क्रीडा के द्वारा आनदित करती है, उसको क्रीडन धात्री कहते हैं। जो बालक को दूध पिलाती है, स्तनपान कराती है वह क्षीर धात्री है। जो बालक को अपने पास सुलाती है वह अव धात्री है। ऐसे पांच धात्रिओ के कार्यो से जो मुनि गृहस्थ द्वारा आहार उत्पन्न कराते है उनको यह धात्री नामक उत्पादन दोष होता है। बालक को इस प्रकार से यदि तुम स्नान कराओगे तो वह सुखी और रोग रहित होगा ऐसा उपदेश मुनि गृहस्थ को देते है। जिससं गृहस्थ आनंदित होकर मुनि को आहार देगा। इस प्रकार से मुनि लेगे तो उनको यह धात्री नामक दोप उत्पन्न होता है।

जो मुनि स्वयं बालक को भूषित करते है तथा बालको को भूपित करने का का उपदेश गृहस्थ को देते हैं जिससे गृहस्थ खुश होकर उनको दान देता है मुनि उस दान को यदि ग्रहरग करेंगे तो उनको मडन धात्री नामक उत्पादन दोष होगा, जो मुनि स्वयं क्रीडा सिखलाते है तथा बालक को क्रीडा के खुश रखने का उपदेश गृहस्थ को देते हैं और ऐसे उपदेश से आहार देने के लिये उद्युक्त गृहस्थ का आहार जो लेते हैं, उनको क्रीडन धात्री नामक उत्पादन दोष कहते है। जिससे दूध उत्पन्न होता है ऐसा उपाय कहना और योग्य उपाय से बालको को दूध पिलाने का उपदेश देते है, तथा गृहस्थ संतुष्ट होकर मुनि को आहार देने के लिये प्रवृत्त होता है। तव वह आहार यदि मुनि लेंगे तो उनको क्षीर धात्री नामक दोष होता है, जो मुनि बालकों को सलाने का उपाय वतलाते है, तव गृहस्थ सतुष्ट होकर उनको आहार देता है। उसको

ग्रहण करने वाला साधु अंबधात्री नामक दोप से दूषित होता है। इन दोषो से स्वाध्याय का नाश होता है, अतः ये दोष त्यागने चाहिये।

दूतीनामक दोष का विवरण—

जल थल आयासगदं सयपरगामे सदेसपरदेसे।
संबंधिवयण णयणं दूदो दोसो हवदि एसो ।।७२६।।

स्वग्राम से परग्राम को पानी मे नाव के द्वारा साधु जा रहे है ऐसे समय कोई श्रावक मेरे संबंधी जनों को मेरा सदेश आप कहो ऐसा कहता है तब वह साधु उसके संबंधी को वह सदेश वहाँ पहूँचाकर कह देता है। तब वह संबधीजन आनंदित होकर दानादिक दे और साधु यदि वह लेंगे तो वह आहार दूती दोष युक्त होता है। स्वदेश से परदेश को जल मे नौका के द्वारा साधु जा रहे हैं तब कोई गृहस्थ अपनी वार्ता संबंधी जन के पास पहूँचाने के लिये कहते है साधु वह वार्ता कह देते हैं तब व्ह संबंधी संतुष्ट होकर आहारादिक देता है और साधु यदि ग्रहण करेंगे तो यह भी दूती दोष होता है। उपर्युक्त प्रकार से एक गांव से दूसरे गाव को, एक देश से दूसरे देश को स्थल से किवा आकाश से जाते समय मुनि को कोई गृहस्थ सबधीजन के लिये कोई संदेश पहूँचाने के लिये कह दे और वह साधु उसको कहने पर वह सतुष्ट होकर दानादिक देता है। तब ऐसे दानादिक लेने से साधु दूती दोष से युक्त होते है। गृहस्थो के संवधीजनों के सन्निध सदेश ले जाना मुनियो के लिये योग्य नही है। ऐसा दूतकर्म शासन मे दोष उत्पन्न करता है।

निमित्त दोष का स्वरूप—

अंगं सरं च वंजण लक्खण छिण्णं च भोम्मसुमिणं च।
तह चेव अंतरिक्खं अट्ठविहं होइ णेमित्तं ।।७२७।।

अंग-हाथ, पांव आदिक शरीर के अवयव। स्वर-शब्द। व्यजन-तिल, मशकादिक चिह्न। लक्षण-हस्ततलादिकों पर नन्दिक, आवर्त, पद्म, चक्रादिक आकृति। छिन्न-छेद-खड्गादि प्रहार अथवा चूहा आदि प्राणिओ के द्वारा किये गये वस्त्रादि के छेदो को छिन्न कहते हैं। भूमि विभागो को भौम कहते हैं। सूर्य चन्द्रादि-ग्रहो के उदयास्त और गति को अतरिक्ष कहते हैं। स्वप्न-निद्रित प्राणिओ का हाथी, विमान, महिष इत्यादिकों पर आरोहण देखना ऐसे आठ प्रकार का निमित्त है।

व्यजन—शरीर के ऊपर तिलादिक देखकर उनसे होनहार शुभाशुभ जाना

जाता है उसे व्यजन निमित्त कहते है। अंग मस्तक, कंठ आदि अवयवों को देखकर पुरुष के शुभाशुभ जान लेना यह अग निमित्त है। स्वर-शब्द सुनकर मनुष्य अथवा अन्य प्राणियो का शुभाशुभ जानना स्वरनिमित्त है। छेद-प्रहार अथवा वस्त्रादिक मे छेद देखकर किसी पुरुष या अन्य का शुभाशुभ जानना भूमि निमित्त है। अन्तरिक्ष आकाश में ग्रहो का युद्ध, अस्त, वज्रापात, उल्का पतन, नक्षत्र कंप इत्यादि देखकर राजा प्रजादिको का शुभाशुभ जान लेना अन्तरिक्ष निमित्त है। लक्षण-पुरुष अथवा नारी के लक्षण देखकर उनके शुभाशुभ कह देना लक्षण निमित्त है। स्वप्न को देखकर पुरुप अथवा अन्य का शुभाशुभ जानना वह स्वप्ननिमित्त है। गाथा में 'च' शब्द है उससे भूमिगर्जना, दिग्दाह इत्यादिकों का ग्रहण होता है इन निमित्तो से आहार उत्पन्न कराकर यदि मुनि आहार लेगा तो उसको निमित्त नामक उत्पादन दोष होता है। रसलपटता, दीनता वगैरह दोष इस प्रकार से आहार लेने में व्यक्त होते है।

आजीव दोष का निरूपण—

जादीकुलं सिप्पं तवकम्मं ईसरत्त आजीवं।
तेहिं पुरा उत्पादो आजीव दोसो हवदि एसो ।।७२८।।

जाति-माता के पीढिओ की परपरा अथवा माता के शीलादि गुणों की निर्मलता। कुल—पिता के वश की परम्परा अथवा पिता आदिक पूर्वजों की सदाचार तत्परता। शिल्पकर्म-लेप, चित्र आदिक हस्तकला का चातुर्य। तपःकर्म-तपोऽनुष्ठान। ईश्वरत्व-समाज मे आदरणीयता, धनाढ्यपना। अपनी जाति और कुल का वर्णन सुना करके दाता को प्रसन्न करना और उसने दिया हुआ आहार लेना यह आजीव दोष है। इस ही प्रकार से अपना कला चातुर्य, अपना तपश्चरण आदि वर्णन करके दाता के मन में स्वविपयक आदर उत्पन्न करने से वह आहार देने मे प्रवृत्त होने पर उससे आहारादिक लेना यह आजीवक दोप है। इस प्रकार आहार लेने से अपना असामर्थ्य और दीनतादिक दोष प्रकट होते है।

वनीपक वचन नामक दोष का निरूपण—

साणकिवण तिथि माहण पासंडिय सवणकागदाणादि।
पुण्णं णवेति पुट्ठे पुण्णेत्ति वणीवयं वयणं ।।७२९।।

कुत्ते, दीन कुष्ठादि रोग से पीड़ित जन, मध्याह्नकाल में आये हुए भिक्षुक

ब्राह्मण, मासादिक का भक्षण करने वाले पाखंडी लोग, श्रमण–श्राजीवक नाम के साधु अथवा छात्र–विद्यार्थी, काग वगैरह पक्षी, इनको दानादिक देने से पुण्य प्राप्ति होती है अथवा नही होती है ? ऐसा प्रश्न पूछने पर दाता के अनुकूल यदि 'पुण्य होगा' ऐसा वचन साधु बोलेंगे तो वनीपकवचन नामक दोष होता है। दानपति के अनुकूल वचन बोलकर यदि जैन मुनि आहार लेगे तो वनीपक नामक उत्पादन दोष उत्पन्न होता है। इसमें भी दीनतादिक दीख पडते है, अतः यह दोष त्याज्य है।

चिकित्सा दोष का निरूपण—

> **कोमारतणुतिगिंछारसायणविसभूद खारतंतं च।**
> **सल्लं सालंकियणं तिगिच्छदोसो दु अट्ठविहो ।।७३०।।**

कौमार–बालवैद्य शास्त्र अर्थात् मासिक, सांवत्सरिक पीडा देने वाले ग्रहों का निराकरण करने के उपाय बताने वाले शास्त्र को कौमार शास्त्र कहते है। तनुचिकित्सा ज्वरादि रोगो का नाश करने का उपाय दिखाने वाला शास्त्र अथवा कठ, पेट आदिको का शोधन करने वाला शास्त्र। रसायन–शरीर के बलि और वृद्धत्व को दूर करने वाली वस्तु को रसायन कहते है। रसायन के सेवन से दीर्घ काल तक जीवनावस्था प्राप्त होती है। विष–स्थावरविष और जंगमविष ऐसे विष के दो भेद है। तथा कृत्रिम विष और अकृत्रिम विष ऐसे भी विष के भेद है। इनसे होने वाली बाधा दूर करना। भूत चिकित्सा–पिशाच को निकालने वाला शास्त्र। क्षारतत्र–दुष्ट व्रण को शोधन करने वाले द्रव्य। शालाकिक–शलाका से नेत्र के ऊपर आये हुए पटल को हटाकर मोती बिंदु वगैरह नेत्र रोग को दूर करने वाला शास्त्र। शल्य–भूमिशल्य और शरीर शल्य ऐसे शल्य के दो भेद है, तोमरादिको को शरीर शल्य कहते हैं और हड्डी आदि को भूमि शल्य कहते है। उसको निकालने वाले शास्त्र को शल्य चिकित्सा कहते है। विष दूर करने वाले शास्त्र को 'विष' कहते है। भूत–पिशाच हटाने वाले शास्त्र को भूत शास्त्र कहते है। यहाँ कार्य कारणोपचार किया है। अथवा चिकित्सा शब्द प्रत्येक के साथ–कौमार, तनु, भूत इत्यादिको के आगे जोडना चाहिये। जैसे कौमार चिकित्सा तनूचिकित्सा, भूतचिकित्सा इत्यादि। जैसे कौवे की आख की तारिका दोनो तरफ घूमती है वैसे कौमारादि शब्दो के आगे चिकित्सा शब्द जोड़ना चाहिये। जो मुनि उपर्युक्त आठ प्रकार के चिकित्सा शास्त्र के द्वारा श्रावको पर उपकार कर उन्होंने दिया हुआ आहार लेता है, तव उसको आठ प्रकार का चिकित्सा का दोष उत्पन्न होता

है। सावद्यादिकों का दोष इसमें दिखता है। अतः इस चिकित्सा दोष का त्याग करना चाहिये।

क्रोध मान माया लोभ वाले दोष—

कोधेण य माणेण य मालालोभेण चावि उप्पादो।
उप्पादणा य दोसो चदुव्विहो होदि णायव्वो ॥७३१॥

क्रोध, मान, माया, लोभ ऐसे चार कषायो के द्वारा भिक्षा की उत्पत्ति कराने से यह उत्पादन दोष चार प्रकार का होता है। क्रोध करके अपने लिये यदि मुनि आहार उत्पन्न करायेंगे तो क्रोध नामक उत्पादन दोष होता है। गर्व करके अपने लिये यदि मुनि आहार उत्पादन करेंगे तो मान दोष उत्पन्न होगा। माया—कुटिल भाव से यदि अपने लिये आहार उत्पन्न करायेंगे तो माया नामक दोष होता है। और लोभ कांक्षा दिखाकर यदि मुनि अपने लिये आहार की उत्पत्ति करायेंगे तो लोभ नामक उत्पादन दोष उत्पन्न होता है। इस प्रकार के आहार उत्पन्न कराने से मन के परिणाम बिगडते हैं, अतः ऐसा आहार त्याज्य है।

दृष्टान्त के द्वारा उपरनिर्दिष्ट दोषों का स्पष्टीकरण—

कोधो य हत्थिकप्पे माणो वेणायडम्मि णयरम्मि।
माया वाणारसिए लोहो पुण रासियाणम्मि ॥७३२॥

हस्तिकल्पपत्तन मे कोई साधु ने क्रोध से भिक्षा को उत्पन्न करवाया। वेणातट नगर मे किसी साधु ने अभिमान से भिक्षा को उत्पन्न करवाया। वाणारसी नगरी में किसी मुनि ने माया से भिक्षा को उत्पन्न करवाया और राशियान नगरी में लोभ को दिखाकर आहार उत्पन्न करवाया। क्रोधादिक कषाय उत्पन्न करके आहार लेने वाले इन मुनियो की कथा आगम में कही है, वहाँ से जान लेना चाहिये।

पूर्व संस्तुति दोष का निरूपण—

दायगपुरदो कित्ती तं दाणवदी जसोधरो वेत्ति।
पुव्वी संथुदि दोसो विस्सरिदे बोधणं चावि ॥७३३॥

दाता के आगे दान ग्रहण के पूर्व मे उसकी तू दानियो में अग्रणी है और तेरी कीर्ति जगत् मे सर्वत्र फैल गई है ऐसा कहना यह पूर्व सस्तुति दोष है। और जो दाता आहार देना भूल गया हो उसको तू पूर्व काल मे महादानपति था, अब दान देना क्यों भूल गया है ऐसा उसको सबोधन करना यह भी पूर्व सस्तुति दोष है। और जो

कीर्ति का वर्णन करना और जो स्मरण करना वह सब पूर्व सस्तुति दोष ही समझना चाहिए। स्तुति करना यह कार्य स्तुति पाठको का है मुनिओ का नही है। अत. ऐसी स्तुति करना योग्य नही है।

पश्चात् संस्तुतिदोष का निरूपण—

पच्छा संथुदि दोसो दाणं गहिदूण तं पुणो कित्ति।
विक्खादो दाणवदी तुज्झ जसो विस्सुदो वेंति।।७३४।।

पश्चात्संस्तुति दोष—आहारादिक दान ग्रहण करके जो मुनि दाता की तू विख्यात दानपति है, तेरा यश सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ है ऐसी स्तुति करता है उसको यह पश्चात् सस्तुति दोष होता है। ऐसी स्तुति करने मे मुनि के दीनतादिक दिख पड़ते है।

विद्यानामक उत्पादन दोष का वर्णन—

विज्जा साधित सिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं।
तिस्से महप्पेण य विज्जादोसो दु उप्पादो।।७३५।।

साधित करने पर जो सिद्धि होती है, उसको विद्या कहते है। ऐसी विद्या की आशा दिखलाना अर्थात् तुझको मैं अमुक विद्या देता हूँ और उस विद्या का ऐसा ऐसा कार्य है, ऐसा महात्म्य है, ऐसा वर्णन करके दाता के मन मे उस विद्या की अभिलाषा उत्पन्न करके उससे आहारादिक दान ग्रहण करना यह विद्या नामक उत्पादन दोष है।

मंत्रोत्पादन दोष का स्वरूप—

सिद्धे पढिदे मंते तस्स य आसापदान करणेण।
तस्स य माहप्पेण य उप्पादो मंतदोसो दु।।७३६।।

पठन मात्र से जो मंत्र सिद्ध होता है, उसे पठित सिद्ध मत्र कहते है। ऐसा मत्र तुझको मैं देता हूँ ऐसा कहकर दाता के हृदय मे उसकी आशा उत्पन्न कर और सर्प विष, वृश्चिक विप दूर करने का उसमे सामर्थ्य है, ऐसा मत्र का महात्म्य दिखाकर जो साधु उपजीवन करता है और आहारादिक ग्रहण करता है, उसको मत्रोत्पाद दोष उत्पन्न होता है। इस प्रकार से आहारादिक ग्रहण करने में लोगों की प्रतारणा करना, जिह्वालम्पट होना, इत्यादि दोष है।

विद्योत्पादन दोष और मंत्रोत्पादन दोष का अन्य प्रकार से स्वरूप वर्णन—

आहार दायगाणं विज्जामंतेहिं देवदाणं तु ।
आहूय साधि दव्वा विज्जमंतो हवे दोसो ।।७३७।।

आहारदान देने वाली व्यंतर देवताओ को विद्या से और मंत्र से बुलाकर उसको आहार दान के लिये सिद्ध करना यह विद्या दोष और मत्र दोष है । अपना आहार दायको के लिये विद्या से या मंत्र से देवताओं को बुलाकर उनको सिद्ध करना वह विद्यामंत्र दोष है । इस दोष को विद्या दोष और मंत्र दोष में अन्तर्भूत करने से यह पृथक दोष नही है ।

चूर्ण दोष का स्वरूप—

णेत्तस्संजणचुण्णं भूसणचुण्णं च गत्तसोभयरं ।
चुण्णं तेणुप्पादा चुण्णयदोसो हवदि एसो ।।७३८।।

आँखें निर्मल करने के लियें अंजन चूर्ण देना, तथा जिससे तिलक किया जाता है और पत्रवल्ली शरीर पर खीची जाती है, ऐसा शरीर शोभा बढ़ाने वाला चूर्ण दाता को देना । जिस चूर्ण से शरीर की शोभा-कान्ति बढ़ती है, निर्मलता उत्पन्न होती है, ऐसा चूर्ण दाता को देना ऐसे चूर्ण से भोजन की उत्पत्ति करना वह चूर्णोत्पादन नामक दोष है । इससे उपजीविका करना यह दोष है ।

मूलकर्म दोष का स्वरूप—

अवसाणं वसियरणं संजोजयणं च विप्पजुत्ताणं ।
भणियं तु मूलकम्मं एदे उप्पादणा दोसा ।।७३९।।

जो वश नही है उनको वश करना तथा जो वियुक्त है, उनका संयोग करना यह मूल कर्म है । इस मूल कर्म से जो आहारादिक उत्पन्न करना यह मूलकर्म नामक दोष है । इस वशीकरण से उपजीविका करना यह दोष इसमें है तथा यह कार्य लज्जास्पद है । ये उत्पादनादिक दोष और उद्गमादिक दोप त्याज्य ही हैं । क्योकि इसमें अधः कर्म का अश पाया जाता है । अन्य भी जुगुप्सादिक दोष हैं । उनसे सम्यग्दर्शनादिकों मे दूपण उत्पन्न होते हैं । उनका भी त्याग करना चाहिये ।

अशन दोष का निरूपण—

संकि दमक्खि दणिक्खि दपि हिद संववरण दाय गुम्मिस्से ।
अपरिणदलित छोडिद एसण दोसाइं दस एदे ।।७४०।।

१. **शंकित**—यह आहार अधः कर्म से उत्पन्न होता है अथवा नही ऐसी मन मे शंका कर जो मुनि भोजन करते है, उनको शकितनामक आहार दोष उत्पन्न होता है।

२ **भ्रक्षित**—घी और तेल से लिप्त हस्त से अथवा घी, तैलादि से लिप्त कडछी आदि से दिया हुआ आहार जो मुनि ग्रहण करते है, उनको भ्रक्षित नामक आहार दोष होता है।

३. **निक्षिप्त**—सचित्त पृथ्वी, अग्नि, जल, बीज आदि के ऊपर रखा हुआ आहार देना यह निक्षिप्त अशन दोष है।

४. **पिहित**—अप्रासुक अथवा प्रासुक ऐसे बड़े आच्छादन हटाकर दिया हुआ आहार लेना पिहित दोष है।

५. **संव्यवहरण दोष**—आदर से, भीती से आहार देते समय वस्त्र-पात्रादिकों को जल्दी खीच कर दिया हुआ आहार लेने से सँव्यवहरण दोष होता है।

६. **दायक**—अशुद्धता से दिया हुआ आहार ग्रहण करने से दायक दोष उत्पन्न होता है।

७. **उन्मिश्र दोष**—अप्रासुक द्रव्य से मिश्र आहार जब साधु ग्रहण करता है, तब यह दोष होता है।

८ **अपरिणित दोष**—अग्न्यादिक से अपक्व आहार और पान के पदार्थ जो साधु ग्रहण करता है, उसको यह आहार दोष होता है।

९. **लिप्त दोष**—पानी और आर्द्र गैरिकादिक से लिप्त अथवा अपक्व तदुलादि पिष्ट से लिप्त किंवा शाक से लिप्त ऐसे हस्त से दिया हुआ आहार जो साधु ग्रहण करता है, उसको यह लिप्त नामक आहार दोष है।

१०. **छोटित दोष**—अस्थिर ऐसे हस्तपुट से बहोतसा आहार नीचे गिरता जाता है, ऐसे आहार को ग्रहण करने से यह छोटित दोष होता है, इस प्रकार अशन दोष के दस भेद होते है।

शंकित दोष का विवरण—

असणं च पाणय वा खादियमध सादियं च अज्झप्पे।
कप्पियमकप्पियत्ति च सदिद्धं संकियं जाणे ॥७४१॥

अशन—भात, रोटी आदिक। पानक-दही, दूध आदिक। खाद्य-लड्डुकादिक। स्वाद्य एला, लवग, कस्तूरी, ककोलादिक ये पदार्थ मेरे लिये भक्ष्य अथवा अभक्ष्य है, ऐसा मन मे सशय उत्पन्न होने पर यदि साधु आहार करेंगे तो उनको शकिताहार नामक दोष होता है। अथवा आगम में ये पदार्थ भक्ष्य कहे है या अभक्ष्य कहे हैं, ऐसा सशय युक्त होकर जो साधु आहार करता है, उसको शकित दोष होता है।

म्रक्षित दोष का स्वरूप—

ससिणिद्धेण दु देयं हत्थेण च भायणेण दव्वीए।
एसो मक्खिद दोसो परिहरि दव्वो सदा मुणिणा ।।७४२।।

घी, तेल आदि स्निग्ध पदार्थ से लिप्त ऐसे हाथ से अथवा स्निग्ध तैलादि से लिप्त ऐसे कडछी से अथवा पात्र से मुनिओं को आहार देना म्रक्षित दोष से दूषित होता है। इस दोप का मुनि सदा त्याग करे। ऐसे आहार मे सूक्ष्म सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते है। अतः ऐसा आहार त्याज्य है।

निक्षिप्त दोष का स्वरूप—

सच्चित्त पुढवि आऊ तेऊ हरिदं च बीयतस जीवा।
जं तेसिमुवरि ठविदं णिक्खित्तं होदि छब्भेयं ।।७४३।।

सचित्त पृथ्वी, सचित्त पानी, सचित्त अग्नि, सचित्त वनस्पत्ति, वीज और त्रस जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय जीवो पर रक्खा हुआ आहार मुनिओ को ग्रहण योग्य नही है। सचित्त पृथ्व्यादिक छह भेद है। अंकुर शक्ति योग्य गेहूँ आदि धान्य को वीज कहते है। हरित-अम्लान अवस्था के तृण, पर्ण आदि को हरित कहते है। इनके ऊपर स्थापन किया हुआ आहार निक्षिप्त दोष सहित होता है। अथवा अप्रासुक ऐसे पृथिव्यादिक कार्यो पर रक्खा हुआ आहार मुनियो को अयोग्य है।

पिहित दोष का निरूपण—

सच्चित्तेण व पिहिदं अथवा अच्चित्तगुरु गपिहिदं च।
तं छंडिय जं पेयं पिहिदं तं होदि बोधव्वो ।।७४४।।

जो आहारादिक वस्तु सचित्त से ढकी हुई है अथवा अचित्त ऐसे गुरु वड़े वजनदार पदार्थ से ढकी हुई है, वह उसके ऊपर का आवरण हटाकर मुनियो को देना वह पिहित दोष है।

संव्यवहार दोष का स्वरूप—

संववहरणं किच्चा पदादुमिदि चेलभाजणादीणं ।
असमविखय जं देयं संववहरणो हवदि एसो ।।७४५।।

त्वरा से वस्त्र पात्र लाकर अर्थात् भय से, आदर से अथवा मन क्षोभ से वस्त्र पात्रादि लाकर विना विचार के और अच्छी तरह से देखकर मुनि को जो आहार देना उसको सव्यवहरण दोष कहते है ।

दायक दोष का विवरण—

सूदी सुंडो रोगी मदय णवुंसय पिसायणग्गो च ।
उच्चार पडिदवंत रुहिर वेसी समणि अंग मक्खीया ।।७४६।।

जो बालक को आभूषणादिको से सजाती है, उसको दूध पिलाती है और धाय का कर्तव्य करती है, वह आहार दान मे अयोग्य है । जो मद्य पान लपट है, जो रोग से ग्रस्त है, जो मृतक को श्मशान में जलाकर आया है और जिसको मृतक सूतक है, जो नपु सक है, जो पिशाचग्रस्त है, अथवा वातादिक से पीड़ित है, जो वस्त्रहीन है अथवा जिसने एक ही वस्त्र धारण किया है, जो मल विसर्जन करके आया है तथा जो मुत्र करके आया है, जो मूर्च्छित हुआ है, जिसको वान्ति हुई है, जिसके शरीर से रक्त बाहर आ रहा है, जो वेश्या अथवा दासी है, जो आर्यिका है, अथवा जो लाल रग के वस्त्र धारण करने वाली रक्त पटिका आदिक अन्य धर्मीय सन्यासिका है, जो अग मर्दन करके स्नान करती है, ऐसी स्त्री और पुरुष आहार देने योग्य नही हैं ।

अतिबाला अतिवुड्ढा घासत्ती गब्भिणी च अंधलिया ।
अंतरिदा व णिसण्णा उच्चत्था अहव णीच्चत्था ।।७४७।।

अतिबाला—अत्यधिक मूर्ख अथवा वय से बहुत छोटा ऐसा बालक और बालिका, अतिवृद्धा-अत्यन्त वृद्धावस्था से पीडित स्त्री-पुरुष, घासत्ती-भोजन करने वाला पुरुष और स्त्री, गर्भिणी—जिसका गर्भ बढा हुआ है, ऐसी स्त्री अर्थात् पाचवे महीने से नौ महिने तक गर्भवती स्त्री गर्भ के बोझ से पीडित होने से आहार देने मे अयोग्य है । अधलिका-अधा नेत्र रहित पुरुष और नारी, अंतरिता-भीत, पडदा आदि से व्यवहित होकर पुरुष और स्त्री दान देने योग्य नही है । जो बैठा है, ऐसा पुरुष और स्त्री आहार देने योग्य नही है । उच्चस्था-ऊचे प्रदेश पर खड़े हुए पुरुष और स्त्री तथा नीचस्था – निम्न प्रदेश में स्थित स्त्री पुरुष ये आहारदार देने मे अयोग्य हैं । स्त्री

और पुरुष यदि दान देगे तो मुनियो को आहार लेना योग्य नही है ।

पूयरणपज्जलणं वा सारणपच्छादजं च विज्झवणं ।

किच्चा तहग्गिकज्जं णिव्वादं घट्टणं चावि ।।७४८।।

फुत्करण—अग्नि को उत्पन्न करना, प्रज्वलन—मुख की हवा से अथवा अन्य प्रकार से अग्नि और लकडिओ को प्रदीप्त करना । सारण-अग्नि में लकड़ियाँ डाल देना, प्रच्छादन—अग्नि को भस्म से ढकना, विध्यापन—जलादिक से अग्नि को बुझाना, अग्निकार्य—अग्नि को इतस्ततः फैलाना, निर्वात—अग्नि मे से लकडिओ का निकालना । घट्टन—अग्नि को दवाना इत्यादि कार्य करने वाली स्त्री या पुरुष मुनियों को दान देने के लिये अयोग्य हैं ।

लेवणमज्जणकम्मं पियमाणं दारयं च णिक्खविय ।

एवं विहादिया पुण दाणं जदि दिंति दायगा दोसा ।।७४९।।

लेपन—गोबर और मिट्टी आदिक से भीत, जमीन आदिको को लेपना, मार्जन-स्नानादिक करना, ऐसे कार्य करने वाली स्त्री पुरुष आहारदान देने मे अयोग्य है । स्तनपान करते हुए बालक को छोड़कर कोई स्त्री आहारदान देने मे उद्युक्त हुई तो उससे आहार लेना योग्य नही है । इसी प्रकार अन्य भी कार्य करने वाले दान देने योग्य नही है ।

उन्मिश्र दोष का वर्णन—

पुढवी आऊ च तहा हरिदा बीया तसा च सज्जीवा ।

पंचेहि तेहिं मिस्सं आहारं होदि उम्मिस्सं ।।७५०।।

पृथिवी—मिट्टी, आपू-अप्रासुक जल, हरित्-वनस्पतिकाय पत्र, पुष्प, फल आदिक । बीज—जव, गेहूँ आदिक और त्रस-जीते हुए द्वीन्द्रियादि जीव इन पांचो से मिश्र जो आहार उसको उन्मिश्र आहार कहते है, ऐसा आहार लेना यह महादोष है । ऐसे आहार का सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

अपरिणत दोष का वर्णन—

तिल चाऊकउसणोदय चणोदय तुसोदयं अविद्धत्थं ।

अण्णं पि य असणादी अपरिणदं णेव गेण्हेज्जो ।।७५१।।

तिलोदक—तिल जिससे धोए गये है, ऐसे पानी को तिलोदक कहते है । उसी को तिल प्रक्षालन भी कहते है । चाउलोदय—तडुल धोया हुआ जल, उष्णोदक—

जो उष्ण था अनंतर जो शीत हुआ ऐसा जल, चणक धोया हुआ जल, तुष धोया हुआ जल, अविध्वस्त – जिसने अपने वर्ण, गंध, रसो का त्याग नही किया है, ऐसा जल, और अन्य भी जल-हरित की आदि चूर्ण से जिसके वर्ण, रस, गंध मे परिणति नही हुई है ऐसा जल इन सब प्रकार के जलों को 'अपरिणत' कहते हैं। इस प्रकार के जलो को वे अप्रासुक होने से मुनि ग्रहण नहीं करें। और जब ये परिणत होते हैं, तब ग्राह्य होते हैं, अर्थात् तिलादि जलों ने अपने पूर्व के वर्ण गंधादिक छोड़कर यदि तिलादिकों के वर्ण, गंध, रसादिक धारण किये हुए हो तो ऐसे तिलजलादिकों का पान करना अपरिणत दोष दूषित नही होगा।

लिप्त दोष का वर्णन—

गेरुय हरि दालेण व सेडीय मणोसिला मपिट्ठेण।
सपवालोदण लेवेण व देयं कर भायणे लित्तं ॥७५२॥

गेरु, हरिताल, खटिका – सफेद मिट्टी, मनशील और कच्चा आटा इनसे जो गीला हो गया है, अर्थात् गेरु, हरिताल आदिकों के द्रव से जो लिप्त हुआ है, ऐसे हाथ से अथवा पात्र से आहार देना लिप्त दोष से दूषित होता है। अपक्व जल अर्थात् अप्रासुक जल, अपक्व शाक से जो गीला हुआ है, ऐसे हाथ से और पात्र से जो अन्नादिक यदि दिये जायेंगे तो लिप्त नामक दोष होता है।

छोटित दोष का वर्णन—

बहु परिसाडणमुज्झिअ आहारो परिगलंत दिज्जंतं।
छंडिय भुंजणमहवा छोडिद दोसो हवे णेओ ॥७५३॥

बहुतसा अन्न छोड़कर थोड़ा अन्न खाना यह छोटित दोष है। अथवा परोसने वाले दाता के हस्त से सत्पात्र के हस्त पर अर्पण किया जाने वाला और नीचे गिरने वाले ऐसे छाछ, दूध आदि पदार्थ का आहार लेना यह छोटित दोष है। छाछ वगैरह द्रव पदार्थ अपने हाथ से नीचे नही गिर पड़ेगे, ऐसी पद्धति से भक्षण करना चाहिये। अर्थात् दोनों हाथों की दृढ अंजलि करके द्रव पदार्थ भक्षण करना चाहिये। अन्यथा वे द्रव पदार्थ नीचे गिरने से चींटी वगैरह प्राणियों को बाधा होगी। अथवा हस्तपुट छोडकर भोजन करना यह भी छोटित दोष है। हस्तपुट का बधन छोडकर अर्थात् अपने दोनों हाथों की अंजलि तोड़कर भोजन करना यह भी छोटित दोष है। अथवा आहारों में दिये हुए पदार्थो में से इष्ट पदार्थो को खाना और अनिष्ट पदार्थ

छोड देना भी छोटित दोष है। ऐसे शंकितादिक दश दोषों का वर्णन किया है। जीव दया के लिए लोक जुगुप्सा न होवे इसलिए और पाप से अलिप्त रहने के लिए इन दोषों का त्याग करना चाहिए।

संयोजना दोष और अप्रमाण दोष का निरूपण—

संयोजणा य दोसो जो संजोएदिभत्तपाणं तु।
अदिमत्तो आहारो पमाण दोसो हवदि एसो ।।७५४।।

संयोजना दोष—आहार के पदार्थ और पान के पदार्थ अन्योन्य मिलाना मिश्रण करना। ठंडा आहार उष्णपान से मिश्रित करना। सयोजना नामक दोष है।

अतिमात्र दोष—प्रमाण का अतिक्रमण करके भोजन करना अप्रमाण नामक दोष है। पेट के दो भाग भात, दाल, रोटी आदि से भरने चाहिए। और एक भाग द्रव पदार्थों से–जल, छाछ, दूध आदि पतले पदार्थों से भरना चाहिये। तथा चतुर्थभाग खाली रखना चाहिए। तभी आलस्य के बिना स्वाध्याय और आवश्यकादिक कर्तव्यो में तत्परता आती है अन्यथा नही। प्रमाणादिक भोजन से अजीर्ण और ज्वरादिक रोग उत्पन्न होते है तथा निद्रा, आलस्यादिक दोष उत्पन्न होते है।

अंगार दोष तथा धूम दोष का वर्णन—

तं होदि सयंगालो जं आहारेदि मुच्छिदो संतो।
तं पुण होदि सधूमं मं आहारेदि णिदंतो ।।७५५।।

अंगार दोष—जब साधु लम्पटता से आहार भक्षण करता है, तब अंगार दोष उत्पन्न होता है। यह आहार बहुत मीठा है। यही आहार बार बार मेरे को मिलेगा तो अच्छा होगा, इस प्रकार की लपटता जब आहार मे उत्पन्न होती है, तब अंगार दोष उत्पन्न होता है।

सधूम दोष—मन में निंदा करता हुआ जब मुनि आहार करता है, तब धूम नामक दोष उत्पन्न होता है। ये आहार के पदार्थ मेरे मन को इष्ट नही है, ऐसी निंदा करता हुआ आहार करना धूम नामक दोष है। पहले दोष मे लम्पटता और दूसरे मे सक्लेश परिणाम उत्पन्न होते है।

आहार ग्रहण करने के और त्यागने के कारणों का वर्णन—

छहि कारणेहिं असणं आहारंतो बि आयरदि धम्मं ।
छहि चेव कारणेहि दु णिज्जुहवंतो वि आयरदि ॥७५६॥

भोज्य, खाद्य, लेह्य और पेय ऐसे चार प्रकार के आहारो का छह कारणो से प्रयोजनों से भक्षण करने वाला यति चारित्र का पालन करता है । अर्थात् आहार ग्रहण करता हुआ भी मुनि वैयावृत्यादि प्रयोजन के लिए आहार ग्रहण करता है । अत. वह आहार ग्रहण करके भी धर्म साधन ही करता है । तथा छह कारणो के वश होकर यदि आहार परित्याग मुनि करता है तो भी वह धर्मोपार्जन करता है । यदि साधु निष्कारण आहार करेगा तो वह आहार ग्रहण दोष है । यदि सकारण मुनि आहार का ग्रहण अथवा वर्णन करेगा तो उसका त्याग और ग्रहण धर्माचरणरूप ही है ।

आहार ग्रहण करने के कारणों का विवेचन—

वेयणवेज्जावच्चे किरिया ठाणे य संजय मट्ठाए ।
तध पाणधम्म चिंता कुज्जा एदेहिं आहारं ॥७५७॥

वेदना—क्षुधा की वेदना मिटाने के लिये मुनि भोजन करते है । वैयावृत्य अपना और अन्यो का वैयावृत्य करने के लिए भोजन करते है । क्रियार्थ—मैं भोजन नही करूंगा, तो सामायिकादि छह आवश्यक क्रियाओ का पालन मेरे द्वारा नही होगा अत. उनके पालन के लिए भोजन करना मेरा कर्तव्य है, ऐसा समझकर मुनि आहार करते है । सयमार्थ—तेरह प्रकार से संयमों का पालन करने के लिए मुनि आहार ग्रहण करते है । अथवा आहार के बिना मेरी इंद्रिया विकल होकर मैं जीव दया पालने में असमर्थ होऊंगा, ऐसा विचार कर प्राणि सयम और इद्रिय सयम के लिए मुनि आहार ग्रहण करते हैं । तथा प्राण चिन्ता के लिए भोजन करते हैं । मेरे दश प्राणो का रक्षण आहार के बिना नही होगा । आहार के अभाव में आयु का रक्षण नही होगा, अत प्राणार्थ वे आहार करते है । तथा धर्म चिन्ता के लिए वे आहार लेते है । मैं यदि आहार ग्रहण नही करूंगा तो उत्तमक्षमादिक दश धर्म मेरे वश नही रहेगे । आहार के बिना यह जीव उत्तमक्षमा, मार्दवादिक गुणो को धारण नही करेगा, अतः भोजन करना आवश्यक है, ऐसा विचार कर मुनि भोजन करते है । मुनि इन छह प्रयोजनों की सिद्धि के लिए आहार लेते हैं ।

ाहार त्याग के कारणों का वर्णन—

आदंके उवसग्गे तितिक्खणे बंभचेर गुत्तीश्रो ।

पाणि दयातव हेउ सरीर परिहारं वोच्छेदो ॥७५८॥

आकस्मिक व्याधि होकर मारणान्तिक पीडा जब होती है, तब मुनि आहार का त्याग करते है । दीक्षा का नाश करने वाला उपसर्ग प्राप्त होने पर अर्थात् देव मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनों का उपसर्ग होने पर मुनि आहार त्याग करते है । ब्रह्मचर्य व्रत का निर्मल रक्षण करने के लिए आहार त्याग करते है । प्राणिदया के लिए आहार त्याग वे करते है । यदि आहार मैं ग्रहण करूंगा तो बहुत प्राणियो का घात होता है, अतः जीव दया के लिए मै आहार छोडता हूँ, ऐसा संकल्प करके वे आहार का त्याग करते है । बारा प्रकार के तपो में अनशन नामक तपश्चरण मैं आज करता हूँ, ऐसा सकल्प करके वे आहार त्याग करते है । संन्यास काल प्राप्त होने पर वे ऐसा विचार करते है—यह वृद्धावस्था मेरे मुनि धर्म का नाश करने वाली है, मै असाध्य रोग से पीड़ित हुआ हूँ, मेरी सर्व इद्रियशक्ति विकल हो गई है । इस वृद्धावस्था मे स्वाध्याय करने के लिए समर्थ नही हूं । अब मेरे जीने के उपाय नष्ट हुए हैं । ऐसे समय मे शरीर परित्याग करना योग्य ही है, ऐसे विचार से वे आहार छोड़ते हैं । ऐसे छहों कारणो से वे आहार का त्याग करते है । पूर्व गाथा मे कहे हुए कारणो से भी यदि उनके साथ मारणान्तिक पीडा भी उपस्थित हुई तो आहार का त्याग करना चाहिये, आहार ग्रहण करना योग्य नही है । आहार ग्रहण करने से प्रचुर जीववध होगा तो आहारादिका त्याग करना चाहिये । जिसके शरीर मे पीडा है, वह तपश्चरण करे । इस प्रकार आहार का त्याग और स्वीकार में विषय-भेद है ।

बलादिकों का लाभ होने के लिए मुनि कभी भी आहार ग्रहण नहीं करते है, इसका स्पष्टीकरण—

ण बलाउसाउअट्ठ ण सरीरस्सुवयट्ठतेजट्ठं ।

णाणट्ठसंजम मट्ठं ज्भाणट्ठं चेव भुंजेज्जो ॥७५६॥

युद्धादिक कार्य करने योग्य बल मुझे प्राप्त होवे ऐसी इच्छा धारण कर मुनि आहार नही लेते है । तथा आयुर्वृद्धि की इच्छा से भी वे आहार ग्रहण नही करते है । इस आहार का स्वाद वढिया है, ऐसी इच्छा से भी वे आहार ग्रहण नही

करते है। मेरा शरीर पुष्ट होकर उसमें मांस वृद्धि होवे इस हेतु से भी वे भोजन नहीं करते है। अथवा शरीर में कांतिवृद्धि होने के लिए भी वे आहार नही करते है। यदि उपर्युक्त हेतुओ से वे भोजन नही करते है, तो आहार किस हेतु से लेते है? इस प्रश्न का उत्तर—स्वाध्याय करने के लिए, सयम के लिए और ध्यान के लिए, वे आहार ग्रहण करते है। आहार के बिना स्वाध्याय, ध्यान और सयम में मन नहीं लगता है, अतः मुनि सयम ध्यानसिद्धयर्थं और स्वाध्याय सिद्धयर्थ ही आहार लेते है।

मुनि कौन सा आहार ग्रहण करते हैं—

णव कोडी परिसुद्धं असणं बादाल दोस परिहीणं।
संयोजणाए हीणं पमाण सहियं विहिसुदिण्णं ।।७६०।।

आहार यदि नवकोटिओ से शुद्ध होगा तो मुनि वह ग्रहण करते है, अन्यथा नहीं। अर्थात् मन से किया गया, करवाया गया और अनुमोदन दिया गया आहार मुनि नही लेते है। क्योकि दाता ने यदि मुनि के लिए आहार मन से किया, करवाया और अनुमोदन दिया होगा, तो वह आहार मुनियों के लिए अयोग्य है। मन की तीन कोटिया वचन की तीन कोटिया और शरीर की तीन कोटिया ऐसी नवकोटिया से आहार यदि रहित हो तो मुनि उसे ग्रहण करते है। उद्गम, उत्पादन और एषणा दोष से रहित अर्थात् ४२ दोष रहित, सयोजन दोष रहित, प्रमाण सहित आहार वे लेते है। तथा मुनियों का आदर से स्वीकार करना, उच्चासन पर बैठाना, उनके चरण धोना और उनकी पूजा करना, मन, वचन और शरीर शुद्ध करना और आहार की शुद्धि करना ऐसे विधिओ से दिया हुआ आहार मुनि लेते है, अन्यथा नही। दाता सात गुणो से सहित होना चाहिये। उसके गुणो का वर्णन जो दाता मुनियो को आहार देता है, वह श्रद्धा-दान देने से मिलने वाले भोग भूमि सुखादि मे विश्वास रखना। भक्ति-पात्र के गुणों पर अनुराग। तुष्टि-दान देने मे हर्ष रखना। विज्ञान-आहार देने का परिज्ञान होना। अलुब्धता—सासारिक फलो की अपेक्षा न रखना। क्षमा-कोध के कारण उत्पन्न होने पर भी शान्ति रखना। शक्ति—स्वल्पवित्त होने पर भी धनाढ्य को आश्चर्य चकित करने वाला दान देना, ऐसे दाता के सात गुण है, इनसे युक्त दाता जो दान देता है, वह मुनि ग्रहण करते है।

विंगालविधूमं छक्कारण संजुदं कम विसुद्धं।
जत्तासाधणमेत्तं चोद्दसमलवज्जिदं भुंजे ।।७६१।।

अगार दोप रहित तथा धूम दोष रहित आहार मुनि लेते है। तथा वेदना परिहार, वैयावृत्य, आवश्य क्रिया, सयम इत्यादि षटकारण युक्त आहार वे लेते है। क्रम युक्त, प्राण धारण युक्त अथवा मोक्ष मार्ग को साधन भूत और चौदह मलों से रहित आहार साधू लेते है।

चौदह मलों का वर्णन—

णहरोमजंतु अट्ठी कण कुंडयपूय चम्मयरूहिरं च।
बीय फल मासं च मला दु चोद्दसमे ॥७६२॥

नख—मनुष्य अथवा तिर्यंच के हाथ के अलावा चरण के अगुलियों के अग्र भाग अर्थात् नख। केश—मनुष्य के अथवा पशु के बाल। जन्तु—प्राण रहित शरीर। अस्थि—ककाल। हड्डी, कण—जव, गेहू आदि धान्यों का बाह्य अवयव—छिलका। कुंड शाल्यादिको का अभ्यन्तर सूक्ष्म अवयव। पूय—पक्क रक्त अर्थात् व्रण से निकलने वाला सफेद पीव। चर्म शरीर की त्वक चमड़ा। चमडा प्रथम धातु है। रक्त द्वितीय धातु है। मांस रक्त की आधार भूत तीसरी धातु है। बीज—जिससे अकुरोत्पत्ति होती है, ऐसे गेहूँ, जव आदि। फल—जामुन, आम आदि फल। कद—अकुर के उत्पत्ति का भूमिगत गड्ढा आदि जिस को सूरण, रक्तालुक, गर्जर आदि कहते है, ऐसे ये चौदह मल है। इनमे से कोई महा मल है। कोई अल्प मल है। कोई महा दोष है। कोई छोटे दोष है। रुधिर, मास, अस्थि, चर्म और पीव ये महादोष है। आहार मे ये दिखने पर आहार छोड़कर प्रायश्चित भी लेना चाहिए। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवो का शरीर आहार मे देखने पर आहार का त्याग करना चाहिये। केश आहार में देखने से आहार छोड़ना चाहिये। नख दीखने पर आहार का त्याग कर अल्प प्रायश्चित भी लेना चाहिये। कण, कुंड, बीज, कंद, फल आहार मे देखने पर इनको आहार से अलग करके आहार ले सकते है, यदि अलग करना अशक्य हो तो आहार का त्याग करना चाहिये।

सिद्ध भक्ति के अनन्तर शरीर मे से यदि रक्त और पीव बहेगा, तो आहार का त्याग करना चाहिये। जो अन्न परोसता है उसके शरीर में से रक्त और पीव निकलता हो तो आहार का उस दिन त्याग करना चाहिये। मास भी शरीर मे से निकलता हो तो उस दिन में आहार का त्याग करना चाहिये। आठ प्रकार की पिंड शुद्धि में चतुर्दश मलो का प्रकरण नही कहा था, अतः इसका यहां वर्णन किया है।

दोष रहित आहार साधु ग्रहण करते हैं—

पगदा असहो जम्हा तम्हादो दव्वदोत्ति तं दव्वं ।
फासुगमिदि सिद्धे वि य अप्पट्ठकदं असुद्धं तु ।।७६३।।

साधु द्रव्य और भाव से प्रासुक आहार ग्रहण करते है । द्रव्य प्रासुकता का स्पष्टीकरण–जिस द्रव्य से प्राणी निकल गये है अर्थात् जो द्रव्य-आहारादिक पदार्थ एकेन्द्रियादि प्राणियो से रहित हैं उसको द्रव्यप्रासुक कहना चाहिये । अर्थात् जीव रहित तथा द्वीन्द्रियादिको के शरीर जिसमें नही पाये जाते है ऐसा आहार द्रव्यप्रासुक आहारं हैं । जिसमे द्वीन्द्रियादिक और उनके शरीर है वह आहार दूर से ही त्यागना चाहिये । क्योकि वह द्रव्य से अशुद्ध है । द्रव्य से आहार प्रासुक होने पर भी यदि वह अपने लिये बनाया है ऐसा मुनि विचार करते है तो वह आहार द्रव्य से प्रासुक और भाव से अप्रासुक समझना चाहिये । यद्यपि वह द्रव्यतः शुद्ध है तो भी अशुद्ध ही समझना चाहिये ।

पर के लिए बनाया आहार शुद्ध—

जह मच्छयाणं पगदे मदणुदए हि मज्जंति ।
णहि मंडूगा एवं परमकदे जदि विसुद्धो ।।७६४।।

जैसे मत्स्यो के लिये बनाये हुए मादक जल से मत्स्य ही विह्वल होते हैं परन्तु मेंढक विह्वल नही होते है । जिस जल मे मत्स्य रहते है उसी मे मेंढक भी रहते हैं परन्तु वे मेंढक उस पानी से विह्वल नही होते है । क्योकि उनको उन्मत्त करने की शक्ति उस पानी में नही है । इसी प्रकार से पर के लिये बनाये हुए आहार में प्रवृत हुए मुनि उस दोष से लिप्त नही है । जो आहार बनाने वाले गृहस्थ है वे उस दोष से लिप्त होते है । जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ साधुओ को आहार देते हैं, वे अधः कर्मादि दोषो को दूर कर साधुदान फल से स्वर्ग और मोक्ष को जाते है । परन्तु जो मिथ्यादृष्टि है ऐसे गृहस्थ साधु दान से भोग भूमि मे जन्म धारण करते है ।

भाव से शुद्ध आहार का निरूपण—

आधाकम्मपरिणदो फासुगदव्वे वि बंधओ भणिदो ।
सुद्धं गवेसमाणो आधाकम्मे वि सो सुद्धो ।।७६५।।

आहार के पदार्थ शुद्ध होने पर साधु यदि आहार मेरे लिये बनाया है ऐसा

ा तब वह कर्मबंध से युक्त होता है। मेरे लिये बना है ऐसा समझकर उसमें धु आदर युक्त होता है, जिससे उसको कर्म बंध होता है। कृतादि दोष रहित र लेने का अभिप्राय धारण करने वाले साधु को यदि अधः कर्म युक्त आहार हो गया और उनसे वह ग्रहण किया तो भी साधु ने शुद्ध आहार की बुद्धि से ग्रहण किया था अतः उसको वह आहार कर्म बंध का कारण नही होता है।

सव्वो वि पिंडदोसो दव्वे भावे समासदो दुविहो।
दव्वगदो पुण दव्वे भाव गदो अप्प परिणामो ॥७६६॥

पिंड दोष के द्रव्य पिंड दोष और भाव पिंड दोष ऐसे दो भेद है। आहार के छयालीस दोष है उतने ही द्रव्य पिंड दोष व भाव पिंड दोष छियालीस छियालीस होते है। आहारादिक पदार्थ उद्गमादि दोष सहित होने पर भी अधः कर्म से युक्त होने पर उनको द्रव्य गत पिंड दोष कहते है। आत्म परिणाम को भाव कहते है। द्रव्य शुद्ध होने पर भी परिणामो की अशुद्धि से उसको अशुद्ध कहते है। अत. भाव शुद्ध का रक्षण प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये। भाव शुद्धि से ही तपश्चरण और ज्ञान दर्शनादिक व्यवस्थित, निर्मल और आत्मोन्नति के हेतु होते है।

द्रव्य के भेदों का वर्णन—

सव्वेसणं च विद्देषणं च सुद्धेसणं च ते कमसो।
एसण समिदि विसुद्धं णिव्वियडमवंजणं जाणे ॥७६७॥

सर्वेषण, असर्वेषण, विद्धैषण, अविद्धैषण, शुद्धाशन, अशुद्धाशन ऐसे आहार के भेद है। सर्वेषण–एषणा समिति से युक्त आहार को सर्वेषण आहार कहते है। पांच रसों से रहित अर्थात् गुड, तेल, घी, दही, दूध शाकादि रहित आहार को निर्विकृताहार कहते हैं। भात की पेज जिसको काजी कहते है उसको सौवीर ऐसा भी नाम है। अर्थात् काजी नवनीत रहित छाछ आदि से रहित आहार को अव्यंजन कहते है। पकाने पर जिस अन्न के ऊपर नमक, मिरच वगैरह का सस्कार नही करते है ऐसे आहार को शुद्धाशन कहते है। ऐसे क्रम से आहार के भेद जानने चाहिये। ये तीन प्रकार के आहार द्रव्य योग्य हैं। सर्व रस युक्त और सर्व व्यंजन युक्त ऐसा असर्वाशन कदाचित् योग्य भी है और अयोग्य भी है। इस प्रकार से वर्णन करने पर एषणा समिति का वर्णन होता है।

एषणा समिति का पालन—

दव्वं खत्तं कालं भावं बलवीरियं च णाऊणं ।
कुज्जा एसणसमिदिं जहोवदिट्ठं जिणमदम्मि ।।७६८।।

द्रव्य–आहारादिक वस्तु, क्षेत्र–जांगल, अनूप और साधारण ऐसे क्षेत्र के तीन भेद है। काल-शीतकाल, उष्णकल, वर्षाकाल ऐसे काल के तीन प्रकार है। भाव–आत्मा के परिणामो को भाव कहते है। अर्थात् श्रद्धा, उत्साह को भाव कहना चाहिये।

जांगल क्षेत्र-जिस देश मे पानी, वृक्ष और पर्वत, अल्प रहते है उसको जागल कहते है। अनूप क्षेत्र–पानी, वृक्ष और पर्वत, जहाँ बहुत होते है वह अनूपक्षेत्र साधारण क्षेत्र—जिस देश में पानी, वृक्ष और पर्वत अधिक और अल्प भी नही रहते है सम रहते है उसको साधारण क्षेत्र कहते है। बल–अपने शरीर सामर्थ्य को बल कहना चाहिए। आत्मा के सामर्थ्य को वीर्य कहते है द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और बल और वीर्य को जानकर आगम में कही हुई एषणा समिति का पालन करना चाहिये। द्रव्य क्षेत्रादि के अनुसार प्रवृत्ति न करने से वात पित्तश्लेष्मादि की उत्पत्ति होती है।

साधु के भोजन की पद्धति—

अद्धमसणस्स सव्विजणस्स उदरस्स तदियमुदएण ।
वा उसंचरणट्ठं चउत्थमवसेसए भिक्खू ।।७६९।।

पेट का आधा भाग व्यजन सहित अन्न के द्वारा भर कर उदक से पेट का तीसरा भाग भरना चाहिये और वायु के संचारार्थ चौथा भाग रिक्त रखना चाहिये। ऐसे कार्य से षडावश्यक क्रिया सुख से साधु कर सकेंगे। ध्यानाध्ययनादिको मे प्रवृत्ति होगी और अजीर्णादिक भी उत्पन्न नही होगे।

भोजन योग्य काल का वर्णन—

सूरुदयत्थमणादो णालीतियवज्जिदे असणकाले ।
तिगदुगएगमुहुत्ते जहण्णमज्झिममुक्कस्से ।।७७०।।

सूर्योदय से तीन घटिकाओ को छोडकर अर्थात् सूर्योदय के अनंतर तीन घटिका काल बीत जाने पर और सूर्यास्त को तीन घटिका काल अवशिष्ट रहने पर बीच का काल आहार का काल माना जाता है, उस आहार काल के तीन मूहूर्तो मे भोजन करना जघन्याचरण है। दो मूहूर्तो में भोजन करना मध्यमाचरण है और एक

मुहूर्त मे भोजन करना उत्कृष्टाचरण है। सिद्ध भक्ति के अनंतर का यह भोजन काल का प्रमाण कहा है। भोजन के लिए भ्रमण करने वाले परन्तु भोजनको प्राप्त नही हुए हैं ऐसे मुनि का यह काल प्रमाण नही है।

एक्कम्हि दोण्णि तिण्णि य मुहुत्तकालो दु उत्तमादीगो।
पुरदो य पच्छिमेण य णालीतिगवज्जिदो चारे ॥७७१॥

सूर्योदय के तीन घटिका के अनंतर और सूर्यास्त की तीन घटिका के पूर्व बीच के काल मे आहार का काल हैं। तीन मुहूर्त का भोजन काल जघन्य काल माना गया है। दो मुहूर्त का काल और एक महूर्त का काल उत्तम माना है।

भिक्षा के लिये गमन की प्रवृत्ति—

भिक्खा चरियाए पुण गुत्ती गुण सील संजमादीणं।
रक्खंतो चरदि मुणी णिव्वेदतिगं च पेच्छंतो ॥७७२॥

भिक्षा के लिये ग्राम मे प्रवेश करने वाला साधु मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति का रक्षण करता हुआ प्रवेश करता है अर्थात् गुप्ति पूर्वक प्रवेश करता है। अपने मूल गुणो का रक्षण करता हुआ प्रवेश करता है। तथा शील और सयमों का रक्षण करता है। वह साधु शरीर वैराग्य, संगवैराग्य और संसार वैराग्य का रक्षण करता हुआ प्रवेश करता है।

आणा अणवत्था वि य मिच्छत्ताराहणादणासो य।
संजमविराधणा वि य चरियाए परिहरेदव्वा ॥७७३॥

वीतराग प्रभू के शासन का रक्षण करता हुआ साधु आहार के लिये ग्रामादिक मे प्रवेश करता है। आहार को जाता हुआ वह साधु स्वेच्छावृत्ति का त्याग करता है सम्यक्त्व के प्रतिकूल आचरण का त्याग करता है। आत्मघात अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र घात को आत्म नाश कहते है अर्थात् रत्नत्रय का नाश नही होने देता है और सयम का रक्षण करता है।

(मूलाचार, आ. कुन्द-कुन्द कृत)

इस प्रकार साधुओ के मूल गुण व चर्या आहार शुद्धि आदि का वर्णन किया अब षष्ठम गुणस्थान के अन्तर्गत साधुओं के भेदों का वर्णन करते है।

प्रश्न :—दश प्रकार के साधु होते हैं वो कौन से हैं ?

उत्तर :—आचार्योपाध्याय तपस्वि शैक्षग्लान गण कुल संघ साधु मनोज्ञानाम्।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, सघ, साधु और मनोज्ञ ये दश प्रकार के मुनि होते है।

आचार्य का स्वरूप—

सदाआयार विद्धण्हू सदा आयरियं चरे।
आयारमायार वंतो आयरि ओ तेण वुच्चदे ॥७७४॥

जो साधु हमेशा-सर्व काल आचार को जानते हैं, उनको आचारवित् कहते है। रात में और दिन में आचार का परमार्थ रहस्य जानकर जो वैसा आचरण करते है, उनको आचार्य कहते है। जो यत्न से युक्त होकर सदाचार-शोभन, आचार-निर्दोष दर्शनाचार, ज्ञानाचारादि पांच आचारो का पालन करते है। जो गणधारादिको को मान्य ऐसे आचार का पालन करते हैं। तथा मुनिपना के लिये योग्य दीक्षा काल तथा शिक्षा काल के आचरण करके कृत कृत्य हुए है उनको आचार्य कहते हैं। अन्य साधुओ को जो पचाचार में तत्पर हैं। उन को आचार्य कहते है।

जम्हापंचविहाचारं आचरंतोपभासदि।
आयरि दाणि देसन्तोआइरिओ तेण उच्चदे ॥७७५॥

जो दर्शनाचारादि पॉच प्रकार के आचारो का पालन करता हुआ शोभता है। तथा जो अपने निर्दोष पांच आचार लोगो को शिष्यों को दिखाता हुवा शोभता है वह आचार्य है।

संग्रहणुग्गह कुसलो सुत्रत्थ विसार ओ पहिय कित्ती।
किर आचरणसुजुत्तो गाहुय आदेज्जवयणो य ॥७७६॥

सग्रह–दीक्षा देकर अपने संघ में दाखिल करना, अनुग्रह–जिसको दीक्षा दी उस शिष्य को शास्त्रादिको का शिक्षण देना ऐसे दो कर्तव्यों में आचार्य कुशल होते हैं। सूत्रार्थ विशारदत्व यह गुण आचार्य में ऊपर के गुणों के साथ रहता है। सूत्र और उसका अर्थ वार्तिक तथा भाष्य का ज्ञान उन में रहने से उसका विस्तृत खुलासा वे जानते हैं तथा भव्यो को कहते है उनकी निर्मल कीर्ति सर्व दिशा मे फैलती है। वे क्रियाचरण सुयुक्त रहते है अर्थात् पच नमस्कार छह आवश्यक क्रिया (सामायिकादिक) आसिका और निषेधिका ऐसी तेरह क्रियाओं मे वे तत्पर रहते है। तथा पांच महाव्रत समितिया और तीन गुप्ति ऐसे तेरह आचरणों में वे हमेशा तत्पर रहते है। वे आचार्य ग्राह्य व आदेय वचन गुण के धारक होते है। अर्थात् जिनके वचन सुनने से ही सर्व लोक ग्रहण

करते हैं तथा जो आचार्य कहते हैं वह सत्य-प्रमाण युक्त है, अन्यथा नहीं है ऐसा जानकर लोगों के द्वारा ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार आचार्य का स्वरूप है।

गंभीरो दुद्धरिसो सूरोधम्मप्पहवाणा सीलो।
खिदिससिसायर सरिसो कमेण तं सो दु संपत्तो ॥७७७॥

१. गंभीर-जिनको क्षोभ उत्पन्न नहीं होता है। अथवा जिनके गुणों का पार नहीं लगता है। २. दुर्द्धर्ष-प्रवादी जिनका पराभव नहीं कर सकते हैं। प्रावादी जिनके सम्मुख आ नहीं सकते। जिनसे वाद करने में असमर्थ होते हैं। ३. शूर-कार्य करने में समर्थ, धर्म प्रभावनाशील-धर्म व प्रभावना करना यह जिनका स्वभाव है। अर्थात् दान,तप, जिन पूजा,विद्या इनके अतिशय से प्रभावना करने वाले होते हैं।

क्षितिशशिसागर सदृश-क्षमा गुण होने से पृथ्वि के समान सौम्यता से चंद्र सनान और निर्मलता से समुद्र तुल्य ऐसे गुणों से संपन्न आचार्य होते हैं।

और भी बारह प्रकार के तपों का आचरण करते हैं। दश धर्मों का पालन करते हैं और छह आवश्यक, तीन गुप्तिओं का पालन करते हैं। पंचाचार का पालन करते हैं ऐसे आचार्य होते हैं।

आर्यिकाओं के आचार्य—

पियधम्मो' दिढधम्मो, संविग्गो वज्जभरू परिसुद्धो।
संगहणुग्गकुसलो सददं सारक्खणजुत्तो ॥७७८॥

आर्यिकाओं का गणधर (आचार्य) इन गुणों का धारण करने वाला होता है। प्रियवर्मा-उत्तमक्षमादिक धर्म अथवा चारित्र जिसको प्रिय है, अर्थात् उपशमादि वर्मों से जो युक्त है।

दृढवर्मा-जो धर्म मे दृढ विचार रखने वाला हो, संविग्न-धर्म और धर्म फल में अतिशय उत्साहयुक्त अर्थात् हर्पयुक्त है, अवद्य भीरु-पापों से डरने वाला, परिशुद्ध-परि सर्व-पूर्ण पने से शुद्ध अर्थात् जिसका चारित्र अखडित है ऐसा, संग्रहानुग्रहकुशल-संग्रह-दीक्षा-उपदेश इत्यादिकों से शिष्यों के ऊपर उपकार करने वाला तथा शिष्यों का संग्रह करने वाला। योग्य ऐसे व्यक्ति को दीक्षा देकर शिष्य बनाना व उनको शास्त्रोपदेश देकर विद्वान तथा सदाचार युक्त करने वाला हो। तथा सतत सारक्षण-पाप कियाओं से जो निवृत्ति उसको सारक्षण कहते हैं ऐसी निवृत्ति से युक्त जो होता

है अर्थात् जो हितोपदेश देता है ऐसा गणधर आर्यिकाओ के प्रतिक्रमणादिको का उपदेश देने मे योग्य हैं।

गंभीरो दुद्धरिसो मिदवाठी अप्पकोदुहल्लो य।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ॥७७९॥

गंभीर–जिसमें अगाधगुण है, दुर्द्धर्ष–जिसका अत करण स्थिर है अर्थात् निर्भय है, अल्प भाषण करने वाला, अल्प कौतूहल–जिसको थोड़ा विस्मय होता है, अर्थात् जिसके मन में कार्यकारण संबधज्ञान जल्दी ध्यान में आने से जिसका आश्चर्य नष्ट होता है अथवा शिष्यादि के दोष मालूम पडने पर भी किसी के आगे जो प्रगट नही करता है। चिर प्रव्रजित–दीर्घ काल तक जिसने व्रत भार धारण किया है अर्थात् जो गुणो से ज्येष्ठ–श्रेष्ठ है, गृहीतार्थ–पदार्थों का स्वरूप जानने वाला और आचार, प्रायश्चित्तादिको के स्वरूप का ज्ञाता ऐसा जो महामुनि वह आर्यिकाओ का गणधर होता है, ऐसे मुनि के पास आर्यिकाये प्रतिक्रमणादि विधि करती है। और भी आर्यिका समाचार विधि मे सब कहा गया है। और भी आचारसारादि ग्रथो से जानना। अब आगे बारह तपादिकों का वर्णन करते है।

तपों का स्वरूप–

तपः पोतेन येनासौ संसारो रूसरित्पतिः।
तीर्यते त्वरयेदानीं तत्तपः प्रतिपाद्यते ॥७८०॥

जिस तपरूपी नौका से शीघ्र ही ससार रूपी विशाल समुद्र पार किया जाता है इस समय उस तप को प्रतिपादन किया जाता है।

जिसकी सहायता से भव्य प्राणी संसार समुद्र को पार करते है। अर्थात् जो ससार समुद्र से तिरने के लिए नौका के समान है आचार्य उस तपाचार का इस समय वर्णन करते है।

तपः प्राहुरनुष्ठानं मानसाक्षनियामकम्।
बाह्याभ्यन्तर भेदं तत्प्रत्येकं षड्विधं मतम् ॥७८१॥

मन और इन्द्रियों का निरोध करने वाले अनुष्ठान को तप कहा है, वह तप बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। और उनमे प्रत्येक छह प्रकार का माना गया है।

इन्द्रिय और मन का निरोध करना तप है। अथवा अपनी इच्छाओं का रोकना तप है। वह तप बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। तथा दोनों प्रकार के तपो मे प्रत्येक तप के छह छह भेद होते है।

बाह्य तप के भेद—

अनशनावमौदर्य वृत्ति संख्या रसोज्झिती।
विविक्त शयनासनं कायक्लेशो बहिस्तप. ।।७८२।।

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, रस परित्याग, विविक्त शयनासन और कायक्लेश ये छह प्रकार के बहिरग तप है।

अनशन तप का स्वरूप—

अशनत्यागोऽनशनं साकांक्षाकांक्ष भेदगम्।
तदाद्यमेक द्वित्र्यादिषण्मासानशनन्तगम् ।।७८३।।

चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। वह अनशन साकांक्षा और अनाकाक्षा के भेद से दो प्रकार का है। साकांक्षा अनशन एक मास दो महिना, तीन महिना, चार महिना, पाच महिना आदि अनेक भेद वाला है। जहा एक दो दिन आदि से लेकर छह महीना पर्यत मर्यादित भोजन का त्याग किया जाता है वह साकाक्षा नामक अनशन है। यावज्जीव आहार का त्याग अनाकाक्षा अनशन है।

साकांक्षा अनशन के भेद—

साकार सर्वतो भद्रसिंह निष्क्रीडितादयः।
साकांक्षस्योपवासस्य भेदाश्चैकांतरोदयः ।।७८४।।

साकाक्षा उपवास के साकार, सर्वतोभद्र, सिह निष्क्रीडित आदि और एकांत-रोदय आदि अनेक भेद है।

नन्दीश्वर पक्ति, चारित्र शुद्धि दु ख हरण, सुख करण, लक्षण पक्ति, सिंह निष्क्रीडित, भद्रावसन्त, त्रिलोक सार, श्रुत स्कंध, विमान पक्ति, मुरजमध्य, मृदगमध्य, शातकुम्भ, श्रुतज्ञान, द्वादशव्रत, त्रिपंचाशतव्रत, घातिक्षयव्रत, रत्नत्रय षोडशकारण, अष्टाह्निक, दशलक्षण, पचकल्याणक, महापचकल्याणक, जिनेन्द्र महात्म्य, ध्यानपंक्ति, प्रमाद परिवार, सम्प्रत्ति सयमपक्ति प्रतिष्ठाकरण, महोत्सव, सन्यास महोत्सव, जिन गुण सम्पत्ति, आदि अनेक रूप जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित व्रत है। वह सब साकांक्षा

अनशन तप है । इन सब व्रतो में कुछ व्रतों की विधि हरिवश पुराण में उद्यापनसार में तथा व्रत तिथि निर्णय मे लिखी है तथा कुछ व्रतों की विधि तो प्राप्त भी नही है ।

निकांक्षा अनशन का लक्षण—

निःकांक्षोऽसौ भवेद्भक्त प्रत्याख्यानें गिनीमृतिः ।
प्रायोप गमनेष्यायुरन्त सन्यास कर्मसु ।।७८५।।

आयु के अन्त मे समाधि मरण के समय प्रायोपगमन मे भक्त प्रत्याख्यान और इंगिनीमरण करना यह निष्काक्षा नामक अनशन तप है ।

मरण पर्यन्त चतुर्विधि आहार का त्याग करना निराकाक्षा अनशन तप है । इस व्रत के मुख्य तीन भेद है। भक्त प्रत्याख्यान मरण, इगिनीमरण, प्रायोपगमन मरण । आयु के अन्त समय मे जो चारो प्रकार का आहार का त्याग किया जाता है, वह भक्त प्रत्याख्यान मरण है, उसका उत्कृष्ट काल १२ वर्ष है, जघन्यकाल अन्तर्मूहूर्त है, मध्यम के अनेक भेद है, इस मरण मे क्षपक की वैय्यावृत्ति दूसरे साधु कर सकते है और आप भी अपनी वैयावृत्ति करता है । इसमे अन्त समय मे चतुर्विध आहार के त्याग की मुख्यता है ।

इंगिनीमरण—अन्त समय में चारो प्रकार के आहार का त्याग करके अपनी वैयावृत्ति दूसरे से नही कराता है । अपनी शरीर परिचर्या अपने हाथो से ही करता है, वह इगिनी मरण है । जिसमें क्षपक अपनी वैयावृत्ति आप भी नहीं करता है और दूसरे से भी नही कराता है । वह प्रायोपगमन मरण है ।

देहदर्प विनाशाय संयमद्वय सिद्धये ।
कुर्यादनशनं लाभसत्काराद्यनपेक्षया ।।७८६।।

क्षपक लाभ सत्कार आदि की अपेक्षा न करके शरीर के दर्प का विनाश करने के लिये और सयम की सिद्धि करने के लिये करे ।

अनशन व्रत से संयम की सिद्धि होती है, शरीर का ममत्व छूटता है, इसलिए ख्याति, पूजा, लाभ की इच्छा न करके अपनी शक्ति अनुसार अनशन नामक तप को अवश्य करना चाहिये ।

अवमौदर्य तप का लक्षण—

ग्रास हीन निजाहाराद्यनाहाराशनं व्रतम् ।
तपः स्याद वमौदर्यमक्षकक्षदवानलः ।।७८७।।

ग्रास हीन अपने आहार से कम भोजन व्रत इन्द्रिय रूपी आटवी जलाने को के लिए दवानल अवमौदर्य तप है ।

पुरुष का स्वाभाविक आहार बत्तीस ग्रास प्रमाण है । उनमें से एक ग्रास आदि हीन करके लेना अवमौदर्य तप है । यह अवमौदर्य तप इन्द्रिय रूपी अग्नि को जलाने के लिए दावानल है, अर्थात् अवमौदर्य व्रत मे इन्द्रियों का निरोध होता है ।

उपवासोऽतिमात्रा शनोत्पन्न श्रम दोष हृत् ।
ध्यान स्वाध्याय निद्रार्त्तिजयाद्यर्थमिदं मतम् ।।७८८।।

अतिमात्र भोजन करने से उत्पन्न हुये श्रम दोष का नाम करने वाला उपवास है । और ध्यान, स्वाध्याय के लिए निद्रा अर्ति को जीतने के लिए यह अवमौदर्य व्रत माना है ।

अतिमात्रा मे भोजन करने से अजीर्णादि रोग उत्पन्न होते है, उन रोगो का नाशक उपवास है । तथा ध्यान स्वाध्याय की वृद्धि के लिये निद्रा और इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने के लिये अवमौदर्य व्रत करना चाहिये । क्योकि उदर भरकर नही खाने से आलस्य प्रमाद नही होता है, परिणामो की विशुद्धि होती है । निद्रा पर विजय होती है । इन्द्रियां भी शिथिल हो जाती है, इसलिए ध्यान और स्वाध्याय की वृद्धि होती है । तथा भृख से कम खाने पर अजीर्णादि रोग भी उत्पन्न नही होते है । यह अवमौदर्य तप इन्द्रियो के स्वेच्छाचार को रोकता है, परिणामो को निर्मल करता है । और इससे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समता, वन्दना. स्तुति और कायोत्सर्ग इन षट् आवश्यको की वृद्धि होती है ।

वृत्ति परिसंख्यान तप का लक्षण—

वृत्तिर्वाट गृहाऽऽहार पात्र दातृषुवर्त्तनम् ।
संख्या तन्नियमो वृत्ति परिसंख्या निजेच्छया ।।७८९।।

गली, घर, आहार, पात्र, दाता में वृत्ति वर्त्तना करना संख्या करना अपनी इच्छा से उनका नियम करना वृत्ति परिसख्या है ।

आज इस मोहल्ला मे आहार मिलेगा तो आहार करेगे नही मिलेगा तो नही करेगे यह वाट परिसख्यान है । इस गली मे इस घर मे या इतने घर मे आहार मिलेगा तो आहार करूँगा यह गृह परिसख्यान है ।

सर्वप्रथम थाली मे दाल, भात, दही, लड्डु आदि किसी वस्तु के विशेष का

नियम लेना आहार परिसंख्यान है। आज सुवर्ण, कासी, पीतल, चादी, मिट्टी के बर्तन मे आहार लूंगा ऐसे पात्र विशेष का नियम लेना भाजन परिसख्यान है। वृद्ध, युवा, कुमार, कुमारिका या दो स्त्रिया, पुरुष विशेष का नियम लेना दातृ विशेष परिसख्यान है। इस प्रकार अपनी इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने के लिए, कषायो का दमन करने के लिये, शरीर के ममत्व को दूर करने के लिये एव जिनधर्म की प्रभावना के लिये गृह, दाता, आहार विशेष का नियम करना वृत्ति परिसख्यान तप है।

इय माशा निराशा यादीनता भावनाप्तये।

गात्रयात्रा निमित्तान्न मात्र कांक्षस्य योगिन॰ ॥७९०॥

शरीर यात्रा के निमित्त मात्र अन्न की आकाक्षा करने वाले योगी के तृष्णा का छेद करने के लिए अदीनता भावना की प्राप्ति के लिए यह वृत्ति परिसख्यान होता है।

शरीर की रक्षा करने के लिए साधु लोग आहार करते है। उसमे भी तृष्णा को नाश करने के लिए अदीनताओं की प्राप्ति के लिए यह वृत्ति परिसख्यान तप कि जाता है।

रस परित्याग तप का लक्षण—

दधि क्षीराऽऽज्यतैलादेः परिहारो रसस्य यः।

तपो रस परित्यागो मधुरादि रसस्य वा ॥७९१॥

कायकांति मदाक्षेभक्षोभ वारण कारणं।

परिहारो रसस्यायं स्याज्जितेन्द्रिय योगिनः ॥७९२॥

दधि, दूध, घृत, तेलादि और गुड, चीनी आदि मधुर रस का परिहार रस परित्याग तप है यह रस का परित्याग जितेन्द्रिय योगी के काय कातिप्रद मद और इन्द्रिय रूपी हाथियो के क्षोभ के वारण मे कारण है।

विविक्त शयनासन तप का लक्षण—

विविक्तेऽध्ययन ध्यान बाधवोत्कर वर्जिते।

शयनं चाऽसनं यत्तद्विविक्त शयना सनम् ॥७९३॥

तरु कोटर शून्यागाराऽऽरामोर्वी धरादयः।

विविक्ताः कामिनीषण्ठ पशुक्षुद्रांगि वर्जिताः ॥७९४॥

अध्ययन और ध्यान के बाधाओ के समूह से रहित एकांत स्थान मे जो

शयन करना बैठना है, वह विविक्त शयनासन है, तरुकोटर, शून्यागार, उपवन की पृथ्वी पर्वतादि कामिनी, पशु, नपुंसक और क्षुद्र प्राणियों से रहित विविक्तता होती है।

कामिनी, नपुंसक, पशु, क्षुद्र प्राणियो से रहित, तरूकोटर, शून्यागार, उपवन की भूमि पर्वत आदि विविक्त स्थान हैं। उस अध्ययन और ध्यान की बाधा के समूह से रहित विविक्त स्थान में शयन करना, बैठना शयनासन तप है।

कायक्लेश तप का लक्षण--

सुखोपलालितः कायो नालं सद्ध्यान सिद्धये।
तद्द्हृदमनं काय क्लेशः क्लेशैर्मतोचितैः ॥७९५॥

सुख पूर्वक लालन-पोषण किया हुआ शरीर, सद्ध्यान की सिद्धि के लिए समर्थ्य नही होता है, इसलिये जिनेन्द्र कथित उचित क्लेश के द्वारा उस शरीर का दमन करना, अपने आधीन करना, काय क्लेश तप है। यद्वा कारणो के द्वारा शरीर का दमन करना, काय क्लेश तो है, परन्तु तप नहीं है। जिस काय क्ललेश मे शरीर के ममत्व के साथ कषायो का दमन होता है, वही काय क्लेश तप है। कषाय के आवेश में आकर शरीर का घात किया जाता है, वह तप नही है, इसको बताने के लिये आचार्य ने मतोचित कहा है।

निर्दयं मर्दनीयोऽयं कायः क्लेशकरः पुरा।
चिरं रिपुरितीवैषः काय क्लेशरतो यतिः ॥७९६॥

यह काय पूर्व मे चिरकाल तक शत्रु के समान क्लेश करने वाला है, इसलिये यह काय क्लेश मे रत साधु के द्वारा निर्दय होकर मर्दन करना पड़ता है।

यह शरीर अनादिकाल का शत्रु है, इसने पूर्व मे मुझे बहुत दुःख दिये हैं, इसलिये यह मर्दनीय है। ऐसा विचार कर काय क्लेश मे रत योगी घोर तपश्चरण के द्वारा काय क्लेश करते है।

वीर स्वस्तिक वज्राब्जहस्दि शुण्डाशनादयः।
व्युतसर्ग शव गोदंड चाव शय्यादयश्च ते ॥७९७॥

वीरासन, स्वस्तिकासन, वज्रासन, हस्ति शुण्डाशन, मृतकशय्या, गवासन, दड शय्या और धनुः शय्यादि से शरीर को क्लेश देना वा इन आसनो से ध्यान करना व्युतसर्ग रूप कायक्लेश तप है।

तपो बाह्यमिदं बाह्यलोकानन्दैक मन्दिरम् ।
आभ्यन्तर तपः क्षीर सागरेन्दुं नमाम्यहम् ॥७९८॥

बाह्य लोको के आनन्द का एक मन्दिर यह बाह्य तप है क्षीर सागर और चन्द्रमा के समान उज्जवल आभ्यन्तर तप को मैं नमस्कार करता हूँ।

अनशनादि बाह्य तप बाह्य लोगो के आनन्द का स्थान है, धर्म प्रभावना का कारण है, उसका वर्णन किया। अब क्षीर समुद्र और चन्द्रमा के समान उज्जवल आभ्यन्तर तप को मै नमस्कार करता हूँ। आन्तरिक मन का नियमन होने से और बाह्य जनो के प्रत्यक्ष न होने वाले तप को आभ्यन्तर तप कहते है।

आभ्यन्तर तपों के भेद—

तत्प्रायश्चितं विनयो वैयावृत्यं जगन्नुतम् ।
स्वाध्यायो भवेद् व्युत्सर्गो ध्यानं चाभ्यान्तरं तपः ॥७९९॥

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह तीन जगत में पूज्यनीय आभ्यंतर तप है।

प्रायश्चित तप का वर्णन—

येनागो गलति प्रत्नं प्रायश्चितं तदुच्यते ।
कर्म प्रायोजनस्तस्य चित्तं चैतोहरं यतः ॥८००॥

जिसके द्वारा पुरातन पाप नष्ट होता है, वह प्रायश्चित कहा जाता है, अथवा जन प्राय है, अथवा जन प्राय है मन जिनका क्योकि उस जन के चित्त को हरण करने वाला कार्य प्रायश्चित कहा जाता है।

प्रमाद अथवा अज्ञान जन्य दोषो के निराकरण करने का नाम प्रायश्चित है। उत्कृष्ट चारित्र धारी वा मानवो को "प्राय" कहते है। और मन को चित्त कहते है। अत मन की शुद्धि करने वाले कार्य को प्रायश्चित कहते है, अथवा पुरातन कर्मो का क्षेपण, निर्जरा, शोधन, धावन, निराकरण, उत्क्षेपण, छेदन यह सब प्रायश्चित के नाम है।

प्रायश्चित के भेद—

आलोचना प्रतिक्रमणोभयानि विवेचनम् ।
व्युत्सर्गस्तपच्छेद मूल परिहार दर्शनम् ॥८०१॥

प्रायश्चित्तस्य भेदाः स्युर्द शेव तत्र संश्रये ।
दोषाणां यत्प्रमादाद्यैराद्यं तेषां निवेदनम् ।।८०२।।

आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान, ये दश प्रायश्चित के भेद है । प्रमादादि के द्वारा उत्पन्न दोषो का गुरु के समक्ष निवेदन करना आलोचना है ।

गुरु को दोषों के निवेदन करने की विधि—

ज्ञात श्रुतरहस्याय प्रशांत स्वांतवृत्तये ।
अपरिस्त्राविणे शस्तैकान्तस्यायैव सूरये ।।८०३।।
विनयेनोपसृत्योपविश्य पार्श्वे कृतांजलेः ।
बाल वद् गर्हतोऽवक्रमित्येतत्स्याद्विशुद्धये ।।८०४।।

जो श्रुत के रहस्य को जानता है, जिसका मन अत्यन्त प्रशांत है, जो अपरिस्त्रावी है, ऐसे एकांत में स्थित्त आचार्यवर्य के समीप में जाकर उनके वाम पार्श्व मे बैठकर अपने दोषो की शुद्धि करने के लिए मायाचार वक्रता का त्याग कर विनय से बालकवत् अपने दोषो की गर्हा करने वाले शिष्य के अलोचना होती है ।

आलोचना के दश दोषों का स्वरूप—

आकंपितानुमापितं दृष्ट बादर सूक्ष्मणम् ।
छन्नं शब्दाकुलं बहू ध्यक्त तत्सेवितान्यपि ।।८०५।।
दशेत्यालोचनागांसि त्याज्यान्यात्म हितैषिणा ।
सदा हि साधयन्त्यायीः परलोक ममायया ।।८०६।।

आकपित दोष, अनुमापित दोष, दृष्ट दोष, बादर दोष, सूक्ष्म दोष, छन्न दोष, शब्दाकुल दोष, बहु दोष, अव्यक्त दोष, तत्सेवी दोष ये दश आलोचना के दोष है । आत्म हितैषी, मानव, इन दोषो को दूर से छोड देवे, क्योंकि माया रहित आलोचना करने से ही परलोक की सिद्धि होती है ।

आकंपित दोष

ददात्यल्पं मम प्रायश्चित भीत्येति सूरये ।
पुरोपकरणानां यच्छानमाकंपितं मतम् ।।८०७।।

गुरु मुझे अल्प प्रायश्चित देवे, इसलिए महत् प्रायश्चित्त के भय से गुरु

को पूर्व में उपकरण आदि देकर अनुकम्पा उत्पन्न कराना, आकंपित दोष है।

स्थूल दोष

ग्लानः क्लेशा सहोऽस्म्यल्पं प्रायश्चितं ममार्प्यते।
चेद्दोषाख्यां करिष्याभीत्यादिः स्यादनुमापितम् ॥८०८॥

मैं रुग्ण (रोगी) हूँ, क्लेश को सहन करने मे असमर्थ हूँ, यदि आचार्य मुझे अल्प प्रायश्चित देगे तो मैं अपने दोशो की आलोचना करूंगा स्थूल दोष है।

सूक्ष्म दोष

सुक्ष्मामः कीर्त्तनं सूक्ष्म दोस्यामि विशोधकः।
इति ख्यात्यादि हेतोः स्यात्सूक्ष्मं स्थूलोपगूहनम् ॥८०६॥

यह साधु सूक्ष्म दोषो को भी कहने वाला है, इस प्रकार की ख्याति पूजा की इच्छा से अल्प वा सूक्ष्म दोषो की आलोचना करना, यह स्थूल का उपगुहन करने वाला सूक्ष्म दोष है।

प्रच्छन्न दोष

दोषे सतीदृशे देयं किं प्रायश्चित्त मित्यलम्।
प्रश्नः स्वच्छादनेन स्याच्छन्नं लज्जाभयादिभिः ॥८१०॥

ऐसा दोष हो जाने पर क्या प्रायश्चित देना चाहिए, इस प्रकार लज्जादि के वशीभूत होकर अपने दोपों को आच्छादन करना, छन्न दोष है। किसी के द्वारा अपने दोष प्रकाशित करने पर ऐसा दोष मेरे मे भी है, ऐसा विचार कर गुप्त रूप से प्रायश्चित लेना, प्रच्छन्न दोप है।

शब्दाकुलित दोष

अतिव्रातघनध्वाने स्वदोष परिकीर्त्तनम्।
लज्जाद्यैः पाक्षिकादौ यत्तच्छब्दाकुलितं मतम् ॥८११॥

लज्जादिक के कारण व्रतियो के समूह से आकुल शब्द से युक्त पाक्षिकादि मे जो अपने दोषों का कथन करना, वह शब्दाकुलित दोष माना है।

जिस स्थान में वहुत व्रतियो का कोलाहल हो रहा है, ऐसे पाक्षिकादि प्रतिक्रमण के सयय मे लज्जादि के वशीभूत होकर अपने दोषो का कथन करना, जिससे आचार्य स्पष्ट रूप से सुन नही सके, इसको शब्दाकुलित दोप कहते हैं।

बहु दोष

प्रायश्चित्तमिदं युक्तं न वेत्यल्पतदाशया ।
बहुसूरि परिप्रश्नो, यावदल्पं स बह्विति ।।८१२।।

यह प्रायश्चित युक्त है वा नही है, इस प्रकार अल्प प्रायश्चित की आशा से वहुत से आचार्यो से पूछना, जव तक अल्प प्रायश्चित हो, वह बहु दोष है ।

अव्यक्त दोष

स्वसमान ज्ञान तपो वालस्यालोचनं भवेत् ।
अव्यक्तं ह्रीभय प्रायश्चित्त भीत्यादि हेतुतः ।।८१३।।

लज्जा, भय, प्रायश्चित की भीति आदि कारणों से अपने समान ज्ञान, तप, वालक के समक्ष आलोचना करना, अव्यक्त दोप होता है ।

तत्सेवी दोष

माहृशो वेत्यसावेव ममागोऽस्मै यदर्पितम् ।
तन्ममेति स्वदोषोक्तिरस्मै तत्सेवितं मतम् ।।८१४।।

यह मेरे जैसा ही है, मेरे अपराव इसके लिए जो अर्पण किये है, वे मेरे है, इसलिये अपने दोषो को कहना तत्सेवी दोष माना है ।

ऐसे गुरु के पास जाकर अपने दोषो की आलोचना करना जो अपने समान अपराधी है, यह तत्सेवी दोष है । अथवा मेरे दोप इसके अपराध के समान है, इसे यह भी जानता है । इसे जो प्रायश्चित मिलेगा, वह मुझे भी युक्त है, इस प्रकार अपने दोपो को छिपाना तत्सेवी दोष है ।

साऽऽमांगसंगतं यद्वन्नौषधं व्याधिवाधकम् ।
तथाऽनालोचना शुद्धं नैनो नाशकर तपः ।।८१५।।

जिस प्रकार आम सहित शरीर को प्राप्त हुई औषधि रोग नाशक नही है, अर्थात् जो औषधि अपक्व है, वह रोग नाशक नही है । उसी प्रकार आलोचना से अशुद्ध तप पापो का नाशक नही है । निर्दोष तप ही पापो का नाशक है ।

मुनि की और आर्यिकाओं की आलोचना—

द्वयाश्रयं संयतानां स्यादार्यिकाणां त्रिगोचरम् ।
सप्रकाश प्रदेशे तु तच्चारित्र विभूषणम् ।।८१६।।

मुनियों की आलोचना (दोषों का कथन) दो के आश्रय से होती है । अर्थात्

यदि मुनि अपने दोषों की आलोचना एकांत में गुरु और शिष्य दो हो, तब करे। तीसरा समीप नही होना चाहिये। आर्यिकाओ की आलोचना आचार्य गरिणनी, और आलोचना करने वाली आर्यिका, इन तीन के अश्रित होती है। अर्थात् अकेली आर्यिका एकांकी आचार्य के पास आलोचना नही करती है। आर्यिका सूर्य से प्रकाशित प्रदेश में आलोचना करती है। अन्धकारिता प्रदेश मे नही करती है। यह आलोचना चारित्र का भूपण है।

आलोच्यार्पित प्रायश्चित वृत्ति विर्वजितः।
सन्मंत्र निश्चयेऽप्युद्योगो नवत्फलर्वाजितः ॥८१७॥

जो मुनि आलोचना करके भी आचार्य के द्वारा अर्पित प्रायश्चित का आचरण नही करता है। वह सन्मत्र का निश्चय करके भी उद्योग नही करने वाले के समान फल रहित होता है। जैसे मत्र को जान करके भी जो मत्र की विधि का आचरण नही करता है, उसको मत्र के फल की प्राप्ति नही होती, उसी प्रकार आलोचना करके भी आचार्य कथित प्रायश्चित को पालन नही करने वाला निर्दोष नही होता है।

मिथ्यामदाऽऽगोऽस्त्वि त्याद्यैर्य द्दोषेभ्यो निवर्तनम्।
प्रतिक्रमरण मल्पा पराधस्यैकाकिनो मुनेः ॥८१८॥

मेरे अपराध मिथ्या होवे इत्यादि वचनों के द्वारा जो दोषो से निवर्त्तन है, वह अल्प अपराधी एकाकी मुनियो के प्रतिक्रमरण है।

उभय प्रायश्चित का स्वरूप—

स्यात्तदुभयमालोचना प्रतिक्रमरणद्वयं।
दुःस्वप्न दुष्ट चितादिमहा दोष समाश्रयम् ॥

आलोचना और प्रतिक्रमरण दोनो किये जाते है, वह उभय नामक प्रायश्चित है। मुनिराज दु स्वप्न मानसिक दुष्ट विचार, चितादि महादोष उत्पन्न होने पर प्रतिक्रमरण और आलोचना दोनों करते है।

विवेक प्रायश्चित का स्वरूप—

परिहर्त्तु मशक्तस्य दोषं द्रव्यादि संश्रयम्।
तद्द्रव्यादि परित्यागो विवेकः कथितोऽथवा ॥८१९॥

अप्रासुकस्य सेवायां त्यक्तस्य प्रासुकस्य च ।
प्रमादेन पुनः स्मृत्वा स तदा तद्विसर्जनम् ॥८२०॥

द्रव्यादि से सश्रित दोष को छोडने में अशक्त के उस द्रव्यादि का परित्याग करना विवेक कहा है, अथवा प्रमाद से अप्रासुक का और त्याग किये हुये प्रासुक द्रव्य का सेवन करने पर पुन स्मरण करके उसका त्याग कर देता है, तब वह विवेक नामक प्रायश्चित होता है ।

जो वस्तु अप्रासुक वा अभक्ष्य है, अथवा जो छोडी हुई है, प्रमाद से या विस्मरण से उस वस्तु का सेवन कर लिया हो तो तदनन्तर स्मरण होने पर उसको छोड देना, विवेक नामक प्रायश्चित है । अथवा जिस वस्तु के सेवन करने से काम क्रोधादि विकृति उत्पन्न होती है, उस वस्तु का त्याग करना विवेक नामक प्रायश्चित है । अथवा जिस वस्तु मे अभक्ष्य वा छोडी हुई वस्तु मिली है, उसको पृथक् करना शक्य नही है, उस वस्तु का त्याग करना भी विवेक है ।

व्युत्सग का स्वरूप—

व्युत्सर्गोन्त मुर्हूर्त्तादिकालं काय विसर्जनम् ।
सद्ध्यानं तन्मलोत्सर्गं नद्याद्युत्तरणादिषु ॥८२१॥

मल, मूत्र आदि का त्याग करने के बाद, नदी आदि से पार होने के वाद अन्तर्मुहूर्त्तादि काल पर्यन्त शरीर के ममत्व का त्याग करके सद्ध्यान करना व्युत्सर्ग है ।

तप प्रायश्चित का स्वरूप—

तपः स्यादुपवासैक स्थानादि व्यसनादिभिः ।
व्रतातिचारे सत्येतत्प्रायश्चित्तं तु षड्विधम् ॥८२२॥

व्यसन आदि के द्वारा व्रतों मे अतिचार हो जाने पर उपवास, एक भुक्ति आदि छह प्रकार के वहिरग तप करना, यह तप नामक प्रायश्चित है ।

अहिंसादि व्रतो मे अतिचार लग जाने पर अनशनादि छह प्रकार के वहिरग तप के द्वारा आत्म शुद्धि करना तप नामक प्रायश्चित्त है ।

छेद का स्वरूप—

दिवसादि तपच्छेदश्छेद संयम पर्यये ।
सदर्पकृत दोषस्य चिर दीक्षा हितैषिणः ॥८२३॥

अभिमान में आकर किया है, दोष जिसने चिरकाल की दीक्षा हितैषी के सयम की पर्याय मे दिवस आदि तप का छेद करना छेद नामक प्रायश्चित है।

चिरकाल का दीक्षित साधु अभिमानी होकर अपने व्रतो मे दूषण लगाता है, तब उसकी पक्ष, मास, दिवसादि की दीक्षा का छेद कर देना छेद नामक प्रायश्चित है।

पुनर्दीक्षा ग्रहोमूलं सर्वा पूर्वातपस्थितिम्।
छित्वोन्मार्गस्थ पार्श्वस्थ प्रभृतिश्रमणेत्वियम् ॥८२४॥

सारी पूर्व की तपस्थिति को नष्ट कर पुन' दीक्षा का ग्रहण करना मूल नामक प्रायश्चित है, यह प्रायश्चित उन्मार्गगामी, पार्श्वस्थ प्रभृति महादोषी श्रमणो मे होता है।

पूर्व की सम्पूर्ण तपस्थिति का छेद करके पुन. दीक्षा देना मूल नामक प्रायश्चित है। यह प्रायश्चित्त उन्मार्गगामी, पार्श्वस्थ आदि महादोषी श्रमणो को ही दिया जाता है।

पार्श्वस्थ आदि मुनियों के भेद—

सच्चारित्रामृतापात्रं स्युः पार्श्वस्थः कुशीलकः।
संसक्तोऽप्यवसन्नश्च मृगचारीति पंचते ॥८२५॥

पार्श्वस्थ, कुशील, ससक्त, अवसन्न और मृगचारी ये पांच प्रकार के मुनि सम्यकचारित्र के पात्र नही है।

पार्श्वस्थ और कुशील—

वसत्युपधि संगस्थः पार्श्वस्थः स्यात्कुशीलकः।
संघाहित करस्तीव्र कषायो व्रत वर्जितः ॥८२६॥

पार्श्वस्थ—जो वसतिका, उपाधि और परिग्रह मे स्थित है—वह मुनि पार्श्वस्थ कहलाता है।

कुशील—जो सर्व सघ का अहितकर है, तीव्र कषायी है, व्रतो से रहित है, वह साधु कुशील कहलाता है।

संसक्त और अवसन्न—

संसक्तो वैद्य मन्त्रावनीश सेवनादि जीवनः।
ज्ञान चारित्र हीनोऽवसन्नः स्यात्करणालसः ॥८२७॥

ससक्त—जो लोभ कषाय के वशीभूत होकर औषधि, मन्त्र, तन्त्रादि बताकर आजीविका करता है और राजा आदि की सेवा करता है, वह साधु ससक्त कहलाता है।

अवसन्न—जो ज्ञान चारित्र से रहित है। साधु की दैनिक क्रियाओं मे आलसी है, वह अवसन्न कहलाता है।

मृगाचारी—

स्वच्छंदो यो गणं त्यक्तुं चरत्येकाक्यसंवृतः।
मृगाचारीत्यसौ जैन धर्माऽकीर्त्तिकरानराः ॥८२८॥

मृगाचारी—जो साधु स्वछन्द है, अर्थात् आचार्य की आज्ञा का विराधक है, संघ को छोड़कर एकाकी असवृत्त होकर भ्रमण करता है, वह जैन धर्म को मलीन करने वाला साधु मृगाचारी है।

परिहार उपस्थापना प्रायश्चित के भेद—

परिहारोऽनुपस्थापन पारंत्रिक भेद भाक्।
निजान्य गणभेदं तत्राद्यं तत्राद्यमुत्तमम् ॥८२९॥

अनुपस्थापन और पारत्रिक के भेद से परिहार दो प्रकार का है। उसमें अनुपस्थापन, जिनगण अनुपस्थापन और अन्यगण अनुपस्थापन के भेद से दो प्रकार का है। उसमें निजगण अनुपस्थापन उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है।

द्वादशाब्देशु षण्मासषण्मासानशनं मलम्।
जघन्यं पंच पंचोपवास मध्यन्तु मध्यमम् ॥८३०॥

बारह वर्षो मे छह-छह महीने का उपवास करना उत्तम है, बारह वर्ष तक पांच-पांच उपवास करना जघन्य और मध्यम है।

अनुपस्थान प्रायश्चित—

द्वात्रिंशद्धऽदूरालयस्थेन वसतेर्यतीन्।
सर्वान् प्रणमताऽप्रेत प्रतिवन्दन साधुना ॥८३१॥
स्वदोष ख्यातये पिच्छं बिभ्राणेन पराङ् मुखं।
सूरीतरैः सहोपात्तमौनेनैतद्विधीयते ॥८३२॥

जो आचार्य वा सघ की वसतिका से बत्तीस धनुष दूर स्थान में रहता है और सर्व मुनियो को नमस्कार करता है, परन्तु उसको कोई मुनि प्रतिनमस्कार नही

करते हैं। जो आचार्य के साथ वार्तालाप करता है, शेष मुनियो और श्रावको के साथ नही बोलता है, मौन रखता है। अपने दोषो की विख्याति (प्रगटता) के लिये पिच्छिका को पराङ्मुखी रखता है, छह महीना, पाच महीना आदि का उपवास करता है, यह अनुपस्थान नामक प्रायश्चित है।

स्वगण अनुपस्थापन प्रायश्चित देने के कारण—

प्रमादे नान्य पाखंडि गृहस्थ यति संश्रितं।
वस्तुस्तेनयतः किंचिच्चेतना चेतनात्मकम् ॥८३३॥
यतीन्प्रहरतोऽन्य स्त्रीहरणादींश्च कुर्वतः।
दश नव पूर्वज्ञस्य त्र्याद्य संहननस्य यत् ॥८३४॥

प्रमाद के कारण अन्य पाखडी गृहस्थ और यतियो से सश्रित चेतन-अचेतनात्मक किंचित वस्तु की चोरी करने वाले यति को, मारने वाले पर स्त्री हरण आदि पाप करने वाले को नव और दश पूर्व के पाठी तथा आदि वज्रवृषभ वज्र और नाराच वाले को वह ऊपरि कथित स्वगणानुपस्थापन प्रायश्चित दिया जाता है।

करोति यदि दर्पेण दोषान् पूर्व भाषितान्।
सोयमन्यगणानुपस्थापनेन विशुद्धयति ॥८३५॥

जो यति नव या दश पूर्व का पाठी हो, आदि के तीन संहनन (व्रज वृषभ नाराच, व्रज नाराच, नाराच) से युक्त हो—परन्तु प्रमाद के वशीभूत होकर पाखण्डी, यति, गृहस्थादि की चेतना चेतनात्मक वस्तु की चोरी की है, क्रोध मे आकर किसी यति का घात किया है, तथा पर स्त्री का सेवन किया है, तो वह मुनि स्वगणानुपस्थापन नामक प्रायश्चित का भागी होता है। हीन संहनन वाले को यह प्रायश्चित नही दिया जाता है।

जो यदि पूर्वोक्त हिसादि दोष को अभिमान में आकर करता है तो वह साधु अन्यगणानुपस्थापन नामक प्रायश्चित के द्वारा शुद्ध होता है।

अन्यगणानुपस्थापन नामक प्रायश्चित का लक्षण—

प्रायश्चितं तदेवात्र किन्तु स्वगण सूरिणा।
आलोच्य प्रेषित सप्त सूरि पार्श्वमनुक्रमात् ॥८३६॥
आलोच्य तंस्तैर प्राप्त प्रायश्चित्तोऽन्त्य सूरिणा।
तमाद्यं प्रापितस्तेन दत्तं चरति पूर्ववत् ॥८३७॥

अन्य गणानुपस्थापन नामक प्रायश्चित की विधि स्वगण अनुपस्थापन के समान ही है। परन्तु यह विशेषता है। अभिमान पूर्वक अपराध करने वाला साधु अपने दोषो की आचार्य के समक्ष आलोचना करता है। तदनन्तर उसकी आलोचना को सुनकर आचार्य उसको दूसरे आचार्य के समीप भेजते है। वह साधु दूसरे आचार्य के समीप जाकर अपने दोषो की आलोचना करता है, वह आचार्य भी उसकी आलोचना सुनकर तीसरे आचार्य के समीप भेजते है। इस प्रकार सात आचार्य के समीप जाकर आलोचना करता है, उसको कोई भी आचार्य प्रायश्चित नही देते हैं। पुनः क्रम से सात आचार्यो के पास जाकर अपने आचार्य के समीप आता है। तब आचार्य उसको स्वगणानुस्थापन विधि के अनुसार प्रायश्चित देते है। यह अन्यगणानुस्थापन नामक प्रायश्चित है स्वगणानुस्थापन का अर्थ है— अपने गण से बहिस्कृत करना। अपने संघ की वसतिका से ३२ धनुष दूर रखना। अन्यगणानुस्थापन का अर्थ है – दूसरे आचार्य के सघ मे जाकर आलोचना करने पर भी प्रायश्चित देकर वे आचार्य साधु को अपने गण मे नही रखते है, इसलिये यह अन्यगणानुस्थापन है।

पारंचित प्रायश्चित की विधि—

स्वधर्म रहिते क्षेत्रे प्रायश्चिते पुरोदिते।
चारः पारंचिकं जैनधर्मात्यन्तरतेर्मतम् ॥८३८॥
संघोर्वीश विरोधांतः पुरस्त्री गमनादिषु।
दोषेष्ववंद्यः पाप्येष पातकीति बहिः कृतः ॥८३९॥
चतुर्विधेन संघेन देशान्निष्कासितोप्ययः।
चरत्येवाऽर्य्य वैराग्य सत्त्वज्ञान बलो व्रती ॥८४०॥

अपने धर्म से रहित क्षेत्र मे पूर्व मे कहे हुये प्रायश्चित मे जैन धर्म में अत्यन्त लीन मुनि का बिहार पारचिक नामक प्रायश्चित माना है, सघ का राजा का, विरोध, अत पुर की स्त्री गमनादि दोप हो जाने पर यह अवदनीय है पापी है पातकी है, इस प्रकार बहिष्कृत तथा चतुर्विध सघ के द्वारा देश से निकाला हुआ भी यह श्रेष्ठ वैराग्य, तत्वज्ञान रूपी बल से युक्त साधु आचरण करता है।

इस प्रायश्चित मे उपवासादि विधि तो अनुपस्थापन प्रायश्चित के समान है, परन्तु कुछ विशेपता है। जब कोई साधु सघ का, राजा का विरोधी होकर अत.पुर की

स्त्रियो के साथ दुराचार करता है, तब अनेक महापराध करने पर चातुर्वर्ण्य श्रम सघ से यह महापापी है, जिनमत से बाह्य है, 'इसको वन्दना मत करो' ऐसी घोषणा देकर अनुपस्थापना नाम प्रायश्चित देकर देश से निकाल देते हैं। यह मुनि भी स्व धर्म सहित क्षेत्र मे जाकर ज्ञान, वैराग्य, सत्व, बल से युक्त होकर, आचार्य के द्वारा दिये हुए प्रायश्चित का पालन करता हुआ विहार करता है, यह पारंचिक नामक प्रायश्चित है।

दर्शनं यत्पुनस्तत्व श्रद्धानं तन्महाव्रतः।
साद्धं यतेः स्थितस्येत्वा मिथ्यात्वं तदुदीरितं ।।८४१।।

किसी कारण से मिथ्यात्व अवस्था को प्राप्त हुआ मुनि पुनः तत्वश्रद्धान को प्राप्त होता है, वह दर्शन नामक प्रायश्चित है।

देशं कालं बलं ज्ञात्वा गणी वैद्यवदंगिनाम्।
अल्पानल्पेषु दोषेषु कुर्यात्त द्विशोधनं ।।८४२।।

जिस प्रकार वैद्य रोगी के रोग शक्ति आदि को जानकर उसके रोग को दूर करने के लिए औषधि देता है उसी प्रकार आचार्य साधु के अल्प अनल्प दोषो मे देश, काल, शक्ति को जानकर प्रायश्चित देकर उसके दोषो की शुद्धि करते है।

कृतागसैव कर्त्तव्य प्रायश्चित त्रिशुद्धित.।
ग्लानस्यैव प्रयत्नेन युक्तमौषध सेवनं ।।८४३।।

जिस प्रकार रोगी को प्रयत्न पूर्वक औषधि सेवन करना चाहिए। उसी प्रकार किया है, अपराध जिसने ऐसे साधु को मन, वचन, काय से प्रयत्न पूर्वक युक्त प्रायश्चित करना ही चाहिए।

जिस प्रकार रोगी मानव योग्य औषधि सेवन करके रोग दूर करता है। उसी प्रकार अपराध रूपी रोगो को दूर करने के लिये मन वचन, काय की शुद्धि पूर्वक प्रयत्नशील मुनि को अपने दोषो को गुरु के समक्ष आलोचना करके प्रायश्चित ग्रहण करना चाहिये। औषधि सेवन किये बिना रोगो का निष्कासन नही होता। उसी प्रकार प्रायश्चित के बिना पापो का प्रक्षालन नही होता है।

दोषव्युदासनैः शल्य मर्यादा संयम स्थितिः।
स्वांत प्रशांति सम्पत्ति प्रमुखार्थ मिदं मतम् ।।८४४।।

प्रायश्चित नामक तप के द्वारा शल्य (माया, मिथ्यात्व और निदान) का नाश होता है। मर्यादा सयम की स्थिति होती है। चित्त की शाति और दोष कृत पापो का प्रक्षालन होता है। इसलिये प्रायश्चित नामक तप का वर्णन किया है।

विनय तप का वर्णन—

विनयं स्याद्विनयनं कषायेन्द्रिय मर्दनं।
स नीचैर्वृत्ति रथवा विनयार्हे यथोचितम् ॥८४५॥

विनयते इति विनयन, विनयन किया जाता है कषाय का और इंद्रिय का दमन किया जाता है, अथवा पूज्य पुरुषो के यथा योग्य नम्रता होती है उसको विनय कहते है।

सद्गज्ञान तपश्चारित्रोपचार प्रपंचकः।
तत्रद्गविनयस्त्यागः शंकादीनाम मीचते ॥८४६॥

सम्यग्दर्शन विनय, सम्यग्ज्ञान विनय सम्यक्चारित्र विनय तपो विनय और उपचार विनय के भेद से पाच प्रकार का विनय है। उसमे शकादि दोषो का परिहार करना सम्यग्दर्शन विनय है।

दर्शन विनय का लक्षण—

शंकाऽऽकांक्षा जुगुप्साऽन्यदृक् प्रशंसन संस्तवाः।
नाम्ना ज्ञेयास्त्रयोन्त्यौ तु मनोवाग्विषये स्तुतौ ॥८४७॥

जिनेन्द्र कथित तत्त्व मे सशय करना शका है। ससारिक भागो की वाँछा, काक्षा है, रत्नत्रयधारी दिगम्बर तपस्वियो के शरीर को देखकर ग्लानि करना भूख प्यास से पीडित होकर जैन तपश्चरण से निर्विघ्न होना जुगुप्सा है। मन के द्वारा मिथ्यादृष्टियो की स्तुति करना सस्तव है। ये पाच सम्यग्दर्शन के अतिचार है। इनसे सम्यग्दर्शन मलीन होता है—इसलिये इनका त्याग करना चाहिये। इन अतिचारो का त्याग करना सम्यग्दर्शन का विनय है।

ज्ञान विनय का लक्षण—

द्रव्यादि शोधनं वस्तु प्रमाणावग्रहादिकं।
बहुमानः श्रुतज्ञेषु श्रुताज्ञासादनोज्झनं ॥८४८॥
वयः शील श्रुतोनाधिकाद्युपाध्याय कीर्त्तनं।
चानिन्हवेन येनायंज्ञानावरणकारणं ॥८४९॥

स्वराक्षर पद ग्रन्थार्था हीनान्ययनादिकं ।
स्याज्ज्ञान विनयः सम्यग्ज्ञान स्वर्मोक्ष कारणम् ॥८५०॥

द्रव्यादि का शोधन वस्तु की सख्यादिका अवग्रहादि श्रुतज्ञानियो में बहुमान श्रुत ज्ञानियों के आसादन का त्याग निन्हवरहित वय से न्यून और शील श्रुत से अधिक उपाध्याय आदि का कीर्त्तन जिस कारण से यह निन्हव ज्ञानावरण कर्म कारण है। स्वर, अक्षर, पद, ग्रन्थ, अर्थ को हीनाधिक नही पढ़ना यह सम्यग्ज्ञान स्वर्ग और मोक्ष का कारणभूत ज्ञान विनय है।

ज्ञानाचार अधिकार मे कथित द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की शुद्धि से शास्त्र पढना, वस्तु प्रमाणादि का अवग्रह करना, श्रुतज्ञानियो में बहुमान होना, श्रुतज्ञानियो की आसादन नही करना, उम्र मे हीन होते भी जो शील और श्रुत मे अधिक उपाध्याय आदि के गुणो का उत्कीर्त्तन करना जिस गुरु से ज्ञानार्जन किया है वह श्रुत आदि मे हीन हो तो भी उसका नाम बताना, ज्ञानावरणादि कर्मो के कारण भूत निन्हव का त्याग करना, अर्थात् अपने श्रुतज्ञान को नही छिपाना, शब्द शुद्ध पढना, ये ज्ञान के विनय है।

तपो विनय का लक्षण—

आवश्यक क्रिया शक्तिर्नानोत्तर गुणोन्नतिः ।
तपस्तद्वत्तमोदश्च स्यात्तपो विनयो मुनेः ॥८५१॥

आवश्यक क्रियाओ मे आसक्ति नाना उत्तर गुणो की उन्नति तपवालो मे प्रमोद होना जिससे तपो विनय होता है।

निर्दोष आवश्यक क्रियाओ का पालन करना नाना प्रकार के उत्तर गुणो की वृद्धि करना, बारह प्रकार के तपश्चरण मे और तपस्वियो मे प्रमोद भाव रखना तपो विनय है।

चारित्र विनय का लक्षण—

भक्तिश्चारित्रवत्स्वन्य वृत्ताऽनिन्दनमुद्यमः ।
परीषह जयादौ च चारित्र विनयो मुनेः ॥८५२॥

चारित्र शाली मुनि हंसों के प्रति भक्ति करना अन्य व्रतियों अर्थात् जघन्य चारित्र वाले की निन्दा नही करना परिषह आने पर उन पर विजय प्राप्त करने के लिये तत्पर रहना यह चारित्र विनय है।

उपचार विनय का लक्षण और उसके भेद—

उपोपसृत्य यश्चार उपचारो यथोचितः ।
स प्रत्यक्ष परोक्षात्मा तत्राद्यः प्रतिपाद्यते ॥८५३॥

समीप मे जाकर जो यथोचित सत्कार किया जाता है वह उपचार विनय है। वह उपचार विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। इसमे सर्व प्रथम प्रत्यक्ष विनय का वर्णन करते है।

प्रत्यक्षविनय का लक्षण—

अभ्युत्थानं नतिः सूरावागच्छति सति स्थिते ।
स्थानं नीच निविष्टेऽपि शयनोच्चासनोज्झनम् ॥८५४॥
गच्छत्यनुगमो वक्तर्यनुकूलं वचो मनः ।
प्रमोदीत्यादिकं चैव पाठकादि चतुष्टये ॥८५५॥

आचार्य के आने पर शीघ्र ही आसन से उठकर खड़े होना चाहिये तथा भक्ति पूर्वक उनको नमस्कार करना चाहिये। आचार्य के बैठ जाने पर आचार्य से नीचे स्थान पर बैठना चाहिये। आचार्य के सामने शयन और उच्चासन को छोडना चाहिये। आचार्य के गमन करने पर उनके पीछे पीछे चलना चाहिये। आचार्य के बोलने पर अनुकूल वचन बोलना चाहिये तथा आचार्य के प्रति मन मे प्रमोद भाव, उनके गुणो मे अनुराग होना चाहिये। आचार्य के समान ही उपाध्याय, गणधर, स्थावर और प्रवर्त्तक का विनय करना चाहिये।

आचार्यादिष्वसत्स्वेवं स्थाविरस्य मुने गुणे ।
प्रतिरूपकाल योग्या क्रिया चान्येषु साधुषु ॥८५६॥

आचार्य की अनुपस्थिति मे स्थविर, गणधर और अन्य साधुओं में प्रति रूप काल योग्य क्रिया नही करना चाहिये।

आर्यादिशयमाऽसंयतादि षूचितसत्क्रिया ।
कर्त्तव्या चेत्यदः प्रत्यक्षोपचार लक्षणम् ॥८५७॥

आर्यिका, देश सयमी और असयतादि में उचित सत्कार करना चाहिये। यह प्रत्यक्ष उपचार विनय है।

परोक्ष विनय का लक्षण—

ज्ञान विज्ञान सत्कीर्तिर्नति राज्ञानुवर्तनं ।
परोक्षे गणनाथानां परोक्ष प्रश्रयः परः ॥८५८॥

परोक्ष में आचार्य के ज्ञान विज्ञान का सत्कीर्त्तन, आज्ञा का पालन और नमस्कार परोक्ष विनय है।

विनयेन विहीनस्य भिक्षोः शिक्षामृतश्रियः।
संश्रयाय निदानं नो तथा चाभ्युदय श्रियः ॥८५९॥

जो तपस्वी विनयहीन है अर्थात् गुरुजनो का विनय नही करता है उसका शास्त्राध्ययनादि मुक्ति की प्राप्ति तथा स्वर्ग श्री का कारण नही है।

विनय करने से क्या होता है—

जिनाज्ञावर्त्तनं कीर्ति मैत्री मानापनोदनम्।
गुणानुरागिता संघ सम्मदा द्याश्च तद्गुणाः ॥८६०॥

जिनेश्वर की आज्ञा का पालन, कीर्त्ति, मित्रता, मान कषाय की हानि, गुणो मे अनुराग और चतुर्विध संघ को सन्तोषादि विनय के गुण है।

विनय से जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का पालन होता है, जगत में निर्मल सत्कीर्ति रूपी लता विस्तरित होती है सर्वजनो के मैत्री भाव प्रगट होता है, मान कषाय का नाश होता है तथा चतुर्विध संघ विनय शील मानव पर सन्तुष्ट होता है इत्यादि अनेक विनय के गुण है।

किमत्र बहुनोक्तेन पदं सर्वेष्ट सम्पदाम्।
रत्नत्रयी विभूषायां चेन मुक्ति निबन्धनं ॥८६१॥

विशेष कहने से क्या प्रयोजन है विनय सर्व इष्ट सम्पदाओ का स्थान है, रत्नत्रय का भुषण है और मुक्ति का कारण है।

वैयावृत्य का लक्षण—

व्यापत्प्रतिक्रिया वैयावृत्यं स्यात्सूरिपाठके।
तपपस्विशैक्ष्यग्लानेषु गणे संघे कुले यतौ ॥८६२॥
मनोज्ञे च तपस्येक्षु नानाऽनशनवर्त्तनः।
शैक्षो ज्ञानादि संशिक्षो ग्लानो नागागदार्त्तितः ॥८६३॥
गणः स्थविर सन्ताश्चातुर्वर्ण्यकदम्बकम्।
संघः स्याद्दीक्षकाचार्य शिष्याम्नायः कुलं मतम् ॥८६४॥
चिर प्रव्रजितः साधुर्यतिः शेषो हि संयमी।
दीक्षोन्मुख मनोज्ञाख्योऽसंयतो वा सुदर्शनः ॥८६५॥

विद्याजात्यादि विख्यातो मिथ्यादृग्वाऽस्य संग्रहः ।
जिन प्रवचनस्यायं लोके गौरव कारकः ।।८६६।।

सम्यग्नर्शनादि गुणो के आधार भूत महापुरुष से भव्य जीव स्वर्ग, मोक्ष सुख दायक व्रतो को धारण कर आचरण करते है, वे आचार्य हैं।

जिन व्रत शील भावनाशाली महानुभाव के समीप जाकर भव्यजन विनय-पूर्वक श्रुत का अध्ययन करते है, वे उपाध्याय है।

मासोपवास आदि नाना तपो को तपने वाले तपस्वी है।

श्रुतज्ञान के शिक्षण में तत्पर और सतत व्रत भावना में निपुण शैक्ष है।

जिनका शरीर रोगो से आक्रान्त है, वे ग्लान हैं।

स्थविरो की सतान गण हैं।

दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य परम्परा कुल है।

चतुर्वण श्रमणो के समूह को सघ कहते हैं।

चिरकाल के दीक्षित पुराने साधक साधु है।

अभि रूप को मनोज्ञ कहते है। अथवा लोक में जो विद्वान है वाग्मी है, महाकुलीन आदि जाति से प्रसिद्ध है, जिनका संघ मे रहना प्रवचन गौरव का कारण है उसको मनोज्ञ कहते है। अथवा जो सस्कार सहित सुसस्कृत असयत सम्यग्दृष्टि है, वह भी मनोज्ञ है। इस ग्रन्थ मे विद्या जाति आदि से विख्यात जिन धर्म की प्रभावना करने वाले भद्र परिणामी मिथ्यादृष्टि को भी मनोज्ञ में ग्रहण किया है। इनकी आपत्ति दूर करना वैयावृत्ति है।

परिषह समाश्लेषेऽमीषां यवछेमुषीमुदः ।
संपादनं त्रिरत्नाप्यैः वैयावृत्य त्रिशुद्धितः ।।८६७।।
आवासान पानाद्यैः प्रासुकैः क्लेशनाशिभिः ।
तदभावे स्वकायेन स्वोपकारानपेक्षया ।।८६८।।
विण्मूत्रश्लेष्म सिंघाण कादे देहाद पोहनात् ।
यत्नेनोत्क्षेपनिक्षेप परिवर्त्तक्रियादिभिः ।।८६९।।

इन मुनियो पर, व्याधि, परीषह, औपधि, आदि उपद्रव होने पर उनका प्रासुक आहार, पान, आश्रय, आसन, आवास, धर्मोपकरण आदि से प्रतिकार करना तथा सयम, सम्यक्त्वादि से च्युत होने पर उनको सयम और सम्यक्त्व मार्ग मे दृढ करना

वैयावृत्य है । औषधि आदि के अभाव मे प्रति उपकार की अपेक्षा नही करके अपने आपने हाथों से मल मूत्र, खंकार तथा नाकादि के भीतरी मल को दूर करना यत्न पूर्वक उठाना, बिठाना, परिवर्तन कराना आदि भी वैयावृत्ति है ।

अस्मिन्निर्विचिकित्सत्व वत्सलत्व सनाथता ।
यशोऽभ्युदयनिः श्रेयसुखाप्ति प्रमुखा गुणाः ।।८७०।।

वैयावृत्ति करने वाले मानव को निर्विचिकित्सता, वात्सल्यत्व सनाथता, यशोभ्युदय, निश्रेय. सुख की प्राप्ति आदि अनेक गुणो की प्राप्ति होती है । अर्थात् वैयावृत्ति करने वाले मे निर्जुगुप्सा गुण होता है, क्योकि निर्जुगुप्सा के बिना वैयावृत्ति नही होती है । वात्सल्य भाव प्रगट होता है । वात्सल्य के अभाव मे वैयावृत्ति कर नही सकते तथा वैयावृत्ति कारक पवित्र यश संसार मे फैलता है और वैयावृत्ति का फल स्वर्ग सम्पदा एव मुक्ति पद प्राप्त होता है ।

स्वाध्याय तप का लक्षण—

स्वस्मै योऽसौ हितोऽध्ययः स्वाध्यायो वाचनादिकः ।
तपोवर्यमतो नान्यत्तवः सु द्वादशस्वपि ।।८७१।।

जो आत्मीय हितकारी शास्त्र वाचनादिक अध्ययन है, वह स्वाध्याय है । और बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय के समान दूसरा कोई तप नही है ।

नोर्ध्वमन्त मूँहूतात्सद्ध्यानमध्ययनं पुनः ।
सदैनो निर्जराकारि किन्तु न स्यात्कृतात्मनाम् ।।८७२।।

ध्यान अन्त मुंहूर्त्त से अधिक नही हो सकता है, परन्तु स्वाध्याय तो निरन्तर कर सकते हैं । जो पुण्यात्माओ के पाप की निर्जरा का कारण भूत है ।

मनः सदर्थे वाक्पाठेवर्णेऽक्षणी तच्छुतौ श्रुती ।
प्रसक्ते किछिकयेऽक्षेऽन्ये तदैकाग्रय मिहाप्यलम् ।।८७३।।

स्वाध्याय परम ध्यान है, क्योकि स्वाध्याय करते समय मन समीचीन अर्थ के विचार करने में लग जाता है, वचन पाठ करने मे नेत्र वर्णो को देखने मे और कर्ण शब्दों के सुनने में लीन हो जाते है तथा सर्व इन्द्रिया निष्क्रिय हो जाती है, इसलिये स्वाध्याय में पूर्ण एकाग्रता होती है, अतः एव स्वाध्याय परम तप है ।

अस्मात्तत्त्वपराभ्यासः प्रशमश्च विरागता ।
भवेत् प्रभावनैकांत वादिमान प्रमर्दनं ।।८७४।।

स्वाध्याय से तत्त्वों का अभ्यास होता है, प्रशम भाव वैराग्य की उत्पत्ति होती, स्वाध्याय के बल से एकात वादियो के मान के मर्दन करने की शक्ति प्राप्त होती है तथा धर्म की प्रभावना भी होती है ।

व्युत्सर्ग का लक्षण—

शरीरान्तर्बहिः संग संग व्युत्सर्जनं मुनेः ।
व्युत्सर्गः स्यात्समीचीन ध्यान संसिद्धि कारणम् ॥८७५॥

अतरग और बहिरग के भेद से परिग्रह दो प्रकार का है । उनमे अंतरग शरीर का ममत्व क्रोधादि कपायो का त्याग करना अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है और क्षेत्र, वस्तु आदि बहिरग परिग्रह का त्याग करना बहिरग व्युत्सर्ग मुनियो के ध्यान की सिद्धि का कारण है ।

ध्यान तप का लक्षण—

ध्यानं तपः परं चित्तैकार्थलीन प्रवर्त्तनं ।
कीर्त्यन्तेऽन्तर्मुहूर्त्तावस्थानं स्वर्ग मोक्ष साधनं ॥८७६॥

अन्त मुहूर्त्त पर्यन्त अवस्थान जिसका ऐसा चित्त का एकार्थ में लीन होकर प्रवर्त्त होना स्वर्ग मोक्ष का साधन ध्यान नामक सर्वोत्कृष्ट तप कहा जाता है ।

विशिष्ट मिष्टं घत्युदारं दूरस्थितं वस्त्वति दुर्लभं च ।
जैनं तपः कि बहुनोदितेन स्वर्गश्रियं चाक्षय मोक्ष लक्ष्मी ॥८७७॥

जैन तप के प्रभाव से अति दूरस्थ, अति दुर्लभ, इष्ट विशिष्ट वस्तु की प्राप्त होती है । और तो क्या स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति भी जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित तप के प्रभाव से होती है ।

दशलक्षण धर्म

(उत्तम क्षमा मार्दवार्जव शौच सत्य संयम तप स्त्यागाकिञ्च न्य ब्रह्म च र्याणिधर्मः । सर्वार्थसिद्धि, अ० ६, पेज नं. ४१२ पुज्यपादाचार्य कृत)

उत्तम क्षमा,मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य, यह दश प्रकार धर्म है । अब इन धर्मो का स्वरूप अलग-अलग कहते हैं ।

उत्तम क्षमा—शरीर की स्थिति के कारण की खोज करने के लिये, वह

विहार आदिक में ग्रामादिक को जाते समय साधु को दुष्ट जन गाली, गलौच करते है। उपहास करते है, तिरस्कार करते हैं, मारते पीटते है और शरीर को तोडते मरोड़ते है, तो भी उनके मन मे किसी प्रकार की कलुषता उत्पन्न नही होती, कभी क्षुभित नहीं होते है, शात चित रहते है, नाना प्रकार के कारण मिलने पर भी क्रोध नही करते, इसी का नाम उत्तम क्षमा है।

उत्तम मार्दव—जाति आदि आठ प्रकार के मदों के आवेशवश होने वाले अभिमान का अभाव करना मार्दव है, मार्दव का अर्थ है मान का नाश करना।

उत्तम आर्जव—योगो का वक्र न होना आर्जव है। आर्जव गुण का धारी मन से एक, वचन से एक, काय से एक रहता है।

उत्तम शौच—प्रकर्ष प्राप्त लोभ का त्याग करना, उत्ताम शौच है। अनन्तानु बन्धी लोभ का कम करना।

उत्तम सत्य—अच्छे पुरुषों के साथ साधु वचन बोलना सत्य है।

उत्तम संयम—समितियो मे प्रवृत्ति करने वाले मुनि के उनका परिपालन करने के लिये जो प्राणियों का और इन्द्रियो का परिहार होता है, वह सयम है।

उत्तम तप—कर्मक्षय के लिये जो तप तपा जाता है, उसे तप कहते है। वह तप बारह प्रकार का है, सो पीछे उसका वर्णन कर आये है।

उत्तम त्याग—जो सयमी के योग्य उपकरणो का दान करना त्याग है। वह दान चार प्रकार का है, सो वर्णन पीछे कर आये है।

उत्तम आकिञ्चन्य—जो शरीरादिक उपात्त है, उनमें भी सस्कार का त्याग करने के लिये 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आकिञ्चन्य है। इसका कुछ नही है, वह आकिञ्चन है, और उसका भाव या कर्म आकिञ्चन्य है।

उत्तम ब्रह्मचर्य—अनुभूत स्त्री का स्मरण न करने से, स्त्री विपयक कथा के सुनने का त्याग करने से और स्त्री से सटकर सोने व बैठने का त्याग करने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा स्वतन्त्र वृत्ति का त्याग करने के लिए गुरुकुल मे निवास करना ब्रह्मचर्य है।

पंचाचार

दर्शन—सम्यग्दर्शन अर्थात् तत्त्वो मे रूचि रखना, ज्ञान—जीवादि तत्त्वो के स्वरूप को जानना, चारित्र—पापक्रियाओ से विरक्त होना, तप—कर्म को दग्ध करने मे समर्थ और शरीर तथा इन्द्रियो को सतप्त करने वाला बाह्य और आभ्यतर भेद जिसके हैं। वीर्य—शक्ति, अस्थि और शरीर का सामर्थ्य एतत्स्वरूपी वीर्य अथवा इनका जो अनुष्ठान, उसको आचार कहते हैं।

१. दर्शनाचार—जीवादि पदार्थो पर नि.शकितादि अगों सहित श्रद्धान करना, अर्थात् जिससे सम्यग्दर्शन पहिचाना जायेगा, ऐसी क्रियाये करना, दर्शनाचार है। यहा दर्शन शब्द का अर्थ अवलोकन नही है क्योकि जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धान करना, यह प्रकरण यहां है।

२. ज्ञानाचार—पाच प्रकार की ज्ञानोत्पत्ति का कारण ऐसे शास्त्र का अध्ययन करना, उसका आदर करना, इत्यादि क्रिया ज्ञानाचार है।

३. चारित्राचार—प्राणि वध नही करना तथा इद्रिय वश करने में प्रवृत्त होना चारित्राचार है।

४. तपाचार—काय क्लेशादिक करना तपाचार है।

५. वीर्याचार—शुभ कार्यो में सामर्थ्य रखना, उत्साह रखना।

इस प्रकार के पचाचारो का वर्णन किया, षड् आवश्यको का वर्णन पहले कर आये हैं, अब गुप्तियो का वर्णन करते है।

गुप्ति

मण वच काय पवुत्ती भिक्खू सावज्ज, कज्ज, संजुत्ता।
रिवप्पं णिवारयंतो तींहिदु गुत्तो हवदि एसो ॥८७८॥

हिंसादि पाप कार्यो से मन की प्रवृत्ति, वचन का व्यापार और काय की व्यापारादि की चेष्टा को निवारण करने वाला साधु क्रम से, मनोगुप्ति युक्त, वचन गुप्ति युक्त और कायगुप्ति युक्त होता है।

मनोगुप्ति और वचन गुप्ति का विशेष लक्षण—

जा रायादिणिवत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्ति वा मोणं वा होदि वचिगुत्ती ॥८७९॥

रागद्वेष से उत्पन्न होने वाले सर्व संकल्पों का त्याग करने से मनोगुप्ति होती है और असत्य भाषण, कठोर भाषण, असभ्य भाषण आदि कुवचनो का त्याग करना अथवा मौनधारण करना वचनगुप्ति का लक्षण है। तात्पर्य–राग द्वेष पूर्वक होने वाले संकल्पों का त्याग करके मन को समता में रखना, अथवा धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में स्थिर रखना मनोगुप्ति है। इशारा करके वचनाभिप्राय व्यक्त करने से वचनगुप्ति नही होती है। अतः इशारो का त्याग करके कठोर वचनादिको का त्याग करना वचनगुप्ति है। अथवा मौन धारण करना वचन गुप्ति है, इस प्रकार मनोगुप्ति का विवेचन किया है।

कायगुप्ति का स्वरूप—

कायकिरियाणियत्ती काओसग्गो सरीर गुत्तीहि।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा ॥८८०॥

शरीर की चेष्टा नही करना अथवा कायोत्सर्ग करना, किंवा हिंसा, चोरी, मैथुन सेवनादि पापो का त्याग करना, शरीरगुप्ति है। गुप्ति का लक्षण आचार्य ऐसा कहते हैं, **सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि गुप्यन्ते, रक्ष्यन्ते यकाभिस्ता गुप्तयः** अथवा **'मिथ्यात्वा संयम कषायेभ्यो गोप्यते रक्ष्यते आत्मा यकाभिस्तागुप्तयः'** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय का गोपय अर्थात् रक्षण जिनके द्वारा किया जाता हैं, उनको गुप्ति कहना चाहिये। अथवा जो मिथ्यात्व, असयम और कषायों से आत्मा का रक्षण करती है, उनको गुप्ति कहते हैं। इस प्रकार आचार्य परमेष्ठि के छतिस मूल गुणो का वर्णन किया, आगे उपाध्याय परमेष्ठि के मूल गुणो का वर्णन करते है।

उपाध्याय परमेष्ठी

रयणत्तय संजुत्ता जिण कहिय पयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंरव भाव सहिया उवज्झाया एरिसा होंति ॥८८१॥

(नियमसार, आचार्य कुन्दकुन्द)

रत्नत्रय से सयुक्त, जिनेंद्र देव द्वारा कथित पदार्थों का उपदेश देने वाले, शूर और निःक्षित भाव से सहित ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं। और द्वादशाग के पाठी और शिष्यो को (मुनियो) पढ़ाने वाले होते है। समस्त श्रुतज्ञान के पाठी होते है।

श्रुत ज्ञान

१ पर्याय, २ पर्याय समास, ३ अक्षर, ४ अक्षर समास, ५. पद, ६ पदसमास, ७ सघात, ८ सघात समास, ९. प्रतिपत्ति, १०. प्रतिपत्ति समास, ११ अनुयोग, १२ अनुयोग समास, १३. प्राभृत-प्राभृत, १४. प्राभृत-प्राभृत समास, १५ प्राभृतक, १६ प्राभृतक समास, १७ वस्तु, १८. वस्तु समास, १९. पूर्व, २०. पूर्व समास, ये सब २० भेद द्वादशाङ्ग के अन्तर्गत ही होते हैं, अब इनका अलग-अलग खुलासा लिखते हैं।

१. पर्याय श्रुतज्ञान—

सूक्ष्म नित्यनिगोद के लब्ध्यपर्याप्तक जीव के पहले समय में जो श्रुतज्ञान होता है, उसको पर्याय श्रुतज्ञान कहते हैं।

यह ज्ञान सबसे जघन्य होता है 'लब्ध्यक्षर' इसका नाम है। श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम को 'लब्धि' कहते हैं। और जिस ज्ञान का कभी नाश न हो उसको 'अक्षर' कहते है। यह ज्ञान सदा बना रहता है, इसका कभी आवरण नही होता। यह ज्ञान एक अक्षर का अनतवा भाग होता है। इसीलिए यह ज्ञान सबसे जघन्य कहा जाता है। यह ज्ञान सदा आवरण रहित रहता है। अतएव इतना ज्ञान सदा बना रहता है, यदि इसका अभाव मान लिया जाय तो जीव का नाश ही हो जाय। क्योंकि उपयोग ही जीव का लक्षण है। यदि उसका भी नाश मान लिया जायेगा, तो जीव का ही अभाव हो जायेगा। इसलिए जीव के कम से कम इतना ज्ञान अवश्य रहता है। सो ही लिखा है।

सुहुमणिगोद अपज्जत्त, यस्स जादस्स पढमसमयह्मि।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं ॥८८२॥

२. पर्याय समास—जब पर्याय श्रुत ज्ञान अनतभाग वृद्धि असख्यातभाग वृद्धि, सख्यात भाग वृद्धि, सख्यात गुण वृद्धि, असख्या गुण वृद्धि, अनत गुण वृद्धि, इस प्रकार पट् गुणी वृद्धि होते-होते जब असख्यात लोक प्रमाण हो जाता है, तब उसको 'पर्याय समास' ज्ञान कहते है। अक्षर श्रुतज्ञान से पहले तक 'पर्याय समास' कहलाता है।

३. अक्षर श्रुतज्ञान—अकार आकार आदि अक्षर रूप श्रुत ज्ञान को अक्षर श्रुतज्ञान कहते हैं।

४. अक्षर समास—अक्षर श्रुतज्ञान से ऊपर पद श्रुतज्ञान से नीचे जो श्रुतज्ञान के भेद है, उनको 'अक्षर समास' कहते है।

५. पदश्रुत—अक्षर श्रुतज्ञान के आगे क्रम-क्रम से अक्षरो की वृद्धि होते-होते जब सख्यात अक्षरों की वृद्धि हो जाती है, तब उस ज्ञान को 'पदश्रुत ज्ञान' कहते है।

६. पद समास—पद श्रुतज्ञान के आगे सघात श्रुतज्ञान होने तक श्रुत ज्ञान के जितने भेद है, उन सबको 'पद समास' कहते है।

७. संघात—एकपद ज्ञान के आगे एक-एक अक्षर की वृद्धि होते, जब सख्यात हजार पदो की वृद्धि हो जाती है, तब यह सघात ज्ञान होता है, यह ज्ञान चारो गतियों मे से किसी एक गति का वर्णन कर सकता है।

८. संघात समास—अक्षरो के द्वारा बढता हुआ जो ज्ञान संघात लेकर प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान तक जाता है, उसको 'सघात समास' श्रुतज्ञान कहते है।

९. प्रतिपत्ति ज्ञान—सघात समास से बढते-बढते जब सख्यात हजार सघातो की वृद्धि हो जाय तब प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञान के द्वारा चारो गतियो का स्वरूप वर्णन किया जा सकता है।

१०. प्रतिपत्ति समास—प्रतिपत्ति ज्ञान से आगे जब सख्यात प्रतिपत्ति रूप ज्ञान बढ जाता है, तब अनुयोग से पहले तक उसको 'प्रतिपत्ति समास' कहते है।

११. अनुयोग—प्रतिपत्ति समास से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते जब सख्यात हजार प्रतिपत्ति को वृद्धि हो जाती है, तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञान से चौदह मार्गणाओ का स्वरूप जाना जाता है।

१२. अनुयोग समास—अनुयोग ज्ञान से आगे और प्राभृत-प्राभृत ज्ञान से पहले जितने ज्ञान के विकल्प है, सब अनुयोग समास है।

१३. प्राभृत प्राभृत—अनुयोग ज्ञान के आगे एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते सख्यात अनुयोग होने पर प्राभृत-प्राभृत ज्ञान होता है। प्राभृत शब्द का अर्थ अधिकार है। वस्तु नामक श्रुतज्ञान के अधिकार को प्राभृत और उसके भी अधिकारो को प्राभृत-प्राभृत कहते है।

१४. प्राभृत-प्राभृत समास—प्राभृत-प्राभृत से आगे और प्राभृत से पहले तक श्रुतज्ञान के जितने विकल्प है, उन सबको 'प्राभृत-प्राभृत समास' कहते है।

१५. प्राभृत—प्राभृत-प्राभृत ज्ञान की वृद्धि होते-होते जब चौबीस प्राभृत हो जाते है, तब एक 'प्राभृत ज्ञान' होता है।

१६. प्राभृत समास—प्राभृत से ऊपर और वस्तु से नीचे जो श्रुतज्ञान के विकल्प हैं, उन सब को 'प्राभृत समास' कहते है।

१७. वस्तु श्रु त ज्ञान—प्राभृत ज्ञान की वृद्धि होते-होते जब बीस प्राभृत बढ़ जाते है, तब 'वस्तु श्रुतज्ञान' होता है।

१८. वस्तु समास—वस्तु ज्ञान से ऊपर क्रम से अक्षर पदो की वृद्धि होते-होते दस वस्तु ज्ञान की वृद्धि हो जाय उसमे से एक अक्षर कम तक जो ज्ञान के विकल्प हैं, उनको वस्तु समास ज्ञान कहते है।

१९. पूर्वश्रु त—पूर्व ज्ञान के चौदह भेद है। वस्तु समास के अन्तिम भेद में अक्षर मिलाने से उत्पाद पूर्व होता है।

२०. उत्पाद पूर्व समास—उत्पाद पूर्व मे भी वृद्धि होते-होते चौदह वस्तु पर्याय वृद्धि होने पर उसमे से एक अक्षर कम करने से उत्पाद पूर्व समास ज्ञान होता है।

उसमें एक अक्षर बढाने से अग्रायणीय पूर्व और उसकी वृद्धि होते-होते अग्रायणीय पूर्व समास होता है। इसी प्रकार आगे के पूर्व और पूर्व समास समझने चाहिये।

इस प्रकार यह द्वादशांग श्रुतज्ञान अनन्त पदार्थो को विषय भूत करने से अत्यन्त गम्भीर है और अवाधित विषय होने से अत्यन्त श्रेष्ठ है, इस प्रकार की शास्त्र प्रणाली के अनुसार वह श्रुतज्ञान बारह प्रकार का है। ऐसे श्रुतज्ञान को मै नमस्कार करता हूँ।

श्रु तज्ञान के बारह भेदों का स्वरूप—

आचारं सूत्रकृतं, स्थानं समवाय नामधेयं च।
व्याख्या प्रज्ञप्ति च, ज्ञातृकथोपासकाध्ययने ॥८८३॥
वन्देन्तकृद्दशः मनुत्तरोपपादिक दशं दशावस्थम्।
प्रश्न व्याकरणं हि, विपाक सूत्रं च विनमामि ॥८८४॥

अगप्रवृष्ट श्रुत ज्ञान के बारह भेद है। उनके नाम ये हैं—१. आचारांग, २ सूत्रकृतांग, ३. स्थानाग, ४ समवायांग, ५. व्याख्या प्रज्ञप्त्यग, ६ ज्ञातृकथांग,

७. उपासकाध्ययनांग, ८ अतकृद्दशांग, ९. अनुत्तरोपपादिक दशांग, १२. प्रश्न व्याकरणाग, ११. विपाक सूत्राग और १२. दृष्टि वादांग । इन बारह भेदरूप श्रुतज्ञान को मैं नमस्कार करता हूँ ।

इन बारह अंगों की पद संख्या और स्वरूप

वस्तुत श्रुत ज्ञान के दो भेद है, एक द्रव्य श्रुत और दूसरा भाव श्रुत । द्रव्य श्रुत की रचना शब्दात्मक है, इसलिए उसकी पद सख्या कही जा सकती है; परन्तु भावश्रुत ज्ञानमय है, इसलिये उसकी पद सख्या आदि कुछ नही कही जा सकती ।

१. आचारांग—इसकी पर सख्या अठारह हजार और इसमे गुप्ति समिति आदि मुनियो के आचरणों का वर्णन है ।

द्वादशाग श्रुतज्ञान में आचारांग को सबसे पहले स्थान मिला है । इसकर कारण यह है कि मोक्ष का साक्षात् कारण मुनि मार्ग है । और वह गुप्ति समिति पंचाचार दशधर्म आदि रूप है । इन सबका वर्णन आचाराग मे है । इसलिये सबसे पहले यही कहा है । अथवा भगवान् अरहंतदेव ने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा मोक्षमार्ग का निरूपण किया उसी को नुनकर गणधरदेव ने द्वादशाग श्रुतज्ञान की रचना की, उसमे से सबसे पहले मोक्ष का साक्षात् कारण होने के कारण अचाराग सबसे पहला अंग कहा है ।

२. सूत्रकृतांग—इसमें ज्ञान की प्राप्ति के लिये ज्ञान का विनय और अध्ययन के कारण आदि का वर्णन है, इसकी पद सख्या छत्तीस हजार है ।

३. स्थानांग—इसमें जीवादिक द्रव्यो के एक से लेकर अनेक स्थानो तक का वर्णन किया है । जैसे सग्रहनय से आत्मा एक है । ससारी मुक्त के भेद से दो प्रकार का है । उत्पाद व्यय ध्रौव्य की अपेक्षा तीन प्रकार का है । गतियो की अपेक्षा से चार प्रकार का है । औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक भावो की अपेक्षा से पाच प्रकार का है । पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे इन छह दिशाओ की ओद (विग्रह गति मे) गमन करने के कारण छह प्रकार का है । स्यात् अस्ति, स्यान्नास्ति आदि सप्त भगो की अपेक्षा से सात प्रकार का है । आठ कर्मो के प्रतिक्षण आस्त्रव की अपेक्षा सेल आठ प्रकार का है । नव पदार्थ रूप स्वरूप की अपेक्षा

से नौ प्रकार का है। पृथ्वी कायिक, जल कायिक, वायु कायिक, अग्नि कायिक, प्रत्येक साधारण, दो इन्द्रिय, त्रि इन्द्रिय, चौ न्द्रिय, पचेन्द्रिय के भेद से दस प्रकार का है, इस प्रकार जीव के अनेक भेद हैं।

इस प्रकार पुद्गल धर्म अधर्म आदि समस्त द्रव्यो के विकल्प समझने चाहिये। सब भेद स्थानाग में निरूपण किये गये हैं। इस अग की पद सख्या बयालीस हजार है।

४. समवायांग—इसमे द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से द्रव्यो मे जो परस्पर समानता हो सकती है, वह दिखलाई है। जैसे १ धर्म द्रव्य, २ अधर्म द्रव्य ३ लोकाकाश और ४ एक जीव के प्रदेश समान है, यह द्रव्य की अपेक्षा समानता है। १. जबूद्वीप, २. अप्रतिष्ठान नरक, ३ नन्दीश्वर द्वीप की बावडिया और ४ सर्वर्थसिद्धि विमान समान क्षेत्र के है। यह क्षेत्र कृत समानता है। १ उत्सर्पिणी, २. अवसर्पिणी दोनो का काल समान है। यह काल की समानता है। १. क्षायिक ज्ञान और २. क्षायिक दर्शन दोनो समान है। यह भावकृत समानता है। इस प्रकार समानता को निरूपण करने वाला समवायाग है। इसकी पद सख्या एक लाख चौसठ हजार है।

५. व्याख्या प्रज्ञप्त्यंग—जीव है अथवा नही है, इस प्रकार गणधर देव ने साठ हजार प्रश्न भगवान अरहतदेव से पूछे। उन सब प्रश्नों का तथा उनके उत्तरों का वर्णन इस अग मे है। इसकी पद सख्या दो लाख अट्ठाईस हजार है।

६ ज्ञातृकथांग—इसमे भगवान् तीर्थकर परमदेव और गणधर देवो की कथाओ का तथा उपकथाओ का वर्णन है। अन्य महापुरुषो की कथाएँ भी उसी मे है। इसकी पद सख्या पाच लाख छप्पन हजार है।

७. उपासकाध्ययनांग—इसमे श्रावको के समस्त आचरण, क्रिया, अनुष्ठान आदि का वर्णन है। इसकी पद सख्या ग्यारह लाख सत्तर हजार है।

८. अन्तकृद्दशांग—प्रत्येक तीर्थंकर के समय मे दश-दश मुनीश्वर ऐसे होते हैं, जो भयकर उपसर्गो को सहन कर समस्त कर्मो का नाश कर मोक्ष जाते हैं, उनका वर्णन इस अग मे है। ससार का अत करने वाले दश-दश मुनियो का वर्णन जिसमे हो उसको अत कृद्दशाग कहते है। इसकी पद सख्या तेईस लाख अट्ठाईस हजार है।

९. अनुत्तरोपपादिक दशांग—प्रत्येक तीर्थंकर के समय में दश मुनि ऐसे होते हैं, जो घोर उपसर्ग सहन कर समाधि मरण से अपने प्राणो का त्याग करते है और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थ सिद्धि इन अनुत्तर विमानों मे उत्पन्न

होते हैं। इन सबका वर्णन इस अंग मे हैं। इनकी पद सख्या बानवे लाख चवालीस हजार है।

१०. प्रश्न व्याकरणांग—जो वस्तु खो गई है या मुट्ठी मे है वा और कोई चिंता का विषय हो, उन सब प्रश्नों को लेकर उनका पूर्ण यथार्थ व्याख्यान वा समाधान का वर्णन इस अंग मे है। इसकी पद सख्या तिरानवे लाख सोलह हजार है।

११. विपाक सूत्रांग—इसमे अशुभ कर्मो का उदय शुभ कर्मो का उदय तथा उनका फल वर्णन किया है। इसकी पद सख्या एक करोड़ चौरासी लाख है।

इस प्रकार ग्यारह अगो की पद सख्या चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार है। ऐसे श्रुतज्ञान को मै नमस्कार करता हूं।

१२. बारहवें अंग दृष्टिवाद के लक्षण और भेद—

परिकर्म च सूत्रं च, स्तौमि, प्रथमानुयोग पूर्व गते।
सार्द्ध चूलिकयापि च, पंचविधं दृष्टिवादं च ॥६॥

दृष्टिवाद नाम के बारहवे अग के पांच भेद है। १. परिकर्म, २ सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका इन सबको मैं नमस्कार करता हूँ।

१. परिकर्म—जिसमे गणित की व्याख्या कर उसका पूर्ण विचार किया हो उसको परिकर्म कहते हैं। इसके पाच भेद हैं—१ चन्द्र प्रज्ञप्ति, २. सूर्य प्रज्ञप्ति ३ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ४. द्वीप सागर प्रज्ञप्ति और ५ व्याख्या प्रज्ञाप्ति।

चन्द्र प्रज्ञप्ति—इसमे चन्द्रमा की आयु, गति, परिवार, विभूति आदि का वर्णन है, इसकी पद संख्या छत्तीस लाख पांच हजार है।

सूर्य प्रज्ञप्ति—इसमे सूर्य की आयु, गति, परिवार, विभूति ग्रहण आदि का वर्णन है। इसकी पद सख्या पांच लाख तीन हजार है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—इसमे जम्बूद्वीप सम्बन्धी सात क्षेत्र, कुलाचल पर्वत सरोवर नदियां आदि का वर्णन है। इसकी पद सख्या तीन लाख पच्चीस हजार है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति—इसमें असख्यात द्वीप समुद्रो का वर्णन है। उन द्वीप समुद्रों में रहने वाले अकृत्रिम चैत्यालय ज्योतिप व्यतर आदि सबका वर्णन है। इसकी पद संख्या बावन लाख छत्तीस हजार है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति—इसमे जीवाजीवादिक द्रव्यो का स्वरूप, उनका रूपी, अरूपीपना आदि का वर्णन है। इसकी पद सख्या चौरासी लाख छत्तीस हजार है।

२. सूत्र—इसमें जीव कर्मों का कर्त्ता है, उनके फल को भोक्ता है, शरीर परिमाण है, इत्यादि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप निरूपण किया है, तथा यह जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से उत्पन्न नहीं हुआ है, अणु मात्र नही है, सर्वगत नही है, इत्यादि रूप से अन्य मतों के द्वारा माने हुए पदार्थों के स्वरूप का खडन है, इसकी पद सख्या अठासी लाख है ।

३. प्रथमानुयोग—इसमे त्रेसठ शलाका पुरुषो के चरित्र व पुराणो का निरूपण है । इसकी पद सख्या पाच हजार है ।

४. पूर्वगत—इसमें समस्त पदार्थों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि का वर्णन है । इसकी पद सख्या पिचानवे करोड पचास लाख पांच है ।

५. चूलिका के पांच भेद हैं—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता ।

जलगता—इसमें जल मे गमन करने के लिये तथा जल का स्तम्भ करने के लिये जो कुछ मत्र, तत्र व तपश्चरण कारण है, उन सब का वर्णन है । इसकी पद संख्या दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ है ।

स्थलगता—इसमे पृथ्वी पर गमन करने के कारण मत्र तत्र और तपश्चरणों का वर्णन है । पृथ्वी पर होने वाली जितनी वास्तु विद्याएँ हैं मकान बनाने आदि की विद्याएँ उन सबका वर्णन है । इसकी पद सख्या दो करोड नौ लाख नवासी हजार दो सौ है ।

मायागता—इसमे इन्द्रजाल सम्बन्धी मत्र, तत्रो का वर्णन है, इसकी पद सख्या दो करोड नौ लाख नवासी हजार दो सौ है ।

रूपगता—इसमे सिंह, व्याघ्र, हिरण आदि के रूप धारण करने के मत्र, तत्रो का वर्णन है तथा अनेक प्रकार के चित्र बनाने का वर्णन है । इसकी पद संख्या दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ है ।

आकाशगता—इसमे आकाश में गमन करने के कारण मत्र तंत्र और तपश्चरण का वर्णन है । इसकी पद सख्या दो करोड नौ लाख नवासी हजार दो सौ है ।

पूर्वंगत के भेद और लक्षरग

यद्यपि पूर्वंगत की स्तुति कर चुके है, तथापि उसके अनेक भेद है, इसलिये उन सब भेदो को कहते हुए उस पूर्वंगत की फिर भी स्तुति करते है।

पूर्वंगतं तु चतुर्दश, धोदितमुत्पाद पूर्व माद्यमहम्।
आग्रायणीयमीषे, पुरुवीर्यानुप्रवादं च ॥८८५॥
संततमहमभिवंदे, तथास्तितास्ति प्रवाद पूर्व च।
ज्ञान प्रवाद सत्य, प्रवाद मात्म प्रवादं च ॥८८६॥
कर्म प्रवाद मीडेऽथ, प्रत्याख्यान नामधेयं च।
दशमं विधाधारं, पृथुविद्यानुपवादं च ॥८८७॥
कल्याण नामधेयं, प्राणांवायं क्रियाविशालं च।
अथलोक बिंदुसार वंदे लोकाग्र सारपदं ॥८८८॥

पूर्वंगत के चौदह भेद है, उनके नाम ये है– १. उत्पाद पूर्व, २. आग्रायणीय पूर्व, ३. वीर्यानुवाद पूर्व, ४. अस्ति-नास्ति प्रवाद पूर्व, ५ ज्ञानप्रवाद पूर्व, ६. सत्यप्रवाद पूर्व, ७. आत्मप्रवाद पूर्व, ८. कर्मप्रवाद पूर्व, ९. प्रत्याख्यान पूर्व, १०. विद्यानुवाद पूर्व, ११ कल्याणवाद १२ प्राणानुवाद पूर्व, १३. क्रिया विशाल १४. लोक बिंदुसार।

१. उत्पाद पूर्व—इसमे जीवादिक पदार्थो के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप धर्मो का वर्णन है। इसकी पद सख्या १ करोड है।

२. आग्रायणीय पूर्व—इसमे प्रधान व मुख्य पदार्थो का निरूपण है। दुर्नय सुनय और द्रव्यो का वर्णन है। इसकी पद सख्या छियानवे लाख है।

३. वीर्यानुवाद—इसमें चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणेन्द्र, केवली आदि की सामर्थ्य का महात्म्य दिखलाया है। इनकी पद सख्या सत्तर लाख है।

४. अस्ति-नास्ति प्रवाद—इसमे अनेक प्रकार से छहो द्रव्यो के अस्तित्व और नास्तित्व आदि धर्मो का वर्णन है। इसकी पद सख्या साठ लाख है।

५. ज्ञान प्रवाद—इसमें पांचो ज्ञानो का तथा तीनो मिथ्या ज्ञानो के स्वरूप का वर्णन है। उसके प्रगट होने के कारण उनके आधार वा पात्र [जिनके वह ज्ञान होता है] आदि का वर्णन है। उसके पद सख्या निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे हैं।

६. सत्य प्रवाद—इसमे वचन गुप्ति का वर्णन है, वचनों का सस्कार किस प्रकार होता है उसका वर्णन है, कंठ, तालु आदि उच्चारण स्थानों का वर्णन है, जिनके बोलने की शक्ति उत्पन्न हो गई है ऐसे दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पचेन्द्रिय जीवो के शुभ, अशुभ वचनों के प्रयोगो का वर्णन है। इसकी पद सख्या एक करोड़ छह है।

७. आत्म प्रवाद—इसमे जीव के ज्ञान, सुख और कृतत्व आदि धर्मो का वर्णन है। इसकी पद संख्या छब्बीस करोड़ है।

८. कर्म प्रवाद—इसमे कर्मो का बध, उदय, उदीरणा, उपशम और निर्जरा आदि का वर्णन है। इसकी पद सख्या एक करोड़ अस्सी लाख है।

९. प्रत्याख्यान पूर्व—इसमे द्रव्य और पर्यायो के त्याग का वर्णन है। उपवास करना, व्रत, समिति, गुप्ति, पालन करना, प्रतिक्रमण, प्रतिलेख, विराधना विशुद्धि आदि का वर्णन है। इसकी पद सख्या चौरासी लाख है।

१०. विद्यानुवाद—इसमे सात सौ लघु विद्या, पांच सौ महाविद्याओं का वर्णन है। आठो महानिमित्तो का वर्णन है तथा इन सब विद्याओ का साधन का वर्णन है। इसकी पद सख्या एक करोड दस लाख है।

११. कल्याणवाद—इसमे तीर्थंकर परमदेव चक्रवर्ती बलदेव नारायण आदि के गर्भ कल्याणक, जन्म कल्याणक आदि का वर्णन है। इसकी पद सख्या छब्बीस करोड है।

१२. प्राणानुवाद—इसमें प्राण, अपान के विभाग का वर्णन है, आयुर्वेद शास्त्र, मत्र शास्त्र, गारुडीविद्या आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या तेरह करोड़ है।

१३. क्रिया विशाल—इसमे बहत्तर कलाओ का वर्णन है तथा छद शास्त्र और अलकार शास्त्र का वर्णन है। इसकी पद सख्या नौ करोड है।

१४. लोक बिन्दुसार—इसमे लोक मे सबसे प्रधान और सार भूत जो मोक्ष है उसके सुख, साधन और उसको करने के लिये कहे गये समस्त अनुष्ठानो का वर्णन है। इसकी पद सख्या बारह करोड़ पचास लाख है।

इन पूर्वो के अधिकार तथा प्रत्येक अधिकार के प्राभृत आदि का वर्णन—

दश च चतुर्दश चाष्टा, वष्टादश च द्वयोर्द्विष्टकं च।
षोडश च विंशति च, त्रिशत मपि पंचदश च तथा ॥८९०॥

ऊपर जो उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्व कहे हैं उनमें नीचे लिखे अनुसार अधिकार हैं। उत्पाद पर्व के दश अधिकार है। आग्रायणीय के चौदह, वीर्यानुवाद के आठ, अस्ति नास्ति प्रवाद के अठारह, ज्ञान प्रवाद के बारह, सत्य प्रवाद के बारह, आत्म प्रवाद के सोलह, कर्म प्रवाद के बीस, प्रत्याख्यान पूर्व के तीस, विद्यानुवाद के पन्द्रह, कल्याणवाद के दश, प्राणानुवाद के दश, क्रिया विशाल के दश और लोक बिंदुसार के दश अधिकार हैं।

वस्तूनि दश दशान्येष्वनुपूर्वं भाषितानि पूर्वाणाम्।
प्रतिवस्तु प्राभृतकानि, विंशतिं विंशतिं नौमि ॥८९१॥

ये सब मिलकर एक सौ पिचानवे अधिकार होते है। इन सब अधिकारो को वस्तु कहते है। एक-एक वस्तु वा अधिकार मे बीस-बीस प्राभृत होते है इस प्रकार एक सौ पिचानवे अधिकारों में उन्तालीस सौ प्राभृत होते है। तथा एक-एक प्राभृत मे चौबीस प्राभृत-प्राभृत होते है सब प्राभृत प्राभृतों की सख्या तिरानवे हजार छ सौ होती है।

पूर्व १४, वस्तु १९५, प्राभृत ३९००, प्राभृत प्राभृत ९३६०० होते है। इन सबको मै भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ।

आगे आग्रायणीय पूर्व के चौदह अधिकार अथवा वस्तु कही जाती हैं उनके नाम पूर्व परम्परा से उपलब्ध हो रहे है। इसलिये आचार्य उनका वर्णन करते हैं।

पूर्वांतं ह्यपरान्तं, ध्रुवमध्रुवच्यवन लब्धि नामानि।
अध्रुव वसंप्रणिधिं चा, प्यर्थं भौमावयाद्यं च ॥८९२॥
सवार्थं कल्पनीयं, ज्ञानमतीतं त्वनागतं कालं।
सिद्धिमुपाध्यं च तथा, चतुर्दश वस्तूनि द्वितीयस्य ॥८९३॥

इस दूसरे आग्रायणीय नाम के पूर्व के चौदह अधिकार है, उनके नाम ये है— पूर्वान्त, अपरान्त, ध्रुव, अध्रुव, च्यवनलब्धि, अध्रुव सप्रणिधि, अर्थ भौमावय, सर्वार्थ कल्पनीय, ज्ञान, अतीत काल, अनागत काल, सिद्धि और उपाध्य। ये नाम आचार्य परम्परा से चले आ रहे है। इनको भी मै नमस्कार करता हूँ।

आगे इस आग्रायणीय पूर्व के चौदह अधिकारों में से पाचवा अधिकार 'च्यवनलब्धि' हैं उसके चौथे अध्याय का नाम 'कर्म प्रकृति' है, उसके चौवीस अनुपयोग है, उनके नाम आचार्य परम्परा से चले आ रहे हैं आगे उन्ही की स्तुति करते हैं।

पंचमवस्तु चतुर्थं, प्राभृतकस्यानुयोग नामामि ।
कृतिवेदने तथैव, स्पर्शन कर्म प्रकृति मेव ॥८६४॥
बंधन निबंधन प्र, क्रमानुपक्रम मथाम्युदयमोक्षौ ।
संक्रमलेश्ये च तथा, लेश्यायाः कर्म परिणामौ ॥८६५॥
सातम सातं दीर्घं, ह्रस्वजवधारणीय संज्ञं च ।
पुरु पुद्गलात्म नाम च, निधत्तनिधत्तमभि नौमि ॥८६६॥
सनिकाचित मनिकाचित, मथ कर्मस्थितिक पश्चिमस्कंधौ ।
अल्प बहुत्वं च यजे, तद्द्वाराणां चतुर्विशम् ॥८६७॥

१. कृति, २. वेदना, ३. स्पर्शन, ४. कर्म, ५ प्रकृति, ६. बन्धन, ७ प्रक्रम, ८. अनुपक्रम, ६. अभ्युदय, १० मोक्ष, ११. सक्रम, १२. द्रव्य लेश्या, १३. भाव लेश्या, १४. सात, १५. मसात, १६ दीर्घ, १७. ह्रस्व, १८. भवधारणीय, १६. पुरु पुद्गलात्म, २०. निधत्तमनिधत्त, २१. सनिकाचित मनिकांचित, २२. कर्म स्थितिक, २३. पश्चिम स्कघ, २४. अल्प बहुत्व ये चौबीस अनुयोग है ये चौबीसों अनुयोग अथवा पच्चीस अनुयोग आग्रायणीय पूर्व के पाचवे च्यवन लब्धि नाम के अधिकार के कर्म प्रकृति नामक चौथे प्राभृत कहे जाते है। इनको मै भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूं।

द्वादशांग श्रुत ज्ञान की पद संख्या—

कोटीनां द्वादशशत, मष्टापंचाशतं सहस्त्राणाम् ।
लक्षत्र्य शीतिमेवच, पंच च वंदे श्रुत पदानि ॥८६८॥

इस प्रकार समस्त द्वादशाग की पद सख्या एक सौ बारह करोड़, तीरासी लाख, अट्ठावन हजार पाच है। इस श्रुत ज्ञान को मैं सदा नमस्कार करता हूँ।

आगे एक एक पद में कितने कितने अक्षर होते हैं—

षोडश शतं चतुस्त्रिशत, कोटीनां त्र्यशीति लक्षाणि ।
शतसंख्याष्टा सप्तति, मष्टाशीतिं च पदवर्णान् ॥८६६॥

पद तीन प्रकार के होते है। १ अर्थ पद, २. प्रमाण पद, ३. मध्यम पद। कहने वाले का अभिप्राय जितने अक्षरो से पूर्ण हो जाय उतने अक्षरों का एक अर्थ पद होता है। इस पद के अक्षर नियत नही है। किसी पद में अधिक अक्षर होते है और किसी में कम। जैसे 'अग्नि लाओ' इसमें थोड़े अक्षर है और 'सफेद गाय को अपनी जगह पर बात्र दो' इसमे अधिक अक्षर है।

आठ अक्षर वा इससे अधिक अक्षरो के समुदाय को प्रमाण पद कहते हैं। इससे अङ्गबाह्य श्रुत की सख्या कही जा सकती है। जैसे अनुष्टुप श्लोक के प्रत्येक चरण मे आठ अक्षर होते है।

अग प्रविष्ट श्रुत की संख्या के निरूपण करने वाले जो पद है उनको मध्यम पद कहते है। इस श्लोक मे उन्ही मध्यम पद के अक्षरो की सख्या का प्रमाण कहते है। सोलह सौ चौतीस करोड तिरासी लाख, अठत्तर सौ अठासी अक्षर अर्थात् सोलह अरब चौतीस करोड, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी अक्षर एक-एक मध्यम पद के होते है।

समस्त श्रुतज्ञान के अक्षरों की सख्या इकट्ठी प्रमाण है—

अर्थात् १८४४६७४४०७३७०६५५१६१६ इतने अक्षर है।

इसमें मध्य पद के अक्षरों का भाग देना चाहिए जो फल आये वह द्वादशाग की पद सख्या समझनी चाहिये। तथा जो अक्षर बाकी रहते है, वे अक्षर अङ्गबाह्य श्रुत ज्ञान के समझने चाहिये। जो अक्षर बाकी रह जाते है उनसे मध्यपद बन नही सकता इसीलिये वे अक्षर अग बाह्य के समझे जाते है। उनकी सख्या आठ करोड, एक लाख, आठ हजार, एक सौ पिचहत्तर है। उस अग बाह्य के अनेक भेद है उन्ही की स्तुति करते है :—

अङ्गबाह्य के अनेक भेदों का स्वरूप—

सामायिकं चतुर्विशति, स्तवं वंदना प्रतिक्रमणं।
वैनयिकं कृति कर्म च, पृथुदशवैकालिकं च तथा ॥६००॥

वरमुत्तराध्ययनमपि, कल्प व्यवहारमेवमभिवंदे।
कल्पाकल्पं स्तौमि, महाकल्पं पुडरीकं च ॥६०१॥

परिपाटया प्रणिपतितोऽस्म्यहं महापुंडरीकनामैव।
निपुणान्य शीतिक च, प्रकीर्णकान्यंग बाह्यानि ॥६०२॥

अग बाह्य श्रुत ज्ञान के चौदह भेद है, उनके नाम ये है—१. सामायिक २. चतुर्विशति स्तव, ३. वदना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृति-कर्म, ७ दश-वैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्प व्यवहार, १०. कल्पाकल्प, ११ महाकल्प, १२. पुडरीक, १३ महापुडरीक, १४. अशीतिक इन्ही को प्रकीर्णक कहते है। इनमे पदार्थो का स्वरूप अत्यत सूक्ष्म रीति से वर्णन किया है। ऐसे इन चौदह प्रकीर्णको को मैं बड़ी विनय के साथ वदना करता हूँ।

१. सामायिक—गृहस्थ वा मुनि जो नियत काल तक अथवा अनियत काल तक समता धारण करते है, उसको सामायिक कहते है। उनका जिसमे वर्णन हो वह सामायिक प्रकीर्णक है।

२. चतुर्विंशतिस्तव—वृषभादि चौबीस तीर्थंकरो के आठ प्रतिहार्य चौतीस अतिशय, चिन्ह तथा अनत चतुष्टय आदि की स्तुति करना स्तव है। उसका जिसमें वर्णण हो वह चतुर्विंशति स्तव है।

३. वंदना—पच परमेष्ठियो मे से प्रत्येक की अलग अलग वंदना करना वदना है। उसका जिसमें वर्णन हो वह वदना है।

४. प्रतिक्रमण—जिसमे सात प्रकार के प्रतिक्रमण का वर्णन हो उसको प्रतिक्रमण कहते है। यथा (१) दैवसिक–जिनके दोषों को निराकरण करने वाला प्रतिक्रमण। (२) रात्रिक–रात्रि के दोषो का निराकरण करने वाला प्रतिक्रमण (३) पाक्षिक–पद्रह दिन के दोषों के निराकरण करने वाला प्रतिक्रमण (४) चातुर्मासिक प्रतिक्रमण–जिसमे चार महीने के दोषो का निराकरण हो। (५) सॉवत्सरिक प्रतिक्रमण–जिसमे एक वर्ष के दोषो का निराकरण हो। (६) ऐर्यापथिक–जिसमें ईर्यापथ सबधी दोषो का निराकरण। (७) उत्तमार्थिक–जिसमे समस्त पर्याय संबधी दोपो का निराकरण किया जाय। इस प्रकार सात प्रकार के प्रतिक्रमणो का वर्णन जिसमे हो उसको प्रतिक्रमण प्रकीर्णक कहते है।

५. वैनयिक—जिसमे ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनयो का वर्णन हो उसको वैनयिक प्रकिर्णक कहते है।

६. कृति कर्म—जिसमे दीक्षा देने और दीक्षा लेने का विधान हो उसको कृति कर्म कहते है।

७. दश वैकालिक—द्रुम, पुष्पित आदि दश दश अधिकारो के द्वारा इसमे मुनियो के समस्त आचरणो का वर्णन है।

८. उत्तराध्ययन—इसमे अनेक प्रकार के उपसर्ग सहन करने और उनको सहन करने के फलो का वर्णन है।

९. कल्पाकल्प—इसमे मुनियो के योग्य आचरणों का तथा उन आचरणों से च्युत होने पर योग्य प्रायश्चित का वर्णन है।

१०. कल्पाकल्प— इसमे गृहस्थ और मुनियों के योग्य आचरणों का वर्णन

है । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा का विशेष समय के अनुसार योग्य आचरणों का निरूपण इसमें किया गया है ।

११. महाकल्प—दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसस्कार, भावना, उत्तमार्थ ये छह कालभेद माने है । इनके अनुसार इसमे मुनिओ के आचरणो का निरूपण है ।

१२. पुण्डरीक—इसमे भवनवासी, व्यतर आदि देवों मे उत्पन्न होने के कारण तपश्चरण का वर्णन है ।

१३. महापुण्डरीक—इसमें देव, देवागना, अप्सरा आदि स्थानो मे उत्पन्न होने के कारण का वर्णन है ।

१४. अशीतिक—इसमें मनुष्यों की आयु और सामर्थ्य के अनुसार स्थूल दोप और सूक्ष्म दोषों के प्रायश्चित्तो का वर्णन है ।

इस प्रकार ये चौदह प्रकीर्णक कहलाते है । इनमे अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थो का वर्णन है, इसीलिये इनको निपुण कहते है । ये अङ्ग बाह्य इतने ही है । न इनसे कम है और न इनसे अधिक है, ऐसे इस अग बाह्य को मै नमस्कार करता हूँ । इस प्रकार श्रुतज्ञान के पाठी उपाध्याय परमेष्ठि होते है ।

(श्रुतभक्ति, आ. पूज्यपाद कृत)

तपस्वी का लक्षण—

महोपवासादिक का अनुष्ठान करने वाले तपस्वी कहलाते है, ये १० प्रकार के होते है ।

शैक्ष्य—

जो निरंतर शिक्षाशील रहते है, उन्हे शैक्ष्य कहते है ।

ग्लान—

रोग आदि से क्लान्त शरीर वालो को ग्लान कहते है ।

गण—

स्थविरो की सतति को गण कहते है ।

कुल—

दीक्षकाचार्य के शिष्य समुदाय को कुल कहते है ।

संघ—

चार वर्ण के श्रमणो को संघ कहते है ।

साधु—

चिरकाल से प्रव्रजित को साधु कहते है।

मनोज्ञ—

लोक में जिनकी प्रशसा बढ रही है उन्हे मनोज्ञ कहते है।

मुनियों की समाचार नीति

तनोति संपदं नीतिर्यद्वत्त द्वद्गरण श्रियम् ।
सत्प्रियां या समाचार नीतिः सा कीर्त्यतेऽधुना ॥९०३॥

जिस प्रकार नीति महान सम्पदा को देने वाली है, उसी प्रकार समाचार नीति महान गुण श्री को देने वाली है। वह मुनियो की समाचार नीति अब कही जाती है।

समाचार की निरुक्ति—

समः समानः सं सम्यगाचारो यः समैयु तैः ।
आचार्यंत इति प्राज्ञैः स समाचार ईरितः ॥९०४॥

रागद्वेष के अभाव रूप समताभाव है वह समाचार है, अथवा सम्यक् अर्थात् आचार रहित जो मूलगुणो का अनुष्ठान आचरण है वह समाचार है. अथवा प्रमत्तादि समस्त मुनियो का अहिसादि रूप आचार है वह समाचार है, अथवा सब क्षेत्रो में हानिवृद्धि रहित कायोत्सर्गादिक सदृश परिणाम रूप आचरण है वह समाचार है।

सम्यक् आचरण के प्रकार—

एषः संक्षेपविस्तार द्विभेदो दशभेदगः ।
संक्षेपोऽनल्पभेदोऽन्य आदिभेदा इमे दशः ॥९०५॥

समाचार अर्थात् सम्यक् आचरण दो ही प्रकार के है—१. औघिक २. पद-विभागिक। औघिक के दश भेद होते है और पदविभागिक समाचार अनेक प्रकार का है।

औघिक समाचार के भेद—

इच्छामिथ्या तथा कारेच्छा वृत्यासी निषिद्धिकः ।
आप्रच्छन्नं प्रतिप्रश्नश्च निमंत्रण संश्रयौ ॥९०६॥

इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, इच्छावृत्ति, आशिका, निषिद्धिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, सनिमत्रणा और सश्रय इस तरह ते औघिक समाचार के दश भेद है।

इच्छाकार—

पुस्तकातापयोगादेर्या याञ्चा विनयान्विता ।
स्वपरार्थे यतीन्द्राणां सेच्छाकारः प्ररूपितः ॥९०७॥

पिच्छिका आदि सयम के उपकरण, शास्त्रादि ज्ञानोपकरण, कमण्डलु शौचोपकरण, औषधि आदि के ग्रहण और आतापन योगादि के करने के लिए गुरु से जो विनय पूर्वक याचना की जाती है, वह इच्छाकार है ।

मिथ्याकार—

यन्मया दुष्कृतं पूर्वं तन्मिथ्याऽस्तु न तत्पुरः ।
करोमीति मनोवृत्ति मिथ्याकारोऽति निर्मलः ॥९०८॥

जो व्रतादिक मे अतिचार रूप पाप मैंने किया हो, वह मिथ्या हो, ऐसे मिथ्या किये हुए पाप को फिर करने की इच्छा नही करता और मनरूप अंतरग भाव से प्रतिक्रमण करता है, उसी के दुष्कृत मिथ्याकार होता है ।

तथाकार—

तत्वाख्यानोपदेशादौ नान्यथा भगवद्वचः ।
तत्तथेत्यादरेणोक्ति स्तथाकारो गुणाकारः ॥९०९॥

तत्वाख्यान के उपदेश आदि मे भगवान के वचन अन्यथा नही है, जैसा भगवान कहते है, वैसा ही है, इस प्रकार आदर पूर्वक कहना, गुणों को करने वाला तथाकार है ।

भगवान सर्वज्ञ ने जो कहा है, वह सत्य है, क्योंकि भगवान अन्यथा वादी नही है । ऐसा दृढ़ विश्वास करना तथाकार है ।

इच्छानुवृत्ति—

पूर्वात्तानशनातापयोगोपकरणादिषु ।
सेच्छावृत्ति र्गणीच्छानुवृत्तिर्या विनयास्पदा ॥९१०॥

पूर्व में गृहीत उपवास, आतापन, योग पुस्तकादि उपकरणों में जो गुरु की इच्छानुकूल वृत्ति है, वह विनय का स्थान इच्छानुवृत्ति है ।

आचार्य आदि के द्वारा दी हुई पुस्तक आदि उपकरण के ग्रहण में गुरु की इच्छानुकूल प्रवृत्ति करना इच्छानुवृत्ति (छदन) है ।

आशीका—

स्थिता वयमियत्कालं यामः क्षेमोदयोस्तु ते ।
इतीष्टाशंसनं व्यंतरादेराशी निरुच्यते ॥६११॥

इतने काल तक यहां पर ठहरे थे, अब हम जा रहे है, तेरा कल्याण हो, इस प्रकार व्यंतरादिकी प्रशसा करना इप्ट आशी कही जाती है ।

किसी गुफा, शून्य मकान, पर्वत की कन्दरा आदि मे ठहरकर पुन. वहां से निकलते समय कहना कि हे व्यंतर देवो, हम इतने काल तक यहां पर ठहरे थे, अब हम जा रहे हैं, तुम्हारा कल्याण हो इस प्रकार के वचनो से व्यतरादि देवो को आशीर्वादात्मक वचन कहना आशी है ।

निषिधिका—

जीवनां व्यन्तरादीनां बाधायै यन्निषेधनम् ।
अस्माभिः स्थीयते युष्मदृष्ट्यैवेति निषिद्धिका ॥६१२॥

व्यन्तरादि जीवादि की बाधा के लिये जो निषेध है कि हे व्यन्तर देवों ! हम लोगो के द्वारा तुम्हारी दृष्टि से ही ठहरा जाता है, इस प्रकार कहना निपिद्धिका है ।

किसी जिन मदिर, शून्य गृह, पर्वत की कन्दरा आदि मे प्रवेश करते समय हे व्यंतर देव! हम लोग यहां ठहरना चाहते है । तुम्हारी दृष्टि से हमारा स्थान निर्विघ्न हो ऐसा कहना निषिद्धिका है । अर्थात् किसी स्थान मे प्रवेश करते समय निःसहि–२ का उच्चारण करना तथा वहां से निकलते समय आसहि–२ का उच्चारण करना आसिका और निषिद्धिका है ।

प्रवासावसरे कन्दरावासादे निषिद्धिका ।
तस्मान्निर्गमने कार्या स्यादाशीर्वैरहारिणी ॥६१३॥

कन्दरावासादि के प्रवेश के समय निषिद्धिका तथा उस स्थान से निकलते समय वैर विरोध को नाश करने वाली आसिका करना चाहिए ।

शून्य मकान आदि मे प्रवेश करते समय निषिद्धिका और निकलते समय आसिका करना चाहिये, यह आसिका और निषिद्धिका विरोध की नाशक हैं । अन्यथा देवों के साथ विरोध होने की सभावना है ।

आप्रच्छना—

ग्रंथारंभकचोल्लोचकाय शुद्धि क्रियादिषु ।

प्रश्नः सूर्यादिपूज्यानां भक्त्या प्रच्छन्नं मुनौ ।।९१४।।

ग्रन्थ का आरम्भ, केशलोच, आदि काय शुद्धि की क्रिया में आचार्यादि पूज्य पुरुषो को पूछना मुनि मे आप्रच्छन होती है ।

किसी शास्त्र का आरम्भ, केशलोच आदि क्रिया करना हो तो आचार्य को पूंछकर करना चाहिये, इसी को प्रच्छना कहते है ।

प्रतिप्रच्छा—

यत्किंचन महत्कार्यं कार्यं पृष्ट्वा यतीश्वरान् ।

विनयेन पुनः प्रश्नः प्रतिप्रश्नः प्रकीर्तितः ।।९१५।।

जो कुछ छोटा या बडा कार्य हो उसको आचार्यो को विनयपूर्वक पूछकर पुनः प्रश्न करना प्रतिप्रश्न कहा जाता है ।

जो कुछ महान् कार्य हो वह गुरु प्रवर्तक स्थविरादिक से पूछकर करना चाहिए, उस कार्य के करने के लिए दूसरी बार उनसे तथा अन्य साधर्मी साधुओ से पूछना वह प्रतिपृच्छा हैं, ऐसा जानना चाहिये ।

आनिमंत्रण—

पुस्तकादौ पुरा दत्ते स्वात्मार्थे यन्निवेदनम् ।

जिघृक्षायां पुनः सूरि प्रमुखेष्वानिमंत्रणम् ।।९१६।।

पूर्व मे दी हुई पुस्तक आदि मे स्व के लिये स्वीकार करने के लिये पुनः ग्रहण करने की इच्छा होने पर आचार्य आदि से जो निवेदन किया जाता है, वह आनिमत्रण है ।

पूर्व गुरु आदि को दी गई अपनी पुस्तक वा उसकी पुस्तकादि कोई वस्तु पुन. ग्रहण करने की इच्छा हो तो विनय पूर्वक याचना करके लेना चाहिये अथवा पूर्व ग्रहण की हुई पुस्तकादि को पुनः देते समय कोई अब हमे नही चाहिये, ऐसा विनय पूर्वक निवेदन करना आनिमत्रण है ।

संश्रय का स्वरूप और भेद

विनय क्षेत्र मार्गाणां संश्रयः सुखदुखयोः ।

सूत्रस्य चेत्ययं पंच प्रकारः संश्रयः स्मृतः ।।९१७।।

विनय, क्षेत्र, मार्ग का, सुख-दुख का और सूत्र का इस प्रकार यह पांच प्रकार का संश्रय कहा गया है।

गुरुजनों के लिए मैं आपका हूं, इस प्रकार आत्मसमर्पण करना संश्रय है। तथा यह विनय संश्रय, क्षेत्र सश्रय, मार्ग संश्रय, सुख या दुख संश्रय और सूत्र सश्रय के भेद से पांच प्रकार का है।

विनयसंश्रय—

वीक्ष्याऽऽगन्तु कमायांतं यपिमुत्थाय संभ्रमात्।
पदानि सप्त गत्वा च कृत्वा तद्योग्यवन्दनम् ॥९१८॥
मार्गं श्रान्तिम पोह्यासन प्रदानादियत्नतः।
त्रिरत्नसुस्थितादीनां प्रश्नो विनय संश्रयः ॥९१९॥

आये हुए आगन्तुक मुनि को देखकर शीघ्र ही उठकर, सात पैर उसके सम्मुख जाकर और उसके योग्य वन्दना करके, आसन प्रदान आदि के यत्न से मार्ग के खेद को दूर करके रत्नत्रय की कुशल पूछना विनय संश्रय है।

अन्य सघ के मुनि को अपने सघ में आता हुआ देखकर शीघ्र ही उठकर सात पैर उसके सम्मुख जाकर उसका सत्कार करना, तदनंन्तर आसन प्रदान करना, पैर दबाकर मार्ग के खेद को दूर करना, आपका आगमन कहाँ से हुआ है ? आपका स्थान कहा है ? आपके गुरु का नाम क्या है ? आपको रत्नत्रय की कुशलता है, आदि पूछना विनय संश्रय है।

क्षेत्रसंश्रय—

व्यक्त्वा दुर्नृपमक्ष्मापं पापं पापिजनाकूलम्।
देशं दीक्षोन्मुखापेतं दुर्भिक्षं क्लेशदायकम् ॥९२०॥
निर्बाधसस्यवद्यत्र वर्द्धते गुणमण्डलम्।
क्षेत्रसंश्रयणं तत्राऽऽवासश्चेतः सुखावहः ॥९२१॥

पृथ्वीरक्षा नही करने वाला दुराचारी राजा, सावद्य युक्त पापीजनों से भरे हुए दीक्षा का सम्मुखता से रहित, दुर्भिक्ष से व्याप्त, क्लेश दायक देश को छोड़कर जिस देश मे निर्वाध सस्य के समान गुणो का समूह वृद्धिगत होता है, उस क्षेत्र में चित्त को सुखकारी आवास करना क्षेत्र संश्रय है।

जिस क्षेत्र में राजा नही है, अथवा पापी राजा है, क्षेत्र पापाचार या पापी-

जनों से व्याप्त है, जो दुर्भिक्ष से पीड़ित हैं, दीक्षा के सन्मुखता से रहित है ऐसे क्षेत्र को छोड़कर, जिस देश में निर्विघ्न व्रतो के समूह का पालन होता है, उस क्षेत्र मे रहना क्षेत्रसश्रय है ।

मार्गसंश्रय—

आगन्तुक मुने मर्गि यातागमन जातयोः ।
यः सुखा सुखयोः प्रश्नः सोऽयं स्यान्मार्गसंश्रयः ॥६२२॥

आगन्तुक मुनि के मार्ग में गमनागमन से उत्पन्न हुए सुख-दुख मे जो प्रश्न पूछना है, वह यह मार्गसश्रय है ।

आगन्तुक मुनि के मार्ग मे गमनागमन से उत्पन्न हुए सुख-दुख के विषय मे प्रश्न पूछना, यह मार्ग सश्रय है ।

सुखासुखसंश्रय—

चौर क्रूर गदोर्वीश पीड़िताद्यति वर्तिनाम् ।
तोषोत्कर्षण माहार भेषजायतनादिभिः ॥६२३॥
स्वात्मार्पण महं तुभ्यस्मीति च सुखेऽसुखे ।
यत्तच्चित प्रसादार्थं तत्सुखासुख संश्रयः ॥६२४॥

चोर, क्रूर, प्राणी, रोग, राजा आदि से पीड़ित होने से दुखी यतिगणों को आहार, औषध, आयतन आदि के द्वारा सन्तुष्ट करना, सुख मे और दुख मे मै तुम्हारे लिए हू इस प्रकार जो आत्म समर्पण करना है, वह उसके चित्त को प्रसन्न करने के लिए वह सुखासुखसश्रय है ।

जिस क्षेत्र में व्रत, सयम, तप की विराधना होती है, दुर्जन राजा व अगामी जनों के निमित्त से परिणामो मे आकुलता होती है, उस क्षेत्र को छोड़कर तप, सयम के वृद्धि कारक क्षेत्र में निवास करना, क्षेत्रसश्रय है ।

आगन्तुक मुनि के मार्ग में उत्पन्न हुई सुख-दुख की वार्ता पूछना, मार्गसश्रय है, तथा मार्ग में उनको किसी चोर ने वा किसी दुष्ट प्राणी ने पीडित किया है अथवा कोई रोग उत्पन्न हुआ हो, तो उसको औषधि, आसन, उपकरण आदि देकर दूर करना और आप आकुलित न हों, सुख दुख मे मै आपका ही हूँ इस प्रकार आत्म समर्पण करना सुख-दुख-संश्रय है ।

पुरा स्वगुरु पादान्ते शास्त्रं श्रुत्वाऽखिलं पुन. ।
जिज्ञासायां स्वलोकान्यथा ग्रन्थातिशये मुनिः ।।६२५।।
भक्त्योपेत्य गुरुन्नत्वा युष्मत्पाद प्रसादतः ।
अन्यन्मुनीन्द्र वृन्दं ते द्रष्टुं वांछः प्रवर्त्तते ।।६२६।।
इत्येवं बहुशः स्पृष्ट्वा लब्ध्वाऽनुज्ञां गुरोर्व्रजेत् ।
व्रतिनैकेन वा द्वाभ्यां बहुभिः सह नान्यथा ।।६२७।।

प्रथम अपने गुरु के चरणो मे सर्वशास्त्रो को सुनकर पश्चात् ग्रन्थो के अतिशय के लिये दूसरे ग्रन्थों को पढने की इच्छा होने पर मुनि भक्ति से गुरु के समीप जाकर नमस्कार करके आपके चरणो के प्रसाद से मेरी दूसरे मुनि समूह के दर्शन करने की इच्छा है, इस प्रकार यह बारम्बार पूछकर गुरु की अनुमति को प्राप्त कर एक मुनि दो या बहुत से मुनियो के साथ जावे अकेला नही जावे ।

सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ के जानने के प्रयत्न को सूत्रसश्रय कहते है । उसके अर्थ को जानने का प्रयत्न करना अर्थ सश्रय है । सूत्रार्थ का जानने का प्रयत्न करना उभय सश्रय है । इसी को मूलाचार मे उपसंयत् कहा है । उसी में सूत्र सश्रय, अर्थ सश्रय, उभय सश्रय, लौकिक, वैदिक और सामायिक के भेद से तीन-तीन प्रकार का कहा है । व्याकरण गणित आदिक लौकिक सूत्र है । सिद्धान्त शास्त्र वैदिक कहलाते है । स्याद्वाद-न्याय शास्त्र अथवा अध्यात्मिक शास्त्र सामायिक है । जिसने पूर्व में स्वकीय गुरु से सर्व सिद्धान्तो को जान लिया है, पुन. विशेष शास्त्रो के जानने की इच्छा होने पर विनयशील मुनिभक्ति और आदरपूर्वक अपने गुरु के पास जाकर बार-बार प्रार्थना करता है कि हे गुरुदेव, आपके प्रासाद से यद्यपि मैंने सारे सिद्धान्त को जान लिया है फिर भी विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त करने के लिए मै सकल शास्त्र के पारगत अन्य आचार्यो के समीप जाना चाहता हूं, इस प्रकार बार-बार प्रच्छना करे । तदनन्तर गुरु की अनुमति से एक-दो या बहुत से मुनियो के साथ वह दूसरे आचार्य के समीप जाने के लिए विहार करे ।

एकाकी विहार

ज्ञान संहनन न स्वांत भावना बलवन्मुनेः ।
चिर प्रव्रजितस्यैक विहारस्तु मतः श्रुते ।।६२८।।

एतद् गुण गणापेतः स्वेच्छाचाररतः पुमान् ।
यस्तस्यैकाकिता मा भून्मम जातु रिपोरपि ॥६२६॥

वहुत काल के दीक्षित ज्ञान, संहनन, स्वांत भावना से वलशाली मुनि के एकाकी विहार करना शास्त्रों में माना है, परन्तु जो इन गुण समूह से रहित स्वेच्छाचार मे रत पुरुष है, उस मेरे शत्रु के भी एकाकी विहार की भी नही हो ।

जो ज्ञान वल, संहनन वल, मनोबल और शुभ भावना से युक्त है, वह एकाकी विहार कर सकता है । ज्ञान वल, विशिष्ट आध्यात्मिक ज्ञान का धारी है । सहनन वल, उत्कृष्ट संहनन का धारी हो अर्थात भूख, प्यास सहन करने की शक्ति वाला हो, आत्मानुभूति से अपने मन को वश में करने वाला हो, चिरकाल का दीक्षित हो ऐसा विशिष्ट मुनि एकाकी विहार करने वाला हो सकता है । परन्तु जिसमें यह गुण नही है, जो स्वेच्छाचार में रत रहता है अर्थात् सोने, वैठने, मलमूत्र के त्यागने मे वस्तु के ग्रहण करने में स्वच्छन्द होकर प्रवृत्ति करता है ऐसा मुनि कभी एकाकी विहार न करे ।

आचार्य खेद के साथ कहते हैं कि इन गुणो से रहित साधु मेरा शत्रु भी हो तो भी एकाकी विहार न करे ।

एकाकी विहार से हानि—

श्रुत संतान विच्छित्तिर नवस्था यमक्षयः ।
आज्ञाभंगश्च दुष्कीर्त्तिस्तीर्थस्य स्याद्गुरोरपि ॥६३०॥
अग्नितोयग राजीर्णसर्प क्रूरादिभिः क्षयः ।
स्वस्याप्यार्त्ता दिकादेक विहारेऽनुचिते यतः ॥६३१॥

क्योंकि अनुचित एकाकी विहार करने पर श्रुतज्ञान के संतान की विच्छित्ति अनवस्था संयम का नाश तीर्थ और गुरु की भी आज्ञा का भंग और अपयशस्कीर्त्ति अग्नि, जल, विप, अजीर्ण और सर्पादिक क्रूर प्राणियो के द्वारा आर्तध्यान से अपना नाश होगा ।

एकाकी विहार करने से संयम का घात, श्रुत का विच्छेद, दीक्षा देने वाले गुरु की निन्दा, जिन शासन में कलंक, मूर्खता, कुशीलता आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं तथा जो स्वच्छन्द होकर एकाकी विहार करते हैं, वे कटक, चोर, क्रूर पशुओ के द्वारा पीड़ित होते हैं, उनका अजीर्ण रोगादि से आर्त्तध्यान युक्त होकर मरण होता

है। अनेक प्रकार की आपत्तियो का सामना करना पड़ता है। इसलिए एक, दो, तीन या बहुत से मुनियो के साथ विहार करना चाहिये। एकाकी विहार नही करना चाहिये।

पांच प्रकार के मुनिओं का आश्रय क्यों करें—

गत्वातः सूर्योपाध्याय वर्त्तक स्थविरान्वितम्।
गणं गणधरोपेतमुपेयादीदृशाश्चते ॥६३२॥

अतः ऐसे साधु अपने सघ से निकलकर आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर से युक्त गणधर वाले गण को प्राप्त करे।

गुरु की अनुमति लेकर वह तपस्वी दो, तीन मुनियो के साथ अन्य सघ में जाता है, जिसमें आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्त्तक और गणधर यह पांच मुनि होते है।

संघ प्रवर्तक का लक्षण—

प्रभावनाधिकोऽबाधमन्नाद्यैः संघवर्तकः।
जगदादेय वाग्मूर्त्तिर्वर्तकः कालदेशवित् ॥६३३॥

अधिक प्रभावनाकारी अन्न आदि के द्वारा अबाधित रूप से सघ का प्रवर्त्तक देशकाल को जानने वाला जगत मे आदेय है, वचन मूर्ति जिसकी ऐसा प्रवर्त्तक साधु होता है।

जो देशकाल का ज्ञाता है, निर्दोष रूप से अन्न औषधि आदि के द्वारा सघ का पोषण करता है, सारे प्राणियो के द्वारा जिनके वचन माननीय हैं, जो जिन धर्म का प्रभावक है, वह प्रवर्त्तक कहलाता है।

स्थविर और गणी का लक्षण—

समय स्थिति सद्गीतिः स्थविरः स्याद्गुणस्थिरः।
गणरक्षाक्षम सूरिर्गुणी गणधरः स्मृतः ॥६३४॥

समय की स्थिति को जानने वाला स्थिर गुण वाला स्थविर गण की रक्षा करने मे समर्थ गुणी आचार्य गणधर कहलाते है।

जो दीक्षादि देकर शिष्यो के उपकार करने मे चतुर हो वह आचार्य है, जो धर्म का उपदेश देते है, शास्त्र पढाते है, वे उपाध्याय है जो चर्या आदि के द्वारा सघ का उपकार करते है, वे प्रवर्त्तक हैं, जो सघ की रीति, स्थिति, प्राचीन परम्परा की

मर्यादा को जानते है, वे स्थविर और जो गण को पालते है, रक्षा करते हैं, वे गणधर कहलाते है।

आगन्तुक मुनि के साथ संघ व आचार्य परस्पर एक दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करें–

तं प्राप्य तद्गणाधीश मभ्यायांतं सहात्मनः।
गणेनाऽऽज्ञानति स्वीकारेच्छावात्सल्य कारणैः ॥६३५॥
प्रीत्या प्रेक्ष्याति भक्त्या तं प्रणम्य गणमप्यथ।
मार्गातिचार नियमं निवर्त्यान्याः क्रिया अपि ॥६३६॥
वंदित्वा गणनं गणमप्युचित क्रियया दिनम्।
तद्विश्रम्य द्वितीयेऽह्नि तृतीये वासरेऽथवा ॥६३७॥
गणिनं गुणिनं संघ गुण संगमवेत्य तम्।
दयादम शमावश्यक क्रिया करणादिषु ॥६३८॥
सूरिं संश्रित्य नत्वेष्टं स्वस्य विज्ञापयेच्छनैः।
दत्वाऽस्मै चेतनाचेतनांतरालार्जितोपधिम् ॥६३९॥

अपने गण के साथ सन्मुख आये हुए उस गण के अधीश को प्राप्त कर आज्ञा, नति स्वीकार की इच्छा, वात्सल्य आदि कारणों के द्वारा प्रीति से परीक्षा करके अति भक्ति से उस गण को नमस्कार कर इसके बाद मार्ग के अतिचार के नियम को और अन्य भी क्रियाओ को निवृत कर योग क्रियाओ से सूरि को और सघ को नमस्कार कर उस दिन को विश्राति लेकर दूसरे दिन मे अथवा तीसरे दिन मे दया, दम, शम, आवश्यकादि क्रियाकरण आदि मैं गुणशाली सघ के गुणो का समूह उस आचार्य को जानकर सूरि के समीप में बैठकर नमस्कार करते हुए मार्ग मे प्राप्त हुई चेतन, अचेतन उपधि को उस आचार्य के लिए देकर अपने इष्ट को धीरे-धीरे विज्ञापन करे।

शास्त्रज्ञान का इच्छुक संयमी अपने गुरु की अनुमति लेकर आचार्य, उपाध्याय प्रवर्तक, स्थविर, गणी से शोभित पर सघ में जाते है, पर सघ के साधु उस आगन्तुक मुनि को देखकर सात पैर उसके सम्मुख जाकर तथा परस्पर मे नमस्कार करके रत्नत्रय कुशल पूछते हैं। तदतन्तर आगन्तुक मुनि और सघ के मुनि परस्पर मे एक दूसरे की आज्ञापालन नमस्कार स्वीकार, इच्छा, वात्सल्यादि कारणों के द्वारा परीक्षा करके प्रीति और अतिभक्ति से आचार्य को नमस्कार करके आगन्तुक के मुनि मार्ग के

अतिचारो को दूर कर, उचित क्रिया से एक दिन विश्रान्ति देकर सारी दैनिक आवश्यक क्रियाओ मे तथा प्रतिलेखन क्रिया मे परस्पर दो तीन दिन तक परीक्षा करते हैं। तदन्तर दूसरे या तीसरे दिन जाकर साधु आचार्य को नमस्कार कर उनके समीप बैठ जाय। तदनन्तर मार्ग मे शिष्य आदि चेतन, पुस्तक कमण्डलु आदि अचेतन कोई भी वस्तु प्राप्त हुई हो तो आचार्य को अर्पण कर दे। उसके वाद अति विनय भावों से धीरे-धीरे अपने आने के कारण को आचार्य से निवेदन करे।

गुरु सन्तान चारित्र शुद्धो शास्त्रो यदीतर.।
कृत्वा छेदमुपस्थापनादि शुद्धश्च नेतरः ॥६४०॥

गुरु की सन्तान और चारित्र जिसका शुद्ध है, ऐसा वह आगन्तुक मुनि ग्रहण करने योग्य है और जो गुरु सन्तान, चारित्र से शुद्ध नही है, वह छेद करके उपस्थापनादि से शुद्ध है, वह ग्राह्य है। जो प्रायश्चित लेकर शुद्ध नही हुआ हो, वह ग्राह्य नही है।

आगन्तुक यति की गुरु परम्परा और चारित्र शुद्ध हो तो आचार्य उसको ग्रहण करे। यदि चारित्र आदि मे अशुद्धि हुई हो तो प्रायश्चित देकर पुनः व्रतो की उपस्थापना करे। यदि आगन्तुक मुनि प्रायश्चित ग्रहण नही करे तो उसे स्वीकार नही करे और उसको अपने सघ मे आश्रय नही दे।

छोड़ने योग्य श्रोता—

शिला भग्न घटा जावि डालमृच्चालिनी शुकैः ।
मशका चाहिमहिषैरपि श्रोतान् समान त्यजेत् ॥६४१॥

शिला, भग्नघट, अजा, बिडाल, मिट्टी, चालनी, तोता, मशक, सर्प, भैसा के समान श्रोताओ को छोड देवे।

शिला, भग्नघट, बकरी, विडाल, मिट्टी, चालनी, तोता, मशक, सर्प, भैसा आदि के समान श्रोताओ को छोड़ दे अर्थात् उनको समझाने की चेष्टा नही करे।

मिट्टी—सुनते समय ही प्रभावित होने वाले, बाद में जो सुने और समझकर उस पर आचरण नही करने वाले। झाड़ू—सार ग्राहक असार को छोड़ने वाला। भैंसा—सुना, ना सुना दोनो बराबर। हंस—विवेकशील। शुक—जितना सुना उतना ही बिना समझे याद रखने के समान होता है। बिल्ली—चालाक पाखण्डी। बगुला—अर्थात् सुनने का ढोग करने वाले। मशक—वक्ता तथा सभा को परेशान करने मे

प्रवीण। बकरा-देर मे समझने वाले तथा कामी। जौक-दोषग्राही। अन्य कुछ श्रोताओ के उदाहरण, सैकड़ों छेदयुक्त घड़े या फूटे घड़े-इस कान सुना उस कान निकाल दिया। पशु-किसी का जोर पडा तो कुछ सुन समझ लिया। सर्प-कुटिल। शिला-प्रभावशाली से दिये जा सकते है। इस प्रकार संसार के सभी श्रोता चौदह प्रकार के होते है।

जो विवेकी श्रोता सांसारिक भोगविलास रूपी फलों की स्वप्न में भी इच्छा नही करता तथा मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति करने का अडिग तथा अकम्प निर्णय करके प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी जिन धर्म की विशाल कथा को सुनता है, उस मनुष्य के सब ही पापो का निःसन्देह समूल नाश हो जाता है।

मोहादिना निषिद्धस्य श्रोतुर्मन्तमतेरपि ।
सति प्राज्ञे विनीतेऽस्मिन् यो व्याख्याति नराधमः ॥६४२॥
भिन्न रत्नत्रयी यान पात्रोऽसौ भूरि गौरवात् ।
विघृत बोधिः संसार वारि राशौ निमज्जति ॥६४३॥

जो नीच इस विनीत शिष्य के होने पर भी मोहादि के कारण विद्वानो के द्वारा निषिद्ध मन्दमति श्रोता को भी उपदेश देता है। नष्ट हो गया है रत्नत्रयरूपी यान पात्र जिसका और नष्ट हो गया है ज्ञान जिसका ऐसा वह आचार्य महान् गौरव होने से ससार रूपी समुद्र मे डूब जाता है।

जो आचार्य विद्वानो के द्वारा निषिद्ध श्रोता को धर्म का उपदेश देता है, अध्ययन कराता है, उसकी रत्नत्रय रूपी नौका नष्ट हो जाती है और वह ससार समुद्र में डूब जाता है।

सूत्र संश्रय का लक्षण—

संचित्त्येति स्थित स्थानं तपः कालं गुरुं कुलम् ।
पृष्ट्वा श्रुतं नाम एवं प्रतिक्रमणाविकम् ॥६४४॥
शयनासनयनादौ प्रेक्ष्य वृतं दिनत्रयम् ।
निश्चित्य गुरुश्चारित्र शुद्धि तत्सूरिसम्मतः ॥६४५॥
स्वशक्ति मुक्त्वा व्याख्यादौ तद्व्याख्यातं पठेद्द्रुतं ।
स्वस्येष्टं प्रश्रयादेतत्पठनं सूत्र संश्रयः ॥६४६॥

इस प्रकार विचार कर रहने के स्थान काल तप गुरु कुल श्रुतं अपने मुने

हुए नाम और प्रतिक्रमणादि को पूछकर तीन दिन तक शयन आसनादि मे आचरण की परीक्षा करके चारित्र की शुद्धि को निश्चय कर गुरु उसके आचार्य की सम्मति से अपनी शक्ति को कहकर व्याख्यान आदि में कहे गये श्रुत को पढे। विनय से अपने इष्ट को पढना यह सूत्रसश्रय है।

सर्व प्रथम आचार्य आगन्तुक मुनि के रहने के स्थान और गुरु के कुल को पूछे तथा तुमको दीक्षा लिये कितने दिन हुए है, तुमने प्रतिक्रमण कहां-कहा किये है, तुम्हारे गुरु का क्या नाम है आदि सभी क्रिया पूछकर तीन दिन तक उसकी सामायिक आदि क्रियाओं का निरीक्षण करे। पीछे सूक्ष्म दृष्टि से उसके चारित्र और गुरु की शुद्धि का निर्णय करे, तथा आगन्तुक व्रती भी तीन दिन नूतन संघ के आचार्य वा सघस्थ साधुओ की चारित्र शुद्धि व कुल शुद्धि का निर्णय करे। तदनन्तर आचार्य की अनुमति से व्याख्यानादि में कथित श्रुत का अध्ययन करे। इस प्रकार विनय पूर्वक उस सघ में जाकर विधि पूर्वक आचार्य के समीप शास्त्रो का अध्ययन करना सूत्रसंश्रय है।

विस्तार समाचार विधि—

सविस्तार समाचारनैक भेदोऽत्र वर्ण्यते ।
उदाहरण मात्रेण विश्वं को वक्तुमीश्वरः ।।६४७।।
रात्रिं दिवं यमिव्वार्ये यत्कर्माचर्यते वरम् ।
तद्विस्तार समाचार इति येन जिनोदितः ।।६४८।।

विस्तार सहित समाचार के अनेक भेद है। इस ग्रन्थ मे उदाहरण मात्र से वर्णन किया जाता है, क्योकि सम्पूर्ण समाचार विधि को कहने के लिए कौन समर्थ है ? जिसके द्वारा साधुओं मे, आर्यिकाओ में जो श्रेष्ठ क्रिया रात दिन आचरण की जाती है, इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित विस्तार समाचार है।

पूर्व मे सक्षेप समाचार विधि कही है। इस समय उसके भेद वाले विस्तार समाचार विधि का उदाहरण मात्र कथन करते है। क्योकि सम्पूर्ण समाचार विधि का कथन करने के लिए कौन समर्थ है ? मुनि आर्यिकाओं को जो रात्रि और देवसिक क्रिया जिनेन्द्र ने कही है, वह विस्तार समाचार विधि है।

क्रियाकलापमल्पाल्प सूत्राण्याचार वर्णनम् ।
पठदेथ पुराणानि त्रिकलो स्थिति कीर्तनम् ।।६४९।।

सिद्धांतं तर्क मंगां गवाह्यादेशार्थं देशनम् ।
स्वीय शक्त्यनुसारेण भक्त्या मोक्षैक कांक्षया ।।६५०।।

इसके बाद अपनी शक्ति के अनुसार भक्ति पूर्वक मोक्ष की अद्वितीय आकाक्षा से रत्नत्रयधारी क्रियाकलाप को अल्पाल्प सूत्रो को आचरण वर्णन करने वाले शास्त्रो को, पुराणो को, स्थिति कीर्तन तर्कशास्त्र अगबाह्य, अगप्रविष्ट का कथन करने वाले सिद्धान्त ग्रन्थों को पढ़े ।

क्रियाकलाप जिसमे श्रावक और मुनियो के क्रियाओ का वर्णन हो अल्पाल्प सूत्र–जिसमें अल्प अक्षर हो और बहुत विषय का वर्णन हो । आचार वर्णन–जिसमे गृहस्थ और मुनियों के चरित्र का वर्णन हो । पुराण–जिसमे त्रेसठ शलाका पुरुषो का वर्णन हो । स्थिति कीर्तन–जिसमे मोहनीय आदि सारे कर्मो की सर्व प्रकृतियो का जघन्य उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन हो । सिद्धान्त ग्रन्थ–षट्खड आदि सिद्धान्त ग्रन्थ जिनमें गुणस्थान, मार्गणा, जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, सज्ञा, उपयोग आदि सारे सिद्धान्तो का वर्णन हो । प्रमाण, नय के द्वारा जिसमे वस्तु की सिद्धि की जाती है वह तर्क शास्त्र है । गणधर के द्वारा पदो मे रचित बारह अग है । दश वैकालिक आदि अंग बाह्यग्रन्थ है । साधु अपनी शक्ति के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की शुद्धिपूर्वक उन शास्त्रो का अध्ययन करे ।

रुचिश्चार्वी चरित्राणां शरणं शरणं सताम् ।
महत्व सत्व गांभीर्य धैर्यादि गुण भूषणः ।।६५१।।
चिर प्रव्रजितो दांतः प्रव्यक्त समय स्थितिः ।
दया वात्सल्य साकल्यः शांतोऽयं गणितोचितः ।।६५२।।

समीचीन चारित्रो की रक्षा करने वाला, शरणभूत श्रेष्ठ श्रद्धान वाला, महानता, सत्व, गम्भीरता, धैर्यादि गुणो से भूषित, चिरकाल का दीक्षित, इन्द्रियविजयी, लोकस्थिति का ज्ञाता, दया, वात्सल्यादि से परिपूर्ण, क्षमाशील यह साधु आचार्य पद के योग्य है ।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का धारी, सत्वधारी, गम्भीर, धीर, वीर, इन्द्रियविजयी, क्षमाशील, लोक व्यवहारक साधु ही आचार्य पद के योग्य होता है ।

इति सूर्यपिताचार्यपदः सन् संघसम्मतः ।
प्रायश्चितादि शास्त्राणि रहस्यानि पठदेथ ।।६५३।।

इस प्रकार शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर संघ की सम्मति से आचार्य के द्वारा अर्पित किया गया है, आचार्य पद जिसको, ऐसा साधु रहस्यभूत प्रायश्चित आदि शास्त्रो को पढ़े ।

पूर्व में गुरु के समीप पुराण, सिद्धान्त आदि शास्त्रो का अध्ययन करे । तदनन्तर आचार्य के द्वारा आचार्य पद अर्पण करने के बाद रहस्यभूत प्रायश्चित ग्रंथों का अध्ययन करे ।

यः शिष्यत्वमकृत्वैव सूरितां कर्तुमीहते ।
सःस्यादुन्मार्गगस्तोक्ष्णोवाऽशिक्षित तुरंगमः ।।६५४।।

जो साधु शिष्यत्व को स्वीकार नही करके आचार्यत्व प्राप्त करने की चेष्टा करना चाहता है, वह अशिक्षित घोडे के समान तीक्ष्ण उन्मार्गगामी हो जाता है ।

सर्व सत्व गुणिक्लेशिनिर्गुणेषु करोत्वलम् ।
मैत्री प्रमोद कारुण्यमाध्यस्थ्यानि यथाक्रमम् ।।६५५।।

साधुओ को सर्व जीवो के साथ मैत्री भाव, गुणीजनो के साथ प्रमोद भाव, दुःखी दीन जनो के प्रति कारुण्य भाव तथा दुर्जन, क्रूर, कुमार्गगामी के प्रति माध्यस्थ भाव रखना चाहिए ।

जिनान् सिद्धान् गणाधीशानुपाध्याञ्जगद्गुरुन् ।
साधून् धर्मं जगच्छर्मकरं वन्देत् नेतरान् ।।६५६।।

दिगम्बर साधु अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधु, जिन धर्म, जिनबिम्ब और जिन शास्त्रों को ही नमस्कार करे । इनके सिवाय अन्य लोगों को (पाखण्डियों को) नमस्कार नही करें ।

क्षुधार्तो भयजृम्भेष्टार्थारम्भस्खलने बुधैः ।
शयने विस्मयादौ च स्मर्तव्यो वृजिनो जिनः ।।६५७।।

बुद्धिमानो को भूख, प्यास, दुःख, भय मे और जभाई आदि के आने पर, अपने इष्ट कार्य मे स्खलित हो जाने पर, शयन मे तथा विस्मयादि के हो जाने पर जिनेन्द्र भगवान का स्मरण करना चाहिए ।

आचार्यादिक को वंदना करने का क्रम—

सुखेनासीनमव्यग्रं सूरिं वंदेत् सम्मुखम् ।
वंदेऽहमिति विज्ञाप्य हस्तमत्रांतर स्थितिः ।।७५८।।

प्रमृज्य कर्तरीस्पर्शात्माष्टांगान्यवनीमपि ।

पश्वर्द्धशय्ययाऽऽनम्य सपिच्छांजुलि भालक ॥६५९॥

अनाकूल होकर सुख पूर्वक बैठे हुए आचार्य के सन्मुख एक हाथ दूर गवासन से बैठकर, पिच्छि सहित अजुलि को मस्तक पर रखकर पूर्व मे आचार्य को सूचित करे, कि गुरुदेव मैं वन्दना करता हूँ, तदन्तर अपने आठों अगो को स्पर्श करे, भूमि आदि को पिछो से मार्जन करे तथा पिच्छि सहित अजुलि को मस्तक पर रखकर, गवासन से अगो को झुका कर भक्तिपूर्वक आचार्य को नमोऽस्तु करें।

मुनियों के नमस्कार करने पर आचार्य क्या करें ?

विगौर वादि दोषेण सपिच्छांजुलि शालिना ।

सदब्ज सूर्याऽऽचार्येण कर्तव्यं प्रतिवेदनम् ॥६६०॥

जब मुनिराज आचार्य को वन्दना करते है तब सज्जन कमल वन दिवाकर आचार्य, ऋद्धि गौरव, रस गौरव, ज्ञान गौरव से रहित होकर हाथ मे पिच्छि लेकर नमोस्तु कहकर प्रतिवन्दना करे।

ये दोषान्विषिणोऽन्येषां सद्गुणावर्णवर्णनाः ।

तपस्विनोऽपि पार्श्वस्था ये च वंद्या न ते यतेः ॥६६१॥

जो मुनि दूसरो के दोषो का कथन करता है तथा उनके सद्गुणो का आच्छादन करता है अथवा जो पार्श्वस्थ मुनि है, वे साधुओ के द्वारा वन्दनीय नही है।

पुरो गुरुणां स्थातव्यं न यथेष्टककोपयन् ।

तानापृच्छेद्वचस्तेसां प्रतिच्छेत्तत्परो भवेत् ॥६६२॥

गुरु के सामने बैठना नही चाहिए, आचार्य को कुपित नही करते हुए अपनी इच्छा को पूछे तथा उनकी बात को तत्पर होकर स्वीकार करे।

हस्तद्वयेन दातव्यं ज्येष्ठेभ्यः पुस्तकादिकम् ।

तत्तछेयं करद्वन्द्वेनादेयं विनयानतैः ॥६६३॥

अपने गुरु आदि को विनयपूर्वक दोनों हाथों से पुस्तक देना चाहिए और उनके द्वारा दी हुई पुस्तक आदि को भो महान आदर से दोनो हाथो से ही ग्रहण करना चाहिये।

नमोऽस्त्विति नतिः शस्ता समस्तमतसंमता ।

कर्मक्षयः समाधितेस्त्वित्यार्याजने नते ॥६६४॥

धर्मवृद्धिः शुभं शांतिरस्त्वित्याशरीरगरिणि ।
पापक्षयोऽस्त्विति प्राज्ञैश्चाण्डालादि दीयताम् ।।९६५।।

दिगम्बर साधु परस्पर मे नमोऽस्तु ऐसा व्यवहार करे । यदि दिगम्बर साधु को आर्यिका नमस्कार करे तो तेरा कर्मक्षय हो, तुम्हारी समाधि हो ऐसा आशीर्वाद दे तथा जिन धर्मावलम्बी गृहस्थ के नमस्कार करने पर तेरे धर्म की वृद्धि हो, तुम्हारा कल्याण हो, शांति हो, मन प्रसन्न हो इत्यादि आशीर्वाद देना चाहिये तथा चाडालादि के नमस्कार करने पर तेरा पापक्षय हो ऐसा आशीर्वाद देना चाहिये ।

मान्यः सद्दर्शनी ज्ञानी हीनोऽप्यपरसद् गुणैः ।
वरं रत्नमनिष्पन्नशोभं किं नार्घ्यर्हति ।।९६६।।

जो मुनि अपर-उत्तर गुणादि सद्गुणो से सम्पन्न नही है परन्तु सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानी है तो वह श्रेष्ठ है, वंदनीय है । क्योकि श्रेष्ठ रत्न यदि सस्कार आदि से रहित है तो भी बहुमूल्य होता है ।

उक्तिः कार्या सहाचार्यै. कार्यार्थं शेषयोगिभिः ।
न मिथ्यादृष्टिभिर्भाज्या श्रात्रकैः स्वजनैश्चसा ।।९६७।।

मुनि उन आचार्यों के साथ वार्तालाप करे । शेष मुनिजनो के साथ कोई विशेष हो तो वार्तालाप करे । मिथ्यादृष्टियों के साथ कभी भी वार्तालाप नही करे । जिनधर्मावलम्बी श्रावको के साथ कभी किसी कार्यवश बात करे और निष्प्रयोजन कभी वार्तालाप न करे ।

स्पृष्टे कपालिचांडाल पुष्पवत्याति के सति ।
जपेदुपोषितो मंत्रं प्रागुप्लुत्याशु दंडवत् ।।९६८।।

यदि कपालिक, चांडाल, पुष्पवती (मासिक धर्मवाली) स्त्री का स्पर्श हो हो जावे तो शीघ्र ही दडवत् स्नान करे और उपवास करके णमोकार मंत्र का जाप्य करे ।

संस्तरावासयोः प्रेक्षा कार्या कल्पास्तकालयोः ।
प्रकाशे सूरिभिः सार्धं वृत्तिश्चावश्यकादिषु ।।९६९।।

सूर्य के अस्त और उदयकाल में प्रकाश में सस्तर और आवासादि का निरीक्षण करना चाहिये तथा सामायिक आदि आवश्यक क्रिया आचार्य के साथ करनी चाहिये ।

मुनिनैकेन नो वाच्यमेकार्या यदि पृच्छति ।
गुणमुख्यां पुरस्कृत्य पृष्टं ब्रूयात् तदीक्षितम् ।।६७०।।

यदि अकेली आर्यिका अकेले मुनि को कोई बात पूछे तो मुनि को उत्तर नही देना चाहिये । यदि अपनी गणिनी को साथ लेकर आवे और कोई बात पूछे तो उत्तर देना चाहिये ।

मालालापं कथाश्चर्याजनैः सार्द्धं यमी त्यजेत् ।
तदाश्रयेऽशनं स्थानं व्याख्यानं शयनादिकम् ।।६७१।।

आर्यिकाओ के साथ वार्तालाप करना, उनके स्थान मे बैठना, आवास करना, व्याख्यान देना, सोना, ये सब साधुओ को नही करना चाहिये ।

मुनिनैकाकिनैकान्ते न स्थातव्यं कदाचन ।
योषिज्जनागमे काले सदाचार यशोऽर्थिना ।।६७२।।

सदाचार और यश के इच्छुक मुनियो को स्त्रियो के आगमन के समय एकान्त में एकाकी कभी भी नही रहना चाहिये ।

नामाऽप्यानन्दनिष्यन्दि स्त्रीति लोचन गोचरम् ।
तदंगमंगज स्फारशरोग्रं न करोति किम् ।।६७३।।

स्त्री इस प्रकार का नाम भी आनदामृत को हर्षाने वाला है । तो फिर दृष्टिगोचर हुआ स्त्री का शरीर क्या कामोत्पाद नही होगा, अवश्य ही होगा इसलिये उसकी सगति नही करना चाहिए ।

स्त्रीणां दर्शनमादरेक्षणमतो वार्तेष्ट वार्ता मनाङ् ।
नर्मोक्तिर्नतिनर्मरत्युनगवाक् शृंगार सारं वचः ।।
स्वान्तस्योल्लसनं धृतेः क्षिति रति प्रीतिर्मते र्भ्रान्तिता ।
तस्यां च स्मरवीर विशिख व्रातस्य लक्षः क्षणात् ।।६७४।।

पूर्व मे (पुरुष) स्त्रियो को सामान्य रूप से देखता है, पुन आदर पूर्वक देखता है, तदन्तर इष्ट वार्तालाप करता है, थोडी-थोडी हसी मजाक सहित बोलता है, तदन्तर नमस्कार, प्रेम सहित अनुगमन एव उसके अनुसार अति प्रेम शृंगार के वचनादि बोलता है जिससे उसका चित्त उल्लसित हो जाता है, धैर्य नष्ट हो जाता है, मति भ्रमित हो जाती है इस प्रकार एक क्षण में वह काम वाणो से पीड़ित हो जाता है ।

चिर प्रव्रजितः सूरिः स्थविरः श्रुतपारगः ।
तपस्वीति यतो नास्ति गणना विषमायुधे ।।६७५।।

काम के उत्पन्न होने में आचार्य चिर दीक्षित, स्थविर, श्रुतपारगामी आदि की गणना नही है । अर्थात् चिर दीक्षित, तपस्वी, श्रुतपारगामी त्यागी भी काम के वशीभूत हो जाते हैं ।

विधवां लिंगनीं कन्यां स्वैरिणीं गणिकादिकाः ।
आसजन्नचिराद्भिक्षुर पवादैक मन्दिरम् ।।६७६।।

कन्या, विधवा, रानी वा विलासिनी, स्वेच्छाचारिणी, दीक्षा धारण करने वाली ऐसी स्त्रियो से क्षण मात्र भी वार्तालाप करता हुआ मुनिराज भी लोक निंदा का पात्र होता है ।

संवृतांगोऽतिगंभीरो जिताखिल परिषहः ।
ज्ञाक चारित्रवान सूरिरार्याणां मितभाषणः ।।६७७।।

इन्द्रिय विजयी, अतिगंभीर, परिषह जयी, मितभाषी, सम्यग्ज्ञान और उत्कृष्ट चारित्र शील साधु ही आर्यिकाओ का आचार्य हो सकता ।

आज्ञाभंगादिदोषार्हः करोति यदि सूरिताम् ।
मदोदयाद्गुणव्रातेनैतेन रहितो यतिः ।।६७८।।

जो मुनि पूर्व कथित गुण सहित नही है और मान कषाय के वशीभूत होकर आर्यिकाओ का आचार्यपना करता है तो आज्ञा का भंग. निंदा, गणपोषण, गच्छ आदि विराधना होती है ।

लज्जाविनयवैराग्यसदाचारादि भूषिते ।
आर्याव्राते समाचारः संयतोष्विव किन्त्विह ।।६७९।।

लज्जा, विनय, वैराग्य, सदाचार आदि से भूषित आर्यिकाओ के समूह मे समाचार विधि सयतो के समान ही है, किन्तु (परन्तु) इसमे कुछ अन्तर है ।

जो समाचार विधि सयमियो की कही है वही समाचार विधि आर्यिकाओ की है परन्तु अतापन योगादि कुछ विधि आर्यिकाओ के नही है ।

आर्यिकाओं का वर्णन-

द्वयाद्याः समं वसंत्यार्या गृहस्था संकराश्रये ।
तद्गृहानति दूराति समीपेऽवद्य वर्जिते ।।७८०।।

जो असयमी जनों के आवास से रहित हो, श्रावको के घर से अत्यन्त दूर भी नही और अत्यन्त समीप भी नही हो, सर्व सावद्य से रहित हो. ऐसे स्थान में दो तीन आदि आर्यिका मिलकर रहे। अकेली नही रहे। आर्यिकाओ को अकेली रहना आगम मे निषिद्ध है।

मौने नार्टतिभिक्षार्थं वृद्धार्यान्तरिता गृहान् ।
अन्योन्य परिरक्षानुकूलवृत्ति परायणाः ॥९८१॥

जब आर्यिकायें आहार के लिए जाती है, तब वृद्ध आर्यिकाओं से अन्तरित परस्पर मे एक दूसरे की रक्षा करती हुई दो तीन मिलकर मौन पूर्वक भ्रमण करती है। आहार के समय भी अकेली आर्यिका नही जाती है, दो तीन साथ मे जावे। आर्यिकाओ का कर्त्तव्य है कि यह परस्पर अनुकूल वृत्ति तथा रक्षा करने मे तत्पर रहे।

अन्यदावश्य गन्तव्यं धर्म कार्य गृहेस्ति चेत् ।
गणिन्यादेशतो यांति द्वयाद्याः सार्ध व चान्यथा ॥९८२॥

यदि श्रावक घर में भिक्षा के काल से अन्यकाल मे अवश्य जाने योग्य धर्मकार्य हो तो गणिनी के आदेश से दो आदि के साथ जाती है, अन्यथा नही जाती है।

नमन्ति सूर्यपाध्याय साधनार्या यथाक्रमम ।
पचषट्सप्त हस्तान्त रालस्थाः पशुशय्याः ॥९८३॥

आर्यिकाये आचार्यो को पाच हाथ दूर से, उपाध्याय को छह हाथ दूर से और साधुओं को सात हाथ दूर से गवासन से वंदना, आलोचना, अध्ययन, स्तुति करती है।

कर्मभूद्रव्यनारीणां नाद्य संहननत्रयम् ।
वस्त्रादानाच्चारित्र च तासां मुक्तिकथा वृथा ॥९८४॥

कर्म भूमि स्त्रियो के बज्र वृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ये आदि के तीन सहनन नही होते है। इनसे वस्त्रो का पूर्ण त्याग नही होता है, इसलिये चरित्र भी पूर्ण नही है, उन स्त्रियो को मुक्ति होती है, ऐसा कहना तो निष्प्रयोजन है।

यदि त्रिरत्नमात्रेण ता पुसां नग्नता वृथा ।
तिरश्चामपि दुर्वारा निर्वाणाप्तिर्रलिगिता ॥९८५॥

एक देश रत्नत्रय से स्त्रियों को मुक्ति की प्राप्ति होती है, तो पुरुषों की नग्नता व्यर्थ है, अर्थात् पुरुषो को भी नग्न नहीं होना चाहिये। उनको भी वस्त्र सहित मुक्ति हो जायेगी। तथा एक देश रत्नत्रय तो तिर्यंचो को भी है, इसलिये उनको तो मुक्ति हो जानी चाहिये।

मुक्तिश्चेदस्ति किं नासां प्रतिमाः स्तवनान्यपि ।
क्रियन्ते पूज्याश्चेत्तासां मुक्तेर्दत्तो जलांजुलिः ॥६८६॥

यदि उन स्त्रियो को मुक्ति होती है तो उनकी प्रतिमा और स्तोत्र क्यों नही है। यदि कहो कि वह पूज्य है तो सत्य है। मुक्ति के लिये तिलाजलि दे दी। अर्थात् पूज्य होने मात्र से मुक्ति की पात्र नही है।

देशव्रतान्वितैस्तासा मारोप्यन्ते बुधैस्ततः ।
महाव्रतानि सज्जाति ज्ञप्त्यर्थं मुपचारतः ॥६८७॥

यद्यपि स्त्रिया पूर्ण महाव्रत को धारण नही कर सकती है, तथापि उनकी सज्जाति को प्रकट करने के लिये आचार्य आर्यिकाओ मे देशव्रत के साथ उपचार से महाव्रतों का आरोपण करते है, अर्थात् आर्यिकाओ के वास्तविकता से तो देश सयम है, क्योकि इनके पांचवा गुण स्थान है, परन्तु उपचार से महाव्रत कहे जाते है।

ऋतौ स्नात्वा तु तुर्येह्नि शुद्धयंत्यरस भुक्तयः ।
कृत्वा त्रिरात्र मेकान्तरं वा सज्जपसंयुताः ॥६८८॥

मासिक धर्म में आर्यिका तीन दिन तक एक स्थान बैठकर अन्तर्जल्प से णमोकार मन्त्र का जाप करती है, नीरस भोजन का एक दिन बाद आहार करती है और चतुर्थ दिन स्नान करके शुद्ध होती है।

गानाक्रन्दन सन्मार्जनाद्यवद्य क्रियोज्झिताः ।
जातिकोर्त्यर्ञ्चिलाचाराश्चावोक्षान्त्यार्जवान्विताः ॥६८९॥
अविकार वस्त्र वेषाः स्वकीय कायेऽपि नि.स्पृहा नित्यम् ।
पठन परिवर्त्तनाऽऽख्यानादि श्रु त भावनानिरताः ॥६९०॥

गीत, आक्रन्दन सन्मार्जन आदि सावद्य क्रियाओं से रहित जाति कीर्ति से पूजनीय है, चारित्र जिन्हो का ऐसे क्षमा और आर्जव से युक्त निर्विकार वस्त्रधारी अपने शरीर मे भी निस्पृह निरन्तर पठन, परिवर्तन व्याख्यानादि श्रुत भावना मे रत श्रेष्ठ आर्यिका होती है।

आर्यिकाओं को गीत गाना, रोना, घर को झाडू देकर साफ करना और हिंसामय क्रिया करना निषिद्ध है। आर्यिका क्षमा आर्जव आदि गुणों से युक्त होती है। जाति कीर्त्ति में पूज्यनीय होती है। निर्विकार वस्त्र धारण करती है। अपने शरीर मे जिनके ममत्व नही है।

चरंति ये चारु चरित्र संपदः,
पदं समाचार मिमं यमीशिनः।
समाश्रयं तेऽभ्युदय प्रमोदिनः,
परां श्रियं ते कृति लोक नंदिनः ॥६६१॥

सज्जन पुरुषों को आनन्दकारक यशस्वी मुनि और आर्यिका, चारित्र रूपी सपदा की स्थानभूत इस समाचार विधि का जो पूर्णरूप से पालन करते है, वे स्वर्ग सम्पदा का अनुभव कर मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करते है।

—०—

❋ परिषह ❋

क्षुतृट् शीत मलोष्ण दंशमशकेर्या रोगशय्यातृण,
स्पर्श क्लेशबधान लाभमरति निर्दर्शनं स्त्रीवलमम्।
प्रज्ञाज्ञान भवौ सनाग्न्यशयनान् सत्कार याञ्चानिष,
द्योद्भूतांश्च परीषहान् विजयते यो वीर्यचर्यो यति ॥६६२॥

१. भूख, २. प्यास, ३ शीत, ४. उष्ण, ५ दशमशक, ६. नाग्न्य, ७. अरति, ८ स्त्री, ९. चर्या, १०, निषद्या, ११ शय्या, १२. आक्रोश, १३ वध, १४. याचना, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृणस्पर्श, १८. मल, १९. सत्कार पुरस्कार, २० प्रज्ञा, २१. अज्ञान, और २२ अदर्शन इन कारणो से उत्पन्न परिषहो को जो जीतता है, वह यतिराज वीर्याचारवान है।

क्षुधा परिषह—

क्षुत्तीक्ष्णानशनादि जाक्षतिकरं स्वज्ञेय वीक्षाक्षम,
स्वांन्तं भ्रान्ततरं करोति बलवत्प्राणान्प्रणोन्मुखान्।
याऽदीनन जनेऽफलाऽति सफला त्यागात्तपः पुष्टये,
तस्या धृत्यमृताशनेन शमनं कुर्वन्व्रती क्षुज्जयः ॥६६३॥

अत्यन्त तीक्ष्ण उपवास आदि से उत्पन्न क्षुधा इन्द्रियो के समूह को अपने ज्ञेय विषय के जानने में असमर्थ कर देती है। चित्त को श्रान्त कर देती है। बलवत्प्राणो को प्रयाण के सन्मुख कर देती है। अर्थात् क्षुधा से व्याकुल मानव की इन्द्रियां अपने कार्य से विमुख हो जाती है। मनः आकुल व्याकुल हो जाता है। मृत्यु सन्मुख आ जाती है। इस क्षुधा को अन्न के आधीन रखने वाले मानव जीत नही सकते है। उस से क्षुधा को जो आहार का त्याग कर धृतिरूपी अमृत के अशन से शमन करते है, वही साधु क्षुधा परिषह जयी होते है।

तृषा परिषह—

चंडश्चंडकरः स्थलस्थितयय: संचारिणः प्राणिनः,
भ्रष्टप्लुष्ट तनुंस्तनोति नितरां यस्मिंस्तपे तापने।
तस्मिन् स्निग्ध विरुद्ध भोजन रुजाऽऽतापादि पुष्यत्तृषां,
त्यक्ते निःस्पृहतामृतेन कृतधीर्मुष्णाति तृष्णाजयः ।।६६४।।

जिस ग्रीष्मकाल मे तीक्ष्ण सूर्य की किरणो से तालाब नदी शुष्क हो जाते है, जलचर, स्थलचर, नभश्चर, जीवों का शरीर दग्ध हो जाता है, उस ग्रीष्म ऋतु में स्निग्ध, रूक्ष, प्रकृति विरुद्ध, आहार से वा रोगादि से उत्पन्न प्यास को पुण्यात्मा, पवित्र बुद्धि के धारक यतीश्वर परित्यक्त वस्तु मे स्पृहा का त्याग कर समतामृत के पान से बुझाते है, वे तृषा परिषहजयी होते है।

शीत परिषह—

प्रोत्कम्पा हिम भीमशीत पवन स्पर्श प्रभिन्नांगिनो,
यस्मिन्यान्त्यति शीत खेद मवशाः प्रालेयकालेऽगिनः।
तस्मिन्नस्मरतः पुरा प्रियतमाश्लेशादि जात सुखं,
योगागार गिरस्तशीत विकृते निर्वास सस्तज्जय ।।६६५।।

जिस शीतकाल मे शरीर मे कम्पन उत्पन्न करने वाली शीतल वायु के स्पर्श से शरीर के अवयव फट जाते है, तथापि पूर्वकाल में अनुभूत वनिता जन्य सुखों को स्मरण नही करते हुये दिगम्बर साधु वीर वीर होकर शुभ ध्यानरूपी घर में निवास करके शीत की बाधा का निवारण करते है अर्थात् शीत बाधा से आकुलित नहीं होते है, वे शीत परिषह जयी होते है।

मल परिषह—

प्राणाघात विभीतितस्तनुरति त्यागाच्च भोगा स्पृहः,
स्नानोद्वर्त्तन लेपनादि विगमात् प्रस्वेद पांसूदितं ।
लोकानिष्ट मनिष्ट मात्मवपुषः पामादि मूलं मलं,
गात्र त्राण मिवादधादि वृजिनं जेतुं मलक्लेश जित् ।।६६६।।

जो सयमी प्राणियों के विघात से भयभीत है, जिसका शरीर के प्रति ममत्व नही है, इसलिये प्राणियो के विघातक स्नान, विलेपन नही करने वाले साधु के शरीर मे पसीना व धूलि से मल उत्पन्न हो जाता है, जिससे शरीर मे खुजाल उत्पन्न होती है, लौकिक जन को जो अनिष्ट है, देखने मे अमनोज्ञ है ऐसे मल को पाप भीरू साधु पाप पुंज को नाश करने के लिए शरीर रक्षक कवच के समान धारण करता है, वह मल परिषह जयी कहलाता है ।

उष्ण परिषह

ग्रीष्मे शुष्यदशेष देहि निकरे मार्तण्ड चंडांशुभिः,
संतप्तात्मतनुस्तृषानशनरुक् क्लेशादि जातोष्णनम् ।
शोष स्वेद विदाह खेदमशवशे नाप्तं पुराऽपिस्मरन्,
तन्मुक्त्यै निज भाव भावनरतिः स्यादुष्ण जिष्णुर्व्रती ।।६६७।।

प्राणियों के शरीर को ग्रीष्मकाल मे कृश करने वाले सारे प्राणी तीक्ष्ण सूर्य के किरणो से सतप्त हो रहे है, तृषा, उपवास, विहार, रोग, क्लेशादि से उत्पन्न उष्णता से तालु शुष्क हो रहा है, सारे शरीर मे पसीना निकल रहा है, शरीर मे दाह उत्पन्न हो रहा तो भी व्रती साधु खेद खिन्नता को प्राप्त नही होकर आत्म भावना मे लीन रहता है, वह ऊष्ण परिषह जयी होता है ।

दंशमशक परीषह—

शून्यागारदरी गुहादि शुचिनि स्थाने विविक्ते स्थितः,
तीक्ष्णैर्मत्कुण की दंशमशकाद्यैश्चंड तुन्डैः कृता ।
स्वांगर्ति परदेह जार्त्तिमिवतां यो मन्यमानो मुनिः,
निःसंग स सुखो च दंशमशक क्लेशं क्षमी त नुमः ।।६६८।।

जो शून्य गृह पर्वत की कन्दरा, गुफा, वृक्ष के कोटर मे रहकर तीक्ष्ण खटमल, कीट, मच्छर, दश मशकादिका के द्वारा उत्पन्न हुई अपने शरीर के पीडा को

दूसरे के शरीर में उत्पन्न हुई पीडा के समान समझता है, वह निष्परिगर्हा, सुखी दिगम्बर साधु दशमशक परिषह जयी कहलाता है। उसको मैं नमस्कार करता हूं।

चर्या परिषह—

शार्दूलैर्मिलितेच्छ भल्ल भुज गामोगेभयैकास्पदे।
गन्धान्धद्विरदोत्करे करिरिपु क्रीडै कनीडे बने॥
स्वैरं कण्टक कर्करादि परुषेऽप्यत्राण पादश्चरन्।
एकः सिंह इवार्त्तिभीति विजयी व्रज्यार्त्तिजित्संयमी॥९९९॥

जो शार्दूल, व्याघ्र, चीता, रीछ, सर्प आदि से भरा हुआ है, भयास्पद है, गन्ध से मदोन्मत्त हुये, गजराजो के क्रीडा का स्थान है, कंकर, पत्थर, कण्टक आदि से व्याप्त है, ऐसे वन मे सिंह के समान निर्भय होकर अत्राण पाद (जूता रहित) पैरों से भ्रमण करगे वाले मुनि चर्या परिषहजयी होते है।

रोग परिषह—

कण्ड्यागलगण्ड पांडुदवथु ग्रन्थिज्वरश्लीपद।
श्लेष्मोदुम्बर कुष्ठ पवन श्वासादि रोगार्दितः॥
भिक्षुः क्षीण बलोऽपि भेषज सुहृन्मंत्रानपेक्षः क्षमी।
दुस्कर्मारि विनिर्मितार्ति विजयी स्याद् व्याधिबाधजयः॥१०००॥

खुजाल, गंडमाल, पाडु रोग, दाह, ग्रन्थि, ज्वर, श्लीपद, कफ, उदुम्बर, कुष्ठ, वायु, श्वास आदि रोग से पीडित, क्षीण शक्ति वाला भी क्षमा शील साधु भेषज, मित्र और मन्त्रो की अपेक्षा नही करता है और दुष्कर्म रूपी शत्रु के द्वारा निर्मित रोगो पर विजय प्राप्त करने वाला साधु व्याधि परिषहजयी होता है।

शयन परिषहजय—

झंझा वातहतार्त कौशिक शिवा फेत्कार घोर स्वरां।
शंपा क्रूर रदां स्फुरद्रु चितडिज्जिह्वां क्षपा राक्षसीम्॥
यो तां द्राग् गमयत्यसौ शयन जाता यास जिद्धीरधीः।
ध्वान्तात्यन्तकराल भूधर दरी देशे प्रसुप्तः क्षणं॥१००१॥

जहां वर्षा सहित भयकर वायु से पीडित होकर उल्लू और शृगाल चीत्कार कर रहे है, वह तो जिसके शब्द है, शंपा जिसके क्रूर दाँत है, स्फुरायमान कांति वाली विद्युत जिसकी जिह्वा है, ऐसी विकराल रात्रि रूपी राक्षसिनी को धीर बुद्धि वाले

तपस्वी घोर अन्धकार से पूरित पर्वत की गुफा के प्रदेश में सोये हुये सुख पूर्वक व्यतीत करते है, वे शयन परिषह जयी होते है।

तृणस्पर्श परिषह—

> श्रान्तः सन् श्रुत भावनाऽनशन सद् ध्यानाऽध्व यानादिभिः।
> स्तोकं कालमति श्रमापहृतये शय्यानिषधे भजन् ॥
> शुद्धोर्वीतृणपत्र संस्तरशिला पट्टेषुतत्पीडनः।
> कंडूयादिसहो भवेदिह तृणस्पर्शक्षमी संयमी ॥१००२॥

श्रुत की भावना, उपवास, समीचीन ध्यान और मार्ग मे गमनादि के कारणो से क्लान्त सयमी अतिश्रम को दूर करने के लिए शुद्ध पृथ्वी, तृण, पत्र, सस्तर और शिलापट्ट पर स्तोक काल तक शयनासन करते है। उस समय तृण आदि से शरीर मे खुजाल उत्पन्न होती है, उसको आनदित होकर सहन करते है, मन मे खेद खिन्न नही होते है। वे तृण स्पर्श परिषह जयी कहलाते है।

वध परिषह—

> रुष्टैः पूर्व भवापकार कलनात्तज्जन्म वैरात्खलैः।
> म्लेच्छैर्निष्करुणैरकारण गुण द्वेषैश्च पापात्मकैः॥
> देहच्छेदनभेदनादि विधिना यो मार्यमाणोऽप्यलं।
> देहात्मात्मविभेद वेदन भवक्षांतिर्वधार्तिक्षमी ॥१००३॥

पूर्व भव के अपकार के जान लेने से अथवा उस जन्म सम्बन्धी वैर भाव से रुष्ट हुये शत्रुओ के द्वारा अथवा निष्कारण गुणो मे द्वेष रखने वाले, पापी, निर्दयी म्लेच्छो के द्वारा शरीर के छेदन, भेदन, मारण, ताडन आदि करने पर भी जो शरीर और आत्मा के भेद विज्ञान से उत्पन्न आत्मानुभव के सामर्थ्य से खेद खिन्न नही होता है, क्षमा शील वह साधु वध परिषह जयी कहलाता है।

अलाभ परिषह—

> हंहो २ देह १ सहायतां तव समुद्दिश्यैवपोष्यो मया।
> पूर्तौ मत्तपसो गृहावलिमतो भ्रान्त्वाप्यनाप्तेऽशने॥
> दोषः कोपि न विद्यते मम पुनर्लोभादलाभक्षमा।
> तां पूर्ति प्रतनोत्यतः प्रियतमैषैवेत्यलाभक्षमा ॥१००४॥

हे शरीर! तू मेरे तप की वृद्धि का कारण है, इसलिए मैं योग्य आहारादि के द्वारा तेरा पोषण करने के लिए घरों की पक्ति मे भ्रमण करता हूँ। यदि भ्रमण करने पर भी आहार की प्राप्ति नही होती है, तो मेरा कोई दोष नही है। आहार की प्राप्ति की अपेक्षा आहार की अप्राप्ति मेरे तप की विशेष वृद्धि करती है, इसलिए आहार की अप्राप्ति ही मुझे प्रियतम है। ऐसा विचार करके आहार की अप्राप्ति मे जो आनन्द मानता है, वह सयमी अलाभ परिषह जयी होता है।

अरति परिषह—

दुर्वारेन्द्रिय वृन्द रोग निकर क्रूरादि बाधोत्करैः।
प्रोद्भूता मरतिं व्रतोत्कर परित्राणे गुणोत्पोषणे ॥
संक्षु क्षीणतरां करोत्यरतिजिद्धीरः स वंद्यः सत्तां।
यो दंडत्रय दंडनाहितमतिः सत्य प्रतिज्ञो व्रती ॥१००५॥

जो सयमी अमनोज्ञ इन्द्रियो के विषय से, रोग आदि से उत्पन्न होने से, क्रूर पशु आदि की बाधाओ के समूह से उत्पन्न अरति को अपने व्रतो की रक्षा करने में एवं गुण समूह को पुष्ट करने के लिए क्षीण कर देता है, मानसिक जुगुप्सा उत्पन्न नही होने देता है, वह मन, वचन, काय का विजयी सत्य प्रतिज्ञ, धीर, वीर, अरति परिषह जयी सयमी सत्पुरुषो के द्वारा वदनीय होता है।

अदर्शन परिषह—

वर्ण्यंते बहवस्तपोऽतिशयजाः सप्तर्द्धि पूजादयः।
प्राप्ताः पूर्वतपोधनैरिति वचोमात्रं तदद्यापियत् ॥
तत्त्वज्ञस्य ममापि तेषु नहि कोऽपीत्यात्तं संगोज्झिता।
चेतोवृत्तिरदृक् परिषहजयः सम्यक्त्व संशुद्धितः ॥१००६॥

पूर्वकाल में तपोधनो ने बहुत से तपो अतिशय से उत्पन्न सप्त ऋद्धियां प्राप्त की है, ऐसा आज भी शास्त्रो मे सुना जाता है। परन्तु मुझे तो यह वार्ता सत्य प्रतीत नही होती है। क्योकि मै तत्त्वज्ञानी इतना उत्कृष्ट तपश्चरण करता हूँ, परन्तु मुझे तो एक भी ऋद्धि प्राप्त नही हुई है। इस प्रकार मानसिक अश्रद्धा उत्पन्न नही होना ही सम्यक्त्व की निर्मलता है और इसी से योगी अदर्शन परिषह जयी होता है।

स्त्री परिषह—

जेता चित्त भवस्त्रयस्य जगतां यासामपांगेषुभिः ।
ताभिर्मत्तनितम्बिनोभिरभितः संलोभ्यमानोऽपि यः ।।
तत्फल्गुत्वभवेत्य नैति विकृतिं तं वर्य्यधैर्येन्दिरं ।
वन्दे स्त्र्यार्त्तिजयं जयन्त मखिलानर्थं कृतार्थं यतिं ।।१००७।।

जिन स्त्रियो के कटाक्ष रूपी बाणो के द्वारा कामदेव तीन जगत का जीतने वाला हुआ था। उन वनिताओं के द्वारा चारों तरफ से सलोभ्यमान होकर भी जो उन कटाक्षो को निस्सार समझकर विकृति भाव को प्राप्त नही होता है। उस श्रेष्ठ धैर्यधारी कृत कृत्य अखिल अनर्थो को जीतने वाले स्त्री परिषह जयी साधु को मैं नमस्कार करता हूँ।

प्रज्ञा परिषह—

प्रत्यक्षाक्रम विश्ववस्तु विषय ज्ञानात्मनः स्वात्मनो ।
गर्वः सर्वमतश्रुतज्ञ इति यः प्राप्ते परोक्षश्रुते ।।
सर्वस्मिन्नपि नो तनोति हृदये लज्जां स किं तामिति ।
प्रज्ञोत्कर्ष मदापनोदनपरः प्रज्ञार्त्ति जित्तत्त्ववित् ।।१००८।।

वास्तविक मे आत्मा प्रत्यक्ष एवं युगपत् सर्व पदार्थो का जानने वाला है, उसके परोक्ष श्रुत के जान लेने पर मैं सर्व मत का ज्ञाता हूं। यह जानता हुआ भी हृदय मे अनिर्वचनीय लज्जा को प्राप्त होता है। वह प्रज्ञा के उत्कर्ष के मद को अपनोदन करने मे तत्पर तत्त्वज्ञानी प्रज्ञा परिषह जयी होता है।

अज्ञान परिषह—

ज्ञान ध्यानरता मतिर्ममतपस्तीव्रं न चोत्पद्यते ।
ज्ञानं पूर्णमयं जडः पशुरिति श्रोतुं वचोऽहं क्षमः ।।
नेत्यज्ञान परिषह स सहते प्रव्यक्त वस्तु स्थितिः ।
यः कार्यं भवति स्वहेतु युगले सत्येव नेत्यन्यथा ।।१००९।।

मेरी बुद्धि ज्ञान-ध्यान में लीन है, मैं तीव्र तपस्वी हू, तथापि मुझे पूर्ण ज्ञान प्राप्त नही हुआ है, यह पशु है, मूर्ख है, अज्ञानी है, इस प्रकार के वचनो को सुनने के लिए मैं समर्थ नही हू, इस प्रकार की अज्ञान परिषह को जो अतरग वहिरग कारणो

के मिलने पर ही कार्य होता है, अन्यथा नहीं, इस प्रकार वस्तु की स्थिति को जानने वाला सहन करता है, वह अज्ञान परिषह को जीतने वाला होता है।

नाग्न्य परिषह—

भूषा वेष विकारशस्त्र निचय त्यागात्प्रशस्ताकृते।
बालस्येव मनोज जात विकृतिश्चितस्य लज्जेतिताम् ॥
हित्वा मातृसमान मेव सकलं कान्ताजन पश्यतः।
पूज्यो नाग्न्य परिषहस्य विजयस्तत्वज्ञ ताप्तोदयः ॥१०१०॥

जिनका शरीर, वेश भूषा, आदि विकार रहित है, जिनकी आकृति अत्यन्त वीतरागतामय है। मनोविकार से उत्पन्न हुई विकृति रूपी लज्जा को छोड़कर बालक के समान निर्भय और निर्विकार होते हैं। समस्त स्त्री समूह को माता के समान देखते हैं। नग्न रहते हुये भी किंचित् मात्र भी मन मे विकार नही है, वह साधु नग्न परिषह विजयी कहलाता है।

आक्रोश परिषह—

वर्णो कर्णहृदां विदारण करान् क्रूराशयैः प्रेरिता।
नाक्रोशान् घनगर्ज तर्जन खरान् शृण्वन्न शृण्वन्निव ॥
शक्त्याऽत्युत्तम संपदाऽपि सहितः शान्ताशयश्चिन्तयन्।
यो बाल्यं खलसंकुलस्य शयन क्लेश क्षमो तं स्तुवे ॥१०११॥

जो सयमी कर्ण और हृदय के विदारक क्रूर चित्त वालों के द्वारा प्रेरित, अत्यन्त तीक्ष्ण, आक्रोशकारी वचनो को सुन करके भी नही सुनने वाले के समान होता है तथा जो उत्तम शक्ति रूपी सम्पदा से सहित होते हुए भी शान्त चित्त वाला सयमी उन दुष्ट वचन कारी दुष्टो की मूर्खता का चितवन करता हुआ, आक्रोश परिषह को सहन करता है, उसकी हम स्तुति करते है।

सत्कार पुरस्कार परिषह—

ख्यातोऽहं तपसा श्रुतेन च पुरस्कारं प्रशंसां नतिं
भक्त्या मे न करोति कोऽपि यतिषु ज्येष्ठोऽहमेवेति यः।
ग्लानिं मानकृतां न याति स मुनिः सत्कार जातिर्जित्
दोषा मे न गुणा भवन्ति न गुणा दोषाः स्युरित्यन्त्यन्तः ॥१०१२॥

मैं तप के द्वारा, श्रुत के द्वारा विख्यात हूँ, यतियों में मैं ही ज्येष्ठ हू, भक्ति से मेरा कोई भी पुरस्कार प्रशंसा नमस्कार नही करता है इस प्रकार जो मान कपाय से उत्पन्न ग्लानि को नही प्राप्त होता है, वह विचार करता है कि मेरे दोष नही है गुण होते हैं सत्कार करने पर गुण नही दोप होते हैं, वह मुनि सत्कार से उत्पन्न अर्ति को जीतने वाला होता है।

याञ्चा विजय परिषह—

प्राज्यं राज्य मुदस्य शाश्वत पद प्राप्त्यै तपोवृंहणे,
देहो हेतुरयं हि भुक्त्यनुगता चास्य स्थितिस्तत्कृतः।
भिक्षार्थं भ्रमणं ह्रियः पदमिदं यस्मान्महार्यास्पदं,
नीचैं वृंत्तिरनिन्दितेति विचरन याञ्चाजयः स्यान्मुनि ॥१०१६॥

शाश्वत पद की प्राप्ति के लिए उत्कृष्ट राज्य को छोडकर तप की वृद्धि में यह शरीर कारण है और इस शरीर की स्थिति भक्ति के अनुसार है इसलिए भिक्षा के लिए भ्रमण करना लज्जा का स्थान कैसे है ? क्योकि भिक्षा के लिये भ्रमण महार्थो का आस्पद है इस प्रकार नम्रवृत्ति वाला अनिन्दित चर्या करने वाला मुनि याचना परिषह जयी होता है।

निषद्या परिषह—

सर्वाशाश महान्धकार पुरुजाऽऽयामां त्रियामां यमी,
योगे योगमयत्यवार्यमहिमाऽऽभोगै मुंहर्त्त यथा।
क्षेत्रे स्त्रीजन पशव वद्य रहिते हृद्ये निषद्यास्थितः,
सन्नत्युग्र निशाचराप्रतिहतध्यानो निषद्याजयी ॥१०१४॥

स्त्रीजन, पशु, नपु सक आदि दोषो से रहित मनोज्ञ क्षेत्र मे अति उग्र निशाचरों के द्वारा अप्रतिहत ध्यानी निपधा से स्थित अवार्य महिमा वाला जो संयमी सर्व दिशाओं को भक्षण करने वाले महान्धकार मे व्याप्त दीर्घ रात्रियो को जैसे मुहूर्त के समय विस्तरित योग के द्वारा व्यतीत करता है, वह निपद्या जयी होता है।

परिषह विजय का फल—

देशं कालं स्वकीयं बलमपि नृपतिः सम्यगालोच्य यद्द,
च्छत्रातस्य जेता भवति यति रपि स्वीयकर्मोदयेन।

जातस्यास्यार्त्ति जातोद्भटभटकटकस्योरु धैर्यस्तथा यः,
सोऽयंस्याद्वर्य वीर्याचरण चणजुतो वीर लक्ष्मी निलासः ।।१०१५।।

जैसे देश काल से अपने सेना का भली प्रकार विचार कर राजा, शत्रु समूह का जीतने वाला होता है उसी प्रकार महान् धैर्य वाला जो यति भी अपने कर्मोदय से उत्पन्न इस बाइस प्रकार के परिषह रूपी धीर भट की सैन्य का जीतने वाला होता है वह यह उत्कृष्ट वीर्याचार के आचरण से विख्यात कीर्ति वाला वीर की लक्ष्मी का निवास होता है ।

परिषहो का घोर उदय आने पर और आयु क्षीण होती दिखने पर मुनिराज ध्यान करते हैं, और परिषहों को जीतकर समाधि करते हैं । उसका वर्णन—

दीक्षां पीठिक योदितेन विधिना शिक्षां गृहीत्वा समा-
चारेणानुमतो गणेन गणिना प्राप्तश्च सत्सूरिताम् ।
षट्त्रिंशद्गुण भूषणो व्यपगत व्यापद गणं सद्गणं,
रक्षन् यः ससयं नयत्यतितरां धन्यः स मान्यो मुनिः ।।१०१६।।

पीठिका के द्वारा कथित विधि से दीक्षा और शिक्षा को ग्रहण करके समाचार समूह से स्वीकृत और सूरि के द्वारा सत्य सूरिपने को प्राप्त छत्तीस गुण के भूषण से युक्त, नष्ट हो गये है आपत्तियो के समूह जिसके ऐसे अपने सघ को रक्षा करता हुआ जो काल को व्यतीत करता है वह माननीय मुनि अत्यन्त धन्य है ।

ज्योतिः शास्त्र विनूत जातक मताम्नानानिमित्तक्षणात्
प्रश्नाच्चाप चय गृहावलि बल क्षीणत्व संप्रेक्षणात् ।
प्रश्नस्याक्षर लक्षणेक्षण वशात्कालागमात्स्वायुषो-
मानं द्वादश वर्ष संमित मतो हीनं च निश्चित्य सः ।।१०१७।।
पश्चाच्चारुतरात्मसंस्करणधी र्धीरो मुमुक्षुर्गुणी
प्रीत्या पालित मात्मनात्मनि सहान्स्नेहानुबंधे महत् ।
वृन्दं तुन्दिलरोगिसुतपः शैक्षादि भिक्ष्वन्वितं
प्रारोप्यात्मभर वरं गणधरे सद्वृत्तलक्ष्मीधरे ।।१०१८।।
रक्षादक्षतमं गणस्य गणिनं सर्वगणं चादरा-
दाहूय प्रियवाक् चयामृत रसासारेण चेतोगतम् ।

तापं तस्य निरस्य दुस्तरतरं जातं वियोगाद् गुरोः
स्वास्यातो नियतं विहारपरं कुर्वन्मुनीन्द्रोत्तमः ॥१०१६॥

ज्योतिष शास्त्र में कथित लक्षणों से वा ग्रहों के बलाबल के क्षीणत्व देखने से अथवा केवल प्रश्न चूडामणि मे कथित दग्ध अभिधूमित आदि प्रश्नोत्तरो से अपनी आयु को बारह वर्ष प्रमाण या हीन जानकर रत्नत्रय से अलकृत धीर श्री मुमुक्षु आचार्य, अपने धर्मानुराग से पालित अपने वृद्ध रोगी, नवीन दीक्षित महोपवासी, शिक्षित आदि से समन्वित सघ के भार को अपने मे महान् स्नेह रखने वाले शिष्यो मे आरोपित करता है। तदन्तर अपने सघ की रक्षा करने मे चतुर नूतन आचार्य को और सर्व सघ को बुलाकर उनके गुरु के वियोग से उत्पन्न चेतोगत दु.ख को, अपने वचन रूपी अमृत वर्षा की धारा से शात करता है। तदनन्तर मै यहा ठहरूंगा, इस प्रकार के सकल्प से रहित होकर अनियत विहार करता है वह श्रेष्ठ मुनीन्द्र कहलाता है।

प्रेक्ष्यन्ते बहुदेश संश्रयबशात्संवेगिवाधाप्तय-
स्तीर्थाधीश्वर केवलोद्गममही निर्वाणभूम्यादयः।
स्थैर्यं धैर्य विरागतादिषु गुणेष्वाचार्यवर्येऽक्षणा-
द्विद्यावित्तसमागमादधिगमो नूत्नार्थस्य च ॥१०२०॥

बहुदेश के सश्रय के वश से सवेग आदि की प्राप्ति तीर्थाधीश्वर केवलोद्गम भूमि निर्वाण भूमि, आदि के दर्शन होते है। आचार्यवर्य के अवलोकन से क्षण मात्र मे धीरता वीतरागादि गुणो मे स्थिरता और ज्ञान शास्त्रियो के समागम से नूतन अर्थ के समूह का ज्ञान होता है।

सद्भूपं बहुसूरि भक्तिक युतंक्षामादि दोषोज्झितं,
क्षेत्रं पात्रमपीक्ष्यते तनुपरित्यागस्य निःसंगता।
सर्वस्मिन्नपि चेतनेतर बहित्संगे स्वशिष्यादिके,
गर्वस्यापचयः परीषजयः सल्लेखना चोत्तमा ॥१०२१॥

बहुसूरि की भक्ति से युक्त, क्रोधादि दोषों से रहित, योग्य राजा जिसमे हो ऐसा क्षेत्र पात्र शरीर के परित्याग की निःसगता, सर्वचेतन, अचेतन, बहिरंग परिग्रह मे और स्व शिष्यादिक में भी गर्व का अभाव परिषहो पर विजय होने पर उत्तम सल्लेखना देखी जाती है।

सम्यक्काय कषाय कार्श्यकरणं सल्लेखनाद्या वरै-
र्योगैर्वर्ष चतुष्ठयं रस परित्यागै स्तथाब्दद्वयम् ।
सौवीरान्न रसोज्झनैरभिषवान्नेनाब्द मेतद्दल-
बाह्यै र्मन्दतपोभिरुग्रनियमैरब्दार्ध मंगार्दनम ।।१०२२।।

भली प्रकार काय और कषायों को कृश करना सल्लेखना है । उसमे उत्कृष्ट योगो के द्वारा चार वर्ष पर्यन्त रस परित्याग के द्वारा चार वर्ष व्यतीत करना इसके बाद दो वर्ष काजी आहार और रस त्याग के द्वारा, एक वर्ष वृष्य अन्न के सेवने से यह उससे आधा वर्ष बाह्य मन्द मन्द तप के द्वारा आधा वर्ष उग्र नियमों के द्वारा शरीर को कृश करना प्रथम काय सल्लेखना है ।

कालं कायबलं च देशमशनं पानं प्रकृत्यादिकं,
ज्ञात्वा पित्तकफानिलैः निजयतेर्न स्याद्यथा विक्रिया ।
कर्त्तव्यविदुषा तथोक्त विधिभिर्बाह्यैस्तपः प्रक्रमै-
राचार्यानुमतैः समाधिफल दैरेषांग सल्लेखना ।।१०२३।।

जिससे वात, पित और कफ से अपने ज्ञान में विकृति नही हो ऐसे काल, शरीर, बल, देश, अन्न, पान और प्रकृति आदि को जान करके आचार्य के द्वारा अनुगत समाधि रूप फल के देने वाले पूर्व कथित विधि से बाह्य तप के द्वारा विद्वानो को यह काय सल्लेखना करनी चाहिये ।

सद्ध्यान प्रकरैः कषाय विषया सल्लेखना श्रेयसी-
स्त्वेष्टानिष्ट वियोग योगयुगजे बाधा निदानोद्भवे ।
इत्यार्त्तस्य चतुर्विधस्य विजयो हिंसामृषास्तेयस-
रक्षानन्द विभेदतोऽशुभकृतो ध्यानस्य रोद्रस्य च ।।१०२४।।

धर्म और शुक्ल ध्यान के द्वारा इष्ट वियोग, अनिष्ट सयोग, पीड़ा चितवन और निदान बध नामक चार प्रकार के आर्त्तध्यान पर विजय और हिसानद, मृषानद स्तेयानन्द एव परिग्रहानन्द इन चार प्रकार के रौद्र ध्यान पर विजय प्राप्त करना कषाय को कृश करने वाली उत्तम सल्लेखना है ।

ध्यातृध्यान विचित्य चितन फलान्यंगानि चत्वारि तैः,
स्याद् ध्यानं सदसत्व तत्र भवति ध्यातोत्तमैरन्वितः ।

आद्यैः संहननै स्त्रिभिस्त्रिभिरू पेतोऽन्त्यैः स नाऽस्मिन्पुन. ।
चिन्तातर्बहिरंग कारण सृणिप्रेर्या हि कार्यद्विपः ॥१०२५॥

ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान का फल चार अग है। उन चारो मे सद् और असत् ध्यान होता है, आदि तीन-तीन उन उत्तम सहननों से युक्त ध्याता होता है। अन्तिम संहननो से वह ध्यान नहीं होता है। क्योकि पुन' इस चिन्ता अंतरंग बहिरग कारण रूप मार्ग में कार्यरूपी हाथी प्रेरित करने योग्य है।

संक्षेप से ध्यान का लक्षण—

एकस्मिन् विषयेऽग्रमान नम भूदस्या मतेरित्यसा,
वेकाग्रा विषयोपयोग निरता चिता निरोधोऽचला ।
वस्था स्यान्निजगोचराचलमनो ध्यानं तदन्तर्मुहू,
र्तावस्थान मतीवदुर्धरतया नाऽत. परं तिष्ठति ॥१०२६॥

इस मति की एक विषय में एकाग्रता होती है, इस प्रकार यह एकाग्रता विषयो में उपयोग की लीनता चिता का निरोध अचल अवस्था अपने गोचर अचल मन ध्यान है, वह ध्यान अन्तर्मुहूर्तावस्था वाला होता है, अत्यन्त दुर्धर होने से इसके आगे यह ध्यान नही रहता है।

मिथ्यात्वोरुतमस्तिरस्कृत सुदृग्ज्ञानोऽधिक क्रोधवान्,
स्तब्धः सत्स्वपि वंचनांचित मतिर्लुब्धः परार्थेष्वपि ।
दुर्लेश्यापशगाशयश्च भवति ध्याताऽशुभ ध्यानयोः,
ध्येयं ध्यान विशेष लक्षण विनिर्देशक्षणे लक्ष्यते ॥१०२७॥

मिथ्यात्व रूपी महान अन्धकार से तिरस्कृत है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र जिसका ऐसा अत्यन्त क्रोधी मूर्ख, सत्पदार्थो मे भी वचनमति पर अन का लोलुपी, दुर्लेश्या के वशीभूत हुआ, प्राणी, आर्त्त रौद्र ध्यान का ध्याता होता है। अशुभ ध्यान का ध्येय का ध्यान, विशेष लक्षण के वर्णन करने के क्षण मे कहेगे।

आर्तध्यानों के चार भेद और स्वरूप—

जीवा जीव कलत्र पुत्र कनकाऽगारादिकादात्मनः,
प्रेम प्रीतिवशात्मसात्कृत बहिः संगाद्वियोगोद्भमे ।
क्लेशेनेष्ट वियोग जार्त्तमचलं तच्चिन्तनं मे कथ,
न स्यादिष्ट वियोग इत्यपि सदा मन्दस्य दुःकर्मणः ॥१०२८॥

अपने जीव, अजीव, स्त्री, पुत्र, सुवर्ण घरादि से प्रेम और प्रीति के वश से आत्म सात्कृत बहिरग परिग्रह के वियोग से हो जाने पर क्लेश से मेरा इष्ट वियोग किसी प्रकार नही होवे इस प्रकार मन्द कर्म का अचल चितवन करना इष्ट वियोग मे उत्पन्न आर्तध्यान है ।

क्रूरैर्व्यन्तर चौर वरि मनुजै र्व्यालैर्मृगैरापदि,
प्राप्तायां गरलादिकैश्च महती तन्नाशचिन्ताऽऽपदा ।
संयोगो न भवेत सदा कथमिति क्लेशातिनुन्नं मनः,
श्चार्त्तध्यान मनिष्ट योग जनितं जातंदुरन्तैनरः ॥१०३१॥

क्रूर, व्यन्तर, चौर, वैरी मनुष्य, व्याल, मृग, विष आदि पदार्थो के द्वारा आपत्ति आने पर, उस आपत्ति के नाश की चिन्ता उत्पन्न होती है । मेरे अनिष्ट पदार्थो का सयोग न हो । इस प्रकार की चिन्ता से चित्त निरन्तर आकुलित रहता है । वह पापो का कारण भूत अनिष्ट सयोग नाम द्वितीय आर्त्तध्यान है ।

बाधासंजनि तार्तमति निहित स्वान्तं नितान्तस्थिरं,
तीव्राद्विश्व परिषहन्मम कदर विश्लेषण इत्यंगिनः ।
दीनस्यास्त विशिष्ट वस्तु विषय ज्ञानस्य न स्यात्कथं,
क्लेशाल्या मम जातु संगम इति क्लिष्टं च तस्त्यात्मनः ॥१०३०॥

तीव्र विश्वपरावह से मेरा वियोग कब होता अथवा क्लेशों के समूह का मेरे कभी भी सयोग नही होवे इस प्रकार अस्त हो गया है, विशिष्ट वस्तु विपय का विज्ञान जिसका ऐसे दीन प्राणी का मन क्लेशित होता है । और दु.ख मे क्षिप्त मन अत्यन्त स्थिर रहता है, वह रोग से उत्पन्न आर्त्तध्यान मे निहित ध्यान होता है ।

नानो पायचयेन नीच चरितैर्भ्रान्त्वा विशालामिला,
माभीलं मकराकरं च बहुशो तुच्छोच्छया पाप्य यत् ।
प्राप्यं तुण्यवता जनेन कनकं कान्तं च कान्तादिकं,
तत्कांक्षा क्षुभिता मतिर्वंत् निदानार्थं महार्तिप्रदम् ॥१०३१॥

नाना प्रकार के उपायों के समूह के द्वारा नीच आचरणो के द्वारा विशाल पृथ्वी पर भ्रमण करके और बहुत बार तुच्छ इच्छा से भयकर समुद्र को प्राप्त करके गुणवान मानव के द्वारा प्राप्त करने योग्य जो सुवर्ण और मनोज कान्ता आदि

है, उस धनादि की इच्छा से क्षुभित मति है, महान अति को देने वाला निदान नामक आर्तध्यान है, यह खेद की बात है।

ग्लान्यश्रूद् गमशोक शोष जडता मूर्छांग कंपोत्कता,
निःश्वास स्वर भंग कार्ष्ण्यं कृशत्तामौनाऽभिवीक्षामृति।
प्रस्वेदाऽनिमिषेणास्थिति रुजायाञ्चामृषोक्तयादयः,
स्पष्टाः स्वस्य परस्य वाऽऽर्त्तजनितास्तज्ज्ञापकाः कायिकाः ॥१०३२॥

ग्लानि, अश्रुओं का निकालना, शोक, रोष, जडता, मूर्च्छा, अग की कपन, दीर्घ निश्वास, स्वर भंग, कृष्ण, कृशता, मौन, बार-बार देखना, मृत्यु, बार-बार पसीना आना, अनिमिषेण से देखना, अस्थिरता रोग, याचना, असत्य भाषण आदि अपने और पर के आर्तध्यान की ज्ञापक अथवा आर्तध्यान मे जनित काय की चेष्टा स्पष्ट देखी जाती है।

अतिर्दुःख मसात जात जनितं स्यादार्त्तमतौ भवं,
पापाऽऽदान निदान मार्द्र सिचयं यद्वद्रजः संश्रयम्।
मिथ्यादृष्टि गुणाविषड् गुणपदं येन प्रमादास्पदं,
दुर्लेश्यात्रयजं सुदुःखजनकं तिर्यग्गति प्रापकम् ॥१०३३॥

असाता वेदनीय से उत्पन्न दु ख अर्ति है, अर्ति मे होने वाला आर्त होता है, जिस प्रकार गीला वस्त्र रज से सश्रय का कारण है, उसी प्रकार आर्तध्यान पाप के आदान का कारण है, जिससे मिथ्यात्वादि षट् गुणस्थान होते हैं, प्रमाद का स्थान है, दु ख का जनक है और तिर्यंच गति का प्रापक है।

रौद्रध्यान भेद, और उनके लक्षण—

हिंसानन्दम सात कारण गुणै हिंसारुचिर्देहिनां,
भेदच्छेद विदारणासुहरणैरूपैश्च तैर्दारुणैः।
शेषेर्ष्याद्युदितैरसत्यवचनैरन्यस्य हान्या मृषा,
नंदं रौद्र मसात सन्तति पदे मिथ्याप्रलापे रुचिः ॥१०३४॥

भेद, च्छेद, विदारण, प्राणहरण आदि के द्वारा अन्य भी उन दारुण असाता कारणों के समूह के द्वारा प्राणियो की हिसा में रुचि करना, हिसानन्द नामक प्रथम रौद्र ध्यान है, शेष ईर्ष्या आदि से कथित असत्य वचनो के द्वारा दूसरे की हानि के लिए असाता की सन्तति के स्थान मिथ्या प्रलाप में रुचि रखना मृषानन्द नामक द्वितीय रौद्रध्यान है।

स्तेयानन्द मवाप्य यत्परधन वंद्यादि निंद्येहितै,
रानदित्वमवाप्तुमुत्सुकतरं चेतश्च तंस्तद्भवेत् ।
स्वं संरक्ष्य विपक्षदूरमुदिता तोषोग्रता या तुसं,
रक्षानन्दमपि स्ववस्तु निखिलं निर्वैरि कुर्वे इति ।।१०३५।।

उन वन्द्यादि निन्दनीय चेष्टाओ के द्वारा दूसरे के धन को प्राप्त करके आनदत्व को प्राप्त करने के लिये उत्सुकतर चित्त है, वह स्तेयानन्द होता है, धन की रक्षा करने जो विपक्ष के दूर करने मे हर्षित होकर उग्र सन्तोष है, वह सरक्षानन्द नामक रौद्रध्यान है, मैं सारी अपनी वस्तु को को वैर रहित करता हू इस प्रकार के विचार का नाम भी सरक्षानन्द रौद्रध्यान है ।

अक्षापाटवमाननाऽक्ष्यरुणता दातश्च देहे महान्,
हेत्युत्क्षेपविरुक्षवाग्भृकुटयः शक्ति प्रशंसात्मनः ।
स्वेद स्वाधर निष्ठुर ग्रह करा घातांगकंपादयः,
कायांकाः स्वपरन्वबोध विषयास्तद्रौद्रभावोद्भवाः ।।१०३६।।

इन्द्रिय के विकलता आख मुख का रक्त होना शरीर मे महान दाह, शस्त्र का उत्क्षेपण, विरुक्ष वचन बोलना, भृकुटिका चढना अपनी शक्ति की प्रशसा पसीना आना, अपने अधरो को निष्ठुरता से ग्रहण, हाथो का घात अग का कम्पन आदि होना स्व और पर के दृष्टिगोचर होने वाले उस रौद्र भाव से उत्पन्न कायिक चिह्न है ।

रुद्रः क्रूरतराशयो गत दयो रौद्रं रुद्रे भवं,
आर्द्रं चर्म यथोरुधूलिनिलयं तद्वत्कुकर्मालयम् ।
पंचस्वादि गुणेषु तीव्रतर तत्कृष्णात्रिलेश्योद्गतं,-
प्रोद्य तीव्रतरार्ति नारक गति प्राप्तेर्निनिमित्तं मनम् ।।१०३७।।

क्रूर चित्तवाला दया रहित भाव रुद्र है, निश्चय से रौद्र में होने वाला परिणाम रौद्र ध्यान है, जैसे आर्द्र चमडा महान धूलि का स्थान होता है, उसी प्रकार कुकर्मो का स्थान है, पाच मिथ्यात्व आदि गुणस्थानो मे तीव्रतर कृष्णादि तीन अशुभ लेश्या से उत्पन्न तीव्रतर अर्त्ति से नारक गति प्राप्ति का निमित्त माना है ।

शुभ ध्यान का लक्षण—

ध्याताऽपेतजनोक्त गीत वितताऽऽतोद्याविकोलाहले,
स्थाने स्थावरजंगमांगि रहिते पूते नितांतं समे ।

निश्छिद्रं निरुपद्रवे पृथुशिलेलाद्ये सुख स्पर्शिनि,
प्रध्यानाभिरतः स्थितो न नियमः स्वभ्यस्तयोगे स्वयम् ॥१०३८॥

मनुष्यों के द्वारा गाये गये गीत का समूह वादित्र आदि के कोलाहल से रहित स्थावर और जगम प्राणियों से रहित पवित्र अत्यन्त समान निच्छिद्र निरुपद्रव सुख स्पर्श वाली विस्तरित शिला पृथ्वी आदि पर स्थित ध्यान करने वाला उत्कृष्ट ध्यान मे लीन होता है, परन्तु अभ्यस्त योग मे यह नियम नही है।

यानांगवयव प्रचालन वचोजृंमाद्यभावो मुनि,
व्युंत्सर्गेण समावलंवक शिलास्तंभो निखातो यथा ।
पर्यंकेन यथा सुखं स्वमनसः शय्यादिभिर्वा स्थितो,
निःसगोऽस्तसमस्त बाह्य विषयाऽव्यापृत्यशेषेन्द्रियः ॥१०३९॥
प्राणापान विनिग्रहादतितरां श्रांतिमंते रुच्छ्वस,
न्मन्दं मन्दमतो न नेत्र युगलं सम्यग्निमीलन्न च ।
प्रोन्मीलन्द शनैर्मनाग्दशनपंक्त्यग्राणि विभ्रन्मनः,
शांति मूर्तिमतो मिवार्त्तिजयिनीं स्वां मूर्त्तिमप्यूर्जिताम् ॥१०४०॥
सद्दृष्टि र्मृदुताऽऽर्जवादि सहितः श्रेण्योरशेष श्रुतः
स्याद्ध्याता दशपूर्वविच्च नवपूर्वज्ञो परत्राऽपि च ।
ध्येयन्यस्तमना निरस्त नियमः कालेषु संध्यादिषु,
निर्वाणोचित माद्य संहनन मेवाऽस्मिन्पुनर्ध्यातरि ॥१०४१॥

जिसके गमन के समय अग की चचलता, वचन, जभाई आदि का अभाव है, जो शिला में अकित स्तम्भ के समान कायोत्सर्ग से अचल खडा है अथवा पर्यकासन से बैठा है, यथायोग्य शय्या आदि से भी स्थित है, परिग्रह रहित है, समस्त इन्द्रियो के व्यापार से शून्य है, प्राणापान के निरोध से अत्यन्त मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वास ले रहा है, जिसके नेत्र अर्द्धोन्मीलित है, दाँतो की पक्ति दातो पर धारण किये हुए है, मन अत्यन्त शात है, आर्तध्यान को जीतने वाली अत्यन्त सौम्य शरीर की आकृति को धारण करता है, क्षपक श्रेणी या उपशम श्रेणी पर आरूढ है। नव पूर्व या दश पूर्व का ज्ञाता सम्यग्दृष्टि आर्जवादि गुणो से युक्त होकर ध्येय मे व्यस्त है, मन जिसका ऐसा मुनि तीनो काल की सध्या के समय मे निरत नियम से ध्याता होता है। इस ध्याता के निर्वाण के योग्य प्रथम सहनन होता है।

धर्म्यं शुक्ल मिति द्विभेद मुदितं सद्ध्यानामाद्यन्तयो,
राज्ञाऽपाय विपाकगाच्च विचयात्संस्थान गात्स्पाच्चतु ।
भेंदं भूरि विकल्प जाल कलितं जैताग्रयान्नैगमा,
त्सर्वं सर्वविदो बचो नहि नयापेत यतो वस्तु च ।।१०४२।।

सद्ध्यान धर्मध्यान, शुक्लध्यान इस प्रकार दो प्रकार कहा है, उन दोनो में धर्मध्यान आज्ञा, अपाय, विपाक, सस्थान का विपय होने से चार प्रकार का है, जिनेन्द्र भगवान के नैगम नय की अपेक्षा से बहुत से विकल्प जाल से कलित है, क्योकि सर्वज्ञ भगवान के सब वचन और वस्तु नय से रहित नही है ।

विज्ञातुं न तु शक्यमावृति युताध्यक्षानुमानदिना,
त्यक्षानंत विषर्त्तवर्त्ति सकलं वस्त्वस्तदोषार्हताम् ।
आज्ञावाग्विचयस्तयोक्तमनृतं नैवेति तद्वस्तुन,
स्चिन्ताज्ञा विचयो विदुर्नयचयः संज्ञानपुण्योदयः ।।१०४३।।

इन्द्रियातीत अनन्त पर्यायवर्ती सकल वस्तु आवरण युक्त प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमानादि के द्वारा जानने के लिये शक्य नही है, परन्तु वीतरागी अर्हंत की आज्ञा से वचनो का विचार है कि भगवान की आज्ञा से कहा गया वस्तु का स्वरूप असत्य नही है, इस प्रकार उस वस्तु का चिन्तवन संज्ञान और पुण्य का उदयभूत नय का समूह आज्ञा विचय है ।

दुःकर्मात्मदुरीहि तैरुपचितं मिथ्याविरत्यादिभि,
र्व्यापज्जन्म जरामृति प्रभृतयो वांऽपाय एनः कृताः ।
जीवेनादिभवे भवेत्कथमतोऽपायादपायः कदा,
कस्मिन्केन ममेत्यपाय विचयः सत्कारणा वीक्षणम् ।।१०४४।।

जीव के द्वारा पूर्व भव मे मिथ्यात्व, अविरति आदि अपनी दुञ्चेष्टाओं के द्वारा उपार्जित दुष्कर्म अथवा पापकृत आपत्ति, जन्म, जरा, मृत्यु प्रभृति अपाय हैं । इस अपाय से मेरा निराकरण कब होगा ? इस प्रकार सत्कारणो से चिन्तवन करना अपाय विचय है ।

गत्यादौ परिणामतस्तनुभृतां प्राप्तोदयोदीरणं,
क्लेशाश्लेषकरं सुखोत्कर करं कर्माशुभं तच्छुभम् ।

शक्त्या युक्तसंख्यलोक मितषट् स्थानान्वितं स्थानया,
इत्येवं विचयो विपाक विचयः प्रत्यस्तदोषोच्चय. ॥१०४५॥

गति आदि में परिणामों से प्राणियों के प्राप्त है उदय और उदीरणा जिन की, ऐसे क्लेशों को करने वाले और सुख को करने वाले असख्यात लोक प्रमाण, पट्-स्थान से अन्वित शक्ति से युक्त अशुभ वह शुभ कर्म है, इस प्रकार विचार करना नष्ट हो गया है दोषों का समूह जिसका, ऐसा विपाक विचय है।

❋ बारह अनुप्रेक्षा ❋

सस्थानं यदनित्यताऽशरणता संसार एकाकिता,
ऽन्यत्वं चाशुचिताऽऽस्त्रवः सुनयतः स्यात्संवरो निर्जरा ।
लोको बोध्यति दुर्लभत्वमपरो धर्मस्तदित्यन्वितं,
भेदैः स्वैर्विचयोऽस्य चिंतनमनुप्रेक्षा स्मृतं द्वादश ॥१०४६॥

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव और सुनय से संवर निर्जरा होती है। लोक बोधि की अति दुर्लभता, उत्कृष्ट धर्म, इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाए हैं। उनका अपने-अपने भेदो से युक्त जो चिन्तवन करना है, वह सस्थान विचय ध्यान है।

अनित्य भावना

उत्पत्तिः प्रलयश्च पर्ययवशाद् द्रव्यात्मना नित्यता,
वस्तूनां निचये प्रतिक्षणमिहाज्ञानाज्जनो मन्यते ।
नित्यत्वं द्रवदंबुदीपकलिकास्थैर्यं यथार्था दिके,
नष्टे नष्टधृतिः करोति व्रत शोकार्तो वृथाऽऽत्मीयके ॥१०४७॥

इस लोक में वस्तुओं के समूह में प्रतिक्षण द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्यता है, पर्याय की अपेक्षा उत्पत्ति और विनाश है। अज्ञान से जन नष्ट होने वाले पानी और दीपक की कलिका में स्थिरता नित्यत्व मानता है, जिससे अपने धनादि के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो गया है धैर्य जिसका, ऐसा मानव व्यर्थ शोक और दुःख को प्राप्त करता है।

अशरण भावना

मंत्रास्तंत्रततिस्तदन्वित कृतिर्दुर्गा द्विषद्दुर्गमा,
भृत्याः किं न मृताः सुहृत्ततिरपीत्येतेषु सत्सप्यगुः ।

सर्वे पूर्ण महीभृतः क्षतिमतः कस्यापि कालत्रये,
त्राताऽत्रास्ति न नाशमीयुषि पुरा पुण्यार्जिते वाऽऽयुषि ।।१०४८।।

मन्त्र तन्त्रो का समूह, मन्त्र तन्त्र के जानने-वाले की कृति, शत्रुओ से दुर्गम किले, मित्रो का समूह, नौकर रक्षक थे, इनके होने पर भी सर्व पूर्व राजा लोग क्या नाश को नही प्राप्त हुए ? इसलिये इस लोक मे तीन कालों मे पूर्व में उपार्जित आयु के नाश हो जाने पर किसका रक्षक कोई भी नही है, यह अशरण भावना है ।

संसार भावना

वृत्या जातिगतिष्वाप्तकरणोऽनंतांगहारः सदा,
प्रोद्भूति प्रलयो नरामर मृगाद्याहार्य पर्यायवान् ।
हित्वा सात्विक भाव जात मित्तरैर्भावैः स्वकर्मोद्भवैः,
जोवोऽयं नटवद्भ्रमत्यभिनवः सर्वत्र लोकत्रये ।।१०४९।।

पञ्च परिवर्तन रूप परिभ्रमण से ८४ लाख जाति और चार गतियो में प्राप्त किया है इन्द्रिय लाभ जिसने, अपरिमित शरीरधारी हमेशा उत्पत्ति और विनाशवान् नर, मानव, पशु आदि पर्यायों को धारण करने वाला यह जीव सात्विक भाव से उत्पन्न अनन्त ज्ञाननिधि को छोडकर इतर स्वकर्मो से उत्पन्न मिथ्यात्वादि भावो के द्वारा नूतन शरीर को धारण करके सर्वत्र तीन लोक मे नट के समान भ्रमण करता है । यह ससार भावना है ।

एकत्व भावना

कोऽप्याप्तः स्वजनोऽनुगोऽस्ति न परो वा याति जन्मांतरं,
जीवे जन्म निवाऽत्र मित्रनिकरैः किं नाशितं वा हृतम् ।
चित्रं गात्ररुजादिजं हृदयजं वाऽसातमेकस्ततो,
मृत्युत्पत्ति निवृतिषु प्रणयिनोऽन्येऽर्थेष्वनर्थे निजः ।।१०५०।।

आप्त स्वजन साथ मे चलने वाला दूसरा कोई भी जन्मान्तर मे साथ नहीं जाता है अथवा इस जन्म मे मित्रो के समूह के द्वारा चित्र शरीर के रोगादि से उत्पन्न अथवा मानसिक असाता क्या किसी के द्वारा नाश की गई है अथवा हरी गई है ? जन्म, मरण और निर्वाण मे जीव अकेला ही है । धन के समय दूसरे प्यारे बनते है, पाप में स्वय ही जीव भागी होता है । यह एकत्व भावना है ।

अन्यत्व भावना

चैतन्यं जडतैकताऽवयविसंदोहोदिताऽनेकता,
नित्यत्वं क्षयिता च मूर्ति वियतिमूर्तत्व मित्यादिभिः।
भेदं देहि शरीर योरगयन् किं नेक्षते वृद्धिम्,
देहं खेदिनि देहिनि स्थित मति कांतेऽत्र दुर्भिक्षवत् ॥१०५१॥

अवयवी के समूह मे प्रकट हुए चैतन्य और अचैतन्य एकमेक है। चैतन्य नित्य है और क्षण ध्वसी शरीर है, इसलिये शरीर और आत्मा मे अनेकता है। मूर्ति के आश्रय है इसलिये मूर्त है, इत्यादि के द्वारा शरीर और आत्मा मे भेद को नही मानता हुआ खेदकारी आत्मा के निकल जाने पर उत्कर्षता को प्राप्त हुए शरीर को दुर्भिक्ष के समान यहां पर स्थित क्या नही देखता है? यह अन्यत्व भावना है।

अशुचि भावना

रेतः शोणि जातिधातु निचितं प्रच्छादितं चर्मणा,
सान्द्रोद्रित्तगलन्मलं बहुबिलैरंग जुगुप्सानुगाम्।
भीतिं किं न तनोत्य संस्कृति बहिश्चर्मात्रगात्रे न चेत्,
स्पृष्टुं द्रष्टुमपि क्षमोऽस्ति किमिदं त्रातुं पतत्र्यादितः ॥१०५२॥

वीर्य, रक्त, जाति आदि धातुओ से व्याप्त चमड़े के द्वारा आच्छादित नाक, आँख, कर्ण आदि बहुत से बिलो से अत्यन्त प्रवाह से बह रहा है मल जिसमे, ऐसा यह शरीर ग्लानि का अनुकरण करने वाली भय को क्या नही विस्तरित करता है? यदि इस शरीर मे सस्कार रहित बाहर का चर्म नही हो तो क्या इस शरीर को स्पर्श करने के लिये, देखने के लिये, पक्षी आदि से रक्षा करने के लिये कौन समर्थ है अर्थात् कोई नही है। यह अशुचि भावना है।

आश्रव भावना

देहे स्नेह युते लगत्य विरतं रेणोर्गणोऽयं यथा,
मिथ्यावृत्त कषाय योग कलुषेऽजस्त्र सजत्यगिनि।
तद्वत स्वैक शरीरगा सुमिलिताऽनन्ताणवो वर्गणा,
विश्वात्मावयवेष्वनंतगणना नो कर्मणा कर्मणाम् ॥१०५३॥

जैसे तेल सहित शरीर में रेणु का समूह निरन्तर लगता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग से कलुषित ससारी आत्मा मे सारे आत्मा के

अवयवो पर निरन्तर अपने एक शरीर को प्राप्त होने वाली कर्मो की (नों कर्मो की) सम्यक् प्रकार से मिली हुई अनन्त अणु जिसमे, ऐसी अनन्त सख्या वाली वर्गणा प्राप्त होती है। ऐसा चिन्तवन करना आस्रव भावना है।

संवर भावना

दष्टे दुष्ट विषाहिनांऽगिनि यथा नष्ट प्रचेष्टे विषं,
पुष्याज्जांगुलिकेन मंत्र वलिना संस्तंमितं तिष्ठति।
सम्यक्त्व व्रत निष्कषाय परिणामाऽयोगताभिस्तथा,
मिथ्यात्वाद्रिस्तुः स्वहेतु विगमान्नूत्नंन सा नागमः ॥१०५४॥

जैसे दुष्ट विष वाले सर्प के द्वारा काटने पर नष्ट चेष्टा वाले प्राणी का विष वैद्य के द्वारा अथवा मन्त्र शक्ति के द्वारा कीलित हो जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व, व्रत, निष्कषाय परिणाम और अयोगता के द्वारा मिथ्यात्वादि अपने चार कारणो के नाश हो जाने से नूतन पापो का आगमन नही रहता है। ऐसा चिन्तवन करना सवर भावना है।

निर्जरा भावना

संशिलष्टात्मल लस्य निर्गलनतो नि शेष विश्लेषत,
श्चान्तर्बाह्य चतुःस्वहेतुवशतः स्वर्णोपले स्वर्णता।
यव्द्द्हिनि कर्मणोऽशगलनान्निः शेष विश्लेषतः,
सम्यक्त्व ग्रहणाद्यनेक करणैस्तद्वद्वि शुद्धात्मता ॥१०५५॥

जिस प्रकार कर्षण, छेदन, तापन आदि कारणो के द्वारा अनादिकालीन सुवर्ण की कालिमा नष्ट हो जाती है और सुवर्ण शुद्ध बन जाता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि गुणो के द्वारा आत्मा की पाप कालिमा दूर हो जाती है और आत्मा शुद्ध बन जाती है ऐसा चितवन करना निर्जरा भावना है।

लोक भावना

मध्यांशः परितोऽनंतवियतो लोकस्त्रिवाताऽवृतः,
पंच द्रव्य चितः प्रकृतं रहितो नित्यः सदाऽवस्थितः।
संस्थानेन तु सुप्रतिष्ठक समोऽसंख्य प्रदेश प्रमो,
मध्यस्थ त्रस नालि रज भविना स्पृष्टं न दृष्टं पदम् ॥१०५६॥

अनन्तानन्त प्रदेशी, अखण्ड, सर्वव्यापी, आकाश के मध्य मे घनवातवलय,

घनोदधिवातवलय और तनुवातवलयों से वेष्टित जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल से भरे हुए संस्थान से सुप्रतिष्ठाकार, नित्य, सदा व स्थित, स्वयंसिद्ध, असंख्यात, प्रदेशी, लोकाकाश है। उसके मध्य में एक राजू चौड़ी, चौदह राजू ऊँची त्रस नली है। ससारी प्राणी इस लोक को अपनी चर्म चक्षु के द्वारा पूर्ण रूप से देखने के लिए समर्थ नही है। इस प्रकार चिन्तवन करना लोक भावना है।

बोधि दुर्लभ भावना

नैकाक्षैर्विकलाक्ष पंचकरणा संज्ञ व्रजे जातु या,
लब्धा बोधिरगण्य पुण्य वशतः संपूर्ण पर्याप्तिभिः।
भव्यैः संज्ञिभि राप्तलब्धिविधिभिः कैश्चित्कदाचितक्वचित्,
प्राप्या सा रमतां मदीय हृदये स्वर्गापवर्गप्रदा ॥१०५७॥

वह बोधि, हीन पुण्य वाले एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पचेन्द्रिय के द्वारा कभी भी प्राप्त करने योग्य नही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति को बोधि कहते है। जिसको क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि प्राप्त हो गई है, जो सज्ञी है, पञ्चेन्द्रिय है, पर्याप्त है, भव्य है, उसी को ही बोधि की प्राप्ति होती है। वह बोधि निरन्तर मेरे हृदय में वास करे। ऐसा निरन्तर चितवन करना बोधि दुर्लभ भावना है।

धर्म भावना

दाताऽभीष्ट विशिष्ट वस्तु निचय स्याकांक्षिणोऽपिक्षणा,
द्धर्त्तात्ते नरनारकादि भवसभूतेः स्मृतेर्भीकृतेः।
हंताऽऽक्रान्त जगत्रयांतक रिपोर्यः स्वान्तगः संस्तुत,
स्त्राताऽत्राणशरीरिणां नहि परो धर्मात्सुशर्म प्रदात ॥१०५८॥

ससार मे अभीष्ट वस्तु को देने वाला धर्म है। स्मृति मात्र से भय देने वाली, नरनारकादि आपत्तियो से बचाने वाला जिन धर्म ही है। तीन जगत् के जीवो को दुःख देने वाले यमराज रूपी शत्रु का नाशक धर्म है। अशरण ससारियो को शरण देने वाला धर्म है, वह धर्म वस्तु का स्वभाव है। वह हृदय में रहता है तब ही जीव की रक्षा होती है। धर्म को छोड़कर इष्ट वस्तु को देने वाला, आपत्तियो से बचाने वाला, यमराज का नाशक, प्राणियो का रक्षक, दूसरा कोई नहीं है, यह धर्मभावना है।

धर्म का लक्षण—

श्रद्धानं सदशंकितादिसदनं तत्वार्थसंचिन्तनं,
संवेगः प्रशमोदयेन्द्रियदमः प्राज्योद्यमः संयमः ।
वैराग्यं वरगुप्तिताऽतिमृदुता निर्मायिताऽसंगता,
धर्मस्येति समस्त वस्तु परमोपेक्षा च लक्ष्मोदितम् ॥१०५९॥

तत्त्वार्थ श्रद्धान, नि शकत्व तत्वार्थ चिन्तवन, सवेग, प्रशम, दया, इन्द्रिय-दमन, उत्कृष्ट उद्यम, सयम, वैराग्य, उत्कृष्ट गुप्ति, परिणामो की अति कोमलता, निर्मायित्व, असगता, समस्त वस्तु के प्रति परम उपेक्षिता यह धर्म का लक्षण कहा है ।

धर्म्यं स्यान्निखिलार्थं सार्थं निहितं चित्तं समं संस्थितं,
सम्यग्दृष्टय यतादिसप्तम गुणांतेषु प्रवृद्धं क्रमात् ।
साक्षात्संवर निर्जरादि करणं नानात्मनां कर्मणां,
सल्लेश्यात्रयजं च नाक सुखदं प्राग्रं क्रमासिद्धिदम् ॥१०६०॥

सकल पदार्थो के समूह मे चित्त समान स्थित हो अर्थात् सुख-दुःख आदि में समान भाव और राग-द्वेष का अभाव धर्मध्यान है । यह धर्मध्यान अविरत सम्यक्-दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान से लेकर अप्रमत्त नामक सातवे गुणस्थान तक क्रम से वृद्धि को प्राप्त होता है । साक्षात् नानात्मक कर्मो की निर्जरा का कारण है । पीत, पद्म, शुक्ल — इन तीन शुभ लेश्या वाले के ही होता है । उत्कृष्ट स्वर्ग के सुखों का दाता है और क्रम से मोक्षफल को देता है ।

(आचारसार, आ० वीरनन्दी)

शुक्लध्यान का स्वरूप

रागाद्युग्ररुजाकलाप कलितं सन्देह लोलायितं ।
विक्षिप्तं सकलेन्द्रियार्थ गहने कृत्वा मनो निश्चलम् ॥
संसार व्यसन प्रबन्ध विलयं मुक्तेर्विनोदा स्पदं ।
धर्मध्यान मिदं विदन्तु निपुणा अत्यक्ष सौख्यार्थिनः ॥१०६१॥

अतीन्द्रिय सुख के चाहने वाले निपुण मुनि प्रथम ही रागादिक तीव्र रोगों के समूह से व्याप्त, अनेक सदेहों से चलायमान अर्थात् जब तक निर्णय न हो तब तक

स्थिर न रहने वाले और समस्त इन्द्रियो के विषय रूप गहन वन मे विक्षिप्त अर्थात् भूले हुए मन को निश्चल करते है, संसार के कष्ट आपत्ति आदि व्यसनो के प्रवन्ध से रहित और मुक्ति के क्रीडा करने का स्थान ऐसे इस ध्यान को धर्म ध्यान कहते हैं।

भावार्थ :—मन को निश्चल करके धर्म ध्यान होता है; इसमे सासारिक व्यापार के प्रवर्त्तन का सर्वथा अभाव है।

आत्मार्थं श्रय मुञ्च मोह गहनं मित्र विवेकं कुरु,
वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनोः।
धर्मध्यान सुधा समुद्र कुहरे कृत्वावगाहं परं,
पश्यानन्त सुख स्वभाव कलितं मुक्त मुंखाम्भोरुहम् ॥१०६२॥

हे आत्मन्, तू आत्मा के प्रयोजन का आश्रय कर अर्थात् और प्रयोजनों को छोड़कर केवल आत्मा के प्रयोजन का ही आश्रय कर तथा मोह रूपी वन को छोड, विवेक अर्थात् भेद ज्ञान को मित्र वना, ससार देह के भोगो से वैराग्य का सेवन कर, और परमार्थ से जो शरीर और आत्मा मे भेद है, उसका निश्चय से चिन्तवन कर, और धर्म ध्यान रूपी अमृत के समुद्र के कुहर (मध्य) मे परम अवगाहन (स्नान) करके अनन्त सुख स्वभाव सहित मुक्ति के मुख कमल को देख।

शुक्ल ध्यान का निरूपण—

अथ धर्म मतिक्रान्तः शुद्धिं चात्यन्तिकी श्रितः।
ध्यातु मारभते वीरः शुल्क मत्यन्त निर्मलम् ॥१०६३॥

इस धर्म ध्यान के अनन्तर धर्म ध्यान से अतिक्रान्त होकर अर्थात् निकल कर, अत्यन्त शुद्धता को प्राप्त हुआ, वीर वीर मुनि अत्यन्त निर्मल शुक्ल ध्यान के ध्यावने का प्रारम्भ करता है।

शुक्ल ध्यान का लक्षण—

निष्क्रियं करणातीतं ध्यान धारण वर्जितम्।
अन्तर्मुखं च यच्चितं तच्छुक्लमिति पठयते ॥१०६४॥

जो निष्क्रिय अर्थात् क्रिया रहित है, इन्द्रियातीत है, और ध्यान की धारणा से रहित है अर्थात् "मै इसका ध्यान करू" ऐसी इच्छा से रहित है, और जिसमे चित्त अन्तर्मुख अर्थात अपने स्वरूप के ही सन्मुख है, उसको शुक्ल ध्यान कहते है।

शुक्ल ध्यान करने योग्य कौन ?

आदि संहननोपेतः पूर्वज्ञः पुण्यचेष्टितः ।
चतुर्विधमपि ध्यानं स शुक्लं ध्यातुमर्हति ॥१०६५॥

जिसके प्रथम--वज्रवृषभनाराच संहनन है; जो पूर्व अर्थात् ग्यारह अंग चौदह पूर्व का जानने वाला है, और जिसकी पुण्यरूप चेष्टा हो अर्थात् शुद्ध चारित्र हो, वही मुनि चारो प्रकार के शुक्लध्यानों को धारण करने योग्य होता है ।

शुचिगुण योगाच्छुल्कं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा ।
वैडूर्यमणिशिखामिव सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च ॥१०६६॥

आत्मा के शुचि गुण के सम्बन्ध से इसका नाम शुक्ल पड़ा है; कषाय रूपी रज के क्षय होने से अथवा उपशम होने से जो आत्मा के निर्मल परिणाम होते है, वही शुचि गुण का योग है, और वह शुक्ल ध्यान वैडूर्यमणि की शिखा के समान निर्मल और निष्कंप अर्थात् कपता से रहित है ।

कषायमल विश्लेषात्प्रशमाद्वा प्रसूयते ।
यतः पुंसाभतस्तज्ज्ञैः शुक्ल मुक्तं निरुक्तिकम् ॥१०६७॥

पुरुषो के कषाय रूपी मल के क्षय होने से अथवा उपशम होने से यह शुक्ल ध्यान होता है, इसलिए उस ध्यान के जानने वाले आचार्यो ने इसका नाम शुक्ल, ऐसा निरुक्ति पूर्वक अर्थात् सार्थक कहा है ।

छद्मस्थ योगिनामाद्ये द्वे तु शुक्ले प्रकीर्त्तिते ।
द्वे त्वन्त्ये क्षीण दोषाणां केवलज्ञान चक्षुषाम् ॥१०६८॥

शुक्ल ध्यान के पृथकत्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति, व्युपरत क्रिया निवृत्ति ऐसे चार भेद है, उनमे से पहले के दो अर्थात् पृथकत्व वितर्क और एकत्ववितर्क तो छद्मस्थ योगी अर्थात् बारहवे गुणस्थान पयन्त अल्प ज्ञानियो के होते हैं और अन्त के दो शुक्ल ध्यान सर्वथा रागादि दोषो से रहित ऐसे केवल ज्ञानियो के होते है ।

श्रुतज्ञानार्थ सम्बन्धाच्छ्रुतालम्बनं पूर्वके ।
पूर्वपरे जिनेन्द्रस्य निःशेषालम्बनच्युते ॥१०६९॥

प्रथम के दो शुक्ल ध्यान जो कि छद्मस्थो के होते हैं, वे श्रुतज्ञान के अर्थ के सम्बन्ध से श्रुत ज्ञान के आलवनपूर्वक है अर्थात् उनमे श्रुतज्ञान पूर्वक पदार्थ का

आलंबन होता है; और अन्त के दो शुक्लध्यान, जो कि जिनेन्द्रदेव के होते है, वे समस्त आलंबन रहित होते हैं।

सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं च कीर्तितम्।
शुक्ल माद्यं द्वितीयं तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥१०७०॥

आदि के दो शुक्ल ध्यानों मे पहला शुक्ल ध्यान वितर्क, विचार और पृथक्त्व सहित है, इसलिए इसका नाम पृथक्त्व वितर्क विचार है और दूसरा इससे विपर्यस्त है, सो ही कहते है।

सवितर्कमविचार मेकत्व पदलाञ्छितम्।
कीर्तितं मुनिभिः शुल्कं द्वितीयमति निर्मलम् ॥१०७१॥

दूसरा शुक्लध्यान वितर्क सहित है, परन्तु विचार रहित है, और एकत्व पद से लाञ्छित अर्थात् सहित है; इसलिये इसका नाम मुनियों ने एकत्व वितर्क विचार कहा है; यह ध्यान अत्यन्त निर्मल है।

सूक्ष्म क्रिया प्रतीपाति तृतीयं सार्थनामकम्।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानं तुर्यमार्यैर्निवेदितम् ॥१०७२॥

तीसरे शुक्लध्यान का सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति ऐसा सार्थक नाम है; इसमे उपयोग की क्रिया नही है, परन्तु काय की क्रिया विद्यमान है; यह काय की क्रिया घटते-घटते जब सूक्ष्म रह जाती है, तब यह तीसरा शुक्ल ध्यान होता है, और इससे इसका सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति ऐसा नाम है; और आर्य पुरुषो ने चौथे ध्यान का नाम समुच्छिन्न क्रिया अर्थात व्युपरत क्रिया निवृत्ति ऐसा कहा है, इसमे काय की क्रिया भी मिट जाती है।

तत्र त्रियोगिनामाद्यं द्वितीयं त्वेकयोगिनाम्।
तृतीयं तनुयोगानां स्यात्तुरीयमयोगिनाम् ॥१०७३॥

शुक्ल ध्यान के चारो भेदो मे पहला, जो पृथक्त्व वितर्क विचार है, सो मन, वचन, काय, इन तीन योगो वाले मुनियो के होता है; क्योकि इसमें योग पलटते रहते हैं; दूसरा एकत्व वितर्क विचार किसी एक योग से ही होता है; क्योकि इसमे योग पलटते नही, योगी जिस योग मे लीन है, वही योग रहता है, तीसरा सूक्ष्म क्रिया-प्रतिपाति काय योग वाले के ही होता है; क्योकि केवली भगवान् के केवल काय योग की सूक्ष्म क्रिया ही है, शेष दो योगो की क्रिया नही है; और चौथा समुछिन्न

क्रिया आयोग केवली के होती है, क्योकि अयोग केवली के योगों की क्रिया का सर्वथा अभाव है।

पृथक्त्वेन वितर्कस्य विचारो यत्र विद्यते ।
सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वं तदिष्यते ।।१०७४।।

जिस ध्यान मे पृथक्-पृथक् रूप से वितर्क अर्थात् श्रुत का विचार अर्थात् संक्रमण होता है अर्थात् जिसमे अलग-अलग श्रुतज्ञान बदलता रहता है उसको सवितर्क सविचार सपृथकत्व ध्यान कहते है।

अवीचारो वितर्कस्य यत्रैकत्वेन संस्थितः ।
सवितर्कमवीचारं तदेकत्वं विदुर्बुधाः ।।१०७५।।

जिस ध्यान में वितर्क का विचार (सक्रमण) नही होता और जो एक रूप में स्थित हो उसको पंडितजन सवितर्क अविचार रूप एकत्व ध्यान कहते हैं।

पृथक्त्वं तत्र नानात्वं वितर्कः श्रुतमुच्यते ।
अर्थ व्यञ्जनयोगानां वीचार. संक्रमः स्मृतः ।।१०७६।।

वहा नानात्व अर्थात् अनेक पने को पृथकत्व कहते है, श्रुत ज्ञान को वितर्क कहते हैं और अर्थ, व्यञ्जन और योगों के सक्रमण का नाम विचार कहा गया है।

अर्थादर्थान्तरापत्तिरर्थ संक्रान्ति रिष्यते ।
ज्ञेया व्यञ्जनसंक्रान्तिर्व्यञ्जनाव्यञ्जने स्थितिः ।।१०७७।।
स्यादियं योग संक्रांतिर्योगाद्योगान्तरै गतिः ।
विशुद्ध ध्यान सामर्थ्यात्क्षीण मोहस्य योगिनः ।।१०७८।।

एक अर्थ (पदार्थ) से दूसरे अर्थ की प्राप्ति होना अर्थसक्रान्ति है, एक व्यञ्जन से दूसरे व्यञ्जन मे प्राप्त हो कर स्थिर होना व्यञ्जनसक्रान्ति है; और एक योग से दूसरे योग गमन करना योग सक्रान्ति है; इस प्रकार विशुद्ध ध्यान के सामर्थ्य से जिसका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है ऐसे योगी के ये होते हैं।

अर्थादर्थं वचः शब्दं योगोद्योगं समाश्रयेत ।
पर्यायादपि पर्यायं द्रव्याणोश्चिन्तयेदणुम् ।।१०७९।।

एक अर्थ से दूसरे अर्थ का चिन्तवन करे; एक शब्द से दूसरे शब्द का और एक योग से दूसरे योग का आश्रय ले; एक पर्याय से दूसरे पर्याय का चिन्तवन करे; और द्रव्य रूप अणु से अणु का चिन्तवन करे; ऐसा अन्य ग्रन्थों में लिखा है।

अर्थादिषु यथा ध्यानी संक्रामत्यविलम्बितम् ।
पुनर्व्यावर्त्तते तेन प्रकारेण स हि स्वयम् ।।१०८०।।

जो ध्यानी अर्थ व्यञ्जन आदि योगो में जैसे शीघ्रता से सक्रमण करता है वह ध्यानी अपने आप पुन. उसी प्रकार लौटता है ।

त्रियोगी पूर्व विद्यः स्यादिदं ध्यायत्यसौ मुनिः ।
सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वमतो मतम् ।।१०८१।।

जिसके तीनो योग होते है और पूर्व का जानने वाला होता है, वही मुनि इस पहले ध्यान को धारण करता है, इसलिये इस ध्यान का नाम सवितर्क सविचार सपृथकत्व कहा है ।

अस्याचिन्त्य प्रभावस्य सामर्थ्यात्स प्रशान्त धीः ।
मोहमुन्मूलयत्येव शमयत्यथवा क्षणे ।।१६८२।।

इस अचिन्त्य प्रभाव वाले ध्यान के सामर्थ्य से जिसका चित्त शान्त हो गया है ऐसा ध्यानी मुनि क्षणभर मे मोहनीय कर्म का मूल से नाश करता है, अथवा उपशम करता है ।

इदमत्र तु तात्पर्यं श्रुतस्कन्धमहार्णवात् ।
अर्थमेकं समादाय ध्यान्नर्थान्तरं व्रजेत् ।।१०८३।।

इस ध्यान मे अर्थादिक के पलटने का तात्पर्य यह है कि श्रुत स्कन्ध अर्थात् द्वादशांग शास्त्र रूप महा समुद्र से एक अर्थ को लेकर उसका ध्यान करता हुआ दूसरे अर्थ को प्राप्त होता है ।

शब्दाच्छब्दान्तरं यायद्योगं योगान्तरादपि ।
सविचार मिदं तस्मात्सवितर्कं च लक्ष्यते ।।१०८४।।

यह ध्यान एक शब्द से दूसरे शब्द पर जाता है और एक योग से दूसरे योग पर जाता है इसलिये इसका नाम सविचार सवितर्क कहते है ।

श्रुतस्कन्धमहासिन्धु मवगाह्य महामुनिः ।
ध्यायेत्पृथक्त्व वितर्क वीचारं ध्यानमग्रिमम् ।।१०८५।।

महामुनि द्वादशाग शास्त्र रूप महा समुद्र का अवगाहन करके, इस पृथकत्व-वितर्क विचार नामक पहले शुक्ल ध्यान को ध्यावे ।

एवं शान्तकषायात्मा कर्मकक्षाशु शुक्षणिः ।
एकत्वध्यानयोग्यः स्यात्पृथक्त्वेन जिताशयः ॥१०८६॥

इस प्रकार पृथकत्व ध्यान से जिसने अपना चित्त जीत लिया है और जिसके कषाय शान्त हो गए हैं और जो कर्म रूप कक्ष अर्थात् तृण समूह अथवा वन को दग्ध करने के लिए अग्नि के समान है, ऐसा महामुनि एकत्व ध्यान के योग्य होता है ।

पृथक्त्वे तु यदा ध्यानी भवत्यमल मानसः ।
तदकत्वस्य योग्यः स्वादाविर्भूतात्म विक्रमः ॥१०८७॥

जिस समय इस ध्यानी का चित्त पृथकत्व ध्यान के द्वारा कषाय मल से रहित होता है, तब इस ध्यानी का पराक्रम प्रकट होता है और तभी यह एकत्व ध्यान के योग्य होता है । **भावार्थ**–एकत्व ध्यान, पृथकत्व ध्यान पूर्वक ही होता है ।

ज्ञेयं प्रक्षीण मोहस्य पूर्वज्ञस्यामितद्युतेः ।
सवितर्कमिदं ध्यान मेकत्व मति निश्छलम् ॥१०८८॥

जिसका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है और जो पूर्व का जानने वाला है और जिसकी दीप्ति अपरिमत है, उस मुनि के अत्यन्त निश्छल ऐसा यह सवितर्क एकत्व ध्यान होता है ।

अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कं च योगिनः ।
एकत्वमेक योगस्य जायतेऽत्यन्त निर्मलम् ॥१०८९॥

किसी एक योग वाले मुनि के पृथकत्व रहित, विचार रहित और वितर्क सहित ऐसा यह एकत्व ध्यान अत्यन्त निर्मल होता है ।

द्रव्यं चैकमणुं चैकं पर्यायं चैकमश्रमः ।
चिन्तयत्येक योगेन यत्रैकत्वं तदुच्यते ॥१०९०॥

जिस ध्यान मे योगी खेद रहित होकर, एक द्रव्य को, एक अणु को अथवा एक पर्याय को एक योग से चिन्तवन करता है, उसको एकत्व ध्यान कहते है ।

एकं द्रव्यमथाणुं वा पर्यायं चिन्तयेद्यति ।
योगैकेन यदक्षीणं तदेकत्वमुदीरितम् ॥१०९१

यदि यति समर्थ होता हुआ एक योग से एक द्रव्य, एक अणु अथवा एक पर्याय का चिन्तवन करे उसे एकत्व ध्यान कहते है ।

अस्मिन् सुनिर्मल ध्यान हुताशे प्रविजृम्भिते ।
विलीयन्ते क्षणादेव घातिकर्माणि योगिनः ॥१०९२॥

योगी पुरुषों के अतिशय निर्मल एकत्ववितर्क अविचार नामक द्वितीय ध्यान रूपी अग्नि के प्रकट होते हुए घातिया कर्म क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं।

दृग्बोधरोधक द्वन्द्वं मोहविघ्नस्य वा परम् ।
स क्षिणोति क्षणादेव शुक्लधूमध्वजार्चिषा ॥१०९३॥

ध्यानी मुनि इस दूसरे शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि की ज्वाला से दर्शन और ज्ञान के आवरण करने वाले दर्शनावरण, ज्ञानावरण कर्म को, मोहनीय कर्म को और अन्तराय कर्म को क्षणमात्र में ही नष्ट कर देता है।

भावार्थ—इस एकत्व शुक्ल ध्यान से घाति कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार पृथक्त्ववितर्क विचार और एकत्व वितर्क अविचार इन आदि के दोनों शुक्ल ध्यानों का निरूपण किया। इनका संक्षिप्त भावार्थ यह है कि पहले ध्यान में द्रव्य पर्यायरूप अर्थ से अर्थान्तर का संक्रमण करता है तथा उस अर्थ की सज्ञा रूप शास्त्र के वचन से वचनान्तर (दूसरे वचन) का संक्रमण करता है और तीनो योगो में से एक योग से दूसरा, दूसरे से तीसरा योगान्तर—इस तरह संक्रमण करता है; पलटते-पलटते ठहरता भी है, परन्तु उसी ध्यान की सन्तान चली जाती है, इसलिये उस ध्यान से मोहनीय कर्म का क्षय अथवा उपशम होता जाता है और दूसरे ध्यान में संक्रमण होना बन्द हो जाता है। तब शेष रहे हुए घातिया कर्मो का जड़ से नाश करके, केवल ज्ञान को प्राप्त होता है।

आत्मलाभमथासाद्य शुद्धि चात्यन्तिकीं पराम् ।
प्राप्नोति केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनम् ॥१०९४॥

एकत्व वितर्क अविचार ध्यान से घातिकर्म का नाश करके, अपने आत्म-लाभ को प्राप्त होता है और अत्यन्त उत्कृष्ट शुद्धता को पाकर केवलज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त करता है।

अलब्ध पूर्व मासाद्य तदासौ ज्ञानदर्शने ।
वेत्ति पश्यत्ति निःशेषं लोकालोकं यथास्थितम् ॥१०९५॥

वे ज्ञान और दर्शन दोनों अलब्धपूर्व हैं अर्थात् पहले कभी प्राप्त नहीं हुए थे

तो उनको पाकर, उसी समय वे केवली भगवान् समस्त लोक और अलोक को यथावत् देखते और जानते हैं।

तदा स भगवान् देवः सर्वज्ञः सर्वदोदितः।
अनन्त सुख वीर्यादिभूतेः स्यादग्रिमं पदम् ॥१०९६॥

जिस समय केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, उस समय वे भगवान् सर्वकाल में उदयरूप सर्वज्ञ देव होते हैं और अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि विभूति के प्रथम स्थान होते हैं, वह भावमुक्त का स्वरूप है।

इन्द्रचन्द्रार्क भोगीन्द्रनरामर नतक्रमः।
विहरत्यवनी पृष्ठं स शीलैश्वर्य लाञ्छितः ॥१०९७॥

इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, धरणेन्द्र, मनुष्य और देवों से नमस्कृत हुए है चरण जिनके, ऐसे केवली भगवान् शील अर्थात् चौरासी लाख उत्तर गुण और ऐश्वर्य सहित पृथ्वीतल में विहार करते हैं।

उन्मूलयति मिथ्यात्वं द्रव्यभावमलं विभुः।
बोधयत्यपि निःशेषं भव्यराजीव मण्डलम् ॥१०९८॥

वे विभु सर्वज्ञ भगवान् पृथ्वीतल में विहार करके जीवों के द्रव्य मल और भाव मल रूप मिथ्यात्व का जड़ से नाश करते हैं और समस्त भव्य जीव रूपी कमलों की मण्डली (समूह) को प्रफुल्लित करते हैं।

भावार्थ—जीवों के मिथ्यात्व को दूर करके उनको मोक्षमार्ग में लगाते है।

ज्ञान लक्ष्मीं तपो लक्ष्मीं त्रिदशयोजिताम्।
आत्यन्तिकीं च सम्प्राप्य धर्म चक्राधिपो भवेत् ॥१०९९॥

इस शुक्ल ध्यान के प्रभाव से ज्ञानलक्ष्मी, तपोलक्ष्मी और देवों की समवशरण लक्ष्मी तथा मोक्ष लक्ष्मी को पाकर, धर्मचक्र के चक्रवर्ती होते है।

कल्याणविभवं श्रीमान् सर्वाभ्युदयसूचकम्।
समासाद्य जगद्वन्द्यं त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत् ॥११००॥

अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मी सहित केवली भगवान् जगत् से वन्दनीय और सब अभ्युदयों का सूचक ऐसे कल्याणरूप विभव (सम्पदा) को पाकर, तीनों लोकों के अधिपति होते हैं।

तन्नामग्रहणादेव निःशेषा जन्मजा रुजः ।
अप्यनादि समुद्भूता भव्यानां यान्ति लाघवम् ॥११०१॥

जिन भगवान् के नाम लेने से ही भव्य जीवो के अनादि काल से उत्पन्न हुए जन्म-मरण-जन्य समस्त रोग लघु (हल्के) हो जाते है ।

तदार्हत्त्वं परिप्राप्य स देवः सर्वगः शिवः ।
जायतेऽखिल कर्मौघ जरामरण वर्जितः ॥११०२॥

तब वे सर्वगत और शिव ऐसे भगवान् अरहन्तपने को पाकर, सम्पूर्ण कर्मो के समूह और जरा-मरण से रहित हो जाते है ।

भावार्थ—अरहन्तपना पाकर सिद्ध परमेष्ठी होते है ।

तस्यैव परमैश्वर्यं चरण ज्ञानवैभवम् ।
ज्ञातुं वक्तुमहं मन्ये योगिनामप्य गोचरम् ॥११०३॥

आचार्य कहते है कि मै ऐसा मानता हू कि उन सर्वज्ञ भगवान् का परम ऐश्वर्य, चारित्र और ज्ञान के विभव का जानना और कहना बडे-बडे योगियो को भी अगोचर है ।

मोहेन सह दुर्द्धर्षे हते घाति चतुष्टये ।
देवस्य व्यक्ति रूपेण शेषमास्ते चतुष्टयम् ॥११०४॥

केवली भगवान् के जब मोहनीय कर्म के साथ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय—इन चार दुर्धर्ष घातिया कर्मो का नाश हो जाता है, तब अवशेष चार अघाति कर्म व्यक्तिरूप से रहते है ।

सर्वज्ञः क्षीणकर्मासौ केवलज्ञान भास्करः ।
अन्तर्मुहूर्त्त शेषायुस्तृतीयं ध्यानमर्हति ॥११०५॥

कर्मो से रहित और केवलज्ञान रूपी सूर्य से पदार्थो को प्रकाशित करने वाले ऐसे वे सर्वज्ञ जब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु बाकी रह जाती है, तब तीसरे सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति शुक्लध्यान के योग्य होते हैं ।

षण्मासायुषि शेषे संवृत्ता ये जिनाः प्रकर्षेण ।
ते यान्ति समुद्घातं शेषा भाज्याः समुद्घाते ॥११०६॥

जो जिनदेव उत्कृष्ट छः महीने की आयु अवशेष रहते हुए केवली हुए है, वे

अवश्य ही समुद्घात करते हैं और शेष अर्थात् जो छः महीने अधिक आयु रहते हुए केवली हुए है, वे समुद्घात मे विकल्प रूप हैं।

भावार्थ—उनका कोई नियम नही है, समुद्घात करे और न भी करे।

यदायुरधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः।
समुद्घातविधि साक्षात्प्रागे वारमते तदा ।।११०७।।

जब अरहन्त परमेष्ठी के आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त अवशेष रह जाता है और अन्य तीनों कर्मो की स्थिति अधिक होती है, तब समुद्घात की विधि साक्षात् प्रथम ही प्रारम्भ करते हैं।

अनन्तवीर्य प्रथितप्रभावो दण्डं कपाटं प्रतरं विधाय।
स लोकमेनं समयैश्चतुर्भिर्निशेषमापूरयति क्रमेण ।।११०८।।

अनन्त वीर्य के द्वारा जिनका प्रभाव फैला हुआ है, ऐसे वे केवली भगवान् क्रम से दण्ड, कपाट, प्रतर—इन तीन क्रियाओ को तीन समय मे करके चौथे समय मे इन समस्त लोको को पूरण करते हैं।

भावार्थ—आत्मा के प्रदेश पहले समय मे दण्डरूप लम्बे, द्वितीय समय में कपाट रूप चौडे, तीसरे समय मे प्रतर रूप मोटे होते हैं और चौथे समय मे प्रदेश समस्त लोक मे भर जाते हैं, इसी को लोक पूरण कहते है। ये सब क्रियाएँ चार समय मे होती है।

तदा स सर्वगः सार्वः सर्वज्ञ सर्वतोमुखः।
विश्वव्यापी विभुर्भर्त्ता विश्वमूर्त्ति महेश्वरः ।।११०९।।

केवली भगवान् जिस समय लोक पूर्ण होते है, उस समय उनके सर्वगत, सार्व, सर्वज्ञ, सर्वतोमुख, विश्वव्यापी, विभु, भर्ता, विश्वमूर्ति और महेश्वर—ये नाम यथार्थ (सार्थक) होते है।

लोकपूरणमासाद्य करोति ध्यानवीर्यतः ।
आयुः समानि कर्माणि भुक्तिमानीय तत्क्षणे ।।१११०।।

केवली भगवान् लोक पूरण प्रदेशो को पाकर, ध्यान के बल से वेदनीय, नाम और गोत्र—इन तीनों अघातिया कर्मो की स्थिति घटाकर अर्थात् भोग मे लाकर, आयुकर्म के समान स्थिति करते हैं।

भावार्थ—यदि वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मो की स्थिति आयु कर्म से

अधिक हो तो लोक पूरण अवस्था मे उनकी स्थिति आयु कर्म की स्थिति के समान कर लेते हैं।

ततः क्रमेण तेनैव स पश्चाद्विनिवर्त्तते ।
लोक पूरणतः श्रीमान् चतुर्भिः समयैः पुनः ॥१११ १॥

श्रीमान् केवली भगवान् पुनः लोक पूरण प्रदेशों से उसी क्रम से चार समयो में लौटकर स्वस्थ होते है।

भावार्थ—लोक पूरण से प्रतर, कपाट, दण्डरूप होकर, चौथे समय मे शरीर के समान आत्म प्रदेशो को करते है।

काय योगे स्थितिं कृत्वा बादरेऽचिन्त्यचेष्टितः ।
सूक्ष्मी करोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरम् ॥१११२॥

जिनकी चेष्टा अचिन्त्य है, ऐसे केवली भगवान् उस समय बादर काय योग में स्थिति करके, बादर वचनयोग और बादर मनोयोग को सूक्ष्म करते है।

काय योगे ततस्त्यक्त्वा स्थितिमासाद्य तद्वये ।
स सूक्ष्मी कुरुते पश्चात् काय योगं च बादरम् ॥१११३॥

पुनः वे भगवान् काययोग को छोड़कर, वचनयोग और मनोयोग मे स्थिति करके, बादर काययोग को सूक्ष्म करते है।

काय योगे ततः सूक्ष्मे स्थितिं कृत्वा पुनः क्षणात् ।
योग द्वयं निगृह्णाति सद्यो वाक्चित्तसंज्ञकम् ॥१११४॥

तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोग में स्थिति करके, क्षणमात्र में उसी समय वचन-योग और मनोयोग दोनो का निग्रह करते हैं।

सूक्ष्म क्रियं ततो ध्यानं स साक्षात् ध्यातुमर्हति ।
सूक्ष्मैककाय योगस्थ स्तृतीयं यद्धि पठ्यते ॥१११५॥

तब यह सूक्ष्मक्रिया ध्यान को साक्षात् ध्यान करने योग्य होता है, और वह वहा पर सूक्ष्म एक काययोग मे स्थित हुआ उसका ध्यान करता है। यही तृतीय सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति ध्यान है।

द्वासप्तति विलीयन्ते कर्म प्रकृतयो द्रुतम् ।
उपान्त्ये देवदेवस्य मुक्ति श्री प्रतिबन्धकाः ॥१११६॥

तदनन्तर अयोग गुणस्थान के उपान्त्य अर्थात् अन्त समय के पहले समय मे

देवाधिदेव के मुक्तिरूपी लक्ष्मी की प्रतिबन्धक कर्मो की बहत्तर प्रकृति शीघ्र ही नष्ट होती है ।

तस्मिन्नेव क्षणे साक्षादाविर्भवति निर्मलम् ।
समुच्छिन्न क्रियं ध्यानमयोगि परमेष्ठिनः ।।१११७।।

भगवान् अयोगी परमेष्ठी के उसी अयोग गुणस्थान के उपान्त्य समय में साक्षात् निर्मल ऐसा समुच्छिन्नक्रिया नामक चौथा शुक्लध्यान प्रकट होता है ।

विलयं वीतरागस्य पुनर्यान्ति त्रयोदश ।
चरमे समये सद्यः पर्यन्ते या व्यवस्थिताः ।।१११८।।

तत्पश्चात् वीतराग अयोगी केवली के अयोग गुणस्थान के अन्त समय में शेष रही हुई तेरह कर्म प्रकृति जो कि अब तक लगी हुई थी, तत्काल ही विलय हो जाती है ।

तदासौ निर्मलः शान्तो निष्कलङ्को निरामयः ।
जन्मजाने कदुर्वारबन्धव्यसन विच्युतः ।।१११९।।
सिद्धात्मा सुप्रसिद्धात्मा निष्पन्नात्मा निरञ्जनः ।
निष्क्रियो निष्कलः शुद्धो निर्विकल्पोऽति निर्मलः ।।११२०।।
आविर्भूतयथाख्यात चरणोऽनन्त वीर्यवान् ।
परां शुद्धिं परिप्राप्तो दृष्टेर्बोधस्य चात्मनः ।।११२१।।
अयोगी व्यक्त योगत्वात्केवलोत्पाद निर्वृत्तः ।
साधितात्मस्वभावश्च परमेष्ठी परं प्रभुः ।।११२२।।
लघुपञ्चाक्षरोच्चारकालं स्थित्वा ततः परम् ।
स स्वभावाद्व्रजत्यूर्ध्वं शुद्धात्मा वीतबन्धनः ।।११२३।।

उस अयोग केवली चौदहवे गुणस्थान में केवली भगवान् निर्मल, शान्त, निष्कलङ्क, निरामय और जन्म-मरण रूप ससार के अनेक दुर्निवार बन्ध के कष्टो से रहित है; इनका आत्मा सिद्ध, सुप्रसिद्ध और निष्पन्न है, तथा ये कर्म-मल रहित निरञ्जन हैं, क्रिया रहित है, शरीर रहित हैं, शुद्ध है, निर्विकल्प है और अत्यन्त निर्मल है, इनके यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है अर्थात् चारित्र की पूर्णता हुई है; और अनन्त वीर्य सहित है अर्थात् अब अपने स्वरूप से कभी च्युत नही होते; और आत्मा के दर्शन ज्ञान की उत्कृष्ट शुद्धता को प्राप्त हुए है, तथा ये मन-वचन-काय के

योगों से रहित है इसलिये अयोगी है, अत्यन्त निर्वृत्त है इसलिये केवल है; इन्होंने अपना आत्मा सिद्ध कर लिया है, इसलिए साधितात्मा है, तथा स्वभाव स्वरूप है, परमेष्ठी है और उत्कृष्ट प्रभु है; उस चौदहवे गुणस्थान मे इतने समय तक ठरहते है कि जितने समय में लघु पांच अक्षर का उच्चारण हो और फिर कर्म बन्धन से रहित वे शुद्धात्मा स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करते हैं।

(ज्ञानार्णव, आ० शुभचन्द्रस्वामी)

❋ सिद्ध भगवान ❋

अवरोध विनिर्मुक्तं लोकाग्रं समये प्रभुः।
धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वगमनं नानुमीयते ॥११२४॥

पश्चात् वे भगवान् उर्ध्व गमन कर एक समय मे ही कर्म के अवरोध रहित लोक के अग्रभाग विषे विराजमान होते है। लोकाग्र भाग से आगे धर्मस्तिकाय का अभाव है, इसलिये इनका आगे गमन नही होता, यही अनुमान द्वारा दिखलाते है।

धर्मो गतिस्वभावोऽयमधर्मः स्थिति लक्षणः।
तयोर्योगात्पदार्थानां गतिस्थिती उदाहृते ॥११२५॥

जो गति स्वभाव है अर्थात् गमन करने मे हेतु है, सो धर्मास्तिकाय है और जो स्थिति लक्षण रूप है अर्थात् पदार्थो की स्थिति मे कारण है, सो अधर्मास्तिकाय है; इन दोनों के निमित्त से पदार्थो की गति और स्थिति कही गई है।

तौ लोकगमनान्तस्थौ ततो लोके गतिस्थिती।
अर्थानां न तु लोकान्त मतिक्रम्यं प्रवर्त्तते ॥११२६॥

वे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक के गमन पर्यन्त स्थित है, इसलिये पदार्थो की गति और स्थिति लोक में ही होती है; लोक का उल्लघन करके नहीं होती, इसलिये भगवान् लोकाग्रभाग तक ही गमन करते हैं।

स्थिति मसाद्य सिद्धात्मा तत्र लोकाग्र मन्दिरे।
आस्ते स्वभाव जानन्त गुणैश्वर्योपलक्षितः ॥११२७॥

सिद्धात्मा उस लोकाग्रमन्दिर में स्थिति पाकर, स्वभाव से उत्पन्न हुए अनन्त गुण और ऐश्वर्य सहित विराजमान रहते है।

आत्यन्तिकं निराबाध मत्यक्षं स्व स्वभावजम्।
यत्सुखं देव देवस्य तद्वक्तुं केन पार्यते ॥११२८॥

सिद्धात्मा देवाधि देव का जो अत्यन्त, बाधा रहित, अतीन्द्रिय और अपने स्वभाव से ही उत्पन्न सुख है, उसका वर्णन कौन कर सकता है ?

तथाप्युद्देशतः किञ्चन् ब्रीवोमि सुख लक्षणम् ।
निष्ठितार्थस्य सिद्धस्य सर्वद्वन्द्वाति वर्त्तिनः ॥११२९॥

आचार्य कहते है कि जिनके समस्त प्रयोजन सम्पन्न हो चुके हैं और सुख के घातक ऐसे समस्त द्वन्द्वो से जो रहित है ऐसे सिद्ध भगवान के सुख को यद्यपि कोई नही कह सकता तथापि मैं नाममात्र से किञ्चित कहता हूँ ।

ये देवमनुजाः सर्वे सौख्यमाक्षार्थ सम्भवम् ।
निर्विशन्ति निराबाधं सर्वाक्षप्रीण नक्षमम् ॥११३०॥
सर्वेणातीत कालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकम् ।
भाविनो यच्च भोक्ष्यन्ति स्वादिष्ठं स्वान्तरञ्जकम् ॥११३१॥
अनन्तगुणितं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम् ।
एकस्मिन् समये भुङ्क्ते तत्सुखं परमेश्वरः ॥११३२॥

जो समस्त देव और मनुष्य इन्द्रियो के विषयो से उत्पन्न और इन्द्रियो के तृप्त करने मे समर्थ ऐसे निराबाध सुख को वर्तमान काल मे भोगते है तथा सबने अतीत काल मे जो सुख भोगे है और जो सुख महाऋद्धियो से उत्पन्न हुए है तथा स्वादिष्ट और मन को प्रसन्न करने वाले जो सुख आगामी काल मे भोगे जायेगे उन समस्त सुखो से अनन्त गुणे अतीन्द्रिय और अपनेस्वभाव से उत्पन्न होने वाले सुख को श्री सिद्ध भगवान् परमेश्वर एक ही समय मे भोगते है ।

त्रिकाल विषया शेष द्रव्य पर्याय सङ्कुलम् ।
जगत्स्फुरति बोधार्के युगपद्योगिनां पतेः ॥११३३॥

योगीश्वरो के पति श्री सिद्ध भगवान के ज्ञान रूपी सूर्य मे भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनो काल सम्बन्धी समस्त द्रव्य पर्यायो से व्याप्त है जो यह जगत् है सो एक ही समय मे स्पष्ट प्रत्यक्ष प्रतिभासित होता है ।

भावार्थ—इन्द्रिय ज्ञान तुच्छ है; उससे उत्पन्न हुआ सुख कितना हो सकता है, सिद्ध भगवान के एक ही समय मे समस्त पदार्थो का ज्ञान होता है; इसलिये उनके सुख की क्या महिमा ? सुख का कारण ज्ञान है; जहाँ पूर्ण ज्ञान है, वहाँ पूर्ण सुख भी है ।

सर्वतोऽन्तमाकाश लोकेतर विकल्पितम् ।
तस्मिन्नपि घनीभूय यस्य ज्ञानं व्यवस्थितम् ॥११३४॥

यह आकाश सर्वतः अनन्त है और उसके लोक और अलोक ऐसे दो भेद है; उस समस्त आकाश में सिद्ध परमेष्ठी का ज्ञान घनीभूत हो कर भरा हुआ है ।

निद्रा तन्द्रा भय भ्रान्ति राग द्वेषार्त्ति संशयैः ।
शोक मोह जरा जन्म मरणाद्यैश्च विच्युतः ॥११३५॥

श्री सिद्ध भगवान् निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष पीडा और संशय से रहित हैं तथा शोक, मोह, जरा, जन्म और मरण इत्यादिक से रहित है ।

क्षुत्तृट् श्रममदोन्माद मूर्च्छा मात्सर्य वर्जितः ।
वृद्धि ह्रास व्यतीतात्मा कल्पनातीत वैभवः ॥११३६॥

और क्षुधा, तृषा, खेद, मद, उन्माद, मूर्च्छा और मत्सर भावो सेरहित है और न इनकी आत्मा मे वृद्धि ह्रास (घटना-बढना) है और इनका विभव कल्पनातीत है ।

निष्कलः करणातीतो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।
अनन्त वीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दितः ॥११३७॥

सिद्ध भगवान् शरीर रहित है, इन्द्रिय रहित है, मन के विकल्पो से रहित है, निरञ्जन है अर्थात् जिनके नये कर्मो का बंध नही है; अनन्त वीर्यता तो प्राप्त हुए है अर्थात् अपने स्वभाव से कभी च्युत नही होते और नित्य आनन्द से आनन्दरूप है अर्थात् जिनके सुख का कभी विच्छेद नही होता ।

परमेष्ठी परं ज्योतिः परिपूर्णः सनातनः ।
संसारसागरोत्तीर्णः कृत कृत्योऽचल स्थितिः ॥११३८॥

तथा परमेष्ठी (परम पद मे विराजमान), पर ज्योति (ज्ञान प्रकाश रूप) परिपूर्ण सनातन (नित्य), संसार रूपी समुद्र से उत्तीर्ण अर्थात् ससार सम्बन्धी चेष्टाओं से रहित, कृत कृत्य (जिनको करना कुछ शेष नही है), अचलस्थिति (प्रदेशों की क्रियाओ से रहित) ऐसे सिद्ध भगवान् है ।

संतृप्तः सर्वदैवास्ते देवस्त्रैलोक्यमूर्द्धनि ।
नोपमेयं सुखादीनां विद्यते परमेष्ठिनः ॥११३९॥

पुन. सिद्ध भगवान् सतृप्त है, तृष्णा रहित है, तीन लोक के शिखर पर सदा विराजमान है अर्थात् गमन रहित है, इस संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नही है,

जिसकी उपमा परमेष्ठी के सुख को दी जाय; अर्थात् उनका सुख निरुपमेय है।

चरस्थिरार्थं सम्पूर्णे मृगमाणं जगत्रये।

उपमानोपमेयत्व मन्ये स्वस्यैव स स्वयम् ॥११४०॥

आचार्य कहते है कि यदि चर और स्थिर पदार्थो से भरे हुए इन तीनो जगतों में उपमेय और उपमान ढूंढा जाय तो मै ऐसा मानता हूं कि वे स्वय ही उपमान उपमेय रूप है। **भावार्थ**–सिद्ध भगवान् का उपमान सिद्ध ही है और किसी के साथ उसकी उपमा नही दी जा सकती।

यतोऽनन्त गुणानां स्यादनन्तां शोपि कस्यचित्।

ततो न शक्यते कर्तु तेन साम्यं जगत्रये ॥११४१॥

क्योकि तीनो जगत मे उन सिद्ध परमेष्ठी के अनन्त गुणों का अनन्तवां अश भी किसी पदार्थ मे नही है, इसलिये उनकी समानता किसी के साथ नही कर सकते। **भावार्थ**–इसलिये उनका उपमान उपमेय भाव अपना अपने ही साथ है।

शक्यते न यथा ज्ञातुं पर्यन्तं व्योम कालयोः।

तथा स्वभाव जातानां गुणानां परमेष्ठिनः ॥११४२॥

जैसे कोई आकाश और काल का अन्त नही जान सकता, उसी तरह स्वभाव से उत्पन्न हुए परमेष्ठी के गुणों का अन्त भी कोई नही जान सकता।

गगनघन पतङ्गाहीन्द्र चन्द्रा चलेन्द्र,

क्षिति दहन समीराम्भोधिकल्पद्रुमाणाम्।

निचयमपि समस्तं निन्त्यमानं गुणानां,

परम् गुरुगुणौघैर्नोपमानत्वमेति ॥११४३॥

आकाश, मेघ, सूर्य, सर्पो का इन्द्र, चन्द्रमा, मेरु, पृथ्वी, अग्नि, वायु, समुद्र और कल्पवृक्षो के गुणो का समस्त समूह भी चिन्तवन किया जाय तो भी उनकी उपमा परम गुरु श्री सिद्ध परमेष्ठी के साथ नही हो सकती। **भावार्थ**–ससार मे उत्तमोत्तम पदार्थों के गुण विचार करने से भी ऐसा कोई पदार्थ नही दिखता जिसके गुणो की उपमा सिद्ध परमेष्ठी के गुणो के साथ दी जाय।

नासत्पूर्वाश्च पूर्वा नो निर्विशेष विकारजाः।

स्वाभाविक विशेषा ह्यभूत पूर्वाश्च तद्गुणाः ॥११४४॥

सिद्ध परमेष्ठी के गुण पूर्व में नही थे, ऐसे नही है अर्थात् पूर्व में भी शक्ति

रूप से विद्यमान ही थे, क्योंकि असत् का प्रादुर्भाव नही होता यह नियम है; यदि असत् का भी प्रादुर्भाव माना जाय तो शशश्रृग का भी प्रादुर्भाव होना चाहिये, किंतु होता नही है; यही इस नियम में प्रमाण है और पूर्व मे व्यक्त नही थे तथा विशेष विकार से उत्पन्न नही, किन्तु स्वभाविक हैं (इस प्रकार पूर्वार्द्ध द्वारा निषेध मुख कथन करके, इस विषय को पुनः उत्तरार्द्ध द्वारा विधि मुख वाक्य से कहते है) कि सिद्ध परमेष्ठि के गुण स्वाभाविक विशेष अर्थात् पूर्व मे भी शक्ति की अपेक्षा स्वभाव में ही विद्यमान और अभूतपूर्व अर्थात् पूर्व मे व्यक्त नही हुए ऐसे है। **भावार्थ**–आत्मा के जो स्वाभाविक गुण है, पूर्वावस्था में अव्यक्त रहते है, वे ही सिद्धावस्था मे व्यक्त हो जाते है, और पूर्व में व्यक्त नही थे, इससे 'पूर्व में थे' ऐसा भी नही कह सकते, और स्वाभाविक होने के कारण उनको विकारज भी नही सकते, किंतु वे शक्ति (गुण) की अपेक्षा स्वाभाविक और व्यक्ति की अपेक्षा अभूतपूर्व ही कहे जाते है।

वाक्पथातीत महात्म्य मनन्त ज्ञान वैभवम्।
सिद्धात्मनां गुणग्रामं सर्वज्ञ ज्ञान गोचरम् ।।११४५।।

जिसका महात्म्य वचनों से कहने योग्य नही है और जिसके अनन्त ज्ञान का विभव है, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी के गुणो का समूह सर्वज्ञ के ज्ञान के गोचर है।

स स्वयं यदि सर्वज्ञः सम्यग्ब्रूते समाहितः।
तथाप्येति न पर्यन्तं गुणानां परमेष्ठिनः ।।११४६।।

सर्वज्ञदेव परमेष्ठी के गुणों को जानते है, परन्तु यदि वे उन गुणो को समाधान सहित अच्छी तरह कहे तो वे भी उनका पार पा नही सकेगे।

भावार्थ—वचन की सख्या अल्प है और गुण अनन्त है, इसलिये वे वचनो से नही कहे जा सकते।

त्रैलोक्य तिलकीभूतं निःशेष विषयच्युतम्।
निर्द्वन्दं नित्यमत्यक्षं स्वादिष्टं स्वस्वभावजम् ।।११४७।।
निरौपम्यमविच्छिन्नं स देवः परमेश्वरः।
तत्रैवास्ते स्थिरीभूतः पिबन् ज्ञान सुखामृतम् ।।११४८।।

श्री सिद्ध परमेष्ठी परमेश्वर देव समस्त त्रैलोक्य का तिलक स्वरूप, समस्त विषयों से रहित, निर्द्वन्द अर्थात् प्रतिपक्षी रहित, अविनाशी, अतीन्द्रिय, स्वादस्वरूप, अपने स्वभाव से ही उत्पन्न, उपमा रहित और विच्छेद रहित ज्ञान और सुख रूपी

अमृत को पीते हुए स्थिरीभूत तीन लोक के शिखर पर विराजमान रहते हैं ।

देवः सोऽनन्तवीर्यो दृगवगम सुखानर्घ्यरत्नावकीर्णः,
श्री मान्त्रैलोक्यमूर्ध्नि प्रतिवसति भवध्वान्तविध्वंस भानुः ।
स्वात्मोत्थानन्त नित्य प्रवर शिव सुधाम्भोधिमग्नः स देवः,
सिद्धात्मा निर्विकल्पोऽप्रतिहत महिमा शश्वदानन्दधामा ।।११४६।।

जिनके अनन्त वीर्य है, अर्थात् प्राप्त स्वभाव से कभी च्युत नही होते, जो दर्शनज्ञान और सुख रूप अमूल्य रत्नो सहित है, जो ससार रूप अन्धकार को दूर कर सूर्य के समान विराजमान है, जो अपने आत्मा से ही उत्पन्न ऐसे अनन्त नित्य उत्कृष्ट शिवसुख रूपी अमृत के समुद्र में सदा मग्न है, विकल्प रहित है, जिनकी महिमा अप्रतिहत (जो किसी से आहत न होवे) है और जो निरन्तर आनन्द के निवास स्थान हैं, ऐसे श्री सिद्ध परमेष्ठी देव शोभायमान जो तीनो लोको का मस्तक (शिखर) है, उसमें सदा निवास करते है ।

इति कतिपय वर वर्णैर्ध्यानफलं कीर्तितं समासेन ।
निःशेषं यदि वक्तुं प्रभवति देवः स्वयं वीरः ।।११५०।।

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार कितने ही श्रेष्ठ अक्षरो के द्वारा सक्षेप से ध्यान का फल कहा है; इसका समस्त फल कहने को स्वय श्री वर्द्धमान स्वामी ही समर्थ हो सकते है।

(आ शुभचन्द्र स्वामी, ज्ञानार्णव)

इस प्रकार के ध्यानो को करके जीव अगर चरमशरीरी है तो मोक्षपद प्राप्त कर लेता है और चरमशरीरी नही है, तो देवत्व, कल्पवासी देवादिक मे उत्पन्न होकर फिर मनुष्य पर्याय पाकर मोक्ष जाता है ।

योगी चार आराधना की सिद्धि कैसे करें ?

संस्कारातिशयः प्रसन्न हृदयस्त्यागी क्षमी प्रोद्यमी,
प्रव्यक्त स्व पर स्थितिः शुभवचोरत्नावली राजितः ।
शूरः शील परो गुणस्थिर रुचिर्भव्योऽभिमानी परं,
साध्वीं साधयति स्वभाव सुभगामाराधनां नायिकाम् ।।११५१।।

उत्तम सस्कार वाला, प्रसन्न हृदय वाला, समस्त परिग्रह का त्यागी, क्षमावान, आत्मपुरुषार्थी, प्रव्यक्त है, स्व पर स्थिति जिसकी, शुभ वचन बोलने वाला, सम्यग्दर्शनादि रत्नो से शोभित, शूरवीर, शीलवान्, गुणो मे स्थिर रुचि रखने वाला, भव्य,

स्वाभिमानी मानस ही केवल स्वभाव से मान्य प्रशंसनीय सिद्धि की प्राप्त कराने वाली आराधना को साधता है ।

शेषेऽल्ये निज जीवने जन हितं देशं महीशान्वितं,
नाना जैनजनास्पदं सुख पदं सत्संगिनां योगिनाम् ।
संप्राप्यात्म मनोगतं बहुमत सम्यधिवेद्य स्थितः,
सूरिभ्यः सकलैश्च तैः सुविदितः संघान्वितैः स्वीकृतः ।।११५२।

मेरी आयु अल्प है, ऐसा जानकर यतिराज जनता का हित करने वाले राजा से शोभित, नाना जैन लोगो से भरे हुये, सत्पुरुष योगिजनो के रहने का स्थान ऐसे देश में जाकर बहुजनों के द्वारा माननीय अपने मनोगत विचारो को आचार्य के समक्ष भली प्रकार से निवेदन करता है । तदनन्तर सकल सघ के द्वारा स्वीकृत किया जाता है ।

आचार्यैः परिचर्यया5हितहितैः सद्व्यून पंचाशता,
द्वाभ्यां वाऽतिजघन्यतः परिवृतः प्रीत्योत्तमार्थार्थ्यतः ।
आलोच्याऽऽत्मकृतं कृती त्रिकरणैर्दोष विशुद्धाशयः,
श्रुत्वातः प्रवरं प्रतिक्रमणमप्यारुह्य सत्संस्तरम् ।।११५३।।
प्राज्ञोऽसौ क्रमशोऽशनं परिहरन्नेकैकमास्वाद्यत,
त्सम्यग्दर्शितमिष्ट मिष्ट मसकृत्कांक्षाक्षयार्थं बुधैः ।
हित्वाऽतस्त्रिविधाशनं धृतिकरं किं स्तोकमेतन्मया,
भुक्तात्पूर्वमनेकमेरुमहतो मे तृप्तिकस्येत्यतः ।।११५४।।
त्यक्त्वाऽतः कुशलः क्रमेण विविधं धीरः समाध्याप्तये,
पानं सिक्थयुतं विलेपि सरसं निःस्नेह मच्छं पयः ।
किं तृप्तिर्भवतीयतो भवभवे पीतादजातेत्यतो,
नानानीरिधि नीरतोऽतिमहतो मे कर्मधर्मातिनः ।।११५५।।
ज्ञाताऽऽस्वाद समस्त वस्तु भिरलं वाह्यरसारैः परं,
जैनेन्द्रं वचनामृतं जननमृत्यातंक नाशीति तत् ।
धृत्वा पंचगुरुन्मनस्य विचलं तन्मन्त्रमुच्चाश्यन्,
धर्म्यं शुक्लमपि प्रकृष्ट फलदं ध्यायंस्तनुं व्युत्सृजेत् ।।११५६।।

उत्कृष्ट अड़तालीस और जघन्य दो आचार्य (साधु) जिसकी प्रीति से परिचर्या करते है तथा विशुद्ध आशयवाला क्षपक पुण्यात्मक उत्तमार्थ के लिये अपने

दोषों को मन वचन काय से आलोचना करे तथा उत्तमार्थ प्रतिक्रमण सुन कर समीचीन सस्तर पर आरूढ हो, अर्थात् सल्लेखना धारण करे। तदनन्तर आहार की कांक्षा को क्षय करने के लिये बुद्धिमान आचार्य के द्वारा बार-बार दिखाये गये इष्ट और स्वाद युक्त आहार का एक-एक आस्वादन करके अशन का त्याग करे। तदनन्तर अहो मैंने पूर्व मे बहुत पदार्थों का भरण किया है, अब तक उनसे तृप्ति नही हुई तो इस स्तोक पदार्थों से क्या तृप्ति हो सकती है, कदापि नही, ऐसा विचार कर क्षपक खाद्य और लेह्य इन पदार्थों का त्याग कर देता है। तदन्तर कर्म रूपी ताप से दु.खी मेरी प्यास समुद्रो के पानी पीने से शात नही हुई तो क्या ? इस अल्प पेय से मेरी तृप्ति हो सकती है? कदापि नही हो सकती, ऐसा विचार कर क्रमशः दूध, छाछ, स्वच्छ पानी का भी त्याग करता है। जिसने वस्तु का स्वरूप जान लिया है, अनादि काल से अनुभूत दृष्ट, श्रुत बाह्य वस्तुओ से क्या प्रयोजन है ? बाह्य पदार्थों का सयोग ही दुःख दायक है, इस प्रकार की भावनाओ से पवित्रात्मा, क्षपक, जन्म, जरा, मृत्यु के नाशक जैनेन्द्र भगवान के वचनरूपी अमृत का पानकर और पच परमेष्ठी को अविचल रूप से मन में धारण करता हुआ तथा पंचपरमेष्ठी वाचक मन्त्र को वचन से उच्चारण करता हुआ उत्तम स्वर्ग और मोक्ष फल को देने वाले धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे लीन होता हुआ शरीर को छोड़े।

देवैस्तिर्यग चेतनैश्च मनुजैः प्राप्तोप सर्गस्तदा,
व्यक्त्वाऽऽहार शरीर संगमखिलं बाधाऽविरामावधि।
सावद्यं सकल च निर्मल मना ध्याने प्रशस्ते स्थित,
स्तिष्ठेत्वं च गुरुनभिमत फल प्राप्त्यभ्यु पायानपि ॥११५७॥

देवकृत, तिर्यचकृत, मानवकृत और अचेतन कृत उपसर्ग के आ जाने पर, जब तक उपसर्ग दूर न हो तब तक अखिल आहार, परिग्रह और सकल सावद्य का त्याग करके योगीगण अभिमत फल के प्राप्ति के कारणभूत पंच परमेष्ठी का निर्मल चित से चितवन करते हुये धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान में स्थिर होवे।

इंगिन्यां चान्य संपादितहित विरतौ वर्णितोयोऽत्र भक्त,
प्रत्याख्याने क्रमोऽसौ निरतिशयमृतौ स्वोपकार प्रवृतौ।
ज्ञेयः प्रायोपगत्यां स्वपरहित कृत्यक्तवांच्छाप्रवृतौ,
ताभिः सप्ताष्ट जन्म स्वपगतदुरितां मोक्षलक्ष्मीं लभन्ते ॥११५८॥

जब यह ज्ञान हो जाय कि अब मेरा जीवन अल्प है, तब क्रम से अन्न का त्याग, दूध आदि स्निग्ध पदार्थो का त्याग, तदनन्तर समस्त आहार का त्याग किया जाता है । शरीर की वैय्यावृत्ति का त्याग नहीं किया जाता है, वह भक्त प्रत्याख्यान मरण है । उसका उत्कृष्ट काल बारह वर्ष है, जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है । और जिसमे आहार पानी के त्याग के साथ अपने शरीर की वैय्यावृत्ति भी दूसरों से नही कराता है, वह इंगिनी मरण है । जिस संन्यास मे अपने शरीर की वैय्यावृत्ति दूसरे से भी नही कराता है और अपने हाथो से भी नही करता है, केवल ध्यान मे मग्न रहता है, उसको प्रायोपगमन प्रत्याख्यान कहते है । आहार पानी के त्याग की विधि तीनो मे समान है, इन तीनो प्रकार के सन्यासपूर्वक मरण करने वाला यतिराज सात आठ भव मे निश्चय से मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता हैं ।

दीक्षामादाय शिक्षामथ गणधरतां रक्षणार्थं गणस्य,
संस्कारं स्वस्य भावैः शमदमविभवैर्योऽत्र संल्लेखना च ।

क्रोधादीनां विधाय प्रथितपृथुयशाः साधयेदुत्तमार्थ,
सः स्यात्सद्भव्य सस्योत्पल निकरमुदं मेघचन्द्रो मुनीन्द्रः ॥११५९॥

प्रथम दीक्षा शिक्षा और गण की रक्षा के लिये आचार्य पद को धारण करके विख्यात यश का धारी मुनिराज तदनन्तर अपने समता इन्द्रिय मन आदि विभवो के द्वारा क्रोधादि कषायो के सस्कार को कृश कर करके उत्तमार्थ को सिद्ध करते है । वह मुनि भव्य जीवरूपी धान्य के लिए मेघ और भव्य कमलो के लिए चन्द्रमा के समान होते है ।

आराधना का विशेष स्वरूप भगवती आराधना से जानना ।

(वीरनन्दीस्वामी, आचारसार)

पुलाक, बकुश, कुशील, निग्रन्थ, स्नातक, इन पांच प्रकार के मुनियों का स्वरूप—

पुलाक बकुश कुशील निर्ग्रन्थ स्नातकाः निर्ग्रन्थाः ।

पुलाक—जो उत्तर गुणों की भावना से रहित हो और जिनके मूलगुणो मे भी कभी-कभी दोष लग जाते हो, उन्हें पुलाक कहते है । पुलाक का अर्थ है, मल

सहित तण्डूल। पुलाक के समान कुछ दोष सहित होने से मुनियों को पुलाक कहते हैं।

बकुश—जो मूलगुणो का निर्दोष पालन करते हो, लेकिन शरीर और उपकरणो से शोभा वढाने की इच्छा रखते है। और परिवार मे मोह रखते है, उनको बकुश कहते हैं। वकुश का अर्थ है, शवल (चितकवरा)।

कुशील—के दो भेद हैं—प्रतिसेवना कुशील और कपाय कुशील। जो उपकरण तथा शरीर आदि से पूर्ण विरक्त न हो तथा जो मूल और उत्तर गुणो का निर्दोष पालन करते है, लेकिन जिनके उत्तर गुणो की कभी-कभी विराधना हो जाती हो, उनको प्रतिसेवना कुशील कहते हैं।

कपाय कुशील—अन्य कपायो को जीत लेने के कारण केवल संज्वलन कपाय का ही उदय हो, उनको कपाय कुशील कहते हैं।

निर्ग्रन्थ—जिस प्रकार जल मे लकड़ी की रेखा अप्रकट रहती है। उसी प्रकार जिनके कर्मो का उदय अप्रकट हो और जिनको अन्तर्मुहूर्त मे केवल ज्ञान उत्पन्न होने वाला हो, उनको निर्ग्रन्थ कहते हैं।

स्नातक—घातिया कर्मो का नाश करने वाले केवली भगवान् को स्नातक कहते हैं।

यद्यपि चारित्र के तारतम्य के कारण इनमे भेद पाया जाता है, लेकिन नैगम आदि नय की अपेक्षा से इन पाचो प्रकार के साधुओं को निर्ग्रन्थ कहते है।

पुलाक आदि मुनियों मे विशेषता—

संयम श्रुत प्रतिसेवना तीर्थ लिङ्ग लेश्योपपाद स्थान विकल्पतः साध्याः।

सयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगो के द्वारा पुलाक आदि मुनियो मे परस्पर विशेषता पाई जाती है।

पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील इन मुनियो के सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र होते है।

कपाय कुशील के यथाख्यात चारित्र को छोडकर अन्य चार चारित्र होते है।

निर्ग्रन्थ और स्नातक के यथाख्यात चारित्र होता है।

उत्कृष्ट से पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि अभिन्नाक्षर दश पूर्व

के ज्ञाता होते हैं।

अभिन्नाक्षर का अर्थ—जो एक भी अक्षर से न्यून न हो। अर्थात् उक्त मुनि दश पूर्व के पूर्ण ज्ञाता होते है। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्व के ज्ञाता होते है। जघन्य से पुलाक आचार शास्त्र का निरूपण करते है। बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ आठ प्रवचन मातृकाओ का निरूपण करते हैं। पाँच समिति और तीन गुप्तियों को आठ प्रवचन मातृका कहते है। स्नातकों के केवलज्ञान होता है, श्रुत नहीं होता।

व्रतों में दोष लगने को प्रतिसेवना कहते हैं। पुलाक के पाँच महाव्रतों और रात्रि भोजन त्याग व्रत में विराधना होती है। दूसरे के उपरोध से किसी एक व्रत की प्रतिसेवना होती है। अर्थात् वह एक व्रत का त्याग कर देता है।

प्रश्न—रात्रि भोजन त्याग में विराधना कैसे होती है ?

उत्तर—इसके द्वारा श्रावक आदि का उपकार होगा ऐसा विचार कर पुलाक मुनि विद्यार्थी आदि को रात्रि में भोजन कराकर, रात्रि भोजन त्याग व्रत का विराधक होता है।

बकुश के दो भेद—उपकरण बकुश और शरीर बकुश।

उपकरण बकुश नाना प्रकार के संस्कार युक्त उपकरणो को चाहता है।

शरीर बकुश अपने शरीर मे तेल मर्दन आदि सस्कारो को करता है, यही दोनों की प्रतिसेवना है। प्रतिसेवना कुशील मूलगुणो की विराधना नही करता है। किन्तु उत्तर गुणो की विराधना कभी करता है, इसकी यही प्रतिसेवना है।

कषाय कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के प्रतिसेवना नही होती है। ये पाचो प्रकार के मुनि, सब तीर्थकरो के समय मे होते है।

लिङ्ग के दो भेद है—द्रव्य लिङ्ग और भाव लिङ्ग।

पांचो प्रकार के मुनियों मे भाव लिङ्ग समान रूप से पाया जाता है।

द्रव्य लिङ्ग की अपेक्षा उनमे निम्न प्रकार से भेद पाया जाता है-—

कोई असमर्थ मुनि शीतकाल आदि मे कम्बल आदि वस्त्रो को ग्रहण कर लेते है, लेकिन उस वस्त्र को न धोते है और न फट जाने पर सीते है, तथा कुछ समय बाद उनको छोड़ देते है। कोई मुनि शरीर में विकार उत्पन्न होने से लज्जा के

कारण वस्त्रो को ग्रहण कर लेते है। इस प्रकार का व्याख्यान भगवती आराधना में अपवाद रूप से बतलाया है। इसी आधार को मानकार कुछ लोग मुनियों मे सचेलता (वस्त्र पहिनना) मानते है। लेकिन ऐसा मानना ठीक नही है। कभी किसी मुनि का वस्त्र धारण कर लेना तो केवल अपवाद है, उत्सर्ग मार्ग को अचेलकता ही है, और वही साक्षात् मोक्ष का कारण होती है। उपकरण कुशील मुनि को अपेक्षा अपवाद मार्ग का व्याख्यान किया गया है, अर्थात् उपकरण कुशील मुनि कदाचित अपवाद मार्ग पर चलते है।

पुलाक के पीत, पद्म और शुक्ल, ये तीन लेश्याएँ होती है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहो लेश्यायें होती है।

प्रश्न :—बकुश और प्रतिसेवना कुशील के कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्याएं कैसे होती हैं ?

उत्तर :—पुलाक के उपकरणो में आसक्ति होने से और प्रतिसेवना कुशील के उत्तर गुणो मे विराधना होने के कारण कभी आर्त्तध्यान हो सकता है। अतः आर्तध्यान होने से आदि की तीन लेश्याओ का होना भी सभव है। पुलाक के आर्त्तध्यान का कोई कारण न होने से अन्त की तीन लेश्याएँ ही होती है। कषाय कुशील के अन्त की चार लेश्याएँ ही होती है। कषाय कुशील के सज्वलन कषाय का उदय होने से कापोत लेश्या होती है। निर्ग्रन्थ और स्नातक के केवल शुक्ल लेश्या ही होती है। अयोग केवली के लेश्या नही होती है।

उत्कृष्ट से पुलाक का अठारह सागर की स्थिति वाले सहस्त्रार स्वर्ग के देवों मे उत्पाद होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील का बाईस सागर की स्थिति वाले आरण और अच्युत स्वर्ग के देवो में उत्पात होता है। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थो का तैंतीस सागर की स्थिति वाले सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवो में होता है। स्नातक का उपपाद मोक्ष मे होता है।

कषाय के निमित्त से होने वाले सयम स्थान असख्यात है। पुलाक और कपाय कुशील के सर्व जघन्य असख्यात सयम स्थान होते है। वे दोनो एक साथ असंख्यात स्थानो तक जाते है, बाद में पुलाक साथ छोड़ देता है, इसके बाद कषाय कुशील अकेला ही असंख्यात स्थानो तक जाता है। पुनः कषाय कुशील प्रतिसेवना

कुशील और बकुश, एक साथ असंख्यात स्थानो तक जाते है, बाद मे बकुश साथ छोड देता है। और असख्यात स्थान जाने के बाद प्रतिसेवना कुशील भी साथ छोड़ देता है। पुनः असख्यात स्थान जाने के बाद कषाय कुशील की भी निवृत्ति हो जाती है। इसके बाद निर्ग्रन्थ असख्यात अकषाय निमित्तक सयम स्थानो तक जाता है, और बाद मे उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। इसके अनन्तर एक सयम स्थान तक जाने के बाद स्नातक को निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। स्नातक की सयम लब्धि अनन्त गुणी होती है।

(तत्वार्थवृति अ. ९ सूत्र न. ४७-४८)

कषायों से आकुलित होकर जीव दुखी हो रहा है।

क्षयोपशमरूप इन्द्रियो से तो इच्छा पूर्ण होती नही है, इसलिए मोह के निमित्त से इन्द्रियो को अपने-अपने विषय ग्रहण की निरन्तर इच्छा होती ही रहती है; उससे आकुलित होकर दु खी हो रहा है। ऐसा दु खी हो रहा है कि किसी एक विषय के ग्रहण के अर्थ अपने मरण को भी नही गिनता है। जैसे हाथी को कपट की हथिनी का शरीर स्पर्श करने की, मच्छ को बशी में लगा हुआ मास का स्वाद लेने की, भ्रमर को कमल-सुगन्ध सू घने की, पतगे को दीपक का वर्ण देखने की, और हिरण को राग सुनने की इच्छा ऐसी होती है कि तत्काल मरना भासित हो तथापि मरण को नही गिनते। विषयो का ग्रहण करने पर, उसके मरण होता था, विषय सेवन नही करने पर इन्द्रियो की पीडा अधिक भासित होती है। इन इन्द्रियो की पीडा से पीडितरूप सर्व जीव निर्विचार होकर जैसे कोई दुःखी पर्वत से गिर पडे वैसे ही विषयो मे छलांग लगाते है। नाना कष्ट से धन उत्पन्न करते हैं, उसे विषय के अर्थ खोते है तथा विषयो के अर्थ जहाँ मरण होना जानते हैं, वहाँ भी जाते हैं। नरकादि के कारण जो हिसादिक कार्य है, उन्हे करते है, तथा क्रोधादि कषायो को उत्पन्न करते है।

अध्याय छठा : शेष गुणस्थानों का वर्णन

प्रश्न :—अप्रमत्त गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—सञ्ज्वलन और नो कषाय के मंद उदय से प्रमाद रहित संयम परिणाम को अप्रमत्त विरत गुणस्थान कहते है ।

प्रश्न :—अप्रमत्त गुणस्थान के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—दो है— स्वस्थान अप्रमत्तविरत्त और सातिशय अप्रमत्तविरत ।

प्रश्न :—स्वस्थान या निरतिशय अप्रमत्त विरत किसे कहते हैं ?

उत्तर :—हजारों बार छट्ठे से सातवे मे और सातवे से छट्ठे गुणस्थान में आने जाने रूप परिणाम को स्वस्थानअप्रमत्त विरत कहते है ।

प्रश्न :—सातिशय या (परस्थान) अप्रमत्त विरत गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो श्रेणी चढ़ने के सन्मुख होता है, उसे सातिशय अप्रमत्त विरत कहते है ।

प्रश्न :—श्रेणी चढ़ने का पात्र कौन होता है ?

उत्तर :—क्षायिक सम्यग्दृष्टि और द्वितीयोपशम सम्यक् दृष्टि ही श्रेणी चढते है । प्रथमोपशम सम्यक्त्व वाला तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाला श्रेणी नही चढ सकता । प्रथमोपशम सम्यक्त्व वाला प्रथमोपशम सम्यक्त्व को छोड़कर क्षायोपशमिक सम्यक् दृष्टि होकर प्रथम ही अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का विसयोजन करके दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियो का उपशम करके या तो द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाय अथवा तीनो प्रकृतियो का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाय, तब श्रेणी चढने का पात्र होता है ।

प्रश्न :—श्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जहा चारित्र मोहनीय की शेष रही इक्कीस प्रकृतियो का क्रम से उपशम या क्षय होता है, उसे श्रेणी कहते है ।

प्रश्न :—श्रेणी के कितने भेद हैं ?

उत्तर:—दो है—एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी ।

प्रश्न :—उपशम श्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिसमें चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियो का उपशम होता है, उसे उपशम श्रेणी कहते है ।

प्रश्न :—क्षपक श्रेणी किसे कहते हैं ? और कौन-कौन जोव इन दोनों श्रेणियों को चढ़ते हैं ?

जिसमें चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियो का क्षय होता है, उसे क्षपक श्रेणी कहते है ।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो दोनो ही श्रेणी चढ़ते है, किंतु द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी ही चढता है क्षपक श्रेणी नही चढता है ।

उपशम श्रेणी के चार गुणस्थान है-आठवा, नवा. दशवा, ग्यारहवा और क्षपक श्रेणी के भी चार गुणस्थान है-आठ, नौ, दश, बारहवा ।

प्रश्न :—अधःकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस करण में (परिणाम समूह मे) उपरितन समयवर्ती तथा अधस्तन समयवर्ती जीवो के परिणाम सदृश तथा विसदृश होते है, उसे अधःकरण कहते है ।

प्रश्नः—अपूर्वकरण गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर:—जहां प्रत्येक समय मे अपूर्व-अपूर्व, नवीन-नवीन ही परिणाम होते हैं, उसे अपूर्वकरण कहते है । इसमे सम समयवर्ती जीवो के परिणाम सदृश तथा विसदृश दोनो प्रकार के होते है, परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवो के परिणाम विसदृश ही होते है ।

प्रश्न :—अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जहा समसमयवर्ती जीवो के परिणाम सदृश हो और भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही होते है, उसे अनिवृत्तिकरण कहते है । ये अपूर्वकरणादि परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्धता को लिये हुए होते है तथा सज्वलन चतुष्क के उदय की मन्दता मे क्रम से प्रकट होते हैं ।

प्रश्न —सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जहा केवल सज्वलन लोभ का सूक्ष्म उदय रह जाता है, उसे सूक्ष्म-साम्पराय कहते है। अष्टम गुणस्थान से उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी ये दो श्रेणियां प्रकट होती है। जो चारित्र मोह का उपशम करने के लिये प्रयत्नशील है, वे उपशम श्रेणी मे आरूढ होते है और जो चारित्र मोह का क्षय करने के लिये प्रयत्नशील है, वे क्षपक श्रेणी मे आरूढ होते हैं। परिणामो की स्थिति के अनुसार उपशम या क्षपक श्रेणी में यह जीव स्वय आरूढ हो जाता है, बुद्धिपूर्वक आरूढ नही होता है। क्षपक श्रेणी पर क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही आरूढ हो सकता है, पर उपशम श्रेणी पर औपशमिक और क्षायिक दोनो सम्यग्दृष्टि आरूढ हो सकते है। यहा विशेषता इतनी है कि जो औपशमिक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी पर आरूढ होगा, वह श्रेणी पर आरूढ होने के पूर्व अनन्तानुबन्धी की विसयोजना कर उसे सत्ता से दूर कर द्वितीयोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो जावेगा। जो उपशम श्रेणी पर आरूढ होता है, वह सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान के अन्त तक चारित्र मोह का उपशम कर चुकता है और क्षपक श्रेणी पर आरूढ होता है, वह चारित्र मोह का क्षय कर चुकता है।

प्रश्न '—उपशान्त मोह गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—उपशम श्रेणी वाला जीव दशवे गुणस्थान में चारित्र मोह का पूर्ण उपशम कर ग्यारहवे उपशान्त मोह गुणस्थान मे आता है। इसका मोहपूर्ण रूप से शान्त हो चुकता है और शरद ऋतु के सरोवर के समान इसकी सुन्दरता होती है। अन्तर्मुहूर्त तक इस गुणस्थान मे ठहरने के बाद यह जीव नियम से नीचे गिर जाता है।

प्रश्न :—क्षीण मोह गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—क्षपक श्रेणी वाला जीव दसवे गुणस्थान मे चारित्र मोह का पूर्ण क्षयकर वारहवें क्षीणमोह गुणस्थान मे आता है यहा इसका मोह बिल्कुल ही क्षीण हो चुकता है और स्फटिक के भाजन मे रखे हुए स्वच्छ जल के समान इसकी स्वच्छता होती है।

प्रश्न :—सयोग केवली गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर —वारहवे गुणस्थान के अन्त मे शुक्लध्यान के द्वितीय पाद के प्रभाव से ज्ञानावरणादि कर्मो का युगपत् क्षयकर जीव तेरहवे गुणस्थान में प्रवेश करता है। यहा इसे केवलज्ञान प्रकट हो जाता है, इसलिये केवली कहलाता है और योगों

की प्रवृत्ति जारी रहने से सयोग कहा जाता है। दोनो विशेषताओ को लेकर इसका सयोग केवलि नाम प्रचलित है। इस गुणस्थान मे जीव को अन्तरग और बहिरग लक्ष्मी प्रकट हो जाती है और अर्हन्त कहलाने लगता है। केवलज्ञान उत्पन्न होते ही समवशरण की रचना देवो द्वारा की जाती है।

अगर सामान्य केवली है तो उनको गध कुटि की रचना होती है और तीर्थकर केवली है तो, उनके शरीर की जैसी अवगाहना होती है उसी अवगाहना के अनुसार समवसरण की रचना होती है।

समवशरण का वर्णन

प्रश्न :—अर्हन्त प्रभु का समवशरण कैसा होता है ?

उत्तर:—समवशरण की दिव्य भूमि स्वाभाविक भूमि से एक हाथ ऊँची रहती है और उससे एक हाथ ऊपर कल्पभूमि होती है। यह भूमि अपनी शोभा से स्वर्ग लक्ष्मी को जीतने वाली, चौकोर सुखदायी और देशकाल के अनुसार बारह योजन से लेकर एक योजन तक विस्तार वाली होती है।

भावार्थ—समवशरण भूमि का उत्कृष्ट विस्तार बारह योजन और कम से कम विस्तार एक योजन प्रमाण होता है। यह भूमि कमल के आकार की होती है इसमे गधकुटी तो कर्णिका के समान ऊँची उठी होती है और बाह्य भूमि कमल दल के समान विस्तृत है। यह इन्द्र नीलमणि से निर्मित होती है, इसका बाह्य भाग दर्पण तल के समान निर्मल होता है और प्रवेश करने वाले बहुत से जीवो को एक साथ स्थान देने वाली रहती है। जिसमे मान के योग्य इन्द्र आदि देव त्रिलोकीनाथ भगवान की दूर से ही पूजा करते है वह मानांगण नाम की भूमि है।

इस भूमि की चारो महादिशाओ मे दो-दो कोश विस्तृत महाविथिया है। ये विधियां अपने मध्य मे स्थित चार मानस्तम्भो के पीठ धारण करती है। ये पीठ अपनी ऊँचाई से तिगुने चौडे एवं स्वर्ण और रत्नमयी मूर्तियो के धारक होते है तथा मनुष्य, सुर, असुर सभी आकर इन्हे नमस्कार करते है। जहाँ स्थित होकर मनुष्य और देव मानस्तम्भो की पूजा करते है वह आस्थानांगरण नाम की भूमि देदीप्यमान लाल मणियो की कान्ति को धारण करती है। ये पीठ अपनी ऊँचाई से तिगुने चौडे एव सुवर्ण और रत्नमयी मूर्तियो के धारक होते है तथा मनुष्य, सुर, असुर सभी

आकर इन्हे नमस्कार करते है। जहां स्थित होकर मनुष्य और देव मानस्तम्भो की पूजा करते है। वह आस्थानागरणा नाम की भूमि देदीप्यमान लाल मणियो की कान्ति को धारण करती है। विथियो के मध्य मे तीन कटनीदार चार सुवर्णमयी पीठिकाये है छाती वराबर ऊँची है और आधा कोस चौडी है।

उन पाठिकाओ पर चार मानस्तम्भ सुशोभित है, जो पाठिकाओ की चौड़ाई से एक धनुष कम चौडे है और एक योजन से कुछ अधिक चौडे है और एक योजन से कुछ अधिक ऊँचे है, वे मानस्तम्भ वारह योजन की दूरी से दिखाई देते है, पालिका के अग्रभाग पर जो कमल है, उन्ही पर स्थित है, उनका मूलभाग हीरा का मध्यभाग स्फटिक का है और अग्रभाग वैडूर्य मणि का बना हुआ है। हर एक मानस्तम्भ दो-दो हजार कोणो से सहित है, दो-दो हजार पहलके है, नाना रत्नो की किरणो से मिले हुए है, उनकी चारो दिशाओ मे अब सिद्धो की प्रतिमाए विराजमान है तथा उनकी रत्नमयी वडी बडी पालिकाये है। पालिकाओ के अग्रभाग पर जो कमल है, उन पर स्वर्ण के देदीप्यमान घट है।

उन घटो के अग्रभाग से लगी हुई सीढिया है तथा उन सीढ़ियो पर लक्ष्मी देवी के अभिषेक की शोभा दिखलायी गयी है, वे मानस्तम्भ लक्ष्मीदेवी के चूडारत्न के समान अपनी काति के समूह से बीस योजन तक का क्षेत्र प्रकाशमान करते है तथा जिनका मन अहकार से युक्त है ऐसे देव और मनुष्यो को वही रोक देने वाले हैं उन मानस्तम्भो की चारो दिशाये हस, सारस और चकवो के शब्दो से अत्यन्त सुन्दर है तथा उनमे खिले हुए कमलो से युक्त चार सरोवर है।

सरोवर के आगे एक वज्रमय कोट है, जो छाती बरावर ऊंचा है, अत्यन्त कान्ति से युक्त है। ऊँचाई से दूना चौडा है और चारो ओर से घेरे हुए है। इस कोट को चारो ओर से घेरकर एक परिखा स्थित है, जिसकी भूमि जल के समान कान्ति वाले मणियो से निर्मित है।

उसमे घुटनो प्रमाण गहरा पानी भरा है तथा वह पृथ्वी रूपी स्त्री की नीली साडी के समान जान पडती है। वह परिखा अत्यन्त स्वच्छ है तथा उसका जल स्वर्ण-मय कमलो की पराग के समूह से पीला-पीला हो रहा है, अतएव उसमें प्रतिबिम्बित देशा रूप स्त्रियो के मुख अगराग से सहित समान जान पड़ते है।

उसके आगे चारो ओर से घेरकर स्थित लताओ का वन सुशोभित है जो

फूलों के द्वारा दिशाओ के अन्त भाग को सुगन्धित कर रहा है तथा पक्षियो और भ्रमरों के समूह से व्याप्त है, उसके आगे देदीप्यामान स्वर्ण के समान चमकीला एव विजय आदि चादी के बड़े-बड़े चार गोपुरो से सुशोभत कोट चारो ओर से घेरे हुए हैं जो उन गोपुरों पर व्यन्तर जाति के देव द्वारपाल है, जो कटल आदि आभूषणो से सुशोभित हैं, अपने प्रभाव से अयोग्य व्यक्तियो को दूर हटाते रहते है तथा जिनके हाथ मुद्‌गरो से उद्धत होते है, देदीप्यमान कान्ति से युक्त उन गोपुरो के मणिमय तोरणो की दोनों ओर छत्र चमर तथा भृंगार आदि अष्टमङ्गल द्रव्य एक सौ आठ-एक सौ आठ सख्या में सदा सुशोभित रहते है ।

उन गोपुरो के आगे वीथियो की दोनो ओर तीन-तीन खण्ड की दो-दो नाट्‌यशालाए है, जिनमे बत्तीस-बत्तीस देव कन्याये नृत्य करती है ।

तदनन्तर पूर्व दिशा मे अशोक वन दक्षिण मे सप्तपर्ण वन पश्चिम मे चम्पक वन और उत्तर में आम्र वन सुशोभित है, इन चारो वनो मे अशोक वन का अशोक वृक्ष सप्तपर्ण वन का सप्तपर्ण वृक्ष चम्पक वन का चम्पक वृक्ष और आम्र वन का आम्र वृक्ष स्वामी है । ये स्वामी वृक्ष सिद्ध की प्रतिमाओ से सहित है अर्थात् उनके नीचे सिद्धो की प्रतिमाए विराजमान रहती है, उन वनो मे तिकोनी चौकोनी और गोलाकार अनेक वापिकाओ के तट रत्न निर्मित हैं, तथा उनकी भूमि स्फटिक से निर्मित है, ये सभी वापिकाये तोरणो युवत है, दर्शनीय है, सीढियो से युक्त है, ऊंचे-ऊँचे बरण्डों से सुशोभित है प्रवेश करने मे गहरी है और दो कोस चौडी हैं नन्दा नन्दोतरा आनन्दा नन्दवती अभिनन्दिनी और नन्दघोषा ये छह वापिकाये अशोक वन मे स्थित है । विजया अभिविजया जैसी वैजयन्ती अपराजित जयोत्तरा मे छह वापिकाए सप्तपर्ण वन मे स्थित हैं, कुमुदा, नलिनी, पद्‌मा, पुष्करा विश्वोत्पला और कमला मे छह वापियां चम्पक वन मे मानी गई है और प्रभासा, भास्वती, भासा, सुप्रभा भानुमालिनी और स्वयप्रभा मे छह वापिया आम्रवन मे कही गई है, पूर्ण आदि दिशाओ की वापिकायें क्रम से उदय, विजय, घाती और ख्याति नामक फल देती हैं तथा इन फलों के इच्छुक मनुष्य इन वापिकाओ की पूजा करते है ।

क्रम के जानने वाले भक्तजन उन वापिकाओ से यथोक्त फूलो का समूह प्राप्त कर स्तूपों तक क्रम क्रम से जिनेन्द्र प्रतिमाओ की पूजा करते हुए आगे प्रवेश करते हैं उदय और प्रातिरूप फल को देने वाली वापिकाओ के बीच के आगे के दोनो ओर

तीन खण्ड की स्वर्णमयी देदीप्यमान बत्तीस नाट्यशालाए है, ये नाट्यशालाएं डेढ कोस चौडी है, नाना प्रकार के बेल बूटों से सुशोभित है और उनकी मूर्तिया रत्नो की बनी है तथा उनकी दीवालें स्वच्छ स्फटिक से निर्मित है, उनमे ज्योतिषी देवो की ३२-३२ देवांगनाए नृत्य करती है जो हाव-भाव और विलास से युक्त तथा शृ गार आदि रसो की पुष्टि से सुपुष्ट होती है। उसके आगे चार गोपुरो से युक्त अत्यन्त सुन्दर व्रजमयी वनदेवी है, जो पूर्वोक्त वनो को चारो ओर से घेरे हुए हैं।

चार गोपुरो के आगे चार विथिया है और उनके दोनो पसवाडो में ध्वजाओ की पंक्तिया फहराती रहती है प्रत्येक विभाग मे उन ध्वजाओ की पृथक्-पृथक् पीठिकाये है, जो तीन धनुष चौडी है, चित्र विचित्र है तथा उनपर आधा योजन ऊंचे रत्नमयी बांस लगे हुए है उन बासो के अग्रभाग पर जो पटिया लगी है उनमे दशो प्रकार की रग-बिरगी छोटी-छोटी घण्टियो और जिस पट्टको से युक्त बड़ी ध्वजाए फहराती रहती हैं। वे दश प्रकार की ध्वजाए फहराती रहती है वे दश प्रकार की ध्वजाए क्रम से मयूर, हस, गरुण, माला, सिह, हाथी, मकर, कमल, बैल और चक्र के चिन्ह से चिन्हित होती है एक दिशा मे एक जाति की ध्वजाए एक सौ आठ होती है और चारो दिशाओ की मिलकर एक जाति की चार सौ बत्तीस होती है, यह इनकी सामान्यरूप से सक्षेप मे सख्या बतलायी है।

विशेष रीति से एक दिशा मे एक करोड सोलह लाख चौसठ हजार है और चारों दिशाओ मे चार करोड अडसठ लाख छत्तीस हजार कुछ अधिक है।

प्रीति और कल्याण रूप फल देने वाली वपिकाओ के बीच के मार्ग मे दोनो ओर पांच खण्ड की नृत्यशालाए है, जिनमे भवनवासी देवो की देवांगनाए नृत्य करती है नृत्यशालाओ के आगे पाच-पाच खण्ड के रत्नमयी चार गोपुरो से विभूपित स्वर्ण निर्मित दूसरा कोट है।

गोपुरो के दोनो पसवाडो मे देदीप्यान स्वर्ण के पीठो पर स्थित शख के समान सुन्दर कण्ठो मे पडी मालाओ से सुशोभित मुखो पर कमल धारण करने वाले एव जल से भरे स्वर्ण निर्मित मगलकलश दो-दो की सख्या मे सुशोभित है इस दूसरे कोट द्वारो पर भवनवासी देवो के इन्द्र द्वारपाल है जो बेत की छडी धारण किए हुए पहरा देते है, गोपुरां के आगे दो-दो नाट्यशालाए है और उसके आगे स्वर्ण निर्मित दो-दो धूपघट रखे हुए है उससे आगे चारो दिशाओ मे सिद्धो की प्रति-

मार्गों से युक्त दो-दो सिद्धार्थ वृक्षों से सहित कल्प वृक्षो का वन वीथियो के अन्त मे यथारीति स्थित है। तदनन्तर चार गोपुरों सहित वन की रक्षा करने वाली अन्वेंदिका है और मार्गो में तोरणो युक्त सबका भला करने वाले नौ-नौ स्तूप है, वे स्तूप पद्मराग मणियो से निर्मित होते है तथा उनके समीप स्वर्ण और रत्नो के बने मुनियो और देवो के योग्य नाना प्रकार के सभागृह रहते है।

सभागृहो के आगे आकाशस्फटिक मणि से बना नाना प्रकार के महा-रत्नों से निर्मित सात खण्ड वाले चार गोपुरो से सुशोभित तीसरा कोट है। इस कोट के पूर्व द्वार के विजय, विश्रुत, कीर्ति, विमल, उदय, विश्वधुक् वासवीर्य और वट ये आठ नाम प्रसिद्ध है। दक्षिण द्वार के वैजयन्त, शिव, ज्येष्ठ, वरिष्ठ, अनघ, धारण याम्य और अप्रतिघ ये आठ नाम कहे गये है, पश्चिम द्वार के जयन्त, अमित, सार, सुधाम, अक्षोम्य, सुप्रभ, वरुण और वरद ये आठ नाम स्मरणीय किये गये है। और उत्तर द्वार के अपराजित, अर्थ, अतुलार्थ, उदक, अमोधक, उदय, अक्षय और पूर्णकमल ये आठ नाम है, उन द्वारो के पसवाड़ो मे उत्तम रत्नमय आसनो के मध्य मे स्थित मंगलरूप दर्पण सुशोभित है जो देखने वालो के पूर्व भव दिखलाते है। ये दर्पण गाढ अन्धकार को नष्ट करने वाले कान्ति के समूह से सदा देदीप्यमान रहते है और उनसे गोपुर सूर्य की प्रभा को तिरस्कृत कर अतिशय शोभायमान होते है।

विजयादिक गोपुरो मे यथायोग्य 'जय हो' 'कल्याण हो' इन शब्दो का उच्चारण करने वाले एव देदीप्यमान आभूषणो से युक्त कल्पवासी देव द्वारपाल रहते है ये तीनो कोट एक कोस, दो कोस और तीन कोस ऊँचे होते है तथा मूल मध्य ऊपरी भाग मे इनकी चौडाई ऊँचाई से आधी होती है इन कोटो के जगतीतलो का प्रमाण अपनी ऊँचाई से तीन हाथ कम कहा गया है और उनके ऊपर बने हुए बन्दर के सिर के आकार के कंगूरे एक हाथ तथा एक बितस्ति चौडे और आधा वेसा ऊँचे कहे गये है। उसके आगे नाना वृक्षों और लतागृहो से व्याप्त मच प्रेक्षागिरि और प्रेक्षागृहो से सुशोभित अन्तवर्ण है। वेदिकाओ से बद्ध वीथियो के बीच मे कल्याण जय नाम का आगन है और उसमे शाल्मली वृक्ष के समान ऊचे एव अन्तर से स्थित केला के वृक्ष प्रकाशमान हो रहे हैं।

तदनन्तर उन्ही के भीतर नाट्यशाला है जिसमें स्वर्ण के समान कान्ति की धारक लोकपाल देवों की देवागनाएं निरन्तर नृत्य करती रहती है, उनके मध्य मे

श्रेष्ठ गुणो का स्थान है तथा ऊंची उठने वाली किरणो से सुशोभित रत्नावली से अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाला दूसरा पीठ है उसके आगे सिद्धार्थ वृक्ष है जो सिद्धो की प्रतिमाओ से सुशोभित शाखाओ से इच्छापूर्वक ही मानो दिशाओ को व्याप्त कर स्थित है। उसके आगे एक मन्दिर है जिसे पृथ्वी के आभरणस्वरूप बारह स्तूप उस तरह सुशोभित करते रहते है जिस तरह कि स्वर्णमय चार मेरु पर्वत जम्बूद्वीप के महामेरु को सुशोभित करते रहते है।

इनके आगे चार दिशाओ मे शुभ वापिकाए है जो चारो दिशाओ मे बने हुए गोपुर द्वारो और वेदिका से अलकृत है नन्दा भद्रा जया और पूर्णा ये चार उनके नाम है उन वापिकाओ के जल मे स्नान करने वाले जीव अपना पूर्व भव जान जाते है ये वापिकाये पवित्र जल से भरी एव समस्त पापरूपी रोगो को हरने वाली है इनमें देखने वाले जीवो को अपने आगे पीछे के सात भव दिखने लगते है वापिकाओं के आगे एक जयागण सुशोभित है जो एक कोस ऊचा है एक योजन से कुछ अधिक चौडा है कटि बराबर ऊचे बरण्डो पर स्थित कदली ध्वजाओ से व्याप्त है, जिसमें मनुष्य निरन्तर प्रवेश करते और निकलते रहते है।

ऐसे द्वारो और उन्च तोरणो से युक्त है तीन लोक की विजय का आधार है उसमे बीच-बीच मे मूगाओ की लाल-लाल बालुका अन्तर देकर मोतियो की सफेद बालू बिछी है आमरत्नमय पुष्पो और रखे हुए स्वर्ण कमलो से चित्र विचित्र है उस जयागण के भू-भाव जहा-जहां स्वर्ण रससे लिप्त अतएव पृथ्वी पर आये हुए सूर्यो के समान दिखने वाले विशाल वर्तुलाकार मण्डलो से सुशोभित है।

जहा-तहा नाना प्रकार के चित्रो से चित्रित वह जयागण देव असुर और मनुष्यो से परिपूर्ण भवनो मण्डपो तथा अन्य सुखकर निवास स्थानो से सुशोभित है। कही चित्रो से सुन्दर और कही पुराणो मे प्रतिपादित आश्चर्यकारी विभूति से युक्त तथा नाना प्रकार के कथानको से सहित भवन बने है, वे भवन कही पुण्य के फलकी प्राप्ति से देखने वाले लोगो को धर्म का साक्षात् फल दिखलाते है, तो कही पाप का परिपाक दिखाकर अधर्म का साक्षात् फल दिखाते है। वे भवन उन दर्शकजनो को दानशील, तप और पूजा प्रारम्भ तथा उनके फल की एव उनके अभाव मे होने वाली विपत्तियो की श्रद्धा कराते है।

उस जयागण के मध्य मे स्वर्णमय पीठ को अलकृत करता हुआ इन्द्रध्वज

सुशोभित होते हैं जो ऐसा जान पड़ता है मानो भगवान् का विजय लक्ष्मी का मूर्ति धारी शरीर ही हो उस इन्द्रध्वज मे देदीप्यमान गोले लटकती हुई मोतियो की माला और जगमगाते हुए मणियो से युक्त एक पताका लगी रहती है। वह पताका वायु से कम्पित होने के कारण घण्टियो के शब्दो से अत्यन्त रमणीय जान पड़ती है। ऊपर उठती हुई किरणों से युक्त रत्नो की माला से सुशोभित वह पताका जब आकाश मे फहराती है तब ऐसी जान पडती है मानो समुद्र से लहर ही उठ रही हो। इन्द्रादिक देव उसे बडे कौतुहल से देखते हैं।

उसके आगे एक हजार खम्भों पर खडा हुआ महोदय नाम का मण्डप है, जिसमें मूर्तिमती श्रुतदेवता विद्यमान रहती है। उस श्रुतदेवता को दाहिने भाग में करके बहुश्रुत धारक अनेक धीर-वीर मुनियो से घिरे श्रुतकेवली कल्याणकारी श्रुत का व्याख्यान करते है। महोदय मण्डप से आधे विस्तार वाले चार परिवार मण्डप और है जिनमें कथा कहने वाले पुरुष आक्षेपिणी आदि कथाए कहते रहते हैं। इन मण्डपो के समीप मे नाना प्रकार के फुटकर स्थान भी बने रहते है जिनमे बैठकर केवलज्ञान आदि महाऋद्धियो के धारक ऋषि इच्छुकजनो के लिए उनकी इष्ट वस्तुओ का निरूपण करते है।

उसके आगे नाना प्रकार की लताओ से व्याप्त एक स्वर्णमय पीठ रहता है, जिसकी भव्य जीव नाना प्रकार की समयानुसार पूजा करते है। उस पीठ का श्रीपद नाम का द्वार है जो रत्नो और फूलो के समूह से युक्त है तथा जो मार्ग के बीच मे बने हुए सूर्य और चन्द्रमा के समान देदीप्यमान मण्डलो से परिपूर्ण है। उस मार्ग के सम्मुख इच्छानुसार फल देने वाले निधियो के स्वामी दो देव सुशोभित रहते हैं।

उनके आगे प्रमदा नाम की दो विशाल नाट्यशालाए है जिनमे कल्पवासिनी अप्सराये सदा नृत्य करती रहती है। विजयागण के कोनो मे चार लोकस्तूप होते हैं, जिनपर पताकाओं की पंक्तियां फहराती रहती है, तथा जो एक योजन ऊंचे रहते हैं। ये लोकस्तूप नीचे वेत्रासन के समान मध्य मे झालर के समान ऊपर मृदग के समान और अन्त मे तालवृक्ष के समान लम्बी नालिका से सहित हैं, इनका स्वच्छ स्फटिक के समान रूप होता है अत इनके भीतर की रचना अत्यन्त स्पष्ट रहती है इन स्तूपो मे लोक की रचना दर्पणतल के समान स्पष्ट दिखाई देती है इन स्तूपो के आगे मध्य लोक नाम से प्रसिद्ध स्तूप है जिनके भीतर मध्यलोक की रचना स्पष्ट दिखलाती है।

आगे मन्दराचल के समान देदीप्यमान मन्दर नाम के स्तूप है जिन पर चारों दिशाओ में भगवान की प्रतिमाएँ सुशोभित है, उनके आगे कल्पवासियों की रचना से युक्त कल्पवास नामक स्तूप है जो देखने वालों को कल्पवासी देवो की विभूति साक्षात् दिखाते हैं।

उनके आगे ग्रैवेयको के समान आकार वाले ग्रैवेयक स्तूप है जो मनुष्यो को मानो ग्रैवेयको की शोभा ही दिखाते रहते है । उनके आगे अनुदिश नाम के नौ स्तूप सुशोभित हैं, जिनमें प्राणी नौ अनुदिशो को प्रत्यक्ष देखते है, आगे चलकर जो चारो दिशाओ मे विजय आदि विमानो से सुशोभित है, ऐसे समस्त प्रयोजनो को सिद्ध करने वाले सर्वार्थ सिद्धि नाम के स्तूप है । वन के आगे स्फटिक के समान निर्मल सिद्ध स्तूप प्रकाशमान है, जिनमे सिद्धो के स्वरूप को प्रकट करने वाली दर्पणो की छाया दिखाई देती है।

उनके आगे दैदीप्यमान शिखरो से युक्त भव्यकूट नाम के-स्तूप रहते है, जिन्हें अभव्य जीव नही देख पाते क्योकि उनके प्रभाव से उनके नेत्र अन्धे हो जाते है। उनके आगे प्रमोह नाम के स्तूप है, जिन्हे देखकर लोग अत्यधिक भ्रम मे पड़ जाते है और चिरकाल से अभ्यस्त गृहीत वस्तु को भी भूल जाते है । आगे चलकर प्रबोध नाम के अन्य स्तूप है, जिन्हे देखकर लोग प्रबोध को प्राप्त हो जाते है और तत्त्व को प्राप्त कर साधु हो निश्चिन्त हो ससार से छूट जाते है ।

इस प्रकार जिनकी वेदिकाएं एक दूसरे से सटी हुई है – तथा जो तोरणो से समुद्भासित है, ऐसे अत्यन्त ऊँचे दश स्तूप क्रम क्रम से परिधि तक सुशोभित है । इसके आगे एक कोट रहता है जो एक कोस चौडा तथा एक धनुप ऊँचा होता है और उसकी मण्डल की भूमि को बचा कर मनुष्य तथा देव प्रदक्षिणा देते रहते है। इस परिधि में वाहर की ओर सत्रह कणिकाएं है जो एक-एक कोस विस्तृत है और भीतर की ओर एक कर्णिका है जो साढे तीन योजन विस्तार वाली है ।

जिस प्रकार परिवेश सूर्य को घेरता है, उसी प्रकार चित्र-विचित्र रत्नो से निर्मित यह परिधि भीतर के दैदीप्यमान मण्डल को घेरे रहती है । वहाँ गणधर देव की इच्छा करते ही एक दिव्य पुर बन जाता है, सो ठीक ही है, क्योकि मनःपर्यय ज्ञान के धारक जीवो का प्रभाव महान् होता है, वह पुर कल्प के ज्ञाता मनुष्य के द्वारा त्रिलोकसार, श्रीकान्त, श्रीप्रभु, शिवमन्दिर,, त्रिलोकी श्री, लोक कान्ति श्री, श्रीपुर,

त्रिदशप्रिय, लोकालोक प्रकाशाद्यौं, उदय, अभ्युदया वह क्षेम, क्षेमपुर, पुण्य, पुण्याह, पुष्पकास्पद भुव स्वभूं: तप.सत्य, लोका-लोकोत्तम, रुचि रुचावह उदारद्धि, दान-धर्म पुर श्रेय श्रेयस्कर तीर्थ तीर्थावह उदग्रह, विशाल, चित्रकूट, धीश्रीधर, त्रिविष्टप, मगलपुर, उत्तमपुर, कल्याणपुर, शरणपुर, जयपुरी, अपराजितपुरी आदित्यपुरी, जयन्तीपुरी, अचलसपुर, विजयन्त, विमल विमलप्रभ, कामभू, गगनाभोग, कल्याण, कलिनाशन, पवित्र, पंचकल्याण, पद्मावर्त, प्रमोदय, परार्ध्य मण्डितावास, महेन्द्र महिमालय, स्वायम्भुव, सुधाधात्री, शुद्धावास, सुखावती, विरजा, वीतशोका, अर्थ-विमला, विनयावति, भूतधात्री, पुराकल्प, पुराण, पुण्यसचय, ऋषिवती, यमवती, रत्नवती, अजरामरा, प्रतिष्ठा, ब्रह्मनिष्ठोर्वी, केतुमालिनी, अरिन्दम, मनोरम, तम पार, अरत्नी, रत्नसंचय, अयोध्या, अमृतधानी, ब्रह्मपुर, जाताह्मूय और उदस्तार्थ नाम से कहा जाता है।

भगवान् के प्रभाव से उत्पन्न वह नगर तीन लोक के समस्त श्रेष्ठ पदार्थों के समूह से युक्त आश्चर्य स्वरूप एव बहुत भारी आश्चर्य उत्पन्न करता हुआ सुशोभित होता है, उसका बनाने वाला कुबेर भी एकाग्रचित्त हो, उसके बनाने का पुन विचार करे तो वह भी नियम से भूल कर जायगा, फिर अन्य मनुष्य की बात ही क्या है ?

उस नगर का निर्माण यथास्थान छब्बीस प्रकार के सुवर्ण और मणियो से चित्र विचित्र है, अत अत्यधिक सुशोभित होता है। उसके तल भाग मे तीन जगती रहती है जो आधा-आधा कोस चौडी होती है और ऊपर-ऊपर उन जगतियो मे उतनी ही हानि होती जाती है। उन जगतियो की रचना वज्रमयी एव चित्रविचित्र रत्नो से उज्ज्वल है और उनकी श्रेष्ठ कान्ति चारो ओर इन्द्र धनुषो को विस्तृत करती रहती है छाती प्रमाण ऊँचे तथा देदीप्यमान प्रभा के धारक बरण्डे उन जगतियो को सुशोभित करते रहते है, तथा उन पर एक धनुष के अन्तर से स्थित सुशोभित पताकाएं है।

उन जगतियो में तीस-तीस वितस्तियो के कूट और उनसे द्विगुण आयाम वाले दश-दश धनुषों के अन्तर से स्थित कोष्टक रहते है। उन जगतियो के समीप दोनों ओर द्वारपालों के दो-दो आवास स्थान है, जिनमे प्रत्येक द्वार पर कुवेर की अपूर्व धनराशि प्रकाशमान है। प्रत्येक जगती के कूटो की सख्या सात सौ बहत्तर है तथा कोष्टकों की सख्या अड़तालीस है।

सक्षेप से तीनों जगतियों की कूट संख्या बाईस सौ बीस है और कोष्टो की

संख्या उसी प्रमाण से है । प्रथम जगती में बत्तीस हजार तीन सौ इक्यासी, दूसरी में चौबीस हजार दो सौ उन्नीस और तीसरी में इकत्तीस हजार छप्पन ध्वजाऐ रहती है। पूर्व कूटो मे दो लाख बत्तीस हजार चार सौ सत्तर, मध्यम कूटो में सात लाख इकसठ हजार एक सौ और अन्तिम कूटो में दो लाख चौवन हजार आठ सौ अस्सी और कोष्टकों में दूनी-दूनी है ।

इस प्रकार समस्त ध्वजाओ की संख्या छब्बीस लाख बीस हजार दो सौ छप्पन है । वहा सस्वेद-जलसिक्त प्रदेशो में रत्नो से मण्डित अनेक मण्डप है जो दो कोस चौड़े और एक कोस ऊँचे हैं, जिनकी रचना मण्डपो से आधी चौडी है। ऐसे शिखरो के मध्य भाग मे विराजमान जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाऐ है जो उत्तम मगल द्रव्यो से सुशोभित हैं । यद्यपि ये प्रतिमाऐ अपने-अपने स्थान पर स्थित है, तथापि सामने खडे होकर देखने वाले को ऐसी दिखाई देती है, मानो उन स्थानो से निकलकर आकाश में ही विद्यमान हों ।

वहा चारों दिशाओ में दैदीप्यमान तीन पीठ होते है, उनमे पहले पीठ पर चार हजार धर्म चक्र सुशोभित हैं। दूसरी पीठ पर मयूर और हंस-ध्वजाओ से भिन्न आठ प्रकार की महाध्वजाएँ दिशाओ को सुशोभित करती हुई विद्यमान है । तीसरी पीठ पर श्री मण्डप को सुशोभित करने वाला अनेक मगलद्रव्यो से सहित गंधकुटी नाम का प्रासाद है, उनमे भगवान का सिहासन रहता है । उस सिहासन पर विराजमान जिनेन्द्रदेव की सन्तुष्ट चित्त के धारक मनुष्य, सुर और असुरों के झुण्ड के झुण्ड मुकुटों पर हाथ लगाकर स्तुति करते थे, वे कह रहे थे कि हे महादेव ! आपकी जय हो । हे महेश्वर ! आप जयवन्त हो, हे महावाहो ! आप विजयी हों, हे विशाल नेत्र ! आप जयवन्त हो ।

मुनिसमूह को आदि लेकर वारह गण भगवान अर्हन्त को प्रणाम कर यथा-स्थान उनकी उपासना करने को स्थित हो गये ।

मार्ग के चारो ओर घेर कर वारह सभाएँ उनकी पूर्व, दक्षिण आदि दिशाओं मे मुनि समूह को आदि लेकर वारह गण विराजमान थे । वहां उत्कृष्ट वर को प्रदान करने वाले भगवान अर्हन्त के आगे गणधर को आदि लेकर अनेक मुनि सुशोभित थे, जो धर्म के स्वरूप को प्रत्यक्ष करने वाले एवं उदयन्त निर्मल धर्मेश्वर के अश के समान जान पड़ते थे ।

उनके आगे कल्पवासिनी देवियां सुशोभित थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो भगवान की बाह्याभ्यन्तर विभूतियाँ ही उनका रूप रखकर स्थित हों।

उनके बाद तीसरी सभा मे लज्जा, दया, क्षमा शान्ति आदि गुण रूपी सम्पत्ति से सुशोभित आर्यिकाएें विराजमान थी जो समीचीन धर्म की पुत्रियो के समान जात पड़ती थी।

चौथी सभा में प्रशसनीय एव अपने-आप से निकलने वाली प्रभा से सुशोभित ज्योतिषी देवो की स्त्रिया बैठी थी जो भगवान की कान्ति के समान जान पडती थी।

पांचवी सभा मे मूर्तिधारिणी वन की लक्ष्मी के समान सुन्दर वनवासी व्यन्तर देवों की स्त्रियाँ स्थित थी तथा वे वन की पुष्प लताओ के समान नम्रीभूत हो भगवान के चरणो को नमस्कार कर रही थी।

छठी सभा में भगवान् की अत्यधिक भक्ति से युक्त भवनवासी देवो की अगनाएँ स्थित थीं जो ऐसी जान पडती थी मानो स्वर्गभूमि और अधोलोक की लक्ष्मियाँ ही भगवान के समीप आकर बैठी है।

सातवी सभा में फरण के समान देदीप्यमान रत्नो की कान्ति से लाल-लाल दीखने वाले भवनवासी देव अपने ससार से भयभीत होते हुए, पाप बन्ध का छेदन करने वाले भगवान् के समीप विद्यमान थे।

आठवी सभा मे सुन्दर आकार के धारक व्यन्तर देव बैठे थे। वे भगवान् के आभूषण स्वरूप थे तथा फूलो की मालाओ को धारण करने वाले मन्दरगिरि के समान जान पडते थे।

नवमी सभा में, जिनकी अपनी प्रभा भगवान् की प्रभा मे निमग्न हो गयी थी, ऐसे सूर्य आदि ज्योतिषी देवो के समूह नम्रीभूत हो भगवान् से अपनी प्रभावृद्धि की प्रार्थना कर रहे थे।

दसवी सभा मे सौन्दर्य के स्वामी, सुखी एवं ऊपर बैठे हुए भगवान् के अंशों के समान इन्द्र आदि कल्पवासी देव सुशोभित हो रहे थे।

ग्यारहवी सभा मे चक्रवर्ती आदि राजा भगवान् की उपासना करते थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शरीरधारी दान-पूजा आदि धर्मो के निर्मल अंश ही हो।

बारहवी सभा में जिन्हे अविद्या, वैर, माया आदि दोषो के नष्ट हो जाने से विद्या, क्षमा आदि तत्तद्गुण प्राप्त हुये थे, ऐसे सिह, हाथी आदि तिर्यंच विद्यमान थे

और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो उन्ही के समान दूसरे तिर्यंच हों।

भावार्थ—तिर्यंच अपनी स्वाभाविक कुटिलता को छोड़कर तदाकार होने पर भी ऐसे लगते थे जैसे ये वे न हों, दूसरे ही हो। इस प्रकार द्वादशांग के गुणों के समान बारह सभाओ–सम्बन्धी बारह गण प्रदक्षिणा रूप से भगवान् की उपासना करते थे।

भगवान् अर्हन्त, अपने सिंहासन की शोभा से दूसरो मे न पाये जाने वाले परमेष्ठीपना को स्थापित कर रहे थे। क्रमपूर्वक ढोरे जाने पर देवोपनीत चमरो से महेशिता को तीन चन्द्रमा के समान कान्ति को धारण करने वाले छत्रत्रय से तीन लोक के स्वामित्व को ससार के आन्तरिक अन्धकार को नष्ट करने वाले भामण्डल से कान्ति की अधिकता को सब ऋतुओ के फूलो से युक्त अशोक वृक्ष के द्वारा अन्य समस्त जीवों के शोक दूर करने की सामर्थ्य को पुष्पवृष्टि रूप पूजा के द्वारा पूज्यता को अभयोत्पत्ति की घोषणा करने वाली दिव्य धुनी से जयलक्ष्मी की सर्वहितकारिता को और आनन्ददायी मगलमय वादित्रो के नाद से साधुजनो की चित्त को आनदित करने की सामर्थ्य को प्रकट कर रहे थे।

जो आत्मा के आधीन हो उन्हे प्रतिहार कहते है, इस प्रकार आत्माधीन गुणो से उत्पन्न अष्ट महा प्रातिहार्यो से भगवान अर्हन्त सुशोभित हो रहे थे। आत्मोत्थ समस्त विभूति को धारण करने वाले भगवान् सर्वलोकातिवर्ती दीप्ति से लोगों का कल्याण करने के लिये समोशरण मे विराजमान हुये। उस समय देव लोग घोषणा के साथ यह कहकर जीवो का आह्वान कर रहे थे कि हे आत्महित के इच्छुक भव्य जनो ! सम्पूर्ण विकसित आत्मा को धारण करने वाले केवली भगवान् यहाँ विराजमान है। शीघ्रता से यहा आओ, आओ और इन्हे नमस्कार करो। इस प्रकार उन देवो ने आह्वान किया तब शीघ्र ही मनुष्य, देव और असुर वैभव के साथ सब ओर से समवशरण मे आने लगे।

समवसरण के दृष्टिगोचर होते ही वे मानांगण मे खडे हो सबसे पहले हाथ जोड मस्तक से लगाकर वाहनो से नीचे उतरते है। तदनन्तर वाहन आदि परिग्रह को बाहर छोडकर विशिष्ट राज्य-चिह्नो से युक्त हो मान पीठ की प्रदक्षिणा देते है। प्रदक्षिणा के बाद सबसे पहले मानस्तम्भ को नमस्कार करते है, तदनन्तर हृदय मे उत्तम भक्ति को धारण करते हुये उत्तम पुरुष भीतर प्रवेश करते है और पापी, विरुद्ध

कार्य करने वाले, शूद्र, पाखण्डी, नपुंसक, विकलांग, विकलेन्द्रिय तथा भ्रान्त चित्त के धारक मनुष्य बाहर ही प्रदक्षिणा देते रहते है। सुरेन्द्र, असुरेन्द्र तथा नरेन्द्र आदि उत्तम पुरुष छत्र, चमर और भृंगार आदि को जयांगण में छोड़ आप्तजनों के साथ हाथ जोड़कर भीतर प्रवेश करते है।

मणिमय मुकटो को धारण करने वाले वे सब, भीतर प्रवेश कर विधिपूर्वक प्रणाम करते है और चक्रपीठ पर आरूढ होकर भगवान् जिनेन्द्र की तीन-बार प्रदक्षिणा देते है। इच्छानुसार अपनी शक्ति और विभव के अनुकूल सामग्री से पूजा करते हुये अपने नाम का उल्लेख कर नमस्कार करते हैं।

तदनन्तर जिन्होंने अपनी अंजलियाँ मस्तक से लगा रखी है और रोमाचों के जिनका भाव प्रकट हो रहा है, ऐसे वे सब अपनी-अपनी सीढ़ियो से नीचे उत्तर कर सभाओं में यथास्थान बैठते है।

जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख खिला हुआ कमलो का समूह सुशोभित होता है, उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् रूपी सूर्य के सम्मुख वह गणरूपी-द्वादश सभा रूपी कमलों का समूह सुशोभित हो रहा था। जिस प्रकार नदी समुद्र को भरने मे समर्थ नहीं है, उसी प्रकार सब ओर से समवशरण मे प्रवेश करती हुई वह सेना उसे भरने मे समर्थ नही थी। यहां बाहर निकलता, आता, प्रवेश करता, दर्शन करता, प्रदक्षिणा देता, सन्तुष्ट होता, भगवान् को प्रणाम करता और उनकी स्तुति करता हुआ सज्जनो का समूह सदा विद्यमान रहता है।

समवशरण के भीतर भगवान् के प्रभाव से न मोह रहता है, न रागद्वेष उत्पन्न होते है, न उत्कण्ठा, रति एव मात्सर्यभाव रहते है, न अगड़ाई और जमुहाई आती है, न नीद आती है, न तन्द्रा सताती है, न क्लेश होता है, न भूख लगती है, न प्यास का दु:ख होता है और न सदा समस्त दिन कभी अन्य समस्त प्रकार का अमगल ही होता है।

बाह्य विभूति के अद्वितीय स्थान समवशरण भूमि में जब अन्तरंग आत्मा की पवित्रता से युक्त भगवान् विराजमान होते है, तब बारह सभाओ का समूह अपने तृषित नेत्रों से उनके अमृत रूप सौन्दर्य सागर का पान करता है।

इस प्रकार समोशरण का रचनाक्रम कहा। तीर्थंकर प्रभु की आयु थोडी रह जाती है, तब अर्हंत भगवान् योग निरोध करते हैं, समवशरण का विघटन हो

जाता है। ये तीर्थकर अरहन्त भगवान् चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करते है।

प्रश्न :—चौदहवें गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिनकी योगो की प्रवृत्ति दूर हो जाती है, उन्हें अयोग केवली कहते हैं। यह जीव इस गुणस्थान मे 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' इन पांच लघु अक्षरो के उच्चारण में जितना काल लगता है, उतने ही काल तक ठहरता है। अनन्तर शुक्ल ध्यान के चतुर्थ पाद के प्रभाव से सत्ता मे स्थित पिचासी प्रकृतियो का क्षय कर एक समय में सिद्ध क्षेत्र मे पहुच जाता है।

(हरिवशपुराण, पेज न० ६४७, जिनसेन स्वामी)

वज्रं रत्नेषु गोशीर्षं चन्दनेषु यथा मतम्।
मणिषु वैडूर्यं यथा ज्ञेयं तथा ध्यानं व्रतादिषु ॥

जिस प्रकार बहुमूल्य रत्नो मे वज्र (हीरा) रत्न सर्वोत्तम कहा जाता है, चन्दनो मे मलयागिरि चन्दन सुवासित-शीतल एव महत्त्वपूर्ण जाना जाता है, मणियो में वैडूर्यमणि को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, उसी प्रकार व्रत,, संयम, शील, चरित्र, तपादि अनुष्ठानो मे ध्यान सर्वोत्तम और महत्त्वपूर्ण है। यह साधुओ का प्राण है। कहा भी है—"दह्यतेऽनन्त कर्माणि ध्यानाग्निना क्षणात्।" अर्थात् ध्यान रूपी अग्नि से अनन्त भवो मे सचित किये कर्मपुञ्ज क्षणभर मे रूई के ढेर के समान जलकर भस्म हो जाते है। आचार्य कहते है "ध्यानं प्राणाः मुनीश्वराणा।" अर्थात् ध्यान मात्र ही साधुओ का जीवन है। आत्मदर्शन का एक मात्र ध्यान ही उपाय है।

अध्याय सातवां : लोक वर्णन

नरकों का वर्णन और नरकों के नाम—

रत्न शर्करा वालुका पङ्क धूम तमो महातमः प्रभा भूमयो
घनाम्बुवाताकाश प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ।।११६०।।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुका प्रभा, पङ्क प्रभा, धूम प्रभा, तमः प्रभा और महातमः प्रभा, ये सात नरक क्रम से नीचे-नीचे स्थित है। ये क्रमश घनोदधिवात वलय, घनवात वलय और तनुवात वलय से वेष्टित है और तीनो वात वलय आकाश के आश्रित है। रत्नप्रभा सहित भूमि रत्नप्रभा है, इसमें मन्द अन्धकार है। शर्कराप्रभा सहित भूमि शर्कराप्रभा है, इसमे बहुत कम तेज है। वालुका प्रभा भूमि अन्धकार प्राय है। आगे की भूमियाँ उत्तरोत्तर अन्धकारमय ही है। वालुका प्रभा के स्थान में बालिका प्रभा भी पाठ देखा जाता है। महातम. प्रभा का तमस्तम प्रभा यह दूसरा नाम है। ये वातवलय नरको के नीचे भी है। घनोदधिवात वलय गोमूत्र के रग के समान है। घनवात मू ग के रग का है। तनुवात वलय अनेक रग का है। तीनो वातवलय क्रमश लोक के नीचे के भाग मे तथा सप्तम पृथिवी के अन्तिम भाग तक एक बाजू मे बीस-बीस हजार योजन मोटे है। सप्तम पृथिवी के अन्त मे क्रमशः सात, पाँच और चार योजन मोटे है। फिर क्रमशः घटते हुए मध्य-लोक मे पांच, चार और तीन योजन मोटे रह जाते है। फिर क्रमशः बढकर ब्रह्मलोक के पास सात, पाच और चार योजन मोटे हो जाते है। पुनः क्रमशः घटकर लोक के अन्तिम भाग मे पाच, चार और तीन योजन रह जाते है। लोक शिखर पर दो कोस, एक कोस तथा सवा चार सौ धनुष कम एक कोस प्रमाण मोटे है।

प्रश्न :—नरकों का विस्तार किस प्रकार है ?

उत्तर :—प्रथम पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। इसके तीन भाग है—१. खर भाग, २ पङ्क भाग और ३. अब्बहुल भाग। खर भाग का विस्तार सोलह हजार योजन, पङ्क भाग का चौरासी हजार योजन और अब्बहुल भाग का अस्सी हजार योजन है। खर भाग के ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन

छोड़कर शेष भाग मे तथा पक भाग मे भवनवासी और व्यन्तर देव रहते है, और अब्बहुल के भाग में नारकी रहते है। द्वितीय आदि पृथिवियों का विस्तार क्रम से ३२, २८, २४, २०, १६ और ८ हजार योजन है। सातों नरको के प्रस्तारो की सख्या क्रम से १३, ११, ६, ७, ५, ३ और १ है। प्रथम नरक मे १३ और सप्तम नरक मे केवल एक प्रस्तार है।

सातो नरको के रूढ नाम इस प्रकार है—

१. धम्मा, २ वशा, ३ शैला या मेघा, ४. अञ्जना, ५. अरिष्टा, ६. मघवी और ७. माघवी।

सातों नरकों में बिलों की संख्या—

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशति पञ्चदश दशत्रिपञ्चोनैक नरक शत सहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥११६१॥

उन प्रथम आदि नरको में क्रम से तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाच कम एक लाख और पांच बिल है। सम्पूर्ण बिलो की संख्या चौरासी लाख है।

नारकियों का वर्णन—

नारकानित्या शुभतर लेश्या परिणाम देहवेदना विक्रियाः ॥११६२॥

नारकी जीव सदा ही अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले होते है। उनके कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्याये होती है। प्रथम और द्वितीय नरक मे कापोत लेश्या होती है। तृतीय नरक के उपरिभाग मे कापोत और अधोभाग मे नील लेश्या है। चतुर्थ नरक मे नील लेश्या है। पञ्चम नरक में ऊपर नील और नीचे कृष्ण लेश्या है। छठवे और सातवे नरक मे कृष्ण और परम कृष्ण लेश्या है। उक्त वर्णन द्रव्य लेश्याओ का है, जो आयुपर्यन्त रहती है। भावलेश्याएँ अन्तर्मुहूर्त मे बदलती रहती हैं, अत. उनका वर्णन नही किया गया।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द को परिणाम कहते है। शरीर को देह कहते है। अशुभ नाम कर्म के उदय से नारकियो के परिणाम और शरीर अशुभतर होते है।

प्रथम नरक मे नारकियो के शरीर की ऊँचाई सात धनुष, तीन धनुष, तीन हाथ और छह अगुल है। आगे के नरको में क्रम से दुगनी-दुगनी ऊँचाई होती गई है,

जो सातवें नरक में ५०० धनुष हो जाती है। शीत और उष्णता से होने वाले दुःख का नाम वेदना है। नारकियों को शीत और उष्णता-जन्य तीव्र दुःख होता है। प्रथम नरक से चतुर्थ नरक तक उष्ण वेदना होती हैं। पञ्चम नरक के ऊपर के दो लाख बिलो में उष्ण वेदना है, और नीचे के एक लाख विलों मे शीत वेदना है। मतान्तर से पाँचवे नरक के ऊपर के दो लाख पच्चीस बिलो में उष्ण वेदना तथा २५ कम एक लाख बिलो मे शीत वेदना है। छठे और सातवे नरक मे उष्ण वेदना है। शरीर की विकृति को विक्रिया-कहते है। अशुभ कर्म के उदय से उनकी विक्रिया भी अशुभ ही होती है। शुभ करना चाहते है, पर अशुभ होती है।

नारकी एक दूसरे के प्रति व्यवहार—

परस्परोदीरित दुःखा ।।११६३।।

नारकी जीव परस्पर में एक दूसरे को दुःख उत्पन्न करते है। वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव अवधिज्ञान से और मिथ्यादृष्टि विभगावधिज्ञान से दूर से ही दुःख का कारण समझ लेते है और दुःखी होते है। पास में आने पर एक दूसरे को देखते ही क्रोध बढ जाता है, पुन· पूर्व भव के स्मरण और तीव्र वैर के कारण वे कुत्तो की तरह एक दूसरे को भोकते है तथा अपने द्वारा बनाये हुए नाना प्रकार के शस्त्रो द्वारा एक दूसरे को मारने मे प्रवृत्त हो जाते है। इस प्रकार नारकी जीव दिन रात कुत्तो की तरह लडकर, काटकर, मारकर स्वय ही दुःख पैदा करते है। एक दूसरे को काटते है, छेदते है, सीसा गलाकर पिलाते है, वैतरिणी में ढकेलते हैं, कडाही मे झोंक देते है आदि।

असुर कुमार देव की पृथ्वी—

संक्लिष्टा सुरोदीरित दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्या ।।११६४।।

चौथे नरक से पहले अर्थात् तृतीय नरक पर्यन्त अत्यन्त सक्लिष्ट परिणामो के धारक अम्बाम्बरीष आदि कुछ असुर कुमारो के द्वारा भी नारकीयो को दुःख पहुँचाया जाता है। असुर कुमार देव तृतीय नरक तक जाकर पूर्व भव का स्मरण कराके नारकियों को परस्पर में लडाते है और लडाई को देखकर स्वय (प्रसन्न) होते है। च शब्द से असुर कुमार देव पूर्व सूत्र मे कथित दुःख भी पहुँचाते हैं ऐसा समझना चाहिये।

नरकों में आयु वर्णन—

तेष्वेक त्रिसप्त दश सप्त दश द्वाविंशति त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्वानां परा स्थितिः ॥११६५॥

उन नरको से नारकी जीवो की उत्कृष्ट आयु क्रम से एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तेतीस सागर है।

प्रथम नरक के प्रथम पटल मे जघन्य आयु १० हजार वर्ष है। प्रथम पटल में जो उत्कृष्ट आयु है, वही द्वितीय पटल मे जघन्य आयु है। यही क्रम सातो नरको मे है।

पटलो मे उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है—

पटल	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
नरक १	९० हजार वर्ष	९० लाख वर्ष	असं पूर्व	१० सागर	१/५ सागर	१/१० सागर	४/१० सागर	१/२ सागर	६/१० सागर	७/१० सागर	८/१० सागर	९/१० सागर	१ सागर
२	१ २/१९ सागर	१ ४/११ सागर	१ ६/११ सागर	१ ८/११ सागर	१ ५०/११ सागर	२ १/११ सागर	२ ३/११ सागर	२ ४/११ सागर	२ ७/११ सागर	२ ९/११ सागर	८/१३ सागर		
३	३ ४/८ सागर	३ ८/९ सागर	४ २/९ सागर	४ ७/९ सागर	५ २/९ सागर	५ ६/९ सागर	६ १/९ सागर	६ ५/९ सागर	७ सागर				
४	७ ३/७ सागर	७ ६/७ सागर	८ २/७ सागर	८ ५/७ सागर	९ १/७ सागर	९ ४/७ सागर	१० सागर						
५	११ २/५ सागर	१२ ४/५ सागर	१४ १/५ सागर	१५ ३/५ सागर	१७ सागर								
६	१८ २/३ सागर	२० १/३ सागर	२२ सागर										
७	३३ सागर												

इन नरकों में मद्यपायी, मांसभक्षी, यज्ञ मे बलि देने वाले, असत्यवादी, पर-द्रव्य का हरण करने वाले, परस्त्री-लम्पटी, तीव्र लोभी, रात्रि मे भोजन करने वाले, स्त्री, बालक, वृद्ध और ऋषि के साथ विश्वासघात करने वाले, जिनधर्म निन्दक, रौद्र ध्यान करने वाले तथा इसी प्रकार के अन्य पाप कर्म करने वाले जीव पैदा होते है ।

उत्पत्ति के समय इन जीवो के ऊपर की ओर पैर और मस्तक नीचे की ओर रहता है । नारकी जीवो को क्षुधा, तृषा आदि की तीव्र वेदना आयु पर्यन्त सहन करनी पड़ती है । क्षण भर के लिये भी सुख नही मिलता है ।

असज्ञी जीव प्रथम नरक तक, सरीसृप (रेंगने वाले) द्वितीय नरक तक, पक्षी तृतीय नरक तक, सर्प चतुर्थ नरक तक, सिह पाँचवे नरक तक, स्त्री छठवे नरक तक और मत्स्य सातवे नरक तक जाते है ।

यदि कोई प्रथम नरक में लगातार जावे तो आठ बार जा सकता है । अर्थात् कोई जीव प्रथम नरक मे उत्पन्न हुआ, फिर वहाँ से निकल कर मनुष्य या तिर्यञ्च हुआ, पुनः प्रथम नरक मे उत्पन्न हुआ । इस प्रकार वह जीव प्रथम नरक मे ही जाता रहे तो आठ बार तक जा सकता है । इसी प्रकार द्वितीय नरक मे सात बार, तृतीय नरक में छह बार, चौथे नरक मे पांच बार, पाँचवे नरक मे चार बार, छठवे नरक मे तीन बार और सातवें नरक मे दो बार तक लगातार उत्पन्न हो सकता है ।

सातवे नरक से निकला हुआ जीव तिर्यञ्च ही होता है और पुन नरक मे जाता है । छठवे नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य हो सकता है और सम्यग्दर्शन को भी प्राप्त कर सकता है, लेकिन देशव्रती नही हो सकता । पञ्चम नरक से निकला हुआ जीव देशव्रती हो सकता है, लेकिन महाव्रती नही । चौथे नरक से निकला हुआ जीव मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है । प्रथम, द्वितीय और तृतीय नरक से निकला हुआ जीव तीर्थंकर भी हो सकता है ।

* मध्यलोक *

जम्बूद्वीप लवणोदादयः शुभनामानो द्वीप समुद्राः ॥११६६॥

मध्य लोक मे उत्तम नाम वाले जम्बूद्वीप आदि और लवण समुद्र आदि असंख्यात द्वीप समुद्र है ।

१. जम्बूद्वीप, १ लवण समुद्र, २. धातकी खण्ड द्वीप २ कालोद समुद्र, ३. पुष्करवर द्वीप, ३ पुष्करवर समुद्र, ४. वारुणीवर द्वीप, ४ वारुणीवर समुद्र, ५. क्षीरवर द्वीप ५ क्षीरवर समुद्र, ६. घृतवर द्वीप ६ घृतवर समुद्र, ७. इक्षुवर द्वीप ७ इक्षुवर समुद्र, ८. नन्दीश्वर द्वीप ८ नन्दीश्वर समुद्र, ९ अरुणवर द्वीप ९ अरुणवर समुद्र। इस प्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त एक दूसरे को घेरे हुये असंख्यात द्वीप और समुद्र है। अर्थात् पच्चीस कोटि उद्धार पल्यो के जितने रोम खण्ड हो उतनी ही द्वीप समुद्रो की सख्या है।

मेरु से उत्तर दिशा में उत्तर कुरु नामक उत्तम भोग भूमि है। उसके मध्य में नाना रत्नमय एक जम्बू वृक्ष है। जम्बू वृक्ष के चारो ओर चार परिवार वृक्ष है। प्रत्येक परिवार वृक्ष के भी एक लाख बयालीस हजार एक सौ पन्द्रह परिवार वृक्ष है। समस्त जम्बू वृक्षो की सख्या १४०१२० है। मूल जम्बू वृक्ष ५०० योजन ऊँचा है। मध्य मे जम्बू वृक्ष के होने से ही इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा। उत्तर कुरु की तरह देव कुरु के मध्य मे शाल्मलि वृक्ष है। प्रत्येक वृक्ष के ऊपर रत्नमय जिनालय है। इसी प्रकार धातकी द्वीप मे धातकी वृक्ष और पुष्करवर द्वीप में पुष्करवर वृक्ष है।

द्वीप और समुद्रों का विस्तार और रचना—

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वं पूर्वं परिक्षेपिणो वलयाकृतयः ।।११६७।।

प्रत्येक द्वीप समुद्र दूने-दूने विस्तार वाले, एक दूसरे को घेरे हुए तथा चूड़ी के आकार वाले है।

जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन, लवण समुद्र का दो लाख योजन, धातकी द्वीप का चार लाख योजन, कालोद समुद्र का आठ लाख योजन, पुष्करवर द्वीप का सोलह लाख योजन, पुष्करवर समुद्र का बत्तीस लाख योजन विस्तार है। इसी क्रम से स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त द्वीप और समुद्रो का विस्तार दूना है। जिस प्रकार धातकी द्वीप का विस्तार जम्बूद्वीप और लवण समुद्र के विस्तार से एक योजन अधिक है, उसी प्रकार असख्यात समुद्रो के विस्तार से स्वयंभूरमण समुद्र का विस्तार एक लाख योजन अधिक है। पहले पहले के द्वीप समुद्र आगे-आगे के द्वीप समुद्रों को घेरे हुए है। अर्थात् जम्बूद्वीप को लवण समुद्र, लवण समुद्र को धातकी द्वीप, धातकी द्वीप को कालोद समुद्र घेरे हुये है। यही क्रम आगे भी है।

ये द्वीप समुद्र चूड़ी के समान गोलाकार है। त्रिकोण, चतुष्कोण या अन्य आकार वाले नहीं है।

जम्बूद्वीप की रचना और विस्तार

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृतो योजन शत सहस्त्र विष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥११६८॥

उन असख्यात द्वीप समुद्रो के बीच में एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बू द्वीप है। जम्बूद्वीप के मध्य मे मेरु है, अतः मेरु जम्बूद्वीप की नाभि कहा गया है। जम्बूद्वीप का आकार गोल है।

मेरु पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है। वह एक हजार योजन भूमि से नीचे और ९९ हजार योजन भूमि से ऊपर है। भूमि पर भद्रशाल वन है। भद्रशाल वन से पॉच सो योजन ऊपर नन्दन वन है। नन्दन वन से त्रेसठ हजार योजन ऊपर सौमनस वन है। सोमनस वन से साढे पैंतिस हजार योजन ऊपर पाण्डुकवन है। मेरु पर्वत की शिखर चालीस योजन ऊंची है। इस शिखर की ऊँचाई का परिमाण पाण्डुकवन के परिमाण के अन्तर्गत नही है।

जम्बूद्वीप का एक लाख योजन विंस्तार कोट के विस्तार सहित है। जंम्बूद्वीप का कोट आठ योजन ऊचा है। मूलं में बारह योजंन, मध्य में आठ योजन और ऊपर भी आठ योजन विस्तार है। उस कोट के दोनो पार्श्वो मे दो कोस ऊची रत्नमयी दो वेदिया है। प्रत्येक वेदी का विस्तार एक कोस और एक हजार सात सौ पचास धनुष है। दोनो वेदियो के वीच में महोक्ष देवो के अनादिधन प्रासाद है, जो वृक्ष, वापी, सरोवर, जिन मन्दिर आदि से विभूषित है। उस कोट के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर चारो दिशाओ में क्रम से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नाम के चार द्वार है। द्वारो की ऊँचाई आठ योजन और विस्तार चार योजन है। द्वारो के आगे अष्ट प्रतिहार्य सयुक्त जिन प्रतिमाये है।

जम्बूद्वीप की परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन तीन कोस एक सौ अट्ठाईस धनुष और साढे तेरह अंगुल से कुछ अधिक है।

क्षेत्रों का वर्णन—

भरत हैमवत हरि विदेह रम्यक हैरण्यवतेरावत वर्षाः क्षेत्राणि ॥११६९॥

जम्बूद्वीप मे भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये अनादि निधन नाम वाले सात क्षेत्र है ।

हिमवान् पर्वत और पूर्व-दक्षिण-पश्चिम समुद्र के बीच मे धनुप के आकार का भरत क्षेत्र है । इसके गगा–सिन्धु नदी और विजयार्द्ध पर्वत के द्वारा छह खण्ड हो गये है ।

भरत क्षेत्र के बीच मे पच्चीस योजन ऊँचा रजतमय विजयार्द्ध पर्वत है, जिसका विस्तार पचास हजार योजन है । विजयार्द्ध पर्वत पर और पाच म्लेच्छ खण्डो मे चौथे काल के आदि और अन्त के समान काल रहता है । इसलिये वहाँ पर शरीर की ऊँचाई उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष और जघन्य सात हाथ है । उत्कृष्ट आयु पूर्व कोटि और जघन्य एक सौ बीस वर्ष है ।

विजयार्द्ध पर्वत से दक्षिण दिशा के बीच मे अयोध्या नगरी है । विजयार्द्ध पर्वत से उत्तर दिशा मे और क्षुद्र हिमवान् पर्वत से दक्षिण दिशा मे गगा–सिन्धु नदियो तथा म्लेच्छ खण्डो के मध्य मे एक योजन ऊँचा और पचास योजन लम्बा, ज़िनालय सहित सुवर्णरत्नमय वृषभ नाम का पर्वत है । इस पर्वत पर चक्रवर्ती अपनी प्रशस्ति लिखते है ।

हिमवान्–महाहिमवान् पर्वत और पूर्व–पश्चिम समुद्र के मध्य मे हैमवत क्षेत्र है। इसमे जघन्य भोगभूमि की रचना है। हैमवत क्षेत्र के मध्य मे गोलाकार एक हजार योजन ऊँचा, एक योजन लम्बा शब्दवान् पर्वत है ।

जघन्य भोग भूमि मे शरीर की ऊँचाई एक कोश, एक पल्य की आयु और प्रियडु के समान श्याम वर्ण शरीर होता है । वहाँ के प्राणी एक दिन के बाद आवला प्रमाण भोजन करते है । आयु के नव मास शेष रहने पर गर्भ से स्त्री पुरुष युगल पैदा होते है । नवीन युगल के उत्पन्न होते ही पूर्व युगल का छीक और जँभाई से मरण हो जाता है । उनका शरीर बिजली के समान विघटित हो जाता हैं । नूतन युगल अपने अँगूठे को चूँसते हुए सात दिन तक सोधे सोता रहता है । पुनः सात दिन तक पृथ्वी पर सरकता है । इसके बाद सात दिन तक मधुर वाणी बोलते हुए पृथ्वी पर लड-खडाते हुए चलता हैं । चौथे सप्ताह मे अच्छी तरह चलने लगता है । पांचवे सप्ताह मे कला और गुणो को धारण करने के योग्य हो जाता है । छठवें सप्ताह में तरुण होकर भोगो को भोगने लगता है । और सातवे सप्ताह मे सम्यक्त्व को ग्रहण करने के योग्य

हो जाता है। सब युगल दश कोस ऊँचे दश प्रकार के कल्प वृक्षों से उत्पन्न भोगों को भोगते हैं। भोग भूमि के जीव आर्य कहलाते है, क्योकि वहाँ पुरुष स्त्री को आर्या और स्त्री पुरुष को आर्य कहकर बुलाती हैं।

१. मद्यांग जाति के कल्प वृक्ष मद्य को देते है। मद्य का तात्पर्य शराब या मदिरा से नही है किन्तु दूध, दधि, घृत आदि से बनी हुई सुगन्धित द्रव्य को कामशक्तिजनक होने से मद्य कहा गया है।

२. वादित्रांग जाति के कल्प वृक्ष मृदंग, भेरी, वीणा आदि नाना प्रकार के बाजो को देते हैं।

३. भूषणांग जाति के कल्प वृक्ष विविध प्रकार के आभूषणो को देते है।

४. माल्यांग नाम के कल्प वृक्ष अशोक, चम्पा, परिजात आदि के सुगन्धित पुष्प माला आदि को देते है।

५. ज्योतिरग जाति के कल्पवृक्ष सूर्यादिक के तेज को भी तिरस्कृत कर देते है।

६. दीपांग जाति के कल्पवृक्ष नाना प्रकार के दीपको को देते हैं, जिनके द्वारा लोग घरों के अन्दर अन्धकार युक्त स्थानो मे प्रकाश करते हैं।

७. गृहाग जाति के कल्पवृक्ष प्राकार और गोपुरयुक्त रत्नमय प्रासादो का निर्माण करते है।

८. भोजनाग कल्पवृक्ष छह रसयुक्त और अमृतमय दिव्य आहार को देते है।

९. भाजनांग जाति के कल्पवृक्ष मणि और सुवर्ण थाली, घड़ा आदि बर्तनो को देते है।

१०. वस्त्राग जाति के कल्पवृक्ष नाना प्रकार के सुन्दर और सूक्ष्म वस्त्रो को देते है।

वहां पर अमृत के समान स्वादयुक्त अत्यन्त कोमल चार अगुल प्रमाण घास होती है, जिसको गाये चरती है। वहाँ की भूमि पञ्च रत्नमय है। कही-कही पर मणि और सुवर्णमय क्रीडा पर्वत है। वापी, सरोवर और नदियो में रत्नो की सीढिया लगी है। पचेन्द्रिय तिर्यञ्च मास नही खाते और न परस्पर में विरोध ही करते है।

वहाँ विकलत्रय नही होते है। कोमल हृदय वाले, मन्दकषायी और शीलादि-सयुक्त मनुष्य ऋषियों को आहारदान देने से और तिर्यञ्च उस आहार की अनुमोदना

करने से भोग भूमि मे उत्पन्न होते है । सम्यग्दृष्टि जीव वहां से मरकर सौधर्म–ऐशान स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं ।

महाहिमवान् और निषध पर्वत तथा पूर्व और पश्चिम समुद्र के बीच मे हरि क्षेत्र है । इसके मध्य मे वेदाढ्य नाम का पटहाकार पर्वत है । हरि क्षेत्र में मध्यम भोगभूमि की रचना है ।

मध्यम भोगभूमि मे शरीर की ऊँचाई दो कोस, आयु दो पल्य और वर्ण चन्द्रमा के समान होता है । वहा के प्राणी दो दिन के बाद विभीतक (वेहरे के) फल के बराबर भोजन करते है । कल्पवृक्ष बीस योजन ऊँचे होते है । अन्य वर्णन जघन्य भोगभूमि के समान ही है ।

निषध नील पर्वत तथा पूर्व और पश्चिम समुद्र के बीच मे विदेह क्षेत्र है । विदेह क्षेत्र के चार भाग है—१ मेरु पर्वत से पूर्व मे पूर्व विदेह, २. पश्चिम मे अपर-विदेह, ३ दक्षिण मे देव कुरु और ४ उत्तर मे उत्तर कुरु। विदेह क्षेत्र मे कभी जिन-धर्म का विनाश नही होता है, धर्म की प्रवृत्ति सदा रहती है और वहा से मरकर मनुष्य प्रायः मुक्त हो जाते है । अत. इस क्षेत्र का नाम विदेह पडा । विदेह क्षेत्र मे तीर्थंकर सदा रहते है । यहाँ भरत और ऐरावत क्षेत्र के समान चौवीस तीर्थंकर होने का नियम नही है । देवकुरु, उत्तर कुरु, पूर्व विदेह और अपर विदेह के कोने मे गजदन्त नाम के चार पर्वत हैं । इनकी लम्बाई तीस हजार दो सौ नव योजन, चौड़ाई पाच सौ योजन और ऊँचाई चार सौ योजन है । ये गजदन्त मेरु से निकले है । इनमे से दो गजदन्त निषध पर्व की ओर, और दो गजदन्त नील पर्वत की ओर गये है । दक्षिण दिग्वर्त्ती गजदन्तो के बीच मे देवकुरु नामक उत्तम भोग भूमि है । देवकुरु के मध्य मे एक शाल्मलि वृक्ष है । उत्तर दिग्वर्त्ती गजदन्तो के बीच में उत्तर कुरु है ।

उत्तर भोग भूमि मे शरीर की ऊँचाई तीन कोस, आयु तीन पल्य और वर्ण उदीयमान सूर्य के समान है । वहाँ के मनुष्य तीन दिन के बाद बेर के बराबर भोजन करते है । कल्पवृक्षो की ऊँचाई तीस गव्यूती है । मेरु के चारो ओर भद्रशाल नाम का वन है । उस वन से पूर्ण और पश्चिम मे निषध और नील पर्वत से लगी हुई दो वेदिया है ।

पूर्ण विदेह मे सीता नदी के होने से इसके दो भाग हो गये है—उत्तर भाग और दक्षिण भाग । उत्तर भाग मे आठ क्षेत्र है ।

वेदी और वक्षार पर्वत के बीच में एक क्षेत्र है। वक्षार पर्वत और दो विभंग नदियो के बीच मे दूसरा क्षेत्र है। विभग नदी और वक्षार-पर्वत के मध्य में तीसरा क्षेत्र है। वक्षार पर्वत और दो विभंग नदियों के बीच में चौथा क्षेत्र है। विभग नदी और वक्षार पर्वत के बीच मे पाचवां क्षेत्र है। वक्षार पर्वत और दो-दो विभग नदियो के अन्तराल में छठवां क्षेत्र है। विभंग नदी और वक्षार पर्वत के बीच मे सातवा क्षेत्र है। वक्षार पर्वत और वन वेदिका के मध्य मे आठवा क्षेत्र है। इस प्रकार चार वक्षार पर्वतों, तीन विभग नदियो और दो वेदियो के नौ खण्डो से विभक्त होकर आठ क्षेत्र हो जाते है। इन आठ क्षेत्रो के नाम इस प्रकार है—१. कच्छा, २. सुकच्छा ३. महाकच्छा, ४ कच्छकावती, ५ आवर्ता, ६. लागलावती, ७. पुष्कला और ८. पुष्कलावतो। इन क्षेत्रों के बीच में आठ मूल पत्तन है—१. क्षेमा, २. क्षेमकरी, ३. अरिष्टा, ४ अरिष्टपुरी, ५. खंग, ६ मञ्जूषा, ७. औषधी और ८ पुण्डरीकिणी। प्रत्येक क्षेत्र के बीच मे गगा और सिन्धु नाम की दो-दो नदिया है जो नील पर्वत से निकली है और सीता नदी में मिल गई है। प्रत्येक क्षेत्र मे एक-एक विजयार्द्ध पर्वत है। प्रत्येक क्षेत्र में विजयार्ध पर्वत से उत्तर की ओर और नील पर्वत से दक्षिण को ओर वृषभगिरि नामक पर्वत है। इस पर्वत पर चक्रवर्ती अपनी प्रसिद्धि लिखते है। आठो ही क्षेत्र मे छह-छह खण्ड है—पाच-पाच म्लेच्छ और एक-एक आर्य खण्ड। आठो ही आर्य खण्डो मे एक-एक उपसमुद्र है। प्रत्येक क्षेत्र मे सीता नदी के अन्त मे व्यन्तर-देव रहते है जो चक्रवर्तियो द्वारा वश मे किये जाते है।

सीता नदी से दक्षिण दिशा मे भी आठ क्षेत्र है, पूर्व दिशा मे वन वेदी है। वन वेदी के बाद वक्षार पर्वत, विभगानदी, वक्षार पर्वत, विभगा नदी, वक्षार पर्वत, विभगानदी, वक्षार पर्वत और वन वेदी ये क्रम से नौ स्थान है। इनके द्वारा विभक्त हो जाने से आठ क्षेत्र हो जाते है—१ वत्सा, २. सुवत्सा, ३. महावत्सा, ४. वत्सकावती. ५. रम्या, ६. रम्यका, ७. रमणीया, ८ मगलावती। इन आठ क्षेत्रो के मध्य मे आठ मूल पत्तन है—१ सुसीमा, २ कुण्डला, ३. अपराजिता, ४. प्रभङ्करी, ५. अङ्कवती, ६. पद्मावती, ७. शुभा, ८ रत्न सचया। आठो क्षेत्रो मे से प्रत्येक मे दो-दो गगा-सिन्धु नदियाँ बहती है, जो निषध पर्वत से निकली है और सीता नदी मे मिल गई हैं। आठों क्षेत्रो के मध्य में आठ उपसमुद्र है। निषध पर्वत से उत्तर मे और विजयार्द्ध पर्वतों से दक्षिण मे आठ वृषभगिरि है जिन पर चक्रवर्ती अपने-अपने दिग्विजय के वर्णन को

लिखते है । आठो क्षेत्र दो खण्डों (५ म्लेच्छ और १ आर्य) से शोभायमान है । सीता नदी मे मागधवरतनुप्रभास नामक व्यन्तरदेव रहते है ।

सीतोदा नदी अपरविदेह के बीच से निकल कर पश्चिम समुद्र मे मिली है । उसके द्वारा दो विदेह हो गये है—दक्षिण विदेह और उत्तर विदेह । उत्तर विदेह का वर्णन पूर्व विदेह के समान ही है ।

सीतोदा नदी के दक्षिण तट पर जो क्षेत्र है उनके नाम—१. पद्मा, २. सुपद्मा, ३ महापद्मा, ४ पद्मकावती, ५. शङ्खा, ६. नलिना, ७. कुमुदा, ८. सरिता ।

इन क्षेत्रो के मध्य की आठ मूल नगरियो के नाम—१. अश्वपुरी, २. सिहपुरी, ३. महापुरी, ४. विजयापुरी, ५. अरजा, ६. विरजा, ७. अशोका, ८. बीतशोका । सीतोदा नदी के उत्तर तट पर जो आठ क्षेत्र है उनके नाम—१. वप्रा, २. सुवप्रा, ३. महावप्रा, ४. वप्रकावती, ५. गन्धा, ६. सुगन्धा, ७. गन्धिला, ८ गन्धमादिनी । इन क्षेत्रो सम्बन्धी आठ मूल नगरियो के नाम—१. विजया, २. वैजयन्ती, ३. जयन्ती, ४. अपराजिता, ५. चक्रा, ६ खगा, ७. अयोध्या, ८. अवध्या । क्षेत्र और पश्चिम समुद्र की वेदी के मध्य मे भूतारण्य बन है ।

नील और रुक्मि पर्वत तथा पूर्व और पश्चिम समुद्र के बीच मे रम्यक क्षेत्र है । रम्यक क्षेत्र मे मध्यम भोग भूमि की रचना है । इसका वर्णन हरि क्षेत्र के समान है । रम्यक क्षेत्र के मध्य में गन्धवान पर्वत है ।

रुक्मि और शिखरि पर्वत तथा पूर्ण और पश्चिम समुद्र के बीच में हैरण्यवत क्षेत्र है । इस क्षेत्र मे जघन्य भोग भूमि की रचना है । इसका वर्णन हैमवत क्षेत्र के समान है । हैरण्यवत क्षेत्र के मध्य मे माल्यवान् पर्वत है ।

शिखरि पर्वत और पूर्ण, अपर, उत्तर समुद्र के बीच में ऐरावत क्षेत्र है । ऐरावत क्षेत्र का वर्णन भरत क्षेत्र के समान है ।

पाचो मेरु सम्बन्धी ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ विदेह इस प्रकार १५ कर्म भूमियां हैं ।

५ हैमवत, ५ हरि, ५ रम्यक, ५ हैरण्यवत, ५ देवकुरु और ५ उत्तर गुरु इस प्रकार ३० भोग भूमिया है ।

विकलत्रय जीव कर्म भूमि में ही होते है । लेकिन समवशरण नही होते है ।

कर्म भूमि से अतिरिक्त मनुष्य लोक में, पाताल लोक में और स्वर्गों में भी विकलत्रय नही होते है।

क्षेत्रों का विभाग करने वाले पर्वतों का नाम—

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्।
निषध नील रुक्मि शिखरिणों वर्षधर पर्वताः ॥११७०॥

भरत आदि सात क्षेत्रो का विभाग करने वाले, पूर्व से पश्चिम तक लम्बे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध नील, रुक्मि और शिखरी ये अनादि निधन नाम वाले छह पर्वत है।

भरत और ऐरावत क्षेत्र की सीमा पर सौ योजन ऊँचा और पच्चीस योजन भूमिगत हिमवान् पर्वत है। हैमवत और हरि क्षेत्र की सीमा पर दो सौ योजन ऊँचा और पचास योजन भूमिगत महाहिमवान् पर्वत है। हरि और विदेह क्षेत्र की सीमा पर चार सौ योजन ऊँचा और सौ योजन भूमिगत निषध पर्वत है। विदेह और रम्यक क्षेत्र की सीमा पर चार सौ योजन ऊँचा और एक सौ योजन भूमिगत नील पर्वत है। रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्र की सीमा पर दो सौ योजन ऊँचा और पचास योजन भूमिगत रुक्मि पर्वत है। हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्र की सीमा पर सौ योजन ऊँचा और पच्चीस योजन भूमिगत शिखरी पर्वत है।

पर्वतों के रंग का वर्णन—

हेमार्जुन तपनीय वैडूर्य रजत हेम मयाः ॥११७१॥

उन पर्वतो का रग, सोना, चादी, सोना, वैडूर्यमणि, चाँदी और सोने के समान है।

हिमवान् पर्वत का वर्ण सोने के समान अथवा चीन के वस्त्र के समान पीला है। महा हिमवान् पर्वत का रग चांदी के समान सफेद है। निपध पर्वत का रग तपे हुये सोने के समान लाल है। नीला पर्वत का वर्ण वैडूर्यमणि के समान नीला है। रुक्मि पर्वत का वर्ण चाँदी के समान सफेद है। शिखरी पर्वत का रग सोने के समान पीला है।

पर्वतों का आकार—

मणिविचित्र पार्श्वा उपरि मूले च तुल्य विस्तारः ॥११७२॥

उन पर्वतो के तट नाना प्रकार के मणियों से शोभायमान हैं, जो देव, विद्याधर और चारण ऋषियो के चित्त को भी चमत्कृत कर देते है। पर्वतो का विस्तार ऊपर, नीचे और मध्य में समान है।

पर्वतों पर स्थित सरोवरों के नाम—

पद्म महापद्मतिगिच्छ केशरि महापुण्डरीक पुण्डरीका हृदास्तेसामुपरि ।।११७३।।

हिमवान् आदि पर्वतों के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिच्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये छह सरोवर हैं।

प्रथम सरोवर की लम्बाई, चौड़ाई—

प्रथमो योजन सहस्त्रायामस्तदर्द्ध विष्कम्भो हृदः ।।११७४।।

हिमवान् पर्वत के ऊपर स्थित प्रथम सरोवर एक हजार योजन लम्बा और पांच सौ योजन चौड़ा है। इसका तल भाग वज्रमय और तट नाना रत्नमय है।

प्रथम सरोवर की गहराई—

दश योजनावगाहः ।।११७५।।

पद्म सरोवर दश योजन गहरा हैं।

पद्म सरोवर में कमल कितना लम्बा चौड़ा है—

तन्मध्ये योजन पुष्करम् ।।११७६।।

पद्म सरोवर के मध्य मे एक योजन विस्तार वाला कमल है। एक कोस लम्बे उसके पत्ते हैं और दो कोस विस्तार युक्त कर्णिका के मध्य मे एक कोस प्रमाण विस्तृत श्री देवी का प्रसाद है। वह कमल जल से दो कोस ऊपर है। पत्र और कर्णिका के विस्तार सहित कमल का विस्तार एक योजन होता है।

अन्य सरोवरों के विस्तार आदि का वर्णन—

तद्विगुणाद्विगुणा हृदाः पुष्कराणि च ।।११७७।।

आगे के सरोवरो और कमलो का विस्तार प्रथम सरोवर और उसके कमल के विस्तार से दूना-दूना है। अर्थात् महा पद्म दो हजार योजन लम्बा, एक हजार योजन चौडा और बीस योजन गहरा है। इसके कमल का विस्तार दो योजन है। इसी प्रकार महापद्म के विस्तार से दूना विस्तार तिगिञ्छ हृद का है। केसरी, महापुण्डरीक, और पुण्डरीक हृदो का विस्तार क्रम से तिगिच्छ, महापद्म और पद्म हृद के विस्तार के

समान है। इनके कमलों का विस्तार भी तिगिच्छ आदि के कमलो के विस्तार के समान है।

कमलों में रहने वाली देवियो के नाम—

तन्निवासिन्यो देव्यः श्री ह्री धृति कीर्ति बुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपम स्थितयः ससामानिक परिषत्काः ॥११७८॥

उन पद्म आदि सरोवरो के कमलों पर क्रम से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छह देविया सामानिक और परिषद जाति के देवों के साथ निवास करती है। देवियों की आयु एक पल्य है।

छहो कमलों की कर्णिकाओं के मध्य में एक कोस लम्बे, अर्द्ध कोस चौडे और कुछ कम एक कोस ऊँचे इन देवियो के प्रासाद है, जो अपनी कान्ति से शरद् ऋतु से निर्मल चन्द्रमा की प्रभा को भी तिरस्कृत करते है। कमलो के परिवार कमलो पर सामानिक और परिषद् देव रहते है। श्री, ह्री, धृति देविया अपने परिवार सहित सौधर्म इन्द्र की सेवा में तत्पर रहती है।

नदियों का वर्णन और उनके नाम—

गंगा सिन्धु रोहिद्रोहितास्या हरिद्धरिकान्ता सीता सीतोदा नारी नरकान्ता सुवर्ण रूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥११७६॥

गङ्गा, सिन्धु, रोहित्, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये चौदह नदिया भारत आदि सात क्षेत्रो मे बहती है।

नदियों के बहने का क्रम—

द्वयो र्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥११८०॥

दो-दो नदियों मे से पहली-पहली नदी पूर्व समुद्र में जाती है। अर्थात् गङ्गा-सिन्धु में गङ्गा नदी पूर्व समुद्र को जाती है, रोहित्–रोहितास्या मे रोहित् नदी पूर्व समुद्र को जाती है। यही क्रम आगे भी है।

हिमवान् पर्वत के ऊपर जो पद्म ह्रद है। उसके पूर्व तोरणद्वार से गगा नदी निकली है जो विजयार्द्ध पर्वत को भेदकर मलेच्छ खण्ड मे बहती हुई पूर्व समुद्र मे मिल जाती है। पद्मह्रद के पश्चिम तोरण द्वार से सिन्धु नदी निकली है, जो विजयार्द्ध पर्वत को भेदकर म्लेच्छ खण्ड मे बहती हुई पश्चिम समुद्र मे मिल जाती

है। ये दोनो नदिया भरत क्षेत्र में बहती हैं। हिमवान् पर्वत के ऊपर स्थित पद्महृद के उत्तर तोरण द्वार से रोहितास्या नदी निकली है, जो जघन्य भोग भूमि मे बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिल जाती है। महापद्महृद के दक्षिण तोरण द्वार से रोहित् नदी निकली है, जो जघन्य भोग भूमि मे बहती हुई पूर्व समुद्र में मिल जाती है। रोहित् और रोहितास्या नदी हैमवत क्षेत्र मे बहती हैं। महा पद्महृद के उत्तर तोरण द्वार से हरिकान्ता नदी निकली हैं, जो मध्यम भोग भूमि मे बहती हुई पश्चिम समुद्र मे मिल जाती है। निषध पर्वत के ऊपर स्थित तिगिञ्छ के हृद के दक्षिण तोरण द्वार से हरित नदी निकली हैं, जो मध्यम भोग भूमि मे बहती हुई पूर्व समुद्र में मिलती है। हरित और हरिकान्ता नदिया हरिक्षेत्र मे बहती है।

तिगिञ्छ हृद के उत्तर तोरण द्वार से सीतोदा नदी निकली है, जो अपर विदेह और उत्तम भोग भूमि मे बहती हुई पश्चिम समुद्र मे मिल जाती है। नील पर्वत पर स्थित केसरी हृद के दक्षिण तोरण द्वार से सीता नदी निकली है, जो उत्तम भोग भूमि और पूर्व विदेह मे बहती हुई पूर्व समुद्र मे मिल जाती है। सीता और सीतोदा नदिया विदेह क्षेत्र मे बहती है।

केसरी हृद के उत्तर में तोरण द्वारसे नरकान्ता नदी निकली है, जो मध्यम भोग भूमि मे बहती हुई पश्चिम समुद्र मे मिल जाती है। रुक्मि पर्वत पर स्थित महा पुण्डरीक हृद के दक्षिण तोरण द्वार से नारी नदी निकली है, जो मध्यम भोगभूमि मे बहती हुई पूर्व समुद्र मे मिल जाती है। नारी और नरकान्ता नदी रम्यक क्षेत्र मे बहती हैं।

महापुण्डरीक हृद के उत्तर तोरण द्वार से रूप्यकूला नदी निकली है, जो जघन्य भोग भूमि मे बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिल जाती है। शिखरी पर्वत पर स्थित पुण्डरीक हृद के दक्षिण तोरणद्वार से सवर्णकूला नदी निकली है, जो जघन्य भोग भूमि मे बहती हुई पूर्व समुद्र मे मिलती है। सुवर्णकूला और रूप्यकूला नदी हैरण्यवत् क्षेत्र मे बहती हैं।

पुण्डरीक हृद के पश्चिम तोरण द्वार से रक्तोदा नदी निकली है, जो विजयार्द्ध पर्वत को भेदकर म्लेच्छ खण्ड में बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिल जाती हैं। पुण्डरीक हृद के पूर्व तोरण द्वार से रक्ता नदी निकली है, जो विजयार्द्ध पर्वत को भेदकर म्लेच्छ खण्ड मे बहती हुई समुद्र मिल जाती है। रक्ता और रक्तोदा नदी

ऐरावत क्षेत्र में बहती हैं।

देव कुरु के मध्य में सीतोदा नदी सम्बन्धी पांच ह्रद है। प्रत्येक ह्रद के पूर्व और पश्चिम तटों पर पांच-पाच सिद्ध कूट नामक क्षुद्र पर्वत है। इस प्रकार पाचो ह्रदों के तटों पर पचास क्षुद्र पर्वत है। ये पर्वत पचास योजन लम्बे पच्चीस योजन चौड़े और सैंतीस योजन ऊंचे है। प्रत्येक पर्वत के ऊपर अष्ट प्रातिहार्य संयुक्त, रत्न, सुवर्ण और चादी से निर्मित, पल्यङ्कासनारूढ़ और पूर्वाभिमूख एक-एक जिन प्रतिमा है।

अपर विदेह से भी सीतोदा नदी सम्बन्धी पांच ह्रद है। इन ह्रदो के दक्षिण और उत्तर तटो पर पाच-पाच सिद्धकूट नाम के क्षुद्र पर्वत है। अन्य वर्णन पूर्ववत् है।

इसी प्रकार कुरु मे सीता सम्बन्धी पाच ह्रद है। इन ह्रदो के पूर्व और पश्चिम तटों पर पूर्ववत् पचास सिद्ध कूट पर्वत है। पूर्व विदेद मे भी सीता नदी सम्बन्धी पांच ह्रद है। इन ह्रदो के दक्षिण और उत्तर तटो पर पचास सिद्ध कूट पर्वत है। इस प्रकार जम्बूद्वीप के मेरु सम्बन्धी सिद्धकूट दो सौ है, और पाचो मेरु सम्बन्धी सिद्ध कूटों की सख्या एक हजार है।

शेष बची हुई नदियां कहां जाती हैं ?

शेषास्त्वपरगाः ॥११८१॥

पूर्व सूत्र में कही गई नदियों से शेष बची हुई नदियाँ पश्चिम समुद्र को जाती है, अर्थात् गगा और सिन्धु में से सिन्धु पश्चिम समुद्र को जाती है। यही क्रम आगे भी है।

नदियों का परिवार—

चतुर्दश नदी सहस्त्र परिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥११८२॥

गंगा, सिन्धु आदि नदियां चौदह हजार परिवार नदियों से सहित हैं।

यद्यपि बीसवे सूत्र गत 'सरितस्तन्मध्यगा.' इस वाक्य मे आये हुये सरित शब्द से इस सूत्र मे भी नदी का सम्बन्ध हो जाता, क्योकि यह नदियो का प्रकरण है फिर भी इस सूत्र मे 'नद्यः' शब्द का ग्रहण यह सूचित करता है कि आगे-आगे की युगल नदियो के परिवार नदियो की सख्या पूर्व-पूर्व की सख्या से दूनी-दूनी है।

यदि 'चतुर्दश नदी सहस्त्र परिवृता नद्यः' इतना ही सूत्र वनाते तो 'अनन्तस्य

विधिर्वा प्रतिषेधो वा' इस नियम के अनुसार 'शेषास्त्वपरगाः' इस सूत्र मे कथित पश्चिम समुद्र को जाने वाली नदियो का ही यहां ग्रहण होता और चतुर्दश नदी सहस्त्र परिवृता गगादयो नद्यः ऐसा सूत्र करने पर पूर्व समुद्र को जाने वाली नदियों का ही ग्रहण होता। अतः सब नदियो को ग्रहण करने के लिये 'गगासिन्ध्वादयो' वाक्य सूत्र मे आवश्यक है।

गगा, सिन्धु नदियो की परिवारनदियां चौदह-चौदह हजार, रोहित और रोहितास्या नदियो की परिवारनदिया अट्ठाईस-अट्ठाईस हजार, हरित और हरिकान्ता नदियो की परिवारनदिया छप्पन-छप्पन हजार, सीता और सीतोदा नदियो में प्रत्येक की परिवार नदिया एक लाख बारह हजार है। नारी और नरकान्ता, सुवर्णकूला और रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा नदियो के परिवारनदियो की सख्या क्रम से हरित और हरिकान्ता, रोहित और रोहितास्या, गंगा और सिन्धु नदियों के परिवार नदियों की सख्या के समान है।

भोग भूमि का नदियो मे त्रस जीव नही होते है। जम्बूद्वीप सम्बन्धी मूल नदिया अठत्तर है। इनकी परिवारनदियो की सख्या पन्द्रह लाख बारह हजार है। जम्बूद्वीप मे विभग नदिया बारह है।

इस प्रकार पश्चिममेरु सम्बन्धी मूल नदिया तीन सौ नव्बे है और इनकी परिवारनदियो को सख्या पिचहत्तर लाख साठ हजार है। विभग नदियो की सख्या साठ है।

भरत क्षेत्र का विस्तार—

भरतः षड्विंशति पञ्च योजन शत विस्तारः षट् चैकोन विंशति भागा योजनस्य ॥११८३॥

भरत क्षेत्र का विस्तार पांच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागो मे छह भाग ५२६$\frac{६}{१९}$ है।

आगे के पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार—

तदद्विगुणद्विगुण विस्तारा वर्षधर वर्षा विदेहान्ताः ॥११८४॥

आगे-आगे के पर्वत और क्षेत्रो का विस्तार भरत क्षेत्र के विस्तार से दूना-दूना है। लेकिन यह क्रम विदेह क्षेत्र पर्यन्त ही है। क्षेत्र से उत्तर के पर्वतों और क्षेत्रों का विस्तार क्षेत्र के विस्तार से आधा-आधा होता गया है।

भरत क्षेत्र के विस्तार से हिमवान् पर्वत का विस्तार दूना है। हिमवान् पर्वत के विस्तार से हैमवत् क्षेत्र का विस्तार दूना है। यही क्रम विदेह क्षेत्र पर्यन्त है। विदेह क्षेत्र के विस्तार से नील पर्वत का विस्तार आधा है। नील पर्वत के विस्तार से रम्यक क्षेत्र का विस्तार आधा है। यह क्रम ऐरावत क्षेत्र पर्यन्त है।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥११८५॥

उत्तर के क्षेत्र और पर्वतो का विस्तार दक्षिण के क्षेत्र और पर्वतो के विस्तार के समान है। अर्थात् रम्यक, हैरण्यवत् और ऐरावत क्षेत्रो का विस्तार क्रम से हरि हैमवत और भरत क्षेत्र के विस्तार के समान है। नील, रुक्मि और शिखरी पर्वतो का विस्तार क्रम से निषध, महाहिमवान् और हिमवान् पर्वतो के विस्तार के बराबर है।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल का परिवर्तन—

भरतैरावतयो वृद्धिह्रासौ षट् समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्
॥११८६॥

भरत और ऐरावत क्षेत्र मे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छह समयो द्वारा जीवो की आयु, काय, सुख आदि की वृद्धि और हानि होती रहती है। क्षेत्रो की हानि वृद्धि नही होती। कोई आचार्य 'भरतैरावतयोः' पद मे षष्ठी द्विवचन न मानकर सप्तमी का द्विवचन मानते है। उनके मत से भी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्र की वृद्धि और हानि होती हैं, किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र मे रहने वाले मनुष्यो की आयु उपभोग आदि की वृद्धि और हानी होती है। उत्सर्पिणी काल मे आयु और उपभोग आदि की वृद्धि और अवसर्पिणी काल मे हानि होती है।

प्रश्न :—छहों कालो का वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर :—प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह-छह भेद हैं। अवसर्पिणी काल के छह भेद—१. सुषमा सुषमा, २. सुषमा, ३, सुषमा दुषमा, ४. दुःषमा सुषमा, ५ दुषमा, ६. अति दुःषमा।

उत्सर्पिणी काल के छह भेद—१ अति दुःषमा, २. दुषमा, ३ दुषमा सुषमा, ४. सुषमा दुःषमा, ५. सुषमा, ६. सुषमा सुषमा।

यद्यपि वर्तमान मे अवसर्पिणी काल होने से सूत्र में अवसर्पिणी ग्रहण का

पहले होना चाहिए, लेकिन उत्सर्पिणी शब्द को अल्प स्वरवाला होने से पहले कहा है।

सुषमा सुषमा चार कोड़ा कोड़ी सागर, सुषमा तीन कोडा कोडी सागर सुषमा दु पमा दो कोड़ा कोडी सागर, दुषमा सुषमा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा कोडी सागर, दु:षमा इक्कीस हजार वर्ष और अति दु.षमा इक्कीस हजार वर्ष का है।

अवसर्पिणी के प्रथम काल मे उत्तम भोग भूमि की, द्वितीय काम में मध्यम भोग भूमि की और तृतीय काल मे जघन्य भोग भूमि की रचना होती है। तृतीय काल मे पल्य के आठवे भाग वाकी रहने पर सोलह कुलकर उत्पन्न होते है। पन्द्रह कुलकरो की मृत्यु तृतीय काल मे हो ही जाती है, लेकिन सोलहवे कुलकर की मृत्यु चौथे काल मे होती है।

प्रथम कुलकर की आयु पल्य के दशम भाग प्रमाण है। ज्योतिरङ्ग कल्पवक्षो की ज्योति के मन्द हो जाने के कारण चन्द्र और सूर्य के दर्शन से मनुष्यो को भयभीत होने पर प्रथम कुलकर उनके .भय का निवारण करता है। द्वितीय कुलकर की आयु पल्य के सौ भागो मे से एक भाग प्रमाण है.। द्वितीय कुलकर के समय मे ताराओ को देकखर भी लोग डरने लगते है, अत. वह उनके भय को दूर करता है। तृतीय कुलकर की आयु पल्य के हजार भागो में से एक भाग प्रमाण है। वह सिंह, व्याघ्र आदि हिसक जीवो से उत्पन्न भय का परिहार करता है। चतुर्थ कुलकर की आयु पल्य के दश हजार भागो मे से एक भाग प्रमाण है। वह सिह, व्याघ्र आदि के भय को निवारण करने के लिये लाठी आदि रखना सिखाता है। पाचवे कुलकर की आयु पल्य के लाख भागो मे से एक भाग प्रमाण है। वह कल्प वृक्षो की सीमा को वचन द्वारा नियत करता है, क्योंकि उसके काल मे कल्प वृक्ष कम हो जाते है और फल भी कम लगते है। छठवे कुलकर की आयु पल्य के दश लाख भोगो मे से एक भाग प्रमाण है। वह गुल्म आदि चिन्हों से कल्प वृक्षो की सीमा को नियत करता है, क्योंकि उसके काल मे कल्प वृक्ष बहुत कम रह जाते हैं और फल भी अत्यल्प लगते है। सातवें कुलकर की आयु पल्य के करोड़ भागो मे से एक भाग प्रमाण है। वह शूरता के उपकरणो का उपदेश और हाथी आदि पर सवारी करना सिखाता है। आठवे कुलकर की आयु पल्य के दश करोड़ भागो में से एक भाग

प्रमाण है। वह सन्तान के दर्शन से उत्पन्न भय को दूर करता है। नवम कुलकर की आयु पल्य के सौ करोड़ भागों में से एक भाग प्रमाण है। वह सन्तान को आशीर्वाद देना सिखाता है। दशम कुलकर की आयु पल्य के हजार करोड़ भागो में से एक भाग प्रमाण है।

वह बालकों के रोने पर चन्द्रमा आदि के दर्शन तथा अन्य क्रीडा के उपाय बतलाता है। ग्यारहवें कुलकर की आयु पल्य के दश हजार करोड़ भागो में से एक भाग प्रमाण है। उसके काल में युगल (पुरुष और स्त्री) अपनी सन्तान के साथ कुछ दिन तक जीवित रहता है। बारहवें कुलकर की आयु पल्य के लाख करोड़ भागो मे से एक भाग प्रमाण है। वह जल को पार करने के लिये नौका आदि की रचना कराना सिखाता तथा पर्वत आदि पर चढ़ने और उतरने के लिये सिढ़ी आदि को बनवाने का उपाय बताता है। उसके काल में युगल अपनी सन्तान के साथ बहुत काल तक जीवित रहता है। मेघों के अल्प होने के कारण वर्षा भी अल्प होती है। इस कारण से छोटी-छोटी नदियां और छोटे-छोटे पर्वत भी हो जाते हैं। तेरहवें कुलकर की आयु पल्य के दश लाख करोड़ भागों में से एक भाग प्रमाण है। वह जरायु (गर्भ जन्म से उत्पन्न प्राणियों के जरायु होती है।) आदि के मल को दूर करना सिखाता है। चौदहवें कुलकर की आयु पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण है। वह सन्तान के नाभिनाल को काटना सिखाता है। उसके काल में प्रचुर मेघ अधिक वर्षा करते हैं। बिना बोये धान्य पैदा होता है। वह धान्य को खाने का उपाय तथा अभक्ष्य औषधि और अभक्ष्य वृक्षों का त्याग बतलाता है। पन्द्रवाँ कुलकर तीर्थंकर होता है। सोलहवाँ कुलकर उसका पुत्र चक्रवर्ती होता है। इन दोनों की आयु चौरासी लाख पूर्व की होती है।

दुषमा-सुषमा नामक चौथे काल के आदि में मनुष्य विदेह क्षेत्र के मनुष्यों के समान पांच सौ धनुष ऊँचे होते हैं। काल में तेईस तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और मुक्त भी होते हैं। ग्यारह चक्रवर्ती, नव बलभद्र, नव वासुदेव, नव प्रतिवासुदेव और ग्यारह रुद्र भी इस काल में उत्पन्न होते हैं। वासुदेवों के काल में नव नारद भी उत्पन्न होते हैं तथा ये कलह प्रिय होने के कारण नरक में जाते हैं। चौथे काल के अन्त में मनुष्यों की आयु एक सौ बीस वर्ष और शरीर की ऊँचाई सात हाथ रह जाती है। दुःषमा नामक पञ्चम काल के आदि में मनुष्यों की आयु एक सौ बीस वर्ष और

शरीर की ऊंचाई सात हाथ होती है। और अन्त में आयु बीस वर्ष और शरीर की ऊंचाई साढे तीन हाथ रह जाती है।

अति दु षमा नामक छठवे काल के आदि मनुष्यो की आयु बीस वर्ष होती है, अन्त मे आयु सोलह वर्ष और शरीर की ऊँचाई एक हाथ रह जाती है। छठवे काल के अन्त मे प्रलय काल आता है। प्रलय काल में सरस, विरस, तीक्ष्ण, रूक्ष, उष्ण, विष और क्षार मेघ क्रम से सात-सात दिन बरसते है। सम्पूर्ण आर्य खण्ड में प्रलय होने पर मनुष्यो बहत्तर युगल शेष रह जाते है। चित्राभूमि निकल आती है। बराबर हो जाती है। इस प्रकार दस कोडा-कोड़ी सागर का अवसर्पिणी काल समाप्त होता है। इसके बाद दस कडा कोडी सागर का उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ होता है।

उत्सर्पिणी के अतिदुषमा नामक प्रथम काल के आदि मे उनचास दिन पर्यन्त लगातार क्षीर मेघ बरसते है, पुनः अमृत मेघ भी उतने ही दिन पर्यन्त बरसते है। आदि मनुष्यों की आयु सोलह वर्ष शरीर की ऊचाई एक हाथ रहती है और अन्त मे आयु बीस वर्ष और शरीर की ऊंचाई साढ़े तीन हाथ हो जाती है। मेघो के बरसने से पृथिवी कोमल हो जाती है। औषधि, तरु, गुल्म, तृण आदि इस सहित हो जाते हैं। पूर्वोक्त युगल बिलों से निकलकर सरस धान्य आदि के उपभोग से सहर्ष रहते है।

दुषमा नामक द्वितीय काल के आदि मे मनुष्यों की आयु बीस वर्ष और शरीर की ऊचाई साढे तीन हाथ होती है। द्वितीय काल मे एक हजार वर्ष शेष रहने चौदह कुलकर उत्पन्न होते है। ये कुलकर अवसर्पिणी काल के पञ्चम काल के राजाओ की तरह होते है। तेरह कुलकर द्वितीय काल मे ही उत्पन्न होते है और मरते भी द्वितीय काल मे ही हैं। लेकिन चौदहवा कुलकर उत्पन्न तो द्वितीय काल मे होता लेकिन मरता तृतीय काल में है। चौदहवे कुलकर का पुत्र तीर्थकर होता है और तीर्थकर का पुत्र चक्रवर्ती होता है। इन दोनो की उत्पत्ति तीसरे काल मे होती है।

दुषमा सुषमा नामक तृतीय काल के आदि में मनुष्यो की आयु एक सौ बीस वर्ष और शरीर की ऊचाई सात हाथ होती है। और अन्त मे आयु कोटि पूर्व वर्ष और शरीर की ऊंचाई सवा पांच सौ धनुष प्रमाण होती है, इस काल मे शलाका-पुरुष उत्पन्न होते है।

सुषमा दुषमा नामक चोथे काल मे जघन्य भोग भूमि की रचना सुषमा नामक

पञ्चम काल में मध्यम भोग भूमि की रचना और सुषमा-सुषमा नामक छठे काल में उत्तम भोग भूमि की रचना होती है।

चौथे, पांचवे और छठे काल में एक भी ईति नहीं होती है। ज्योतिरग कल्पवृक्षों के प्रकाश से रात दिन का विभाग भी नहीं होता है। मेघ वृष्टि, शीत बाधा, उष्ण बाधा, क्रूर मृग बाधा आदि कभी नहीं होती है। इस प्रकार दश कोड़ा कोडी सागर का उत्सर्पिणी काल समाप्त हो जाता है। पुनः अवसर्पिणी काल आता है। इस प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल का चक्र चलता रहता है। उत्सर्पिणी के दश कोड़ा कोड़ी सागर का एक कल्प होता है। एक कल्प मे भोग भूमि का काल अठारह कोड़ा कोड़ी सागर है। भोग भूमि के मनुष्य मधुर भाषी, सर्व कला कुशल, समान भोग वाले, पसीने से रहित और ईर्ष्या, मात्सर्य, कृपणता, ग्लानि, भय, विषाद, काम आदि से रहित होते है। उनको इष्ट वियोग और अनिष्ट सयोग नही होता। आयु के अन्त मे जंभाई लेने से पुरुष की और छीक से स्त्री की मृत्यु हो जाती है। वहाँ नपुंसक नहीं होते हैं। सब मृग (पशु) विशिष्ट घास को चरने वाले और समान आयु वाले होते है।

अन्य भूमियों का वर्णन—

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥११८७॥

भरत और ऐरावत क्षेत्र को छोड़कर अन्य भूमिया सदा अवस्थित रहती है। उनमें काल का परिवर्तन नही होता, हैमवत, हरि और देवकुरु मे क्रम से अवसर्पिणी काल के तृतीय, द्वितीय और प्रथम काल की सत्ता रहती है। इसी प्रकार हैरण्यवत, रम्यक और उत्तर कुरू में भी काल की अवस्थिति समझना चाहिये।

हैमवत आदि क्षेत्रों में आयु का वर्णन—

एक द्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवत कहारिवर्षक दैवकुरवकाः ॥११८८॥

हैमवत, हरिक्षेत्र तथा देवकुरु मे उत्पन्न होने वाले प्राणियो की आयु क्रमशः एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की है। शरीर की ऊँचाई क्रमशः दो हजार धनुष, चार हजार और छह हजार धनुष है। भोजन क्रमशः एक दिन बाद, तथा तीन दिन बाद करते है। शरीर का रंग क्रम मे नील कमल के समान, कुन्द पुष्प के समान और कंचन वर्ण होता है।

उत्तर के क्षेत्रों में आयु की व्यवस्था—

तथोत्तराः ॥११८६॥

उत्तर के क्षेत्रो के निवासियो की आयु दक्षिण क्षेत्रों के निवासियों के समान ही है। अर्थात् हैरण्यवत, रम्यकक्षेत्र तथा उत्तर कुरु मे उत्पन्न होने वाले प्राणियो की आयु कमशः एक, दो और तीन पल्य की है।

विदेह क्षेत्र में आयु की व्यवस्था—

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥११६०॥

विदेह क्षेत्र मे सख्यात वर्ष की आयु होती है। प्रत्येक मेरु सम्बन्धी, पांच पूर्व विदेह और पाच अपर विदेह होते हैं। इन दोनो विदेहो को महाविदेह कहते है। विदेह मे उत्कृष्ट आयु पूर्व कोटि वर्ष जघन्य आयु अन्त मुंहूर्त है।

विदेह मे सदा दुषमा सुषमा काल रहता है। मनुष्यो के शरीर की ऊँचाई पाच सौ धनुष है। वहाँ के मनुष्य प्रतिदिन भोजन करते है।

सत्तर लाख करोड और छप्पन हजार करोड़ वर्षो के समूह का नाम पूर्व है। अर्थात् ७०५६०००००००००० वर्ष का पूर्व होता है।

भरत क्षेत्र का दूसरी तरह से विस्तार वर्णन—

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागाः ॥११६१॥

भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बू द्वीप के एक सौ नव्वेवां भाग है। अर्थात् जम्बू द्वीप के एक सौ नव्वे भाग करने पर एक भाग भरत क्षेत्र का विस्तार है।

जम्बूद्वीप के अन्त मे एक वेदी है, उसका विस्तार जम्बूद्वीप के विस्तार में ही सम्मिलित है। इसी प्रकार सभी द्वीपो की वेदियो का विस्तार द्वीपों के विस्तार के अन्तर्गत ही है। लवण समुद्र के मध्य मे चारो दिशाओ मे पाताल नाम वाले अलञ्जलाकर चार बडवानल है, जो एक लाख योजन गहरे, मध्य मे एक लाख योजन विस्तार युक्त और मुख तथा मूल मे दश हजार योजन विस्तार वाले है। चारो विदिशाओ मे चार क्षुद्र बडवानल भी है। जिनकी गहराई दश हजार योजन, मध्य में विस्तार दश हजार योजन और मुख तथा मूल में विस्तार एक हजार योजग है। इन आठ बड़वानलों के आठ अन्तरालो म से प्रत्येक अन्तराल मे पंक्ति में स्थित एक सौ पच्चीस बाडव हैं जिनकी गहराई एक हजार योजन, मध्य मे विस्तार एक हजार योजन और मुख

तथा मूल पांच सौ योजन विस्तार है। इस प्रकार बडवानलो की संख्या एक हजार आठ है। इन बड़वानलो के अन्तराल मे भी छोटे-छोटे बहुत से बडवानल है। प्रत्येक बडवानल के तीन भाग है। नीचे के भाग मे वायु, मध्य भाग मे वायु और जल, और ऊपर के भाग मे केवल जल रहता है। जब वायु धीरे-धीरे नीचे के भाग से ऊपर के भाग में चढती है तो मध्यम भाग का जल वायु से प्रेरित होने के कारण ऊपर को चढता है। इस प्रकार बडवानल का जल समुद्र मे मिलने के कारण समुद्र का जल तट के ऊपर आ जाता है। पुनः जब वायु धीरे-धीरे नीचे को चली जाती है तब समुद्र का जल भी घट जाता है।

लवण समुद्र में ही वेला (तट) है अन्य समुद्रों में नही। अन्य समुद्रो मे बड़वानल भी नही है, क्योकि सब समुद्र एक हजार योजन गहरे है। लवण समुद्र का ही जल उन्नत है अन्य समुद्रो का जल सम (बराबर) है।

लवण समुद्र के जल का स्वाद नमक के समान, वारुणी समुद्र के जल का स्वाद मदिरा के समान, क्षीर समुद्र के जल का स्वाद दूध के समान, घृतोद समुद्र के जल का स्वाद घृत के समान, कालोद, पुष्कर और स्वयम्भूरमण समुद्र के जल का स्वाद जल के समान और अन्य समुद्रो के जल का स्वाद इक्षुरस के समान है।

लवण, कालोद और स्वयभूरमण समुद्र मे ही जलचर जीव होते है, अन्य समुद्रों मे नही। लवण समुद्र मे नदियो के प्रवेश द्वारो मे मत्स्यो का शरीर नौ योजन और समुद्र के मध्य मे नदियो के प्रवेश द्वारो मे मत्स्यो के शरीर का विस्तार अठारह योजन और समुद्र के मध्य में छत्तीस योजन है। स्वयभूरमण समुद्र के तट पर रहने वाली मछलियो के शरीर का विस्तार पाच सौ योजन और समुद्र के मध्य मे एक हजार योजन है। लवण, कालोद और पुष्करवर समुद्र मे ही नदियो के प्रवेश द्वार है, अन्य समुद्रो मे नही है। अन्य समुद्रो की वेदिया भित्ति के समान हैं।

धातकी खण्ड द्वीप का वर्णन—

द्विर्धातकी खण्डे ॥११६२॥

धातकी खण्ड द्वीप मे क्षेत्र, पर्वत आदि की संख्या समस्त बाते जम्बूद्वीप से दूनी-दूनी है।

धातकी खण्ड द्वीप की दक्षिण दिशा मे दक्षिण से उत्तर तक लम्बा इष्वाकार नामक पर्वत है जो लवण और कालोद समुद्र की वेदियो को स्पर्श करता है।

और उत्तर दिशा मे भी इसी तरह का दूसरा इष्वाकार नामक पर्वत है। प्रत्येक पर्वत चार लाख योजन लम्वे हैं। दोनो इष्वाकार पर्वतों से धातकी खण्ड के दो भाग हो गये है–एक पूर्व धातकी खण्ड और दूसरा अपर धातकी खण्ड। प्रत्येक भाग के मध्य में एक-एक मेरु है। पूर्व दिशा में पूर्व मेरु और पश्चिम दिशा मे अपर मेरु है। प्रत्येक मेरु सम्वन्धी भरत आदि सात क्षेत्र और हिमवन् आदि छह पर्वत हैं। इस प्रकार धातकी खण्ड मे क्षेत्र और पर्वतों की सख्या जम्बू द्वीप से दूनी है। जम्बू द्वीप में हिमवान् आदि पर्वतों का जो विस्तार है उससे दूना विस्तार धातकी खड के हिमवान् आदि पर्वतों का है, लेकिन ऊँचाई और गहराई जम्बूद्वीप के समान ही है। इसी तरह विजयार्द्ध पर्वत और वृत्तवेदाढ्य पर्वतों की सख्या भी जम्बू द्वीप के समान है। धातकी खंड मे हिमवान् आदि पर्वत चक्र के आरे के समान है और क्षेत्र आरो के छिद्र के आकार के है।

पुष्कर द्वीप का वर्णन—

पुष्करार्धे च ॥११६३॥

पुष्कर द्वीप के अर्द्ध भाग मे भी सव रचना जम्वू द्वीप से दूनी है।

धातकी खड द्वीप के समान पुष्करार्ध मे भी दक्षिण से उत्तर तक लम्वे और आठ लाख योजन विस्तृत दो इष्वाकार पर्वत है। इस कारण पुष्करार्द्ध के दो भाग हो गये है। दोनो भागो मे दो मेरु पर्वत है–एक पूर्व मेरू और दूसरा अपर मेरु। प्रत्येक मेरु सम्बन्धी भरत आदि सात क्षेत्र और हिमवान् आदि छह पर्वत है। पुष्करार्ध द्वीप में सारी रचना धातकी खड द्वीप के समान ही है। विशेषता यह है कि पुष्करार्ध के हिमवान् आदि पर्वतों का विस्तार धातकी खड के हिमवान् आदि पर्वतो के विस्तार से दूना है। पुष्कर द्वीप के मध्य मे गोलाकार मानुषोत्तर पर्वत है, अतः इस पर्वत से विभक्त होने के कारण इसका नाम पुष्करार्द्ध पड़ा। आधे पुष्कर द्वीप में ही मनुष्य हैं, अत. पुष्करार्द्ध का ही वर्णन यहाँ किया गया है।

मनुष्य क्षेत्र की सीमा—

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्यः ॥११६४॥

मानुषोत्तर पर्वत के पहले ही मनुष्य होते है, आगे नही। मानुषोत्तर पर्वत के वाहर विद्याधर और ऋद्धि प्राप्त मुनि भी नही जाते हैं। मनुष्य क्षेत्र के त्रस भी वाहर नही जाते हे। पुष्करार्द्ध की नदियां भी मानुषोत्तर के वाहर नही वहती है।

जब मनुष्य के क्षेत्र के बाहर मृत कोई तिर्यंच या देव मनुष्य क्षेत्र में आता है तो मनुष्य गत्यानुपूर्वी नाम कर्म का उदय होने से मानुषोत्तर के बाहर भी उसको उपचार से मनुष्य कह सकते है। दंड, कपाट, प्रतर और लोक पूरण समुद्घात के समय भी मानुषोत्तर से बाहर मनुष्य जाता है।

मनुष्यों के भेद—

आर्या म्लेच्छाश्च ॥११६५॥

मनुष्यो के दो भेद है—आर्य और म्लेच्छ।

जो गुणों से संहित हों अथवा गुणवान् लोग जिनकी सेवा करे, उन्हें आर्य कहते हैं। जो निर्लज्जता पूर्वक चाहे जो कुछ बोलते है, वे म्लेच्छ है।

आर्यो के दो भेद—ऋद्धि प्राप्त आर्य और ऋद्धि रहित आर्य। ऋद्धि प्राप्त आर्यो के ऋद्धियों के भेद से आठ भेद है। आठ ऋद्धियो के नाम—बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और क्षेत्र।

बुद्धि ऋद्धि प्राप्त आर्यो के अठारह भेद है। १. अवधिज्ञानी, २ मनः पर्ययज्ञानी, ३. केवलज्ञानी, ४ बीज बुद्धि वाले, ५ कोष्ठ बुद्धि वाले, ६ साम्भिन्नश्रोत्री, ७ पदानुसारी ८. दूर से स्पर्श करने में समर्थ, ६ दूर से रसास्वाद करने में समर्थ, १० दूर से गंध ग्रहण करने से समर्थ, ११ दूर से सुनने में समर्थ, १२ दूर से देखने में समर्थ, १३. दंश पूर्ण के ज्ञाता, १४. चौदह पूर्व के ज्ञाता, १५. आठ महानिमित्तो के जानने वाले, १६. प्रत्येक बुद्ध, १७. वाद विवाद करने वाले और १८ प्रज्ञाश्रमण। एक बीजाक्षर का ज्ञान होने से समस्त शास्त्र का ज्ञाता हो जाने को बीज बुद्धि कहते हैं। धान्यागर मे सगृहीत विविध धान्यों की तरह जिस बुद्धि मे सुने हुये वर्ण आदि का बहुत काल तक विनाश नही होता है, वह कोष्ठ बुद्धि है। क्रिया ऋद्धि दो प्रकार की है—जंघादि चारणत्व और आकाश गामित्व। जघादि चारणत्व के नौ भेद है—

१. **जंघाचारणत्व**—भूमि से चार अंगुल ऊपर आकाश में गमन करना।

२. **श्रेणिचारणत्व**—विद्याधरों की श्रेणि पर्यन्त आकाश में गमन करना।

३. **अग्निशिखा चारणत्व**—अग्नि की ज्वाला के ऊपर गमन करना।

४. **जल चारणत्व**—जल को विना छुये जल पर गमन करना।

५. **पत्र चारणत्व**—पत्तो को विना छुए पत्ते पर गमन करना।

६. **फल चारणत्व**—फल को बिना छुए फल पर गमन करना।

७. **पुष्प चारणत्व**—पुष्प को बिना छुए पुष्प पर गमन करना।

८. **बीज चारणत्व**—बीज को बिना छुए बीज पर गमन करना।

९. **तन्तु चारणत्व**—तन्तु को विना छुए तन्तु पर गमन करना।

पैरों के उत्क्षेपण (उठाना और रखना) के बिना आकाश मे गमन करना, पर्यङ्कासन से आकाश मे गमन करना, ऊपर को स्थित होकर आकाश मे गमन करना, अथवा सामान्य रूप से बैठकर आकाश मे गमन करना आकाशगामित्व है।

अणिमा आदि के भेद से विक्रिया ऋद्धि अनेक प्रकार की है।

अणिमा—शरीर को सूक्ष्म वना लेना अथवा (कमलनाल) में भी प्रवेश करके चक्रवर्ती के परिवार की विभूति को बना लेना अणिमा है।

महिमा—शरीर को बड़ा वना लेना महिमा है।

लघिमा—शरीर को छोटा बना लेना लघिमा है।

गरिमा—शरीर को भारी बना लेना गरिमा है।

प्राप्ति—भूमि पर रहते हुए भी अगुलि के अग्रभाग से मेरु की शिखर, चन्द्र, सूर्य आदि को स्पर्श करने की शक्ति का नाम प्राप्ति ऋद्धि है।

प्राकाम्य—जल मे भूमि की तरह चलना और भूमि पर जल की तरह गमन करना, अथवा जाति, क्रिया, गुण द्रव्य सैन्य आदि का बनाना प्राकाम्य है।

ईशित्व—तीन लोक के प्रभुत्व को पाना ईशित्व है।

वशित्व—सम्पूर्ण प्राणियो को वश में करने की शक्ति का नाम वशित्व है।

अप्रतीघात—पर्वत पर भी आकाश की तरह गमन करना, अनेक रूपो का बनाना अप्रतिघात है।

कामरूपीत्व—मूर्त और अमूर्त अनेक आकारो का बनाना कामरूपित्व है।

अन्तर्धान—रूप को अदृष्ट बना लेना।

तप ऋद्धि के सात भेद हैं—

१. घोर तप, २. महा तप, ३. उग्र तप, ४. दीप्त तप, ५. तप्त तप, ६. घोर गुण ब्रह्मचारिता, ७ घोर पराक्रमता।

घोर तप—सिंह, व्याघ्र, चीता, स्वापद आदि दुष्ट प्राणियों से युक्त गिरिकंदरा

आदि स्थानों मे और भयानक श्मशानों मे तीव्र आतप, शीत आदि की बाधा होने पर भी घोर उपसर्गो का सहना घोर तप है ।

महातप—पक्ष, मास, छह मास और एक वर्ष का उपवास करना महातप है। एक वर्ष के उपरान्त पारणा होती है और केवलज्ञान भी हो जाता है। इसलिये एक वर्ष से अधिक उपवास नही होता है।

उग्र तप—पञ्चमी को, अष्टमी को और चतुर्दशी को उपवास करना और दो या तीन बार आहार न मिलने पर तीन, चार अथवा पांच उपवास करना उग्र तप है ।

दीप्त तप—शरीर से बारह सूर्यो जैसी कान्ति का निकलना दीप्त तप है ।

तप्त तप—तपे हुए लोहपिण्ड पर गिरी हुई जल की बूंद की तरह आहार ग्रहण करते हो आहार का पता न लगना अर्थात् आहार का पच जाना तप्त तप है।

घोर गुण ब्रह्मचारिता—सिह, व्याघ्र आदि क्रूर प्राणियो से सेवित होना घोर गुण ब्रह्मचारिता है ।

घोर पराक्रमता—मुनियो को देखकर भूत, प्रेत, राक्षस, शाकिनी आदि का डर जाना घोर पराक्रमता है ।

बल ऋद्धि—इसके तीन भेद हैं—मनोबल, वचनबल, कायबल ।

मनोबल—अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण श्रुत को चिन्तन करने की सामर्थ्य का नाम मनोबल है ।

वचन बल—अन्तर्मुहूर्त मे सम्पूर्ण श्रुत को पाठ करने की शक्ति का नाम वचनबल है ।

काय बल—एक मास चार मास, छह मास और १ वर्ष तक भी कायोत्सर्ग करने की शक्ति होना अथवा अंगुली के अग्र भाग से तीनो लोको को उठाकर दूसरी जगह रखने की सामर्थ्य का होना काय बल है ।

औषध ऋद्धि—आठ प्रकार की है । जिन मुनियों की निम्न आठों बातो के द्वारा प्राणियो के रोग नष्ट हो जाते है, वे मुनि औषद्ध ऋद्धि के धारी होते हैं ।

१. विट् (मल) लेपन, २ मल का एक देश छूना, ३. अपक्व आहार का स्पर्श, ४. सम्पूर्ण अगो के मल का स्पर्श, ५. निष्ठीवन का स्पर्श, ६. दन्त, केश, नख मूत्र आदि का स्पर्श, ७ कृपादृष्टि से अवलोकन और कृपा से दातों का दिखाना ।

रस ऋद्धि के छह भेद हैं—

१. **आस्यविष**—किसी दृष्टिगत प्राणी को 'मर जाओ' ऐसा कहने पर उस प्राणी का तत्क्षण ही मरण हो जाय – इस प्रकार की सामर्थ्य का नाम आस्यविष अथवा वाग्विष है।

२. **दृष्टिविष**—किसी क्रुद्ध मुनि के द्वारा किसी प्राणी के जाने पर उस प्राणी का उसी समय मरण हो जाय इस प्रकार की सामर्थ्य का नाम दृष्टि-विष है।

३. **क्षीरस्त्रावी**—नीरस भोजन भी जिन मुनियो के हाथ मे आने पर क्षीर के समान स्वादयुक्त हो जाता है अथवा जिनके वचन क्षीर के समान सतोष देने वाले होते है, वे क्षीरस्त्रावी कहलाते है।

४. **मध्वास्त्रावी**—नीरस भोजन भी जिन मुनियो के हाथ में आने पर मधु के स्वाद को देने वाला हो जाता है और जिनके वचन श्रोताओं को मधु के समान लगते है, वे मुनि मध्वास्त्रावी है।

५. **सर्पिरास्त्रावी**—नीरस भोजन भी जिनके हाथ में आने पर घृत के स्वाद युक्त हो जाता है और जिनके वचन श्रोताओ को घृतके स्वाद जैसे लगते है, वे मुनि सर्पिरास्त्रावी हैं।

६. **अमृतास्त्रावी**—जिनके हस्तगत भोजन अमृत के समान हो जाता है और जिनके वचन अमृत जैसे लगते है, वे मुनि अमृतास्त्रावी है।

क्षेत्र ऋद्धि के दो भेद हैं—

अक्षीणमहानसऋद्धि और अक्षीण आलय ऋद्धि।

किसी मुनि को किसी घर में भोजन करने पर उस घर में चक्रवर्ती के परिवार को भोजन कराने पर भी अन्न की कमी न होने की सामर्थ्य का नाम अक्षीण महानस ऋद्धि है।

किसी मुनि को किसी मन्दिर मे निवास करने पर उस स्थान में समस्त देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों को परस्पर बाधा रहित निवास करने की शक्ति का नाम अक्षीणालय ऋद्धि है।

ऋद्धि रहित आर्यों के पांच भेद हैं—

१. सम्यक्त्वार्य, २. चारित्रार्य, ३ कर्मार्य, ४ जात्यार्य और ५ क्षेत्रार्य।

व्रत रहित सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वार्य है ।

चारित्र को पालने वाले यति चारित्तार्य है ।

कर्मार्यों के तीन भेद हैं—

सावद्य कर्मार्य, अल्पसावद्य कर्मार्य और असावद्य कर्मार्य ।

सावद्य कर्मार्य के छह हैं—

असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य कर्मार्य ।

तलवार, धनुष, बाण, छुरी, गदा आदि नाना प्रकार के आयुधो को चलाने में चतुर असि कर्मार्य है । आय व्यय आदि लिखने वाले अर्थात् मुनीम या क्लर्क मसि कर्मार्य हैं । खेती करने वाले कृषि कर्मार्य है । गणित आदि बहत्तर कलाओ मे प्रवीण विद्या कर्मार्य है । निर्णेजक नाई आदि शिल्प कर्मार्य है । धान्य, कपास, चन्दन, सुवर्ण आदि पदार्थो के व्यापार को करने वाले वाणिज्य कर्मार्य है ।

श्रावक अल्प सावद्य कर्मार्य होते है और मुनि असावद्य कर्मार्य है ।

इक्ष्वाकु आदि वश में उत्पन्न होने वाले इक्ष्वाकुवशी, भरत के पुत्र अर्क कीर्ति के कुल में उत्पन्न होने वाले सूर्यवशी, बाहुबली के पुत्र सोमयश के कुल मे उत्पन्न होने वाले सोमवशी, सोमप्रभ श्रेयास के कुल में उत्पन्न होने वाले कुरुवशी, अकम्पन महाराज के कुल में उत्पन्न होने वाले नाथवशी, हरिकान्त राजा के कुल मे उत्पन्न होने वाले हरिवशी, यदुराजा के कुल में उत्पन्न होने वाले यादव, काश्यप राजा के कुल मे उत्पन्न होने वाले उग्रवंशी कहलाते है ।

कौशल, गुजरात, सौराष्ट्र, मालव, काश्मीर आदि देशो मे उत्पन्न होने वाले क्षेत्रार्य कहलाते है ।

म्लेच्छ दो प्रकार के होते हैं—

अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज ।

लवण समुद्र मे आठों दिशाओ में आठ द्वीप है । इन द्वीपो के अन्तराल में भी आठ द्वीप है । हिमवान् पर्वत के दोनो पार्श्वो मे दो द्वीप है । शिखरी पर्वत के दोनों पार्श्वों में दो द्वीप है । और दोनो विजयार्द्ध पर्वतों के दोनो पार्श्वो मे चार द्वीप है । इस प्रकार लवण समुद्र मे चौबीस द्वीप है। इनको कुभोग भूमि कहते हैं ।

चारों दिशाओ में जो चार द्वीप है, वे समुद्र की वेदी से पाच सौ योजन की दूरी पर है । इनका विस्तार सौ योजन है । चारो विदिशाओ के चार द्वीप और

अन्तराल के आठ द्वीप समुद्र की वेदी से साढे पांच सौ योजन की दूरी पर है, उनका विस्तार पचास योजन है। पर्वतो के अन्त में जो आठ द्वीप हैं, वे समुद्र की वेदी से छह सौ योजन की दूरी पर है। इनका विस्तार पच्चीस योजन है।

पूर्व दिशा के द्वीप में एक पैर वाले मनुष्य होते हैं। दक्षिण दिशा के द्वीप में मनुष्य शृङ्ग (सींग) सहित होते हैं। पश्चिम दिशा के द्वीप में पूंछ वाले मनुष्य होते है। उत्तर दिशा के द्वीप मे गूंगे मनुष्य होते हैं। आग्नेय दिशा में शश (खरहा) के समान कान वाले और नैऋत्य दिशा में शष्कुली के समान कान वाले मनुष्य होते है। वायव्य दिशा मे मनुष्यों के कान इतने बड़े होते है कि वे उनको ओढ़ सकते हैं। ऐशान दिशा मे मनुष्यों के लम्बे कान होते है।

पूर्व और आग्नेय के अन्तराल में अश्व के समान मुख वाले, आग्नेय और दक्षिण के अन्तराल में सिंह के समान मुख वाले, दक्षिण और नैऋत्य के अन्तराल में भषण-कुत्ते के समान मुखवाले, नैऋत्य और पश्चिम के अन्तराल मे गर्वर (उल्लू) के समान मुखवाले, पश्चिम और वायव्य के अन्तराल मे शूकर समान मुखवाले, वायव्य और उत्तर के अन्तराल में व्याघ्र के समान मुख वाले, उत्तर और ऐशान के अन्तराल मे काक के समान मुख वाले और ऐशान और पूर्व के अन्तराल मे कपि बन्दर) के समान मुख वाले मनुष्य होते हैं।

हिमवान् पर्वत के पूर्व पार्श्व मे मछली के समान मुख वाले और पश्चिम पार्श्व में काले मुख वाले, शिखरी पर्वत के पूर्व पार्श्व मे मेघ के समान मुख वाले और पश्चिम पार्श्व में विद्युत् के, दक्षिण दिशा के विजयार्द्ध के पूर्व पार्श्व मे गाय के समान मुख वाले और पश्चिम पार्श्व में मेष के समान मुख वाले और उत्तर दिशा मे विजयार्द्ध के पूर्व पार्श्व मे हाथी के समान मुख वाले और पश्चिम पार्श्व में दर्पण के समान मुख वाले मनुष्य होते है।

एक पैर वाले मनुष्य मिट्टी खाते हैं और गुहाओ में रहते है। अन्य मनुष्य वृक्षो के नीचे रहते है और फल-पुष्प खाते है। इनकी आयु एक पल्य और शरीर की ऊचाई दो हजार धनुष है।

उक्त चौबीस द्वीप लवण समुद्र के भीतर है। इसी प्रकार लवण समुद्र के बाहर भी चौबीस द्वीप है। लवण समुद्र के कालोद समुद्र सम्बन्धी की अड़तालीस द्वीप हैं। सब मिलाकर छियानवें म्लेच्छ द्वीप होते है। ये सब द्वीप जल से एक योजन

ऊपर है। इन द्वीपों मे उत्पन्न होने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज कहलाते है।

पुलिन्द, शबर, यवन, खस, बर्बर आदि कर्म भूमिज म्लेच्छ है।

कर्मभूमियों का वर्णन—

भरतैरावत विदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तर कुरुभ्यः ॥११६६॥

पाँच भरत, पाँच ऐरावत और देवकुरु एवं उत्तर कुरु को छोड़कर पाँच विदेह इस प्रकार पन्द्रह कर्मभूमियां है।

इसके अतिरिक्त भूमियां भोगभूमि ही है, किन्तु अन्तर्द्विपों मे कल्पवृक्ष नही होते है।

भोगभूमि के सब मनुष्य मरकर देव ही होते है। किसी आचार्य का ऐसा मत है कि चार अन्तर्द्वीप है, वे कर्मभूमि के समीप है। अत उनमें उत्पन्न होने वाले मनुष्य चारो गतियो में जा सकते है।

मानुषोत्तर पर्वत के आगे और स्वयम्भूरमण द्वीप के मध्य मे स्थित स्वयप्रभ पर्वत के पहिले जितने द्वीप है, उन सबमे एकेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव ही होते हैं। ये द्वीप कुभोगभूमि कहलाते है। इनमे असख्यात वर्ष की आयु वाले और एक कोस ऊँचे पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च ही होते है, मनुष्य नही। इनके आदि के चार गुणस्थान ही हो सकते हैं।

मानुषोत्तर पर्वत सत्रह सौ इक्कीस योजन ऊचा है, और चार सौ तीस योजन भूमि के अन्दर है, मूल मे एक सौ बाईस योजन, मध्य मे सात सौ तेतीस योजन, ऊपर चार सौ चौबीस योजन विस्तार वाला है। मानुषोत्तर के ऊपर चारो दिशाओं मे चार चैत्यालय है।

सर्वार्थसिद्धि को देने वाला उत्कृष्ट शुभ कर्म और सातवे नरक मे ले जाने वाला उत्कृष्ट अशुभ कर्म यही पर किया जाता है। तथा असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि कर्म यही पर किया जाता है, इसलिये इनको कर्मभूमि कहते है। यद्यपि सम्पूर्ण जगत में ही कर्म किया जाता है, किन्तु उत्कृष्ट शुभ और अशुभ कर्म का आश्रय होने से इनको ही कर्मभूमि कहा गया है।

स्वयम्प्रभ पर्वत से आगे लोक के अन्त तक जो तिर्यञ्च है, उनके पाच गुणस्थान हो सकते है। उनकी आयु एक पूर्व कोटि की है। वहां के मत्स्य सातवे नरक मे ले जाने वाले पाप का वन्ध करते है। कोई-कोई थलचर जीव स्वर्ग आदि के

हेतुभूत पुण्य का भी उपार्जन करते हैं। इसलिये आधा स्वयंभूरमण द्वीप, पूरा स्वयंभूरमण समुद्र और समुद्र के बाहर चारो कोने कर्मभूमि कहलाते है।

मनुष्यों की आयु का वर्णन—

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥११९७॥

मनुष्यो की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है।

पल्य के तीन भेद हैं—

व्यवहार पल्य, उद्धार पल्य और अद्धापल्य।

व्यवहार पल्य से सख्या का, उद्धार पल्य से द्वीप समुद्रों का और अद्धा पल्य से कर्मों की स्थिति का वर्णन किया जाता है। व्यवहार पल्य का स्वरूप प्रमाणांगुल से परिमित एक प्रमाण योजन होता है। अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती के अगुल को प्रमाणांगुल कहते है। चौबीस प्रमाणागुल का एक हाथ होता है। चार हाथ का एक दण्ड होता है। दो हजार दण्डो की एक प्रमाणगव्यूति होती है। चार गव्यूति का एक प्रमाण योजन होता है। अर्थात् पाच सौ मानव योजनो का एक प्रमाणयोजन होता है।

मानव-योजन का स्वरूप—

आठ परमाणुओ का एक त्रसरेणु होता है। आठ त्रसरेणुओं का एक रथरेणु होता है। आठ रथरेणुओ का एक चिकुराग्र होता है। आठ चिकुराग्रओं की एक लिक्षा होती है। आठ लिक्षाओ का एक सिद्धार्थ होता है। आठ सिद्धार्थो का एक यव होता है। आठ यवो का एक अगुल होता है। छह अगुलो का एक पाद होता है। दो पादो की एक वितस्ति होती है। दो वितस्तियों की एक रति होती है। चार रतियो का एक दण्ड होता है। दो हजार दण्डो की एक गव्यूति होती है। चार गव्यूति का एक मानवयोजन होता है और पाच सौ मानव योजनो का एक प्रमाण योजन होता है।

एक प्रमाण योजन लम्बा, चौडा और गहरा एक गोल गड्ढा हो। सात दिन तक के मेष के बच्चो के बालो को कैंची से कतर कर इस प्रकार टुकड़े किये जायें कि फिर दूसरा टुकड़ा न हो सके। उन सूक्ष्म बालों के टुकडों से वह गड्ढा कूट कूटकर भर दिया जाय, इस गड्ढे को व्यवहार पल्य कहते है। पुनः सौ वर्ष के बाद उस गड्ढे मे से एक-एक टुकडा निकाला जावे। इस क्रम से सम्पूर्ण रोम खण्डो के निकलने में जितना समय लगे उतने समय को व्यवहार पल्योपम कहते है।

पुनः असंख्यात करोड वर्षो के जितने समय हों, उतने समयो से प्रत्येक रोम खण्डों का गुणा करे और इस प्रकार के रोम-खण्डो से फिर उस गड्ढे को भर दिया जाय। इस गड्ढे का नाम उद्धार पल्य है। पुन. एक-एक समय के बाद एक-एक रोम-खण्ड को निकालना चाहिये। इस क्रम से सम्पूर्ण रोम-खण्डो के निकलने में जितना समय लगे उतने समय को उद्धार पल्योपम कहते हैं। दश कोड़ा-कोडी उद्धार-पल्यो का एक उद्धार सागर होता है।

अढाई उद्धार सागरो अथवा पच्चीस कोड़ा-कोडी उद्धार पल्यो के जितने रोमखंण्ड होते हैं, उतने ही द्वीप समुद्र हैं।

एक वर्ष के जितने समय होते है, उनसे उद्धार पल्य के प्रत्येक रोमखण्ड का गुणा करे और ऐसे रोमखण्डो से फिर वह गड्ढा भर दिया जाय तब इस गड्ढे का नाम अद्धा पल्य है। पुन. एक-एक समय के बाद एक-एक रोमखण्ड को निकालने पर समस्त रोमखण्डो के निकलने मे जितने समय लगे, उतने काल का नाम अद्धा पल्योपम है।

दस कोड़ा-कोड़ी अद्धा-पल्यों का एक अद्धा-सागर होता है। और दश कोड़ा-कोड़ी अद्धा-सागरो की एक उत्सर्पिणी होती है। अवसर्पिणी का प्रमाण भी यही है।

अद्धा-पल्योपम से नरक तिर्यञ्च देव और मनुष्यो की कर्म की स्थिति, आयु की स्थिति, काय की स्थिति और भव की स्थिति गिनी जाती है।

तिर्यञ्चों की स्थिति—

तिर्यग्योनिजानाञ्च ॥११९८॥

मनुष्यो की तरह तिर्यञ्चो की भी उत्कृष्ट और जघन्य आयु क्रम से तीन पल्य और अन्तमुहूर्त है।

इस अध्याय में नरक, द्वीप, समुद्र, कुल पर्वत, पद्मादि ह्रद, गगादि नदी, मनुष्यो के भेद, मनुष्य तिर्यञ्चों की आयु आदि का वर्णन है।

अब ऊर्ध्व लोक का वर्णन करते है—

* उर्द्ध्वलोक *

देवों के भेद—

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥११९९॥

देवो के चार भेद है—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी ।

देवगति नाम कर्म के उदय होने पर और नाना प्रकार की विभूति युक्त होने के कारण जो द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि स्थानो मे अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करते है, उनको देव कहते है । जाति की अपेक्षा 'देवाश्चतुर्णिकाय.' ऐसा एक वचनान्त सूत्र होने पर भी काम चल जाता, फिर भी सूत्र मे वहुवचन का प्रयोग प्रत्येक निकाय के अनेक भेद वतलाने के लिये किया गया है ।

देवों में लेश्याओं का वर्णन—

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥१२००॥

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवो के कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ ही होती है ।

निकायों के प्रभेद—

दशाष्ट पञ्च द्वादश विकल्पाः कल्पोपपन्न पर्यन्ताः ॥१२०१॥

भवनवासी देवो के दश भेद, व्यन्तर देवो के आठ भेद, ज्योतिषी देवो के पांच भेद और कल्पोपपन्न अर्थात् सोलहवे स्वर्ग तक के देवो के वारह भेद होते है । ग्रैवेयक आदि मे सव अहमिन्द्र ही होते हैं, इसलिये वहा कोई भेद नही है ।

देवों के सामान्य भेद—

इन्द्र सामानिक त्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्ष लोक पालानीक प्रकीर्णकाभियोग्य किल्विषिकाश्चैकशः ॥१२०२॥

प्रत्येक निकाय के देवो मे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक-ये दश भेद होते है ।

इन्द्र—जो अन्य देवो मे नही रहने वाली अणिमा आदि ऋद्धियो को प्राप्त कर असाधारण ऐश्वर्य का अनुभव करते है, उनको इन्द्र कहते हैं ।

सामानिक—आज्ञा और ऐश्वर्य को छोडकर जिनकी आयु, भोग, उपभोगादि इन्द्र के ही समान हो, उनको सामानिक कहते हैं ।

त्रायस्त्रिंश—मंत्री और पुरोहित के काम को करने वाले देव त्रायस्त्रिंश कहलाते है। ये संख्या में तेंतीस होते है।

पारिषद—सभा में बैठने के अधिकारी देवो को पारिषद कहते हैं।

आत्मरक्ष—इन्द्र की रक्षा करने वाले देव आत्मरक्ष कहलाते है।

लोकपाल—जो देव अन्य देवों का पालन करते है, उन्हे लोकपाल कहते हैं। ये आरक्षिक, अर्थचर और कोट्टपाल के समान होते है। जो ग्राम आदि की रक्षा के लिये नियुक्त होते हैं, उनकों आरक्षक कहते है। अर्थ (धन) सम्बन्धी कार्य मे नियुक्त अर्थचर कहलाते हैं। पत्तन, नगर आदि की रक्षा के लिये नियुक्त (कोट्टपाल) कहलाते हैं।

अनीक—जो हस्ति, अश्व, रथ, पदाति, वृषभ, गन्धर्व और नर्तकी इन सात प्रकार की सेना मे रहते है, वे अनीक हैं।

प्रकीर्णक—नगरवासियों के समान जो इधर-उधर फैले हुये हो, उनको प्रकीर्णक कहते हैं।

आभियोग—जो नौकर का काम करते है, वे आभियोग्य हैं।

किल्विषिक—किल्विष पाप को कहते हैं। जो सवारी मे नियुक्त हो तथा नाई आदि की तरह कर्म करने वाले होते है, उनको किल्विषिक कहते है।

त्रायस्त्रिंश लोकपालवर्ज्या व्यन्तर ज्योतिष्काः ॥५॥

व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नही होते है।

इन्द्रों की व्यवस्था के प्रकार—

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ।१२०३॥

भवनवासी और व्यन्तर देवों मे प्रत्येक भेद सम्बन्धी दो-दो इन्द्र होते हैं।

भवनवासी देवों में असुर कुमारों के चमर और वैरोचन, नागकुमारो के धरण और भूतानन्द, विद्युत्कुमारों के हरिसिह और हरिकान्त, सुवर्णकुमारो के वेणुदेव और वेणुताली, अग्निकुमारों के अग्निशिख और अग्निमाणव, वातकुमारो के वेलम्ब और प्रभञ्जन, स्तनितकुमारो के सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारों के जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमारों के पूर्ण और अवशिष्ट, दिक्कुमारो के अमितगति और अमित-वाहन नाम के इन्द्र होते हैं।

व्यन्तर देवों मे किन्नरों के किन्नर और किम्पुरुष, किम्पुरुषो के सत्पुरुष और

महापुरुष, महोरगों के अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वो के गीतरति और गीतयश, यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र, राक्षसो के भीम और महाभीम, भूतों के प्रतिरूप और अप्रतिरूप और पिशाचों के काल और महाकाल नाम के इन्द्र होते हैं।

देवों के भोगों का वर्णन—

काय प्रवीचारा आ ऐशानात् ॥१२०४॥

ऐशान स्वर्गपर्यन्त के देव अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और प्रथम व द्वितीय स्वर्ग के देव, मनुष्य और तिर्यञ्चो के समान शरीर से काम सेवन करते है।

मर्यादा और अभिविधि, क्रिया योग और ईषत् अर्थ मे 'आङ्' उपसर्ग आता है। तथा वाक्य और स्मरण अर्थ मे 'आ' उपसर्ग आता है। 'आ' उपसर्ग की स्वर परे रहते सन्धि नही होती। इस सूत्र मे आ और ए (अ×ऐ) इन दोनों की सन्धि हो सकती थी, लेकिन सन्देह को दूर करने के लिये आचार्य ने सन्धि नही की है। यहाँ आ अभिविधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अभिविधि मे उस वस्तु का भी ग्रहण होता है, जिसका निर्देश आ के बाद किया जाता है जैसे इस सूत्र में ऐशान स्वर्ग का भी ग्रहण है।

शेषाः स्पर्श रूप शब्द मनः प्रवीचाराः ॥१२०५॥

शेष देव (तृतीय स्वर्ग से सोलहवें स्वर्ग तक) देवियों के स्पर्श से, रूप देखने से, शब्द सुनने से और मन में स्मरण मात्र से काम सुख का अनुभव करते हैं।

सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देव और देविया परस्पर मे स्पर्श मात्र से; ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्ग के देव और देविया एक दूसरे के रूप को देखने से; शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्त्रार स्वर्ग के देव और देवियां परस्पर शब्द श्रवण से और आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग के देव और देविया मन में एक दूसरे के स्मरण मात्र से अधिक सुख का अनुभव करती है।

परेऽप्रवीचाराः ॥१२०६॥

नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पञ्चोत्तर विमानवासी देव कामसेवन से रहित होते है। इन देवो को कामसेवन की इच्छा ही नही होती है। उनके तो सदा हर्ष और आनन्द रूप सुख का अनुभव रहता है।

भवनवासियों के भेद—

भवनवासिनोऽसुर नागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि द्वीप दिक्कुमाराः ॥१२०७॥

भवनवासी देवों के असुर कुमार, नाग कुमार, विद्युत कुमार, सुपर्ण कुमार, अग्नि कुमार, वात कुमार, स्तनित कुमार, उदधि कुमार, द्वीप कुमार, दिक्कुमार–ये दश भेद है।

भवनों में रहने के कारण इन्हे भवनवासी कहते है।

असुर कुमार—जो परस्पर में लड़ाकर उनके प्राणो को लेते है, उन्हे असुर कुमार कहते है। ये तृतीय नरक तक के नारकियो को दुःख पहुँचाते है।

नाग कुमार—पर्वत या वृक्षो पर रहने वाले देव नागकुमार देव कहा जाता है।

विद्युत कुमार—जो विद्युत के समान चमकते है, वे विद्युत कुमार है।

सुपर्ण कुमार—जिनके पक्ष (पख) शोभित होते है, वे सुपर्ण कुमार है।

अग्नि कुमार—जो पाताल लोक से क्रीडा करने के लिये ऊपर आते है, वे अग्नि कुमार कहलाते हैं।

वात कुमार—तीर्थंकर के विहार मार्ग को शुद्ध करने वाले वातकुमार है।

स्तनित कुमार—शब्द करने वाले देवों को स्तनित कुमार कहते हैं।

उदधि कुमार—समुद्रो में क्रीडा करने वाले उदधि कुमार है।

द्वीप कुमार—द्वीपो में क्रीडा करने वाले द्वीप कुमार है।

दिक्कुमार—दिशाओ मे क्रीड़ा करने वाले दिक्कुमार है।

असुर कुमारो के प्रथम नरक के पङ्कबहुल भाग मे और शेष भवनवासी देवो के खरबहुल भाग मे भवन है।

व्यन्तर देवों के भेद—

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुष महोरग गन्धर्व यक्ष राक्षस भूत पिशाचाः ॥१२०८॥

व्यन्तर देवो के किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच–ये आठ भेद होते है।

नाना देशो मे निवास करने के कारण इनको व्यन्तर कहते है। जम्बूद्वीप के असख्यात द्वीप समुद्र को छोडकर, प्रथम नरक के खर भाग मे राक्षसो को छोडकर अन्य सात प्रकार के व्यन्तर रहते है और पङ्क भाग में राक्षस रहते हैं।

ज्योतिषी देवों के भेद—

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह नक्षत्र प्रकीर्णक तारकाश्च ॥१२०९॥

ज्योतिषी देवो के सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारा ये पाच भेद है। ज्योति (प्रकाश) युक्त होने के कारण इनको ज्योतिषी कहते है।

इस पृथ्वी से सात सौ नव्वे योजन की ऊचाई पर ताराओं के विमान है। ताराओ से दश योजन ऊपर सूर्य के विमान है। सूर्य से अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा का विमान है। इसके बाद चार योजन ऊपर नक्षत्र है। नक्षत्रों से चार योजन ऊपर बुध, बुध से तीन योजन ऊपर शुक्र, शुक्र से तीन योजन ऊपर बृहस्पति, बृहस्पति से तीन योजन ऊपर मगल और मगल से तीन योजन ऊपर शनैश्चर देव रहते हैं। इस प्रकार मगल से एक सौ दश योजन प्रमाण आकाश से ज्योतिषी देव रहते हैं। सूर्य से कुछ कम एक योजन नीचे केतु और चन्द्रमा से कुछ कम एक योजन नीचे राहु रहते है।

सब ज्योतिषी देवो के विमान के ऊपर स्थित अर्द्ध गोलक के आकार के होते है। चन्द्रमा, सूर्य और ग्रहो को छोडकर शेष ज्योतिषी देव अपने-अपने एक ही मार्ग में गमन करते है।

ज्योतिषी देवों की गति—

मेरु प्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१२१०॥

मनुष्य लोक के ज्योतिषी देव मेरु की प्रदक्षिणा देते हुए सदा गमन करते रहते है। मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिषी देव स्थिर रहते है।

प्रश्न :—ज्योतिषी देवों के विमान अचेतन रहते हैं। उनमें गमन कैसे सम्भव है?

उत्तर :—आभियोग्य जाति के देवो द्वारा ज्योतिषी देवो के विमान खीचे जाते है। आभियोग्य देवो का कर्म विपाक अन्य ज्योतिषी देवो के विमानो को खीचने पर ही होता है। मेरु से ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर रहकर ज्योतिषी देव भ्रमण करते रहते हैं।

जम्बूद्वीप मे दो सूर्य, छप्पन नक्षत्र और एक सौ छिहत्तर ग्रह है। लवण समुद्र मे चार सूर्य, एक सौ-बारह नक्षत्र और तीन सौ बावन ग्रह है।

धातकी खड द्वीप में बारह सूर्य, तीन सौ छत्तीस नक्षत्र और एक हजार छप्पन ग्रह है। कालोद समुद्र में बयालीस सूर्य, ग्यारह सौ छिहत्तर नक्षत्र और तीन हजार छह सौ निन्यानवे ग्रह है। और पुष्करार्द्ध द्वीप मे बहत्तर सूर्य, दो हजार सोलह नक्षत्र, छह हजार तीन सौ छत्तीस ग्रह है। चन्द्रमाओ की सख्या सूर्य के बराबर है।

प्रत्येक चन्द्रमा के ग्रहों की संख्या अठासी है, और नक्षत्रों की संख्या अट्ठाईस है। मानुषोत्तर पर्वत से बाहर के सूर्यादि की संख्या आगमानुसार समझ लेनी चाहिये।

व्यवहार काल का हेतु—

तत्कृतः काल विभागः ॥१२११॥

दिन, रात, मास आदि व्यवहार काल का विभाग नित्य गमन करने वाले ज्योतिषी देवों के द्वारा किया जाता है। काल के दो भेद हैं—मुख्यकाल और व्यवहार काल। मुख्यकाल का वर्णन अगले अध्याय में किया जायेगा। समय, आवली, मिनिट, घण्टा, दिन-रात आदि व्यवहार काल है।

बहिरवस्थिताः ॥१२१२॥

मनुष्य लोक के बाहर के सब ज्योतिषी देव स्थिर हैं।

चन्द्रमा के विमान के उपरितन भाग का विस्तार प्रमाण योजन के इकसठ भागों मे से छप्पन भाग प्रमाण (५६/६१ योजन) है और सूर्य के विमान के उपरितन भाग का विस्तार प्रमाण योजन के इकसठ भागों में से अड़तालीस भाग प्रमाण (४८/६१ योजन) है। शुक्र के विमान का विस्तार एक कोश, बृहस्पति के विमान का विस्तार कुछ कम एक कोश और मङ्गल, बुध और शनि के विमानो का विस्तार आधा कोश है।

वैमानिक देवों का वर्णन—

वैमानिकाः ॥१२१३॥

विमानों में रहने वाले देव वैमानिक कहलाते हैं। जिनमें रहने वाले जीव अपने को विशेष पुण्यात्मा मानते हैं, उनको विमान कहते हैं। विमान तीन प्रकार के होते हैं—इन्द्रक विमान, श्रेणी विमान और प्रकीर्णक विमान। मध्यवर्ती विमान को इन्द्रक विमान कहते हैं। जो विमान चारों दिशाओ मे पंक्ति मे अवस्थित रहते हैं, वे श्रेणि विमान हैं। इधर-उधर फैले हुए अक्रमबद्ध विमान प्रकीर्णक विमान हैं।

इन विमानो में जो देव प्रासाद है तथा जो शाश्वत जिन चैत्यालय है, वे सब अकृत्रिम हैं। इनका परिमाण मानवयोजन कोश आदि से जाना जाता है। अन्य शाश्वत या अकृत्रिम पदार्थों का परिमाण योजन कोश आदि से किया जाता है। यह परिभाषा है। परिभाषा नियम बनाने वाली होती है।

वैमानिक देवों के भेद—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीतश्च ॥१२१४॥

वैमानिक देवों के दो भेद है—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्प अर्थात् सोलह स्वर्गों मे उत्पन्न होने वाले देव कल्पोपपन्न और नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाच अनुत्तर विमानो मे उत्पन्न होने वाले देव कल्पातीत कहलाते है।

यद्यपि भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देवों मे भी इन्द्र आदि का कल्प या भेद है, फिर भी रूढि के कारण वैमानिक देवो की ही कल्पोपपन्न सज्ञा है।

विमानों का क्रम—

उपर्युपरि ॥१२१५॥

कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवो के विमान क्रमशः ऊपर-ऊपर है। अपना उपरि-उपरि शब्द समीपवाची भी हो सकता है। इसलिए यह भी अर्थ हो सकता है कि प्रत्येक पटल मे दो-दो स्वर्ग समीपवर्ती हैं। जिस पटल मे दक्षिण दिशा मे सौधर्म स्वर्ग है, उसी पटल मे उत्तर दिशा मे उसके समीपवर्ती ऐशान स्वर्ग भी है।

वैमानिक देवों के रहने का स्थान—

सौधर्मैशानसानत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्मब्रह्मोत्तर लान्तव कापिष्ट शुक्र महाशुक्र शतार सहस्त्रारेष्वानत प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय वैजयन्त जयन्ता पराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१२१६॥

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्त्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन सोलह स्वर्गो मे तथा नवग्रैवेयक नव अनुदिश और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाच अनुत्तर विमानो मे वैमानिक देव रहते है।

इस सूत्र मे यद्यपि नव अनुदिशों का नाम नही आया है, लेकिन 'नवसु ग्रैवेयकेषु' मे नव शब्द को नव अनुदिशो को ग्रहण करने के लिए पृथक रखा गया है। सूत्र मे सर्वार्थसिद्धि को सर्वोत्कृष्ट होने के कारण "सर्वार्थसिद्धौ" इस प्रकार पृथक् रखा गया है। प्रत्येक स्वर्ग का नाम उस स्वर्ग के इन्द्र के नाम से पडा है।

सबसे नीचे सौधर्म और ऐशान कल्प है, और इनके ऊपर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त क्रमशः दो-दो कल्प हैं। आरण और अच्युत कल्प के ऊपर नव ग्रैवेयक, नव

ग्रैवेयकों के ऊपर नव अनुदिश और नव अनुदिशों के ऊपर पाच अनुत्तर विमान है।

एक लाख योजन ऊँचा मेरू पर्वत है। मेरू पर्वत की चोटी और सौधर्म-स्वर्ग के इन्द्रक ऋतुविमान में एक बालमात्र का अन्तर है। मेरु के ऊपर ऊर्ध्वलोक, मेरु से नीचे अधोलोक और मेरु के बराबर मध्यलोक या तिर्यक् लोक है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के इकतीस पटल है, उनमे प्रथम ऋतुपटल है। ऋतुपटल के बीच में ऋतु नामक पैंतालीस लाख योजन विस्तृत इन्द्रक (मध्यवर्ती) विमान है। ऋतुविमान से चारो दिशाओ मे चार विमान श्रेणियां है। प्रत्येक विमान श्रेणी में बासठ विमान है। विदिशाओ में प्रकीर्णक विमान है। ऋतु पटल से ऊपर प्रभा नामक अन्तिम पटल पर्यन्त प्रत्येक पटल के प्रत्येक श्रेणी विमानो की सख्या क्रम से एक-एक कम होती गई है। इस प्रकार अन्तिम पटल में, प्रत्येक दिशा मे बत्तीस श्रेणी विमान हैं। प्रभ' नामक इकतीसवे पटल के मध्य मे प्रभा नामक इन्द्रक विमान है। इन्द्रक विमान की चारो दिशाओ मे चार विमान श्रेणिया है। प्रत्येक विमान श्रेणी मे बत्तीस विमान हैं। दक्षिण दिशा मे जो विमान श्रेणी है, उसके अठारहवे विमान में सौधर्म इन्द्र का निवास है, और उत्तर दिशा के अठारहवे विमान मे ऐशान इन्द्र रहता है। उक्त दोनों विमानों के तीन-तीन कोट हैं। बाहर के कोट मे अनीक और पारिषद जाति के देव रहते हैं। मध्य के कोट मे त्रायस्त्रिंश देव रहते हैं, और तीसरे कोट के भीतर इन्द्र रहता है। इस प्रकार सब स्वर्गो मे इन्द्रो का निवास समझना चाहिये।

पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा की तीन विमान श्रेणिया और आग्नेय और नैऋत्य दिशा से प्रकीर्णक विमान सौधर्म स्वर्ग की सीमा मे है। उत्तर दिशा की एक विमान श्रेणी और ईशान दिशा के प्रकीर्णक विमान ऐशान स्वर्ग की सीमा मे हैं।

इसके ऊपर सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग है। इनके सात पटल है। प्रथम अञ्जन पटल के मध्य में अञ्जन नामक इन्द्रक विमान है। इन्द्रक विमान की चारो दिशाओ में चार विमान श्रेणियां हैं। प्रत्येक श्रेणी मे इकतीस विमान है। प्रथम पटल से अन्तिम पटल पर्यन्त प्रत्येक पटल मे, प्रत्येक श्रेणी मे विमानो की सख्या क्रमशः एक-एक कम है। सातवे पटल मे इन्द्रक विमान की चारो दिशाओ मे चार

विमान श्रेणिया है। प्रत्येक श्रेणी में पच्चीस विमान है। इस पटल की दक्षिण श्रेणी के पन्द्रहवे विमान में सानत्कुमार और उत्तर श्रेणी के पन्द्रहवे विमान मे माहेन्द्र इन्द्र रहते है।

इसके ऊपर ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग है। इनके चार पटल है। प्रथम अरिष्ट पटल के मध्य मे अरिष्ट नामक इन्द्रक विमान की चारो दिशाओ मे चार विमान श्रेणियां है, प्रत्येक श्रेणी मे चौबीस विमान है। ऊपर के पटलो मे श्रेणी विमान की सख्या क्रमशः एक-एक कम है। चौथे पटल मे प्रत्येक श्रेणी मे इक्कीस विमान हैं। इस पटल की दक्षिण श्रेणी के बारहवे विमान मे ब्रह्मेन्द्र और उत्तर श्रेणी के बारहवे विमान मे ब्रह्मोत्तर इन्द्र रहते है।

इसके ऊपर लान्तव और कापिष्ट स्वर्ग है। इनके दो पटल हैं—ब्रह्म हृदय और लान्तव। प्रथम पटल की प्रत्येक विमान श्रेणी मे बीस विमान है, और द्वितीय पटल की प्रत्येक विमान श्रेणी मे उन्नीस विमान है। इस पटल की दक्षिण श्रेणी के नौवे विमान मे लान्तव और उत्तर श्रेणी के नौवे विमान में कापिष्ट इन्द्र रहते है।

इसके ऊपर शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग हैं। इनमे महाशुक्र नामक एक ही पटल है। इस पटल के मध्य मे महाशुक्र नामक इन्द्रक विमान है। चारो दिशाओ में चार विमान श्रेणियां है। प्रत्येक विमान श्रेणी मे अठारह विमान है। दक्षिण श्रेणी के बारहवे विमान मे शुक्र और उत्तर श्रेणी के बारहवे विमान मे महाशुक्र इन्द्र रहते हैं।

इसके ऊपर शतार और सहस्त्रार स्वर्ग है। इनमे सहस्त्रार नामक एक ही पटल है। चारो दिशाओं मे प्रत्येक श्रेणी मे सतरह विमान हैं। दक्षिण श्रेणी के नौवे विमान मे शतार और उत्तर श्रेणी के नौवे विमान मे सहस्त्रार इन्द्र रहते हैं।

इसके ऊपर आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग है। इनमे छह पटल हैं। अन्तिम अच्युत पटल के मध्य मे अच्युत नामक इन्द्रक विमान है। इन्द्रक विमान से चारों दिशाओ मे चार विमान श्रेणियां है। प्रत्येक विमान श्रेणी मे ग्यारह विमान हैं। इस पटल की दक्षिण श्रेणी के छठवे विमान मे आरण और उत्तर श्रेणी के छठवे विमान मे अच्युत इन्द्र रहते है।

इस प्रकार लोकानुयोग नामक ग्रन्थ मे चौदह इन्द्र वतलाये है। श्रुतसागर आचार्य मत से तो बारह ही इन्द्र होते हैं। आदि चार और अन्त के चार इन आठ

सवर्गो के आठ इन्द्र और मध्य के आठ स्वर्गो के चार इन्द्र अर्थात् ब्रह्म, लान्तव, शत्रु और शतार इस प्रकार सोलह स्वर्गो मे बारह इन्द्र होते है।

विमानों की संख्या—सौधर्म स्वर्ग मे बत्तीस लाख, ऐशान स्वर्गो मे अठ्टाईस लाख, सानत्कुमार स्वर्ग मे बारह लाख, माहेन्द्र में आठ लाख ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर मे चालीस लाख, लान्तव और कापिष्ट मे पचास हजार, शुक्र और महाशुक्र मे चालीस हजार, शतार और सहस्त्रार में छह हजार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग मे सात सौ विमान हैं। प्रथम तीन ग्रैवेयको में एक सौ ग्यारह, मध्य के तीन ग्रैवेयको में एक सौ सात और ऊपर के तीन गैवेयको मे एकानवे विमान है। नव अनुदिश मे नौ विमान है। सर्वार्थसिद्धि पटल में पांच विमान है, जिनमे मध्यवर्ती विमान का नाम सर्वार्थसिद्धि है, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा मे क्रम से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमान है।

विमानों का रंग—सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के विमानो का रग श्वेत, पीला, हरा, लाल और काला है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग मे विमानो का रग श्वेत, पीला, हरा, लाल है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव, और कापिष्ट स्वर्ग मे विमानो का रग श्वेत, पीला और लाल है। शुक्र से अच्युत स्वर्ग पर्यन्त विमानो का रग श्वेत और पीला है। नव गैवेयक, नव अनुदिश और अनुत्तर विमानो का श्वेत ही है। सर्वार्थसिद्धि विमान परमशुक्ल है और इसका विस्तार जम्बूद्वीप के समान है। अन्य चार विमानो का विस्तार असख्यात करोड योजन है।

उक्त त्रेसठ पटलो का अन्तर भी असख्यात करोड योजन है।

मेरु से ऊपर डेढ राजू पर्यन्त क्षेत्र मे सौधर्म और ऐशान स्वर्ग है। पुनः डेढ राजू प्रमाण क्षेत्र मे सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग हैं। ब्रह्म से अच्युत स्वर्ग पर्यन्त दो-दो स्वर्गो की ऊचाई आधा राजू है। और गैवेयक से सिद्धशिला तक एक राजू ऊचाई है। ऊर्ध्व लोक मे जितने विमान है, सभी मे जिनमन्दिर है।

वैमानिक देवों में उत्कर्ष—

स्थिति प्रभाव सुखद्युति लेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि विषयतोऽधिकाः ॥१२१७॥

वैमानिक देवो मे क्रमशः ऊपर-ऊपर आयु, प्रभाव-शाप और अनुग्रह की शक्ति, सुख-इन्द्रिय सुख, दीप्ति-शरीर कान्ति, लेश्याओ की विशुद्धि, इन्द्रियो का विषय और अवधिज्ञान के विषय की अधिकता पाई जाती है।

वैमानिक देवो में अपकर्ष—

गति शरीर परिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥१२१८॥

वैमानिक देव गमन, शरीर, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा क्रमशः ऊपर-ऊपर हीन है।

ऊपर-ऊपर के देवो मे गमन परिग्रह और अभिमान की हीनता है।

शरीर का परिमाण—सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में शरीर की ऊँचाई सात अरत्नि, सानत्कुमार और माहेन्द्र मे छह अरत्नि, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ट मे पाच अरत्नि, शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्त्रार मे चार अरत्नि, आनत और प्राणत मे साढे तीन अरत्नि और आरण और अच्युत मे तीन अरत्नि शरीर की ऊचाई है। प्रथम तीन ग्रैवेयको मे ढाई अरत्नि, मध्य ग्रैवेयक में दो अरत्नि, ऊर्ध्व ग्रैवेयक और नव अनुदिश मे डेढ़ अरत्नि शरीर की ऊचाई है। पांच अनुत्तर विमानों मे शरीर की ऊचाई केवल एक हाथ है। मुडे हाथ को अरत्नि कहते है।

वैमानिक देवों में लेश्याओं का वर्णन—

पीत पद्म शुक्ल लेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥१२१९॥

दो युगलो मे, तीन युगलो मे और शेष के विमानों मे क्रमशः पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याये होती है।

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग मे पीत लेश्या होती है। विशेष यह है कि सानत्कुमार और माहेन्द्र मे मिश्र-पीत और पद्म लेश्या होती हैं। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ट, शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग में पद्म लेश्या होती है। लेकिन शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्त्रार स्वर्ग मे मिश्र-पद्म और शुक्ल लेश्या होती है। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग मे और नव ग्रैवेयको मे शुक्ल लेश्या होती हैं। नव अनुदिश और पाच अनुत्तर विमानो में परम शुक्ल लेश्या होती है।

यद्यपि सूत्र मे मिश्र लेश्या का ग्रहण नही किया है, किन्तु साहचर्य से मिश्र का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। जैसे 'छाते वाले जा रहे हैं', ऐसा कहने पर जिनके पास छाता नही है, उनका भी ग्रहण हो जाता है। उसी प्रकार एक लेश्या के कहने से उसके साथ मिश्रित दूसरी लेश्या का भी ग्रहण हो जाता है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग मे पीत लेश्या और सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग

में मिश्र-पीत और पद्म लेश्या होती है। लेकिन पद्म लेश्या की विवक्षा न करके सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग मे पीत लेश्या ही कही गई है। ब्रह्म से लान्तव स्वर्ग-पर्यन्त पद्म लेश्या और शुक्र से सहस्त्रार स्वर्ग पर्यन्त मिश्र-पद्म और शुक्ल लेश्या होती है, लेकिन शुक्र और महाशुक्र में शुक्ल लेश्या की विवक्षा न करके पद्म लेश्या ही कही गई है। इसी प्रकार शतार और सहस्त्रार स्वर्ग मे पद्म लेश्या की विवक्षा न करके शुक्ल लेश्या ही सूत्र मे कही गई है।

कल्प की सीमा—

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पः ।१२२०॥

ग्रैवेयकों से पहिले के विमानो की कल्प सज्ञा है। अर्थात् सोलह स्वर्गों को कल्प कहते है। नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर विमान कल्पातीत कहलाते है।

लौकान्तिक देवों का निवास—

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ।१२२१॥

लौकान्तिक देव ब्रह्मलोक नामक पाचवे स्वर्ग मे रहते है।

प्रश्न—*यदि ब्रह्मलोक मे रहने के कारण इनको लौकान्तिक कहते है, तो ब्रह्मनिवासी सब देवों को लौकान्तिक कहना चाहिये ?*

उत्तर—लौकान्तिक यह यथार्थ नाम है और इसका प्रयोग ब्रह्मलोक निवासी सब देवों के लिये नही हो सकता। लोक का अर्थ है ब्रह्मलोक के अन्त को लोकान्त और लोकान्त में रहने वाले देवो का नाम लौकान्तिक है। अथवा ससार को लोक कहते है। और जिनके ससार का अन्त समीप है, उन को लौकान्तिक कहते हैं। लौकान्तिक स्वर्ग से च्युत होकर मनुष्य भव धारण कर मुक्त हो जाते है। अतः लौकान्तिक यह नाम सार्थक है।

लौकान्तिक देवों के भेद—

सारस्वतादित्य वह्न्यरुण गर्दतोयतुषिता व्याबाधारिष्टाश्च ॥१२२२॥

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, अरिष्ट ये आठ प्रकार के लोकान्तिक देव होते है।

सारस्वत—जो चौदह पूर्व के ज्ञाता हो, वे सारस्वत कहलाते हैं।

आदित्य—देवमाता अदिति की सतान को आदित्य कहते हैं।

वह्नि—जो वह्नि के समान देदीप्यान हो, उसे वह्नि कहते है।

अरुण—उदीयमान सूर्य के समान जिनकी कान्ति हो, वे अरुण कहलाते हैं।

गर्दतोय—शब्द को गर्द और जल को तोय कहते है। जिनके मुख से शब्द जल के प्रवाह की तरह निकले, वे गर्दतोय कहते है।

तुषित—जो संतुष्ट और विषय सुख से परान्मुख रहते है, वे तुषित हैं।

अव्याबाध—जिनके कामादिजनित बाधा नही है, वे अव्याबाध हैं।

अरिष्ट—जो अकल्याणकारी कार्य नही करते हैं, उनको अरिष्ट कहते है।

सारस्वत आदि देवो के विमान क्रमशः ईशान, पूर्व, आग्नेय, दक्षिण नैऋर्त्य, पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशा मे हैं। इनके अन्तराल मे भी दो-दो देवो के विमान हैं। सारस्वत और आदित्य के अन्तराल मे अग्न्याभ और सूर्याभ, आदित्य और वह्नि के अन्तराल मे चन्द्राभ और सत्याभ, वह्नि और अरुण के अन्तराल मे श्रेयस्कर और क्षेमकर, अरुण और गर्दतोय के अन्तराल मे वृषभेष्ट और कामचर, गर्दतोय और तुषित के मध्य में निर्माणरज और दिगन्तरक्षित, तुषित और अव्याबाध के मध्य मे आत्मरक्षित और सर्वरक्षित, अव्याबाध और अरिष्ट के मध्य मे मरुत और वसु और अरिष्ट और सारस्वत के मध्य मे अपूर्व और विश्व रहते है।

सब लौकान्तिक स्वाधीन, विषय सुख से परान्मुख, चौदह पूर्व के ज्ञाता और देवो से पूज्य होते हैं। ये देव तीर्थंकरो के तप कल्याण मे ही आते है।

लोकान्तिक देवो की सख्या चार लाख सात हजार आठ सौ बीस है।

विजय आदि विमानवासी देवों की संसार की अवधि—

विजयादिषु द्विचरमाः ॥१२२३॥

विजय, वैजयन्त और अपराजित विमानवासी अहमिन्द्र मनुष्य के दो भव धारण कर नियम से मोक्ष चले जाते है। यहां मनुष्य भव की अपेक्षा से इनको द्विचरम कहा है। कोई भी अहमिन्द्र विजयादि से च्युत होकर मनुष्य गति मे आयेगा। पुन. वह मनुष्य भव समाप्त कर विजयादि में ही उत्पन्न होगा। फिर विजयादि से च्युत होकर मनुष्य भव धारण कर नियम से मोक्ष चला जायेगा, इस प्रकार मनुष्य भव की अपेक्षा दो भव और मनुष्य भव मे देवपर्याय को भी मिला देने से दो मनुष्य भव और एक देव भव इस प्रकार विजय आदि मे उत्पन्न होने वाले अहमिन्द्रो के तीन भव और बाकी रह जाते है। लेकिन सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र एक भवावतारी होते

हैं। मनुष्य का एक भव धारण करके ही मोक्ष चले जाते हैं।

तिर्यंञ्चों का वर्णन—

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यंग्योनयः ।।१२२४।।

उपपाद जन्म वाले देव और नारकी तथा मनुष्यो को छोड़कर शेष समस्त संसारी जीव तिर्यंञ्च हैं। तिर्यंञ्च सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त है।

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु—

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्ध हीन मिताः ।।१२२५।।

भवनवासी देवो में असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष के छह कुमारो की उत्कृष्ट आयु कम से एक सागर, तीन पल्य, अढाई पल्य, दो पल्य, डेढ पल्य है।

वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु—

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ।।१२२६।।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक दो सागर है। 'अधिके' इस शब्द की अनुवृत्ति सहस्त्रार स्वर्ग पर्यन्त होती है। इसलिये सहस्त्रार तक के देवों की आयु कथित सागरो से कुछ अधिक होती है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के पटलों में आयु का वर्णन—

प्रथम पटल मे ६६६६६६६६ करोड पल्य और इतने ही पल्य तथा पल्य के तीन विभागो मे से दो भाग उत्कृष्ट आयु है।

दूसरे पटल मे १३३३३३३३ करोड पल्य तथा ३३३३३३३ पल्य और पल्य के तीन भागों में से एक भाग आयु है।

तीसरे पटल मे दो कोडा-कोडी पल्य की आयु है।

चौथे पटल मे २६६६६६६६ करोड़ पल्य तथा ६६६६६६६ पल्य और पल्य के तीन भागो मे से दो भाग प्रमाण आयु है।

पाचवे पटल में ३३३३३३३ करोड़ पल्य तथा ३३३३३३३ पल्य और पल्य के तीन भागों में से एक भाग प्रमाण आयु है।

छठवे पटल मे चार कोड़ा-कोडी पल्य की आयु है।

सातवे पटल में ४६६६६६६६ करोड पल्य तथा ६६६६६६६ पल्य और

पल्य के तीन भागो में से दो भाग प्रमाण आयु है।

आठवे पटल में ५३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३, १ बटे ३ पल्य की आयु है।

नौवें पटल में छह कोड़ा-कोड़ी पल्य की आयु है।

दसवें पटल में ६६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६, २ बटे ३ पल्य की आयु है।

ग्यारहवें पटल में ७३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३, १ बटे ३ पल्य की आयु है।

बारहवें पटल में आठ कोड़ा-कोड़ी पल्य की आयु है।

तेरहवें पटल मे ८६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६, २ बटे ३ पल्य की आयु है।

चौदहवे पटल में ६६३३३३३३ करोड़ पल्य है और ३३३३३३३, १ बटे ३ पल्य की आयु है।

पन्द्रहवे पटल में एक सागर की आयु है।

सोलहवे पटल में एक सागर ६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६, २ बटे ३ पल्य की आयु है।

सत्रहवे पटल मे एक सागर १३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३, १ बटे ३ पल्य की आयु है।

अठारहवे पटल मे बारह कोडा-कोडी पल्य की आयु है।

उन्नीसवें पटल में १२६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६, २ बटे ३ पल्य की आयु है।

बीसवे पटल में १३३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३, १ बटे ३ पल्य की आयु है।

इक्कीसवे पटल मे चौदह कोडा-कोडी पल्य की आयु है।

बाईसवें पटल मे १४६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६, २ बटे ३ पल्य की आयु है।

तेईसवे पटल में १५३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३, १ बटे ३ पल्य की आयु है।

चौबीसवें पटल मे सोलह कोडा-कोडी पल्य की आयु है।

पच्चीसवें पटल में १६६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६, २ बटे ३ पल्य की आयु है।

छब्बीसवें पटल मे १७३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३, १ बटे ६ पल्य की आयु है।

सत्ताईसवें पटल मे अठारह कोड़ा-कोड़ी पल्य की आयु है।

अट्ठाईसवें पटल में १८६६६६६६६ ६करोड़ पल्य और ६६६६६६६, २ बटे ३ पल्य की आयु है।

उनतीसवें पटल में १९३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३, १ बटे ३ पल्य की आयु है।

तीसवे पटल में बीस कोडा-कोडी पल्य की आयु है।

इकतीसवें पटल मे कुछ अधिक दो सागर की आयु है।

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥१२३७॥

सानत्कुमार और माहेन्द्र मे स्वर्ग में देवों की आयु कुछ अधिक सात सागर है। प्रथम पटल मे २,५ बटे ७ सागर, द्वितीय पटल मे ३, ३ बटे ७ सागर, तीसरे पटल में ४, १ बटे ७ सागर, चौथे पटल मे ४, ३ बटे ७ सागर, पांचवें पटल मे ५, ४ बटे ७ सागर, छठवे पटल मे ६, २ बटे ७ सागर और सातवें पटल में कुछ अधिक सात सागर की आयु है।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदश पञ्चदश भिरधिकानि तु ॥१२२८॥

ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में दश सागर के कुछ अधिक, लान्तव और कापिष्ट स्वर्ग में चौदह सागर से कुछ अधिक, शुक्र और महाशुक्र मे सोलह सागर से कुछ अधिक, शतार और सहस्त्रार में अठारह सागर से कुछ अधिक, आनत प्राणत मे बीस सागर और आरण और अच्युत मे बाईस सागर की उत्कृष्ट आयु है। इस सूत्र मे 'तु' शब्द यह बतलाता है कि पूर्व सूत्र के 'अधिके' शब्द की अनुवृत्ति सहस्त्रार स्वर्ग पर्यन्त ही होती है। अतः आगे के स्वर्गो मे आयु सागरो से कुछ अधिक नही है। ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के प्रथम पटल में ७, २ बटे ४ सागर, द्वितीय पटल मे ८, १ बटे २ सागर, तीसरे पटल में ९,१ बटे ४ सागर और चौथे पटल मे दश सागर से कुछ अधिक आयु है।

लान्तव और कापिष्ट स्वर्ग के प्रथम पटल में बारह सागर और दूसरे पटल मे कुछ अधिक चौदह सागर की आयु है। शुक्र और महाशुक्र मे एक ही पटल है। शतार और सहस्रार मे भी एक ही पटल है।

आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग मे छह पटल है। प्रथम पटल मे सागर के तीसरे भाग से कुछ अधिक कम उन्नीस सागर की आयु है। दूसरे पटल मे बीस सागर, तीसरे पटल में २०, २ बटे ३ सागर, चौथे पटल में इक्कीस सागर, पाचवे पटल में २१, १ बटे ३ सागर और छठवे पटल मे बाईस सागर की आयु है।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१२२९॥

आरण और अच्युत स्वर्ग से ऊपर नव ग्रैवेयको मे, नव अनुदिशों में और विजय आदि विमानो मे एक-एक सागर बढती हुई आयु है। सूत्र मे नव शब्द का ग्रहण यह बतलाता है कि प्रत्येक ग्रैवेयक मे एक-एक सागर आयु की वृद्धि होती है। 'विजयादिषु' में आदि शब्द के द्वारा नव अनुदिशो का ग्रहण होता है।

इस प्रकार प्रथम ग्रैवेयक मे तेईस सागर और नवमें ग्रैवेयक मे इकतीस सागर की आयु है। नव अनुदिशो मे वत्तीस सागर और विजय आदि पाच विमानो में तैंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नही होती इस बात को बतलाने के लिए सूत्र मे सर्वार्थसिद्धि शब्द को पृथक् रक्खा हैं। नवग्रैवेयकों के नाम – १. सुदर्शन, २. अमोघ, ३ सुप्रबुद्ध, ४ यशोधर, ५. सुभद्र, ६. सुविशाल, ७. सुमनस, ८ सौमनस और ९. प्रीतिङ्कर।

स्वर्गों में जघन्य आयु का वर्णन—

अपरा पल्योपमधिकम् ॥१२३०॥

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के प्रथम पटल में कुछ अधिक एक पल्य की आयु है।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥१२३१॥

पहिले-पहिले के पटल और स्वर्गो की आयु आगे के पटलों और स्वर्गो की जघन्य आयु है। अर्थात् सौधर्म और ऐशान स्वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति सानत्कुमार और

माहेन्द्र स्वर्ग में जघन्य आयु है । इसी क्रम से विजयादि चार विमानो तक जघन्य आयु जान लेना चाहिए ।

नारकियों की जघन्य आयु—

नारकाणाञ्च द्वितीयादिषु ।।१२३२।।

पहिले-पहिले के नरकों को उत्कृष्ट आयु दूसरे आदि नरको मे जघन्य आयु होती है । इस प्रकार दूसरे नरक मे जघन्य आयु एक सागर और सातवे नरक की जघन्य आयु बाईस सागर की है ।

दशवर्ष सहस्त्राणि प्रथमायाम् ।।१२३३।।

पहिले नरक में जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है । यह जघन्य आयु प्रथम पटल में है । प्रथम पटल की उत्कृष्ट स्थिति नव्वे हजार वर्ष, द्वितीय पटल की जघन्य आयु है । इसी प्रकार आगे के पटलों मे जघन्य आयु का क्रम समझ लेना चाहिये ।

भवनवासियों की जघन्य आयु—

भवनेषु च ।।१२३४।।

भवनवासियों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है ।

व्यन्तरों की जघन्य आयु—

व्यन्तराणाञ्च ।।१२३५।।

व्यन्तर देवो की भी जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है ।

व्यन्तरों की उत्कृष्ट स्थिति—

परा पल्योपमधिकम् ।।१२३६।।

व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक है ।

ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु—

ज्योतिष्काणाञ्च ।।१२३७।।

ज्योतिषी देवो की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य की है ।

तदष्टभागोऽपरा ।।१२३८।।

ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु एक पल्य के आठवें भाग प्रमाण है ।

विशेष— चन्द्रमा की एक पल्य और एक लाख वर्ष, सूर्य की एक पल्य और एक हजार वर्ष, शुक्र की एक पल्य और सौ वर्ष, वृहस्पति की एक पल्य, बुध की आधा पल्य, नक्षत्रो की आधा पल्य और प्रकीर्णक ताराओं की १ बटे ४ पल्य उत्कृष्ट आयु है। प्रकीर्णक ताराओ की और नक्षत्रो की जघन्य स्थिति पल्य के आठवे भाग (१ बटे ८ पल्य) प्रमाण है और सूर्यादिको की जघन्य आयु पल्य के चौथे भाग (१ बटे ४ पल्य) प्रमाण है।

लोकान्तिकानामष्टौ सागरोपमानि सर्वेषाम् ॥१२३६॥

समस्त लौकान्तिक देवों की आयु आठ सागर की है। इन देवो में जघन्य और उत्कृष्ट आयु का भेद नही है। सब लौकान्तिक देवों के शुक्ल लेश्या होती है। इनके शरीर की ऊंचाई पांच हाथ है।

प्रश्न :—सिद्ध लोक और सिद्ध शिला का वर्णन कैसा है ?

उत्तर :—सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक के ध्वज दण्ड से १२ योजन मात्र ऊपर जाकर "ईषत्प्राग्भार" नाम की आठवीं पृथ्वी स्थित है, तीन भुवन के मस्तक पर स्थित इस पृथ्वी की पूर्व पश्चिम चोडाई १ राजू है, उत्तर दक्षिण लम्बाई ७ राजू है एवं मोटाई ८ योजन मात्र है। अत यह पृथ्वीलोक के अन्त तक ८ योजन मोटी है। इस पृथ्वी के ऊपर ३ वातवलय हैं। जो कुछ कम १ योजन मात्र है। घनोदधि वात वलय २ कोस, घनवात वलय १ कोस तनु वातवलय ४२५ धनुष कम १ कोस है।

इस आठवी पृथ्वी के मध्य में रजतमयी, श्वेत छत्र के आकार वाला मनुष्य क्षेत्र समान गोल पैंतालीस लाख योजन विस्तृत "सिद्ध क्षेत्र" है। तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ मे इस क्षेत्र को "उत्तानधवल" क्षेत्र सदृश कहा है। इस क्षेत्र के मध्य की मोटाई ८ योजन है। एवं क्रम से घटते-घटते अंत में १ अगुल मात्र है। अर्थात् यह शिद्ध शिला उपरिम भाग में तो समान रूप है और नीचे हानि वृद्धि रूप है। त्रिलोकसार मे इस सिद्ध शिला को औंधे रखे हुए कटोरे के सदृश कहा है। यह शिला ४५०००००० योजन विस्तृत है। और इसकी परिधि १४२३०२४९ योजन प्रमाण है।

सभी सिद्ध भगवान सिद्ध क्षेत्र के उपरिम भाग तनुवात के चतुर्थ भाग में विराजमान है। अन्तिम शरीर के प्रमाण से किंचित् न्यून आत्मप्रदेश वाले हैं। आठवी पृथ्वी के ऊपर सात हजार पचास धनुष जाकर सिद्धो का आवास है। अर्थात् सर्वार्थसिद्धि से १२ योजन ऊपर की आठवी पृथ्वी है। यह एक राजू चौड़ी ७ राजू लम्बी है, किन्तु मोटी ८ योजन मात्र ही है। इस पृथ्वी के मध्य मे सिद्ध शिला हैं। वह भी मोटी ८ योजन मात्र ही है। मध्य में गोलाकार है। जो कि ४५००००० योजन प्रमाण है। इसके ऊपर ४२५ धनुष कम १ योजन मे तीन वातवलय है। सिद्ध परमेष्ठी में अंतिम तनुवात वलय मे स्थित है। १ योजन मे ८००० धनुष होते है। उसमे से ७०५० धनुष ऊपर जाकर सिद्धो का आवास है। जो कि १०५०५९२६०१९५३, १ बटे ८ योजन प्रमाण है।

तनुवात वलय १ कोस का है। एक कोस मे २०० धनुष होते है। इसमे ४२५ धनुष घटाइये, तब १५७५ धनुष होता है। २००० – ४२५=१५७५ धनुष। तनुवात वलय के कोस प्रमाणांगुल की अपेक्षा से है। और सिद्धों की अवगाहना व्यवहारांगुल की अपेक्षा से है। इसलिये १५७५ को ५०० से गुणा करके व्यवहार धनुष बना लीजिये १५७५×५००=७८७ – ५०० तनुवात की मोटाई को ५०० से गुणा करके १५०० का भाग देने पर सिद्धो की उत्कृष्ट अवगाहना का प्रमाण होता है। एव ९००००० का भाग देने पर जघन्य अवगाहना होती है। जैसे—१५७५× ५००÷१५००=५२५ धनुष/१५७५×५००÷९०००००=७ बटे ८ धनुष=३, १ बटे २ हाथ। इसमे सिद्धो की जघन्य अवगाहना ७ धनुष के आठ भाग है। धनुष के चार हाथ होते है। अतः ७×४=२८; २८÷८=३, १ बटे २। सिद्धो की जघन्य अवगाहना ३, १ बटे २ हाथ है। एवं उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष है।

अध्याय आठवां : द्रव्य-वर्णन

अजीव तत्त्व का वर्णन—

अजीवकाया धर्माधर्माकाश पुद्‌गलाः ।१२४०।।

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्‌गल ये चार द्रव्य अजीवकाय है। शरीर के समान प्रलग्र या पिण्ड रूप होने के कारण इन द्रव्यो को अजीवकाय कहा है। यद्यपि काल द्रव्य भी अजीव है, लेकिन प्रचय रूप न होने के कारण काल को इस सूत्र मे नही कहा है। काल द्रव्य के प्रदेश मोती के समान एक दूसरे से पृथक् है। निश्चयनय से एक पुद्‌गल परमाणु बहुप्रदेशी नही है, किन्तु उपचार से एक पुद्‌गल परमाणु भी बहु-प्रदेशी कहा जाता है, क्योकि उसमे अन्य परमाणुओ के साथ मिलकर पिण्डरूप परिणत होने की शक्ति है।

प्रश्न :—'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैक जीवानाम्' ऐसा आगे सूत्र है। उसी से यह निश्चय हो जाता है कि धर्म आदि द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। फिर इन द्रव्यों को बहुप्रदेशी बतलाने के लिये इस सूत्र में काय शब्द का ग्रहण क्यों किया ?

उत्तर :—इस सूत्र मे काय शब्द यह सूचित करता है कि धर्म आदि द्रव्य बहुप्रदेशी है और आगे के सूत्रो से उन प्रदेशो का निर्धारण होता है कि किस द्रव्य के कितने प्रदेश है। काल द्रव्य के प्रदेश प्रचयरूप नही होते है, इस बात को बतलाने के लिये भी इस सूत्र मे काय शब्द का ग्रहण किया है। 'अजीवकाय' इस शब्द मे अजीव विशेपण है और काय विशेष्य है। इसलिये यहा विशेषण विशेष्य समास हुआ है। किन्ही दो पदार्थो मे व्यभिचार (असम्बन्ध) होने पर किसी एक स्थान में उनके संबंध को बतलाने के लिये विशेपण विशेष्य समास होता है। काल द्रव्य अजीव है, लेकिन काय नही है, जीव द्रव्य काय है, लेकिन अजीव नही है। अतः अजीव और काय मे व्यभिचार होने के कारण विशेषण विशेष्य समास हो गया है।

द्रव्य का लक्षण—

द्रव्याणि ।।१२४१।।

उक्त धर्म आदि चार द्रव्य है। जिसमें गुण और पर्याय पाये जाय उनको द्रव्य कहते है।

नैयायिक कहते है कि जिसमें द्रव्यत्व नामक सामान्य रहे, वह द्रव्य है। ऐसा कहना ठीक नही है। जब द्रव्यत्व और द्रव्य दोनो की पृथक्-पृथक् सिद्धि हो, तब द्रव्यत्व का द्रव्य के साथ सम्बन्ध हो सकता है। लेकिन दोनो की पृथक्-पृथक् सिद्धि नही है। और यदि दोनों की पृथक् सिद्धि है, तो बिना द्रव्यत्व के भी द्रव्य सिद्ध हो गया, तब द्रव्यत्व के सम्बन्ध मानने की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार गुणो के समुदाय को द्रव्य कहना भी ठीक नही है; क्योंकि गुण और समुदाय मे अभेद मानने पर एक ही पदार्थ रहेगा और भेद मानने पर गुणो की कल्पना व्यर्थ है, क्योकि बिना गुणो के भी समुदाय सिद्ध है।

गुण और द्रव्य में कथञ्चित् भेदाभेद मानने से कोई दोष नही आता। गुण और द्रव्य पृथक्-पृथक् उपलब्ध नही होते, इसलिये उनमें अभेद है और उनके नाम, लक्षण, प्रयोजन आदि भिन्न-भिन्न है, इसलिये उनमे भेद भी है।

पूर्व सूत्र में धर्म आदि बहुत पदार्थ है, इसलिए इस सूत्र मे धर्म आदि का द्रव्य के साथ समानाधिकरण होने से द्रव्य शब्द को वहुवचन कहा है, लेकिन समानाधिकरण के कारण द्रव्य शब्द पुल्लिग नही हो सकता, क्योकि द्रव्य शब्द सदा नपुंसक लिङ्ग का है।

जीव द्रव्य किस प्रकार के हैं—

जीवाश्च ॥१२४२॥

जीव भी द्रव्य है। आगे काल को भी द्रव्य बतलाया है। इस प्रकर धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल ये छह द्रव्य है।

प्रश्न :—आगे 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इस सूत्र में द्रव्य का लक्षण बतलाया है। इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि धर्म आदि द्रव्य हैं। फिर यहां द्रव्यों की गणना करना ठीक नहीं है?

उत्तर:—यहां द्रव्यो की गणना इसलिये की गई है कि द्रव्य छह ही हैं। अन्य लोगो के द्वारा मानी गयी द्रव्य की सख्या ठीक नही है।

नैयायिक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये

नव द्रव्य मानते है । यह संख्या ठीक नही है; पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन का पुद्गल द्रव्य मे अन्तर्भाव हो जाता है ।

जिनेन्द्र देव ने पुद्गल द्रव्य के छह भेद बतलाए हैं–अतिस्थूल, स्थूल-स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म । इनके क्रमशः उदाहरण ये है–पृथ्वी, जल, छाया, नेत्र के सिवाय शेष चार इन्द्रियो के विषय, कर्म और परमाणु ।

प्रश्न :—पुद्गल द्रव्य में रूप रस गंध और स्पर्श पाये जाते हैं । वायु और मन में रूप आदि नहीं है । अतः पुद्गल में इनका अन्तर्भाव कैसे होगा ?

उत्तर :—वायु मे भी रूप आदि चारो गुण पाये जाते है । वायु मे नैयायिक के मत के अनुसार स्पर्श है ही और स्पर्श होने से रूपादि गुणो को भी मानना पड़ेगा । जहाँ स्पर्श है, वहा शेष गुण होना ही चाहिये । ऐसा भी कहना ठीक नही कि वायु मे रूप है तो वायु का प्रत्यक्ष होना चाहिये, क्योकि परमाणु मे रूप होने पर भी उसका प्रत्यक्ष नही होता । इसी प्रकार जल, अग्नि आदि मे स्पर्श आदि चारो गुण पाये जाते है । चारो का परस्पर अविनाभाव है ।

मन के दो भेद है– द्रव्यमन और भावमन । द्रव्यमन का पुद्गल मे और भावमन का जीव मे अन्तर्भाव होता है । द्रव्यमन रूपादि युक्त होने से पुद्गल द्रव्य का विकार है । द्रव्यमन ज्ञानोपयोग का कारण होने से रूपादि युक्त (मूर्त) है । शब्द भी पौद्गलिक होने से मूर्त ही है, अतः नैयायिक का ऐसा कहना कि जिस प्रकार शब्द अमूर्त होकर ज्ञानोपयोग मे कारण होता है, उसी प्रकार द्रव्यमन भी अमूर्त होकर ज्ञानोपयोग मे कारण हो जायेगा, यह ठीक नही है ।

प्रत्येक द्रव्य के पृथक्-पृथक् परमाणु मानना भी ठीक नही है । जल के परमाणु पृथ्वी रूप भी हो सकते है और पृथ्वी के परमाणु जलरूप भी । जिस प्रकार वायु आदि का पुद्गल मे अन्तर्भाव हो जाता है, उसी प्रकार दिशा का आकाश मे अन्तर्भाव हो जाता है, क्योकि सूर्य के उदयादि की अपेक्षा आकाश के प्रदेशो की पंक्ति मे पूर्व आदि दिशा का व्यवहार किया जाता है ।

ये द्रव्य नित्य किस प्रकार हैं ?—

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।।११४३।।

जीव आदि सभी द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी हैं । ये द्रव्य कभी नष्ट नही होते है, इसलिये नित्य हैं। इनकी सख्या सदा छह ही रहती है अथवा ये कभी भी

अपने-अपने प्रदेशो को नही छोड़ते हैं, इसलिये अवस्थित है। द्रव्यों मे नित्यत्व, और अवस्थित व द्रव्य नय की अपेक्षा से है। इन द्रव्यो मे रूप, रस आदि नही पाये जाते, इसलिये अरूपी है।

पुद्गल का स्वरूप—

रूपिणः पुद्गलाः ॥१२४४॥

पुद्गल द्रव्य मे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाये जाते है। इसलिये पुद्गल द्रव्य रूपी हैं। जिसमें पूरण और गलन हो वह पुद्गल है। पुद्गल के परमाणु, स्कन्ध आदि अनेक भेद है, इसलिये सूत्र मे बहुवचन का प्रयोग किया है।

ये तीन द्रव्य किस प्रकार के हैं ?

आ आकाशादेक द्रव्याणि ॥

आकाश पर्यन्त अर्थात् धर्म और आकाश—ये तीन द्रव्य एक-एक है। जीव या पुद्गल की तरह अनेक नही है।

प्रश्न :—'आ आकाशादेकैकम्' ऐसे लघुसूत्र से ही काम चल जाता, फिर व्यर्थ ही द्रव्य शब्द का ग्रहण क्यों किया ?

उत्तर :—उक्त द्रव्य, द्रव्य की अपेक्षा एक-एक है, लेकिन क्षेत्र और भाव की अपेक्षा असख्यात और अनन्त भी है, इस बात का बतलाने के लिये सूत्र मे द्रव्य शब्द का ग्रहण आवश्यक है।

ये द्रव्य निष्क्रिय किस प्रकार हैं ?

निष्क्रियाणि च ॥११४५॥

धर्म, अधर्म और आकाश ये द्रव्य निष्क्रिय भी हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने को क्रिया कहते हैं। इस प्रकार की क्रिया इन द्रव्यो मे नही पाई जाती, इसलिये ये निष्क्रिय है।

प्रश्न :—यदि धर्म आदि द्रव्य निष्क्रिय हैं, तो इनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उत्पत्ति क्रियापूर्वक होती है। उत्पत्ति के अभाव में विनाश भी संभव नहीं है। अतः धर्म आदि द्रव्यों की उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य युक्त कहना ठीक नहीं है ?

उत्तर :—यद्यपि धर्म आदि द्रव्यों मे क्रिया निमित्तक उत्पाद नही है, फिर भी इनमें दूसरे प्रकार का उत्पाद पाया जाता है।

स्वनिमित्त और परनिमित्त के भेद से दो प्रकार का उत्पाद धर्म आदि द्रव्यों मे होता रहता है। इन द्रव्यो के अनन्त अगुरुलघु गुणो में छह प्रकार की वृद्धि और छह प्रकार की हानि स्वभाव से ही होती रहती है, यही स्वनिमित्तक उत्पाद और व्यय है। मनुष्य आदि की गति, स्थिति और अवकाशदान मे हेतु होने के कारण धर्म आदि द्रव्यो मे पर प्रत्ययापेक्ष उत्पाद और विनाश भी होता रहता है। क्योकि क्षण-क्षण में गति आदि के विषय भिन्न-भिन्न होते है और विषय भिन्न होने से उसके कारण को भी भिन्न होना चाहिये।

प्रश्न :—क्रिया सहित जलादि ही मछली आदि की गति आदि में निमित्त होते हैं। धर्म आदि निष्क्रिय द्रव्य जीवादि की गति आदि में हेतु कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर :—ये द्रव्य केवल जीवादि की गति आदि मे सहायक होते है, प्रेरक नही। जैसे चक्षु रूप के देखने मे निमित्त होता है, लेकिन जो नही देखना चाहता उसको देखने की प्रेरणा नही करता। इसलिये धर्म आदि द्रव्यो को निष्क्रिय होने पर भी जीवादि की गति आदि मे हेतु होने मे कोई विरोध नही है।

जीव और पुद्गल को छोडकर शेष चार द्रव्य निष्क्रिय है।

द्रव्यों के प्रदेशों की सख्या कितनी हैं—

असंख्येया. प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥१२४६॥

धर्म, अधर्म और एक जीव के असख्यात प्रदेश होते हैं। आकाश के जितने प्रदेश मे एक पुद्गल परमाणु रह सकता है, उतने आकाशदेश को प्रदेश कहते है। असख्यात के तीन भेद है—जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट। इनमे से यहा अजघन्योत्कृष्ट लिया गया है। धर्म और अधर्म द्रव्य पूरे लोकाकाश मे व्याप्त हैं। एक जीव लोकाकाश प्रमाण प्रदेश वाला होने पर भी प्रदेशो मे सकोच और विस्तार की अपेक्षा स्वकर्मानुसार प्राप्त शरीर प्रमाण ही रहता है। लोक पूरण समुद्घात के समय जीव पूरे लोकाकाश मे व्याप्त हो जाता है। जिस समय जीव लोक पूरण समुद्घात करता है, उस समय मेरु के नीचे चित्र वज्र पटल के मध्य मे जीव के आठ मध्य प्रदेश रहते हैं और शेष प्रदेश पूरे लोकाकाश मे व्याप्त हो जाते है। दण्ड, कपाट, प्रतर और लोक पूरण की अपेक्षा चार समय प्रदेशो के विस्तार मे और चार समय संकोच में इस प्रकार लोक पूरण समुद्घात करने मे आठ समय लगते है।

आकाशस्यानन्ताः ॥१२४७॥

आकाश द्रव्य के अनन्त प्रदेश है, पर लोकाकाश के असख्यात ही प्रदेश है।

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥

पुद्गल द्रव्य के सख्यात और अनन्त प्रदेश है। सूत्र में 'च' शब्द से अनन्त का ग्रहण किया गया है। अनन्त के तीन भेद है-परीतान्त, युक्तानन्त, और अनन्तान्त। यहा तीनो अनन्तों का ग्रहण किया गया है। किसी द्वयणुक आदि पुद्गल के सख्यात प्रदेश होते हैं। दो अणु से अधिक और डेढ सौ अंक प्रमाण पर्यन्त पुद्गल परमाणुओं के समूह को सख्यात प्रदेशी स्कध कहते है। लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण परमाणुओ वाला स्कध असंख्यात प्रदेशी होता है। इसी प्रकार कोई स्कध असख्यात संख्यात प्रदेश वाला, कोई परीतान्त प्रदेश वाला, कोई युक्तानन्त प्रदेश वाला और कोई अनन्तानन्त प्रदेश वाला भी होता है।

प्रश्न :—लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश है, फिर वह अनन्त और अनन्तानन्त प्रदेश वाले पुद्गल द्रव्य का आधार कैसे हो सकता है?

उत्तर :—पुद्गल परमाणुओ मे सूक्ष्म परिणमन होने से और अव्याहत अवगाहन शक्ति होने से आकाश के एक प्रदेश मे भी अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु रह सकते है।

नाणोः ॥१२४८॥

परमाणु के दो आदि प्रदेश नही होते है। परमाणु एक प्रदेशी ही होता है। पुद्गल के सबसे छोटे हिस्से का नाम परमाणु है। अतः परमाणु के भेद या प्रदेश नही हो सकते। परमाणु से छोटा और आकाश से बड़ा कोई नही है। अत. परमाणु के प्रदेशो मे भेद नही डाला जा सकता।

द्रव्यों के रहने का स्थान—

लोकाकाशेऽवगाहः ॥१२४९॥

जीव आदि द्रव्यों का अवगाह (स्थान) लोकाकाश में है। लोकाकाश आधार और जीवादि द्रव्य आधेय हैं। लेकिन लोकाकाश का अन्य कोई आधार नही है, वह अपने ही आधार से है।

प्रश्न :—जैसा लोकाकाश का कोई दूसरा आधार नहीं है, उसी प्रकार धर्मादि द्रव्यों का भी दूसरा आधार नहीं होना चाहिये अथवा

धर्मादि के आधार की तरह आकाश का भी दूसरा आधार होना चाहिए ?

उत्तर :—आकाश से अधिक परिमाण वाला अर्थात् बडा दूसरा कोई द्रव्य नही है, जो आकाश का आधार हो सके। अत. आकाश किसी का आधेय नही हो सकता। आकाश भी व्यवहार नय की अपेक्षा धर्मादि द्रव्यों का आधार माना गया है। निश्चय नय से तो सब द्रव्य अपने-अपने आधार से हैं। आकाश और अन्य द्रव्यों में आधार-आधेय सम्बन्ध का तात्पर्य यही है कि आकाश से वाहर अन्य द्रव्य नहीं हैं। एवम्भूतनय की अपेक्षा से तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही हैं। एवम्भूत अर्थात् निश्चयनय। परमात्म प्रकाश (१—५) मे सिद्धो को स्वात्म निवासी ही वतलाया है।

प्रश्न :—आधार और आधेय पूर्वापर काल भावी होते हैं। जैसे घड़ा पहले रखा हुआ है और उसमें बेर आदि पीछे रख दिये जाते हैं। आकाश और धर्मादि द्रव्य समकाल भावी हैं, इसलिए इनमें व्यवहारनय से भी आधार–आधेय सम्बन्ध नहीं बन सकता ?

उत्तर :—कही-कही समकालभावी पदार्थो मे भी आधार–आधेय सम्वन्ध पाया जाता है, जैसे घट और घटके रूपादिक में। इसी प्रकार समकाल भावी आकाश और धर्मादि द्रव्यो में उक्त सम्वन्ध है।

लोक और अलोक का विभाग धर्म और अधर्म द्रव्य के सद्भाव से होता है। यदि धर्म और अधर्म द्रव्य न होते तो जीव और पुद्गल की जहां कि धर्म और अधर्म द्रव्य हैं, वहां लोक और उसके बाहर अलोक गति और स्थिति के अभाव हो जाने से लोकालोक का विभाग भी न होता।

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१२५०॥

धर्म और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में तिल में तैल की तरह व्याप्त है। इनमें अवगाहन शक्ति होने से परस्पर में व्याघात नही होता है।

प्रश्न :—अलोकाकाश में अधर्म द्रव्य न होने से आकाश की स्थिति और काल द्रव्य न होने से आकाश में परिणमन कैसे होता है ?

उत्तर :—जैसे जल के समीप स्थित, उष्ण लोहे का गोला, एक ओर से जल को खीचता है, लेकिन जल पूरे लोह पिण्ड में व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार लोक के अन्त भाग के निकट का अलोकाकाश अधर्म और काल द्रव्य का स्पर्श करता

है, और उस स्पर्श के कारण समस्त अलोकाकाश की स्थिति और उसमे परिवर्तन होता है।

एक प्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१२५१॥

पुद्गल द्रव्य का अवगाह लोकाकाश के एक प्रदेश को आदि लेकर असख्यात प्रदेशो में यथा योग्य होता है। आकाश के एक प्रदेश मे एक परमाणु से लेकर असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध का अवगाह हो सकता है। इसी प्रकार आकाश के दो, तीन आदि प्रदेशो में भी पुद्गल द्रव्य का अवगाह होता है।

प्रश्न :—धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्त है, इसलिए इनके अवगाह में कोई विरोध नहीं है; लेकिन अनन्त प्रदेश वाले मूर्त पुद्गलस्कन्ध का असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अवगाह कैसे हो सकता है ?

उत्तर :—सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति होने से आकाश के एक प्रदेश मे भी अनन्त परमाणु वाला पुद्गल स्कन्ध रह सकता है। जैसे एक कोठे मे अनेक दीपकों का प्रकाश एक साथ रहता है। इस विषय में आगम भी प्रमाण है। प्रवचनसार में कहा है कि सूक्ष्म, बादर और नाना प्रकार के अनन्तानन्त पुद्गल स्कन्धों से यह लोक ठसाठस भरा है।

इस विषय मे रुई की गाठ का दृष्टान्त भी उपयुक्त है। फैली हुई रुई अधिक क्षेत्र को घेरती है, जबकि गाठ बांधने पर अल्प क्षेत्र में आ जाती है।

असंख्येय भागादिषु जीवानाम् ॥१२५२॥

जीवो का अवगाह लोकाकोश के असख्यातवे भाग से लेकर समस्त लोकाकाश में है। लोकाकाश के असख्यात भागो में से एक, दो, तीन आदि भागो मे एक जीव रहता है, और लोक पूरण समुद्धात के समय वही जीव समस्त लोकाकाश मे व्याप्त हो जाता है।

प्रश्न :—यदि लोकाकाश के एक भाग में एक जीव रहता है, तो एक भाग में द्रव्य प्रमाण से शरीर युक्त अनन्तानन्त जीव राशि कैसे रह सकती है ?

उत्तर :—सूक्ष्म और बादर के भेद से जीवो का एक आदि भागो मे अवगाह होता है। अनेक बादर जीव एक स्थान मे नही रह सकते, क्योकि वे परस्पर में प्रतिघात (बाधा) करते है। लेकिन परस्पर में प्रतिघात न करने के कारण एक

निगोद जीव के शरीर मे अनन्तानन्त सूक्ष्म जीव रहते हैं। बादर जीवो से भी सूक्ष्म जीवो का प्रतिघात नही होता है।

असंख्यात प्रदेशी जीव लोक के असंख्यातवें भाग में—

प्रदेश संहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१२५३॥

दीपक के प्रकाश की तरह जीव प्रदेशो के सकोच और विस्तार की अपेक्षा लोक के असंख्यातवे आदि भागो मे रहता है। दीपक को यदि खुले मैदान में रक्खा जाये तो उसका प्रकाश दूर तक होगा। उसी दीपक को कोठे मे रखने से कम प्रकाश और घड़े मे रखने से और भी कम प्रकाश होगा। इसी प्रकार जीव भी अनादि कार्मण शरीर के कारण छोटा और बडा शरीर धारण करता है और जीव के प्रदेश संकोच और विस्तार के द्वारा शरीर प्रमाण हो जाते है। लघु शरीर मे प्रदेशो का सकोच और बड़े शरीर में प्रदेशों का विस्तार हो जाता है लेकिन जीव वही होता है, जैसे जो हाथी और वही चीटी के शरीर में।

एक प्रदेश मे स्थित होने के कारण यद्यपि धर्म आदि द्रव्य परस्पर मे प्रवेश करते है, लेकिन अपने-अपने स्वभाव को नही छोडते, इसलिए उनमे सकर या एकत्व दोष नही हो सकता। पञ्चास्तिकाय मे कहा भी है कि—"ये द्रव्य परस्पर मे प्रवेश करते हैं, एक दूसरे में मिलते है, परस्पर को अवकाश देते है, लेकिन अपने-अपने स्वभाव को नही छोड़ते।"

धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार—

गति स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरूपकारः ॥१२५४॥

एक देश से देशान्तर मे जाना गति है, ठहरना स्थिति है। जीव और पुद्गलों को गमन करने में सहायता देना धर्म द्रव्य का उपकार और जीव तथा पुद्गलो को ठहरने मे सहायता देना अधर्म द्रव्य का उपकार है। यद्यपि उपकार दो है, लेकिन उपकार शब्द सामान्य वाची होने से सूत्र मे एक वचन का ही प्रयोग किया है।

प्रश्न :—सूत्र में उपग्रह शब्द व्यर्थ है, क्योंकि उपकार शब्द से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, इसलिए 'गतिस्थितिधर्माधर्म योरूपकारः' ऐसा सूत्र होना चाहिये ?

उत्तर :—यदि सूत्र मे उपग्रह शब्द न हो, तो जिस प्रकार धर्म द्रव्य का

उपकार गति और अधर्म द्रव्य का उपकार स्थिति है, ऐसा क्रम से होता है, उसी प्रकार जीवो के गमन में सहायता करना धर्म द्रव्य का उपकार और पुद्गलों को ठहरने मे सहायता देना अधर्म द्रव्य का उपकार है—ऐसा विपरीत अर्थ भी हो जाता। अतः इस भ्रम को दूर करने के लिए सूत्र में उपग्रह शब्द का होना आवश्यक है।

प्रश्न :—धर्म और अधर्म द्रव्य का जो उपकार बतलाया है, वह आकाश का ही उपकार है, क्योंकि आकाश में ही गति और स्थिति होती है?

उत्तर :—आकाश द्रव्य का उपकार द्रव्यो को अवकाश देना है। इसलिए गति और स्थिति को आकाश का उपकार मानना ठीक नही है। एक द्रव्य के अनेक प्रयोजन मानकर; यदि धर्म और अधर्म द्रव्य का अस्तित्व स्वीकार न किया जाए, तो लोक और आलोक का विभाग नही हो सकेगा। इन्ही दो द्रव्यों के कारण ही यह विभाग बनता है।

प्रश्न :—धर्म और अधर्म द्रव्य का प्रयोजन पृथ्वी, जल आदि से ही सिद्ध हो जाता है, इसलिये इनके मानने की कोई आवश्यकता नही है?

उत्तर :—पृथ्वी, जल आदि गति और स्थिति के विशेप कारण हैं। लेकिन इनका कोई साधारण कारण भी होना चाहिये। इसलिये धर्म और अधर्म द्रव्य का मानना आवश्यक है, क्योकि ये गति और स्थिति मे सामान्यकारण होते हैं।

धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थिति में प्रेरक नही होते, किन्तु सहायक मात्र होते है, अतः ये परस्पर गति और स्थिति का प्रतिबन्ध नही कर सकते।

प्रश्न :—धर्म और अधर्म द्रव्य की सत्ता नहीं है, क्योंकि इनकी उपलब्धि नहीं होती है?

उत्तर :—ऐसा कोई नियम नही है कि जिस वस्तु की प्रत्यक्ष से उपलब्धि हो वही वस्तु सत् मानी जाय। सब मतावलम्बी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार के पदार्थो को मानते है। धर्म अधर्म द्रव्य अतीन्द्रिय होने से यद्यपि हम लोगो को प्रत्यक्ष नही होते है, लेकिन सर्वज्ञ तो इनको प्रत्यक्ष करते ही है। श्रुतज्ञान से भी धर्म अधर्म द्रव्य की उपलब्धि होती है।

आकाश का उपकार किस प्रकार है—

आकाशस्यावगाहः ॥१२५५॥

समस्त द्रव्यो को अवकाश देना,आकाश का उपकार है ।

प्रश्न :—क्रिया वाले जीव और पुद्गलों को आकाश देना तो ठीक है, लेकिन निष्क्रिय धर्मादि द्रव्यों को अवकाश देना तो संभव नहीं है ?

उत्तर :—यद्यपि धर्म आदि में अवगाहन क्रिया नही होती है, लेकिन उपचार से वे भी अवगाही कहे जाते है। धर्म आदि द्रव्य लोकाकाश मे सर्वत्र व्याप्त है, इसलिये व्यवहार नय से इनका अवकाश मानना उचित ही है ।

प्रश्न :—यदि आकाश में अवकाश देने की शक्ति है, तो दीवाल में गाय आदि का और वज्र में पत्थर आदि का भी प्रवेश हो जाना चाहिये ?

उत्तर :—स्थूल होने के कारण उक्त पदार्थ परस्पर का प्रतिघात करते है। यह आकाश का दोष नही है, किन्तु उन्ही पदार्थो का है। सूक्ष्म पदार्थ परस्पर मे अवकाश देते है, इसलिये प्रतिघात नही होता। इससे यह भी नही समझना चाहिये कि अवकाश देना पदार्थो का काम है, आकाश का नही, क्योकि सब पदार्थो को अवकाश देने वाला एक साधारणकारण आकाश मानना आवश्यक है ।

यद्यपि आलोकाकाश मे अन्य द्रव्य न होने से आकाश का अवकाशदान लक्षण वहा नही बनता, लेकिन अवकाश देने का स्वभाव वहां भी रहता है, इसलिये अलोकाकाश अवकाश न देने पर भी आकाश ही है ।

पुद्गल द्रव्य का उपकार—

शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ।।१२५६।।

शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास ये पुद्गल द्रव्य के उपकार है ।

शरीर विशीर्ण होने वाले होते है, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पांच शरीर पुद्गल से बनते है। आत्मा के परिणामों के निमित्त से पुद्गल परमाणु कर्मरूप परिणत हो जाते है और कर्मो से औदारिक आदि शरीरों की उत्पत्ति होती है, इसलिये शरीर पौद्गलिक है ।

प्रश्न :—कार्मण शरीर अनाहारक होने से पौद्गलिक नहीं हो सकता ?

उत्तर :—यद्यपि कार्मण शरीर अनाहारक है, लेकिन उसका विपाक गुड कांटः आदि मूर्तिमान द्रव्य के सम्बन्ध होने पर होता है इसलिये कार्मण शरीर भी पौद्गलिक ही है ।

वचन के दो भेद है—द्रव्य वचन और भाव वचन। वीर्यान्तराय, मति और श्रुत ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर और अगोपांग नाम कर्म के उदय होने पर भाव वचन होते है, इसलिये पुद्गल के आश्रित होने से पौद्गलिक है। भाव वचन की सामर्थ्य से युक्त आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर जो पुद्गल परमाणु वचन रूप से परिणत होते है, वे द्रव्य वचन है। द्रव्य वचन श्रोत्रेन्द्रिय के विषय होते है।

प्रश्न :—वचन अमूर्त हैं, अतः उनको पौद्गलिक कहना ठीक नहीं है ?

उत्तर :—वचन अमूर्त नही है किन्तु मूर्त है, और इसीलिये पौद्गलिक भी है। शब्दो का मूर्तिमान् द्रव्यकर्ण के द्वारा ग्रहण होता है, दीवाल आदि मूर्तिमान् द्रव्य के द्वारा शब्द का अवरोध देखा जाता है, तीव्र भेरी आदि के शब्दो के द्वारा मन्द मच्छर आदि के शब्दो का व्याघात होता है, मूर्त वायु के द्वारा भी शब्द का व्याघात होता है। विपरीत वायु चलने से शब्द अपने अनुकूल देश मे नही पहुँच पाता, इन सब कारणो से शब्द में मूर्तत्व सिद्ध होता है। मूर्त द्रव्य के द्वारा ग्रहण, अवरोध, अभिभव आदि अमूर्त वस्तु मे नही हो सकते।

मन के भी दो भेद है-द्रव्यमन और भावमन। ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम होने पर अंगोपाग नामकर्म का उदय होने पर गुण और दोषो के विचार करने मे समर्थ आत्मा के उपकारक जो पुद्गल मन रूप से परिणत होते हैं, वे द्रव्यमन है। भावमन लब्धि और उपभोग रूप होता है और द्रव्यमन के आश्रित होने से पौद्गलिक है।

प्रश्न :—मन अणुमात्र और रूपादि गुणों से रहित एक भिन्न द्रव्य है। उसको पौद्गलिक कहना ठीक नहीं है ?

उत्तर :—यदि मन अणुमात्र है, तो इन्द्रिय और आत्मा से उसका सम्बन्ध हैं या नहीं ? यदि सम्बन्ध नही है, तो वह आत्मा का उपकारक नही हो सकता। और आत्मा के साथ मन का सम्बन्ध है, तो एक देश मे ही सम्बन्ध हो सकेगा, तब अन्य देशों में वह उपकारक नही हो सकेगा। अदृष्ट के कारण अलातचक्र की तरह मन का आत्मा के सब प्रदेशों मे परिभ्रमण मानना भी ठीक नही हैं; क्योंकि आत्मा अदृष्ट नैयायिक मत के अनुसार स्वय क्रिया रहित है, अतः वह मन की क्रिया मे भी कारण नही हो सकता। क्रियावान् वायु आदि के गुण ही अन्यत्र क्रिया हेतु हो सकते है।

ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम होने पर और अंगोपांग नामकर्म के उदय होने पर शरीर के भीतर से जो वायु बाहर निकलती है, उसको प्राण और जो वायु बाहर से शरीर के भीतर जाती है, उसको अपान कहते हैं।

मन और प्राणापान का भी मूर्त द्रव्य से प्रतिघात आदि देखा जाता है; इसलिये ये भी मूर्त हैं। बिजली के गिरने से मन का प्रतिघात और मदिरा आदि से अभिभव देखा जाता है। हाथ आदि से मुख को बन्द कर देने पर प्राणापान का प्रतिघात और गले में कफ अटक जाने पर श्वासोच्छ्वास का अभिभव भी देखा जाता है।

प्राणापान क्रिया के द्वारा जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है। शरीर में जो श्वासोच्छ्वास क्रिया होती है, उसका कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिये, क्योंकि कर्ता के विना क्रिया नहीं हो सकती और जो श्वासोच्छ्वास क्रिया का कर्ता है, वही जीव है।

उक्त शरीर आदि पुद्गल के उपकार जीव के प्रति कैसे हैं—

सुख दुःख जीवित मरणोपग्रहाश्च ॥१२५७॥

सुख, दुःख, जीवित और मरण ये भी जीव के प्रति पुद्गल के उपकार हैं। साता वेदनीय के उदय से सुख और असाता वेदनीय के उदय से दुःख होता है। आयु कर्म के उदय से जीवन और आयु कर्म के विनाश से मरण होता है। ये सुख आदि मूर्त कारण के होने पर होते हैं, इसलिये ये पौद्गलिक हैं।

सूत्रगत उपग्रह शब्द इस बात को सूचित करता है कि पुद्गल का पुद्गल के प्रति भी उपकार होता है। जैसे कांसे का बर्तन भस्म से साफ हो जाता है, मैला जल फिटकरी आदी से स्वच्छ हो जाता है और गरम लोहा जल से ठंडा हो जाता है। सूत्रगत 'च' शब्द यह सूचित करता है कि इन्द्रिय आदि अन्य भी पुद्गल के उपकार हैं।

जीव का उपकार क्या है—

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥१२५८॥

जीव परस्पर उपकार करते हैं, जैसे पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक और गुरु-शिष्य आदि। स्वामी धनादि के द्वारा, सेवक अनुकूल कार्य के द्वारा स्वामी का उपकार करता है। गुरु शिष्य को विद्या देता है तो शिष्य शुश्रूषा आदि से गुरु को प्रसन्न रखता है। सूत्रगत उपग्रह शब्द सूचित करता है कि सुख, दुःख, जीवित और मरण द्वारा भी जीव परस्पर उपकार करते हैं।

काल का उपकार—

वर्तना परिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥१२५६॥

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व ये काल द्रव्य के उपकार है। कही 'वर्तना परिणामः क्रिया' इन तीनों पदो में स्वतन्त्र विभक्तिया भी देखी जाती हैं। कही 'वर्तना परिणाम क्रिया.' ऐसा समस्त पद उपलब्ध होता है। सब पदार्थो मे स्वभाव से ही प्रतिसमय परिवर्तन होता रहता है, लेकिन उस परिवर्तन मे जो बाह्य कारण है, वह परमाणुरूप काल द्रव्य है। काल द्रव्य के निमित्त से होने वाले परिवर्तन का नाम वर्तना है। वर्तना से काल द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है। चावलो को वर्तन मे अग्नि पर रखने के कुछ समय बाद ओदन (भात) बन जाता है। चावलो से जो ओदन बना वह एक समय मे और एक साथ ही नही बना, किन्तु चावलो मे प्रत्येक समय सूक्ष्म परिणमन होते-होते अन्त मे स्थूल परिणाम दृष्टिगोचर होता है। यदि प्रति समय सूक्ष्म परिणमन न होता तो स्थूल परिणमन भी नही हो सकता था। अतः चावलों मे जो प्रति समय परिवर्तन हुआ वह काल रूप बाह्य कारण की अपेक्षा से ही हुआ। इसी प्रकार सब पदर्थो मे परिणमन काल द्रव्य के कारण ही होता है। काल द्रव्य निष्क्रिय होकर भी निमित्त मात्र से सब द्रव्यों की वर्तना (क्रिया) मे हेतु होता है।

एक पर्याय की निवृत्ति होकर दूसरे पर्याय की उत्पत्ति होने का नाम परिणाम है। जीव के परिणाम क्रोध, मन, माया, लोभादि है। पुद्गल का परिणाम वर्णादि है। धर्म, अधर्म और आकाश का परिणाम अगुरुलघु गुणो की वृद्धिहानि से होता है।

हलन-चलन का नाम क्रिया है। क्रिया के दो भेद हैं—प्रायोगिकी और वैस्त्रसिकी। शकट (गाड़ी) आदि से क्रिया दूसरो के द्वारा होती है। इसको प्रायोगिकी क्रिया कहते हैं। मेघ आदि में क्रिया स्वभाव से ही होती है। इसको वैस्त्रसिकी क्रिया कहते हैं।

छोटे और बड़े के व्यवहार को परत्वापरत्व कहते है। क्षेत्र और काल की अपेक्षा से परत्वापरत्व व्यवहार होता है, लेकिन यहाँ काल का प्रकरण होने से कालकृत परत्वापरत्व का ही ग्रहण किया गया है। कालकृत परत्वापरत्व से समीप देशवर्ती और व्रतादि गुणों से रहित वृद्ध चाण्डाल को बड़ा और दूर देशवर्ती व्रतादि गुणो से सम्पन्न ब्राह्मण बालक को छोटा कहते हैं।

परिणाम, क्रिया, परत्वापरत्व, आवली, घड़ी, घण्टा, दिन आदि का कारण व्यवहार काल है। सूर्यादि की क्रिया से जो समय, आवली आदि का व्यवहार होता है, वह व्यवहार कालकृत है। एक पुद्गल परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने में जो काल लगता है, उसका नाम समय है और उस समय का कारण मुख्य काल है। व्यवहार में भूत, भविष्यत् आदि व्यवहार मुख्यतया होते है।

यद्यपि परिणाम आदि वर्तना के ही विशेष या भेद है, लेकिन काल द्रव्य के मुख्य और व्यवहार ये दो भद बतलाने के लिए सवका ग्रहण किया गया है। मुख्य काल वर्तना रूप है और व्यवहार काल परिणाम, क्रिया और परत्वापरत्व रूप है।

पुद्गल का स्वरूप—

स्पर्शरस गंध वर्णवन्तः पुद्गलाः ॥१२६०॥

पुद्गल मे स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये चार गुण पाये जाते है। कोमल, कठोर, हलका, भारी, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ये स्पर्श के आठ भेद है। खट्टा, मीठा, कड़ुवा, कषायला और चिरपरा ये रस के पांच भेद है, लवण रस का भी रसो म ही अन्तर्भाव है। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये गध दो भेद है। काला, नीला, पीला, लाल और सफेद ये वर्णों के पांच भेद है। इनके भी सख्यात, असख्यात और अनन्त उत्तर भेद होते हैं। जिन अग्नि आदि म रस आदि प्रकट नही है, वहाँ स्पर्श की सत्ता द्वारा शेष का अनुमान कर लेना चाहिए।

यद्यपि 'रूपिणः पुद्गलाः' इस पूर्वोक्त सूत्र से ही पुद्गल के रूप रसादि वाले स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, लेकिन वह सूत्र पुद्गल को रूप रहित होने की आशका के निवारण के लिए कहा गया था। 'नित्यावस्थितान्य रूपाणि' इस सूत्र से पुद्गल मे भी अरूपित्व की आशका थी। अत. यह सूत्र पुद्गल का पूर्ण स्वरूप बतलाने के लिये है, निरर्थक नही है।

पुद्गल की पर्यायें—

शब्द बन्ध सौक्ष्म्य स्थौल्य संस्थान भेद तमश्छाया तपोद्योत वन्तश्च ॥१२६१॥

पुद्गल द्रव्य मे शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, सस्थान, भेद, छाया, तम, आपत और उद्योत रूप से परिणमन होता रहता है अर्थात् ये पुद्गल की पर्यायें है। शब्द के दो

दो भेद है—भाषारूप और अभाषारूप। भाषारूप शव्द के भी दो भेद है—अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। अक्षरात्मक शव्द सस्कृत और असस्कृत के भेद से आर्य और म्लेच्छों के व्यवहार का हेतु होते है। दो इंद्रिय, तीन इद्रिय, चार इद्रिय और पांच इंद्रिय जीवों मे ज्ञानातिशय को प्रतिपादन करने वाला अनक्षरात्मक शव्द है। एकेंद्रियादि की अपेक्षा दो इन्द्रिय आदि मे ज्ञानातिशय है। एकेंद्रिय मे तो ज्ञानमात्र है। अतिशय ज्ञान वाले सर्वज्ञ के द्वारा एकेंद्रिय का स्वरूप बताया जाता है।

कई लोग सर्वज्ञ के शब्दो को अनक्षरात्मक कहते है, लेकिन उनका यह कहना ठीक नही है, क्योकि अनक्षरात्मक शब्द से अर्थ का ज्ञान नही हो सकता। सब भाषात्मक शब्द पुरुषकृत होने से प्रायोगिक होते हैं।

अभाषात्मक शव्द के दो भेद है—प्रायोगिक और वैस्रसिक। प्रायोगिक के चार भेद है—तत, वितत, घन और सुषिर।

तत—चमडे के तानने से पुष्कर, भेरी, दुन्दुभि आदि बाजो से उत्पन्न होने वाले शब्द को तत कहते है।

वितत—तन्त्री के कारण वीणा आदि से उत्पन्न होने वाला शव्द वितत है। किन्नरो के द्वारा कहा गया शव्द भी वितत है।

घन—घण्टा, ताल आदि से उत्पन्न होने वाला शव्द घन है।

सुषिर—बास, शख आदि से उत्पन्न होने वाला शव्द सुषिर है।

वैस्रसिक—मेघ, विद्युत् आदि से उत्पन्न होने वाला शव्द वैस्रसिक है।

बन्ध के दो भेद हैं—प्रायोगिक और वैस्रसिक। पुरुषकृत बन्ध को प्रायोगिक कहते है। इसके दो भेद है—अजीवविषयक और जीवाजीवविषयक। लाख और काष्ठ आदि का सम्बन्ध अजीव विषयक प्रायोगिक बन्ध है। जीव के साथ कर्म और नोकर्म का बन्ध जीवाजीवविषयक प्रायोगिक बन्ध है। पुरुष की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही होने वाले वन्ध को वैस्रसिक बन्ध कहते है। रुक्ष और स्निग्ध गुण के निमित्त से विद्युत, जलधारा, अग्नि, इन्द्रधनुष आदि का वन्ध वैस्रसिक है।

सौक्ष्म्य के दो भेद है—अन्त्य और आपेक्षित। परमाणुओ मे अन्त्य सौक्ष्म्य है। बेल, आंवला, बेर आदि मे आपेक्षिक सौक्ष्म्य है। बेल की अपेक्षा आंवला सूक्ष्म है और आंवले की अपेक्षा बेर सूक्ष्म है।

स्थौल्य के भी दो भेद हैं—अन्त्य और आपेक्षित। अन्त्य स्थौल्य ससार व्यापी महास्कन्ध मे है। बेर, आवला, बेल आदि में आपेक्षित स्थौल्य है। बेर की अपेक्षा आवला स्थूल है और आवले की अपेक्षा बेल स्थौल्य है।

संस्थान के दो भेद हैं—इत्थं लक्षण और अनित्थ लक्षण। जिस आकार का अमुक रूप मे निरुपण किया जा सके वह इत्थ लक्षण सस्थान है। जैसे गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि। जिस आकार के विषय मे कुछ कहा न जा सके वह अनित्थं लक्षण सस्थान है, जैसे मेघ, इन्द्रधनुष आदि का आकार अनेक प्रकार का होता है।

भेद छः प्रकार का है—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका और अणुचटन।

उत्कर—करोत, कुल्हाड़ी आदि से लकड़ी आदि का काटना को उत्कर है।

चूर्ण—जौ, गेहूँ आदि को पीसकर सत्तु आदि बनाना चूर्ण है।

खण्ड—घट का फूट जाना खण्ड है।

चूर्णिका—उडद, मूँग आदि को दलकर दाल बनाना चूर्णिका है।

प्रतर—मेघ पटलो का विघटन हो जाना प्रतर है।

अणुचटन—संतप्त लोहे के गोले को घन से कूटने पर जो आगे के कण निकलते है, वह अणुचटन है।

प्रकाश का विरोधी अन्धकार पुद्गल की पर्याय है।

प्रकाश और आवरण के निमित्त से छाया होती है। इसके दो भेद हैं—वर्णादिविकारात्मक और प्रतिबिम्बात्मक।

वर्णादिविकरात्मक छाया—गौरवर्ण को छोड़कर श्यामवर्ण रूप हो जाना वर्णादिविकरात्मक छाया है।

प्रतिबिम्बात्मक छाया—चन्द्र आदि का जल मे जो प्रतिबिम्ब होता है, वह प्रतिबिम्बात्मक छाया है।

आतप—सूर्य, वह्नि आदि मे रहने वाली उष्णता और प्रकाश का नाम आतप है।

उद्योत—चन्द्रमा, मणि, खद्योत (जुगनू) आदि से होने वाले प्रकाश को उद्योत कहते है।

उक्त शब्दादि दश पुद्गल द्रव्य के विकारी पर्यायें है। सूत्र मे 'च' शब्द से अभिघात, नोदन आदि अन्य भी पुद्गल द्रव्य के विकारो का ग्रहण करना चाहिये।

पुद्गल के भेद—

अणवः स्कन्धाश्च ॥१२६२॥

पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध। अणु का परिमाण आकाश के एक प्रदेश प्रमाण है। यद्यपि परमाणु प्रत्यक्ष नही है, लेकिन उसका स्कन्ध रूप कार्यो को देखकर अनुमान कर लिया जाता ह।

परमाणुओ मे दो अविरोधी स्पर्श, एक वर्ण, एक गन्ध और एक रस रहता है। ये स्वरूप की अपेक्षा से नित्य है, लेकिन स्पर्श आदि पर्यायो की अपेक्षा से अनित्य भी है। इनका परिमाण परिमण्डल (गोल) होता है। नियमानुसार परमाणु का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

"जिसका वही आदि, वही मध्य, वही अन्त हो, जो इन्द्रियो से नही जाना जा सके, ऐसे अविभागी द्रव्य को परमाणु कहते है।"

स्कन्ध—स्थूल होने के कारण जिसका ग्रहण, निक्षेपण आदि हो सके, ऐसे पुद्गल के परमाणुओं के समूह को स्कन्ध कहते है। ग्रहण आदि व्यापार की योग्यता न होने पर भी उपचार से द्वयणुक आदि को भी स्कन्ध कहते है।

यद्यपि पुद्गल के अनन्त भेद है, लेकिन अणुरूप जाति और स्कन्ध रूप जाति की अपेक्षा से दो भेद हो जाते है।

प्रश्न—जाति में एकवचन होता है, फिर सूत्र मे बहुवचन का प्रयोग क्यो किया ?

उत्तर—अणु और स्कन्ध के अनेक भेद बतलाने के लिये बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

यद्यपि 'अणु स्कन्धाश्च' इस प्रकार एकपद वाले सूत्र से ही काम चल जाता है। लेकिन पूर्व के दो सूत्रो में भेद बतलाने के लिए 'अणवः स्कन्धाश्च' इस प्रकार दो पद का सूत्र बनाना पड़ा। 'स्पर्श रस गन्ध वर्ण वन्त पुद्गलाः' इस सूत्र का सम्बन्ध केवल अणु से है अर्थात् परमाणुओ में स्पर्श, रस, गध, वर्ण पाये जाते है। लेकिन स्कन्ध का सम्बन्ध 'स्पर्श रस' इत्यादि और 'शब्द बन्ध' इत्यादि दोनो सूत्रो से है। स्कन्ध स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाले होते हैं तथा शब्द, बन्ध आदि पर्यायवाले भी होते है।

इस सूत्र में 'च' शब्द समुच्चयार्थक है अर्थात् अणु ही पुद्गल नही है

किन्तु स्कन्ध भी पुद्गल है। निश्चयनय से परमाणु ही पुद्गल है और व्यवहार नय से स्कन्ध भी पुद्गल है।

स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण—

भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥१२६३॥

स्कन्धो की उत्पत्ति भेद, संघात और दोनो से ही होती है। भेद अर्थात् विदारण जुदा होना, सघात अर्थात् मिलना इकट्ठा होना।

दो अणुओ के मिल जाने से दो प्रदेश वाला स्कन्ध बन जाता है। दो प्रदेश वाले स्कन्ध के साथ एक अणु के मिल जाने से तीन प्रदेश वाला स्कन्ध हो जाता है। इस प्रकार सघात से सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेश परिमाण स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। भेद से भी स्कन्धो की उत्पत्ति होती है। सख्यात और अनन्त प्रदेश वाले स्कन्धो के भेद (टुकड़े) करने से द्विप्रदेश पर्यन्त अनेक स्कन्ध बन जायेगे। इसी प्रकार भेद और सघात दोनो से भी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। कुछ परमाणुओ से भेद होने से, और कुछ परमाणुओ के साथ सघात होने से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है।

अणु की उत्पत्ति का कारण—

भेदादणुः ॥१२६४॥

परमाणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है—सघात और भेदसघात से अणु की उत्पत्ति नही होती है। किसी स्कन्ध के परमाणु पर्यन्त भेद करने से परमाणु की की उत्पत्ति होती है।

दृश्य स्कन्ध की उत्पत्ति का कारण--

भेद संघाताभ्यां चाक्षुषः ॥१२६५॥

चाक्षुष अर्थात् चक्षु इन्द्रिय से देखने योग्य स्कन्धों की उत्पत्ति भेद और सघात से होती है, केवल भेद से नही। अनंत अणुओं का संघात होने पर भी कुछ स्कध चाक्षुप होते है। और कुछ अचाक्षुप। जो अचाक्षुप स्कध है, उसका भेद हो जाने पर भी सूक्ष्म परिमाण बने रहने के कारण वह चाक्षुष नही हो सकता। लेकिन यदि उस सूक्ष्म स्कध का भेद होकर अर्थात् सूक्ष्मत्व का विनाश होकर अन्य किसी चाक्षुप स्कध के साथ सम्वध हो जाय तो वह चाक्षुप हो जायेगा। इस प्रकार चाक्षुष स्कध की उत्पत्ति भेद और सघात दोनो से होती है।

द्रव्य का लक्षण—

सद् द्रव्य लक्षणम् ॥१२६५॥

द्रव्य का लक्षण सत् है, अर्थात् जिसका अस्तित्व अथवा सत्ता हो, वह द्रव्य है।

सत् का स्वरूप—

उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत् ॥१२६६॥

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित हो, वह सत् है। अपने मूल स्वभाव को न छोड़कर नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते है। जैसे मिट्टी के पिण्ड से घट पर्याय का होना। पूर्व पर्याय का नाश हो जाना व्यय है। जैसे घट की उत्पत्ति होने पर मिट्टी के पिण्ड का विनाश व्यय है। ध्रौव्य, द्रव्य के उस स्वभाव का नाम है जो द्रव्य की सभी पर्यायो में रहता है और जिसका कभी विनाश नही होता। जैसे – मिट्टी। पर्यायो का उत्पाद-विनाश होने पर भी द्रव्य स्वभाव का अन्वय बना रहता है।

प्रश्न :—भेद होने पर युक्त शब्द का प्रयोग देखा जाता है। जैसे – देवदत्त दण्ड से युक्त है। इसी तरह यदि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य और द्रव्य में भेद है; तो दोनों का अभाव हो जायगा, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के बिना द्रव्य की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती और द्रव्य के अभाव में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी संभव नहीं है?

उत्तर :—उत्पाद आदि और द्रव्य मे अभेद होने पर भी कथञ्चिद् भेद नय की अपेक्षा से युक्त शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह खम्भा सार युक्त है, ऐसा व्यवहार अभेद में भी देखा जाता है। द्रव्य लक्ष्य है और उत्पाद आदि लक्षण है। अतः लक्ष्यलक्षण भाव को दृष्टि मे रखने पर पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से द्रव्य और उत्पाद आदि मे भेद है, लेकिन द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से उनमे अभेद है। अथवा यहां युक्त शब्द योगार्थक युज् धातु से नही बना है, किन्तु युक्त शब्द समाधि (एकता) वाचक है। अत जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक हो, उसका नाम द्रव्य है। तात्पर्य यह है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य एतत्त्रयात्मक ही द्रव्य है, दोनो का पृथक् अस्तित्व नही है। पर एक अश है और दूसरा अशी, एक पर्याएँ है तो दूसरा अन्वयी द्रव्य, एक लक्षण है, तो दूसरा लक्ष्य इत्यादि भेद दृष्टि उनमे भेद है।

नित्य का लक्षण—

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥१२६७॥

उस भाव या स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान का जो हेतु होता है, वह अनुस्यूत अंश नित्यत्व है। यह वही है, इस प्रकार के ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते है। यह ज्ञान बिना हेतु के नही हो सकता। अत तद्भाव प्रत्यभिज्ञान का हेतु है। किसी ने पहिले देवदत्त को बाल्यावस्था मे देखा था। जब वह उसे वृद्धावस्था मे देखता है और पूर्व का स्मरण कर सोचता है कि – यह तो वही देवदत्त है। इससे ज्ञात होता है कि देवदत्त में एक ऐसा तद्भाव(स्वभाव विशेष)है जो बाल्य और वृद्ध दोनों अवस्थाओ मे अन्वित रहता है। यदि द्रव्य का अत्यन्त विनाश हो जाय और सर्वथा नूतन पर्याय की उत्पत्ति हो तो स्मरण का अभाव हो जायगा और स्मरणाभाव होने से लोक व्यवहार की भी निवृत्ति हो जायगी। द्रव्य मे नित्यत्व द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से ही है, सर्वथा नही। यदि द्रव्य सर्वथा नित्य हो तो आत्मा मे ससार की निवृत्ति के लिए की जाने वाली दीक्षा आदि क्रियाएँ निरर्थक हो जायेगी। और आत्मा की मुक्ति भी नही हो सकेगी।

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥१२६८॥

मुख्य या प्रधान और गौण या अप्रधान के विवक्षा भेद से एक ही द्रव्य मे नित्यत्व अनित्यत्व आदि अनेक धर्म रहते है। वस्तु अनेक धर्मात्मक है। जिस समय जिस धर्म की विवक्षा होती है, उस समय वह धर्म प्रधान हो जाता है और अन्य धर्म गौण हो जाते हैं। एक ही मनुष्य पिता, पुत्र, भ्राता, चाचा आदि अनेक धर्मो को धारण करता है। वह अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है, पिता की अपेक्षा पुत्र है, भाई की अपेक्षा भ्राता है। अतः अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु मे अनेक धर्म रहने मे कोई विरोध नही है। द्रव्य सामान्य अन्वयी अश से नित्य है तथा विशेष पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। इसी तरह भेद-अभेद, अपेक्षित्व-अनपेक्षित्व, देव-पुरुपार्थ, पुण्य-पाप आदि अनेको विरोधी-युगल वस्तु मे स्थित है। वस्तुत. इन सभी धर्मो का अविरोधी आधार है।

परमाणुओं के बन्ध का कारण—

स्निग्ध रुक्षत्वाद् बन्धः ॥१२६९॥

स्निग्ध और रुक्ष गुण के कारण परमाणुओं का परस्पर मे बन्ध होता है।

स्निग्ध और रुक्ष वाले दो परमाणुओं के मिलने से द्वचणुक और तीन परमाणुओ के मिलने से त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार सख्यात, असख्यात और अनन्त परमाणु वाले स्कन्धो की भी उत्पत्ति होती है। स्निग्ध और रुक्ष गुरण के एक से लेकर अनन्त तक भेद होते हैं। जैसे जल, बकरी का दूध और घृत, गाय का दूध और घृत और ऊंटनी का दूध और घृत इनमें स्निग्ध गुरण की उत्तरोत्तर अधिकता है। धूलि, रेत, पत्थर, वज्र आदि मे रुक्ष गुरण की उत्तरोत्तर अधिकता है। इसी प्रकार पुद्गल परमाणुओ में स्निग्ध और रुक्ष गुरण का प्रकर्ष और अपकर्ष पाया जाता है।

न जघन्य गुरणानाम् ॥१२७०॥

जघन्य गुरण वाले परमाणुओं का बन्ध नही होता है। प्रत्येक परमाणुओ में स्निग्ध आदि के एक से लेकर अनन्त तक गुरण रहते है। गुरण उस अविभागी प्रतिच्छेद (शक्ति का अश) का नाम है, जिसका दूसरा विभाग या विवेचन न किया जा सके। जिन परमाणुओं में स्निग्धता और रुक्षता का एक ही गुरण या अश रहता है, उनका परस्पर बन्ध नहीं हो सकता। गुरण शब्द का प्रयोग गौरण, अवयव, द्रव्य, उपकार, रूपादि, ज्ञानादि, विशेषरण, भाग आदि अनेक अर्थो मे होता है। यहाँ गुरण शब्द भाग (अविभागी अंश) अर्थ में लिया गया है।

एक गुरण वाले स्निग्ध परमाणु का एक, दो, तीन आदि अनन्त गुरणवाले स्निग्ध या रुक्ष परमाणु के साथ बन्ध नही होगा। इसी प्रकार एक गुरण वाले रुक्ष परमाणु का एक, दो तीन आदि अनन्त गुरण वाले रुक्ष या स्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध नहीं होगा। जघन्य गुरण वाले स्निग्ध और रुक्ष परमाणुओ को छोड़कर अन्य स्निग्ध और रुक्ष परमाणुओ का परस्पर में बन्ध होता है।

गुरणसाम्ये सदृशानाम् ॥१२७१॥

गुरणों की समानता होने पर एक जाति वाले परमाणुओ का भी बन्ध नहीं होता है। अर्थात् दो गुरण वाले स्निग्ध परमाणु का दो गुरण वाले स्निग्ध या रुक्ष परमाणु के साथ बन्ध नही होता है। और दो गुरण वाले रुक्ष परमाणु का दो गुरण वाले रुक्ष या स्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध नही होता है।

यद्यपि गुरण की समानता होने पर सजातीय या विजातीय किसी प्रकार के परमाणुओं का बन्ध नही होता है और इस प्रकार सूत्र में सदृश शब्द निरर्थक हो जाता है, लेकिन सदृश-शब्द इस बात को सूचित करता है कि गुरणो की विषमता होने

पर समान जाति वाले परमाणुओं का भी बन्ध होता है, केवल विसदृश जाति वाले परमाणुओं का ही नही ।

बन्ध होने का अन्तिम निर्णय—

द्वयधिकादिगुणानान्तु ।।१२७२।।

दो से अधिक गुण वाले परमाणुओ का बन्ध होता है । तु शब्द का प्रयोग पाद पूरण अवधारण, विशेषण और समुच्चय इन चार अर्थों में होता है, उनमें से यहाँ तु शब्द विशेषणार्थक है । पूर्व में जो बन्ध का निषेध किया गया है, उसका प्रतिषेध करके इस सूत्र में बन्ध का विधान किया गया है । दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु का एक, दो और तीन गुण वाले स्निग्ध या रुक्ष परमाणु के साथ बन्ध नही होगा, किन्तु चार गुण वाले स्निग्ध या रुक्ष परमाणु के साथ बन्ध होगा । दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु का पाच, छह आदि अनन्त गुण वाले स्निग्ध या रुक्ष परमाणु के साथ भी बन्ध नहीं होगा । तीन गुण वाले स्निग्ध परमाणु का पाँच गुण वाले स्निग्ध या रुक्ष परमाणु के साथ ही बन्ध होगा अन्य गुण वाले परमाणु के साथ नही । इसी प्रकार दो गुण वाले रुक्ष परमाणु का चार गुण वाले रुक्ष या स्निग्ध परमाणु के साथ ही बन्ध होगा और तीन गुण वाले रुक्ष परमाणु का पाच गुण वाले रुक्ष या स्निग्ध परमाणु के साथ ही बन्ध होगा, अन्य गुण वाले परमाणु के साथ नही । अतः दो गुण अधिक होने पर समान और असमान जाति वाले परमाणुओ का परस्पर मे बन्ध होता है ।

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ।।१२७३।।

बन्ध मे अधिक गुण वाले परमाणु कम गुण वाले परमाणुओं को अपने में परिणत कर लेते है । नूतन अवस्था को उत्पन्न कर देना पारिणामिकत्व है । जैसे गीला गुड अपने ऊपर गिरी हुई धूलि को गुडरूप परिणत कर लेता है, उसी प्रकार चार गुण वाला परमाणु दो गुण वाले परमाणु को अपने रूप मे परिणत कर लेता है, अर्थात् उन दोनो की पूर्व अवस्थाएँ नष्ट हो जाती है । एक तीसरी ही अवस्था उत्पन्न होती है । उनमे एकता हो जाती है । यही कारण है कि अधिक गुण वाले परमाणुओं का ही बन्ध होता है । समगुण वाले परमाणुओ का नही । यदि अधिक गुण परमाणुओं को पारिणामक न माना जाय तो बन्ध अवस्था मे भी परमाणु सफेद और काले तन्तुओ से बने हुए कपड़े मे तन्तुओ के समान पृथक् पृथक् ही रहेगे, उनमे एकत्व

परिणमन न हो सकेगा। इसी प्रकार जल और सत्तू मे परस्पर सम्बन्ध होने पर जल पारिणामक होता है।

इस प्रकार बन्ध होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मो की तीस कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति भी बन जाती है, क्योकि जीव के साथ पूर्व सम्बद्ध कार्मण द्रव्य स्निग्ध आदि गुणो से अधिक है।

द्रव्य का लक्षण—

गुण पर्ययवद् द्रव्यम् ॥१२७४॥

जो गुण और पर्याय वाला हो, वह द्रव्य है। गुण अन्वयी (नित्य) होते है। अर्थात् द्रव्य के साथ सदा रहते है, द्रव्य को कभी नही छोड़ते। गूणो के द्वारा ही एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से भेद किया जाता है। यदि गुण न हों तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य-रूप भी हो जायेगा। जीव का ज्ञान गुण जीव को अन्य द्रव्यो से पृथक् करता है। इसी प्रकार पुद्‌गलादि द्रव्यो के रूपादि गुण भी उन द्रव्यों को अन्य द्रव्यो से पृथक् करते है।

पर्यायें व्यतिरेकी (अनित्य) होती हैं, अर्थात् द्रव्य के साथ सदा नही रहती बदलती रहती है। गुणो के विकार को ही पर्याय कहते है, जैसे – जीव के ज्ञान गुण की घट ज्ञान, पट ज्ञान आदि पर्यायें। व्यवहार नय की अपेक्षा से पर्यायें द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न है। यदि पर्यायें द्रव्य से सर्वथा अभिन्न हो, तो पर्यायों के नाश होने पर द्रव्य का भी नाश हो जायगा।

कहा है कि द्रव्य के विधान करने वाले को गुण कहते है। और द्रव्य के विकार को पर्याय कहते है। अनादि निधन द्रव्य मे जल मे तरगो के समान प्रतिक्षण पर्यायें उत्पन्न और विनष्ट होती रहती है। द्रव्य मे गुण और पर्यायें में सदा रहती हैं। गुण और पर्यायो के समूह का नाम ही द्रव्य है। गुण और पर्याय को छोडकर द्रव्य कोई पृथक् वस्तु नही है।

काल द्रव्य का वर्णन—

कालश्च ॥१२७५॥

काल भी द्रव्य है, क्योकि उसमें द्रव्य का लक्षण पाया जाता है। द्रव्य का लक्षण 'उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त' और गुण पर्ययवद् द्रव्यम्' बतलाया है। काल मे दोनो प्रकार का लक्षण पाया जाता है। स्वरूप की अपेक्षा नित्य रहने के कारण काल में

में स्वप्रत्यय ध्रौव्य है। उत्पाद और व्यय स्वप्रत्यय और पर प्रत्यय दोनो प्रकार से होते है। अगुरुलघु गुणो की हानि और वृद्धि की अपेक्षा काल में स्वप्रत्यय उत्पाद और व्यय होता रहता है। काल द्रव्यो के परिवर्तन मे कारण होता है। अतः पर-प्रत्यय उत्पाद और व्यय भी काल मे होते है।

काल मे साधारण दोनो प्रकार के गुण रहते हैं। अचेतनत्व, अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व आदि काल के साधारण गुण है। द्रव्यों के परिवर्तन मे हेतु होना काल का असाधारण गुण है। इसी प्रकार काल में पर्याये भी उत्पन्न और विनष्ट होती रहती है। अत. जीवादि की तरह काल भी द्रव्य है।

प्रश्न :—काल द्रव्य को पृथक् क्यों कहा ? पहले "अजीवकाया धर्मा धर्मा-काश काल पुद्गलाः" ऐसा सूत्र बनाना चाहिये था। ऐसा करने से काल द्रव्य का पृथक् वर्णन न करना पड़ता ?

उत्तर :—यदि "अजीवकाया" इत्यादि सूत्र में काल द्रव्य को भी सम्मिलित कर देते तो धर्म आदि द्रव्यों की तरह काल भी काय हो जाता, लेकिन काल द्रव्य मुख्य और उपचार दोनो रूप से काय नही है।

पहिले "निष्क्रियाणि च" इस सूत्र मे धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य को निष्क्रिय बतलाया है। इनके अतिरिक्त द्रव्य सक्रिय है। अत पूर्व सूत्र में काल का वर्णन होने से काल भी सक्रिय द्रव्य हो जाता है और "आ आकाशदेकद्रव्यम्" इसके अनुसार काल भी एक द्रव्य हो जाये। लेकिन काल न तो सक्रिय है और न एक द्रव्य है। इन कारणो से काल द्रव्य का वर्णन पृथक् किया गया है।

काल द्रव्य अनेक है, इसका तात्पर्य यह है कि लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश-प्रदेश पर एक-एक कालाणु रत्नराशि के समान पृथक्-पृथक् स्थित है। लोकाकाश के प्रदेश असख्यात होने से काल द्रव्य भी असख्यात है। कालाणु अमूर्त और निष्क्रिय है, तथा सम्पूर्ण लोकाकाश मे व्याप्त है।

व्यवहार काल का प्रमाण—

सोऽनन्तसमयः ॥१२७६॥

व्यवहार काल का प्रमाण अनन्त समय है। यद्यपि वर्तमान काल का प्रमाण एक समय ही है, किन्तु भूत और भविष्यत् काल की अपेक्षा से काल को अनन्त समय वाला कहा गया है।

अथवा यह सूत्र व्यवहार काल के प्रमाण को न बतलाकर मुख्यकाल के प्रमाण को ही बतलाता है। एक ही कालाणु अनन्त पर्यायो की वर्तना में हेतु होने के कारण उपचार से अनन्त समय वाला कहा जाता है। समय काल के उस छोटे से छोटे अंश को कहते है, जिसका बुद्धि के द्वारा विभाग न हो सके। मन्दगति से चलने वाले पुद्गल परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक चलने मे जितना काल लगे, उतने काल को समय कहते है।

यहां समय शब्द से आवली, उच्छ्वास आदि का भी ग्रहण करना चाहिये। असख्यात समयो की एक आवली होती है। सख्यात् आवलियो का एक उच्छ्वास होता है। सात उच्छ्वासो का एक थोव होता है और सात थोवो का एक लव होता है। साढे अड़तीस लवो की एक नाली होती है। दो नालियो का एक मुहूर्त होता है, और आवली से एक समय अधिक तथा मुहूर्त से एक समय कम अन्तर्मुहूर्त का काल है। इसी तरह माह, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, पल्योपम आदि की गणना होती है।

द्रव्य का लक्षण —

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥१२७७॥

जो द्रव्य के आश्रित हो और स्वय निर्गुण हों, उनको गुण कहते है।

निर्गुण विशेषण से द्वयणुक, त्र्यणुक आदि स्कन्धो की निवृत्ति हो जाती है। यदि 'द्रव्याश्रयागुणाः' ऐसा भी लक्षण कहते तो द्वयणुक आदि भी गुण हो जाते, क्योंकि ये अपने कारणभूत परमाणु द्रव्य के आश्रित है। लेकिन जब यह कह दिया गया कि जो गुण को निर्गुण भी होना चाहिये तो द्वयणुक आदि गुण नही हो सकते, क्योंकि निर्गुण नही है, किन्तु गुण सहित है।

यद्यपि घट सस्थान आदि पर्यायें भी द्रव्याश्रित और निर्गुण है, लेकिन वे गुण नही हो सकती, क्योकि 'द्रव्याश्रया' का तात्पर्य यह है कि गुण को सदा द्रव्य के आश्रित रहना चाहिये। और पर्यायें कभी-कभी साथ रहती है, वे नष्ट और उत्पन्न होती रहती है, अत. पर्यायो को गुण नही कह सकते। नैयायिक गुणो को द्रव्य से पृथक् मानते है, लेकिन उनका ऐसा मानना ठीक नही है। यद्यपि सज्ञा, लक्षण आदि के भेद से द्रव्य और गुण में कथञ्चित भेद है, लेकिन द्रव्यात्मक और द्रव्य के परिणाम या पर्याय होने के कारण गुण द्रव्य से अभिन्न है।

पर्याय का वर्णन—

तद्भावः परिणामः ॥१२७८॥

धर्मादि द्रव्यो के अपने-अपने स्वरूप से परिणमन करने को पर्याय कहते है। धर्मादि द्रव्यो के स्वरूप को ही परिणाम कहते है। परिणाम के दो भेद है—सादि और अनादि। सामान्य से धर्मादि द्रव्यो का गत्युपग्रह आदि अनादि परिणाम है और वही परिणाम विशेष की अपेक्षा सादि है। तात्पर्य यह कि गुण और पर्याय दोनो ही द्रव्यो के परिणाम है।

❋ जीव-वर्णन ❋

श्रीमतस्त्रिजगन्नाथान् स्वर्मुक्ति श्री करान् सताम्।
वन्दे धर्माधिपान् पञ्च परमेष्ठिन उत्तमान् ॥१२७९॥

जो तीन जगत के नाथ है, सज्जन पुरुषो को स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करने वाले है, तथा धर्म के अधिनायक है, ऐसे परमोत्कृष्ट पचपरमेष्ठियो को मैं नमस्कार करता हूँ।

अब वक्ष्यमाण विषय की प्रतिज्ञा करते है :—

अथ यैः पूरितो लोकः क्वचित्क्वचित्त्रसाङ्गिभिः।
सर्वत्र स्थावरैं र्जीवैर्नानाभेदैश्च सूरिभिः ॥१२८०॥
आयुः कायाक्षसंस्थान जाति वेद कुलादिभिः।
तांस्त्रसान् स्थावरान् सर्वान् वक्ष्ये सतां दयाप्तत्तये ॥१२८१॥

यह लोक कही-कही त्रस जीवो से भरा हुआ है, किन्तु स्थावर जीवो से तो सर्वत्र भरा हुआ है, अतः सज्जन पुरुष दया पालन कर सके, इसलिए मै सर्व त्रस और स्थावर जीवो के नाना प्रकार के भेद-प्रभेद, आयु, काय, इन्द्रिया, संस्थान, जाति, वेद और कुल आदि का विवेचन करूँगा।

जीव के भेद और सिद्ध जीव का स्वरूप—

सिद्ध संसारि भेदाभ्यां स्युर्द्विधा जीवराशयः।
सिद्धा भेदादि निष्क्रान्ता अनन्ता ज्ञान मूर्तयः ॥१२८२॥

सम्पूर्ण जीव राशि सिद्ध और ससारी के भेद से दो प्रकार की है, जिसमें सिद्ध जीव भेद-प्रभेदो से रहित और अनन्त ज्ञान मूर्ति स्वरूप है।

संसारी जीव के भेद और स्थावर जीवों के प्रकार—

त्रस स्थावर भेदाभ्यां द्विधा संसारिणोऽङ्गिनः ।
पृथिव्यादि प्रकारैश्च पञ्चधा स्थावरा मताः ॥१२८३॥

त्रस और स्थावर के भेद से ससारी जीव दो प्रकार के है। उनमे स्थावर जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक के भेद ते पाँच प्रकार के है।

त्रस और स्थावर जीवों की पृथक्-पृथक् संख्या—

पृथ्व्यप्तेजोऽग्नि मरुन्नित्येतर काय मयात्मनाम् ।
सप्त सप्तैव लक्षाणि प्रत्येकं सन्ति जातयः ॥१२८४॥
जातयो दश लक्षाणि वनस्पति शरीरिणाम् ।
प्रत्येकं द्विद्विलक्षाणि द्वित्रितुर्येन्द्रियात्मनाम् ॥१२८५॥
तिर्यग्नारकदेवानां प्रत्येकं स्युश्च जातयः ।
चतुर्लक्षाणि लक्षाणि चतुर्दशनृजातयः ॥१२८६॥
इत्थ चतुरशीतिश्च लक्षाणि जीवजातयः ।
अधुना विस्तरेणैषां काञ्चिज्जातिं ब्रुवे पृथक् ॥१२८७॥

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, नित्य निगोद और इतर निगोद, इन छह प्रकार के जीवों मे से प्रत्येक की सात-सात लाख जातियाँ होती है। वनस्पति कायिक जीवो की दश लाख, द्वीन्द्रिय जीवो की दो लाख, त्रेन्द्रिय की दो लाख, चतुरिन्द्रिय की दो लाख, पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो की चार लाख, नारकियो की चार लाख, देवो की चार लाख, मनुष्यो की चौदह लाख जातिया होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण ससारी जीवो की कुल जातियां (७ ला.+७ ला.+७ ला +७ ला. +७ ला. + ७ ला. + १० ला. + ६ ला. + ४ ला.+४ ला.+४ ला +१४ ला) =८४००००० अर्थात् चौरासी लाख जातियां (योनियाँ) होती है। अब इन जातियो मे से कुछ जातियों का पृथक् पृथक् विस्तार पूर्वक कथन करते है।

पृथ्वी के चार भेद और उनके लक्षण—

पृथिवी पृथिवीकायः पृथिकायिकस्तथा ।
पृथिवीजीव इति ख्याता पृथ्वीभेदाश्चतुर्विधाः ॥१२८८॥
मार्गोपमार्दिता धूलिः पृथिवी प्रोच्यते बुधैः ।
निर्जीव इष्टिकादिश्च पृथिवी कायो मतः श्रुते ॥१२८९॥

सजीवा पृथिवी सर्वा पृथिवीकायिको भवेत् ।
विग्रहाऽवान मापन्नोऽङ्गी पृथ्वि्री जीव उच्यते ।।१२६०।।

पृथ्वी के चार भेद कहे गये है, पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक और पृथ्वी-जीव । विद्वानो के द्वारा मार्ग की उपमर्दित धूल को पृथ्वी कहते है । तथा आगम मे निर्जीव ईंट आदि को पृथ्वीकाय, सम्पूर्ण सजीव पृथ्वी को पृथिवीकायिक, और पृथिवीकायिको मे जाते हुए, पृथ्वीकायिक नाम कर्म के उदय से युक्त विग्रहगति में स्थित जीव पृथिवी जीव कहा है ।

नोट—पृथ्वी और पृथ्वीकाय यद्यपि दोनो अचित्त हैं, तथापि पृथ्वी मे पुनः जीव उत्पन्न हो सकता है, किन्तु पृथ्वीकाय मे पुनः पृथ्वीजीव उत्पन्न नही हो सकता ।

जल, अग्नि और वायु के चार-चार भेद और लक्षण—

अप् तथैवाप् शरीरं चाऽप्कायिकोऽप्जीव इत्यपि ।
भेदाश्चत्वार आम्नाता जिनैरप्कायकात्मनाम् ।।१२६१।।
जल मान्दोलितं लोकैः सकर्दमं तथाप् भवेत् ।
उष्णोदकं च निर्जीव मन्यद्वापकाय उच्यते ।।१२६२।।
जल काय युतः प्राणी चाप् कायिको निगद्यते ।
अप्कायं नेतु मागच्छन् जीवोऽप्जीवो गतौ भवेत् ।।१२६३।।
पूर्वं तेज. कायस्तेजः कायिकस्तथा ।
तेजो जीव इमे भेदाश्चत्वारस्तेजसां मताः १२६४।।
भस्मनाच्छादितं तेजो मात्रं तेज. प्ररूप्यते ।
जीवोज्झितं च भस्मादि तेजः काय इहोच्यते ।।१२६५।।
तेजः कायमयो देही तेजः कायिक इष्यते ।
तेजोऽङ्गार्थं व्रजन्मार्गे तेजोजीव मतो बुधैः ।।१२६६।।
वायुश्च वायुकायोऽथ तृतीयो वायुकायिकः ।
वायुजीव इमे भेदाश्चत्वारो वायुदेहिनाम् ।।१२६७।।
रजः पुञ्जमयो वायुर्भ्रमान् वायुर्जिनैः स्मृतः ।
जीवातीतो मरुत्पुद्गलो वायुकाय ईरितः ।।१२६८।।
वायु प्राणमयः प्राणी प्रोदितो वायुकायिकः ।
वाताङ्गार्थं व्रजन्मार्गेऽङ्गी वायुजीव उच्यते ।।१२६९।।

जिनेन्द्र भगवान ने जलकाय जीवो के जल, जलकाय, जलकायिक और जल जीव इस प्रकार चार भेद कहे है। लोगो के द्वारा आडोलित एवं कीचड सहित जलको जल कहते है । उष्ण निर्जीव जल को जलकाय, जलकाय युक्त जीव को जलकायिक तथा जलकाय में जन्म लेने के लिये जाते हुए विग्रहगति मे स्थित जीव को जलजीव कहते है। पूर्ववत् तेजकाय जीवो के तेज, तेजकाय, तेजकायिक और तेज जीव इस प्रकार चार भेद कहे है । भस्म से आच्छादित अग्नि को अर्थात् किञ्चित उष्ण भस्म को तेज कहते है । जिसमे से जीव निकलकर चला गया है, उस भस्मादि को तेज काय कहते है । तेजकाय सहित जीव को तेजकायिक और तेजनाम कर्म से युक्त जो जीव विग्रहगति मे स्थित है, उन्हे विद्वानों मे तेज जीव कहा है। वायु जीवो के वायु, वायुकाय, वायुकायिक और वायु जीव इस प्रकार चार भेद होते है । धूल पुञ्ज से युक्त भ्रमण करती हुई वायु (आंधियों) को जिनेन्द्र देव ने वायु कहा है । जीव से रहित पखे आदि की पौद्गलिक वायु देह को वायुकाय कहते है । प्राण युक्त वायु को वायुकायिक और वायुगति में आने वाले विग्रह गति मे स्थित जीव को वायु जीव कहते है ।

वनस्पति के चार भेद और उनके भिन्न-भिन्न लक्षण—

आदौ वनस्पतिश्चाथ वनस्पति वपुस्ततः ।
वनस्पत्यादिकः कायिको वनस्पतिजीववाक् ॥१३००॥

वनस्पत्या अमी भेदाश्चत्वारः कीर्तिता जिनैः ।
अन्तर्जीवयुतो बाह्यत्यक्त जीवो वनस्पतिः ॥१३०१॥

वनस्पतिवपु स्मृतः छिन्नभिन्नं तृणादिकम् ।
वनस्पस्पत्यङ्ग युक्तोऽङ्गीस्याद्वनस्पतिकायिकः ॥१३०२॥

प्राक्शरीर परित्यागे वनस्पत्यङ्गसिद्धये ।
प्राणान्तेऽङ्गी गति गच्छन् स्याद्वन् स्याद्वनस्पति जीववाक् ॥१३०३॥

वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक और वनस्पति जीव ऐसे वनस्पति के चार भेद जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे गये है । अभ्यन्तर भाग जीव युक्त है और बाह्य भाग जीव रहित है, ऐसे वृक्ष आदि (कटे हुए हरे वृक्ष) को वनस्पति कहते है । छिन्न भिन्न किये हुए तृणादिक को वनस्पति काय माना गया है, जीव सहित वनस्पति काय को वनस्पतिकायक कहते हैं, और आयु के अन्त मे पूर्व शरीर को त्याग कर जो जीव

वनस्पतिकायिको मे उत्पन्न होने के लिये विग्रहगति मे जा रहा है, उसे वनस्पति जीव कहते है।

पंच स्थावरों के चार-चार भेद—

एतेषां प्राक्तनो भेदः किञ्चित्प्राणाश्रितो मतः।
पृथ्व्यादीनां द्वितीयस्य केवल जीवदूरगः ॥१३०४॥
जीवयुक्तस्तृतीयश्च चतुर्थो भेद ईरितः।
त्यक्त प्राग्वपुषां भाविपृथ्व्याद्यङ्गाय गच्छताम् ॥१३०५॥
एतान् भेदान् बुधैर्ज्ञात्वा सचेतनानचेतनान्।
पृथ्व्यादीनां सुरक्षायै कर्तव्यं यत्नमञ्जसा ॥१३०६॥

इन पच स्थावरो के चार-चार भेदो मे से प्रथम भेद किचित् जीव युक्त होता है। द्वितीय भेद मात्र अजीव होता है, तृतीय भेद जीव सहित होता है, और चतुर्थ भेद मे जीव पूर्व शरीर को छोड कर पृथ्वी आदि शरीर को धारण करने के लिये जाता है, अत यह चेतन ही है। इस प्रकार विद्वानो के द्वारा कहे हुये भेदो मे चेतन अचेतन भेदो को जानकर पृथ्वी आदि पच स्थावरो की रक्षा के लिए यत्न करना चाहिए।

अब पृथ्वीकाकिय जीवों में से मृदु पृथ्वीकायिक जीवों के भेदों का निरूपण—

मृत्तिका वालुका लोहं लवणं सागरादिजम्।
ताम्रं रूप्यं स्वर्णं च त्रिपुषः सीसकं तथा ॥१३०७॥
हिङ्गुलं हरितालं च मनः शिलाथ सस्यकम्।
अञ्जनं ह्यभ्रकं चाभ्र वालुकाभी हि षोडश ॥१३०८॥
भेदा मृदुपृथ्वी कायात्मनां प्रोक्ता जिनागमे।
इदानीं खर पृथ्वीनां भेदान् मण्यादिकान् ब्रुवे ॥१३०९॥

मिट्टी, बालुका, लोहा, समुद्र आदि मे उत्पन्न होने वाला नमक, ताम्र, चादी, स्वर्ण, त्रिपुष (कथीर या रागा) सीसा, हिंगुल, हरताल, मनः शिला, जस्ता, अञ्जन (नीला थूथा या सुरमा), अभ्रक और भोडल ये सोलह भेद जिनागम मे कोमल पृथ्वीकायिक जीवो के कहे गये है, अब खर पृथ्वी के मणि आदि भेदो को कहते है।

अब खर पृथ्वी के भेदों का निरूपण—

प्रवालं शर्करा वज्रं शिलोपलं ततः परम्।
कर्केतन मणिर्नाम्ना रजकाख्यो मणिस्ततः ॥१३१०॥

चन्द्र प्रभोऽथ वैडूर्यं कोमणिः स्फटिको मणिः ।
जलकान्तो मणिः सूर्यकान्तश्च गैरिको मणिः ॥१३११॥
चन्दनः पद्मरागाख्यो मणिर्मरकताह्वयः ।
वको मोचो मणिर्वैमसृण पाषाणसंज्ञकः ॥१३१२॥
एते विंशतिसद्भेदाः पृथ्वीकायमयात्मनाम् ।
खराख्याणां सुभव्यानां दयायैर्गणिभिर्गताः ॥१३१३॥

प्रवाल, शर्करा, हीरा, शिला, उपल (पत्थर), कर्केतनमणि, रजकमणि, चन्द्रप्रभमणि, वैडूर्य मणि, स्फटिक मणि, जलकान्त मणि, सूर्यकान्त मणि, गैरिक मणि, चन्दनमणि, पद्मराग, मरकतमणि, वकमणि, मोचमणि, वैमसृण और पाषण खर पृथ्वी स्वरूप पृथ्वीकायिक जीवो के ये बीस भेद भव्य जीवो के दया पालनार्थ गणधर देवो के द्वारा कहे गये है ।

पृथ्वीकायिक पृथ्वी से बने हुए पर्वत एवं प्रासादों आदि का वर्णन —

रत्नप्रभादयः सप्त पृथ्व्यश्चैत्यद्रुमाखिलाः ।
मेर्वाद्याः पर्वताः सर्वे वेदिकातोरणादयः ॥१३१४॥
त्रिलोकस्थ विमानानि जम्बाद्याः सकालाद्रुमाः ।
नृविद्येशसुराणां च प्रासादाः कमलानि च ॥१३१५॥
स्तूपरत्नाकराद्याये पृथ्वीकायमयाश्च ते ।
सर्वे ह्यन्तर्भवन्त्येषु पृथ्वीभेदेषु नान्यथा ॥१३१६॥
एतान्पृथ्वीमयान्जीवान् पृथ्वीकायाश्रितान् बहून्।
सम्यग्ज्ञात्वा प्रयत्नेन रक्षन्तु साधवोऽनिशम् ॥१३१७॥

रत्नप्रभा आदि सातो पृथ्वीयां, सम्पूर्ण चैत्यवृक्ष, मेरु आदि सर्व पर्वत, वेदिकाएँ एव तोरण आदि, त्रैलोक्य स्थित विमान, जम्बू आदि समस्त वृक्ष, मनुष्यों, विद्याधरों और देवो के प्रासाद, पद्म आदि सरोवरो मे स्थित कमल, स्तूप और रत्नाकर आदि ये सब पृथ्वीकायमय है, और इन सबका अन्तर्भाव पृथ्वीकाय के भेदो मे ही होता है, अन्य मे नही । पृथ्वीकाय के आश्रित रहने वाले इन सब पृथ्वीमय जीवो को भली प्रकार जान कर सज्जन पुरुषों को अहर्निश इनकी रक्षा प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये ।

अब जलकायिक जीवों के भेदों का प्रतिपादन—

अवश्यायजलं रात्रि पश्चिम प्रहरोद्भवम् ।
हिमाख्यं जलकायं च जलबन्धन सम्भवम् ।।१३१८।।
महिकाख्यं जलं धूमाकाराम्बु च हरज्जलम् ।
स्थूल विन्दू जलं चाणुः सूक्ष्म बिन्दु जलं तथा ।।१३१९।।
शुद्धाम्बु चन्दु कान्तोत्थमुदक निर्झरादिजम् ।
सामान्यम्बुघनाख्याम्भोऽब्धि द्रहमेघ वातजम् ।।१३२०।।
सरित्कूपसरः कुण्ड निर्झराब्धि ह्रदादयः ।
एष्वप्कायेषु सर्वेऽन्येऽतर्भवन्त्यम्बुकायिकाः ।।१३२१।।
एतानप्काय सद्भेदान प्कायाश्रितान् बहून् ।
जीवान् विज्ञाय यत्नेन पालयन्त्वात्मवत्सदा ।।१३२२।।

रात्रि के पिछले पहर मे उत्पन्न होने वाला ओस जल, हिम नाम का जलकाय, मेघ जलकाय, कोहरे का जल, धूम आकार (धुन्ध) जल, दाभ की अणी पर स्थित जल, स्थूल बिन्दु जल, जलकण, सूक्ष्म बिन्दु जल, शुद्ध जल, चन्द्रकान्त मणि से उत्पन्न जल, सामान्य जल, घन जल (घनोदधि), द्रह जल, मेघ से उत्पन्न जल, घनवातज जल, नदी, कूप, तालाब, कुण्ड, झरना, समुद्र एव सरोवर आदि सर्व जल का जलकाय मे अन्तर्भाव होने से ये सब जलकायिक ही है । इन सब जलकाय के भेदो को तथा जल काय के आश्रित रहने वाले असख्यात जीवो को अपनी आत्मा के सदृश जानकर प्रयत्न पूर्वक निरन्तर उनकी रक्षा करनी चाहिए ।

अग्निकायिक जीवो का वर्णन—

अङ्गाराणि ज्वलज्ज्वालाह्यर्चिर्दीप शिखादिका ।
मुर्मराख्योहिकार्षाग्नि.मुद्धाग्निःशुद्धाग्निर्बहुभेद भाक्।।१३२३।।
विद्युत्पाताग्नि वज्राग्नि सूर्यकान्तादि गोचरः ।
अग्नि सामान्य रूपाग्नि निर्धूमो वाडवादिजः ।।१३२४।।
नन्दीश्वर महाधूम कुण्डिका मुकुटादिजाः ।
अग्निकाया अमीष्वन्त र्भवन्त्य नलयोनिषु ।।१३२५।।
इमांस्तेजो मायन् जीवांस्तेज कायान्श्रितान्परान्।
विदित्वा सर्वयत्नेन रक्षन्तु मुनयोऽनिशम् ।।१३२६।।

अगार रूप अग्नि, ज्वालाग्नि, अर्चि अग्नि, दीपशिखाग्नि, मुर्मराग्नि, कार्षाग्नि और बहुत प्रकार की शुद्धाग्नि, विद्युत्पाताग्नि, वज्राग्नि, सूर्यकान्त आदि से उत्पन्न अग्नि, सामान्य अग्नि, निर्धूमाग्नि, बडवाग्नि, नन्दीश्वर द्वीपस्थ महाधूम कण्डो की अग्नि तथा मुकुट आदि से उत्पन्न अग्नि, अग्नि काय होने से इन सब अग्नियो का अनिलयोनियो मे अन्तर्भाव हो जाता है। तेजकाय के आश्रित रहने वाले सर्व तेजकायिक जीवो को भली प्रकार जान मुनिजन इनकी अर्हनिश प्रयत्न पूर्वक रक्षा करते है।

वायुकायिक जीवों के स्थानों का वर्णन—

वातः सामान्यरूपश्चोद्भ्रम ऊर्ध्वं भ्रमन् व्रजेत् ।
उत्कलि मंण्डलि पृथ्वीलग्नो भ्रमन् प्रगच्छति ।।१३२७।।
गुञ्जावातो महावातो वृक्षादि भङ्गकारकः ।
घनोदधिश्च नाम्ना घनानि लस्नुवात वाक् ।।१३२८।।
उदरस्थ विमानाधार पृथ्व्य धस्तलाश्रिताः ।
त्रिलोकाच्छादका वाता अत्रैवान्त र्भवन्ति च ।।१३२९।।
एतान् वातङ्ग भेदांश्चजीवान् वात वपुःश्रितान् ।
ज्ञात्वा नित्यं प्रयत्नेन पालयन्तु स्ववद्विदः ।।१३३०।।

सामान्य रूप वायु, उद् भ्रम वायु, ऊपर भ्रमण करने वाली वायु, उत्कलि वायु, मण्डल वायु, पृथ्वी स्पर्श कर भ्रमण करने वाली वायु, गुञ्जावात, वृक्षो आदि को नष्ट करने वाली महावायु, घनोदधि वायु, घन वायु, तनुवायु, उदरस्थ वायु, विमान जिसके आधर से है, वह वायु, पृथ्वीतल के आश्रित वायु और त्रैलोक्य आच्छादक वायु ये सर्व वायु इन्ही पवनो मे अन्तर्भूत होती है। ये सब भेद वायु काय के कहे गये है। वायु कायिक जीव इसी वायुकाय के आश्रित रहते हैं, ऐसा जानकर विद्वज्जनो को इन्हे अपनी आत्मा के सदृश समझ कर नित्य ही इनकी दया का प्रत्यनपूर्वक पालन करना चाहिए।

वनस्पतिकायिक जीवों के भेद—

असाधारण साधारण भेदाभ्यां जिनागमे ।
कीर्तिता द्विविधाः संक्षेपाद्वनस्पति कायिकाः ।।१३३१।।
प्रत्येकं द्विप्रकरास्ते साधारणे तराङ्गिनः ।
उदकार्द्य श्च जीवोत्थ सम्मूर्च्छिमद्वि भेदतः ।।१३३२।।

मूलाग्रपोर कन्द स्कन्धबीजोद् भवदेहिनः ।
त्वक् पत्राणि प्रवालानि पुष्पाणि च फलान्यपि ॥१३३३॥
गुच्छागुल्मानि वल्ली च तृण पर्वादि कायिकाः ।
प्रत्येकादि चतुर्भेदानां सद्भेदा मता इमे ॥१३३४॥

जिनागम मे असाधारण (प्रत्येक) वनस्पतिकायिक और साधारण वनस्पतिकायिक के भेद से वनस्पतिकायिक जीवो के सक्षेप से दो भेद कहे गये है। इनमे से असाधरण अर्थात् प्रत्येक वनस्पति सप्रतिष्ठित (साधारण सहित) और अप्रतिष्ठित (साधारण सहित) के भेद से दो प्रकार की है।(मिट्टी और) जल आदि के सम्बन्ध होने वाली सम्मूर्च्छन जन्म वाली वनस्पतिया भी सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के भेद से दो प्रकार की होती है। मूल, अग्र, पोर, कन्द, स्कन्ध और बीज से उत्पन्न होने वाले वनस्पतिकायिक जीव, तथा त्वक् पत्र, प्रवाल पुष्प, फल, गुच्छा, गुल्म, बल्ली, तृण और पर्व आदि प्रत्येक के वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक और वनस्पति जीव ये चार भेद माने गये है।

इन वनस्पतियो के भेदो का सुख पूर्वक बोध प्राप्त करने को कहते है :—

जिनकी मूल से उत्पत्ति होती है, वे मूल जीव है, जैसे—अदरख, हल्दी आदि। जो अग्र (टहनी) से उत्पन्न होते है, वे अग्र जीव है। यथा—केतकी, गुलाब, आर्यका, मोगरा आदि जो पर्व के प्रदेश (गाठ) से उत्पन्न होते है, वे पोर बीज है, यथा ईख, बेत आदि। जो कन्द से उत्पन्न होते है, वे कन्द जीव है। यथा–सकरकन्दी, पिण्डालू (सूरण) आदि। जिनकी उत्पत्ति स्कन्ध से होती है, वे स्कन्ध जीव है, यथा सल्लकी (साल), कटकी, बड, पीपल, पलाश, देवदारू आदि। जिन जीवो की भूमि एव जल सादि सामग्री के सहयोग से उत्पत्ति होती है, वे बीज जीव है, यथा—जव, गेहूँ आदि। वृक्ष आदि की बाह्य छाल को त्वक् और युतक (काई) आदि को सैवाल कहते है। जिसमे केवल पत्ते ही होते है, पुष्प और फल नही होते, उसे पत्र वृक्ष कहते है। पत्तो की पूर्व अवस्था को प्रवाल कहते है। जिन वनस्पतियो मे मात्र पुष्प होते हैं. फल आदि नही होते, उसे पुष्प वनस्पति कहते है। पुष्प के बिना जिसमे केवल फल उत्पन्न होते हैं, उन्हे फल वृक्ष कहते है। एक समय में उत्पन्न होने वाले बहुत के समुदाय को गुच्छा कहते है। मोगरा, मल्लिका आदि को गुल्म और करंज, कंथारी आदि को वल्जी कहते हैं। मालती आदिक नाना प्रकार के तृण है, पर्व और ग्रन्थि

के मध्य बेंत आदि होते हैं।

साधारण वनस्पति कायिक जीवों के लक्षण आदि—

एते प्रत्येक कायाः स्युः केचिच्चानन्त कायिकाः।
केचिद् बीजोद्भवाः केचित् सम्मूर्च्छिका हि देहिनः ॥१३३५॥
नित्येतर निकोताभ्यां द्विधा साधारणामताः।
अनन्त कायिका जीवा अनन्तैकाक्ष संकुलाः ॥१३३६॥
यत्रैकोम्रि प्राणी तत्रैवानन्तजन्मिनाम्।
मरणं चैककालेन तत्समं ह्यक कायत ॥१३३७॥
यत्रैको जायते जीवस्तत्रोत्पत्ति र्भवेत्स्फुटम्।
अनन्त देहिनां सार्धं तेन तत् क्षण मञ्जसा ॥१३३८॥
ततस्तेऽनन्त जीवास्ता. प्रोक्ता अनन्त कायिकाः।
युगपन्मरणोत्पत्तोरनन्तैकेन्द्रियात्मनाम् ॥१३३९॥
तीव्रमिथ्यादि युक्तै यैंर्भ्रमद्भिर्दु र्भवाटवीम्।
अनन्तां प्राणिभिर्घोर दुःकर्मग्रसितात्मभिः ॥१३४०॥
अनन्त काय वर्गेषु न त्रसत्वं कदाचन।
प्राप्तं तेऽनन्त कायास्ताः मता नित्यनिकोतकाः ॥१३४१॥
अनन्त कायिका एते पञ्च भेदामता इति।
जम्बूद्वीपादि दृष्टान्तैः स्कन्धा डरादयो जिनैः ॥१३४२॥

ये पूर्व कथित जीव प्रत्येक काय है, इनमे कोई-कोई अनन्तकाय है, कोई बीज से उत्पन्न होने वाले है, और कोई जीव सम्मूर्च्छन जन्म वाले है। साधारण वनस्पति कायिक जीवो के नित्य निगोद और इतर निगोद, ये दो भेद है। ये अनन्त कायिक अर्थात् साधारण अनन्त एकेन्द्रिय जीव एक काय होने से एक ही समय मे एक साथ अनन्त जीवो का मरण होता है, और जहा एक जीव उत्पन्न होता है, वही उसी क्षण एक साथ अनन्त जीव जन्म लेते है। इन अनन्त एकेन्द्रिय जीवो का एक ही साथ मरण और एक ही साथ जन्म होता है, इसीलिए उन अनन्त जीवो के समूह को अनन्तकायिक कहते है। जो तीव्र मिथ्यात्व आदि से युक्त और घोर दुष्कर्मों से ग्रसित है, ऐसे अनन्तानन्त प्राणी भयावह ससार रूपी अटवी मे भ्रमण करते हैं। अनन्तकाय जीवों के समूह में जो जीव कभी भी त्रस पर्याय को प्राप्त नही करते,

उन्हे नित्य निगोदिया कहते है। इन अनन्तकायिक जीवों के पांच भेद माने गये है, जो जिनेन्द्र के द्वारा जम्बूद्वीप आदि के दृष्टान्तो से स्कन्ध, अडर, आवास, पुलवि और शरीर आदि के रूप मे प्रतिपादन किये गये है।

जम्बूद्वीप आदि के दृष्टान्तों द्वारा स्कन्ध, अण्डर, आदि का प्रतिपादन—

जम्बूद्वीप यथा क्षेत्रं भारतं भारतेऽस्ति च।
कोशलः कोशले देशेऽयोध्यायां सौधपङ्क्तयः ।।१३४३।।
तथा स्कन्धा असंख्येयलोक प्रदेश मात्रकाः।
एकैकस्मिन् पृथक् स्कन्धे ह्यण्डरा गदिता जिनैः ।।१३४४।।
असंख्यलोक तुल्याब्देकैकस्मिनण्डरे स्मृताः।
आवासेभ्यो ह्यसंख्यात लोक मात्रा न संशयः ।।१३४५।।
एकैकस्मिन् तथा वासे प्रोक्ता पुलवयोऽखिलाः।
असख्यलोक माना एकैकस्मिन् पुलवौ भवे ।।१३४६।।
असंख्यात शरीराणि लोकमानानि सन्ति च।
एकैकस्मिन्नि कोतानां शरीरे प्राणिनो ध्रुवम् ।।१३४७।।
अतीतानन्त कालोत्थानन्त सिद्धेभ्य एव च।
सर्वेभ्य आगमे प्रोक्ता वाण्यानन्त गुणा जिनैः ।।१३४८।।

जैसे जम्बूद्वीप मे भरतक्षेत्र है, भरत क्षेत्र मे कोशल देश है, कोशल देश में आयोध्या नगरी है, और एक-एक अयोध्या नगरी मे अनेक प्रासाद (महल) पंक्तियां है, उसी प्रकार असंख्यात लोक प्रमाण पुद्गल परमाणुओ का एक स्कन्ध और एक-एक स्कन्ध मे असख्यात लोक, असख्यात लोक प्रमाण आवास है, इसमे कोई संशय नही है। पृथक्-पृथक् एक-एक आवास मे असख्यात लोक-असंख्यात लोक प्रमाण पुलवियाँ है, एक-एक पुलवि मे असख्यात लोक असख्यात लोक प्रमाण शरीर है और पृथक्-पृथक् एक-एक निगोद शरीर मे जिनेन्द्र भगवान के द्वारा आगम मे अतीत और आगामी अनतकाल मे होने वाले सर्व अनत सिद्धो के अनत गुणी जीव राशि कही गई है। अर्थात् अतीत और अनागत मे होने वाली सर्व सिद्ध राशि का जितना प्रमाण है, उससे अनन्त गुणे जीव एक निगोद शरीर मे रहते है।

बादर अनन्तकाय जीवों का कथन—

शैवालं पणकंनाम केणुगः कवगस्तथा।
पुष्पि केत्यादयः सन्त्यनन्त कायाश्च बादराः ।।१३४९।।

अस्य भास्यमाह :—

शैवालं जलगत हरित रूपं, पणकं भूमिगत शैवाल, इष्कादि प्रभवं च, केणुक, आलम्बकछत्राणि शुक्ल हरित नील रूपाणि अपस्करोद् भवानि कवगः शृ गालबकछत्राणि। पुष्पिका आहारकञ्जिकादि गता। इत्याद्याः स्थूला अनन्त-कायिकाः स्यु.।

अर्थ .—सैवाल, पणक, केणुक, कवग और पुष्पक इत्यादि ये सब बादर अनन्तकायिक वनस्पतियां है।

अब इसी को भाष्य रूप में कहते है :—

जल मे जो हरी काई होती है, उसे शैवाल, भूमि मे जो हरी-हरी काई होती है, उसे पणक, ईट आदि मे जो उत्पन्न होती है, उसे केणुक, श्वेत, हरे और नील वर्ण के छत्र सदृश को आलम्बक (कुकुरमुत्ता), मल या कचरे मे उत्पन्न होने वाले को कवग. वक छत्र को शृ गाल कहते है, (एक प्रकार का कुकुरमुत्ता, जिसकी डठल टेडी होती है।) आहार कांजी आदि के ऊपर उत्पन्न होने वाली फफूदी को पुष्पिका कहते है। इस प्रकार सैवालादि अनेक बादर अनन्तकायिक वनस्पतिया होती है।

साधारण, प्रत्येक सूक्ष्म एवं बादर जीवों के लक्षण और उनके निवास क्षेत्र आदि का कथन—

गूढानि स्युः सिरासन्धि पर्वाणि जन्मिनां भुवि।
येषां स्यान्सम भङ्गं चाही रुकं सूत्र सन्निभम् ॥१३५०॥
छिन्न भिन्न शरीराणि प्रारोहन्त्यप्यनन्ततः।
तेऽत्र साधारणा जीवाः प्रत्येकास्तद् विपर्ययाः ॥१३५१॥
एते स्युर्बादशजीवाः क्वचिल्लोके क्वचिन्न च।
पृथ्व्यादि कायमापन्नाः पञ्चधाः स्थावराः परे ॥१३५२॥
सूक्ष्माः पृथ्व्यादयः पञ्चस्थावरा दृष्टयगोचराः।
एते तिष्ठन्ति सर्वत्र प्रपूर्य भुवनत्रयम् ॥१३५३॥
वनस्पत्यङ्गिनोऽन्ये च स्थावराः सूक्ष्मबादराः।
अनन्ताविविधा एते रक्षणीयाः सदा बुधैः ॥१३५४॥
न प्रतिस्खलनं येषां गत्यादौ सूक्ष्मदेहिनाम्।
पृथ्वीजलाग्निवाताद्यं र्जातु ते सूक्ष्म कायिकाः ॥१३५५॥

प्रतिस्खलन्ति ये स्थूलाः स्थावरा गमनादिषु ।
केचिद्दृश्या अदृश्यास्ते बादराः श्री जिनैर्मताः ॥१३५६॥

जिनकी शिरा-बहिः स्नायु, सन्धि-रेखाबन्ध और पर्व-गाठ अप्रगट हो और जिन वनस्पतियों का भग करने पर समान भंग हो, दोनो भगो मे परस्पर सूत्र-तन्तु न लगा रहे तथा शरीरो को छिन्न-भिन्न कर देने पर भी जो ऊग जाते है तथा वृद्धि आदि को प्राप्त होते हैं ऐसे अनन्तकायिक वे सब जीव यहां पर साधारण कहे गये है । जो जीव इन चिन्हो से रहित हैं, वे प्रत्येक (अप्रतिष्ठत) वनस्पतिकायिक है ।

पृथ्वी आदिक पाचो कायों को धारण करने वाले पाचो बादर स्थावर जीव इस लोक मे कही हैं और नही है, किन्तु दृष्टि अगोचर पृथ्वीकायिक पांचो सूक्ष्म स्थावर जीव तीनों लोक को परिपूर्ण करते हुए सर्वत्र रहते है ।

विद्वानो को अन्य अनन्त प्रकार के सूक्ष्म और बादर वनस्पतिकायिक व स्थावर जीवों की रक्षा करनी चाहिए ।

सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से युक्त पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक आदि के द्वारा जिन जीवों की गति आदि कभी भी रुकती नही है, उसे सूक्ष्म कायिक कहते है ।

जिन स्थावर जीवो की गति आदि दूसरो से रुकती है और दूसरो को रोकती है, उन्हें जिनेन्द्र भगवान ने बादर जीव कहा है, इनमे कुछ जीव दृष्टि अगोचर होते है ।

त्रस जीवों के भेद आदि का वर्णन—

प्राणिनो विकलाक्षाश्च सकलाक्षास्ततः परे ।
इत्यमी द्विविधा. प्रोक्तास्त्रसा उद्वेगिनोऽसुखात् ॥१३५७॥
द्वित्रितुर्याख्यभेदाद्यैस्त्रिविधा विकलेन्द्रियाः ।
स्युः कम्याद्या नृगीर्वाणतिर्यञ्चः सकलेन्द्रियाः ॥१३५८॥
कृमयः शुक्तिकाः शङ्खाः वालकाश्च कपर्दकाः ।
जलकाद्या मताः शास्त्रे द्वीन्द्रिया द्वीन्द्रियांगिता ॥१३५९॥
कुन्थवो मत्कुणा यूका वश्चिकाश्च पिपीलिकाः ।
उद्देहिका हि गोम्याद्यास्त्रीन्द्रियास्त्र्यक्षसंयुता: ॥१३६०॥

मशका भ्रमरा दंशाः पतङ्गा मधुमक्षिकाः ।
मक्षिका कीटकाद्याः स्युश्चतुरिन्द्रियजातयः ॥१३६१॥

जलस्थलनभो गामिनस्तिर्यञ्चो नरामराः ।
नारकाः श्री जिनैः प्रोक्ताः पञ्चाक्षाः सकलेन्द्रियाः ॥१३६२॥

एतास्त्रसाङ्गिनः सम्यग्ज्ञात्वा गृहितपोधनाः ।
पालयन्तु समित्याद्यैः सर्वत्र स्वमिवान्वहम् ॥१३६३॥

इति पृथ्व्यादिकायानां जातिभेदान् जिनागमात् ।
आख्यायातः सतांवक्ष्ये कुलानि विविधानि च ॥१३६४॥

दुःख से उद्वेगित त्रस जीव विकलेन्द्रिदय और सकलेन्द्रिय के भेद से दो प्रकार के होते है ।

इनमे से कृमि आदि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरीन्द्रिय के भेद से विकलेन्द्रिय जीव तीन प्रकार के होते है । मनुष्य, देव और तिर्यञ्च ये सकलेन्द्रिय त्रस है ।

कृमि, सीप, शख, वालुका, कौडी, जौक आदि दो इन्द्रिय से चिन्हित इन जीवों को द्वीन्द्रिय जीव कहते है ।

कुन्थु, खटमल, जूँ, विच्छू, चीटी, दीमक और कान खजूरे आदि तीन इन्द्रियो से युक्त जीवो को त्रेन्द्रिय जीव कहते हैं ।

मच्छर, भौरा, डांस, पगङ्गा, मधुमक्खी, मक्खि और कीटक आदि चतुरिन्द्रय जीव कहलाते है ।

जल-स्थल एव नभचर तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और नारकी ये जीव पचेन्द्रिय होते हैं, इन्हे ही जिनेन्द्र भगवान ने सकलेन्द्रिय कहा है ।

इस प्रकार त्रस जीवो के भेद प्रभेदो को भली प्रकार जानकर श्रावकों एव तपोधनो को समिति आदि के द्वारा अपनी आत्मा के सदृश ही सर्वत्र त्रस जीवो की रक्षा करनी चाहिये ।

इस प्रकार जिनागम से पृथ्वी काय आदि षटकाय के जीवो के जाति भेदो को कहकर अत्र अनेक प्रकार के कुल भेदो को कहूँगा ।

भिन्न-भिन्न जीवों की कुल कोटिया कहते हैं—

द्वाविंशकोटि लक्षाणि पृथ्वीनां स्युः कुलानि च ।
अपकायासु मतां सप्तकोटि लक्षाणि तेजसाम् ।।१३६५।।
कुलत्रिकोटि लक्षाणि वायूनां च कुलान्यपि ।
स्युः सप्त कोटि लक्षाणि वनस्पत्यङ्गिनां तथा ।।१३६६।।
कुलानि कोटि लक्षाणि ह्यष्टाविंशतिरेवहि ।
द्वीन्द्रियाणां तथा सप्तकोटि लक्षकुलानि च ।।१३६७।।
त्रीन्द्रियाणां भवन्त्यष्टकोटिलक्ष कुलान्यपि ।
तुर्याक्षाणां नवैव स्युः कोटिलक्षकुलानि च ।।१३६८।।
अब्चराणां हि लक्षाणि सार्धं द्वादश कोटयः ।
कुलानि पक्षिणां द्वादशकोटि लक्षकानि च ।।१३६९।।
दशैव कोटि लक्षाणि कुलानि स्युश्चतुष्पदाम् ।
नवैव कोटि लक्षाण्युरः सर्पाणां कुलानि च ।।१३७०।।
षड्विंशकोटि लक्षाणि कुलानिस्यु. सुधाभुजाम् ।
पञ्चविंशति कोटि लक्षाणि नारक जन्मिनाम् ।।१३७१।।
आर्यम्लेच्छ न भोगाभिमनुष्याणां कुलानि च ।
द्वि सप्तकोटि लक्षाणीति सर्वेषां च देहिनाम् ।।१३७२।।
एकैव कोटि कोटि नवतिः सार्धनवाधिका ।
कोटीलक्षाणि सिद्धान्ते कुल संख्या जिनोदिता ।।१३७३।।
इत्यङ्ग कुलजात्यादीन् सम्यग्ज्ञात्वा बुधोत्तमैः ।
षड्ङ्गिनां दया कार्या धर्मरत्नखनी सदा ।।१३७४।।

(शरीर के भेदो के कारणभूत नाना प्रकार की नो कर्म वर्गणाओ को कुल कहते है) पृथ्वीकायिक जीवो की बाईस लाख कोटि, जलकायिक जीवो की सात लाख कोटि, अग्निकायिक जीवो की तीन लाख कोटि, वायुकायिक जीवो की सात लाख कोटि, वनस्पतिकायिक जीवो की २८ लाख कोटि, द्वीन्द्रिय जीवो की सात लाख कोटि, त्रीन्द्रिय जीवो की आठ लाख कोटि, चतुरिन्द्र जीवों की नव लाख कोटि, जलचर जीवो की १२।। लाख कोटि, पक्षियो की बारह लाख कोटि, चतुष्पद (पशुओ) की दश लाख कोटि, छाती के सहारे चलने वाले सर्प आदिको की नव लाख कोटि, देवो की २६ लाख कोटि, नारकी जीवो की २५ लाख कोटि तथा आर्य मनुष्य, म्लेच्छ मनुष्य और

विद्याधरो (इन सब) की चौदह लाख कोटि, इस प्रकाह सम्पूर्ण कहे गये है ।

जिनेन्द्र भगवान ने आगम मे पृथिवीकायिक से लेकर मनुष्य पर्यंत सम्पूर्ण ससारी जीवो के कुल कोटि की सख्या का योग एक करोड़ निन्यानवे लाख पचास हजार कोटि (१,९९,५०,००,०००,०००,०००) कहा है ।

इस प्रकार विद्वानो को जीवो के कुल और जाति आदि के भेदो को भली प्रकार जानकर धर्मरूपी रत्नों की खान के सदृश निरन्तर छह काय जीवो की दया मे में उपक्रम करना चाहिये ।

अब योनियों के भेद, प्रभेद आकार और स्वामी—

सचित्ताचित्त मिश्राख्याः शीतोष्णमिश्रयोनयः ।
संवृता विवृता मिश्राश्चेत्येता नवयोनयः ॥१३७५॥
देवानां नारकाणां चाचित्तयो निर्विचेतना ।
गर्भजानां सचित्ताचित्त योनिश्चेतनेतरा ॥१३७६॥
एकाक्ष द्वीन्द्रियाणां च त्र्यक्षतुर्येन्द्रियात्मनाम् ।
नानापञ्चाक्ष सम्मूर्च्छकानां केषाञ्चिदेव च ॥१३७७॥
सचित्तंकास्ति केषाञ्चेदाचेत्ता योनिरञ्जसा ।
केषाञ्चिन्मिश्रयोनिश्चेति त्रिधा योनयो मताः ॥१३७८॥
देवानां नारकाणां च केषां चिच्छीत योनयः ।
उष्णयोनिश्च केषां चिदिति द्विविध योनयः ॥१३७९॥
तेजसा मुष्णयोनिः स्याच्छीतयोनिर्जलाङ्गिनाम् ।
शेषाणां पृथिवी वायु वनस्पति शरीरिणाम् ॥१३८०॥
एक द्वित्रिचतुः पञ्चाक्षगर्भेतर जन्मिनाम् ।
पृथगेकक रूपेण शीताद्याः स्युस्त्रियोनयः ॥१३८१॥
नारकैकाक्ष देवानां संवृत्ता योनिरस्ति च ।
विवृता विकलाक्षाणां मिश्रा सा गर्भ जन्मिनाम् ॥१३८२॥
पुनर्गर्भाङ्गि योनीनां शुभाशुभो भयात्मनाम् ।
सविशेषास्त्रिधा योनीर्वक्ष्ये योन्यघहानये ॥१३८३॥
शङ्खावर्ताह्वया योनिः पराकूर्मोन्नताभिधा ।
तृतीय वंश पत्राख्यात्रेति त्रिविधयोनयः ॥१३८४॥

तीर्थेशाश्चक्रिणो रामा वासुदेवाश्चतद्द्विषः ।
कूर्मोन्नतम महायोनौ जायन्ते स्फटिकोपमे ॥१३८५॥
वंशपत्राख्य योनौ चोत्पद्यन्ते भोग भूमिजाः ।
द्वियोन्योः प्राणिनोऽन्ये शङ्खावर्तवंश पत्रयोः ॥१३८६॥
शङ्खावर्तकुयोनौ च नियमेन विनश्यति ।
गर्भोऽशुभोऽङ्गि नामेतद्यानीनां लक्षणं भवेत् ॥१३८७॥

सचित्त, अचित्त एवं सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण एव शीतोष्ण, सवृत, विवृत एव सवृतविवृत (मिश्र) इस प्रकार योनिया नौ प्रकार की है।

देव और नारकियो की योनियाँ आत्मप्रदेशों से रहित अचित होती हैं, तथा गर्भज जीवों के सचित्ताचित्त (मिश्र) योनि होती है।

एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सम्मूर्च्छन जन्म वाले पंचेन्द्रिय जीवो मे से किन्ही जीवों में से किन्ही किन्ही जीवो की सचित्त योनि है, किन्ही की अचित योनि हैं और किन्ही जीवो के सचित्ताचित्त (मिश्र) योनि है। इस प्रकार सम्मूर्च्छन जन्म वालो के तीनो प्रकार की योनियां मानी गई है।

देव और नारकियो में किन्ही की शीत योनियां, किन्ही की उष्ण योनियां और किन्ही की शीतोष्ण योनिया होती हैं।

अग्निकायिक जीवो को उष्णयोनि, जलकायिक जीवो की शीत योनि होती है। शेष पृथ्वी, वायु और वनस्पतिकायिक जीवो के तथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और सम्मूर्च्छन जन्म वाले जीवो के पृथक्-पृथक् एक रूप से शीत आदि तीनो योनियां होती है। अर्थात् किन्ही जीवो के शीत, किन्ही के ऊष्ण और किन्ही के मिश्र इस प्रकार तीनो योनियां होती है।

देव, नारकी और एकेन्द्रिय जीवो के संवृत योनि होती है। विकलेन्द्रि जीवो के विवृत (प्रगट) योनि और गर्भज जीवों के नियम से संवृत (मिश्र) योनी होती है।

इसके पश्चात् योनी सम्बन्धी पाप नाश के लिए शुभ अशुभ कर्मोदय से युक्त गर्भज जीवो के विशेषता पूर्वक तीन प्रकार की योनियां कहूँगा।

प्रथम शखावत, द्वितीय कर्मोन्नत और तृतीय वंशपत्र नामक तीन प्रकार की योनियां होती है।

स्फटिक की उपमा को धारण करने वाली कर्मोन्न नाम की महायोनि मे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव उत्पन्न होते है।

वंश पत्र नाम की योनि में भोग भूमिज और शखावर्त एवं वशपत्र इन दोनो मे कर्मभूमिज आदि अन्य साधारण मनुष्य जन्म लेते हैं, किन्तु शंखावर्तनामक कुयोनि मे नियम से गर्भ के विनाश होता है। क्योकि वह गर्भ अशुभ होता है। इस प्रकार जीवों की इन योनियो के लक्षण कहे है।

जीवों के शरीरों की अवगाहना—

पृथ्व्यप्तेजो मरुत्कायानां सूक्ष्मवाद रात्मनाम्।
अङ्गुलस्याप्यसंख्यात भागतुल्यं वपुर्भवेत् ॥१३८८॥
सूक्ष्मा पर्याप्त जातस्य निकोतस्याङ्गिनो मतम्।
तृतीये समये सर्वजघन्याङ्गं जगत्त्रये ॥१३८९॥
सर्वोत्कृष्ट शरीरं स्यान्मत्यानां महतां भुवि।
तयोर्मध्ये परेषां स्थूलांना देहानि देहिनाम् ॥१३९०॥

सूक्ष्म और बादर पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक जीवो के शरीर की अवगाहना अंगुल के असख्यातवे भाग-प्रमाण होती हैं।

त्रैलोक्य में सर्वजघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवो के उत्पन्न होने से तीसरे समय मे होती है और शरीर की सर्वोत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्यो के होती है। इन दोनो (जघन्योत्कृष्ट) के बीच मे अन्य जीवो के शरीर की मध्य अवगाहना विविध प्रकार की होती है।

अब जीवों के संस्थानों का कथन—

पृथ्व्यङ्गिनां च संस्थानं मसूरिकाकणाकृतिः।
अप्कायानां हि सस्थानं दभग्रिबिन्दुसन्निभम् ॥१३९१॥
तेजः कायात्मनां तत् स्यात् सूचीकलापसम्मितम्।
संस्थानं वायुकायानां पताकाकारमेव च ॥१३९२॥
समादिचतुरस्त्रं च न्यग्रोधस्वाति कुब्जकाः।
वामनाख्यं हि हुण्डाख्यं संस्थानानीति षड्भुवि ॥१३९३॥
मनुष्याणां च पञ्चाक्षतिरश्चां सन्ति तानि षट्।
देवनामादि संस्थानं नारकाणां हि हुण्डकम् ॥१३९४॥

द्वित्रितुर्येन्द्रियाणां च सर्वेषां हरिताङ्गिनाम् ।
अनेकाकार संस्थानं हुण्डाख्यं स्याद् विरूपकम् ॥१३९५॥

पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर का आकार मसूर के कण सदृश, जलकायिक जीवो के शरीर का आकार डाभ के अग्रभाग पर रखी हुई जलबिन्दु के सदृश, अग्नि-कायिको का खडी सुइयो के समूह सदृश और वायुकायिक जीवो के शरीर का सस्थान ध्वजा के सदृश होता है । समचतुरस्त्र सस्थान, न्यग्रोध, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक ये छह सस्थान ससारी जीवो के होते हैं । मनुष्यो और पचेन्द्रिय तिर्यचों के छहों सस्थान होते है । देवो के समचतुरस्त्र सस्थान और नारकियो के हुण्डक संस्थान ही होते है । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के तथा सम्पूर्ण वनस्पतिकायिक जीवो के विविध आकारो के लिये हुए विरूप आकार वाला हुण्डक संस्थान होता है ।

संसारी जीवों के संहननों का विवेचन—

म्लेच्छ विद्याधरमर्त्यानां संज्ञि पञ्चेन्द्रियात्मनाम् ।
कर्मभूजतिरश्चां च सन्ति संहननानि षट् ॥१३९६॥
असंज्ञि विकलाक्षाणां लब्ध्य पर्याप्त देहिनाम् ।
अशुभं चान्तिमं हीनं षष्ठं संहननं भवेत् ॥१३९७॥
वज्रर्षभादि नाराचं वज्रास्थिमय वेष्ठितम् ।
आद्यं च वज्रनाराचं वज्रास्थितं द्वितीयकम् ॥१३९८॥
नाराचं त्रीणि चेमानि सन्ति संहननानि च ।
परिहार विशुद्ध्याख्य संयमाप्त मुनीशिनाम् ॥१३९९॥
चतुर्थमर्ध नाराचं कीलिकाख्यं च पञ्चमम् ।
असम्प्राप्तासृपाद्यादिकं त्रिसंहननानि च ॥१४००॥
इमानि स्युः स्फुटं कर्मभूमिज द्रव्ययोषिताम् ।
भोग भूमि जनृस्त्रीणामाद्यं संहननं परम् ॥१४०१॥
मिथ्यात्वाद्य प्रमत्तान्त गुणस्थानेषु सप्तसु ।
प्रवर्तमान जीवानां सन्ति संहननानि षट् ॥१४०२॥
अपूर्वकरणाभिख्येऽनिवृत्ति करणाह्वये ।
सूक्ष्मादि साम्परायाख्ये ह्युपशान्तकषायके ॥१४०३॥

श्रेण्यामुपशमाख्यायां तिष्ठतां योगिनां पृथक् ।
त्रीणि संहननानि स्युरादिमानि दृढानि च ॥१४०४॥
अपूर्व करणाख्ये चानिवृत्ति करणाभिधे ।
सूक्ष्मादि साम्परायाख्ये क्षीण कषाय नामनि ॥१४०५॥
सयोगे च गुणस्थानेऽत्राद्यं संहननं भवेत् ।
केवलं क्षपक श्रेण्या रोहण कृत योगिनाम् ॥१४०६॥
अयोगिजिन नाथानां देवानां नारकात्मनाम् ।
आहारक महर्षीणामेकाक्षाणां वपूंषि च ॥१४०७॥
यानि कार्मण कायानि व्रजतां परजन्मनि ।
तेषां सर्वशरीराणां नास्ति संहननं क्वचित् ॥१४०८॥

म्लेच्छ मनुष्यो, विद्याधरो, मनुष्यो, सज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचो और कर्मभूमिज तिर्यञ्चों के छहों सहनन होते हैं। असज्ञी तिर्यञ्चो के, विकलेन्द्रिय जीवो के और लब्ध्यपर्याप्तक जीवो के अन्तिम असम्प्राप्तसृपाटिका नाम का छठवा अशुभ सहनन होता है। वज्रमय वृषभ, कीले एव अस्थि से युक्त और वज्रमय वेष्ठन से वेष्ठित पहला वज्रर्षभनाराच संहनन, वज्रमय नाराच (कीलो) व अस्थियो से युक्त दूसरा वज्रनाराच संहनन और तीसरा सहनन है। ये तीनो सहनन परिहार विशुद्धि सयम से युक्त मुनिराजो के होते है। चौथा अर्धनाराच, पांचवां कीलक और छठवा असम्प्राप्तसृपाटिका ये तीनो सहनन कार्यभूमिज द्रव्यवेदी स्त्रियो के होते है। भोगभूमिज मनुष्यो और स्त्रियो के आदि का एक उत्कृष्ट सहनन होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान पर्यन्त सात गुणस्थानो मे प्रवर्तमान जीवो के छहो सहनन होते है।

उपशम श्रेणीगत अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय और उपशान्त कषाय गुणस्थानो मे प्रवर्तमान मुनिराजो के आदि के तीन दृढ़ सहननो मे से कोई एक होता है। क्षपक श्रेणीगत अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, क्षीणकषाय और सयोगकेवलि गुणस्थानो में प्रवर्तमान मुनिराजो के आदि का मात्र एक वज्रर्षभनाराच संहनन ही होता है।

अयोगी जिनो के, देवों के, नारकियो के, आहारक शरीरी महाऋषियो के, एकेन्द्रिय जीवो के और आगामी पर्याय मे जन्म लेने के लिए विग्रह गति मे जाने वाले

कार्मणकाय युक्त जीवो के संहनन नही होता अर्थात् इन जीवों का शरीर छहो सहननो से रहित होता है ।

संसारी जीवों के वेदों का कथन—

एकाक्षविकलाक्षाणां सर्वेषां नारकात्मनाम् ।
सन्मूर्द्द्नज पञ्चाक्षाणां वेदैको नपुंसकः ॥१४०९॥
भोग भूमि भवार्याणां चर्तुर्विधसुधा भुजाम् ।
विश्वानां भवतो वेदौ द्वौ स्त्रीपुंसंज्ञकौ भुवि ॥१४१०॥
शेषाणां गर्भजानां च तिरश्चां मनुजात्मनाम् ।
स्त्री पुंनपुंसकाभिख्याः सन्ति वेदास्त्रयः पृथक् ॥१४११॥

सम्पूर्ण एकेन्द्रिय जीवो के, विकलेन्द्रिय जीवो के, नारकी जीवो के और समूर्च्छन पञ्चेन्द्रिय जीवो के एक नपुसक वेद ही होता है ।

भोगभूमिज आर्यों के तथा चारों निकायो के देवो के स्त्री और पुंवेद नाम वाले दो ही वेद होते है । शेष सम्पूर्ण मनुष्यो एव तिर्यञ्च जीवो के पृथक्-पृथक्, स्त्री वेद, पुवेद तथा नपुसक वेद नाम के तीनो वेद होते है ।

जीवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु का प्रतिपादन :—

मृदुपृथ्वी शरीराणामुत्कृष्ट मायुरञ्जसा ।
द्विषड्वर्ष सहस्त्राणि खर पृथिवीमयात्मनाम् ॥१४१२॥
द्वाविंशति सहस्त्राणि वर्षाणां जीवितं परम् ।
सप्त सहस्त्र वर्षाण्यप्कायानां सुष्ठुजीवितम् ॥१४१३॥
तेजोमय कुकाया नामायुर्दिनत्रयं भवेत् ।
त्रीणि वर्ष सहस्त्राणि ह्यायुर्वाताङ्गिनां परम् ॥१४१४॥
दश वर्ष सहस्त्राण्यायुर्वनस्पति देहिनाम् ।
वर्षाणि द्वादशैवायुः प्रवरं द्वीन्दियाङ्गिनाम् ॥१४१५॥
त्रीन्द्रियाणां तथैकोन पञ्चाशद्दिन जीवितम् ।
षण्मास प्रमितायुष्कं चतुरिन्द्रिय जन्मिनाम् ॥१४१६॥
मत्स्यानां परमायुः स्यात्पूर्व कोटि प्रमाणकम् ।
सरीसृपाङ्गि नामायुर्नव पूर्वाङ्ग सम्मितम् ॥१४१७॥
द्वासप्तति सहस्त्राब्द प्रथमायुश्च पक्षिणाम् ।
उरगाणां द्विचत्वारि शत्सहस्त्राब्दजीवितम् ॥१४१८॥

एकाक्षद्वित्रितुर्याक्षाणां जघन्यायुरिष्यते ।
कृताष्टादश भागानामुच्छ्वासस्यैक भागकः ॥१४१९॥
संज्ञिनामल्पमृत्यादि युता पुण्यनृणां भवेत् ।
अन्तर्मुहूर्तमायुष्यं सर्वजघन्यमत्र च ॥१४२०॥

मृदु पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्ष की, खर पृथ्वीकायिक जीवो की बाईस हजार वर्ष की, जलकायिक जीवो की उत्कृष्टायु सात हजार वर्ष की, अग्निकायिक जीवो की तीन दिन की तथा वायुकायिक जीवो की तीन हजार वर्ष की उत्कृष्ट आयु है।

वनस्पतिकायिक जीवो की उत्कृष्टायु दस हजार वर्ष, द्वीन्द्रिय जीवो की बारह वर्ष, त्रेन्द्रिय जीवो की उनचास (४९) दिन की तथा चतुरिन्द्रिय जीवो की उत्कृष्टायु छह मास प्रमाण होती है।

महामत्स्यो की उत्कृष्टायु एक कोटि पूर्व की, सरीसृप जीवो की नवपूर्वाङ्ग अर्थात् सात करोड़ छप्पन लाख वर्षो की, पक्षियो की बहत्तर हजार वर्षो की और सर्पो की बयालीस हजार वर्षो की उत्कृष्टायु होती हैं।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीवो की जघन्य आयु स्वास के अठारह भागो मे से एक भाग प्रमाण होती है।

गर्भज सज्ञी जीवो की अल्पायु और पुण्यहीन गर्भज मनुष्यो की सर्व जघन्य आयु मात्र अन्तर्मुहूर्त प्रमाण की होती है।

नोट—लब्ध्यपर्याप्तक, संज्ञी, असज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चो की तथा लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यो की जघन्यायु श्वास के अठारहवें भाग होती हैं।

स्पर्शन आदि पांचों इन्द्रियों की आकृति—

श्रोत्रेन्द्रियस्य संस्थानं यवनालसमाकृतिः ।
चक्षुरिन्द्रिय संस्थानं वृत्तं मसूरिकासमम् ॥१४२१॥
संस्थानं घ्राणखस्यास्त्यति मुक्त पुष्पसन्निभम् ।
जिह्वेन्द्रियस्य संस्थानमर्धचन्द्र समानकम् ॥१४२२॥
स्पर्शेन्द्रिय सस्थानमनेका कारमस्ति च ।
समादि चतुरस्त्रादि भेद भिन्नं च षड्विधय ॥१४२३॥

कर्णेन्द्रिय का आकार यव की नाली के सदृश, चक्षुरिन्द्रिय का आकार मसूर सदृश (गोल) घ्राणेन्द्रिय का आकार तिल के पुष्प सदृश और जिह्वा इन्द्रिय का आकार अर्ध चन्द्र सदृश कहा गया है।

स्पर्शनेन्द्रिय का आकार अनेक प्रकार का होता है, क्योंकि समचतुरस्त्र आदि भेदों से संस्थान छः प्रकार के होते हैं।

इन्द्रियों के भेद-प्रभेद—

द्रव्य भाव विभेदाभ्यामिन्द्रियं द्विविधं स्मृतम्।
अन्तर्निवृत्ति बाह्योपकरणाद् द्रव्यखं द्विविधा ॥१४२४॥
लब्ध्युपयोग भेदाभ्यां द्विधा भावेन्द्रिय मतम्।
अन्तरात्म प्रदेशोत्थं कर्मक्षयसमुद्भवम् ॥१४२५॥

द्रव्येन्द्रियों और भावेन्द्रियों के भेद से इन्द्रिया दो प्रकार की होती है। इनमें अभ्यन्तर मे रचना और बाह्य मे उपकरणो के भेद से द्रव्येन्द्रिया दो प्रकार की तथा लब्धि एव उपयोग के भेद से कर्मो के क्षयोपशम से आत्मप्रदेशो मे उत्पन्न होने वाली भावेन्द्रिया भी दो प्रकार की है।

अब पांचों इन्द्रियों के विषयों का स्पर्श बताते हैं—

पृथिव्यादि वनस्पत्यन्तै काक्षाणां मतः श्रुते।
स्पर्शाख्यो विषयो लोके धनुः शत चतुष्टयम् ॥१४२६॥
द्वीन्द्रियाणां भवेत्स्पर्श विषयो दूरतो भजन्।
स्पर्शाक्षेण विषयार्थान् धनुरष्टशत प्रमः ॥१४२७॥
विषयो रसनाख्योत्यश्चतुः षष्टि धनु प्रमः।
त्रीन्द्रियासुमतां स्पर्श विषयः स्पर्शन क्षमः ॥१४२८॥
स्पर्शार्थानां च चापानां स्यात्षोडश शतप्रमः।
जिह्वाक्ष विषयश्चाप शताष्टाविंशति भंवेत् ॥१४२९॥
घ्राणाक्ष विषय व्याप्ति धनुषां शतमानकः।
चतुरिन्द्रिय जीवानां विषयः स्पर्शनाक्षजः ॥१४३०॥
द्वात्रिंशच्छत चापानि विषयो रसाक्षजः।
धनुषां द्विशते षट् पञ्चाशदग्ररसादिवित् ॥१४३१॥

घ्राणाख्य विषयश्चाप शतद्वय प्रमाणकः ।
विषयश्चक्षुरक्षोत्थो दूरार्थदर्शको भवेत् ।।१४३२।।
चतुः पञ्चाशदग्रं कोनत्रिंशच्छत योजनः ।
असंज्ञि पञ्चखानां च विषयः स्पर्शनप्रजः ।।१४३३।।
चापानां हि चतुः षष्टिः शतानि रसनाक्षजः ।
विषयो धनुषां द्वादशाग्र पञ्चशतानि च ।।१४३४।।
विषयो घ्राण खोत्पन्नो धनुः शत चतु प्रमः ।
चक्षुरिन्द्रियसंजात विषयो रूपिदर्शकः ।।१४३५।।
योजनानां किलाष्टाग्रं कोनषष्टि शत प्रमः ।
श्रोत्राक्ष विषयश्चापाष्ट सहस्त्र प्रमाणकः ।।१४३६।।
संज्ञि पंचेद्रियाणां च स्पर्शाक्षस्याखिलोत्तमः ।
रसनाक्षस्य हि घ्राणेन्द्रियस्य विषयो भुवि ।।१४३७।।
प्रत्येकं वर्तते स्वस्वार्थे योजन नव प्रमः ।
सहस्त्राः सप्तचत्वारिंशत्त्रिषष्टयधिके शते ।।१४३८।।
द्वे महायोजनानां चैकक्रोशो धनुषां तथा ।
दण्ड पञ्चदशाग्राणि द्वादशैव शतानि च ।।१४३९।।
हस्तैको यवतुर्याशाग्रं द्वे ऽङ्गुलेऽखिलोत्तमाः ।
इत्यस्ति संज्ञिनां चक्षुर्विषयो दूरदर्शकः ।।१४४०।।
श्रोत्रस्य विषयो ज्येष्टो योजन द्वादशप्रमः ।
पञ्चैते विषयोत्कृष्टा ज्ञेया महर्षि चक्रिणाम् ।।१४४१।।

आगम में पृथिवी कायिक से लेकर वनस्पतिकायिक पर्यन्त एकेन्द्रिय जीवो के स्पर्श का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ४०० धनुष कहा है। द्वीन्द्रिय जीवो के स्पर्श का विषय क्षेत्र ८०० धनुष है । और इन्ही द्वीन्द्रिय जीवो के रसनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ६४ धनुष प्रमाण है। त्रीन्द्रिय के स्पर्शनेन्द्रिय का विषय क्षेत्र १६०० धनुष, रसनेन्द्रिय का विषय क्षेत्र १२८ धनुप प्रमाण है और घ्राणेन्द्रिय का विषय क्षेत्र १०० धनुप प्रमाण है। चतुरिन्द्रिय जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय का विषय का क्षेत्र ३२०० धनुप रसनेन्द्रिय का विषय क्षेत्र २५६ धनुष, घ्राणेन्द्रिय का विषय क्षेत्र २०० धनुप और चक्षुरिन्द्रय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र २९५४ योजन प्रमाण होता है। असज्ञी

पचेन्द्रिय जीवो का स्पर्शनेन्द्रिय का विषय क्षेत्र ६४०० धनुष, रसनेन्द्रिय का ५१२ धनुष घ्राणेन्द्रिय का ४०० धनुष, चक्षुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ५९०८ योजन और श्रोत्रेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ८०० धनुष प्रमाण होता है। सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के स्पर्शनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ९ योजन, रसनेन्द्रिय का ९ योजन, घ्राणेन्द्रिय का ९ योजन चक्षुरिन्द्रिय का विषय क्षेत्र ४७२६३ योजन १ कोस, १२१५ धनुष, १, १/४ हाथ २ अगुल और १/४ यव प्रमाण है, तथा श्रोत्रेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र योजन १२ योजन प्रमाण है, चक्षुरिन्द्रिय आदि का यह उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ऋध्दिवान मुनिराजो एव चक्रवर्तियो के ही होता है।

एकेन्द्रियादि जीवो की संख्या का प्रमाण—

अथैकाक्षादि जीवानां प्रमाणं पृथगुच्यते।
वनस्पतौ निकोताङ्गिनोऽनन्ता प्रोदिता जिनै. ॥१४४२॥
पृथ्वीकायिक अप्कायिकास्तेजोमयाङ्गिनः ।
वायुकाया इमे सर्वे प्रत्येकं गदिता जिनैः ॥१४४३॥
असंख्य लोकमात्राश्चा संख्यलोकस्य सन्त्यपि।
यावन्तोऽत्र प्रदेशास्तावन्मात्राः सूक्ष्मकायिकाः ॥१४४४॥
पुनस्ते पृथिवीकायाद्याश्चतुर्विध बादरः।
पृथग् वासंख्य मात्रा अयं विशेषोऽस्ति चागमे ॥१४४५॥
द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियास्तुर्येन्द्रियाःपञ्चेन्द्रिया मताः।
प्रत्येकं चाप्यसंख्याताः श्रेणयः परमागमे ॥१४४६॥
प्रतराङ्गुलसंज्ञास्या संख्येयभाग सम्मिताः।
अथ वक्ष्ये गुणस्थानैः संख्याश्च आदिजाङ्गिनाम् ॥१४४७॥

अब एकेन्द्रिय आदि जीवो का पृथक् प्रमाण कहते है। वनस्पतिकायिक जीवो मे जिनेन्द्र भगवान् ने निगोद जीवो को अन्तानन्त कहा है। जिनेन्द्र देव के द्वारा बादर पृथ्वीकायिक, बादर अग्नि कायिक और बादर वायुकायिक जीव असंख्यात लोक मात्र अर्थात् असख्याता सख्यात कहे गये है, और असख्यात लोक के प्रदेशो का जितना प्रमाण है पृथक्-पृथक् उतने ही प्रमाण सूक्ष्म पृथिवीकायिक, सूक्ष्म जलकायिक सूक्ष्म अग्निकायिक तथा सूक्ष्म वायु कायिक जीव कहे गये है। पुनः बादर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीव पृथक्-पृथक असख्यात-असख्यात ही है। आगम मे

विशेष है। परमागम में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवो का पृथक् पृथक प्रमाण असख्यात श्रेणी कहा गया है। अर्थात् द्विन्द्रिय जीव असख्यात श्रेणी प्रमाण त्रीन्द्रिय जीव असंख्यात श्रेणी प्रमाण है। इत्यादि (परन्तु पूर्व पूर्व द्वीन्द्रियादिक की अपेक्षा उत्तरोत्तर त्रीन्द्रियादिक का प्रमाण क्रम से हीन है और इसका प्रतिभागहार आवलि का असंख्यातवां भाग है)। असंख्यात श्रेणी का प्रमाण प्रतरांगुल का असख्यातवां भाग माना गया है। अब मै गुणस्थानों के माध्यम से नरकादि मे उत्पन्न जीवो की संख्या कहूंगा।

अब प्रत्येक गतियों के गुणस्थानों में जीवों का प्रमाण क्या है ?

नरक गति गत प्रथम नरक में मिथ्यादृष्टि नारकी जीव असंख्यात श्रेणी प्रमाण है, जो घनांगुल के कुछ कम द्वितीय वर्ग मूल प्रमाण है। द्वितीय पृथिवी से सप्तम पृथिवी पर्यन्त के छह नरकों में मिथ्यादृष्टि जीव श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। सातो नरक भूमियो मे सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों का पृथक्-पृथक् प्रमाण पल्योपम के असंख्यातवे भाग है। तिर्यञ्चगति में मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त है। सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि और देश सयत जीव पृथक् पृथक् पल्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण है। मनुष्य गति में मिथ्यादृष्टि मनुष्य श्रेणी के असंख्यातवे भाग प्रमाण हैं। और वह श्रेणी का असख्यातवां भाग असंख्यात कोड़ा कोड़ी योजन प्रमाण हैं। सासादन गुणस्थानवर्ती जीव ५२ करोड़ प्रमाण है। तृतीय स्थानवर्ती सम्यग्मिथ्या-दृष्टि मनुष्य १०४ करोड़ प्रमाण, चतुर्थ गुणस्थान मे अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य ७०० करोड़ प्रमाण, पंचम गुणस्थान में देश संयत मनुष्य उत्कृष्टतः १३ करोड़ प्रमाण है। प्रमत्त गुणस्थान मे प्रमत्त सयत मुनिराज उत्कृष्टत ५९३९८२०६ है। अप्रमत्त गुणस्थान में अप्रमत्त सयत मुनिराज २९६९९१०३ है। अपूर्व करण गुणस्थान में उपशम श्रेणीगत योगी २९९ है और क्षपक श्रेणीगत क्षपक जीव ५९८ है। अनवृत्तिकरण गुणस्थान में उपशम श्रेणिगत जीव २९९ और क्षपक श्रेणिगत ५९८ हैं। सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान मे उपशम श्रेणी आरोहित मुनिराज २९९ है और क्षपक श्रेणिगत मुनिराज ५९८ है। उपशान्त कषाय गुणस्थान स्थित मुनिराजों का प्रमाण २९९ हैं तथा क्षीण कषाय गुणस्थान वर्ती योगियों का प्रमाण ५९८ है। सयोग गुणस्थान में सयोगिजनों की सर्वोत्कृष्ट संख्या प्रमाण ८९८५०२ है। अयोग गुणस्थान स्थित अयोगिजनो का प्रमाण उत्कृष्टतः ५९८ होता है। चतुर्थकाल

मे अढाई द्वीप स्थित छठवे गुणस्थान से १४ वें गुण स्थान पर्यन्त के सर्व योगिराजो का योग करने पर सर्व तपोधनो का उत्कृष्ट प्रमाण ८९९९९९९७ और तीन कम नौ करोड प्राप्त होता है।

देवगति मे ज्योतिष्क और व्यन्तर देवों का प्रमाण असख्यात श्रेणी स्वरूप प्रतर से असख्यातवे भाग प्रमाण और भवनवासी मिथ्यादृष्टि देव असख्यात श्रेणी स्वरूप अर्थात् घनागुल के प्रथम वर्गमूल प्रमाण श्रेणी है। सौधर्मेशान स्वर्गों में मिथ्यादृष्टि देव असख्यात श्रेणी स्वरूप अर्थात् घनागुल के तृतीय वर्गमूल प्रमाण श्रेणिया हैं। सानत्कुमारादि कल्पो मे और कल्पातीत स्वर्गो मे मिथ्यादृष्टि देवश्रेणी के असख्यातवे भाग अर्थात् असख्यात योजन करोड़ क्षेत्र के जितने प्रदेश है उतनी सख्या प्रमाण है। ज्योतिष्को व्यन्तरवासी देवो, सौधर्मेशान स्वर्गो, सानत्कुमारादि कल्पो और कल्पातीत विमानो मे सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयत-सम्यग्दृष्टि देवो का प्रत्येक स्थानो मे पृथक्-पृथक् प्रमाण पल्योपम के असख्यातवे भाग मात्र है।

जीवों के प्रमाण का अल्पबहुत्व—

चतुर्गतिषु संसारे मध्ये स्युः सकलाङ्गिनाम् ।
अत्यल्पा मानवाः श्रेण्यसंख्येय भाग मात्रकाः ॥१४४८॥
मनुष्येभ्योऽप्यसंख्यात गुणा नरक योनिषु ।
नारका स्युरसंख्याताः श्रेणयो दुःख विह्वला ॥१४४९॥
नारकेभ्योऽप्यसंख्यातगुणा देवाश्चतुर्विधाः ।
भवन्ति प्रतरासंख्येय भाग सम्मिताः शुभाः ॥१४५०॥
देवेभ्यः सिद्धनाथाः स्युरनन्त गुण मानकाः ।
सिद्धेभ्योऽखिल तिर्यञ्चः सन्त्यनन्तगुणप्रभाः ॥१४५१॥

इस चतुर्गति ससार मे पचेंद्रिय जीवो मे मनुष्य सबसे स्तोक है, इनका प्रमाण श्रेणी के असख्यातवें भाग मात्र है। नरक भूमियो में दुःख से विह्वल नारकी जीव मनुष्यो से असख्यात गुणे है, जो असंख्यात श्रेणी प्रमाण है। नारकियो से असख्यात-गुणे चतुर्निकाय के देव है, जो प्रतर के असख्यातवे भाग प्रमाण है। देवो से अनंतगुणे सिद्ध भगवान है, और सिद्धो से अनत गुणे तिर्यञ्च जीव है।

नरकगति की अपेक्षा अल्पबहुत्व—

सप्तमे नरके सन्ति सर्वस्तोकाश्च नारकाः ।
तभ्योऽपि नारकेभ्यः स्युरुपर्यु परिवर्तिषु ॥१४५२॥
षट् पृथिवी नरकेष्वत्र नारकाः सुखदूरगाः ।
असंख्यात गुणाः प्रत्येकं दुःखाम्बुधि मध्यगाः ॥१४५३॥

सप्तम नरक में नारकी जीव सबसे स्तोक है । सप्तम नरक से नारकियों से ऊपर ही छहो नरक पृथिवियो में दुःख रूपी समुद्र के मध्य डूबे हुए अत्यन्त दुःखी नारकी जीव असख्यात गुणे असख्यात गुणे अधिक अधिक हैं । अर्थात् सप्तम नरक के नारकियो से छठवे नरक के नारकी असख्यातगुणे, छठवे से पाचवे मे असख्यात गुणे इत्यादि ।

प्रश्नः—उन्हीं सप्तम नरक में अलग-अलग व्यास की संख्या किस प्रकार है ?

उत्तर :—अमीषा सप्त नरक पृथ्वीषु व्यासेन पृथक्-पृथक् सख्या निगद्यते ।

सप्तम पृथ्वी मे नारकी जीव सबसे कम अर्थात् श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण है । (सात राजू की श्रेणी होती है) श्रेणी के दूसरे वर्गमूल से श्रेणी को भागित करने पर जो लब्ध प्राप्त होता है, उतने प्रमाण सप्तम नरक के नारकी जीवो की सख्या है । सप्तम पृथ्वी से छठवी पृथ्वी में नारकी जीव असख्यात गुणे है । श्रेणी के तृतीय वर्गमूल से श्रेणी को अपहृत (भागित) करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतने प्रमाण नारकी जीव छठवी पृथ्वी मे है । छठवी पृथ्वी से पाचवी पृथ्वी के नारकी जीव असख्यात गुणे है । श्रेणी के छठवे वर्गमूल से श्रेणी को भागित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतने प्रमाण पाचवे नरक के नारकी जीवो की सख्या है । पाँचवी पृथ्वी से चतुर्थ पृथ्वी मे नारकी जीव असख्यात् गुणे हैं । श्रेणी के अष्टम वर्गमूल से श्रेणी को भाजित करने पर जितना लब्ध प्राप्त होता है, उतने ही प्रमाण चतुर्थ पृथ्वी के नारकी जीवो का है । चतुर्थ पृथ्वी से तृतीय पृथ्वी के नारकी जीव असख्यात गुणे हैं । श्रेणी के दसवे वर्गमूल से श्रेणी को भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उतनी सख्या प्रमाण जीव तृतीय पृथ्वी मे है । तृतीय पृथ्वी से द्वितीय पृथ्वी के नारकी जीव असख्यात गुणे है । श्रेणी के बारहवे वर्गमूल से श्रेणी को भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतने प्रमाण जीव द्वितीय पृथ्वी में है, वे श्रेणी के एक भाग प्रमाण प्राप्त होते है । द्वितीय से प्रथम पृथ्वी के नारकी जीव असख्यात गुणे हैं,

वे सख्या मे घनागुल के वर्गमूल प्रमाण श्रेणियो के बराबर है, अर्थात् श्रेणी को घनागुल के वर्गमूल से गुणित करने पर जो सख्या प्राप्त हो तत्प्रमाण (प्रथम पृथ्वी मे नारकी) है।

तिर्यञ्चगति की अपेक्षा अल्पबहुत्व—

पञ्चेन्द्रिया हि तिर्यञ्चः सर्वस्तोका महीतले।
भवन्ति प्रतरासंख्यातभाग प्रमितास्ततः ॥१४५४॥
पञ्चाक्षेभ्यश्चतुर्याक्षाः स्युर्विशेषाधिका भुवि।
स्वकीय राश्य संख्यात भाग मात्रेण दुःखिनः ॥१४५५॥
तुर्याक्षेभ्यस्तथा द्वीन्द्रिया- विशेषाधिका मताः।
विशेषा. स्वस्वराशेश्चासंख्यातभाग मात्रकाः ॥१४५४॥
द्वीन्द्रियेभ्यस्तथा त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः स्मृताः।
विशेषः स्वस्वराशेरसंख्येय भाग मात्रकाः ॥१४५७॥
त्रीन्द्रियेभ्यस्तथैकाक्षा अनन्तगुणसम्मिताः।
अथ वक्ष्ये नृणां संख्याल्पबहुत्वं यथागमम् ॥१४५८॥

तिर्यञ्च राशि की अपेक्षा संसार में पचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीव सर्व स्तोक अर्थात् प्रतर के असख्यातवे भाग प्रमाण है। पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो से अत्यत दुःख से युक्त चतुरिन्द्रिय जीव विशेष अधिक है। अर्थात् पचंद्रिय तिर्यञ्चो की राशि के असख्यातवे भाग प्रमाण अधिक है। चतुरिद्रिय जीवो से द्वीन्द्रिय जीव विशेष अधिक है। वह विशेष का प्रमाण अपनी-अपनी राशि अर्थात् चतुरिन्द्रिय राशि का असख्यातवा भाग है। द्वीन्द्रिय जीव राशि से त्रीन्द्रिय जीव विशेष अधिक है। विशेष का प्रमाण अपनी-अपनी राशि अर्थात् द्वीन्द्रिय जीव राशि का असख्यातवा भाग मात्र है। त्रीन्द्रिय जीव राशि के प्रमाण एकेन्द्रिय जीव राशि अनतगुणी अधिक है। अब मै आगम के अनुसार मनुष्यो की सख्या का अल्पबहुत्व कहूँगा।

मनुष्य गति में स्थित मनुष्यों का अल्पबहुत्व—

भवन्ति नृगतौ सर्वस्तोकाः संख्यातमानवाः।
अन्तर्द्वीपेषु विश्वेषु पिण्डितास्तेभ्य एव च ॥१४५९॥
अन्तर्द्वीप मनुष्येभ्यः संख्यातगुण सम्मिता।
दशसूत्कृष्ट सद्भोग भूमिषु प्रवरा नराः ॥१४६०॥

तेभ्यो मर्त्याश्च संख्यातगुणाधिका जिनैः स्मृताः ।
हरि रम्यक वर्षेषु द्विपञ्चसु सुभोगिनः ॥१४६१॥
तेभ्य आर्याश्च संख्यातगुणा दशसु सन्ति वै ।
सु हैमवत हैरण्य वतान्त भोग भूमिषु ॥१४६२॥
तेभ्योऽपि भरतैरावतेषु द्वि पञ्चसु स्फुटम् ।
कर्म भूमिषु संख्यात गुणा नराः शुभाशुभाः ॥१४६३॥
तेभ्यः पञ्चविदेहेषु संख्यात गुण मानवाः ।
तेभ्यः सन्मूर्छनोत्पन्ना असंख्यातगुणा नराः ॥१४६४॥
भवन्ति श्रेण्यसंख्यातैक भाग मात्रका अपि ।
स च श्रेणेरसंख्यात भाग आख्यात आगमे ॥१४६५॥
असंख्य योजनैः कोटि कोटि प्रदेश मात्रकाः ।
एते स्युर्लब्ध्यपर्याप्ता मर्त्याः सन्मूर्छनोद्भवाः ॥१४६६॥
नाभौस्तानान्तरे योनौ कक्षायां च निसर्गतः ।
सूक्ष्मा नरा इमे स्त्रीणां जायन्ते दृष्टयगोचराः ॥१४६७॥
शेषा ये गर्भजा मर्त्याः पर्याप्तास्ते न चेतराः ।
अथ देवगतौ वक्ष्येऽल्प बहुत्वं जिनागमात् ॥१४६८॥

मनुष्यगति में लवणोदधि और कालोदधि समुद्रो मे स्थित ९६ अंतर्द्वीपो के मनुष्यो का प्रमाण एकत्रित करने पर भी वे सर्व स्तोक हैं। अतर्द्वीपो के मनुष्यो से पञ्चमेरु सम्बधी दश उत्कृष्ट भोग भूमिणे के मनुष्य सख्यात गुणे है।

उत्कृष्ट भोगभूमियो के मनुष्यो से पञ्चमेरु सम्बधी हरि-रम्यक नामक दश मध्यम भोग भूमियो के मनुष्य सख्यात गुणे हैं।

मध्यम भोग भूमियो से हैमवत-हैरण्यवत नामक १० जघन्य भोग भूमियों के मनुष्य संख्यात गुणे हैं, और जघन्य भोगभूमियो के प्रमाण से पञ्च भरत, पञ्च ऐरावत नामक दश कर्मभूमियों में शुभ-अशुभ कर्मों से युक्त मनुष्य सख्यात गुणे हैं।

/ कुभूमिज मनुष्यों के प्रमाण से पचविदेह क्षेत्रो मे मनुष्य सख्यात गुणे हैं और विदेहस्थ मनुष्यों के प्रमाण से सम्मूर्च्छन मनुष्यो का प्रमाण असख्यात गुणा है। जो श्रेणी के असख्यात भागो में से एक भाग मात्र है।

आगम में उस श्रेणी के असख्यातवें भाग का प्रमाण असंख्यात कोटा-कोटी

योजन क्षेत्र में जितने प्रदेश होते हैं, उतने प्रमाण कहा है, अतः सम्मूर्च्छन जन्म वाले लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यो का भी यही प्रमाण है।

दृष्टि अगोचर ये सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य कर्मभूमिज स्त्रियो की नाभि, योनि, स्तन और कांख मे स्वभावतः उत्पन्न होते है।

इन अपर्याप्तक मनुष्यो के अवशेष गर्भज मनुष्य पर्याप्त ही होते है, अपर्याप्तक नही। अब आगमानुसार देवगति में अल्पबहुत्व कहते है।

देवगति की अपेक्षा अल्पबहुत्व—

विमानवासिनः स्तोकादेवा देव्यो भवन्ति च।
तेभ्योऽसंख्य गुणाः सन्ति दशधा भावनामराः ॥१४६९॥
तेभ्योऽसंख्यगुणा देवा व्यन्तरा अष्टधा मताः।
तेभ्यः पञ्चविधा ज्योतिष्काः संख्यातगुणाः स्मृताः ॥१४७०॥

देवगति मे विमानवासी देव देवियो का प्रमाण सर्वस्तोक है। विमानवासी देवों के प्रकार से दश प्रकाश के भवनवासी देवो का प्रमाण असख्यात गुणा है। भवनवासी देवों से आठ प्रकार के व्यन्तर देवो का प्रमाण असख्यात गुणा है। और व्यन्तर देवों से पांच प्रकार के ज्योतिषी देवो का प्रमाण सख्यात गुणा है।

देवों का भिन्न-भिन्न अल्पबहुत्व—

देवगति गत सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र देव सबसे स्तोक है। इनसे विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित मे तथा नवोत्तर विमानो मे स्थित सर्व अहमिन्द्र देव असख्यात गुणे अर्थात् पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण है। इनसे नवग्रैवेयक, आनत, प्रानत, आरण और अच्युत स्वर्गो के देव सख्यात गुणे अर्थात् पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण है। इनसे शतार-सहस्त्रार स्वर्ग के देव असंख्यात गुणे अर्थात् श्रेणी के चतुर्थ वर्गमूल का श्रेणी में भाग देने पर जो लब्ध्य प्राप्त हो उसके एक भाग प्रमाण है। इनसे शुक्र-महाशुक्र कल्प के देव असख्यात गुणे अर्थात् श्रेणी के पचम वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भाग प्रमाण है। इनसे लान्तव, कापिष्ट कल्प के देव असख्यात गुणे अर्थात् श्रेणी के सप्तम वर्गमूल से खण्डित श्रेणी के एक भाग प्रमाण हैं। इनसे ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर कल्प के देव श्रेणी के नवम वर्गमूल से खण्डित श्रेणी के एक भाग प्रमाण है। इनसे सानतकुमार-महेन्द्र कल्प के देव असख्यात गुणे अर्थात् श्रेणी के ग्यारहवे वर्गमूल से खण्डित श्रेणी के एक भाग प्रमाण है। इनसे सौधर्मैशान

कल्प के देवों का प्रमाण असंख्यात गुणा है। सौधर्म स्वर्ग से सर्वार्थसिद्धि पर्यंत के सर्व-विमानवासी देव असंख्यात श्रेणी प्रमाण है। अर्थात् घनांगुल के तृतीय वर्गमूल से कुछ अधिक प्रमाण श्रेणिया है। इनसे असंख्यात गुणे दश प्रकार के भवनवासी देव हैं, जो असंख्यात श्रेणी प्रमाण अर्थात् घनांगुल के प्रथम वर्गमूल का जितना प्रमाण है, उतनी श्रेणियों के प्रमाण है। इनसे असंख्यात गुणे आठ प्रकार के व्यन्तर देव हैं, वे जगप्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण अर्थात् संख्यात प्रतरागुलो से श्रेणी को भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतनी श्रेणियाँ प्रमाण है। इनसे सख्यात गुणे पांच प्रकार के ज्योतिषी देव है। वे ज्योतिप देव जगत्प्रतर के असख्यात भाग प्रमाण है। अर्थात् पूर्वोक्त संख्यात प्रतरांगुलों से संख्यातगुणे हीन प्रतरागुलो द्वारा श्रेणी को खण्डित करने पर जो प्रमाण आवे उतनी श्रेणिया है।

जीवों की पर्याप्तियां और प्राणों का कथन—

आहारोऽथ शरीरं चेन्द्रियान प्राण संज्ञकौ।
भाषा मन इमाः षट्स्युः पर्याप्तयोऽत्र संज्ञिनाम् ॥१४७१॥

असंज्ञि विकलाक्षाणां स्युस्ताः पञ्च मनो विना।
एकाक्षाणां चतस्त्रश्च पर्याप्तयो वचो विना ॥१४७२॥

पञ्चेन्द्रियाह्वयाः प्राणा मनोवाक्काय जास्त्रयः।
आन प्राणास्तथायुश्चामी प्राणा दश संज्ञिनाम् ॥१४७३॥

असंज्ञिनां नव प्राणास्ते भवन्ति मानो विना।
चतुरिन्द्रियजीवानामष्टौ श्रोत्रं विनापरे ॥१४७४॥

त्रीन्द्रियाणां च ते प्राणाः सप्त चक्षुर्विना स्मृताः।
द्वीन्द्रियाणां च षट् प्राणाः सन्ति घ्राणेन्द्रियं विना ॥१४७५॥

पृथिव्यादि वनस्पत्यन्त पञ्चस्थावरात्मनाम्।
एकाक्षाणां चतुः प्राणा रसनाक्ष वचोऽतिगाः ॥१४७६॥

पञ्चेन्द्रियाह्वयाः प्राणा आयुः शरीरमित्यमी।
सप्तप्राणा अपर्याप्तसंज्ञि पञ्चाक्षजन्मिनाम् ॥१४७७॥

पञ्चाक्षायुः शरीराख्याः प्राणाः सप्त भवन्ति च।
असंज्ञिनाम पर्याप्त पञ्चेन्द्रियास्त देहिनाम् ॥१४७८॥

चत्वार इन्द्रियः प्राणा आयुः काय इमे मताः ।
प्राणाः षट् भुव्यपर्याप्त चतुरिन्द्रिय जन्मिनाम् ।।१४७९।।

स्पर्शाक्षरसन घ्राणाक्षायुः काया अपीत्यमी ।
प्राणाः पञ्चह्यपर्याप्त त्रीन्द्रिया सुमतां स्मृताः ।।१४८०।।

स्पर्श जिह्वाक्ष कायायुः प्राणाश्चत्वार एव हि ।
आगमे कीर्तिता द्वीन्द्रिया पर्याप्ताङ्गिनां जिनैः ।।१४८१।।

स्पर्शेन्द्रिय शरीरायुः प्राणास्त्रयो मता जिनैः ।
अपर्याप्त पृथिव्यादि पञ्चस्थावर जन्मिनाम् ।।१४८२।।

गृहीत आहार वर्गणा को खल-रस अदि रूप परिणमाने की जीव की शक्ति के पूर्ण होने को पर्याप्ति कहते है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इस प्रकार पर्याप्ति के छह भेद हैं। सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के छहो पर्याप्तियाँ होती है।

असज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के और विकलेन्द्रिय–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जीवो के मन पर्याप्ति के विना पाँच तथा एकेन्द्रिय जीवो के मन और वचन के बिना चार पर्याप्तियाँ होती है।

प्राण :– (जिनके सद्भाव मे जीव मे जीवितपने का और वियोग होने पर मरणपने का व्यवहार हो, उन्हे प्राण कहते है)। पाच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु कर्ण) प्राण मनोबल, वचन वल और काय बल के भेद से तीन बल प्राण एक श्वासोच्छ्वास और एक आयु, इस प्रकार दश प्राण होते है। असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो के मनोवल को छोडकर, शेष नव प्राण होते है, चतुरिन्द्रिय जीवो के श्रोत्रेन्द्रिय को छोडकर आठ प्राण, त्रीन्द्रिय जीवो के चक्षु को छोड़कर, सात प्राण और द्वीन्द्रिय जीवो के घ्राणेन्द्रिय को छोडकर शेष छह प्राण होते हैं। पृथिवी कायिक से लेकर वनस्पति कायिक पर्यन्त, पांचो स्थावर जीवो के रसनेन्द्रिय और वचनबल को छोडकर शेष चार प्राण होते है। सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवो के पाच इन्द्रियां कायबल और आयु इस प्रकार सात प्राण होते है। असज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवो के पांच इन्द्रियां, कायवल और आयु ये ही सात प्राण होते है। अपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय जीवो के चार इन्द्रियां, आयु और काय वल ये छह प्राण होते

है। अपर्याप्तक त्रीन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रिया, आयु और कायबल, ये पांच प्राण होते है। जिनेन्द्रो के द्वारा आगम मे अपर्याप्तक द्वीन्द्रिय जीवो के स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय आयु और कायबल, ये चार प्राण कहे गये है। जिनेन्द्र के द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल और आयु ये तीन प्राण अपर्याप्तक पृथिवी आदि पांच स्थावर जीवों के कहे गये हैं।

जीवों की गति-आगति का प्रतिपादन—

ये पृथ्वीकायिकाप्कायिका वनस्पति देहिनः।
द्वि त्रितुर्याक्ष पञ्चाक्षा लब्ध्य पर्याप्त काश्च ये ॥१४८३॥
पृथ्व्यादिक वनस्पत्यन्ताः सूक्ष्माः निखिलाश्च ये।
जीवाः पर्याप्त का पर्याप्ताप्ते जीवायुकायिकाः ॥१४८४॥
सूक्ष्म बादर पर्याप्ता पर्याप्ताः सकलाश्च ते।
असंज्ञिनश्च सर्वेषां तेषां मध्ये विधेर्वशात् ॥१४८५॥
उत्पद्यन्ते व्रतातीता स्तिर्यञ्चो मानवाः अघात्।
तस्मिन्नेव भवे मृत्वा स्वार्तध्यानकुलेश्यया ॥१४८६॥
पृथ्वीकायास्तथाप्कायिका वनस्पतिकायिकाः।
सूक्ष्म बादर पर्याप्त पर्याप्ता विकलेन्द्रियाः ॥१४८७॥
एते कर्म लघुत्वेन जायन्ते तद्भवे मृताः।
नृतिर्यग्भवयोर्मध्ये काललब्ध्या न संशयः ॥१४८८॥
सूक्ष्म बादर पर्याप्ता पर्याप्तनलकायिकाः।
सूक्ष्म बादर पर्याप्तापर्याप्तवायुकायिकाः ॥१४८९॥
न लभ्यन्ते मनुष्यत्वं मृत्वा तस्मिन् भवे क्वचित्।
किन्त्वेते केवलं तिर्यग्योनिं यान्ति कुकर्मभिः ॥१४९०॥
प्रत्येकाख्य वनस्पत्यङ्गिषु पृथ्व्यम्बुयोनिषु।
बादरेषु च पर्याप्तेषु जायन्ते विधेर्वशात ॥१४९१॥
आर्तध्यानेन दुर्मृत्युं प्राप्य संक्लिष्ट मानसाः।
तिर्यञ्चो मानवा देवास्तस्मिन्भवे व्रतातिगाः ॥१४९२॥
नृगतौ भोगभूम्यादि वर्जितायां सुरेषु च।
भावन व्यन्तर ज्योतिष्कजेषु नरकादिमे ॥१४९३॥

कर्म भूमिजतिर्यग्योनिषु सर्वासु तद्भवे ।
तिर्यश्चोऽसंज्ञि पर्याप्ता उत्पद्यन्ते स्वकर्मणा ।।१४९४।।
तिर्यञ्चो मानवा भोगभूजास्तद्भोगजास्तथा ।
यान्ति देवालयं सर्वे नूनं मन्द कषायिणः ।।१४९५।।

पृथिवीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय इन लब्ध्यपर्याप्तक जीवो मे पर्याप्त एव अपर्याप्तक सूक्ष्मकाय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक जीवो मे समस्त अग्नि कायिक, वायु कायिक जीवो मे तथा सम्पूर्ण असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक अपर्याप्तक जीवो मे पाप कर्म के वशीभूत होते हुए व्रत रहित तिर्यञ्च और मनुष्य उत्पन्न होते है, तथा आर्तध्यान एव कुलेश्याओ से युक्त सूक्ष्म-बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक पृथिवी कायिक, जल कायिक, वनस्पतिकायिक जीव एव पर्याप्तक अपर्याप्तक विकलेन्द्रिय जीव इन पर्यायो से मरकर कर्मो के कुछ मदोदय से एव काललब्धि से मनुष्यो तथा तिर्यञ्चो मे उत्पन्न होते है। सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक और अपर्याप्तक अग्नि कायिक जीव तथा सूक्ष्म-बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक वायु कायिक जीव इन भवो से मरकर कभी भी मनुष्य पर्याय प्राप्त नही करते, दुष्कर्मो के कारण मात्र तिर्यञ्च योनियो मे ही उत्पन्न होते है। सक्लेश परिणामों से युक्त तथा व्रत रहित तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आर्त्तध्यान एव कर्मोदय के वश से दुर्मृत्यु को प्राप्त होकर बादर पर्याप्तक पृथिवीकायिक, जलकायिक और प्रत्येक वनस्पति कायिक जीवो मे उत्पन्न होते है। अपने कर्मो के वशीभूत होते हुए, असज्ञी पर्याप्त पचेन्द्रिय तिर्यञ्च मरकर भोग भूमिज मनुष्यो को छोडकर मनुष्यगति मे, भवन वासी, व्यन्तरवासी और ज्योतिष्क रूप देवगति मे, प्रथम नरक मे तथा कर्मभूमिज तिर्यञ्च योनि मे उत्पन्न होते है। भोग भूमिज तिर्यञ्च और मनुष्य नियम से देवो में ही उत्पन्न होते हैं, क्योकि वे स्वभाव से मन्दकषायी होते है।

धर्म प्राप्ति के लिए जीव रक्षा का उपदेश—

इति विविध सुभेदैर्जीवयोनीर्विदित्वा,
गतिकुलवपुरायुः स्थान संख्याद्यनेकैः ।
स्वपरहित वृषाप्त्यै प्रोदिता ज्ञान दृष्टया,
सुचरण शिव कामाः स्वात्मवत्पालयन्तु ।।१४९६।।

इस प्रकार उत्तम चारित्र के साथ-साथ मोक्ष की इच्छा करने वाले सज्जन पुरुषो को स्वपर हितकारी धर्म की प्राप्ति के लिए जीवो की गति, कुल, शरीर, आयु, संस्थान और संख्या आदि के द्वारा नाना प्रकार के भेदों को ज्ञान चक्षु से भली प्रकार जानकर अपनी आत्मा के सदृश ही जीवो की रक्षा करना चाहिये।

(सिद्धान्त सार दीपक, सकल कीर्ति आचार्य)

प्रश्न :—उद्वेलना और विसंयोजना में क्या अन्तर है ?

उत्तर :—मूल प्रकृति की उद्वेलना और विसयोजना होती नही है, उत्तर-प्रकृति अपने रूप खिरती नही है, पर प्रकृति में मिलकर खिर जाती है, फिर सत्ता मे नही रहती है, उसे उद्वेलना कहते है। और जो उत्तर प्रकृति अपनी जातीय प्रकृति मे मिल जाती है, उसे विसयोजना कहते है। उद्धारण, जैसे अनतानुबधी अप्रत्याख्याना-वरण में। यहां विशेष इतना समझना—उद्वेलन की हुई प्रकृति, फिर से बन्ध किये बिना उदय में नही आती है। और विसयोजना वाली उदय मे आती है।

प्रश्नः —अन्तर्मुहूर्त के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—एक आवली एक समय को जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। एक समय कम मुहूर्त को उत्कृष्ट अतर्मुहूर्त कहते है तथा भिन्न मुहूर्त कहते है—मध्य के असंख्यात भेद हैं।

प्रश्नः —आवली का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—एक मुहूर्त के संतीस सौ तिहत्तर स्वासोच्छ्वास होते है। एक स्वासोच्छ्वास् में कोडा कोडी आवली से कुछ अधिक ही होती है। यहा कोई कहता है कि हम तो अंगुली के आवर्त को आवलि जानते है, सो उपरोक्त काल तो बहुत थोड़ा हुआ। उसका समाधान करते है।

आवलि असख समया सखेज्जावलिहवेइ उस्सासो।

गोमट सार जीव कांड, गा २१,

प्रश्न :—सम्यग्दृष्टि आदि परस्पर असंख्यात गुणी अधिक निर्जरा वाले कहे हैं, सो उनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्त वियोजक, दर्शन मोह, क्षपक उपशमक, उपशांतमोह, क्षायिक, क्षीणमोह, जिन ये दशविध के पुरुष जानने। प्रथम ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के पहले करणत्रय के परिणाम के चरम समयवर्ती

विशुद्धि विशिष्ट मिथ्यादृष्टि के जो निर्जरा होती है, उससे असंख्यात् गुणी निर्जरा चौथे गुणस्थान वाले अविरत सम्यग्दृष्टि के होती है। ऐसे ही क्रमशः एक से आगे एक की असख्यात गुणी निर्जरा होती है।

प्रश्न :—केवलि समुद्घात के आठ समय हैं, उनमें त्रस नाडी के बाहिर जीव के प्रदेश कौन से समय में होते हैं?

उत्तर :—तेरहवे गुणस्थान के अन्त मे आत्मप्रदेश की प्रसरण संवरण रूप क्रिया आठ समय के अन्दर होती है, वहा केवली जो कायोत्सर्गासन सहित होता है, तो बारह अगुल प्रमाण समवृत अथवा मूल शरीर प्रमाण समवृत्त उपविष्ट होता है, तो मूल शरोर ते त्रिगुणे मोटाई सहित तीनो वातवलय हीन लोक नाड़ी प्रमाण उर्द्ध दडाकार आत्म प्रदेश प्रथम समय मे करे। यहा प्रदेश त्रस नाडी के बाहर नहीं गये, तदनन्तर जो केवल पूर्व मुख होगे तो दक्षिणोत्तर मे वालवलय हीन चौदह राजू ऊर्द्धलोक के अन्त तक विस्तीर्ण, दण्ड प्रमाण दल सयुक्त और उत्तर मुख होगे तो पूर्व पश्चिम में वातवलय हीन चौदह राजू ऊर्द्ध लोक के अन्त तक विस्तीर्ण दड प्रमाण दल सयुक्त आत्म प्रदेश को कपाटाकार दूसरे समय करते है। यहा लोक नाड़ी के बाहर आत्म प्रदेश गए। तदन्तर वातवलय के समस्त लोक व्यापि आत्मप्रदेशनिको, प्रतर, अपर समस्थान नाम समुद्धात करते है। यह आकार तीसरे समय मे करता है, यहा आत्म प्रदेश बाहर गये। तदनन्तर वातवलय समेत सम्पूर्ण लोक व्यापी आत्म-प्रदेशो को लोकपूर्ण रूप चौथे समय मे करता है। यहा भी आत्म प्रदेश बाहर गये। ऐसे चार समय के अन्दर प्रदेश फैलते हैं, और च्यार समय मे ही सकोचते है। पहले समय मे लोक पूर्ण सकोचते है। दूसरे समय में प्रतर रूप, तीसरे समय के कपाट रूप, चौथे समय मे दड के रूप, वहां दण्ड के प्रसरण और सवरण रूप मे दो समय औदारिक योग है। औदारिक शरीर योग पुद्गल का ग्रहण करता है। कपाट के प्रसरण सवरण के अन्दर प्रत्येक सवरण मे तीन समय औदारिक मिश्र योग है। वहा औदारिक मिश्र शरीर योग्य पुद्गल का ग्रहण करता है। प्रतर के प्रसरण मे लोक पूरण के प्रसरण सवरण मे तीन समय कार्माणयोग है। यहां कोई भी जो कर्म सबधी पुद्गल का ग्रहण नही है, इसीलिए ये अनाहारक है। इस प्रकार आठ समय मे केवल समुद्घात का वर्णन किया।

प्रश्न :—चौबीस तिर्थंकरों में कौन-कौनों ने समुद्घात किया ?

उत्तर :—अजितनाथ और विमलनाथजी ने समुद्घात किया।

१६९ महापुरुषोंव का वर्णन—

भरत क्षेत्र में जिनागम मे १६९ महापुरुष कहे गए हैं। ये विशेष पुण्याधिकारी होते हुए अंत मे मोक्ष पदवी को प्राप्त करते हैं। उनके विषय मे ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला जाता है।

क्रमांक	१६९ महापुरुषो के नाम	सख्या	विशेष कथन
१	कुलकर या मनु	१४	ये तीसरे काल के अंत मे होते हैं। तथा सभी उर्ध्वगामी होते है
२	तीर्थंकरों के पिता	२४	सभी उर्ध्वगामी होते है।
३	तीर्थंकरों की माता	२४	सभी उर्ध्वगामी होती है।
४	तीर्थंकर	२४	ये सब चौथे काल मे होते हैं और सभी मोक्षगामी होते है।
५	सकल चक्रवर्ती	१२	कोई मोक्षगामी कोई उर्ध्वगामी कोई अधोगामी होते हैं।
६	बलदेव	९	सभी उर्ध्वगामी होते हैं।
७	वासुदेव (नारायण)	९	सभी अधोगामी होते हैं।
८	प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण)	९	" " "
९	नारद	९	" " "
१०	रुद्र	११	" " "
११	कामदेव	२४	सब मोक्षगामी होते हैं।
		१६९	

इन १६९ महापुरुषों में इस हुंडावसर्पिणी काल के प्रभाव से कुछ सख्या मे न्यूनता आ गई है। इसलिये शाँतिनाथ, कुन्थुनाथ तथा अरनाथ इन तीन तीर्थंकरो

को कामदेव तथा चक्रवर्ती इन दो पदवियो के भी स्वामी कहे गये है। इस प्रकार ये तीन पदवी तीर्थकर, कामदेव तथा चक्रवर्नी पदवी के धारक कहे गये हैं अतएव व्यक्तियो की गणना की अपेक्षा १६३ महापुरुष हुये है।

प्रश्न :—त्रेसठ शलाका महापुरुष कौन से है ?

उत्तर —१६९ पुण्य पुरुषो मे चौबीस तीर्थकर, द्वादश चक्रवर्ती, नव वासुदेव नव प्रतिवासुदेव इस प्रकार ६३ सत्पुरुषो को त्रेसठ शलाका महापुरुप कहते हैं।

यह कथन जम्बूद्वीप सम्वन्धी भरत क्षेत्र की अपेक्षा हैं। धातकी खंड द्वीप मे दो भरत क्षेत्र है। इसी प्रकार पुष्करार्ध द्वीप मे भी दो भरत क्षेत्र हैं। इन चारों क्षेत्रो मे जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र समान १६९ पुण्य पुरुष माने गये है। पंच ऐरावत क्षेत्रो के विपय मे भी ऐसा ही कथन पाया जाता है। पच भरत पच ऐरावत के समान पच विदेह भी कहे गये हैं। प्रत्येक पूर्वापर विदेह मे जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के समान वत्तीस-बत्तीस देश है। विदेह मे सदा चौथे काल सदृश रचना पाई जाती है। यही बात त्रिलोकसार सस्कृत टीका पृ० ३५२ गाथा ८८२ में इस प्रकार कही गई है :—

'चतुर्थ कालो विदेहे चावस्थित एव' विदेह मे चतुर्थकाल अवस्थित ही रहता है।

भरह इरावद पण-पण मलेच्छखंडेसु खयर सेढीसु।
दुस्समसुसमादीवो, अंतोत्तिय हाणिबड्ढी य ॥१४९७॥

अर्थ—भरत तथा ऐरावत क्षेत्र सम्वन्धी पाच-पांच म्लेच्छ खंडो के तथा विद्याधर श्रेणियो में चतुर्थ काल के आदि से अत पर्यंत आयु आदि सम्वन्धी हानि होती है। वहाँ पचम काल तथा छठवा काल नही होते है, उत्सर्पिणी काल में तृतीय काल के आरम्भ से लेकर उसके अत पर्यन्त वृद्धि होती है। वहा चतुर्थ, पंचम तथा पष्ठम काल नहो होते। कहा भी है, (अवसर्पिण्या) पंचम पष्ठ कालो ने प्रवर्तेते। उत्सर्पिण्या तु तृतीय काल· स्यादित आरभ्य तस्यैवांत पर्यन्त वृद्धि खे स्यात्। तत्र चतुर्थ पचम पष्ठ काला न प्रवर्तन्ते। पृष्ठ ३५२.

पढमोदेवे चरिमो णिरए तिरिये णरेवि छक्काला।
तदियो कुणरे दुस्सम दुस्समसरिसो चरिमुवहिदीवद्धे॥१४९८॥

(सं. छाया)—प्रथमो देवे चरमो नरके तिरश्चि नरेपि षट् कालाः।
तृतीयः कुनरे दुःषमसदृश चरमोदधिद्वीपार्धे॥

देवगति में प्रथम काल है। नरक में छठवां काल है। तिर्यञ्चगति तथा मनुष्य गति मे छह काल होते है। कुमनुष्य भोग भूमि मे तीसरा काल रहता है! स्वयभूरमण द्वीपार्ध मे तथा स्वयंभूरमण समुद्र मे पचमकाल समान काल पाया जाता है।

सिद्धान्त सार दीपक मे कहा है—

विजयार्धे नगेष्वत्र म्लेच्छखंडेषु पंचसु।
चतुर्थ काल एवास्ति शाश्वतो निरूपद्रवः ॥१४६६॥

विजयार्ध पर्वतो मे पच म्लेच्छ खंडो मे सदा उपद्रवरहित चतुर्थकाल रहता है।

नागेन्द्र पर्वताद्बाह्ये स्वयंभूरमणार्णवे।
स्वयंभूरमण द्वीपार्धे कालः पंचमोऽव्ययः ॥१५००॥

नागेन्द्र पर्वत के बाहर स्वयभूरमण द्वीप के अर्ध भाग मे तथा स्वयभूरमण समुद्र मे अविनाशी पंचम काल रहता है।

विदेह क्षेत्र में सदा चतुर्थ काल रहने से शलाका पुरुष सदा पाये जाते है। भरत क्षेत्र में छह प्रकार का काल चक्र चलता रहता है। अतः यहाँ अवसर्पिणी के चतुर्थ काल में तथा उत्सर्पिणी के तृतीय काल मे तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, आदि महापुरुषो का सद्भाव पाया जाता है।

शंका :—छह तीर्थंकर–चक्रवर्ती और कामदेव पद–भगवान शांतिनाथ, कुन्थुनाथ तथा अरनाथ तीर्थंकर, चक्रवर्ती तथा कामदेव हुये हैं, अतएव कोई यह सोचते हैं कि शेष इक्कीस तीर्थंकर का पुण्य, प्रभाव तथा सौन्दर्य पूर्वोक्त तीर्थंकर त्रय की अपेक्षा न्यून होगा?

समाधान—जगत् मे प्रत्येक दृष्टि से तीर्थकर का पद श्रेष्ठ कहा गया है। जिस प्रकार प्रकाश में सूर्य के तेज की श्रेष्ठता को सभी स्वीकार करते है, इसी प्रकार रूप प्रभाव, पुण्य, प्रताप आदि समस्त गुणो की अपेक्षा तीर्थङ्कर भगवान के समान अन्य नही है।

धवला टीका में लिखा है—

सकल भुवनैक नाथस्तीर्थंकरो वर्ण्यते मुनिवरिष्ठैः।
विधुधवलचामराणां तस्य स्याद्वै चतुःषष्ठि ॥१५०१॥

अर्थ—मुनीन्द्रो ने तीर्थंकर को त्रिभुवन का अद्वितीय स्वामी कहा है। उनके ऊपर चन्द्रोज्वल चौसठ चामर ढुराये जाते है।

त्रिलोक सार में लिखा है—

सयणभुवणेक्कणाहो तित्थयरो कोमुदीव कुंदंबा।
धवलेहिं चायरेहिं चउसट्ठिहि विज्जभाण्णो सो ॥१५०२॥

अर्थ—जो तीन लोक के अद्वितीय स्वामी हैं। चान्दनी के समान अथवा कुन्द पुष्प के समान धवल चौसठ चामर जिन पर ढुराये जाते है, वे तीर्थंकर भगवान है।

अकलक स्वामी ने राजवार्तिक मे लिखा है, 'यस्योदयात् आर्हंत्यमचिंत्य-विभूति विशेष युक्त मुमजायते तत्तीर्थकरत्व नाम कर्म प्रतिपत्तव्यं(पृ. ३०९) जिस कर्म के उदय से अचित्य अर्थात् जिसकी कल्पना तक न की जा सके, ऐसी विभूति विशेष युक्त अर्हंत पद प्राप्त हो, उसे तीर्थंकरत्व नाम कर्म जानना चाहिये।

स्वामी समतभद्र ने तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली अर्हंत पदवी को अचिंत्य कहा है, अद्भुत होने के साथ त्रिलोक द्वारा पूजा अर्थात् स्तुति का पात्र कहा है। स्वयभू स्तोत्र मे पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति में उनने अर्हंत भगवान के प्रति पूर्वोक्त विशेपणो का प्रयोग किया है।

स्वयोगनिस्त्रिंशनिशात धारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम्।
अवापदार्हंत्यमचिंत्यद्भुतं त्रिलोक पूजातिशयास्पदं पदम् ॥१५०३॥

अतएव तीर्थंकर पदवी के समक्ष कामदेव पदवी अथवा चक्रवर्ती की वैभव-विभूति अपनी विशेषता नही रखती। जिस प्रकार सूर्य का नभोमंडल में प्रकाश व्याप्त होने पर रात्रि के समय अपनी ज्योत्स्ना द्वारा जगत् को आनदित करने वाला चंद्र पलाशपत्र के समान पाडुर वर्णयुक्त हो जाता है, 'यद्वासरे भवति पाण्डु पलाश-कल्पम्' उसका रच मात्र भी महत्व नही रहता है और न उसके प्रकाश का स्वतंत्र पता चलता है, उसी प्रकार तीर्थङ्कर प्रकृति रूप सूर्य के प्रकाश फैलने पर चक्रवर्तित्व अथवा कामदेव पने की विशेषता उस पुण्य सिधु में विलीन हो जाती है।

कामदेव, सौन्दर्य का अप्रतिम पुंज माना गया है, किन्तु उसकी तुलना तीर्थं-कर से नही हो सकती। तीर्थङ्कर भगवान के जन्म होते ही जन्मोभिषेक के लिये उनको मेरु पर ले जाते समय इंद्र प्रभु के सौन्दर्य को देखकर इतना चकित

कि वह विस्मय युक्त हो प्रभु के रूप सुधा पान की लालसावश अपने दो नेत्रो के स्थान में हजार नेत्र बनाता है। यही बात समन्त भद्र स्वामी ने अरनाथ भगवान की स्तुति में कहा है—

तवरूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान्।
द्व्यक्षः शक्रः सहस्त्राक्षो बभूव बहुविस्मयः ॥१५०४॥

ऐसा सौन्दर्य कामदेव मे कहाँ पाया जाता है कि देवेन्द्र तक विस्मय के सिंधु में डूब जांय ?

मानतुंगाचार्य जिनेन्द्र के सौन्दर्य के विषय में लिखते है—

यैः शांतरागरूचिभिः परमाणुभिस्त्वम्।
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललाम भूत ॥
तावंत एवं खलु तेऽप्यणवः पृथिव्याम्।
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥१५०५॥

हे त्रिलोक मे शोभायमान जिनेन्द्र! जिन शाततापरिपूर्ण परमाणुओ द्वारा आपके शरीर की रचना हुई है, वे परमाणु जगत् मे उतने ही थे, इसी कारण आपके समान सुन्दर अन्य व्यक्ति नही पाया जाता।

महावैभव तथा विभूति का अधिपति भी तीर्थकर के चरणो को प्रमाण करता है, क्योंकि ज्ञान साम्राज्य के अधिपति तथा धर्मचक्र के स्वामी तीर्थङ्करत्व के समक्ष चक्रवर्ती पद तथा कामदेव पद विशेषता धारण नही करते।

शंका :—तीर्थङ्कर भगवान की विशेषता में कहा गया संपूर्ण कथन हमें मान्य हैं, फिर भी यह जानना है कि तीर्थङ्करत्व के साथ उपरोक्त चक्रवर्ती और कामदेव पदवी का संयोग उनमें अन्य तीर्थङ्करो की अपेक्षा कोई विशेषता उत्पन्न करता है या नहीं ?

समाधान—लोक व्यवहार में शातिनाथादि तीन तीर्थङ्करो को तीन पदवी का धारक कहते है और शेष इक्कीस भगवान् की इस प्रकार स्तुति नही की जाती, इतना अतर तो उनमे है, किंतु परमार्थ दृष्टि से सब मे समानता है। एक उदाहरण से विषय स्पष्ट हो जायेगा। दिन के प्रकाश मे यदि कोई एक जगह दो दीपक जला दे, तो क्या उस उजले से सूर्य के प्रकाश मे वृद्धि हो जायेगी और उनके बुझाने से प्रकाश में न्यूनता आ जायगी ? सूर्य के प्रकाश के आगे दीपको का जलना ने जलना तनिक

भी महत्व नही रखता । इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान के कामदेव तथा चक्रवर्ती पदवी के धारण करने तथा न करने के विषय मे जानना उचित होगा । 'सर्वे पदा. हस्तिपदे निमग्नाः ।' हाथी के पांव के भीतर सभी के पाव समा जाते है, इसी प्रकार अचित्य, अद्भूत तथा त्रिलोक वद्य तीर्थंकर पदवी के समक्ष अन्य पदवियों का सद्भाव कोई विशेष महत्व नही रखता है ।

तीर्थंकर प्रकृति की श्रेष्ठता को सूचित करते हुये अकलंक स्वामी लिखते है:- 'तीर्थंकरत्व हि प्रधानंभूत सर्वेषु शुभकर्मसु ततस्तस्य पृथग्ग्रहण क्रियते' (राजवार्तिक पृ० ३१०) समस्त शुभ कर्मो मे तीर्थङ्करत्व प्रधान रूप है, इससे उसका नाम कर्म की प्रकृतियो मे पृथक् रूप से सूत्र मे उल्लेख किया गया है ।

त्रेसठ शलाका पुरुष कहाँ-कहाँ से आकर जन्म लेते है ?

मूलाचार में लिखा है—

णिरयेहिं णिग्गदाणं आणंतर भवेहिणत्थि णियमादु ।
बलदेव-वासुदेवत्तणं च तह चक्क वट्टित्तं ॥१५०६॥

अर्थ :- नरक से आने वाला जीव अनन्तर भव में बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती पद को प्राप्त नही करता है ।

स्वर्ग से आने वाला जीव उपरोक्त पदो को प्राप्त करता है । सिध्दान्तसार दोपिका मे लिखा है—

निर्गत्य नरकाज्जीवा चक्र`श-बल-केशवाः ।
तच्छत्रवो न जायंते चयंत्यते यतो दिवः ॥१५०७॥

नरक से निकलकर बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव और चक्रवर्ती पद को प्राप्त नही करते है।

स्वर्ग से आने वाले इन पद को धारण करते हैं ।

त्रिलोकसार में भी लिखा है—'णिरयचरोणत्थि हरिबल-चक्की'

मूलाचार में लिखा है—

माणुस तिरियाय तहा सलागपुरिसाण होंति खलुणियमा ।
तेसिं अणंतरभवे भयणिज्जं णिव्वुदीगमणं ॥१५०८॥

मनुष्य और तिर्यञ्च गति से आकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण प्रतिनारायण रूप शलाका पुरुप नही होते है ।

मूलाचार में यह भी लिखा है कि—

आजोदिसोत्ति देव सलागपुरिसा णहोंति खलु णियमा ।
तेसिं अणंतरभवे भयणिज्जं णिव्वुदीगमणं ॥१५०९॥

भवनत्रिक देवों में से आकर कोई शलाका पुरुष नहीं होते । यही बात त्रिलोकसार में भी इस प्रकार कही गई है ।

णर-तिरिय-गदीहिं तो भवणतियादोय णिग्गया जीवा ।
णलंहते ते पदवि तेसट्ठि-सलागपुरिसाणं ॥१५१०॥

अर्थ—मनुष्य तथा तिर्यञ्च गति से निकले तथा भवनत्रिक से निकले जीव त्रेसठ शलाका पुरुषो की पदवी को नहीं प्राप्त करते हैं ।

णिव्वुदिगमणे रामत्तणेयतित्थयर-चक्कवट्टि ते ।
अणुदिसणुत्तरवासी तदो चुदा होंति भयणिज्जा ॥१५११॥

अनुदिश तथा अनुत्तर विमानवासी देव चय कर बलदेव, तीर्थङ्कर तथा चक्रवर्ती पदवियां को प्राप्त कर सकते हैं ।

उपरोक्त आगम से यह बात स्पष्ट होती है कि नरक से चय कर तीर्थङ्कर पदवी के सिवाय चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव नहीं होते हैं । तीसरे नरक से निकला हुआ जीव तीर्थङ्कर हो सकता हैं । भवनत्रिक से चय कर तीर्थङ्कर चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुष नही होते । भावों की विचित्रता हैं कि भवनत्रिक रुप देवपर्याय वाला जीव तीर्थङ्कर नही होता और तीसरे नरक तक का नारकी तीर्थङ्कर हो सकता है । विमानवासी देव शलाका पुरुष हो सकता है ।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है :—

तित्थयरा-तग्गुरओ-चक्की-बलकेसि-रुद्द-णारद्दा ।
अंगज-कुलयर पुरिसा भविया सिज्झंति णियमेण ॥१५१२॥

तीर्थङ्कर, उनके माता-पिता, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण, रुद्र, नारद, कामदेव और कुलकर ये सभी भव्य रहते है और नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

प्रश्न—जगत में प्रसिद्ध पुरुष के नाम कौन से हैं ?

उत्तर—विशेष प्रसिद्ध हुए महापुरुषों के नाम—इन १६९ महापुरुषों में ये जगत् मे विशेष प्रसिद्ध हुये है :—

नाभिराज—मनु, कुलकरों में १४ वां कुलकर।

श्रेयांसराजा—दातृशिरोमणि हस्तिनापुर के राजा।

भरत चक्रवर्ती—श्री ऋषभनाथ भगवान के ज्येष्ठ पुत्र, भावों की निर्मलता मे विख्यात हुये, इन्होने अंतर्मुहूर्तकाल मे केवल ज्ञान प्राप्त किया।

बाहुबली—श्री ऋषभनाथ भगवान् के पुत्र, प्रथम कामदेव तप में प्रसिद्ध हुए। एक वर्ष कायोत्सर्ग आसन से खड़े रहे थे।

रामचन्द्र—अष्टम बलिभद्र।

हनुमान—१८वां कामदेव, के रूप में प्रसिद्ध हुए।

रावण—८वा प्रतिनारायण, यानी पुरुषो मे प्रसिद्ध हुये।

कृष्ण—९वा नारायण।

पार्श्वनाथ—स्वामी, तीर्थङ्कर, उपसर्ग केवली।

महादेव—११वां रुद्र, पार्वती का पति।

प्रश्न—कुलकर-मनु या युगादि पुरुषों का कार्य क्या था ?

उत्तर—भोगभूमि का अंत होते समय तथा कर्मभूमि के प्रारम्भकाल में विशेष परिवर्तन देखकर चकित और चिंतित मानव समाज को निराकुल बना ठीक मार्ग का प्रदर्शन करने वाले चौदह महापुरुष होते है। इनको 'कुलकर' कहते है। महापुराण मे लिखा है कि 'ये सब कुलकर अपने पूर्वभव विदेह क्षेत्र मे ऊच्चकुल वाले महापुरुष थे, उन्होने सम्यकत्व ग्रहण करने के पूर्व में पुण्यप्रद पात्र दान आदि उज्जवल कार्यो के द्वारा भोग भूमि की आयु बांध ली थी। पश्चात् जिनेद्र भगवान् के समीप क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया। और विशेष श्रुत ज्ञान की प्राप्ति की तथा आयु के अंत होने पर मरण कर वे इस भरत क्षेत्र मे उत्पन्न हुये थे। इनमें से कितने ही अवधिज्ञान रूपी नेत्र के धारक थे और कितने ही जाति स्मरण युक्त थे, इसलिये उन्होने विचार कर प्रजा के लिये उपकारी कार्यो का उपदेश दिया था (महापुराण पर्व ३ श्लोक २०७-२१०) जिनसेन स्वामी ने कहा है—'

प्रजानां जीवनोपायमननात्-मनवोमताः।
आर्याणां कुलसंस्त्यायकृतेः कुलकरा इमे ॥१५१३॥
कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति।
युगादिपुरुषाः प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णवः ॥१५१४॥

ये प्रजा के जीवन का उपाय जानने से 'मनु' कहे गये हैं। आर्य पुरुषो को कुल की भाति इकट्ठे रहने का उपदेश देने से कुलकर कहलाते थे। कुलो के अर्थात् वशो के धारण करने से अर्थात् उनका स्थापन करने से उन्हे कुलकर कहा गया है। युग के आरम्भ मे जन्म लेने से इन्हे युगादि पुरुष भी कहा है।

इन कुलकरों को हरिवशपुराण में महाप्रभाव सम्पन्न होने के साथ अपने जन्मातर के स्मरण समन्वित कहा है।

'महाप्रभावसम्पन्नः स्वभव स्मरणान्वित ।' (७-१२५४) हरिवश पुराण मे इनको मनु इससे कहा है कि मनुष्यो के प्रयोजत भूत कार्यो का ज्ञान धारण करते थे। 'मननात् मनुजार्थस्य मनु सज्ञा मनुस्मृतः' (१-१)।

मनु शब्द मन् धातु से बना है, उसका अर्थ है अवबोधन अर्थात् दूसरो को को बताना। इन महापुरुषो ने समयानुसार प्रजा-जनो को अनेक प्रकार से जीवनोपायो का ज्ञान कराया था।

महापुराण में लिखा है :—

वृषभस्तीर्थकृच्चैव कुलकृच्चैव सम्मतः ।
भरतश्चक्रभृच्चैव कुलधृच्चैव वर्णितः ॥१५१५॥

भगवान् वृषभदेव तीर्थकर थे तथा कुलकर भी माने गये है। भरतेश्वर चक्रवर्ती थे तथा कुलकर भी कहलाते थे।

प्रश्न—अपराधी प्रजा के लिये क्या दण्ड दिया जाता था ?

उत्तर:—अपराधी प्रजा के लिये दण्डव्यवस्था का स्वरूप— एक से लेकर पाच कुलकरों ने दोषी मनुष्यो को 'हा' कहकर अर्थात् खेद है कि तुमने ऐसा अपराध किया है, दण्ड की व्यवस्था की थी। आगे के पाच कुलकरो ने 'हा' के साथ 'मा' रूप दण्ड की व्यवस्था की थी, 'हामा' अर्थात् तुमने बुरा किया आगे ऐसा अपराध मत करो। तथा शेष कुलकरो ने 'हामा धिक्' अर्थात् तुम्हे धिक्कार है। इस प्रकार दण्ड की व्यवस्था की थी। आदिनाथ भगवान् के समय मे उक्त प्रकार की दण्ड पद्धति थी विशेष दण्ड व्यवस्था की नियोजना करने मे सोलहवे कुलकर महाराज भरत का नाम आता है। महापुराणकार कहते है—

शरीर दंडनं चैव वध बन्धादिलक्षणम् ।
नृणां प्रबलदोषाणां भरतेन नियोजितम् ॥१५१६॥

महान् अपराध करने वाले पुरुषों के लिये भरत चक्रवर्ती ने वध बधन आदिक शरीरिक दण्ड की पद्धति चलाई थी।

इस प्रकार जैन धर्म की दृष्टि से दण्ड व्यवस्था के पुरस्कर्त्ता के रूप मे भरतेश्वर का प्रथम स्थान है।

ऋषभनाथ भगवान् ने प्रजा को शस्त्र सचालन, कृषि करना, वाणिज्य, शिल्प, मसि तथा पशुपालन आदि प्रजा के जीवनोपयोगी कार्यो को बतलाया था, इसलिये वे प्रजापति कहलाये। यथार्थ मे अन्य सम्प्रदाय मे कथित प्रजापति की प्रसिद्धि इन ऋषभनाथ भगवान् की ही महिमा को बताती है। इन भगवान् ने केवलज्ञान के पश्चात् धर्म तीर्थ का प्रवर्तन किया था। चक्रवर्ती भरत छह खडो को जीतकर आदर्श राज्य पद्धति की स्थापना की थी। अन्य सम्प्रदाय में आदर्श राज्य को रामराज्य कहा जाता है। भगवान् मुनिसुव्रतनाथ बीसवे तीर्थकर शासन काल मे महाराज रामचद्र हुए हैं। जैन दृष्टि से उनको तथा अन्य नीति मार्ग पर पर चलने वाले नरेशों को आदर्श शासक चक्रवर्ती भरत की लोक शासन पद्धति से प्रकाश और प्रेरणा मिलती रही है। सिद्धांतसार दीपक मे भी भगवान् ऋषभनाथ को कुलकर कहा है तथा उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत को चक्री कुलकर तथा वध-बध आदि दण्ड-प्रदाता कहा है। यथा—

वृषभस्तीर्थकृत् पूज्यः कुलकृत् त्रिजगद्धितः।
हा-मा-धिग्नीतिमार्गोक्तोस्य पुत्रो भरतोऽग्रजः ॥१५१७॥
'चक्री-कुलकरो जातो वध-बधादिदडभृत ।' (सिद्धात सार दीपक)

भोगभूमि के युगल और भोग सामग्री—भोगभूमि मे स्त्री-पुरुषो मे युगल धर्म पाया जाता था। जिनसेन स्वामी का यह कथन ध्यान देने योग्य है, 'भोगभूमि मे जिस समय दम्पत्ति (युगल) का जन्म होता है। उस समय उनके जनक और जननी का देहात हो जाता है। अतएव वहा के जीवो मे पुत्र आदि का सकल्प नही होता। (पर्व ७-७०) पुरुष को उसकी स्त्री आर्य कहती थी और उसे पुरुष आर्या कहता था। भोगभूमि के समय मे पुरुषो तथा स्त्रियो के यही साधारण नाम थे। लोग सरल प्रकृति के थे। पुरुष को छीक आने पर और स्त्री को जम्हाई आने पर मरण होता था। इन जीवो को आजीविका के लिये कष्ट नहीं उठाना पड़ता था। वहा पाँच इंद्रियो को अवर्णनीय सुख सामग्री मिलती थी।

हरिवंश पुराण में लिखा है :—

दशधा कल्पवृक्षोत्थं भोगं युग्मानि भुंजंते ।
दशांगभोग चक्रेशभोगताभ्यधिकं तदा ॥१५१८॥

अर्थ—वे दम्पत्ति इस प्रकार के कल्पवृक्षों से उत्पन्न भोगों को मानते थे। जो दशांग भोगों के भोगने वाले चक्रवर्ती के भोगो की अपेक्षा अधिक थे।

उन दश प्रकार के कल्पवृक्षों का इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

१. गृहांग	नाना प्रकार के उत्तमोत्तम	गृह देने वाले है।
२. भाजनांग	,, ,,	पात्र देने वाले है।
३. भोजनांग	,, ,,	भोजन देने वाले हैं।
४. पानांग	,, ,,	मधुररस ,, ।
५. वस्त्रांग	,, ,,	वस्त्र ,, ।
६. भूषणांग	,, ,,	रत्नादि आभूषण देने वाले है।
७. माल्यांग	,, ,,	सुगन्ध पुष्प मालाएँ देने वाले हैं।
८. दीपांग	चन्द्रमा के समान शीतल प्रकाश देने वाले है।	
९. ज्योतिरांग	सूर्य के समान प्रकाश देने वाले हैं।	
१०. तूर्याङ्ग	नाना प्रकार के उत्तमोत्तम भेरी आदि बाजो के देने वाले हैं।	

तिलोयपण्णत्ति में इन कल्पवृक्ष के विषय में लिखा है :—

ते सव्वे कप्पदुमाणवणप्फवी णो बेंतरा सब्वे ।
णवरि पुढविसरुवा पुण्णफलं देंति जीवाणं ॥१५१९॥

अर्थ—ये समस्त कल्पवृक्ष न वनस्पति रूप हैं और न ये सब व्यतर रूप हैं। यथार्थ में ये पृथ्वी स्वरूप है, तथा जीवों को उनके पुण्य कर्मो का फल देते है।

कल्पवृक्षो के सम्बन्ध में महापुराण का यह स्पष्टीकरण है कि ये वृक्ष 'निसर्गात् फलदायिन' अर्थात् स्वभाव से फल देते है। 'नहिभाव-स्वभावानां उपालभः सुसंगत.' इन वृक्षो का जो स्वभाव है, उसके विषय मे दूषण देना उचित नही है। जिनसेन स्वामी कहते हैं :—

नृणां दान फलादेते फलन्ति विपुलं फलम् ।
यथान्यपादयः काले प्राणिनामुपकारकाः ॥१५२०॥

जिस प्रकार अन्य वृक्ष अपने-अपने समय पर अनेक प्रकार के फल देकर

प्राणियो का उपकार करते हैं, उसी प्रकार दान के फल से ये कल्पवृक्ष भोगभूमियो को विपुल फल देते हैं।

भोग भूमि में शरीर की पूर्णता—तिलोयपण्णत्ति मे कहा है कि उत्तम भोग भूमि मे शरीर की पूर्णता होने पर २२ दिन मे सम्यग्दर्शन धारण करने की योग्यता हो जाती है। मध्यम भोगभूमि मे ३५ दिन मे तथा जघन्य भोगभूमि में ४६ दिन में सम्यक्त्व लाभ करने की योग्यता प्राप्त होती है। (गाथा ३८०-४००-४०६ अध्याय ४) हरिवंश पुराण सर्ग ६ के पद्य ६२, ६३, ६४ से यह सूचित होता है कि सभी भोगभूमियो मे सप्त सप्ताहो मे सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता आती है कहा भी है—

तदास्ति पुंसा युग्मानां गर्भा त्रिलुंठिताभूनाम् ।
दिनानि सप्त गच्छन्ति निजांगुष्ठावले हनैः ॥१५२१॥
रंगलामपि सप्तैव सप्तास्थिर पराक्रमैः ।
स्थिरैश्च सप्तते. सप्त कलासुच गरोषु च ॥१५२२॥
कालेन तावता तेषां प्राप्तयौवन संपदाम् ।
सम्यक्त्वग्रहणैरपि स्याद् योग्यता सप्तभिर्दिनैः ॥१५२३॥

अनेक ग्रन्थो मे कथन आता है कि ४६ उनचासवे दिन के पश्चात् भोग-भूमियो सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता होती है। तिलोयपण्णत्ति मे कथित २२ तथा ३५ दिन का काल उत्तम भोगभूमि तथा मध्यम भोगभूमि की विशेष अपेक्षा से कहा गया जानना चाहिये ।

कर्म भूमि के मनुष्यो मे सम्यक्त्व की उत्पत्ति पर्याप्त अवस्था मे आठ वर्ष की अवस्था के आगे होती है। मनुष्य की दृष्टि से भूमि तथा कर्म भूमि में समानता होते हुए भी सम्यक्त्व की उत्पत्ति सम्बन्धी योग्यता मे काल कृत अन्तर इस बात को सूचित करता है कि सूक्ष्म दृष्टि से दोनो अवस्थाओं भिन्नता भी है। सुख और आनन्द की सामग्री भोग भूमि मे प्रचुर प्रमाण मे पाई जाती है, किन्तु मुक्ति प्राप्ति के योग्य श्रेष्ठ रीति से रत्नत्रय धर्म की समाराधना कर्म-भूमि मे ही होती है, अतएव कर्म-भूमि मे मनुष्य पर्याय पाने का विशेष प्रयत्न है।

यह बात भी कम महत्व की नही है कि तिर्यञ्चो में दिवस पृथकत्व अर्थात् तीन से अधिक और नौ के भीतर दिनो में सम्यक्त्व उत्पन्न करने की योग्यता पाई

जाती है । देवों में पर्याप्ति पूर्ण होने के अन्तर्मुहूर्त मे सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है, इसी प्रकार अर्थात् देवो के समान नारकियो के वर्णन मे कहा गया है । इससे स्पष्ट होता है कि कर्मभूमि का मनुष्य चारो गति में सबसे अधिक काल बीतने पर सम्यक्त्व पैदा करता है । एक दृष्टि से मनुष्य पर्याय अपूर्व है कि सम्यक्त्व उत्पन्न करने के साथ सकल सयम को स्वीकार करने वाला साधु अन्तर्मुहूर्त में सर्वज्ञ परमात्मा भी बन सकता है ।

प्रश्न :—भोगभूमि मनुष्यों के विषय में ज्ञातव्य बातें कौनसी हैं ?

उत्तर :—भोगभूमि मनुष्यो के विषय मे अनेक ज्ञातव्य बातें—तिलोयपण्णति के चतुर्थ अधिकार मे लिखा है कि – 'भोगभूमि के मनुष्यो का शरीर बहुत बलशाली था । नौ हजार हाथियो के सदृश बल था ।

'ठावणाग-सहस्स-सरिस बल जुत्ता ।' वे आर्जव भाव सहित, मदकषायी, सुशीलता पूर्ण, वज्रवृषभ नाराच सहनन युक्त, समचतुस्त्र सस्थान सहित, बालसूर्य सदृश तेजस्वी, कवलाहार करते हुए भी नीहार रहित और युगलधर्म युक्त होते है । उस काल में नर-नारी के अतिरिक्त अन्य परिवार नही होता । भोगभूमि के मनुष्य तथा तिर्यचों की नौ मास आयु शेष रहने पर उनके गर्भ रहता है । और मृत्युकाल आने पर उनके युगल-सतान उत्पन्न होती है ।

मृत्यु होने पर भोगभूमि के मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यञ्च भवनत्रिक में और सम्यग्दृष्टि सौधर्म ईशान स्वर्ग मे जन्म लेते है । भोगभूमिया जीव जातिस्मरण से, कोई देवो के प्रतिबोधित करने से और कोई चारण मुनि आदि के उपदेश से सम्यक्त्व ग्रहण करते हैं । कहा भी है—

जादि भरणेण केई केई पडिबोहणेण देवाणं ।
चारण मुणि पहुदीणं सम्मत्तं तत्व गेण्हंति ।।१५२४।।

विशेप यह है कि उनमे सयम नही होता है । कहा भी है—

ते सव्वे वरजुगला अण्णोण्णुप्पण्णपेम संमूढा ।
जम्हा तम्हा तेसुं सावय-वद-संयमोणत्थि ।।१५२५।।

अर्थ—ये सब उत्तम युगल पारस्परिक प्रेम में अत्यन्त मुग्ध रहा करते हैं, इसलिये उनके श्रावक के व्रत और सयम नही होता । वे नर-नारी युगल गणित, शिल्प, गन्धर्व, चित्र आदि चौसठ कलाओ मे स्वभाव से ही अतिशय निपुण होते हैं ।

उनमें कुल जाति का भेद नही कहा है (कुल-जादि भेद हीणा–३८७) ।

वहा व्याघ्र आदिक भूमिचर और काक आदि नभचर तिर्यञ्च मांसाहार के विना कल्पवृक्षो का मधुर फल भोगते है । अन्य तृणजीवी पशु युगल दिव्य तृणो का भक्षण करते है ।

जिन्होने पूर्व मे मनुष्य आयु को बांध लिया है और पश्चात् तीर्थङ्कर के पादमूल मे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है, ऐसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि पुरुष भी भोग-भूमि मे उत्पन्न होते है । कितने ही मिथ्यादृष्टि मनुष्य निर्ग्रन्थ मुनियों को दानादि देकर भोगभूमि मे उत्पन्न होते है । पापों के त्यागी, गुणों के अनुरागी तथा मंदकषाय वाले भी वहा उत्पन्न होते हैं ।

भोगभूमि मे ग्राम नगरादिक सब नहीं होते । केवल वे सब कल्पवृक्ष होते हैं, जो भोगभूमिवासी जीवो को मनोवाछित वस्तु देते है । कहा भी है—

ग्राम-णयरादि सव्वं णहोदिते होंति सव्वकप्पतरू ।
णिय-णियमणसा संकप्पिय-वत्थूणि देंतिजुगलाणं ।।१५२६।।

भोगभूमि के पुरुष इन्द्र से भी अधिक सुन्दराकार होते है (देविदादोवि सुन्दराकारा) स्त्रियां अप्सराओ के सदृश होती है । भोग भूमिजो के युगल कदलीघात मरण से रहित होते हुए आयु पर्यन्त चक्रवर्ती के भोग समूह की अपेक्षा अनंत गुणे भोगो को भोगते हैं, कहा भी है ।

जुगलाणि अणंतगुणं भोगं चक्कहर भोग योहादो ।
भुंजंति जाव आउं कदलीघादेण रहिदाणि ।।१५२७।।

तिलोयपण्णति मे यह भी लिखा है, वे युगल कल्पवृक्षो से दी गई वस्तुओं को ग्रहण करके और विक्रिया से वहुत से शरीरों को बनाकर अनेक प्रकार के भोगों को भोगते हैं ।

प्रश्न :—भोग भूमि में तिर्यञ्च कौन जीव होता है ?

उत्तर :—तिलोयपण्णति में इस प्रकार कहा है—'जो पापी जिनलिंग को ग्रहण करके सयम एवं सम्यक्त्व भाव को छोड़ देते हैं, और पश्चात् माया में प्रवृत्त होकर चरित्र को नष्ट करते हैं, तथा जो कोई मूर्ख मनुष्य कुलिंगियों को नाना प्रकार के दान देते हैं या उनके भेष को धारण करते हैं, वे भोग भूमि मे तिर्यञ्च होते है ।

(गाथा ३७३–३७४)

प्रश्न :—भोग भूमि के अन्त में परिवर्तन कैसे होता है ?

उत्तर :—भोग भूमि का अत होने पर नैसर्गिक परिवर्तन—भोग भूमि का अंत होने पर ते कल्पवृक्ष नष्ट हो गये थे। इससे प्रजा जन अत्यन्त व्याकुल हो गये थे। वातावरण मे अद्भूत परिवर्तन हो रहा था। अनेक प्रकार के धान्यादि स्वय उत्पन्न हो गये थे। इस विषय में जिनसेन स्वामी लिखते है—

तदा पितृव्यतिक्रान्तावपत्यानीव तत्पदम् ।
कल्पवृक्षोचितं स्थान तान्यध्यासिषत स्फुटम् ।।१५२८।।

जिस प्रकार पिता की मृत्यु होने पर उनके स्थान पर पुत्र आरुढ होता है, उसी प्रकार कल्पवृक्षो के अभाव होने पर वे धान्यादि उनके स्थान पर आरूढ हुये थे।

उस समय आकाश मे मेघ इकट्ठे होकर वर्षा करने लगे पर महाकवि उत्प्रेक्षा करते है :—

ध्वनन्तो ववृषुर्मुक्त स्थूल धारं पयोधराः ।
रुदन्त इव शोकार्ताः कल्पवृक्ष परिक्षये ।।१५२९।।

उस समय मेघ गर्जना पूर्वक स्थूल धारा से बरसते हुये ऐसे प्रतीत होते थे, मानो कल्पवृक्षों के क्षय हो जाने से शोकयुक्त होते हुये रो रहे है।

प्रश्न :—आदि ब्रह्मा ने क्या व्यवस्था की प्रजा की ?

उत्तर :—'आदि ब्रह्मा' श्री ऋषभनाथ तीर्थकर – भोगभूमिया जीवों का कथन करते समय तिलोयपण्णत्ति मे लिखा है कि 'जुगला कुल-जाति भेद हीणा (४–३८७) अर्थात् उस युगल मनुष्यों मे कुल, जाति का भेद नही था, तब कर्मभूमि मे कुल जाति भेद के साथ वर्णन व्यवस्था अदि कैसे आ गई ? इस विषय मे समाधान निमित्त महापुराण से महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है। बात यह है, भोगभूमि की प्रणाली लोप होने पर कल्पवृक्ष तो चले गये थे तथा कुछ समय के बाद बिना बोया धान्य का लाभ भी बन्द हो गया, तब महाराज नाभिराय की आज्ञा से दु खी और क्षुधित भोगभूमिया भगवान ऋषभदेव के चरणो मे गई और उन्होने प्रार्थना की—

विभो समूलमुत्सन्नपितृकल्पा महांघ्रियाः ।
फलंत्यकृष्टपच्यानि सस्यान्यपि च नाधुना ।।१५३०।।

हे विभो पिता के समान हमारी रक्षा करने वाले कल्पवृक्ष समूल नष्ट हो गये और अब बिना बोया हुआ परिपाक को प्राप्त होने वा धान्य नही फलता है—

त्वां देवमादिकर्तारं कल्पांघ्रिपमिवोन्नतम् ।
समाश्रिता कथं भीतेः पदं स्याम वयं विभो ॥

हे भगवान् ! हम कल्पवृक्ष के समान उन्नत इस युग के आदिकर्ता आपके समीप आये है, इसलिए हमें भय किस प्रकार हो सकता है ? उनकी दीनवाणी को सुनकर भगवान ने यह निश्चय किया कि—

कर्मभूरद्य जातेयं व्यतीते कल्प भूरुहाम् ।
ततोऽत्र कर्मभिः षड्भिः प्रजानां जीवकोचिता ॥

कल्पवृक्षो के नष्ट हो जाने पर अब यहा कर्मभूमि प्रगट हुई है, इसलिये प्रजा को असि अर्थात् शस्त्रसचालन, मषि अर्थात् लेखन कार्य, कृषि, शिल्प, वाणिज्य तथा पशुपालन द्वारा आजीविका करना उचित है ।

उपरोक्त निश्चय भगवान ने गम्भीर विचार के उपरांत किया था । उन्होने विशेष ज्ञानोपयोग द्वारा विदेह की वर्तमान स्थिति का विचार कर विदेह को आदर्श बना यहां की वर्णाश्रम व्यवस्था करने का निश्चय किया । जिनसेन स्वामी ने लिखा है—

पूर्वापर विदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता ।
साद्य प्रवर्तनीयात्र ततोजीवंत्यमः प्रजाः ॥

पूर्व पश्चिम विदेह मे जो स्थिति वर्तमान है, वही स्थिति आज यहां प्रवृत्त करने योग्य है । उससे यह प्रजा जीवित रह सकती है ।

षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः ।
यथाग्राम गृहादीनां संस्त्यायाश्च पृथग्विधाः ॥

जैसे वहां असि, मपि आदि छह कर्म है । तथा वर्णाश्रम की व्यवस्था है और जैसी ग्राम, गृह आदि की अलग-अलग रचना है ।

तथात्राप्युचिता वृत्तिः उपायैरेभिरंगिनाम् ।
नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिनां जीविकां प्रति ॥

उसी प्रकार यहा भी होना चाहिये । इन्ही उपायो से प्राणियों की आजीविका चल सकती है । इनकी आजीविका के लिये कोई अन्य उपाय नही है ।

इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्णाश्रम व्यवस्था जैन धर्म की किसी धर्म से उधार ली गई वस्तु नही है । जिस विदेह क्षेत्र में सदा धर्म का सूर्य

प्रकाशमान होता है तथा जहां मिथ्या संप्रदाय नही है, वहां भी वर्ण व्यवस्था है। उसके ही आधार पर भगवान् वृषभदेव ने इस भरत क्षेत्र में व्यवस्था के लिये आवश्यक तथा सूक्ष्म बातो को दिव्य ज्ञान द्वारा जान सके थें। ऐसी स्थिति में शंका के लिये स्थान नही रहता है। परम कारूणिक तीर्थंकर वृषभदेव ने गम्भीर चिंतन के पश्चात् विदेह की वर्णाश्रम व्यवस्था के आधार पर तत्कालीन समाज के हितार्थ योजना की थी। उसमे छिद्रों की कल्पना करना योग्य नही है। वैदिकों की वर्ण व्यवस्था और जैन वर्ण व्यवस्था में अतर है, यद्यपि बाह्यरूप में उनमें साम्य दिखता है। जैन व्यवस्था अहिंसा की आधार शिला पर अवस्थित है। उसके मूल मे पक्षपात, विद्वेष या घृणा का सद्भाव नही है। वह पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है। कोई आगमज्ञ विचारक यह कहते है कि जैनों की वर्ण व्यवस्था को ही वैदिको ने अपनाकर अपनी कर्तृत्ववाद की संस्कृति की मुहर उस पर लगाई है।

प्रश्न :—कोई-कोई कह बैठते हैं, उपरोक्त मत तो जिनसेन स्वामी का रहा है, उसे उन्होंने ऋषभनाथ भगवान के नाम से लिखा है ?

उत्तर :—यह कथन उचित नही है। यह परमागम की चर्चा कोई राजनीति की बात नही है। इसमे सर्वज्ञ, हितोपदेशी, वीतराग भगवान की दिव्यध्वनि से प्रकाशित तथा गणधर देव द्वारा ग्रन्थरूप से रचित पदार्थ का निरूपण है। अतएव तत्त्व प्रेमी मुमुक्षुओ को वर्ण व्यवस्था के विषय मे परमागमोक्त उक्त बात श्रद्धान करने योग्य है। इस व्यवस्था की उपेक्षा के कारण ही आज की भौतिक विकास युक्त दुनिया में घृणा, अशांति, असतोष तथा विद्वेष की वृद्धि हो रही है।

प्रश्न :—कर्मभूमि का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ ?

उत्तर :—कृतयुग (कर्मभूमि) का आरम्भ—

युगादिब्रह्मणा तेन यदित्थं स कृतो युगः।
ततः कृतयुगं नाम्ना तं पुराणविदो विदुः॥

युग के आदि विधाता ऋषभनाथ भगवान ने इस प्रकार कर्मयुग का प्रारम्भ किया था, इससे पुराणवेत्ता उन भगवान को कृतयुग के नाम से जानते है।

आषाढ़ मास बहुल प्रति द्दिवसे कृतो।
कृत्वा कृतयुगारंभं प्राजापत्यमुपेयिवान्॥

कृतकृत्य भगवान ऋषभदेव ने आषाढ मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन कृतयुग अर्थात् कर्मभूमि का प्रारम्भ करके प्रजापति पद को प्राप्त किया था।

इस प्रसंग में महापुराण का यह कथन भी स्मरण योग्य है कि 'भगवान ऋषभदेव ने प्रजा के हित का विचार कर इन्द्र को स्मरण किया । तत्काल देवों सहित इन्द्र आदिनाथ प्रभु के पास आया और उसने नीचे लिखे अनुसार विभाग कर प्रजा की जीविका के उपाय किये । शुभदिन, शुभनक्षत्र, शुभमुहूर्त तथा शुभलग्न के समय और सूर्य आदि ग्रहो के अपने-अपने उच्चस्थानो मे स्थित रहने और जगद्गुरु भगवान के अनुकूल रहने पर इन्द्र के प्रथम ही मांगलिक कार्य किया और फिर भी उसी अयोध्या पुरी के बीच में जिन मन्दिर की रचना की । इसके बाद पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर प्रकार की चारो दिशाओ मे भी यथाक्रम से जिन मन्दिरों की रचना की । कहा भी है—

अथानुध्यानमात्रेण विभोः शुक्रः सहामरैः ।
प्राप्तस्तज्जीवनोपायनित्यकार्षोद्विभागतः ॥
शुभे दिने सुनक्षत्रे सुमुहूर्ते शुभोदये ।
स्वोच्चस्थेषु ग्रहेपुच्चैः आनुकूल्ये जगद्गुरोः ॥
कृत प्रथम मांगल्ये सुरेन्द्रो जिनमंदिरम् ।
न्यवेशयत् पुरस्यास्य मध्ये दिक्ष्वप्यनुक्रमः ॥

इस कथन से यह बात भी स्पष्ट होती है कि लोगों को जीविका का उपाय बताने के साथ उनके धर्मभवन के हेतु जिनेन्द्र मदिर की व्यवस्था की गई थी, जिससे षट्कर्म जनित दोषों का प्रक्षालन भी हो । जीविका का उपाय बताने के सिवाय यदि धर्म का कथन बताया होता और उसका साधन नही जुटाया गया होता, तो इससे जीवों का अच्छा कल्याण नही हो पाता । तीर्थंकर ऋषभनाथ प्रभु ने ऐसा मार्ग प्रदर्शन किया, जिससे समाज की योग्य व्यवस्था के साथ आत्मा का परिपूर्ण हित भी होता रहे ।

भगवान ने पापरहित आजीविका के उपायो का समर्थन किया था । कहा भी है—

यावती जगति वृत्तिः, अपापोपहता च या ।
सासर्वास्य मतेनासीत् सहि धाता सनातनः ॥

उस समय जगत में पापरहित आजीविका के जो उपाय थे, वे सब भगवान् की समति से प्रवृत्त हुए थे, क्योंकि ऋषभनाथ भगवान ही सनातन ब्रह्मा हैं ।

त्रिलोक सार में कहा है—

पुरग्रामपट्टनादिः लौकिकशास्त्रः लोकव्यवहारः ।
धर्मोऽपि दयामूलः विनिर्मित आदिब्रह्मणा ॥१५३१॥

अर्थात् आदि ब्रह्मा ऋषभनाथ भगवान ने पुर ग्राम, पत्तनादि, लौकिकशास्त्र, लोक व्यवहार तथा दया मूलक धर्म की स्थापना की थी ।

अवसर्पिणी काल के तीसरे काल के अंत में चौदह कुलकर हुये थे । भगवान ऋषभदेव तथा चक्रवर्ती भरत भी कुलकर नाम से विख्यात हुए। इनको कुलो को धारण करने से कुलधर और कुलों के करने मे कुशल होने से कुलकर कहते थे ।

तिलोयपण्णत्ति में यही बात इन शब्दों द्वारा कही गई है—

कुलधारणा दु सव्वे कुल धारणामेण भुवणविक्खादा ।
कुलकरणम्मियकुसला कुलकरणामेण सुपसिद्धा ॥१५३२॥

प्रश्न :—उत्सर्पिणी काल का प्रारंभ कैसे हुआ ?

उत्तर :—उत्सर्पिणी का प्रारम्भ काल–इस अवसर्पिणी का अंत होने पर उत्सर्पिणी का प्रथम काल अतिदुःखमा आता है । वह २२ हजार वर्ष का है । उसके वाद २१ हजार वर्ष का दूसरा काल दुखमा नाम का आता है । इस दुःखमा काल के २० हजार वर्ष बीतने पर तथा एक हजार वर्ष शेष रहने पर कनक आदि सोलह कुलकर उत्सर्पिणी काल सबधी उत्पन्न होते है । इन मे प्रथम कुलकर की ऊंचाई चार हाथ है, तक्षा सोलहवें की ऊचाई सात हाथ कही गई हैं ।

ये कुलकर कहते हैं कि—

मथिदूण कुणह अग्गि पचेह अण्णाणि भुंजह जहिच्छं ।
करिय विवाहं बंधवपहुदिद्दारेण सोक्खेणं ॥१५३३॥

मथ करके आग को उत्पन्न करो । अन्न को पकाओ और विवाह करके बाधवादिक के निमित्त से इच्छानुसार सुख का उपभोग करो ।

अंतिम कुलकर के यहां प्रथम तीर्थंकर भगवान् महापद्म का जन्म होगा । उस समय से यहां विदेह वृत्ति सदृश होने लगती है । तिलोयपण्णति मे कहा है—

तक्काले तित्थयरा चउवोस हवंति ताणपढ्मजिणो ।
अंतिम कुलकर सुदो विदेह वत्तीतदो होदि ॥१५३४॥

उत्सर्पिणी के तोसरे काल दुषमसुषमा मे १२० वर्ष की आयु होती है और सात हाथ प्रमाण शरीर की ऊचाई रहती है ।' प्रथम तीर्थंकर की आयु १२० वर्ष के स्थान मे ११६ वर्ष 'सोलसुत्तर च सद' कही गई है ।

तीर्थंकर महापुरुष

प्रश्न :—तीर्थंकर महापुरुषों का कार्य क्या है ?

उत्तर :—जब जगत मे अधकार का अखड साम्राज्य हो जाता है, तब नेत्रो की शक्ति कुछ कार्य नही कर पाती है । अधकार नेत्रयुक्त मानव को भी अंध सदृश वना देता है । इस पौद्गलिक अधकार से गहरी अंधियारी मिथ्यात्व के उदय से प्राप्त होती है । उसके कारण यह ज्ञान वान जीव अपने स्वरूप को नही जान पाता है । मोहनीय कर्म के आदेशानुसार यह निदनीय कार्य करता फिरता है । जड़ शरीर मे यह मिथ्यात्वाध व्यक्ति आत्मबुद्धि धारण करता है । जब इसे कोई सत्पुरुष समझाते है कि तुम चैतन्य पुज ज्ञायक स्वभाव आत्मा हो । शरीर का तुमसे कोई सबंध नही है, तो यह अविवेकी उस वाणी को विष समान समझता है ।

सूर्योदय होते ही अधकार का क्षय होता है, उसी प्रकार तीर्थकर रूप धर्म सूर्य के उदय होते ही जगत मे प्रवर्धमान मिथ्यात्व का अंधकार भी अतः करण से दूर होकर प्राणी मे निजस्वरूप का अवबोध होने लगता है ।

इस स्थिति मे आचार्य रविषेण एक मार्मिक तथा सुयुक्ति समर्थित बात कहते है कि जब जगत मे धर्मग्लानि बढ जाती है, सत्पुरुषो को कष्ट उठाना पडता है, तथा पाप वृद्धि वालो के पास विभूति का उदय होता है, तब तीर्थकर रूप महान आत्मा उत्पन्न होकर सच्चे आत्मधर्म की प्रतिष्ठा बढाकर जीवो को पाप से विमुख बनाते है ।
पद्मपुराण में रविषेणाचार्य ने लिखा है—

आचाराणां विघातेन कुदृष्टीनां च संपदा ।
धर्मग्लानिं परिप्राप्तामूच्छ्रयन्ते जिनोत्तमाः ॥१५३५॥

जब उत्तम आचार का विघात होता है, मिथ्याधर्मियो के समीप श्री कि वृद्धि होती है, जैन धर्म के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होने लगता है, तब तीर्थकर उत्पन्न होते है और जैन धर्म का उद्धार करते है ।

वर्तमानकालीन १४ कुलकर (कुलंकर) अथवा मनु

क्र	कुलकरो के नाम	कुलकरो की स्त्रियो के नाम	शरीर का वर्ण	शरीर की ऊंचाई	कुलकरो के परस्पर अन्तरकाल और जन्मकाल प्रमाण
१	२	३	४	५	६
१	प्रतिश्रुति	स्वयप्रभा	सुवर्ण	१८००	इनका जन्म तृतीय काल के एक पल्य का १/८ वा भाग बाकी रहने पर होता है।
२	सन्मति	यशस्वति	सुवर्ण	१३००	प्रथम कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८० वा भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
३.	क्षेमंकर	सुनन्दा	सुवर्ण	८००	दूसरे कुलकर के मरने बाद पल्य का १/८०० वा भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
४	क्षेमन्धर	विमला	सुवर्ण	७७५	तीसरे कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८००० वा भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
५	सीमंकर	मनोरमरा	सुवर्ण	७५०	चौथे कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८०००० वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
६.	सीमन्धर	यशोधारिणी	सुवर्ण	७२५	पाचवे कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८ लाख वा भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
७.	विमलवाहन	सुमति	सुवर्ण	७००	छठे कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८० लाख वा भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।

सम्बन्धी कई जानने योग्य तथ्य

आयु काल प्रमाण	कौन-कौन से कुलकर के समय मे कौन-कौन सी विशेष बातें हुई ?	कौन-कौन से कुलकर अपनी अपराधी प्रजा को किस-किस तरह दण्ड देते रहें, उसका स्वरूप	अनागत अर्थात् भविष्यत् काल मे होने वाले १६ कुलकरों नाम	विशेष
७	८	९	१०	११
एक पल्य का १/१००० भाग प्रमाण	ज्योतिराग कल्पवृक्ष का तेज कम होने से आकाश मे सूर्य-चन्द्रमा दिखाई पडने लगे।	'हा' तुमने बुरा किया है। ऐसे वचन से एक से लेकर पाच कुलकर प्रजाजनो को दण्ड देते रहे।	अनागत उत्सर्पिणी काल के दूसरे काल के अन्त समय मे एक हजार वर्ष बाकी रहने पर क्रम से १६ कुलकर होते हैं उनके नाम—	१. तेरहवें कुलकर के समय पुत्र और पुत्री होने लगे और इन्द्र ने उनका विवाह किया था।
एक पल्य का १/१०० हजार वा भाग प्रमाण	अंधकार, नक्षत्र और तारागण दिखने लगे।			
एक पल्य का १/१००० वा भाग प्रमाण	क्रूर मृग, हिंसक जतुओ से वाधा होने लगी।		१. कनक	
एक पल्य का १/१० हजार वा भाग प्रमाण	दीपोधोनोपाय वतलाए।		२. कनक प्रभ	
एक पल्य का १/१ लाख वा भाग प्रमाण	प्रजाजनों को कल्पवृक्षो की सीमा दिखला दी।		३ कनकराज	
एक पल्य का १/१० लाख वा भाग प्रमाण	दिखलाई हुई सीमा विशेष का चिन्ह वतला दिया।	'हा मा' तुमने बुरा किया ऐसा मत करो इस तरह के वचनो से छह से लेकर दश कुलकर अपनी प्रजा को दण्ड देते रहे।	४. कनकध्वज ५ कनक पुंगव	२ कुलकर को छोड कर वाकी सवका नाम आर्य था। इसलिये मरुदेवी के पिता का नाम नहीं वताया है।
एक पल्य का १/१ करोडवा भाग प्रमाण	हाथी, घोडे आदि वाहनो का उपभोग वतला दिया।		६ नलिन	

१	२	३	४	५	६
८.	चक्षुष्मान	वसुन्धरा	श्यामवर्ण	६७५	सातवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८ करोड़ वा भाग बीत जाते पर इनका जन्म होता है।
९	यशस्वी	कान्तमाला	श्यामवर्ण	६५०	आठवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८० करोड वा भाग बीत जाने पर इनका जन्य होता है।
१०.	अभिचन्द्र	श्रीमती	सुवर्ण	६२५	नवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८०० करोड वा भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
११	चन्द्राभ	प्रजावती	धवल	६००	दसवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८०००० करोड वा भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
१२	मरुद्देव	अनुपमामणि (सत्या)	सुवर्ण	५७५	ग्यारहवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८०००० करोडवां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
१३	प्रसेनजित	अमृतमति (अमितमति)	धवल	५५०	बारहवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/१० लाख करोड वा भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
१४.	नाभिराज	मरुदेवी	सुवर्ण	५२५	तेरहवें कुलकर के मरने के बाद १/१०० लाख करोड वा भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।

७	८	९	१०	११
एक पल्य का १/१० करोड वा भाग प्रमाण	बच्चो के मुखावलोकन का भय दूर किया।		७ नलिनप्रभ	
			८ नलिनराज	
एक पल्य का १/१०० करोड वा भाग प्रमाण	वालको की नामकरण विधि बतला दी।		९ नलिनध्वज	३ चौदहवें कुलकर राजानाभिराज और रानी मरुदेवी का विवाह इन्द्र ने किया है। इस प्रकार महापुराण पर्व २२ मे लिखा है।
एक पल्य का १/१००० करोड वा भाग प्रमाण	शिशुरोदन-निवारण हेतु वालको के साथ चन्द्र दर्शनादि क्रीडा बताई।		१० नलिनपुंगव	
			११ पद्म	
एक पल्य का १/१० हजार करोडवा भाग प्रमाण	वालक और माता-पिता का परस्पर नाता उनको समझाकर कह दिया।		१२ पद्मप्रभ	
एक पल्य का १/१ लाख करोड वा भाग प्रमाण	नदी समुद्रादि जलाशयो के तरणोपाय रूप नाव, जहाजादि चलाने की रीति बतला दी।	'हा माधिक्' तुमने बुरा काम किया। ऐसा काम मत करो। तुमको धिक्कार है। इस वचन से ग्यारह से लेकर चौदहवें कुलकर और पद्रहवें 'मनु' कहलाने वाले वृषभदेव अपनी प्रजा को दण्ड देते रहे।	१३ पद्मराज	
			१४ पद्मध्वज	
एक पल्य का १/१० लाख करोडवा भाग प्रमाण	जन्म समय के जरायु के निकालने का उपाय बतला दिया था।		१५ पद्मपुंगव	
			१६ महापद्म	
एक करोड पूर्व काल प्रमाण	जन्म समय की नाभि के नाल को काटने का उपाय बतला दिया। इनके समय कर्म भूमि का प्रारम्भ हुआ।		इस प्रकार होगे। क्षत्रिय आदि कुल का आचार और अग्नि से अन्नादिक पक्वान्नो का विधान बताना इत्यादि कार्य प्रजायो को बता देना उनका कर्त्तव्य होगा।	

वैदिक धर्म की मान्यता है कि धर्म की ग्लानि होने पर धर्म की प्रतिष्ठा स्थापना हेतु शुद्ध अवस्था प्राप्त परमात्मा मानवादि पर्यायों में अवतार धारण करता है। जिस प्रकार बीज के दग्ध होने पर वृक्ष उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार रागद्वेष, मोह आदि विकारों के बीज आत्मसमाधि से नष्ट होने पर परम पद को प्राप्त आत्मा का रागद्वेष पूर्ण दुनियां में आकर विविध प्रकार की लीला दिखाना युक्ति, सद्विचार तथा गंभीर चिंतन के विरुद्ध है।

प्रश्न :—तीर्थ और तीर्थंकर किसे कहते हैं ?

उत्तर :—तीर्थ और तीर्थंकर—इस तीर्थंकर शब्द में आगत तीर्थ शब्द के स्वरूप पर विचार करना उचित है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है, 'तीर्थमागम-तदाधारसंघश्च' अर्थात् जिनेन्द्र कथित आगम तथा आगम का आधार साधुवर्ग तीर्थ है। तीर्थ शब्द का अर्थ 'घाट' भी होता है। अतएव 'तीर्थंकरोतीति तीर्थंकरः' का भाव यह होगा, कि जिनकी वाणी के द्वारा संसार सिंधु से जीव तिर जाते हैं, वे तीर्थ के कर्ता तीर्थंकर कहे जाते हैं। सरोवर में घाट बने रहते हैं, घाट से मनुष्य सरोवर के बाहर सरलता पूर्वक आ जाता है, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान के पथ प्रदर्शन का अवलंबन लेने वाला जीव संसार सिंधु में न डूब कर बाहर आकर चिन्तामुक्त हो जाता है।

मूलाचार में तीर्थ के दो भेद कहे हैं एक द्रव्य तीर्थ, दूसरा भावतीर्थ। द्रव्य तीर्थ के विषय में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है—

दंसणणाण चरित्ते णिज्जुत्ता जिणवरा दु सव्वेपि।
तिहि कारणेहि जुत्ता तम्हा ते भावदोतित्थं ॥१५३६॥

सभी जिनेन्द्र भगवान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र संयुक्त हैं। इन तीन कारणों से युक्त हैं इससे भगवान भावतीर्थ हैं।

जिनेन्द्र वाणी के द्वारा जीव अपनी आत्मा को परम उज्ज्वल बनाता है, उस रत्नत्रय भूषित आत्मा को भावतीर्थ कहा है। जिनेन्द्र रूप भाव तीर्थ समीप में षोडश-कारण भावना को भाने वाला जीव तीर्थंकर बनता है। रत्नत्रय भूषित जिनेन्द्र रूप भावतीर्थ के द्वारा अपवित्र आत्मा पवित्रता को प्राप्त कर जगत् के संताप को दूर करने में समर्थ होता है। इस जिनदेव रूप भावतीर्थ के द्वारा आत्मा तीर्थंकर बनता है और श्रुतरूप तीर्थ की रचना में निमित्त होता है।

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा धर्म तीर्थ प्रवृत्ति होती है, इससे उनको धर्म तीर्थकर कहते है। मूलाचार के इस अत्यन्त भाव पूर्ण स्तुति पद्य मे भगवान को धर्म तीर्थकर कहते है—

लोगुज्जोरा धम्मतित्थयरे जिरावरे य अरहंते।
कित्तरा केवलिमेव य उत्तमबोहिं मम दिसंतु ॥१५३७॥

जगत् को सम्यग् ज्ञान रूप प्रकाश देने वाले धर्म तीर्थ के कर्त्ता उत्तम, जिनेन्द्र, अर्हन्त केवली मुझे विशुद्ध बोधि प्रदान करे, अर्थात् उनके प्रसाद से रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति हो।

तीर्थकर शब्द का प्रयोग भगवान महावीर के समय मे अन्य सप्रदायो मे भी होता था, यद्यपि प्रचार तथा रुढिवश तीर्थकर शब्द का प्रयोग जिनेन्द्र भगवान के लिये किया जाता है। जैन शास्त्रो मे भी तीर्थकर शब्द का प्रयोग श्रेयांस राजा के साथ करते हुए उनको दान तीर्थकर कहा है। अतएव तीर्थकर शब्द के पूर्व मे धर्म शब्द को लगाकर धर्म तीर्थकर रूप मे जिनेन्द्र का स्मरण करने की प्राचीन प्रणाली रही है।

समीचीन धर्म की व्याख्या करते हुए आचार्य समतभद्र ने लिखा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप धर्म है, जिससे जीव ससार के दु खो से छूटकर श्रेष्ठ मोक्ष सुख को प्राप्त करता है, इस धर्म तीर्थ के कर्ता इस अर्सापिरणीकाल की अपेक्षा वृषभदेव आदि महावीर पर्यन्त चौबीस श्रेष्ठ महापुरुष हुए है। तीर्थकर का पद किसी की कृपा से प्राप्त नही होता है। पवित्र सोलह प्रकार की भावनाओ तथा उज्ज्वल जीवन के द्वारा कोई पुण्यात्मा मानव तीर्थकर पद प्रदान करने मे समर्थ तीर्थकर प्रकृति नाम के पुण्य कर्म का बध करता है। यह पद इतना अपूर्व है कि दस कोडा कोड़ी सागर प्रमाण इस अवसर्पिणी काल मे केवल चौबीस ही तीर्थकरो ने अपने जन्म द्वारा इस भरत क्षेत्र को पवित्र किया है। असख्य प्राणी रत्नत्रय की समाराधना द्वारा अर्हन्त होते हुए सिद्ध पदवी को प्राप्त करते है, किन्तु भरत क्षेत्र मे तीर्थकर रूप मे जन्म धारण करके मोक्ष जाने वाले महापुरुष चौबीस ही होते है।

प्रश्न :—सोलह कारण भावना के नाम क्या हैं? जिन्हें तीर्थकर भाते हैं?

उत्तर :—तीर्थङ्कर प्रकृति के वध मे कारण, ये सोलह भावनाएँ आगम मे

कही गई है। (१) दर्शन विशुद्धि (२) विनय सम्पन्नता (३) शील व्रतेष्वनतिचार (४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग (५) संवेग (६) शक्तितस्त्याग (७) शक्तितस्तप (८) साधु समाधि (९) वैयावृत्यकरण (१०) अर्हत्-भक्ति (११) आचार्य भक्ति (१२) बहुश्रुत भक्ति (१३) प्रवचन भक्ति (१४) आवश्यकापरिहाणि (१५) मार्ग प्रभावना (१६) प्रवचनवत्सलत्व। इन सोलह प्रकार की श्रेष्ठ भावनाओ के द्वारा श्रेष्ठपद तीर्थङ्करत्व की प्राप्ति होती है।

महाबध ग्रन्थ मे तीर्थङ्कर प्रकृति को तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म कह कर उल्लेख किया गया है, यथा 'एदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवो तित्थयर णामा गोद कम्म बधदि' (ताम्र पत्र प्रति पृष्ठ ५) उस महाबध के सूत्र में सोलहकरण भावनाओ के नामों का इस प्रकार कथन आया है :—

'कदिहि कारणेहि जीवा तित्थयर णामा गोद कम्म बधदि। तत्थ इमे णाहि सोलस कारणेहि जीवा तित्थयरणामा गोद कम्म बधदि दसण विसुज्झयाए, विणय सपण्णदाए, सीलवदेसुणिरदिचारदाए, आवासएसु अपरिहीणदाए, खणलव-पडिमज्झ (बुज्झ) णदाए, लद्धिसवेग सपण्णदाए अरहत भत्तीए, बहुसुदभत्तीए, पवयणभत्तीए, पवयणवच्छ्लदाए, पवयणप्रभावणदाए, अभिक्खणणा-णोपयुत्तदाए।

उपरोक्त नामो मे प्रचलित भावनाओं से तुलना करने पर विदित होगा कि यहां आचार्य भक्ति का नाम न गिनकर उसके स्थान मे 'खणलव-पडिबुज्झणदा' भावना का सग्रह किया गया है। इसका अर्थ है क्षण मे, लव मे अर्थात् क्षण-क्षण में अपने रत्नत्रय धर्म के कलंक का प्रक्षालन करते रहना क्षणलव प्रतिबोधनता है।

इन सोलह कारणो के द्वारा यह मनुष्य धर्म तीर्थंकर जिन केवली होता है। कहा भी है :—जस्स इण कम्मस्स उदयेण सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स अच्चणिज्जा पूजणिज्जा वदणिज्जा णमसणिज्जा धम्मतित्थयरा जिणा केवली (केवलिणो) भवति (पृष्ठ ५)।

प्रश्न :—तीर्थंकरप्रकृति का बंध जीव किस अवस्था में कर सकता है?

उत्तर :—जिस तिर्थंकर प्रकृति के उदय से देव, असुर तथा मानवादि द्वारा वन्दनीय तीर्थंकर के पद की प्राप्ति होती है, उस कर्म का बन्ध तीनों प्रकार के सम्यक्त्वी करते हैं। सम्यक्त्व के होने पर ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। किन्ही आचार्यो का कथन है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल अल्प अन्तर्मुहूर्त प्रमाण

है । उसमें सोलह भावनाओ का भाया जाना सम्भव नही है.। अतः उसमें तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नही होगा ।

यह भी बात स्मरण योग्य है कि इसका बध मनुष्य गति मे ही केवली अथवा श्रुतकेवली के चरणो के समीप प्रारम्भ होता है । 'तित्थयरबधपारंभयाणरा केवलिदुगते ।' (९३ कर्मकाड गो०) इस प्रकृति का बध तिर्यञ्चगति को छोड़ शेष तीन गतियो मे होता है । इसका उत्कृष्टपने से अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष न्यून दो कोटि पूर्व अधिक तैतीस सागर प्रमाण काल पर्यन्त बध होता है । केवली श्रुत केवली का सानिध्य इससे आवश्यक कहा है कि 'तदन्यत्र तादृग्विशुद्धि विशेषासभवात्' उनके सानिध्य के सिवाय वैसी विशुद्धता का अन्यत्र अभाव है ।

नरक की प्रथम पृथ्वी मे तीर्थंकर प्रकृति का बध पर्याप्त तथा अपर्याप्त अवस्था मे होता है । दूसरी तथा तीसरी पृथ्वी मे पर्याप्त अवस्था मे ही इसका बध होता है । आगे के नरको मे इस प्रकृति का बध नही होता है । कहा भी है—

धम्मातित्थ बधसि वंसा मेघाए पुण्णगो चेव । १०६ गो० कर्म० । गोमट्टसार कर्म काड गाथा १३६ में लिखा है कि तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बध अविरत सम्यग्दृष्टि के होता है ।

तित्थयर च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ । इसकी सस्कृत टीका में लिखा है—'तीर्थंकर उत्कृष्ट स्थितिक नरकगतिगमनाभिमुख—मनुष्यासयमसम्यग्दृष्टिरेव बध्नाति' (बड़ी टीका पृष्ठ १३४) उत्कृष्ट स्थिति सहित तीर्थंकर प्रकृति को नरकगति जाने के उन्मुख असयत सम्यक्त्वी मनुष्य बाधता है, कारण उसके तीव्र संक्लेश भाव रहता है । उत्कृष्ट स्थिति बध के लिये तीव्र सक्लेश युक्त परिणाम आवश्यक है । नरकगति मे गमन के उन्मुख को तीव्र सक्लेश के कारण तीर्थंकर रूप शुभ प्रकृति का अल्प अनुभाग बध होगा क्योकि 'सुहपयडीण विसोही अमुहाण सकिलेसेण ति० लो० (१६३) शुभ प्रकृतियो का तीव्र अनुभाग बंध विशुद्ध भावो से होता है । तथा अशुभ प्रकृतियो का तीव्र अनुभाग बध संक्लेश से होता है, तीर्थंकर प्रकृति का बध अपूर्वकरण गुणस्थान के छठवे भाग पर्यन्त होता है, अतएव इस गुणस्थानवर्ती मुनिराज के उत्कृष्ट अनुभाग बंध होगा । स्थिति बन्ध का स्वरूप विपरीत होगा अर्थात् वह न्यून होगा ।

प्रश्न :—तीर्थंकर नाम कर्म के सोलह कारणों में दर्शन विशुद्धि भावना की प्रमुखता क्यों है ?

उत्तर :—पं० आशाधर जी ने सागर धर्मामृत (८-७३) मे लिखा है कि केवल दर्शन विशुद्धि भावना से ही श्रेणिक नरेश ने तीर्थंकर प्रकृति का बध किया है। संस्कृत टीका में उपरोक्त कथन का समर्थन करते हुये ये शब्द लिखे गये है :—

'एकया-असहायया विनयसंपन्नतादितीर्थकरत्वकारणान्तररहितया, दृग्विशुध्या श्रेणिको नाम मगधमडलेश्वरस्तीर्थकृत् धर्मतीर्थवरो भविता भविष्यति'। अर्थात् विनय संपन्नतादि तीर्थंकरत्व के कारणांतरो से रहित केवल एक दर्शन विशुद्धि के द्वारा श्रेणिक नामक मगध महा मंडलेश्वर धर्मतीर्थंकर होगे।

शंका :—उत्तर पुराण के प्रकृत प्रसंग पर प्रकाश डालने वाली एक भिन्न दृष्टि पाई जाती है। वहां पर्व ७४ में श्रेणिक राजा ने गणधर देव से पूछा है कि मेरी जैनधर्म में बड़ी भारी श्रद्धा प्रगट हुई है तथापि मैं व्रतों को क्यों नहीं ग्रहण कर सकता है ?

समाधान :—उत्तर देते हुए गणधर देव ने कहा तुमने नरकायु का बध किया है ? यह नियम है कि देवायु के बन्ध को छोडकर अन्य आयु का बन्ध करने वाला फिर व्रतो को स्वीकार नही कर सकता। इसी कारण तुम व्रत धारण नही कर सकते। हे महाभाग ! आज्ञा, मार्ग, बीज आदि दस प्रकार की श्रद्धाओ मे से आज तुम्हारे कितनी ही श्रद्धाएँ विद्यमान है। इनके सिवाय दर्शनविशुद्धि आदि शास्त्रों मे कहे हुए जो शुद्ध सोलह कारण है, उनमे से सब या कुछ कारणो से यह भव्य जीव तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करता है। इनमें से दर्शनविशुद्धि आदि कितने ही कारणो से तू तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करेगा। मरकर रत्नप्रभा नरक मे जायेगा और वहाँ से आकर उत्सर्पिणी काल मे 'महापद्म' नाम का प्रथम तीर्थंकर होगा। ग्रन्थकार के शब्द इस प्रकार है :—

एतास्वपि महाभाग तव संत्यद्यकाश्चन ।
दर्शनाद्यागम प्रोक्तशुद्ध षोडशकारणैः ॥१५३८॥
भव्योव्यस्तैः समस्तैश्च नामात्मीकुरुते मम ।
तेषु श्रद्धादिभिः कैश्चिद्‌बध्वा तन्नामकारणैः ॥१५३९॥

रत्नप्रभां प्रविष्टः संस्तत्फलं मध्यमायुषा ।

भुक्त्वानिर्गत्य भव्यास्मिन् महापद्माख्य-तीर्थकृत ।।१५४०।।

इस विषय में तत्वार्थ श्लोकवार्तिकालकार का यह कथन ध्यान देने योग्य है। विद्यानन्दि स्वामी कहते हैं :—

दृग्विशुध्यादयो नाम्नस्तीर्थंकृत्वस्य हेतवः ।

समस्ता व्यस्तरूपा वा दृग्विशुध्या समन्विताः ।।१५४१।।

दर्शनविशुद्धि आदि तीर्थकर नाम कर्म के कारण है, चाहे वे सभी कारण हो या पृथक-पृथक हो किन्तु उनको दर्शनविशुद्धि समन्वित होना चाहिए। इसके पश्चात् तीर्थकर प्रकृति के विपय मे बडे गौरव पूर्ण शब्द कहते है :—

सर्वातिशायि तत्पुण्य त्रैलोक्याधिपतित्वकृत् ।।१५४२।।

वह पुण्य तीन लोक का अधिपति बनाता है। वह पुण्य सर्व श्रेष्ठ है।

दर्शनविशुद्धि आदि भावनाएँ पृथक् रूप मे तथा समुदाय रूप मे तीर्थंकर पद की प्राप्ति मे कारण है, ऐसा भी अनेक स्थलों मे उल्लेख आता है।
हरिवश पुराण मे कहा है :—

तीर्थंकर नामकर्माणि षोडश तत्कारणान्यमूनि ।

व्यस्तानि समस्तानि भवंति सद्भाव्य मानानि ।।१५४३।।

अकलंक स्वामी राजवार्तिक में लिखते है :—

तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग् भाव्यमानानि व्यस्तानि समस्तानि च तीर्थकर कामकर्मणः तत्र कारणानि प्रत्येतव्यानि। (सूत्र २४ पृ० २६७)

इन भावनाओं में दर्शनविशुद्धि का स्वरूप विचार करने पर उसकी मुख्यता स्पष्ट रूप से प्रतिभासमान होती है। तीर्थकर प्रकृति रूप वर्म कल्प तरु पूर्ण विकसित होकर रत्नत्रय के फलो से समलकृत होते हुये पुण्य रूपी पुष्पोसे अगणित भव्यों को अवर्णनीय आनन्द तथा शांति प्रदान करता है, उस कल्पतरु की बीजरूपता का स्पष्ट रूप से दर्शन प्रथम भावना से होता है।

दर्शन विशुद्धि मे आगत दर्शन शब्द सम्यग्दर्शन का वाचक है, इसी कारण यह आगम वाक्य है 'सम्मेव तित्थ बन्धो' तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध सम्यकत्व होने पर ही होता है। विशुद्धि का भाव है पुण्य प्रद उज्जवल भाव, जिसका संक्लेश की कालिमा से तनिक भी सम्वन्ध न हो। कारण विशुद्ध भाव से शुभ प्रकृतियो में तीव्र

अनुभाग पड़ता है । इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान में रखना उचित है कि तीर्थंङ्कर प्रकृति के बन्ध रूप बीज बोने का कार्य केवली श्रुत केवली के पादमूल अर्थात् चरणो के समीप होता है । भरत क्षेत्र मे इस काल मे अब उक्त साधन युगल का अभाव होने से तीर्थकर प्रकृति का बन्ध नहीं हो सकता है ।

प्रश्न—भावना के लिये केवली के चरणों की समीपता का क्या कारण है ?

उत्तर—इस प्रकार का उत्तर यह होगा कि उन जिनेन्द्र की दिव्यवाणी के प्रसाद से देव, मनुष्य, पशु सभी जीवो को धर्म का अपूर्व लाभ होता है । यह देखकर किसी महाभाग के हृदय में ऐसे अत्यन्त पवित्र भाव उत्पन्न होते है कि मिथ्यात्वरूप महा अटवी में मोह की दावाग्नि जलने से अगणित जीव मर रहे हैं, उनके अनुग्रह करने की प्रभो ! आपके समान क्षमता, शक्ति तथा सामर्थ्य मेरी भी आत्मा में उत्पन्न हो, जिससे में सम्पूर्ण जीवों को आत्मज्ञान का अमृत पिलाकर उनको सच्चा सुख मार्ग बता सकू । इस प्रकार की विश्वकल्याण की भावना के द्वारा सम्यक्त्वी जीव तीर्थंङ्कर प्रकृति का बन्ध करता है ।

विनयसपन्नता, अर्हंत भक्ति, आचार्य भक्ति, प्रवचन भक्ति, मार्ग प्रभावना, प्रवचनवत्सलत्व सदृश अनेक भावनाएं सम्यक्त्व के होने पर सहज ही उसके अगरूप में प्राप्त हो जाती है । जिस प्रकार अक्षर हीन मत्र विपवेदना को दूर नही कर सकता है । ऐसी स्थिति में सम्यक्त्व यदि सागोपाग हो तथा उसके साथ सर्व जीवो को सम्यक् ज्ञानामृत पिलाने की भावना या मगल कामना प्रबल रूप से हो जाय तो तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो सकता है । दर्शन विशुद्धि भावना परिपूर्ण होने पर अनेक भावनाओं के निरुपण को गौण बनाकर कथन किया जाय तो तीर्थकर पद मे कारण दर्शन विशुद्धि को भी (मुख्य मानकर) कहा जा सकता है ।

इस प्रसंग में पहले महामंडेलश्वर राजा श्रेणिक का उदाहरण आ चुका है । श्रेणिक महाराज अव्रती थे, क्योकि वे नरकायु का बन्ध कर चुके थे । वे क्षायिक सम्यक्त्वी थे । उनके दर्शन विशुद्धि की भावना थी, यह कथन भी ऊपर आ चुका है । महावीर भगवान का सानिध्य होने से केवली का पादमूल भी उनको प्राप्त हो चुका था । उनमें शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, आवश्यकापरिहाणि, शीलव्रतो मे निरतिचारता सदृश सयमी जीवन से सम्बन्धित भावनाओ को स्वीकार करने में कठिनता आती है, किन्तु अर्हत भक्ति, गणधरादि महान गुरुओ को श्रेष्ठ सत्सग रहने से आचार्य भक्ति,

बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, मार्ग प्रभावना, प्रवचन वत्सलत्व सदृश सद्गुणो का सद्भाव स्वीकार करने मे क्या बाधा आती है ? ये तो भावनाएं सम्यक्त्व की पोषिकाए है। क्षायिक सम्यक्त्वी के पास उनका अभाव होगा ऐसा सोचना तक कठिन प्रतीत होता है। अतएव दर्शन विशुद्धि की विशेष प्रधानता को लक्ष्य मे रखकर उसे कारणो मे मुख्य माना गया है। इस विवेचन के प्रकाश मे प्रतीयमान विरोध का निराकरण करना उचित है।

विशेष—सम्यग्दर्शन और दर्शन विशुद्धि भावना में भिन्नता है। सम्यग्दर्शन आत्मा का विशेष परिणाम है। वह बन्ध का कारण नही हो सकता। उसके सद्भाव मे एक लोक कल्याण की विशिष्ट भावना उत्पन्न होती है, उसे दर्शन विशुद्धि भावना कहते है। यदि दोनो मे अन्तर न हो, तो मलिनता आदि विकारो से पूर्णतया उन्मुख सभी क्षायिक सम्यक्त्वी तीर्थकर प्रकृति के बन्धक हो जाते; किन्तु ऐसा नही होता, अतः यह मानना तर्क सगत है कि सम्यक्त्व के साथ मे और भी विशेष पुण्य भावना का सदभाव आवश्यक है।

आगम मे कहा है कि तीनो सम्यक्त्वो मे तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध हो सकता है, अत. यह मानना उचित है कि सम्यक्त्व रूप आत्मनिधि के स्वामी होते हुए भी विशुद्ध भावना का सद्भाव आवश्यक है। उसके बिना क्षायिक सम्यक्त्वी भी तीर्थङ्कर प्रकृति का वन्ध नही कर सकेगा। क्षायिक सम्यक्त्व मात्र यदि तीर्थङ्कर प्रकृति का कारण होता तो सिद्ध पदवी की प्राप्ति के पूर्व सभी केवली तीर्थङ्कर होते, क्योकि केवल ज्ञानी बनने के पूर्व क्षपक श्रेणी आरोहण करते समय क्षायिक सम्यक्त्वी होना अनिवार्य नियम है। भरत क्षेत्र मे एक अवसर्पिणी में चौबीस ही तीर्थङ्कर हुए है। इतनी अल्पसख्या ही तीर्थकर प्रकृति की लोकोत्तरता को स्पष्ट करती है। क्षायिक सम्यक्त्वी होने मात्र से यदि तीर्थकर पदवी प्राप्त होती तो महावीर तीर्थकर के समवशरण मे विद्यमान ७०० केवली सामान्य केवली न होकर तीर्थकर केवली हो जाते, किन्तु ऐसा नही होता। एक तीर्थकर के समवशरण में दूसरे तीर्थकर का सद्भाव नही होता। एक स्थान पर एक ही समय दो सूर्य या दो चन्द्र प्रकाशित नही होते, उसी प्रकार दो तीर्थकर एक साथ नही पाए जाते है।

हरिवंश पुराण में कहा है—

नान्योन्यदर्शनं जातु चक्रिणां धर्मचक्रिणाम्।
हलिनां वासुदेवानां त्रैलोक्य प्रतिचक्रिणाम् ॥१२४४॥

चक्रवर्ती, धर्मचक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव तथा बलदेव इनका और अन्य चक्रवर्ती, धर्म चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव तथा बलदेव का क्रमश परस्पर दर्शन नही होता है।

प्रश्न—तीर्थङ्कर प्रकृति की विशेषता क्या है ?

उत्तर—तीर्थंकर प्रकृति के सद्भाव की विशेषता—तीर्थकर प्रकृति का उदय केवली अवस्था में होता है। तित्थं केवलिणि–यह आगम का वाक्य है। यह नियम होते हुए तीर्थकर भगवान् के गर्भकल्याणक जन्मकल्याणक तथा तपकल्याणकरूप कल्याणकमय तीर्थकिर प्रकृति के सद्भाव मात्र से होते है। होनहार तीर्थकर के गर्भकल्याणक के छह माह पूर्व ही विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। भरत तथा ऐरावत क्षेत्र मे पंचकल्याणक वाले ही तीर्थकर होते है। देवगति से चयकर आते है या नरक से आकर मनुष्य पदवी प्राप्त करते है। तिर्यञ्च पर्याय से आकर तीर्थकर रूप से जन्म नही होता है। तिर्यञ्चो मे तीर्थकर प्रकृति के सत्व का निषेध है। 'तिरियेण तित्थसत्त' यह वाक्य गोमट्टसार कर्मकाण्ड मे आया है। पञ्चकल्याणक वाले तीर्थकर मनुष्य पर्याय से भी नही आते। वे नरक देवगति से आते है। अपनी पर्याय परित्याग के छः माह शेष रहने पर नरक में देव जाकर होनहार तीर्थकर के असुरादि कृत उपसर्ग का निवारण करते है। स्वर्ग से आने वाले देव के छह माह पूर्व माला नही मुरझाती है। त्रिलोक सार मे कहा है—

तित्थयर संतकम्मुवसग्गं णिरए णिवारयंतिसुरा।
छम्मासाउगसेसे सग्गे अमलाण-मालंका ॥१९४५॥
तीर्थङ्कर सत्कर्मोपसर्गं नरके निकार्यंति सुराः।
षण्मासायुष्कशेषे स्वर्गे नरके मालाकाः ॥१४४६॥

इस अवसर्पिणी काल मे सभी तीर्थकर स्वर्ग से चयकर इस भरत क्षेत्र मे आये थे। जब स्वर्ग चय करने को छह मास शेष रहे तब उस महान आत्मा के प्रति सुरसमुदाय को महान आदर भाव उत्पन्न होता था। सबकी दृष्टि भगवान् की ओर केन्द्रित हुआ करती थी। वर्धमान चरित्र मे बताया है कि जिनेन्द्र होने वाले उस स्वर्गवासी देव को देवता लोग प्रणाम करने लगते है। कवि ने महावीर भगवान् के जीव प्राणतेन्द्र के विषय में जो बात लिखी वह अन्य तीर्थकरो के विषय मे भी उपयुक्त दिखती है।

भक्त्या प्रणेमुरतं मनसा सुरेन्द्रं,
षण्मासशेषसुरजीवितमेत्यदेवाः ।
तस्मादनंतरभवे वितनिष्यमाणं ।
तीर्थं भवोदधिसमुत्तरणैकतीर्थम् ॥१५४६॥

जिनकी देवगति सम्बन्धी आयु के छह माह शेष रहे हैं तथा जो आगामी जन्म में ससार समुद्र को तरकर जाने के लिये अद्वितीय घाट सदृश धर्मतीर्थ का प्रसार करने वाले हैं, ऐसे उस प्राणतेन्द्र के समीप जाकर अनेक देवता अन्त करण पूर्वक प्रणाम करने लगे थे।

ऐसी भक्ति पूर्वक समाराधना पूर्णतया स्वाभाविक है। होनहार तीर्थकर देवराज को स्वर्ग मे देखकर देवो को देवियो को, तथा देवेन्द्रो को ऐसा हर्ष होता है कि जैसे सूर्य दर्शन से कमलो को आनन्द प्राप्त होता है और वे विकास को प्राप्त होते है। जिस प्रकार किसी जगह पर कोई अद्भुत निधि अल्प काल के लिये आ जाए तो उसके दर्शन के लिये सभी नागरिक गए बिना नही रहते। इसी प्रकार छह माह के पश्चात् स्वर्ग को छोडकर मनुष्य लोक प्रयाण करने वाली उस परम पावन आत्मा की सभी देव अभिवन्दना द्वारा अपने को कृतार्थ अनुभव करते हैं। भगवान् छह माह पश्चात् स्वर्ग लोक का परित्याग करने वाले है, इसलिये इस पुण्यात्मा का अनुगमन करने वाली लक्ष्मी छह माह पूर्व ही स्वर्ग से मध्य लोक मे रत्नवृष्टि के बहाने से जा रही थी। जिनसेन स्वामी की कल्पना कितनी मधुर है—

संक्रन्दननियुक्तेन धनदेन निपातिता ।
साभात् स्वसंपदौत्सुक्यात् प्रस्थितेवाग्रतो विभोः ॥१५४७॥

इन्द्र के द्वारा नियुक्त हुए कुबेर के द्वारा जो रत्नो की वर्षा हो रही थी, वह इस प्रकार शोभायमान होती थी, मानो जिनेन्द्र देव की संपत्ति उत्सुकतावश उनके आगमन के पूर्व ही आ गई हो।

❋ पंचकल्याणक ❋

तीर्थंकरों के पचकल्याण या पचकल्याणक—तीर्थंकर भक्ति मे उनकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। वृषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरो का प्रथम विशेषण है, 'पचमहाकल्याणसम्पन्नाणं' वे पच महान कल्याणको को

प्राप्त है। अतएव प्रभु के पच कल्याणकों आदि के विषय में सक्षेप से प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है।

इस संसार को पच प्रकार के सकटों अकल्याणों की आश्रय भूमि माना गया है। उनको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भावरूप पच परावर्तन कहते है। तीर्थंकर भगवान के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान तथा मोक्ष का स्वरूप चितवन करने वाले सत्पुरुष को उक्त पंच परावर्तन रूप संसार मे परिश्रम का कष्ट नही उठाना पडता है। उनके पुण्यजीवन के प्रसाद से पंच प्रकार के अकल्याण छूट जाते है। तथा यह जीव मोक्ष रूप पंचमगति को प्राप्त करता है। पंच अकल्याणो के प्रतिपक्ष रूप तीर्थंकर के जीवन गर्भ जन्मादि पंच अवस्थाओ की पच कल्याण या अल्याणक नाम से प्रसिद्धि है। इन पांच प्रसंगों पर समस्त इन्द्रादिक आकर महान् पूजा उत्सवो को करते है। इन उत्सवो को पंच कल्याणक कहते है।

प्रश्न :—अयोध्यानगरी की रचना किस प्रकार है ?

उत्तरः—अयोध्या नगरी की रचना—जिनेद्र भगवान के गर्भ में आने के छह माह पूर्व से ही इस वसुन्धरा(भूमि)मे भावी तीर्थंकर के मगलमय आगमन की महत्ता को सूचित करने वाले अनेक कार्य सम्पन्न होने लगते है।

भगवान वृषभदेव के माता मरुदेवी के गर्भ मे आने के छह माह पूर्व ही इन्द्र की आज्ञानुसार देवो ने स्वर्गपुरी के समान 'अयोध्या' नगरी की रचना की। उसे साकेता, विनीता तथा सुकोशलापुरी भी कहते है। उस नगरी की अपूर्व रमणीयता का कारण महाकवि जिनसेन स्वामी के शब्दो मे यह था—

स्वर्गस्यैव प्रतिच्छंदं भूलोकेऽस्मिन् निधित्सुभि ।
विशेषरमणीयैव निर्ममे सामरैः पुरी ॥१५४८॥

देवो ने उस नगरी को विशेष मनोहर बनाया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि देवताओ की यह इच्छा थी कि मध्यलोक मे स्वर्ग की एक प्रतिकृति हो।

उस नगरी के मध्य में सुरेन्द्र भवन से स्पर्धा करने वाला महाराज नाभिराज के निवासार्थ नरेन्द्र भवन की रचना की गई थी, उनकी दिवालों मे अनेक प्रकार के दीप्तिमान मणि लगे थे। सुवर्ण मय स्तभो से वह समलकृत था। पुष्प, मूंगा, मुक्तादि की मालाओं से शोभायामान था। हरिवश पुराण में लिखा है कि उस राजभवन का

नाम 'सर्वतोभद्र' था। उसके ८१ मंजले थे, वह परकोटा, वापिका, उद्यानादि से शोभायमान था।

हरिवंश पुराण के शब्द इस प्रकार हैं—

सर्वतोभद्र संज्ञोऽसौ प्रासादः सर्वतोमतः।
सैकाशीतिपदः शालवप्युद्यानाद्यलंकृतः ॥१५४६॥
शांतकुंभमयस्तंभो विचित्रमणिभित्तिकः।
पुष्पावद्धमुक्तादि मालाभि रूपशोभितः ॥१५५०॥

आदिनाथ भगवान जिस नगर मे जन्म लेने वाले है, तथा जहाँ सभी देव, देवेन्द्र निरन्तर आया करेंगे, उसकी श्रेष्ठ रचना मे सदेह के लिये स्थान नही हो सकता है। इसका कारण महापुराणकार इस प्रकार प्रगट करते है—

सुत्रामा सूत्रधारोऽस्याः शिल्पिनः कल्पजाः सुराः।
वास्तुजातं मही कृत्स्ना सोद्धानास्कथं पुरी ॥१५५१॥

उस जिनेन्द्रपुरी के निर्माण में इन्द्र महाराज सूत्रधार थे, कल्पवासी देव शिल्पी थे, तथा निर्माण के योग्य समस्त पृथ्वी पडी थी वह नगरी प्रशसनीय क्यो न होगी ? वह नगरी द्वादश योजन प्रमाण विस्तार युक्त थी।

जिनसेन स्वामी का कथन है—उस अयोध्या नगरी मे सब देवो ने हर्षित होकर शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभ योग तथा शुभलग्न मे पुन्याहवाचन किया। जिन्हे अनेक सम्पदाओ की परम्परा प्राप्त हुई है, ऐसे महाराज नाभिराज तथा महारानी मरुदेवी ने हर्षित हो समृद्धि युक्त अयोध्या नगरी में निवास प्रारम्भ किया।

विश्वदृश्वैतयोः पुत्रो जनितेति शतक्रतुः।
तयोः पूजां व्यधत्तोच्चैरभिषेक पुरस्सरम् ॥१५५२॥

इन राजदम्पति के सर्वज्ञ पुत्र उत्पन्न होने वाले है, इसलिये इन्द्र ने अभिषेक पूर्वक उन दोनो की बडी पूजा की थी।

रत्नवृष्टि—भगवान के जन्म के १५ माह पूर्व से उस जन्म नगरी में प्रभात, मध्यान्ह, सायकाल तथा मध्य रात्रि मे चार बार साढ़े तीन करोड़ रत्नो की वर्षा होती थी, इस प्रकार चौदह करोड रत्नो की प्रतिदिन वर्षा हुआ करती थी। महापुराण व हरिवंशपुराण मे लिखा है, कि यह रत्नवर्षा राजभवन में होती थी। वर्धमान चरित्र मे कहा है कि तिर्यंग्विजृंभक नाम के देवगण कुबेर की आज्ञा से चारो दिशाओ में साढे तीन कोटि रत्नो की वर्षा करते थे। (सर्ग १७ श्लोक ३६)

प्रश्न :—जिनेन्द्र की मां की सेवा देवियां किस प्रकार करती है ?

उत्तर—जिनेन्द्र की जननी की अनेक देवागनाएँ सेवा करती रहती है—धर्मशर्माभ्युदय में लिखा है कि उनमें से श्री देवी सेवार्थ राज भवन में पहुँची और भगवान के पिता से कहने लगी—

निर्जरासुर-नरोरगेषु ते कोऽघुनापिगुणसाम्यमृच्छति ।
अग्रतस्तु सुतरां यतोगुरुस्त्वं जगत्त्रय गुरोर्भविष्यसि ॥१५५३॥

देव, असुर, मानव तथा नागकुमारो में अब कौन आपके गुणो से समानता को प्राप्त करेगा, क्योकि आप त्रिलोक के गुरु के भी गुरु होंगे ।

इसके पश्चात् वे देविया माता की सेवा के लिए अन्तःपुर मे प्रवेश करती है, अशग कवि ने लिखा है कि कुन्डल पर्वत पर निवास करने वाली चूलावती, मालनिका, नवमालिका, त्रिशिरा, पुष्पचूला, कनकचित्रा, कनकादेवो तथा वारुणीदेवी नाम की अष्टदिक्कन्यकाएँ इन्द्र की आज्ञा से जिनमाता की सेवार्थ गई थी । इसी तरह जिनमाता की सेवा करने वाली ५६ देवागनाओं के नाम—

१. कल्पवासी देवों के देवेन्द्र की इन्द्राणियाँ	१२	इनमे से
२. भवनवासी देवो के देवेन्द्र की इन्द्राणियाँ	२०	कुलाचल
३. व्यन्तर देवो के देवेन्द्र की इन्द्राणियाँ	१६	वासिनी
४. ज्योतिष्क देवों के देवेन्द्र की इन्द्राणियाँ	२	श्री देवी
५. कुलाचल वासिनी श्री देवी आदि देवियाँ	६	ह्री देवी
		धृति देवी
	५६	

कीर्तिदेवी, बुद्धिदेवी, लक्ष्मीदेवी ये छह देवियाँ माता के गर्भ शोधन का कार्य करती है । शेष देविया माता की सेवा प्रगट रूप से तथा प्रच्छन्न (गुप्त) रूप से करती रहती हैं, ऐसा पुराण मे लिखा है ।

प्रश्न :—तीर्थंकर की माता का पुण्य किस प्रकार का है ?

उत्तर :—जिन माता का अलौकिक पुण्य—पूर्व पश्चिम, दक्षिण, उत्तर इन चारों दिशाओं में सामान्य दृष्टि से समानता होते हुये भी पूर्व दिशा को विशेष महत्व इसलिये दिया जाता है कि भूमडल मे अपना उज्ज्वल प्रकाश प्रदान करने वाला भास्कर

की उसी दिशा मे विशेप ज्योति की आभा दिखाई पडती है और वह दिशा सबके नेत्रों को विशेष रमणीय लगती है। इसी प्रकार जिनेन्द्र जननी के गर्भ से दया धर्म के सूर्य तीर्थंकर परमदेव का जन्म हाने के पहले से ही अपूर्व सौभाग्य और सातिशय पुण्य की प्रभा दृष्टि गोचर होती है। तीर्थंकर भगवान के जन्म लेने के पहले से ही वह भावी जिनमाता मनुष्यो की तो बात ही क्या! देवेन्द्रो तथा इन्द्राणियों के द्वारा भक्ति पूर्वक सेवा तथा पूजा को प्राप्त करती है। सचमुच मे जिनेन्द्र की जननी का भाग्य और पुण्य अलौकिक है। नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ मे गर्भ कल्याणक के प्रकरण मे भगवान की माता की आदर पूर्वक पूजा करते हुये यह पद्य लिखा गया है—

विश्वेश्वरे विश्वजगत्सवित्रि पूज्ये महादेवि महासतित्वाम् ।
सुमंगलेऽर्घ्यैः बहुमंगलार्थैः संभावयामो भवन प्रसन्ना ।१५५४।।

हे विश्वेश्वरा, विश्वजगत् सवित्रि, पूज्या, महादेवी, महासती, सुमगला, माता अनेक मगल रूप पदार्थो के अर्घ्य द्वारा हम आपकी समाराधना करते है। हे माता हम पर प्रसन्न हो।

गर्भ कल्याणक—

गर्भ कल्याणक— स्वर्ग से अवतरण के छह मास के समय मे जैसे-जैसे दिन न्यून हो रहे थे, वैसे-वैसे यहां अयोध्यापुरी की सर्वाङ्गीण श्री, वैभव, सुख आदि की वृद्धि हो रही थी। शीघ्र ही वह समय आ गया कि देवायु का उदय समाप्त हो गया। मनुष्यायु तथा मनुष्यगत्यानुपूर्व्य का उदय आ जाने से वह स्वर्ग की विभूति मानव लोक मे आई और उसने माता मरुदेवी को सोलह स्वप्न दर्शन द्वारा उक्त बात की सूचना देने के साथ अपने मगल जीवन की महत्ता को पहले से ही प्रकट कर दिया।

जिनेन्द्रजननी के सोलह स्वप्नों का वर्णन—

प्रत्येक जिनेन्द्र-जननी सोलह स्वप्नो को रात्रि के अंतिम प्रहर में दर्शन के पश्चात् अपने पतिदेव से उनका फल पूछती है, जिससे माता को अपार आनन्द प्राप्त होता है।

जिनमाता के सोलह स्वप्न—१. गर्जना करने वाले सफेद हाथी को देखा, २ सफेद वैल को देखा, ३. सिह को देखा, ४. दोनो बाजू से दो कलशाभिषेक

कर रहे है ऐसी लक्ष्मी को देखा, ५. लटकती हुई दो फूलों की मालाएँ देखी, ६ चान्दनी युक्त पूर्ण चन्द्रमा को देखा, ७. उदय होते हुए सूर्य को देखा, ८. सरोवर मे क्रीड़ा करने वाले दो मीन देखें, ९. कमलाच्छादित सुवर्णमय दो पूर्ण कलश देखे, १०. पद्म सरोवर देखा, ११. उन्मत्त लहर युक्त समुद्र देखा, १२. रत्न जड़ित सिंहासन देखा, १३. रत्न-मणि जड़ित देव विमान देखा, १४. नागेन्द्र भवन देखा, १५. प्रकाशमान रत्नराशि देखी, १६. धूमरहित प्रखर अखर अग्नि ज्वाला देखी।

उन सोहल स्वप्नों के फल—

भगवान के पिता जिनेन्द्र जननी को स्वप्नों का फल इस प्रकार बताते हैं—मुनिसुव्रत काव्य में लिखा है कि—

नागेन तुंगचरितो वृषतो वृषात्मा सिंहेन विक्रमघनो रमयाऽधिकश्रीः।
स्त्रग्भ्यांघृतश्चशिरसाशशिनाल्कमच्छित् सूर्येणदीप्तिमहितो ऋषतःसुरुपः॥
कल्याणभाक्कलशतः सरसः सरस्तोगंभीर धीरुदधिनासनतस्तदीश.।
देवाहिवास–मणिराश्यनलैः प्रतीतदेवोरगागमगुणोद्गमकर्मदाहः॥१५५५॥

हे देवी ! गजेन्द्र दर्शन से सूचित होता है कि तुम्हारा पुत्र उच्च चारित्र वाला होगा. वृषभ दर्शन से धर्मातमा, सिंह दर्शन से पराक्रमी, लक्ष्मी से श्री सपन्न, माला से सबके द्वारा शिरोधार्य, चन्द्रमा से ससार के संताप को दूर करने वाला, सूर्य दर्शन से अधिक तेजस्वी, मत्स्य दर्शन से रूप सपन्न, कलश से कल्याण को प्राप्त, सरोवर से वात्सल्य भाव युक्त, समुद्र से गभीर बुद्धि वाला, सिंहासन से सिंहासन का स्वामी, देव विमान से देवो का आगमन, नागभवन से नागकुमार देवो का आगमन, रत्नराशि से गुणों का स्वामी तथा अग्नि दर्शन से सूचित होता है कि वह पुत्र कर्मो का दाह करके मोक्ष को प्राप्त करेगा।

माता मरुदेवी के स्वप्न में ऐसा दिखा था कि माता के मुख से वृषभ ने प्रवेश किया उसका फल यह था कि वृषभनाथ भगवान तुम्हारे गर्भ में प्रवेश करेंगे। अन्य तीर्थंकरों के आगमन के समय वृषभ के आकार के स्थान मे गजाकार धारी शरीर का मुख्य द्वार से प्रवेश होता है। जिनेन्द्र जननी के समान सोलह स्वप्न अन्य सरागी देवताओं की माताओं के नही आते है। अष्टांग निमित्त विद्या मे एक भेद स्वप्न विज्ञान है। नीरोग स्वस्थ व्यक्ति के स्वप्नों द्वारा भविष्य का बोध होता है। क्षत्रचूडामणि

काव्य में कहा है--'अस्वप्नपूर्वं हि जीवानां नहि जातु शुभाशुभम्' जीवो के कभी भी स्वप्न दर्शन के बिना शुभ तथा अशुभ नही होता है। इस विद्या के ज्ञाताओं की आज उपलब्धि न होने से उस विद्या को अयथार्थ मानना भूल भरी बात है। तुलनात्मक रीति से विविध धर्मों का साहित्य देखा जाय, तो भावि जिनेन्द्र शिशु की श्रेष्ठता को सूचित करने वाले उपरोक्त स्वप्न जिनमाता के सिवाय अन्य माताओं को नही दिखते। इस स्वप्न दर्शन के प्रश्न पर गम्भीरता-पूर्वक दृष्टि डालने वाले को जिनेन्द्र तीर्थंकर की श्रेष्ठता स्वय समझ मे आये बिना न रहेगी। माता के गर्भ मे पुण्यहीन शिशु के आने पर अमगल स्वप्न आते हैं। उपरोक्त स्वप्न दर्शन के पश्चात् तीर्थंकर होने वाली आत्मा माता के गर्भ में आ गई।

उस समय समस्त सुरेन्द्रादि गर्भावतरण की बात विविध निमित्तो से जानकर अयोध्यापुरी में आए। सब देवेन्द्रो तथा देवो ने नगर प्रदक्षिणा की और महाराज नाभिराज तथा माता मरुदेवी को नमस्कार किया। बड़े हर्ष से गर्भ कल्याण का महोत्सव मनाया गया।

भगवान स्वर्ग छोडकर अयोध्या मे आए है, किन्तु उनकी सेवा में तत्पर देव-देवी समुदाय को देखकर ऐसा लगता है कि स्वर्ग का स्वर्ग ही उन प्रभु के पीछे-पीछे वहां आ गया है। देवताओ का चित्त स्वर्ग लौट जाने को नही होता था, कारण जो निधि जिनेन्द्र भगवान के रूप मे अब अयोध्या में आ गई है, वह अन्यत्र नही है।

जिनेन्द्र भक्ति का अद्भुतफल—

जिनेन्द्र भक्ति और इन्द्र-इन्द्राणी आदिका अद्भुत भाग्य—माता का मनोरजन तथा सेवा का कार्य देवागनाएँ करने लगी। इन्द्र का एक मात्र लक्ष है कि देवाधिदेव की सेवा श्रेष्ठ रूप मे सम्पन्न हो। इस सेवा तथा भक्ति का पुरस्कार भी तो असाधारण प्राप्त होता है। वादिराज सूरि ने एकीभाव स्तोत्र में लिखा है—भगवन! इन्द्र ने आपकी भली प्रकार सेवा की इसमे आपकी महिमा नही है। महत्व की बात यह है कि उसे सेवा के प्रसाद से उस इन्द्र का ससार परिभ्रमण छूट जाता है। कहा भी है—

इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते।
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाध्यतामातनोति ॥१५५६॥

त्रिलोकसार में लिखा है कि सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र उसकी इन्द्राणी वहा से चयकर एक मनुष्य भव धारण करके मोक्ष को प्राप्त करते है। सौधर्मेन्द्र तो साधिक दो सागर प्रमाण देवायुपूर्ण होने के पश्चात् मनुष्य होकर मोक्ष जाता है, किन्तु उसकी पट्टदेवी शची पचपन पल्य प्रमाण आयु को भोग मनुष्य होकर शीघ्र मोक्ष जाती है। सागर प्रमाण स्थिति के समक्ष पचपन पल्य की आयु बहुत कम है। इन्द्राणी के शीघ्र मोक्ष जाने का कारण यह है कि जिनमाता और जिनप्रभु की सेवा का उत्कृष्ट सौभाग्य उसे प्राप्त होता है। इस कार्य से उसे अपूर्व विशुद्धता प्राप्त होती है। लौकान्तिक देव की पदवी महान है। उसकी स्थिति आठ सागर है। सर्वार्थसिद्धि के देव लोकोत्तर है। उनकी स्थिति ३३ सागर है। इतने लम्बे काल के पश्चात् उन महान् देवों को मोक्ष का लाभ मिलता है। शची का भाग्य अद्भुत है। स्त्रीलिंग छेदकर वह शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करती है। जिनेन्द्र भगवान की भक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण इन्द्राणी है। त्रिलोक सार मे कहा है—

सोहम्मो वरदेवी सलोगवाला य दक्खिणमरिंदा।
लोयंतिय सव्वट्ठा तदो चुआ णिव्वुदिं जंति ॥१५५७॥

सौधर्मेन्द्र, शची, उनके सोम आदि लोकपाल, दक्षिणेन्द्र, लौकान्तिक, सर्वार्थसिद्धि के देव वहा से चय करके नियम से मोक्ष जाते है।

जिनमाता के दोहला—माता की सेवा मे तत्पर श्री आदि देवियो ने क्या कार्य किया इसे महाकवि जिनसेनाचार्य कहते है—

श्री ह्रींधृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिलक्ष्म्यौ च देवताः।
श्रियं लज्जां च धैर्यं च स्तुति-बोधं च वैभवम् ॥१५५८॥

श्री देवी ने माता मे श्री अर्थात् शोभा की वृद्धि की। ह्री देवी ने ह्री अर्थात् लज्जा की, धृतिदेवी ने धैर्य की, कीर्ति देवी ने स्तुति की, बुद्धि देवी ने ज्ञान की वृद्धि की तथा लक्ष्मी देवी ने विभूति बढाई।

माता के शरीर मे गर्भ वृद्धि का बाह्य चिह्न न देखकर शकित मन को इससे शान्ति मिलती थी, कि जिन माता की तीव्र अभिलाषा त्रिभुवन के उद्धार रूप दोहला में हुआ करती है।

मुनिसुव्रत काव्य में लिखा है—

गर्भस्य लिंग परमाणु कल्पमप्येतदं गेऽव्वनवेक्ष्यरक्षी ।
जगत्त्रयोद्धारणदोहदेन परं नराणां बुबुधे ससत्वां ॥१५५६॥

अर्थात् भगवान के पिता ने जिनेन्द्र जननी के शरीर मे परमाणु प्रमाण भी गर्भरूप कार्य के चिन्ह न देखकर केवल जगत्त्रय के उद्धाररूप दोहला से उसे गर्भवती समझा । इस कथन से जिनेन्द्रजननी की शरीरस्थिति सम्बन्धी परिस्थिति का ज्ञान होता है, वैसे-भगवान के गर्भ कल्याणक सम्बन्धी अपूर्व सामग्री को देखकर सभी जीव प्रभु के गर्भावतरण को भली प्रकार जानते थे और उनके जन्म महोत्सव देखने की ममता से एक-एक क्षण को ध्यानपूर्वक गिना करते थे । महापुराणकार ने लिखा है—

रत्नगर्भा धरा जाता हर्ष गर्भाः सुरोत्तमाः ।
क्षोभमायाज्जगद्गर्भो गर्भाधानोत्सवे विभोः ॥१५६०॥

अर्थात् भगवान के गर्भ कल्याणक के उत्सव के समय पृथ्वी तो रत्नवर्षा के कारण रत्नगर्भा हो गई है । सुरराज हर्ष गर्भ अर्थात् हर्ष पूर्ण हो गए है । जगत्गर्भ अर्थात् पृथ्वी मडल क्षोभ को प्राप्त हुआ था अर्थात् ससार भर मे प्रभु के गर्भावतरण की वार्ता विख्यात हो गई थी ।

प्रश्न :—देवियां माता से क्या प्रश्न करती हैं और माता उनका क्या उत्तर देती हैं ?

उत्तर :—देवियो के माता से किये गये प्रश्नोत्तरो की रूपरेखा—गर्भस्थ शिशु जैसे-जैसे वर्धमान हो रहे थे, वैसे-वैसे माता की बुद्धि विशुद्ध होती जा रही थी । नववा माह निकट आने पर सेवा मे सलग्न देवियो ने अत्यन्त गूढ तथा मनोरजक प्रश्न माता से पूछना प्रारम्भ किया तथा माता द्वारा सुन्दर समाधान प्राप्त कर वे हर्षित होती थी । देवियो ने पूछा—(महापुराण मे लिखा है)

कः पंजरमध्यास्ते कः परुषनिस्वनः ।
क प्रतिष्ठा जीवानां कः पाठ्योऽक्षरच्युतः ॥१५६१॥

माता ! पिजरे मे कौन रहता है ? कठोर शब्द करने वाला कौन है ? जीवो का आश्रय कौन है ? अक्षर च्युत होने पर भी पढने योग्य क्या पाठ है । इन प्रश्नो का माता ने उत्तर दिया—

शुकः पंजरमध्यास्ते, काकः परुषनिस्वनः ।

लोकः प्रतिष्ठा जीवानां, श्लोकः पाद्योऽक्षरच्युतः ॥१५६२॥

कः पजर मध्यास्ते । इसमे 'शु' शब्द को जोड़कर माता कहती है, शुक (तोता) पिजरे में रहता है । दूसरे प्रश्न के उत्तर में माता 'का' शब्द जोडकर कहती है कठोर स्वर वाला 'काक' पक्षी होता है । तीसरे प्रश्न के उत्तर मे माता 'लो' शब्द को जोड़कर कहती है, जीवों का आश्रय 'लोक' है । चौथे प्रश्न के उत्तर में माता कहती है 'श्लो' शब्द को जोड़ने से अक्षर च्युत होने पर भी श्लोक पठनीय है ।

तीनों देवियों ने क्रम से ये प्रश्न पूछे कि—

कः समुत्सृज्यते धान्ये, घटयत्यम्ब को घटम् ?

वृषान्धशतिकः पापी वदाद्यैरक्षरैः पृथक् ? ॥१५६३॥

माता ! धान्य में क्या छोड़ दिया जाता है ? घट को कौन बनाता है ? वृषान् अर्थात् चूहो को कौन पापी भक्षण करता है ? इसका उत्तर पृथक्-पृथक् शब्दो मे बताइये जिनके आदि के अक्षर पृथक्-पृथक हो ?

माता ने उत्तर दिया 'पलाल' धान्य मे छोडा जाता है । 'कुलाल' कुम्भकार घट को बनाता है 'बिडाल' चूहो को खाता है । इन उत्तरो मे प्रारम्भ के दो शब्द पृथक्-पृथक् होते हुये अंत का अक्षर 'ल' सब मे है ।

प्रगट रूप से अनेक देवियां माता की बड़े विवेक पूर्वक सेवा करती थी । महापुराण मे यह महत्त्वपूर्ण कथन आया है—

निगूढं च शची देवी सिषेवे लिसाप्सराः ।

मघोनाघ-विनाशाय प्रहिता सा महासती ॥१५६४॥

अपने समस्त पापो का नाश करने के लिये इन्द्र के द्वारा भेजी गई इन्द्राणी अनेक अप्सराओ के साथ माता की गुप्त रूप से सेवा करती थी ।

प्रभु की माता में प्रारम्भ से ही लोकोत्तरता थी । अब जिनेन्द्र के गर्भ मे आने से वह सचमुच मे जगत की माता या जगदम्बा हो गई । उसकी गरिमा का कौन वर्णन कर सकता है ?

प्रश्न :—गर्भ मे भगवान कैसे थे ?

उत्तर :—गर्भ कल्याणक के वर्णन के प्रसग मे माता के गर्भ में विराजमान तथा सूर्य सदृश शीघ्र ही उदय को प्राप्त होने वाले उन भगवान की अवस्था पर प्रकाश डालने वाला धर्मशर्माभ्युदय का यह पद्य कितना भाव पूर्ण है ?

गर्भे वसन्नपि मलैरकलंकितांगो,
ज्ञानत्रयं त्रिभुवनैक गुरुर्बभार।
तुंगोदयाद्रि गहनांतरितोपि धाम,
किं नाम मुंचति कदाचन तिग्मरश्मिः ॥१५६५॥

अर्थात्—वे जिन भगवान गर्भ मे निवास करते हुए भी मल से अकलंक अंग युक्त थे, त्रिभुवन के अद्वितीय गुरु उन प्रभु ने मति, श्रुत तथा अवधि इन ज्ञानत्रय को धारण किया था। उन्नत उदयाचल के गहन मे छिपा हुआ भी तिग्मरश्मि अर्थात् सूर्य क्या कभी अपने तेज को छोडता है ?

जन्मकल्याणक— प्राची दिशा के गर्भ में सूर्य सदृश जिन जननी के गर्भ में छिपे हुये वे धर्मसूर्य जिनेन्द्र भव्यो को अधिक हर्ष प्रदान कर रहे थे। किन्तु जिस समय उन प्रभु का जन्म हुआ, उस समय के आनन्द और शान्ति का कौन वर्णन कर सकता है ? अन्तःकरणो मे सभी जीवो ने जिनेन्द्र जन्म-जनित आनन्द का अनुभव किया। त्रिभुवन के सभी जीवो को सुख प्राप्त हुआ। जन्म के समय जननी को कोई कष्ट नही हुआ। देवियाँ सेवा मे तैयार थी।

उस समय नैसर्गिक वातावरण अत्यन्त रमणीय और सुन्दर हो गया। नभोमडल अत्यन्त स्वच्छ था। मद सुगन्ध पवन का सचार हो रहा था। आकाश से सुगन्धित पुष्पो की वर्षा हो रही थी। उससे प्रतीत हो रहा था कि समस्त प्रकृति प्राकृतिक मुद्रा को धारण कर आत्मा की वैभाविक परिणति का त्याग कर अपनी प्राकृतिक स्थिति को ये जिनेन्द्र शीघ्र ही प्राप्त करेंगे, इसलिए सचेतन एव अचेतन प्रकृति के मध्य एक अपूर्व उल्हास और आनन्द की रेखा दिखाई पड़ती थी।

प्रश्न—जन्म समय में कौनसे चिन्ह प्रकट होते है ?

उत्तर :—जन्म समय के चिह्न—महापुराण मे जन्म के समय हुई मधुर बातो का इस प्रकार वर्णन किया है—

दिशः प्रसत्ति मासेदुः आसीन्निर्मलमम्बरम्।
गुणानामस्य वैमल्यं अनुकर्तुमिव प्रभोः ॥१५६६॥

उस समय समस्त दिशाएँ स्वच्छता को प्राप्त हुई थी और आकाश भी निर्मल हो गया था। उससे ऐसा प्रतीत होता था मानो भगवान के गुणों की निर्मलता का वे अनुकरण कर रहे हों।

प्रजानां ववृधेहर्षः सुराविस्मयमाश्रयन् ।
अम्लानि कुसुमान्युच्चैः मुमुचुः सुरभूरुहाः ।।१५६७।।

प्रजा का हर्ष बढ़ रहा था, देव आश्चर्य को प्राप्त हो रहे थे और कल्पवृक्ष ऊँचे से प्रफुल्लित पुष्पों की वर्षा रहे थे ।

अनाहताः पृथुध्वाना दध्वनुर्दिविजानकाः ।
मृदुः सुगंधिशिशिरो मरुन्मंदं तदाववौ ।।१५६८।।

देवों की दुन्दुभि अपने-आप ऊँचा शब्द करते हुये बज रही थी । कोमल शीतल और सुगंधित पवन मंद-मंद बह रहा था ।

प्रचचालमहीतोषात् नृत्यन्तीव चलद्गिरिः ।
उद्वेलो जलधिनूनमगमत् प्रमदं परम् ।।१५६९।।

उस समय पहाड़ों को कंपित करती हुई पृथ्वी भी हिलने लगी थी । मानो आनन्द से नृत्य ही कर रही हो । समुद्र की लहरे सीमा के बाहर जाती थी, जिससे सूचित होता था कि वह परम आनन्द को प्राप्त हुआ था ।

मुनिसुव्रत काव्य में लिखा है—

गृहेषु शंखाभवनामराणां, वनामराणां, पटलाः पदेषु ।
ज्योतिस्सुराणां सदनेषु सिंहाः, कल्पेषुघंटाः स्वयमेवनेदुः ।।५५७०।।

प्रभु के जन्म होते ही भवनवासियों के यहां शख ध्वनि होने लगी । व्यतरो के यहां भेरीनाद होने लगा । ज्योतिषी देवो के यहां सिहनाद तथा कल्पवासियो के यहां स्वयमेव घंटा बजने लगा ।

उस समय सौधर्मेन्द्र का आसन कंपित हुआ तथा उनका मस्तक झुक गया था, सौधर्मेन्द्र चकित हो सोचने लगे कि यह किस निर्भय, शंकारहित, अत्यन्त बाल स्वभाव, मुग्ध प्रकृति, स्वच्छन्द भाव वाले तथा शीघ्र करने वाले व्यक्ति का कार्य है ।

हरिवंश पुराण में कहा है—

आसनस्य प्रकंपेन दध्यौ विस्मित धीस्तदा ।
सौधर्मेन्द्रश्चलन्मौलिर्भूत्वा मूर्धानमुन्नतम् ।।१५७१।।
अतिबालेन मुग्धेन स्वतंत्रेणाशुकारिणा ।
निर्भयेन विशंकेन केनेदमप्यनुष्ठितम् ।।१५७२।।

इन्द्र महाराज पुनः चिन्ता निमग्न होकर विचार करते हैं—

देवदानवचक्रस्यस्वपराक्रम शालिनः ।
कथंचित्प्रतिकूलस्य यः समर्थः कदर्थने ।।१५७३।।
इन्द्र. पुरंदरः शक्रः कथं न गणितोऽधुना ।
सोऽहं कपयंतानेन सिंहासनमकंपितम् ।।१५७४।।

अपने पराक्रम से शोभायमान भी देव-दानव समुदाय के किंचित् प्रतिकूल होने पर जो उनके दमन करने की सामर्थ्य धारण करता है, ऐसे शक्र, पुरन्दर, इन्द्र नामधारी मेरे अकपित सिहासन को कपित करते हुये, उसने मेरी कुछ भी गणना नही की।

फिर सौधर्मेन्द्र के चित्त मे एक बात उत्पन्न हुई कि तीनो लोको में ऐसा प्रभाव तीर्थङ्कर भगवान के सिवाय अन्य मे सभावनीय नही है – 'सभावयामि नेहेत्थ-प्रभाव भुवनत्रये प्रभु तीर्थकरादन्यम्' पश्चात् अवधिज्ञान द्वारा ज्ञात हो गया कि भरत क्षेत्र मे महाराज नाभिराज के यहा ऋषभनाथ तीर्थकर का जन्म हुआ है। तत्काल ही वह विस्मय भाव महान आनन्द रस मे परिणित हो गया। 'जयतां जिन इत्युक्त्वा-प्रणनाम कृतांजलिः' (१२८ सर्ग ८) जिनेन्द्र भगवान जयवत हो ऐसा कहकर सात पैर जा हाथ जोडकर जिनेन्द्र भगवान को परोक्ष रूप से प्रणाम किया।

प्रश्न :—**भगवान का जन्म तो अयोध्या में हुआ और उनके जन्म की सूचना देने वाली वाद्य-ध्वनि स्वर्ग लोक में होने लगी। इन्द्रों के मुकुट झुक गये। इस विषय में क्या कोई वैज्ञानिक समाधान भी है या नहीं ?**

उत्तर —जिनागम मे जगद्व्यापी एक पुद्गल का महास्कध माना है, वह सूक्ष्म है। आज के भौतिक शास्त्रज्ञो ने 'ईथर' नाम का एक तत्व माना है, जिसके माध्यम से हजारो मील का शब्द रेडियो यन्त्र द्वारा सुनाई पडता है। इस विषय मे आगम का यह आधार ध्यान देने योग्य है। तत्वार्थसूत्र मे पुद्गल के शब्द, बन्ध आदि भेदो का उल्लेख करते हुए उसका भेद सूक्ष्मता के साथ स्थूलता भी बताया है। तत्वार्थ राजवार्तिक मे लिखा है, 'द्विविध स्थौल्यमवगतव्य तत्रांत्य जगद्व्यापिनि महास्कधे।' (अध्याय ५ सूत्र २४) दो प्रकार की स्थूलता कही गई है। पुद्गल की अन्तिम स्थूलता जगत् भर मे व्याप्त महास्कन्ध में है। इस महास्कन्ध के माध्यम से

जिनेन्द्र जन्म की सूचना तत्काल संपूर्ण जगत को अनायास प्राप्त हो जाती है। इस महास्कन्ध तत्व का स्वरूप किसी भी एकान्तवादी सिद्धान्त में नही बताया गया है, कारण वे एकांतवाद अल्पज्ञो के कथन पर आश्रित है, और जैन धर्म सर्वज्ञ के परिपूर्ण ज्ञान तथा तदनुसार निर्दोष वाणी पर अवस्थित है।

प्रश्न :—इन्द्र की सात प्रकार की सेना कौन सी है ?

उत्तर :—इन्द्र की सात प्रकार की सेना—सिद्धान्तसार दीपक मे लिखा है कि इन्द्र महाराज की सवारी के आगे-आगे सात प्रकार की सेना मधुर गीत गाती हुई चलती थी। अभियोग्य जाति के देवों ने गज, तुरंग आदि का रूप धारण किया था। देवगति नामकर्म का उदय होते हुये भी अल्प पुण्य होने के कारण उन अभियोग्य जाति के देवों को विविध प्रकार के वाहन आदि का रूप धारण करना पड़ता है। ऐसी ही दशा किल्विषिक देवो की हीनपुण्य होने के कारण होती है। वे अशुद्ध पिडधारी न होते हुये भी शूद्रो के समान उच्च देवो से पृथक् गमनादि कार्य करते है। जिनेन्द्र जन्मोत्सव के समय उनका कहां स्थान रहता है, यह पृथक् रूप से उल्लेख नही किया गया है।

तीन लोक के स्वामी तीर्थंकर का जन्म जानकर देवो की हाथी, घोड़ा, रथ गंधर्व, पदाति, बैल तथा नृत्य कारिणी रूप धारी सात प्रकार की सेना इन्द्र महाराज की आज्ञा से निकली। उस समय शोक, विषाद आदि विकारो का सर्वत्र अभाव हो गया था। सर्व जगत आनन्द के सिंधु मे निमग्न था। शांति का सागर दिग्दिगत मे लहरा रहा था। इन्द्र की सात प्रकार की देव सेना तीर्थंकर आदि का गुणानुवाद तथा नृत्य गायन करती हुई चलती है। इस सम्बन्ध मे यह कथन ज्ञातव्य है —

सात प्रकार की देवसेना का स्वरूप	वे देव किसका गुण किस स्वर मे गाते हुये चलते थे ?
पहली—गजरूप धारी देवो की सेना	षडज स्वर मे विद्याधर कामदेव आदि का गुणगान करती थी।
दूसरी—तुरंगरूप धारी देवों की सेना	ऋषभ स्वर मे माडलिक, महामांडलिक राजाओं का गुणगान करती थी।
तीसरी—रथरूपधारी देवों की सेना	गाधार स्वर मे बलभद्र, नारायण,

सात प्रकार की देवसेना का स्वरूप	वे देव किसका गुण किस स्वर में गाते हुये चलते थे ?
	प्रतिनारायण के बलवीर्य का गुणगान करती थी, तथा नृत्य करती जाती थी ।
चौथी—पैदल रूपधारी देवो की सेना	मध्यम स्वर में चक्रवर्ती की विभूति बल वीर्यादि का गुणगान करती थी ।
पचवी—वृषभ रूपधारी देवों की सेना	पंचम स्वर में लोकपाल जाति के देवो का गुणानुवाद करती थीं । चरम शरीरी मुनियो का भी गुणगान करती थी ।
छठवीं—गंधर्व रूपधारी देवों की सेना	धैवत स्वर में गणधर देव तथा ऋद्धिधारी मुनियो का गौरवपूर्ण ज्ञान करती थी ।
सातवी—नृत्यकारिणी देवो की सेना	निषाद स्वर मे तीर्थंकर भगवान के छियालीस गुणो का और उनके पुण्य जीवन का मधुर गान करती थी ।

प्रश्न :—ऐरावत हाथी का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—ऐरावत हाथी—सौधर्मेन्द्र ने एक लाख योजन के ऐरावत हाथी पर शची के साथ बैठकर अनेक देवो से समलकृत हो अयोध्या को प्रस्थान किया । ऐरावत गज का वर्णन अद्‌भुत रस को जागृत करता है । दैविक चमत्कार का वह अत्यन्त मनोज्ञ रूप था । विक्रिया शक्ति सपन्न देवो में कल्पनातीत शक्ति रहती है । इनका शरीर औदारिक शरीर की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म होता है । उस सूक्ष्म परिणमन प्राप्त वैक्रियिक शरीर का स्थूल रूप दर्शन ऐरावत हाथी के रूप मे होता था । वह गज लौकिक गजेन्द्रो से भिन्न था । देवसामर्थ्य का सुमधुर प्रदर्शन था । उस गज के बत्तीस मुख थे । प्रत्येक मुख मे आठ-आठ दात थे । प्रत्येक दात पर एक-एक सरोवर था । प्रत्येक सरोवर मे एक-एक कमलिनी थी । एक-एक कमलिनी मे बत्तीस-बत्तीस कमल थे । कमल के प्रत्येक पत्ते पर बत्तीस-बत्तीस देवांगनाएँ मधुर नृत्य कर रही थी । इस प्रकार २५६ दात, ८१९२ कमल, २६२१४४ कमल पत्र तथा

८३८८६०८ देवांगनाएँ थी। यही बात मुनिसुव्रत काव्य में इस प्रकार लिखी है :—

द्वात्रिंशदास्यानि मुखेऽष्टदंता दंतेब्धिरब्धौ बिसिनी बिसिन्यां।
द्वात्रिंशदब्जानि दलानि चाब्जे द्वात्रिंशदिद्धद्विरदस्यरेजुः ॥१५७५॥

ऐरावत का स्वरूप चितन करते ही बुद्धि जीवी मनुष्य मे अद्भुत रस उत्पन्न हुये बिना न रहेगा। यदि वह सोचे कि स्थूल रूपधारी छोटे दर्पण मे बडे-बडे पदार्थ प्रतिबिंब रूप से अपना सूक्ष्म परिणमन करके प्रतिबिम्बित होते है। छोटे से केमेरा द्वारा बड़ी वस्तुओ का चित्र खीचा जाता है, तब इससे भी सूक्ष्म वैक्रियिक शक्ति धारी देव रचित ऐरावत हाथी का सद्भाव पूर्णतया समीक्षक बुद्धि के अनुरूप है। सम्यग्दृष्टि जीव की श्रद्धा पदार्थो की अचित्य शक्ति को ध्यान मे रखकर ऐसी बातो को शिरोधार्य करने में संकोच का अनुभव नही करती है। सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी भगवान के द्वारा कथित तत्व होने से ऐसी बाते सम्यकत्वी सहज ही स्वीकार करता है। इन बातो को काल्पनिक समझने वाला आगम की विविध शाखाओ का मार्मिक ज्ञाता होते भी सम्यकत्व शून्य ही स्वीकार करना होगा, कारण सम्यकत्वी जीव प्रवचन मे कथित समस्त तत्वो को प्रमाणिक मानता है। एक भी बात को न मानने वाला आगम में मिथ्यात्वोदय के आधीन माना जाता है।

प्रश्न :—इन्होंने वैभव के साथ अयोध्या नगरी में किस प्रकार प्रवेश किया था ?

उत्तर :—सौधर्मेन्द्र का अयोध्या नगरी मे प्रवेश—सोलह स्वर्ग तक के समस्त देव, देवांगना तथा भवनत्रिक के देवताओ का समुदाय महान् पुण्यात्मा सौधर्मेन्द्र के नेतृत्व मे आकाश मार्ग से श्रेष्ठ वैभव, आनन्द, प्रसन्नता तथा अमर्यादित उल्लास के साथ अयोध्या की ओर बढ़ रहा था। जिनसेन स्वामी ने लिखा है :—

तेषामापततां यानविमानैराततं नभः।
त्रिषष्टि पटलेभ्योऽन्यत् स्वर्गान्तरमिवासृजत् ॥१५७६॥

उन आते हुए देवो के विमान और वाहनो से व्याप्त हुआ आकाश ऐसा प्रतीत होता था, मानो त्रेसठ पटल वाले स्वर्ग को छोडकर अन्य स्वर्ग का निर्माण हुआ हो। महाराज नाभिराज के राजभवन का प्रागण सुरेन्द्रो के समुदाय से भर गया था। देवो की सेनाएँ अयोध्या पुरी को घेर कर अवस्थित हो गई थी। इन्द्र ने शची को आदेश दिया कि तुम प्रसव मन्दिर मे प्रवेश करो। माता को सुखमयी निद्रा

मे निमग्न करके उनकी गोद मे मायामयी शिशु को रखकर जिनेन्द्र देव को मेरु पर्वत पर अभिषेक के लिये लाओ।

शची ने सुरराज की आज्ञा का पालन करते हुये उस नरेन्द्र भवन के अन्तः-पुर;में प्रवेश किया और माता मरुदेवी के अंचल के भीतर बैठे हुये बाल स्वरूप जिनेन्द्र का दर्शन किया। उस समय इन्द्राणी के हृदय मे ऐसा आनन्द आया कि उसका वर्णन साक्षात् भारती (सरस्वती) के द्वारा भी शायद ही सम्भव हो। त्रिलोकी नाथ की मुखचन्द्रिका दर्शन कर शची के नयन चकोर पुलकित हो रहे थे। हृदय कल्पनातीत आनन्द सिधु मे निमग्न हो रहा था। शची ने बालजिनेन्द्र सहित माता को बडे प्रेम, ममता, श्रद्धा तथा भक्ति पूर्वक देखा। अनेक बार भगवान और जिन माता की प्रदक्षिणा के पश्चात् त्रिभुवन के नाथ भगवान को बड़ी भक्ति से प्रणाम किया तथा जिनमाता की स्तुति करते हुये कहा :—

त्वमम्ब भुवनाम्बासि कल्याणीत्वं सुमंगला।
महादेवी त्वमेवाद्यत्वं सपुण्या यशस्विनी ॥१५७७॥

हे माता! तुम तो तीनो लोको का कल्याण करने वाली विश्वजननी हो। कल्याणकारिणी हो। सुमगला हो। महादेवी हो। यशस्विनी और पुण्यवती हो।

इस प्रकार जिनेन्द्र जननी के प्रति अपना उज्जवल प्रेम प्रदर्शित करते हुये माता को निद्रा निमग्न कर तथा उनकी गोद मे मायामयी शिशु को रख कर शची ने जगद्गुरु को अपने हाथ में उठाया और परमआनन्द को प्राप्त किया।

जिनसेन स्वामी कहते हैं—

तद्गात्र-स्पर्शमासाद्य सुदुर्लभमसौतदा।
मन्येत्रिभुवनैश्वर्यं स्वसात्कृतमिवाखिलम् ॥१५७८॥

उस समय अत्यन्त दुर्लभ बालजिनेन्द्र के शरीर का स्पर्श कर शची को ऐसा प्रतीत हुआ मानो तीन लोक का ऐश्वर्य ही उसने अपने आधीन कर लिया हो। इन्द्राणी ने प्रभु को बड़े आदरपूर्वक लेकर इन्द्र को देने के लिये प्रसव मन्दिर के बाहर पैर रखे, उस समय भगवान् के आगे अष्ट मगल द्रव्य अर्थात् छत्र, चामर, ध्वजा, कलश, सुप्रतिष्टक (ठोना), झारी, दर्पण तथा पखा धारण करने वाली दिक्कुमारी देवियाँ भगवान् की उत्तम ऋद्धियो के समान गमन करती हुई प्रतीत होती थी। इसके अनन्तर इन्द्राणी ने देवाधिदेव को सुरराज के करतल मे सौपा। कहा भी है—

ततः करतले देवी देवराजस्य तं न्यधात् ।
बालार्कमौदये सानौ प्राचीवप्रस्फुरन्मणौ ।।१५७६।।

जिस प्रकार पूर्व दिशा प्रकाशमान मणियो से शोभायमान उदयाचल के शिखर पर बाल सूर्य को विराजमान करती है, उसी प्रकार इन्द्राणी ने बालजिनेन्द्र को इन्द्र के करतल में विराजमान कर दिया।

प्रश्न— इन्द्र के सहस्र नेत्र बनाने का वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर—इन्द्र के सहस्त्र नेत्र— प्रभु की अनुपम सौन्दर्यपूर्ण मनोज्ञ छवि का दर्शन कर सुरराज ने सहस्त्र नेत्र बनाकर अपने आश्चर्य-चकित अन्तःकरण को तृप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु फिर भी वह आश्चर्य एव आनन्द के सिन्धु मे आकण्ठ निमग्न रह आया। जिस समय सुरराज ने जिनराज को गोद में लिया, उस समय जय जयकार के ऊच्च स्वर से दशो दिशाए पूर्ण हो रही थी। इन्द्र ने प्रभु की स्तुति करते हुये कहा—

त्वंदेव जगतां ज्योतिस्त्वं देव जगतां गुरुः ।
त्वं देव जगतां धाता त्वं देव जगतां पतिः ।।१५८०।।

हे भगवन् ! आप विश्वज्योति स्वरूप हो। जगत् के गुरु हो। त्रिभुवन को मोक्ष मार्ग प्रदर्शन करने वाले विधाता हो। हे देव ! आप समस्त जगत् के नाथ हो।

प्रश्न— भगवान् को पांडुक शिला की ओर कैसे ले जाते हैं ?

उत्तर—पाण्डुक शिला की ओर प्रस्थान—भगवान् को अपनी गोद मे लेकर सुरराज़ ऐरावत पर विराजमान हुये। उस समय ऐसा दिखता था मानो निषध पर्वत के अंक मे बालसूर्य शोभायमान हो रहा हो। उस परम दृश्य की क्षण भर अपने मन मे कल्पना करने से भी हृदय मे एक मधुर रस की धारा प्रवाहित हुये बिना न रहेगी। सौधर्मेन्द्र की गोद मे त्रिलोकीनाथ है। ईशान स्वर्ग का सुरेन्द्र धवल वर्ण का छत्र लगाए है। सनत्कुमार तथा महेंद्र नामक इन्द्र युगल देवाधिदेव के ऊपर चामर ढुरा रहे है। उस लोकोत्तर दृश्य की कल्पना भी जब हृदय में पीयूष धारा प्रवाहित करती है, तब उस समय के दृश्य के साक्षात् दर्शन से जीवो की क्या मनः स्थिति हुई होगी। जिनसेनाचार्य कहते है—

दृष्ट्वा तदातनीं मूर्ति कुदृष्टिमरुतोऽपुरे ।
सन्मार्गरुचिमातेनुः इन्द्रप्राभाव्य मास्थिताः ।।१५८१।।

उस समय की विभूति का दर्शन करके अनेक मिथ्यादृष्टि देवों ने इन्द्र को प्रमाण रूप मानकर सम्यक्त्व भाव को प्राप्त किया था ।

ज्योतिषी मण्डल का उल्लंघन—महापुराण मे लिखा है 'मेरु पर्वत पर्यन्त नील मणियो से निर्मित सोपान पक्ति ऐसी शोभायमान हो रही थी, मानो नील वर्ण दिखने वाले नभोमडल ने भक्तिवश सीढियो रूप परिणमन कर लिया हो ।

समस्त देव समाज ज्योतिष पटल को उल्लघन कर जब ऊपर बढा । तब वे देव ताराओ से समलकृत गगन मण्डल को ऐसा सोचते थे मानों यह कुमुदिनियो से शोभायमान सरोवर ही हो। ज्योतिष पटल में ७९० योजन पर ताराओ का सद्भाव है ।

ताराओ के आगे ९ योजन ऊचाई पर केतु (अरिष्ट) का विमान है ।

केतु	के आगे	१	योजन	ऊचाई पर	सूर्य का	,,
सूर्य	,,	७९	,,	,,	राहू का	,,
राहु	,,	१	,,	,,	चन्द्र का	,,
चन्द्र	,,	३	,,	,,	नक्षत्रों का	,,
नक्षत्रो	,,	३	,,	,,	बुध का	,,
बुध	,,	३	,,	,,	शुक्र का	,,
शुक्र	,,	३	,,	,,	गुरु का	,,
गुरु	,,	४	,,	,,	मगल का	,,
मगल	,,	४	,,	,,	शनैश्चर का	,,

इस प्रकार समतल भूमि (चित्रा भूमि) से ७९० योजन ऊंचाई पर ११० योजन मे ज्योतिषी देवो का आवास है । ये ज्योतिषी देव मेरु पर्वत से ११११ योजन दूर रहकर मेरु की परिक्रमा करते है ।

जब जिननाथ को लेकर देव और देवेन्द्र समुदाय ज्योतिर्लोक के समीप से जा रहा था, उस समय के दृश्य को ध्यान मे रखकर कवि अर्हद्दास एक मधुर उत्प्रेक्षा करते है—

मुग्धाप्सरा. कापि चकार सर्वानुत्फुल्लवक्त्रान् किलधूप चूर्णम् ।
रथाग्रवासिन्यरुणेक्षिपंति हसंतिचांगारचयस्य बुद्ध्या ॥१५८२॥

किसी भोली अप्सरा ने सूर्य सारथि को अंगार की राशि समझ कर उस पर

ूप चूर्ण डाल कर सबको हास्य युक्त कर दिया था।

सुमेरु की ओर जिनेन्द्र देव को लेकर जाता हुआ समस्त सुर समाज ऐसी आशंका उत्पन्न करता था; मानो जिनेन्द्र के समवशरण के समान अब स्वर्ग भी भगवान के साथ-साथ विहार कर रहा है।

प्रश्न—सुमेरु पर्वत और पांडुक शिला का वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर—सुमेरु पर्वत और पांडुक शिला—जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु का नाम सुदर्शन मेरु है। उस मेरु की नीव एक हजार योजन प्रमाण है। इस मेरु के नीचे भद्रशालवन है। ५०० योजन ऊचाई पर नन्दन वन है। पश्चात् ६२५०० योजन की ऊचाई पर सौमनस वन है। वहा से ३६ हजार योजन ऊचाई पर पांडुक वन है। इन चारों वनों में चारो दिशाओ मे एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है। एक मेरु सम्बन्धी चारो वनो के सोलह चैत्यालय है। विजय, अचल, मदर तथा विद्युन्माली नाम के चार मेरुओ के सोलह-सोलह जिनालय मिलकर पाच मेरु सम्बन्धी ८० जिनालय आगम मे कहे गये है। इन अकृत्रिम जिनालयो मे अत्यन्त वैभव पूर्ण जीवित जिनधर्म समान मनोज्ञ १०८ प्रतिबिम्ब शोभायमान होते है। राजवार्तिक मे लिखा है। 'अर्हत् प्रतिमा अनाद्यनिधना अष्टशत संख्या वर्णनातीत विभवाः मूर्ता इव जिनधर्मा विराजन्ते (पृष्ठ—१२६)

यह मेरु पर्वत नीचे से ६१ हजार योजन पर्यन्त नाना रत्न युक्त है। उसके ऊपर यह सुवर्णवर्ण सयुक्त है। त्रिलोकसार मे कहा है—

नानारत्नविचित्रः एकषष्ठिसहस्त्रकेषु प्रथमतः।
ततउपरि मेरुः सुवर्णवर्णान्वितः भवति ॥१५८३॥

मेरु सम्बन्धी जिनालयो की देव, विद्याधर तथा चारण ऋद्धिधारी मुनीश्वर वन्दना करके आत्म निर्मलता प्राप्त करते है। इस सुवर्ण मेरु की ४० योजन ऊची चूलिका कही गई है। उस चूलिका से बालाग्रभाग प्रमाण दूरी पर प्रथम स्वर्ग का ऋजुविमान आ जाता है। इस एक लाख योजन ऊचे मेरु के नीचे से अधोलोक आरम्भ होता है। मेरु प्रमाण मध्य लोक माना गया है। यही बात राजवर्तिक मे इस प्रकार वर्णित है—'मेरुरयं त्रयाणां लोकाना मानदण्ड। तस्याधस्तादधोलोकः। चूलिकामूलादूर्ध्व-मूर्ध्वलोकः मध्यमप्रमाणस्तिर्यग्विस्तीर्ण स्तिर्यग्लोक। एव च कृत्वाऽन्वर्थनिर्वचनं क्रियते। लोकत्रयं मिनातीति मेरुरिति' (पृष्ठ—२७१)

मेरु के ऊपर जो पांडुक वन है, उस वन में ईशान दिशा में सुवर्ण वर्णवाली पाडुक शिला है। यह शिला १०० योजन लम्बी ५० योजन चौड़ी और ८ योजन ऊंची होते हुये अर्ध चन्द्रमा के समान आकार वाली है। उस पर भरत क्षेत्रोत्पन्न तीर्थकर का अभिषेक होता।

आग्नेय दिशा में रजत (चादी) वर्णवाली पांडुक शिला ऊपर निर्दिष्ट पांडुक शिला के समान है। उस पर पश्चिम विदेह के तीर्थकर का अभिषेक होता है।

नैऋत्य दिशा मे तप्तसुवर्ण वर्णवाली रक्तशिला ऊपर निर्दिष्ट शिला के समान है। उस पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थ करो का अभिषेक होता है।

वायव्य दिशा मे रक्तवर्ण (लाल) वाली रक्तकम्बला ऊपर निर्दिष्ट शिला के समान है, उस पर पूर्व विदेह के तीर्थ करों का अभिषेक होता है। यह कथन त्रिलोकसार ग्रन्थ मे किया है—

पांडुक-पांडुकंबल-रक्ता तथा रक्तकंबलाख्याः शिलाः।
ईशानात् कांचन-रूप्य-तपनीय-रुधिरनिभाः ॥१५८४॥
भरतापरविदेहैरावतपूर्वविदेह जिन निबद्धाः।
पूर्वापरदक्षिणोत्तरदीर्घा अस्थिरस्थिरभूमि मुखाः ॥१५८५॥
मध्ये सिंहासनं जिनस्य दक्षिणगतंतु सौधर्मे।
उत्तरमीशानेन्द्रे भद्रासनमिहत्रयं वृत्तम् ॥१५८६॥

तत्वार्थ राजवार्तिक मे यह कथन आया है कि—

'तस्या प्राच्या दिशि पाडुकशिला' अर्थात् पूर्व दिशा मे पाडुकशिला है।

'अपाच्या पाडुकबलाशिला' अर्थात् दक्षिण दिशा मे पांडुकम्बला शिला है।

'प्रतीच्या रक्तकम्बलशिला' अर्थात् पश्चिम दिशा मे रक्तकम्बला शिला है।

'उदीच्या अतिरक्तकम्बला' अर्थात् उत्तर मे अतिरक्तकम्बल शिला है।

अकलक स्वामी ने यह भी लिखा है कि पूर्व दिशा के सिहासन पर पूर्व विदेह वाले तीर्थ करो का, दक्षिण दिशा मे भरत वाले तीर्थ करो का, पश्चिम दिशा मे पश्चिम विदेहोत्पन्न तीर्थ करो का तथा उत्तर के सिहासन पर ऐरावत क्षेत्रोत्पन्न तीर्थ करो का चारो निकाय के देवेन्द्र सपरिवार तथा महाविभूति पूर्वक क्षीरोदधि जल से भरे १००८ कलशो से अभिषेक करते हैं।

पौरस्त्ये सिहासने पूर्वविदेजान्, अपाच्ये भरतजान्, प्रतीच्ये अपरविदेहजान्,

उदीच्ये ऐरावतजांस्तीर्थरांचतुर्निकाय देवाधिपाः सपरिवाराः महत्याविभूत्या क्षीरोदवारिपरिपूर्णैररष्टाधिकसहस्त्रकनककलशैरभिषिचति (पृष्ठ–१२७)

तिलोयपण्णति में लिखा है कि पांडुकशिला में सूर्य के समान प्रकाशमान उन्नतसिहासन है। सिंहासन के दोनों पार्श्व मे दिव्यरत्नो से रचे गये भद्रासन विद्यमान है, जिनेन्द्र भगवान् को मध्यसिहासन पर विराजमान करते है। सौधर्मेन्द्र दक्षिण पीठ पर और ईशान इन्द्र उत्तर पीठ पर अवस्थित होते है (अ. ४ गाथा १८२२ से १८२९)

प्रश्न—जन्माभिषेक का वर्णन कैसा है ?

उत्तर—पांडुक शिला पर भगवान का अभिषेक—अब सौधर्मेन्द्र मेरु पर्वत के शिखर पर जिनेन्द्र भगवान के साथ पहुँच गये। महापुराण मे कहा है कि सुरन्द्र ने बड़े प्रेम से गिरिराज सुमेरु की प्रदक्षिणा की और पांडुकवन मे ईसान दिशा मे स्थित पांडुक शिला पर भगवान् को पूर्व मुख विराजमान किया। सभी देवगण जन्मोत्सव द्वारा जन्म सफल करने के हेतु पाडुकशिला को घेर कर बैठ गये। देवो की सेना आकाश रूपी आंगन को व्याप्त कर ठहर गई। देव दुन्दुभि बज रही थी। अप्सराए नृत्यगान मे निमग्न थी। अत्यन्त प्रशान्त, भव्य तथा प्रमोद परिपूर्ण वातावरण था। बहुत से देव क्षीर सागर का जल लाने के लिये कमर बांधकर सुवर्णमय कलशो को लेकर श्रेणीबद्ध होकर खडे हो रहे थे। जो स्वय पवित्र हैं, और जिसमे दुग्ध सदृश स्वच्छन्द सलिल है, भगवान के शरीर का स्पर्श करने के लिये ऐसे क्षीर सागर जल के सिवाय अन्य जल योग्य नही है ऐसा विचार कर ही देवो ने पंचम क्षीर सागर के जल से पंचगमति को प्राप्त होने वाले जिनेन्द्र के अभिषेक करने का निश्चय किया था।

प्रश्न :—क्षीरसागर की विशेषता का वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर :—क्षीर सागर की विशेषता के विषय में त्रिलोकसार का यह कथन ध्यान देने योग्य है—

जलयरजीवा लवणे कालेयंतिम सयंभुरमणेय।
कम्ममहीपडिबद्धे णहि सेसे जलयरा जीवा ॥१५८७॥

अर्थात्—लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र, अन्तिम स्वयभूरमण समुद्र ये कर्मभूमि से सम्बद्ध हैं। इन समुद्रो मे जलचर जीव पाए जाते है। शेष समुद्रो मे जलचर जीव नही है।

इससे यह विशेष बात दृष्टि में आती है कि क्षीर सागर का जल जलचर जीवो से रहित होने के कारण विशेषता धारण करता है। अभिषेक जल लाने से स्वर्ग निर्मित कलश आठ योजन गहरे, उदर मे चार योजन तथा मुख पर एक योजन चौडे। 'मुक्ता फलाचितग्रीवाः चन्दनद्रवर्चचिताः' अर्थात् वे घिसे हुये चन्दन से चर्चित थे तथा उनके कंठ भाग मुक्ताओ से अलंकृत थे।

सौधर्मेन्द्र ने अभिषेक के लिये प्रथम कलश उठाया। ईशानेन्द्र ने सघन चदन से चर्चित दूसरा भरा हुआ कलश उठाया। और जय जय शब्द करते हुये सौधर्मेन्द्र ने प्रभु के मस्तक पर प्रथम ही जल धारा छोड़ी, उस समय करोडों देवो ने भी जय जयकार के शब्दों द्वारा महान कोलाहल किया। भगवान का रक्त धवल वर्ण का था। क्षीर सागर का जल भी उसी वर्ण का है। अतएव उस जल द्वारा जिनेन्द्र देव का अभिषेक बड़ा सुन्दर प्रतीत होता था।

प्रश्न :—भगवान की शक्ति कैसी है ?

उत्तर :—तीर्थंकर भगवान के अतुल बल का प्रदर्शन—भगवान में अतुल बल था। विशाल कलशो से गिरी हुई जलधारा से बाल जिनेन्द्र को रचमात्र भी बाधा नही होती थी। यह देख अनेक देवगण विस्मय मे निमग्न हो गये थे।

महावीर भगवान का जब मेरु पर इन्द्रकृत अभिषेक सम्पन्न होने को था, उस समय सुरेन्द्र के चित्त में एक शंका उत्पन्न हुई थी कि भगवान का शरीर छोटा है, कही बडे-बडे कलशो के द्वारा किया जाने वाला महान अभिषेक प्रभु के अत्यन्त सुकुमार शरीर को सताप उत्पन्न न करे। भगवान ने अवधिज्ञान से इस बात को समझ कर इन्द्र के सदेह को दूर करने के लिये अपने पैर के अगूठे के द्वारा उस महान गिरिराज को हिला दिया था, उससे प्रभावित होकर इन्द्र ने वर्धमान तीर्थंकर का नाम 'वीर' रखा था। आचार्य प्रभाचन्द्र ने वृहत्प्रतिक्रमण की सस्कृत टीका में उपरोक्त कथन इन शब्दों मे स्पष्ट किया है, 'जन्माभिषेके च लघुशरीरदर्शनादाशंकितवृत्तेरिन्द्रस्य स्वसामर्थ्यख्यापनार्थं पादागुष्ठेन मेरु सचालनादिन्द्रेण 'वीर' इति नामकृतम्' (पृष्ठ ९६ प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी)।

वर्धमान चरित्र में उक्त प्रसग का इस प्रकार निरूपण किया है—

तस्मिन् तदा शुवतिकंपितशैलराजे घोणाप्रविष्ट सलिलात्पृथुकेऽप्यजस्त्रम्।
इन्द्रादयस्तृणमिवैकपदे निपेतुः वीर्यंनिसर्गजमनन्तमहो जिनानां।।

अर्थात्—जिस समय इन्द्र ने बालजिनेन्द्र का अभिषेक किया, उस समय नासिका मे जल का प्रवेश होने से बालजिनेन्द्र को छींक आ गई। इससे मेरू पर्वत कंपित हो गया और इन्द्र आदिक देव गण तृण के समान सहसा गिर पड़े। जिनेश्वर के स्वाभाविक अपरिमित बल है।

यह प्रभाव देखकर इन्द्र ने प्रभु का नाम 'वीर' रखा था। पद्मपुराण का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है—

पादांगुष्ठेन यो मेरुमनायासेनाकम्पयत्।
लेभे नाम महावीर इति नाकालयाधिपात् ॥१५८८॥

अर्थात् भगवान वर्धमान प्रभु ने बिना परिश्रम के पैर के अगुष्ठ के द्वारा मेरु को कंपित कर दिया था, इसलिए देवेन्द्र ने उनका नाम 'महावीर' रखा था। यथार्थ में तीन लोक मे जिन भगवान की सामर्थ्य के समान दूसरे की शक्ति नही होती है। मेरु शिखर पर किया गया महाभिषेक भगवान् जिनेन्द्र की बाल्य अवस्था मे भी अपार सामर्थ्य को प्रकट करता है।

इस प्रसग मे रत्नाकर कवि का यह कथन स्मरण योग्य है—'हे रत्नाकराधीश्वर ! देवेन्द्र आपकी सेवा में अपने ऐरावत हाथी को अर्पण कर गौरव को प्राप्त करता है। वह अपनी इन्द्राणी से आपके गुणगान कराता है। आपके अभिषेक के लि देवताओ की सेना के साथ शक्ति पूर्वक सेवा करता है। श्रद्धापूर्वक छत्र धारण करत है, नृत्य करता है। पालकी उठाता है। जब इन्द्र की ऐसी मार्दव भावपूर्ण परणति है तब नृकीट को अहंकार धारण करना कहा तक उचित है ? (रत्नाकर शतक पद्य ८१)

प्रश्न :—बाल भगवान के वस्त्राभूषण कहां से आते हैं ?

उत्तर :—तीर्थंकर भगवान के वस्त्राभूषण—श्रेष्ठ रीति से त्रिलोक चूडामणि जिनेन्द्र का जन्माभिषेक होने के पश्चात् इन्द्राणी ने बालजिनेन्द्र को विविध आभूषणो तथा वस्त्रादि से समलंकृत किया। भरत तथा ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरो के उपभोग मे आने वाले रत्नमय आभूषण सौधर्म तथा ईशान स्वर्ग मे विद्यमान रत्नमय सीको मे लटकते हुये उत्तम रत्नमय करडको अर्थात् पिटारो में रहते है। तिलोयपण्णत्ति मे इन पिटारो के विषय मे लिखा है, 'सक्कादि पूजणिज्जा' अर्थात् ये इन्द्रादि के पूजनीय है। 'अणादिणिहणा' अर्थात् अनादि निधन है 'महारम्मा' अर्थात् महारमणीय है। (अध्याय ८ गाथा ४०३ भाग दूसरा) के रत्नमय पिटारे वज्रमय द्वादश धारायुक्त

मानस्तम्भो मे पाए जाते है। त्रिलोकसार में भी कहा है – 'सौधर्मद्विके तौ मानस्तभौ भरतैरावततीर्थकर प्रतिबद्धौ स्तायाम्।' सानत्कुमार महेन्द्र स्वर्ग के मानस्तम्भो मे पूर्वापर विदेह के तीर्थंकरो के भूषण रहते है। (त्रिलोकसार गाथा ५२२, ५२२)

पांडुकशिला से देवेन्द्र का प्रभु के साथ अयोध्या नगर में आगमन—

सुदन्र वास्त्राभूषणो से प्रभु को समलकृत कर सुरराज ने अपने अंत करण के उज्ज्वल भावो को श्रेष्ठ स्तुति के रूप में व्यक्त किया। पश्चात् वैभव सहित वे देव देवेन्द्र ऐरावत हाथी पर प्रभु को विराजमान कर अयोध्यापुरी आए। इन्द्र ने महाराज नाभिराज के सर्वतोभद्र महाप्रासाद मे प्रवेश कर श्रीगृह के आंगन में भगवान को सिहासन पर विराजमान किया। महाराज नाभिराज उसे प्रिय दर्शन भगवान को प्रेम से विस्तृत नेत्रयुक्त हो तथा रोमाचयुक्त होकर देखने लगे। इस समय जनक-जननी को प्रभु का दर्शन कर जो सुख प्राप्त हुआ, वह कौन बता सकता है ? तीर्थंकर के जन्म से जब जगत् भर के जीवो को अपार आनन्द हुआ, तब उनके ही माता-पिता के आनन्द की सीमा वताने की कौन धृष्टता करेगा ? धर्मशर्माभ्युदय मे लिखा है—

उत्संगभारोप्य तमंगजं नृपः परिस्वजन्मीलित लोचनो बभौ।
अंतर्विनिक्षिप्य सुखं वपुर्गृहे कपाटयोः संघट्यन्निवद्वयम् ।।१५८९।

पिता ने अपने अग से उत्पन्न अंगज अर्थात् पुत्र को गोद मे लिया तथा आलिगन किया। उस समय उनके दोनो नेत्र बद हो गए थे। इन्द्र ने जब प्रभु का प्रथम बार दर्शन किया था, तब तो वह सहस्र नेत्रधारी बना था, किन्तु यहा त्रिलोकीनाथ के पिता ने 'मनुष्य' को सहज प्राप्त चक्षुयुगल का उपयोग न ले उनको भी बद कर लिया था, इसका क्या समाधान है ? इस शका के समाधान हेतु महाकवि के पद्य का उत्तरार्ध ध्यान देने योग्य है। पिता ने भगवान के दर्शन जनित सुख को शरीर रूपी भवन के भीतर रखकर नेत्र रूपी कपाट युगल को वद कर लिया, जिससे वह हर्ष बाहर न चला जाय। कितनी मधुर तथा आनन्ददायी उत्प्रेक्षा है।

एक नरभव धारण करने के पश्चात् शीघ्र ही सिद्ध भगवान बनकर भगवान के साथ मे सिद्धालय मे निवास करने के सौभाग्य वाले इन्द्र की भक्ति विवेक तथा सद्विचार से परिपूर्ण थी। भगवान को पिता के कर कमलो मे सौंपने के पश्चात् सुरराज भगवान की परिचर्या के हेतु समान रूप तथा वेप धारण करने वाले देव कुमारो को निश्चित कर स्वर्ग को चले गए।

३० तीर्थङ्करों को सहज प्राप्त जन्म काल के दस अतिशय गुण—

१. **सौरुप्य**—अत्यन्त सुन्दर शरीर होना।

२. **सौरभ**—अत्यन्त सुगन्धित शरीर होना।

३. **निःस्वेदत्त्व**—पसीना रहित शरीर होना।

४. **निर्मलत्व**—मल-मूत्र रहित निर्मल शरीर होना।

५. **प्रियंहितवादित्व**—मधुर हित-मित-प्रिय वचन बोलना।

६. **अप्रमित वीर्यता**—अनन्त बल-वीर्य होना।

७. **क्षीरगौर रुधिरत्व**—दूध के समान धवल रुधिर होना।

८. **सौलक्षण्य**—शरीर पर १००८ उत्तम लक्षणो का धारण करना।

९. **समचतुरस्त्रसंथान**—उत्तम आकार का शरीर होना।

१०. **वज्र वृषभनाराच संहनन**—वज्रमय शरीर होना।

ये दश स्वाभाविक अतिशय तीर्थंकरो के जन्म ग्रहण से ही उत्पन्न हो जाते है।

'एदं तित्थयराणं जम्मग्गहणादि उप्पण्णं' इस प्रकार तिलोयपण्णत्ति में लिखा है। (देखो भाग १ अ० ४ गाथा ८९६–९९८)

प्रश्न :—तीर्थंकरों के छद्मस्थकाल में आहार है, परन्तु नीहार नहीं है, क्या कारण है ?

उत्तर :—तीर्थंकर भगवान के केवलज्ञान होने के पूर्व कवलाहार अर्थात् अन्न-पान ग्रहण होते हुए भी नीहार अर्थात् मलमूत्र नही होता है। कहा भी है—

तित्थयरा – तप्पियरा हलहरचक्की इ–वासुदेवाहि।
पडिवासुभोगभूमिय आहारो णत्थि णीहारो ॥१४९०॥

अर्थात् छद्मस्थ तीर्थंकर, उनके माता, पिता, बलदेव, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण तथा समस्त भोग भूमियां जीवो के आहार है, परन्तु नीहार नही है।

इस आगम वाक्य के पीछे यह वैज्ञानिक सत्य निहित है, कि तीर्थंकर आदि विशिष्ट आत्माओ की जठराग्नि इस जाति की होती है, कि उसमे डाली गई वस्तु रस, रुधिर आदि रूप मे परिणत हो जाती है। तत्त्व नही बचता है, जो व्यर्थ होने के कारण मलमूत्र रूप से निकाल दिया जाय।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जब जठराग्नि मन्द होती है, तब मनुष्य : द्वारा गृहीत वस्तु से सार तत्त्व शरीर को नही प्राप्त होता है और प्राय॰ खाई गई पामग्री बाहर निकाल दी जाती है। इससे खूब खाते हुये भी व्यक्ति क्षीण होता जाता है। ठीक इसके विपरीत स्थिति उक्त महान् पुरुषो की होती है। शरीर मे प्राप्त समस्त सामग्री का समुदाय रुधिरादि रूप मे परिणत हो जाता है।

प्रश्न :—तीर्थंकर की माता रजस्वला नहीं होती है। क्या कारण है ?

उत्तर :—जिन माता के शरीर मे मल मूत्र नही होता है, तो यह सहज प्रश्न उत्पन्न हुआ करता है कि जिन माता रजस्वला होती है या नही ? इस शका के निवारण निमित्त महापुरण का यह श्लोक ध्यान देने योग्य है—

सम्मता नाभिराजस्य पुष्पवत्यरजस्वला ।
तदा वसुन्धरा भेजे जिनमातुरनुक्रियां ।।१५६१।।

भगवान के गर्भावतरण के समय वह पृथ्वी भगवान की माता मरुदेवी का अनुकरण करती थी, क्योकि माता मरुदेवी महाराज नाभिराज को जिस प्रकार प्रिय थी, उसी प्रकार वह पृथ्वो भी प्रिय थी। माता पुष्पवती होकर भी रजस्वला नही होती थी, इसी प्रकार पृथ्वी भी रजस्वला अर्थात् धूलि युक्त न होकर पुष्पों से सुशोभित होने के कारण पुष्पवती थी।

प्रश्न —तीर्थङ्कर के शरीर में श्वेत रक्त होने का रहस्य क्या है ?

उत्तर —भगवान के शरीर मे श्वेत आकार धारण करने वाला रुधिर होता है। इस विपय मे यह बात गम्भीरता पूर्वक विचारणीय है कि माता के शरीर मे अपने पुत्र के लिए स्नेह होने से क्षण भर मे उसके स्तन में दुग्ध आ जाता है। रुक्मिणी ने प्रद्युम्न को देखा था। जननी हृदय में नैसर्गिक स्नेह भाव उत्पन्न होने से उसके स्तनो मे दुग्ध आ गया था। इस शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक व्यवस्था को ध्यान मे रखने से यह बात अनुमान करना सम्यक् प्रतीत होती है कि जिनेन्द्र भगवान के रोम रोम मे समस्त जीवो के प्रति सच्ची करुणा, दया तथा प्रेम के बीज परिपूर्ण है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करते समय दर्शन विशुद्धि भावना भाई गई थी। दूसरो शब्दो मे उसका यह रहस्य है कि भगवान के विश्व प्रेम के वृक्ष का बीज बोया था, जो वृद्धि को प्राप्त हुआ है और केवलज्ञान काल मे अपने फल द्वारा समस्त जगत को सुख तथा शान्ति प्रदान करेगा। एकेन्द्रिय वनस्पति तक प्रभु के विश्व प्रेम की भावना

रूप जल से लाभ प्राप्त करेगी। इसी से केवलज्ञान की उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण बातो मे सौ योजन भूमि मे पृथ्वी धान्यादि से हरी भरी हो जाती है। भगवान का हृदय संपूर्ण जीवो को सुख देने के लिए जननी के तुल्य है। समन्तभद्र स्वामी ने भगवान पार्श्वनाथ के स्तवन मे उन्हे 'मातेव बालस्य हितानुशास्ता' बालक के लिए कल्याणकारी अनुशासन कर्त्री माता के समान होने के कारण माता तुल्य कहा है। प्राणी मात्र के दुःख दूर करने की भावना तथा उसके योग्य सामर्थ्य और साधन सामग्री समन्वित मातृचेतस्क जिनेन्द्र के शरीर में रुधिर का श्वेतवर्ण युक्त होना तीर्थंकर की उत्कृष्ट कारुणिक वृत्ति तथा महत्ता का परिचायक प्रतीत होता है।

शरीर संबधी विद्या मे प्रवीण लोगो का कहना है कि महान बुद्धिमान, सदाचारी, कुलीनतादि संपन्न व्यक्तियो के रक्त मे रक्तवर्णीय परमाणु पुज के स्थान मे धवलवर्णीय परमाणु पुज विशेष पाये जाते है। आज के असदाचार प्रचुर युग के शरीर शास्त्रज्ञ वर्तमान युग के हीनाचरण मानवो के रक्त को शोधकर उपरोक्त विचार पूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। यदि यह कथन सत्य है, तो तीर्थंकर भगवान के शरीर के रुधिर की धवलता को स्थूलरूप से समझने मे सहायता प्राप्त होती है।

एक बात और है भगवान् आरम्भ से ही सभी भोगों के प्रति आसक्ति रहित है, अतएव विरक्त आत्मा का रक्त यदि विरक्त अर्थात् विगत रक्तापना, लालिमा शून्यता से संयुक्त हुआ हो तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है। विरक्तो के आरध्य देव का देह सचमुच मे विरक्त परमाणुओ से ही निर्मित मानना पूर्ण सगठन है। सरागी जगत के लोगो का शरीर विषयो में अनुरक्त होने से क्यो न रक्त वर्ण का होगा।

भगवान का रोम-रोम विषयो से विरक्त था। इतना ही नही उनकी वाणी विरक्तता अर्थात् वीतरागता का सदा सिहनाद करती थी। मौन स्थिति मे उनके शरीर से ऐसे परमाणु बाहर जाते थे, जिससे उज्जवल ज्योति जगे, इसी अलौकिकता के कारण सौधर्म इन्द्र सदा प्रभु के चरणो की शरण ग्रहण करता है। भगवान के हृदय मे, विचार मे, जीवन मे जैसी विरक्तता थी, वैसी ही उनके रुधिर मे विरक्तता थी। इन्द्र भी चाहता था कि प्रभु की अत. बाह्य विद्यमान विरक्तता मुझे भी प्राप्त हो जाए। वैसे देवो के शरीर मे भी विरक्तता है, किन्तु आतरिक विरक्तता के बिना

वाह्य विरक्तता शव का श्रृ गार मात्र है। परम औदारिक शरीर धारी होकर अंत. वाह्य विरक्तता के धारक तीर्थकर ही होते हैं। सरागी शासन मे इस विरक्ता की कल्पना नही हो सकती, यह बात तो वीतरागी शासन मे ही वताई जा सकती है। वैभव शून्य मानव वैभव के शिखर पर स्थित श्रेष्ठ आत्माओ की कल्पना भी नही कर सकता है।

भगवान मे प्रारम्भ से ही विरक्तता है, इसका आधार यह है कि वे भगवान् जब माता के गर्भ मे आने के समय से लेकर आठ वर्प की अवस्था के होते है, तो वह भगवान सत्पुरुषो के योग्य देश सयम को ग्रहण करते हैं। आदिपुराण मे लिखा है :—

स्वायुराद्यष्टवर्षेभ्य· सर्वेषां परतो भवेत् ।
उदिताष्टकषायाणां तीर्थेशां देशसंयमः ॥१५६२॥

सव तीर्थङ्करो के अपनी आयु के प्रारम्भ से आठ वर्प के आगे से देशसंयम होता है, क्योकि उनके प्रत्याख्यानावरण तथा सज्वलन कषाये उदयावस्था को प्राप्त है। यदि प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न हो तो वे महाव्रती वन जाते।

ततोऽस्य भोगवस्तूनां साकल्येपि जितात्मन· ।
वृत्तिर्नियमितैकाभूदसंख्येय गुण निर्जरा ॥१५६३॥

यद्यपि इन जिनेन्द्र देव के योग्य वस्तुओ की परिपूर्णता थी, तथापि वे जितात्मा थे, और उनकी प्रवृत्ति नियमित रूप से ही होती थी, इससे असख्यात गुणी कर्मो की निर्जरा होती थी।

प्रश्न :—तीर्थङ्करों के शरीर पर रहने वाले १००८ सुलक्षणों की नामावली क्या है ?

उत्तर —भगवान का जीवन अतः वाह्य सौन्दर्य का अपूर्व केन्द्र था। सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से भी भगवान का पौद्गलिक शरीर १००८ लक्षणो से समलकृत होने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण था, महापुराण मे लिखा है कि भगवान के शरीर मे, १ श्री वृक्ष (नारियल का वृक्ष-विल्ववृक्ष), २. शख, ३. कमल, ४ स्वस्तिक (साथिया), ५. अकुश, ६ तोरण, ७. चमर, ८. श्वेत-छत्र (धवल छत्र), ९. सिहासन (सिह-पीठ), १०. ध्वजा (पताका), ११. मीन युगल (दो मीन), १२ दो कुभ, १३. कच्छप (कूर्म), १४. चक्र, १५. समुद्र, १६. सरोवर,

१७. विमान (देव विमान), १८. भवन (नागेन्द्र भवन), १९. हाथी, २०. मनुष्य, २१. मनुक्षी (स्त्री), २२. सिह, २३. बाण, २४. धनुप, २५. मेरु (महामेरु), २६. इन्द्र (देवेन्द्र), २७, देवागना, २८. पुर (पट्टण), २९. गोपुर, ३० चन्द्रमा, ३१. सूर्य, ३२. उत्तम घोड़ा, ३३. पखा, ३४, बासुरी (मुरली), ३५. वीणा, ३६. मृदंग, ३७ मालाए (दो पुष्प माला), ३८ रेशमी वस्त्र, ३९. दुकान, ४०. शेखर पट्ट-शीर्षाभूषण (मुकुट-किरीट) ४१. हार (कठिका वली मौक्तिक माला) ४२. पदक (चूडामणि), ४३. ग्रैवयक, ४४. प्रालम्ब, ४५ केयूर (भुजबन्द बाजूबन्द), ४६. अगद, ४७. कटिसूत्र (करधनी), ४८. दो मुद्रिका (पवित्र अगूठी), ४९. कुन्डल कर्ण भूषण, ५०. कर्णपुर, ५१, दो ककण (कड़ा), ५२ मजीर (नूपुर-घुंघरू), ५३. कटक, ५४. पट्ट (भाल पट्ट), ५५. सूत्र (ब्रह्म सूत्र), ५६ फल भरित उद्यान, ५७. पके वृक्षो से सुशोभित खेत (फल भार से नम्र हुई शाली का खेत), ५८. रत्नदीप, ५९. वज्र, ६० पृथिवी, ६१ लक्ष्मी, ६२. सरस्वती, ६३. कामधेनु, ६४. वृषभ (बैल), ६५ चूडामणि, ६६. महानिधिया, ६७, गृहांग कल्प वृक्ष, ६८. भाजनांग क०, ६९. भोजनांग क०, ७०. पानाग (मद्यांग), ७१. वस्त्राग क०, ७२. भूषणाग क०, ७३ माल्याग (कुसुमांग) क०, ७४. दीपाग क०, ७५. ज्योतिराग क०, ७६. सूर्याङ्ग क०, ७७. सुवर्ण, ७८, जम्बूवृक्ष, ७९ गरुण, ८० नक्षत्रो का समूह, ८१. तारागण, ८२ राजभवन, ८३ अगारक (शनि) गृह, ८४. रविग्रह, ८५. चन्द्रग्रह, ८६. मंगलग्रह, ८७ बुध, ८८ गुरु, ८९. शुक्र, ९०. राहु, ९१. केतु, ९२. सिद्धार्थ वृक्ष, ९३. अशोक वृक्ष, ९४. रत्न सिहासन, ९५ छत्रत्रय, ९० भामडल (प्रभामडल), ९७. दिव्यध्वनि, ९८ पुष्पवृष्टि, ९९. चमर, १०० देवदुन्दुभि, १०१. झारी (शृ गार), १०२, कलश, १०३. ध्वजा, १०४. छत्र, १०५. स्वास्तिक (सुप्रतिष्ठ-साथिया), १०६. चमर, १०७. दर्पण, १०८ पखा (ताल व्यजन तालवृन्त), इस प्रकार १०८. मुख्य लक्षण तथा मसूरिकादि, ९०० व्यजन अर्थात् सामान्य लक्षण, ये सब मिलकर १००८ सुलक्षण विद्यमान थे। (देखो महा पु० पूर्व १५२ लोक ३७ से ४४)।

प्रश्न :—क्या निमित्त ज्ञान सच्चा है ?

उत्तर :—निमित्त ज्ञान के शास्त्र और शास्त्रज्ञ—महाकवि कहते हैं—इन मनोहर और श्रेष्ठ लक्षणो से व्याप्त हुआ भगवान का शरीर ज्योतिषी देवो से भरे

हुए आकाशरूपी आगन के समान शोभायमान हो रहा था।

अभिरामं वपुर्भर्तुः लक्षणैरभिर्वजितैः।
ज्योतिर्भिरव संच्छन्नं गगन प्रांगणं बभौ ॥१५६४॥

आज इस महान् विज्ञान के ज्ञाताओ का प्राय लोप हो गया, इससे इस विद्या के महत्व को भी लोग भूलने लगे। जिन धरसेन महामुनि ने भूतबलि तथा पुष्पदन्त साधु युगल को महाकर्म प्रकृति प्राभृत रूप परमागम का उपदेश दिया था, वे सामुद्रिक विद्या, स्वरशास्त्र, स्वप्न शास्त्र आदि मे पारगत थे। धवलग्रन्थ पृष्ठ ६७ में धरसेन आचार्य को 'अट्ठगमहाणिमित्त पारएण' शब्द द्वारा अष्टाग निमित्त विद्या के पारगामी कहा है। यह विज्ञान विद्यानुवाद नाम के दशमपूर्व मे सगृहीत है।

प्रश्न—**लांछन या चिन्ह किसको कहते है ?**

उत्तर—तीर्थङ्करो के जन्मकाल के दश अतिशयो मे से "सौलक्षण्य" नामक एक अतिशय है, उस अतिशयानुसार उनके शरीर पर रहने वाले १००८ लक्षणों में से उनके दाहिने पैर के अगूठे मे जो चिन्ह रहेगा उसको 'लाछन' या 'चिन्ह' कहते है। लिखा भी है—

जम्मणकाले जस्सदु दाहिणपायम्मि होइ जो चिण्हं।
तं लक्खण पाउत्तं आगमसुत्ते सुजिणदेहं ॥१५६४॥

प्रश्न—तीर्थङ्कर भगवान गृहस्थावस्था में अवधिज्ञान जोड़ते थे या नहीं ?

उत्तर—तीर्थकरो के जन्म से मति-श्रुत-अवधि ये तीन ज्ञान रहते है। वे गृहस्थ अवस्था मे अवधिज्ञान जोडते रहते थे। इस विषय मे सोमसेन कृत लघुपद्म-पुराण मे लिखा है कि—

पट्टहस्तिदामुक्तो भुक्ति करोति दुःखदाम्।
तद्दृष्ट्वावधिनेत्रेण जिनः प्राह जनान् प्रति ॥१५६५॥

अर्थात्—एक दिन २०वे मुनिसुव्रत नाथ तीर्थकर गृहस्थावस्था में अपने पुत्र के साथ सभा मण्डप मे विराजमान थे। वहा जब पट्टहाथी का प्रसग आया था, उस समय उन्होने अपने अवधि ज्ञान से सब सभासदो को पट्टहाथी का वृतात कह दिया था। अतः उत्तर पुराण मे भी यह कथन आया है—

वनस्मरणसंत्यक्तकबलग्रहणं नृपः ।
निरीक्ष्यावधिनेत्रेणविज्ञानेनात्मनोगतम् ॥१५६६॥

तत्पूर्वभवसम्बद्धं कौतूहलवतां नृणाम् ।
अवोचद्वृत्तमित्युच्चैः स मनोहरया गिरा ॥१५९७॥

वन का स्मरण कर मुख्य हाथी ने खाना पीना छोड़ दिया था। उसे देखकर मुनिसुव्रत महाराज ने अपने अवधिज्ञान रूपी नेत्रो से उसके पूर्व भव का सम्बन्ध जान लिया और मनोहर तथा ऊंची वाणी से कौतुहल युक्त लोगो को वे समझा दिये थे। इससे स्पष्ट होता है कि तीर्थंकर भगवान गृहस्थावस्था में अवधिज्ञान का उपयोग करते हैं।

प्रश्न—तीर्थङ्कर (छद्मस्थ) प्रभु की और मुनियों का मेल होता है या नही? और मुनिश्वरों को वन्दना करते या नहीं?

उत्तर—उनका मेल होता है, परन्तु तीर्थंकर मुनीश्वरो की वन्दना नही करते हैं। एक दिन श्री कुन्थुनाथ चक्रवर्ती (तीर्थंकर) वन विहार करके लौटे। अपने नगर मे आते समय रास्ते में एक आतापनयोग साधु को देखकर उन्होने अपनी तर्जनी अंगुली से मन्त्री को बताया था। उस समय मन्त्री ने मुनि को नमस्कार किया था, और तीर्थंकर (छद्मस्थ) प्रभु से पूछा था हे देव! ऐसे दुर्धर तप करने से साधुओ को कौनसा फल मिल सकता है? तब प्रसन्न मुख भगवान ने कहा था कि यदि कर्म नाश करे तो इसी भव मोक्ष चले जायेंगे। कदाचित् कर्म का नाश न हो तो इन्द्रादिक पद प्राप्त कर वे कर्म का नाश कर मुक्त हो जायेंगे।

असग कवि कृत वर्धमान चरित्र सर्ग १७ श्लोक ९२ मे लिखा है कि विजय, संजय नाम के दो चरण मुनियों को किसी एक बात के अर्थ के विषय में सन्देह उत्पन्न होने के बाद अकस्मात् उनको श्री वर्धमान स्वामी का दर्शन होते ही वे निःसन्देह हो गये थे। तब वन्होंने बड़ी भक्ति भाव से वर्धमान स्वामी को 'सन्मति' यह नाम देकर वहां से प्रस्थान किया था। इसलिये तीर्थङ्करो की (छद्मस्थ अवस्था मे) मुनियो से भेंट होती है, यह सिद्ध होता है।

प्रश्न—तपकल्याणक का वर्णन किस प्रकार है?

उत्तर—तपकल्याणक या परिनिष्क्रमण—भगवान की मोह निद्रा दूर होने से वे भली प्रकार जाग चुके। अब उन्हे कर्मचोर नही लूट सकते हैं। जगने के पूर्व मे भगवान पिता होने के रूप में भरत, बाहुबली ब्राह्मी सुन्दरी को देखते रहे। पितामह होने के रूप में मरीचि आदि पौत्रों पर दृष्टि रखते थे। अयोध्या की जनता को प्रजा-

पति होने से आत्मीय भाव से देखते थे। अब उनकी सम्पूर्ण दृष्टि बदल गई। एक चैतन्य आत्मा के सिवाय अन्य सब पदार्थ पर प्रतिभा समान होने लग गए। मोतिया बिन्दु वाले मनुष्यो के नेत्र मे जाला आने से वह अध सदृश हो जाता है। जाला दूर होते ही उसे प्रकाश प्राप्त होता है। अपना पराया पदार्थ दिखने लगता है।

नीलाजना को अवलम्बन बनाकर सुधी सुरराज ने भगवान के नेत्रों को स्वच्छ करने मे बडी चतुरता से काम लिया। भगवान के जन्म होने पर उस इन्द्र ने आनन्दित होकर सहस्त्र नेत्र बनाये थे। आज भी सुरराज मोह जाल दूर होने से आध्यात्मिक सौन्दर्य समन्वित विरक्त आदिनाथ प्रभु की अपने ज्ञान नेत्रों द्वारा नीरांजना करते हुये, आरती उतारते हुये अपूर्व शाति तथा प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है। इसका कारण यह कि इन्द्र महाराज की जिनेन्द्र मे जो भक्ति थी वह मोहान्धकार से मलिन नही थी। वह सम्यक्त्व रूप चिन्तामणि रत्न के प्रकाश से दैदीप्यमान थी।

अब तक विरक्त तथा दिव्य विषयो में आसक्त रहने वाले देवर्षि रूप से माने जाने वाले लौकान्तिक देव अपने स्थान से ही जिनेन्द्र प्रणाम करते थे। सुदर्शन मेरु के शिखर पर सारे विश्व को चकित करने वाला जिनेन्द्र भगवान का जन्माभिषेक हुआ। वहां सभी चारो निकाय के देव विद्यमान थे, केवल इन विरक्त देवर्षियो का अभाव था। ये वैराग्य के प्रेमी कोकिल सदृश थे, जिन्हे अपना मधुर गीत प्रारम्भ करने के लिये वैराग्य पूर्ण बसन्त ऋतु चाहिये थी, जिससे सब कष्टो का सदा के लिये अन्त हो जाता है। योग्य बेला देखकर ये देवर्षि भगवान के समीप आए।

प्रभु को प्रणाम कर कहने लगे, "भगवन ! आपने मोह के जाल से छूटने का जो पवित्र निश्चय किया है वह आप जैसी उच्च आत्मा की प्रतिष्ठा के पूर्णतया अनुरूप है। अब तो धर्म तीर्थ प्रवर्तन के योग्य समय आ गया है, "वर्तते कालो धर्म तीर्थ प्रवर्तने।"

हे नाथ ! चारो गति रूप महाटवी मे दिशाओ का परिज्ञान न होने से भटकते हुए जीवो को मुक्तिपुरी मे पहुँचने का सुनिश्चित मार्ग बताइये। प्रभो ! अब आपके द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर सत्पुरुष जन्म मरण के श्रम से से शून्य होकर त्रिलोक के शिखर पर जहा अविनाशी आनन्द है, पहुचकर विश्राम करेंगे।

इसके अनन्तर चारो निकाय के देव आए। उन्होने क्षीर सरोवर के जल से भगवान का अभिषेक किया। जन्म कल्याणक के समय निर्मल शरीर वाले बाले जिनेन्द्र

के शरीर का महा अभिषेक हुआ था। आज वैराग्य को प्राप्त मोक्षपुरी को जाकर अपने आत्म-साम्राज्य को प्राप्त करने को उद्यत प्रभु के अभिषेक मे भिन्न प्रकार की मनोवृत्ति है। आज तो ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य शरीर के अभिषेक के बहाने से ये सुरराज अन्तःकरण में जागृत ज्ञान ज्योति से समलकृत आत्मदेव का अभिषेक कर रहे है। यह अभिषेक बाल रूप धारी तीर्थंकर का नही है। यह तो सिद्ध वधू को वरण करने के लिये उद्यत प्रबुद्ध विरक्त जिनेन्द्र के शरीर का अन्तिम अभिषेक है। इसके पश्चात् इन वीतरागी जिनेन्द्र का अभिषेक नही होगा। आगे ये जिनेन्द्र सदा चिन्मयी विज्ञान गंगा मे डुबकी लगाकर आत्मा को निर्मल बनावेगे। अब तो भेद विज्ञान भास्कर उदित हो गया है। उसके प्रकाश मे ये शरीर से भिन्न चैतन्य ज्योति देखकर उसे विशुद्ध बनाने के पवित्र विचार मे निमग्न है।

दीक्षा पालकी—आत्म प्रकाश से सुशोभित जिन राज ने मार्मिक वाणी द्वारा सबको नग्न सत्य कहते हुए स्वय अन्तःबाह्य नग्नमुद्रा धारण करने का निश्चय किया। वीतराग प्रभु अब 'सुदर्शना' पालकी पर विराजमान हो गए। भूमि गोचरी राजाओ ने प्रभु को पालकी सात पैंड तक अपने कन्धों पर रखी। विद्याधरो ने भी सप्तपद प्रमाण प्रभु की पालकी को वहन किया। इसके पश्चात् देवताओ ने प्रभु की पालकी कन्धों पर रखकर आकाश मार्ग द्वारा शीघ्र ही दीक्षावन को प्राप्त किया। यह सिद्धार्थ नाम का दीक्षा वन अयोध्या के निकट ही था। भगवान का सारा परिवार प्रभु की विरक्ति से व्यथित हो रहा था। उसे देखकर ऐसा लगता था, मानो मोह शत्रु के विजयार्थ उद्योग मे तत्पर भगवान को देखकर मोह की सेना ही रो रही है। चारो ओर वैराग्य का सिन्धु उद्वेलित हो रहा था।

प्रश्न—दीक्षा पालकी उठाने के प्रसंग पर क्षोभ की कल्पना करना उचित है या नहीं ?

उत्तर—कोई-कोई सोचते है भगवान की दीक्षा की बेला मे उस प्रस्थान के पावन प्रसग पर पालकी उठाने के प्रकरण को लेकर मनुष्यो तथा देवताओ मे झगडा हो गया यह कल्पना अत्यन्त असगत, अमनोज्ञ तथा अनुचित है। उस प्रसग की गम्भीरता को ध्यान मे रखने पर एक प्रकार से यह कल्पना सारशून्य ही नही अपवाद-पूर्ण भी प्रतीत हुये बिना न रहेगी। जहां विवेकी सौधर्मेन्द्र के नेतृत्व में सर्वकार्य सम्यक् रीति से संचालित हो रहे हो। चक्रवर्ती भरत सदृश प्रतापी नरेन्द्र प्रजा के

अनुशासन प्रदाता हो और जहा भगवान के वैराग्य के कारण प्रत्येक का ममता पूर्ण हृदय विशिष्ट विचारो मे निमग्न हो, वहा झगड़ा उत्पन्न होने की कल्पना तक अमगल रूप है। सभी लोक विवेकी थे। अतएव सपूर्ण कार्य व्यवस्थित पद्धति से चल रहा था। सौधर्मेन्द्र तो एक सौ सत्तर कर्म भूमियो मे एक सौ सत्तर तक की सख्या वाले अनेक तीर्थंकर के कल्याणको के कार्य सपादन करने मे सिद्धहस्त तथा अनुभव प्राप्त हैं। अतः स्वप्न मे क्षोभ की कल्पना नही की जा सकती।

प्रश्न—भगवान की दीक्षा विधि का वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर—दीक्षा विधि—भगवान सिद्धार्थ वन मे पहुँकर पालकी से नीचे उतरे। हरिवश पुराण मे लिखा है—

अवतीर्णः स सिद्धार्थो शिविकायाः स्वयं यथा।
देवलोकशिरस्थाया दिवः सर्वार्थसिद्धितः ॥१५६६॥

सिद्ध बनने की कामना वाले सिद्धार्थी भगवान ऋषभदेव देवलोक के शिर पर स्थित पालकी पर से स्वय उतरे, जैसे वे सर्वार्थ सिद्धि स्वर्ग से अवतीर्ण हुये थे। अब मुमुक्षु भगवान मोहज्वर से मुक्त होकर आत्म स्वास्थ्य की प्राप्ति के हेतु स्वस्थता सम्पादक तपोवन के ही वातावरण मे रह कर क्रमश रोग मुक्त हो अविनाशी स्वास्थ्य को शीघ्र प्राप्त करेगे। उन्होने देख लिया कि सच्चा स्व तथा पर का कल्याण अपने जीवन को आदर्श (दर्पण) के समान बनाना है। मलिन दर्पण जब तक मल रहित नही बनता है, तब तक वह पदार्थो का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने मे असमर्थ रहता है, इसी प्रकार मोह मलिन मानव का मन त्रिभुवन के पदार्थो को अपने मे प्रतिबिम्बित कराने मे अक्षम रहता है। भगवान ने यह तत्व हृदयगम किया, कि आत्मा की कालिमा को धोकर उसे निर्मल बनाने के लिये समाधि अर्थात् आत्म-ध्यान की आवश्यकता है। अतः एक चित्त वृत्ति को स्थिर बनाकर मोह को ध्वस करने के लिए ही ये प्रभु आवश्यक कार्य सम्पादन मे सलग्न है।

तीर्थङ्कर भगवान के कार्य श्रेष्ठ कहे है, अतएव तपस्या के क्षेत्र में भी इनकी अत्यन्त समुज्जवल स्थिति रहती है। वैराग्य से परिपुर्ण इनका मन आत्मा की ओर उन्मुख है। अब वह अधिक वहिर्मुखता को आत्महित के लिए वाधक सोच रहे है, अपने समीप आने वाली प्रजा को प्रभु ने कहा 'शोकत्यजत भोः प्रजा' और प्रजाजन तुम शोकभाव का परित्याग करो। तुम्हारी रक्षा के हेतु भरत को मैंने राजा का पद

दिया है, 'राजा वो रक्षणे दक्षः स्थापितो भरतो मया।' तुम भरत राजा की सेवा करना। भगवान ने एक बार पहले सर्वतोभद्र नरेन्द्र भवन परित्याग करते समय बन्धु वर्ग से पूछ लिया था, फिर भी उन जगत पिता ने सर्व इष्ट जनों को धैर्य देते हुये पुनः अनुज्ञा प्राप्त की।

उस वन में चन्द्रकान्त मणि की शिला देवों ने पहले से ही रख दी थी। इन्द्राणी ने अपने हाथो से रत्नों को चूर्ण कर उस शिला पर चौक बनाया। उस पर चन्दन के मांगलिक छीटे दिए गए थे। उस शिला के समीप ही अनेक मगल द्रव्य रखे थे। भगवान उस शिला पर विराजमान हो गये। आसपास, देव, मनुष्य, विद्या धरादि उपस्थित थे।।

भगवान ने वस्त्र, आभूषणादि का परित्याग किया। उस त्याग मे आत्मा, देवता तथा सिद्ध भगवान साक्षी थे। महापुराण मे लिखा है--तत् सर्व विभुरत्याक्षीत् निर्व्यपेक्ष त्रिसाक्षिकम्।

भगवान ने अपेक्षा रहित होकर त्रिसाक्षि पूर्वक समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया।

भगवान के केशलोंच करने का क्रम—

केशलोंच—अनंतर भगवान ने पूर्व की ओर मुख करके पद्मासन होकर सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार किया और पचमुष्टि केशलोच किया। पच अगुलि निर्मित मुष्टि के द्वारा सपादित केशलोंच करते हुये वे पचमगति को प्रस्थान करने को उद्यत परम पुरुष द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भावरूप पचपरावर्तनो का मूलोच्छेद करते हुये प्रतीत होते थे।

तीर्थंकर भगवान के दाढी मूँछ नही होते। वे सदा सोलह वर्ष की अवस्था वाले पुरुष के समान सुशोभित होते है, इसलिए भगवान केवल शिर के केशो का ही पंच मुष्टियो से लोच करते है। कहा भी है—

देवावि णारयाविय भोगभुवा चक्कि-जिणवरिंदाणं।
सव्वे केसव-राम-कामवि ण कुंचियां हुंति ॥१५९९॥

अर्थात्—चतुर्निकाय के देव, नरकी जीव, भोग भूमियाँ, चक्रवर्ती, तीर्थंकर, नारायण, बलभद्र और कामदेव के मुख पर दाढी-मूँछो के वाल नही होते है।

भावार्थ—इन सबकी हमेशा नव-यौवन अवस्था बनी रहती है। उन सबके केश शोभारूप उत्पन्न होते है और शोभा रूप ही बढते है। इसलिये उनके क्षौर कर्म (बाल बनवाना) नही होता है अर्थात् तीर्थकरादि कभी बाल नही बनवाते है, क्योकि वे इतने नही बढते कि उन्हे कटवाना पडे।

एक यह बात भी विचारणीय है कि यदि तीर्थकरो के मुख दाढी-मूँछ के बाल माने जाय तो उनकी प्रतिमाओ मे भी दाढी-मूँछ के बाल मानने पड़ेगे, परन्तु ऐसा है नही, इस लिये तीर्थकरो के दाढी-मूँछ का अभाव समझना चाहिये। कहा भी है—

केशादिरोमहीनांगं श्मश्रुरेखाविवर्जितम् ।
स्थितं प्रलम्बितहस्तं श्रीवत्साढ्यं दिगम्बरम् ॥१६००॥

अर्थात्-प्रतिमाएँ ऐसी होनी चाहिये जिन पर केशादि रोम न हो दाढ़ी-मूँछ के बाल न हो खड्गासन हो, हाथ लटकते हो, श्रीवत्स का चिन्ह हो और दिगम्बर हो।

भगवान का दीक्षालेने के बाद मौन से रहने का रहस्य—

मौनव्रत का रहस्य—केशलोच के बाद अब ये प्रभु सचमुच मे महामुनि, माहमौनी, महादम, महाक्षम, महाक्षम, महाशील, महायज्ञ वाले तथा महामख बन गए—

महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महादमः ।
महाक्षम महाशीलो महायज्ञो महामखः ॥१६०१॥

इन महामुनि प्रभु का मौन अलौकिक है। इनका मौन अब केवलज्ञान की उपलब्धि तक रहेगा। इनकी दृष्टि बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् की ओर पहुँच चुकी है। इसलिये राग उत्पन्न करने की असाधारण परिस्थिति आने पर भी इन्होने वीतराग वृत्ति को निष्कलक रखा। इनके चरणानुरागी चार हजार राजाओ ने इनका अनुकरण कर दिगम्बर मुद्रा धारण की थी। परिषहो को सहने मे असमर्थ होकर व राजा भ्रष्ट होने लगे। और भी विशिष्ट परिस्थितियाँ समक्ष आई। दुर्बल मनोवृत्ति वाला मानव ऐसे प्रसगो पर मोह के चक्कर मे फसे बिना न रहता, किन्तु ये जिनेन्द्र महामौनी ही रहे।

सभी तीर्थकर दीक्षा लेने के पश्चात् मौन व्रती रहते है। यदि ऐसा कठिन महाव्रत न होता तो भगवान ऋषभनाथ सहदीक्षित चार हजार राजाओ को क्षुधादि की पीड़ा सहन करने मे असमर्थ होकर धर्म मार्ग को छोडते समय उनका स्थितिकरण

अवश्य करते, यदि आदिनाथ भगवान का मौन न रहता तो आहार देने की विधि उनसे ज्ञात की जा सकती थी। इस सम्पूर्ण सामग्री को ध्यान मे रखने से श्रेष्ठ तपस्या मे उद्यत तीर्थकरों की मौनी मानना उचित है, अनुभव तथा तर्क सगत है।

योग विद्या के अन्तस्तत्व को न जानने वाले भगवान के मौन का रहस्य नही जान पाते। उसके मर्म को अवगत करने वाले पूज्यपाद महर्षि समाधि शतक मे में कहते है—

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्त विभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥१६०२॥

लोक संसर्ग होने पर वचन प्रवृत्ति होती है। उससे मानसिक विकल्प उत्पन्न होते हैं। इससे चित्त में विभ्रम होता है। इससे स्वयंवेदन (स्वानुभव) में सलग्न श्रेष्ठ संयमी जन संसर्ग त्याग करे।

पूज्यपाद स्वामी की वाणी के द्वारा भगवान की लोकोत्तर वीतराग वृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। भगवान अध्यात्म के क्षेत्र मे क्षण-क्षण में प्रगति करते जा रहे है। भगवान घृणित पौद्गलिक देह का परित्याग कर चिन्मूर्त्ति मात्र रहना चाहते है। उनका लक्ष्य है वि-देह बनना। इससे वे आत्मा मे ही आत्म भावना करते है। इसका रहस्य समाधिशतक में इस प्रकार बताया गया है—

देहान्तर्गते बीजं देहेऽस्मिन्नात्म भावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्म भावना ॥१६०३॥

एक शरीर को छोड़कर अन्य देह धारण का बीज शरीर मे आत्म भावना है। विदेही बनने का अर्थात् शरीर रहित बनने का मूल कारण आत्मा मे आत्मभावना है।

भगवान के आश्रित रहने वाले पदार्थो में पूज्यता कैसे आ जाती है—

तीर्थकरों के आश्रित पदार्थो की पूज्यता—देवो ने भगवान के केशो को रत्नमय पिटारे में रखा तथा बड़े आदर पूर्वक उनको क्षीर समुद्र मे क्षेपण किया। महापुराणकार कहते है—

महतां संश्रयान्नूनं यांतोज्यां मलिना अपि।
मलिनैरपि यत्केशैः पूजावाप्ताश्रितैः गुरुम् ॥१६०४॥

महापुरुषो का आश्रय ग्रहण करने से मलिन व्यक्ति भी सम्मान को प्राप्त करते है। यह बात यथार्थ है, क्योकि भगवान के मस्तक का आश्रय पाने वाले मलिन केशो को भी देवो द्वारा पूज्यता प्राप्त हुई।

वस्त्राभरणमाल्यानि यान्युन्मुक्तान्यधीशिना।
तान्यप्यनन्यसामान्यां निन्युरत्युरत्युद्धति सुराः ॥१६०५॥

भगवान ने वस्त्र-आभूषण तथा माला आदि का त्याग किया था। देवो ने उन सबकी असाधारण पूजा की थी।

जिस वटवृक्ष के नीचे भगवान ने मुनि पदवी अगीकार करते हुये निर्ग्रथ दीक्षा ली थी, वह वृक्ष आदर योग्य हो गया। आज भी वैदिक लोग उस वटवृक्ष को 'अक्षय वट' मानकर आदर करते है।

महान आत्माओ के जीवन से सम्बन्धित होने वाले छोटे तथा लघु भी पदार्थ गौरव को प्राप्त होते है। एकेन्द्रिय वृक्ष भी महत्वपूर्ण माना जाता है। केवल ज्ञान का वृक्ष 'अशोक वृक्ष' के रूप मे प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

वृक्ष तो सचेतन है। भूमि भी आदर की पात्र बनती है। महान आत्माओं का प्रभाव अचित्य है उनसे सम्बन्धित वस्तुओ के प्रति आदर का भाव व्यक्त करने के भीतर प्रभु के प्रति श्रद्धा भक्ति का भाव निहित है। यदि ऐसी दृष्टि न हो, तो फिर वही भक्ति लोक मूढता का रूप धारण कर सम्यक्त्व की ज्योति को बुझा देती है। दृष्टि स्वच्छ तथा विमल होनी चाहिये।

जिस चैत कृष्ण नवमी के दिन भगवान ऋषभनाथ भगवान तीर्थंकर ने समस्त परिग्रह को पाप सदृश निश्चय कर त्याग किया था तथा निग्रन्थ बने थे, वह दिन धन्य माना जाने लगा। सर्व साधन सम्पन्न जिन भगवान का समस्त परिग्रह त्याग महान विशुद्धि का कारण होता है।

दीक्षावृक्षों की ऊंचाई—

दीक्षा वृक्षो की ऊंचाई—श्री महावीर स्वामी को छोडकर बाकी सब तीर्थकरो के दीक्षा वृक्षो की ऊचाई उनके शरीर के बारह गुनी अधिक समझना चाहिये। महावीर भगवान का दीक्षा वृक्ष ३२ धनुष ऊँचा था।

दान तीर्थ की प्रवृत्ति—

दान तीर्थ की प्रवृत्ति—लाभांतराय का क्षयोपशम होने पर विवेक, विज्ञा-

नादि सात गुणो से समलकृत महाराज श्रेयांस ने राजभवन मे अक्षय तृतीया को एक वर्ष, एक माह नव दिन के पश्चात् तीन लोक के नाथ आदिनाथ प्रभु को इक्षु रस का आहार दिया। प्रभु के कर कमल मे पडती हुई इक्षु रस की धारा पुण्य की धारा सदृश प्रतीत होती थी। इस दान मे विधि, द्रव्य, दाता, पात्र, सभी श्रेष्ठ होने से यह उत्तम श्रेणी का पात्र दान माना गया। यद्यपि वह इक्षु रस मूल्य रहित था, इससे उसके देने से श्रेयास महाराज को कोई उल्लेखनीय लोभ का त्याग नही करना पडा, फिर भी चक्रवर्ती भरतेश्वर ने महाराज श्रेयास को महादान पति कहा है। महापुराण-कार कहते हैं—

ततो भरतराजेन श्रेयानप्रच्छि सादरम्।
महादानपते ब्रूहि कथं ज्ञातमिदं त्वया ॥१६०६॥

उत्तम पात्र के दान की महिमा अवर्णनीय है। चक्रवर्ती भरत कहते है, हे श्रेयांस ! तुम दान तीर्थंकर हो। तुम महान पुण्यवान हो। 'त्व दानतीर्थ कृच्छ्रायान् त्व महापुराण भागसि।

पंचाश्चर्य—देवताओं ने इक्षुधारा से स्पर्धा करते हुये आकाश से रत्नो की धारा पृथ्वी पर बरसाई थी। मद सुगन्ध तथा शीतल पवन बहने लगी थी। दिव्यपुष्पो की वृष्टि हुई थी। जय-जय शब्द का उद्घोष हो रहा था। देवदुन्दुभि की मधुर-ध्वनि हुई थी। इस प्रकार पचाश्चर्य हुये थे। इस श्रेष्ठ पात्र दान के प्रभाव से दाता की देवताओ ने अभिषेक सहित पूजा की थी। हरिवश पुराज मे कहा है—

अभ्यर्चिते तपोवृद्ध्यै धर्मतीर्थंकरे गते।
दान तीर्थंकरं देवाः साभिषेकम पूजयन् ॥१६०७॥

धर्म तीर्थंकर वृषभदेव भगवान् की पूजा के पश्चात् तपोवृद्धि के हेतु प्रस्थान करने के अनन्तर देवताओ ने दानतीर्थंकर महाराज श्रेयास की अभिषेक पूर्वक पूजा की।

भगवान को प्रथमदान देने का प्रभाव—

तीर्थंकरों का सर्वप्रथम आहारदान और दान की महिमा—तीर्थंकर भगवान के सर्वप्रथम आहारदान की बड़ी महिमा बताई गई है। हरिवश पुराण मे कहा है कि अजितनाथ आदि तेईस तीर्थङ्करो ने तीसरे दिन प्रथम पारणा की है कि 'तृतीये दिवसेऽन्येषा प्रथमा पारणा यता। जिनेन्द्र भगवान को प्रथम पारणा के दिन क्षीरादि

निर्मित पदार्थों के दाता नररत्नों की सर्वत्र स्तुति की गई। उत्तम पात्र का आहारदाता या तो उसी भव मे मोक्ष को प्राप्त करता है या स्वर्ग का सुख भोग कर वह तीसरे भव में मुक्ति को पाता है। भगवान को प्रथम बार आहार देने वाले व्यक्ति के भाव अवर्णनीय उज्जवलता प्राप्त करते है। इससे वह उत्तम दाता शीघ्र ही तप की शरण ग्रहण कर अपना उद्धार करता है। हरिवंश पुराण मे कहा है—

तपः स्थिताश्च ते केचित्सिद्धास्तेनैव जन्मना।
जिनांते सिद्धिस्तेषां तृतीये जन्मवि स्मृताः ॥१६०८॥

यह तो आध्यात्मिक श्रेष्ठ लाभ है, कि दाता मोक्ष को प्राप्त होता है। तत्काल दाता के भवन मे अधिक से अधिक साढे बारह करोड और कम से कम इसका हजारवां भाग अर्थात् १२५००० एक लाख पच्चीस हजार रत्नो की वर्षा होती है। सत्पात्र के दान की अपार महिमा है। पचाश्चर्य सत्पात्र को आहार दान देने मे ही प्राप्त होते है। इससे इसकी महत्ता इतरदानो की अपेक्षा स्पष्ट ज्ञात होती है। इसका कारण यह है कि इस आहारदान से वीतराग मुनियो की रत्नत्रय के परिपालन मे विशिष्ट सहायक उनके पवित्र शरीर का रक्षण होता है। गृहस्थ स्वय श्रेष्ठ तप नही कर पाता है, किन्तु अपनी न्यायपूर्वक प्राप्त द्रव्य के द्वारा महाव्रती का सहायक बनता है। इस कारण पात्रदान द्वारा गृहस्थ के जीवनोपाय के षट्कर्मों अर्थात् असि, मषी, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और पशुपालन तथा चक्की, चूल्हा, बुहारी, उखली और पानी आदि पचसूना क्रियाओं द्वारा अर्जित महान् दोषों का क्षय होता है।

क्या दूध दूषित है—

दूध को दूषित सोचना यह दृष्टि विचार शून्य है—ऋषभनाथ भगवान ने इक्षु रस लिया था, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। शेष तीर्थंकरो ने गोक्षीर से बनाये हुये श्रेष्ठ अन्न (खीर) का आहार किया था। कहा भी है—

आद्य नेक्षुरसो दिव्यः पारणायां पवित्रितः।
अन्यैर्गोक्षीर निष्पन्नपरमान्नमलालसैः ॥१६०९॥

आजकल कोई लोग नवयुग के वातावरण से प्रभावित होकर दूध को मांस सदृश दूपित सोचते है। यह दृष्टि विचार शून्य है। दूध यदि सदोष होता, तो परम दयालु सर्व परिग्रहत्यागी तथा समस्त सुखों का परित्याग करने वाले तीर्थंकर भगवान उसको आहार मे क्यो ग्रहण करते। मधुर होते हुए भी मधु को, नवनीत आदि को

जीव दया के विघातक होने से जैसे जिनागम में त्याज्य कहा है 'उसी प्रकार वे त्रिकालदर्शी महापुरुष जिनेन्द्र दूध को भी त्याज्य कह देते। दूध दुहने के बाद अंतर्मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनट के भीतर उसे उष्ण करने से वह निर्दोष हो जाता है, ऐसा जैनाचार के ग्रन्थों में वर्णन है। भगवान को दूध में सदोषता ज्ञात होती तो वे तीर्थंकर भगवान की मूर्ति के अभिषेक के लिये दूध का क्यो विधान करते ? पद्मपुराण में भगवान के जल, घृतादि के द्वारा अभिषेक का महत्त्व बताते हुये लिखा है—

अभिषेकं जिनेन्द्राणां विधाय क्षीरधारया।
विमाने क्षीरधवले नराणां जायते द्युतिः ॥१६१०॥

जो जिनेन्द्र भगवान का दुग्ध की धारा द्वारा अभिषेक करते हैं, वे क्षीर सदृश धवल विमान में जन्म लेकर निर्मल दीप्ति को प्राप्त करते हैं।

हरिवंश पुराण में भी उक्त कथन का इस प्रकार समर्थन किया गया है—

क्षीरेक्षुरसधारोघै घृतदध्युदकादिभिः।
अभिषिच्य जिनेन्द्रार्चामर्चिता नृसुरासरैः ॥१६११॥

क्षीर तथा इक्षुरस की धारा के प्रवाह द्वारा तथा घृत दधि जल आदि से जिनेन्द्र देव की अभिषेक पूर्वक जो पूजा करता है, वह मनुष्यों तथा सुरासुरों द्वारा पूजित होती है।

दूध के विषय में आयुर्वेद शास्त्र कहता है कि भोजन पहले खल भाग रूप परिणत होता है। इसके पश्चात् वह रस रूपता धारण करता है। बनने के अनन्तर दूध का रक्त बनता है। धारोष्ण दूध को इसीलिये आयुर्वेद मे महत्वपूर्ण कहा है कि तत्काल ही शरीर में जाकर रुधिररूप पर्याय को शीघ्र प्राप्त करता है। दूध को गोरस कहने से स्पष्ट होता है कि वह रस रूप पर्याय है। दूध के दुहने से गाय क्षीण नही होती किन्तु रक्त के निकालने से उस जीव में क्षीणता आती है, वेदना की वृद्धि होती है। दूध के सेवन से सात्विक भावो का उदय होता है। रुधिर मासादि सेवी नर राक्षस बन जाते हैं। दूध में मांस का दोष माना जाय, तो सभी मनुष्य मांसभक्षी व्याघ्र आदि की श्रेणी में आ जावेगे, क्योंकि बिना दूध पिये बालक का प्रारम्भिक जीवन ही असंभव है। शरीर रचना की दृष्टि से मनुष्य की समानता शाक तथा फलभोजी प्राणियों के साथ है। मांस भक्षी निरन्तर अशान्त, क्रूर, चंचल तथा दुष्ट स्वभाव वाले होते हैं। दूध के सेवन से ऐसी बात नही होती है।

जो दूध को सदोष सोचते है, दे पानी भी नही पी सकते ? पानी मे जलचर जीवो का सदा निवास रहता है। उनका जन्म-मरण उसी के भीतर होता रहता है। उनका मलमूत्रादि भी उसके भीतर हुआ करता है, फिर भी लोक जल को पवित्र मानते है। इसी प्रकार गतानुगतिकता या अंध परम्परा का त्याग कर यदि मनुष्य मस्तिष्क अनुभव तथा सद्विचार से काम लेगा, तो उसे शुद्ध साधनो द्वारा प्राप्त, मर्यादा के भीतर उष्ण किया गया तथा सावधानीपूर्वक शुचिता के साथ सुरक्षित किया गया दूध अभक्ष्य कोटि के योग्य नही देखेगा। यह देखकर आश्चर्य होता है कि सरासर अशुद्धि भोजन पान को करते हुये मांसाहार दोष के दोषी लोग अहिसात्मक प्रवृत्ति वालो के उज्जवल कार्यो को भी सकलक सोचते है। उन्हे रात्रि भोजन मे दोष नही दिखता, अनछने जल के पीने मे सकोच नही होता। अशुद्ध आहार आदि के भक्षण। करने मे तथा मधु सेवन करने मे निर्दोषता दिखती है। मधु की एक बिन्दु भक्षण करने मे सात गांवो के ध्वस बराबर जीव घात का पाप लगता है, किन्तु ये उसे निर्दोष, बलदायक मानकर विना सकोच के सेवन करते है और अपने को अहिसा व्रती सोचते है। अहिंसा के क्षेत्र मे अतिम प्रामाणिक निर्णय दाता के रूप मे जिनेन्द्र की वाणी की प्रतिष्ठा है। उस जिनागम के प्रकाश में दूध के विषय से अभक्ष्यता का भ्रम दूर करना चाहिये। वैसे रसपरित्यागव्रती घी दूध आदि का त्याग इन्द्रियजय की दृष्टि से किया करता है।

दिव्यध्वनि का विशेष स्वरूप—

दिव्य ध्वनि के विशेष विचार—मृदु, मधुर, अतिगभीर और एक योजन प्रमाण समवशरण मे रहने वाली बारह प्रकार की सभाओ में विद्यमान देव, मनुष्य और तिर्यञ्चादि सब सज्ञी भव्य जीवों को युगपत् प्रतिबोधित करने वाली दिव्य ध्वनि होती है। जैसे मेघ का पानी एक रूप है तो भी वह नाना वृक्ष और वनस्पतियो मे जाकर नाना रूप परिणत हो जाता है, उसी तरह दांत, तालु-ओठ और कठ आदि के हलन चलन से रहित वह वाणी १८ महाभाषा और ६०० क्षुद्र भाषाओ में परिणत होकर युगपत् समस्त भव्यजनों को आनन्द प्रदान करती है।

अर्थ मागधी यह नाम भाषारूप है। कहा भी है—

मागध्यावन्तिका प्राच्या शौरसैन्यर्धमागधी।
वाह्लीकीदाक्षिणात्याच भाषाः सप्त प्रकीर्तिताः ॥१६१२॥

मागधी, आवन्तिका, प्राच्या, शौरशैनी. अर्धमागधी, बाहीकी तथा दाक्षिणात्या इस तरह सात प्रकार की प्राकृत भाषाये है । इसमे एक अर्धमागधी भाषा है ।

तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि मगध नाम के व्यन्तर देवों के तिमित्त से सर्व जीवो को भली प्रकार सुनाई पड़ती थी । आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित नन्दीश्वर भक्ति मे इस अर्धमागधी भाषा का नाम सार्वार्धमागधी लिखा है 'सर्वार्धमागधी या भाषा' (५) टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है, सर्वेभ्यो हितसार्वा । सा चासौ अर्ध-मागधीया च ।' सबके लिये हितकारी को सार्व कहते हैं । सार्व तथा जो अर्धमागधी भाषा थी, उसका नाम सर्वार्धमागधी होगा । पूज्यवाद स्वामी ने सर्व के स्थान पर सार्व शब्द को ग्रहण कर यह अर्थ सूचित किया है कि भगवान की वाणी सम्पूर्ण जीवो के लिए हितकारिणी थी ।

प्रश्न :—जब दिव्यध्वनि को भगवान के अष्ट प्रातिहार्यों में गिना है, तब उस जिनेन्द्र वाणी को सर्वार्धमागधी भाषा का नाम देवोपनीत अतिशयों में गिनने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :—मगधदेव के सन्निधान होने पर जिनेन्द्र की वाणी को सम्पूर्ण जीव भली प्रकार ग्रहण करने में तथा उससे लाभ उठाने मे समर्थ हो जाते है । आज वक्ता की वाणी को ध्वनि वाहक (लाउडस्पीकर) यत्र द्वारा दूरवर्ती श्रोताओ के कानो के पास पहुंचाया जाता है । उस यत्र की सहायता से वाणी समीप मे अधिक उच्च स्वर से श्रवण गोचर होती है । और कही उसका स्वर मन्द होता है । परन्तु जिनेन्द्र की ध्वनि प्रतीत होता है, कि मगध देवो के सन्निधान से सभी जीवो को समान रूप से पूर्ण स्पष्ट और अत्यन्त मधुर सुनाई पड़ती है । जिनेन्द्र देव से उत्पन्न दिव्य ध्वनि रूपी जलराशि को मगध देव रूपी सहायकों के द्वारा भिन्न-भिन्न जीवो के कण प्रदेश के समीप सरलतापूर्वक पहुचाया जाता है । जैसे सरोवर का जल नल के माध्यम से जनता के समीप जाता है और जनता उसे नल का पानी यह नाम प्रदान करती है । प्रतीत होता है कि भगवान की वाणी को भिन्न-भिन्न जीवो के समीप पहुचाकर उसे सुख पूर्वक श्रवण योग्य बनाने आदि के पवित्र कार्य में अपनी सेवा से तथा सामर्थ्य समर्पण करने के कारण भगवान की सार्ववाणी को सार्वार्धमागधी नाम प्राप्त होता है । जब मगध देव उस भगवद वाणी की सेवा करते हैं तो महात्माओ की सेवा का उन्हें यह पुरस्कार प्राप्त होता है कि उस श्रेष्ठ वाणी मे सेवक के नाते उनका भी

नाम आता है। समशरण मे जिस वाणी को सुनकर भव्य जीव अपनी भव बाधा को दूर करने योग्य बोध प्राप्त करते है, वह वाणी जिनेन्द्र देव के द्वारा उद्भूत हुई है, और मागध देवो के सहयोग से भव्यो के समीप पहुँची है। जब उस वाणी की श्रोताओ को उपलब्धि द्विविध कारणो से होती है, तब द्वितीय कारण को उस कार्य का आधा श्रेय स्थूल दृष्टि से दिया जाना अनुचित प्रतीत नही होता।

प्रश्न :—कोई-कोई यह सोचते हैं कि राजगिरि नगर जिस प्रान्त की राजधानी थी। उस मगध देश की भाषा के अधिक शब्द भगवान को दिव्यध्वनि में रहे होंगे अथवा भगवान प्राकृत भाषा के उपदेश रूप अर्धमागधी नाम की भाषा में बोलते होंगे ?

उत्तर :—लोक रूचि के परितोष के लिए उपरोक्त समाधान देते हुये कोई-कोई विद्वान देखे जाते है, किन्तु आगम की पृष्ठ भूमि उक्त समाधान को आश्रय नही देती है। सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय विषयों पर साधिकार एव निर्दोष प्रकाश डालने की क्षमता सम्पन्न आगम कहता है कि भगवान की वाणी किसी एक भाषा में सीमित नही होती है। सर्व विद्या के ईश्वर सर्वत्र एक ही भाषा का उपयोग करेंगे और अन्य देश तथा अन्य प्रान्त की बहुसख्यक जनता के कल्याणार्थ अपनी पूर्व प्रयुक्त भाषा में परिवर्तन नही करेंगे। यह बात अन्तःकरण को अनुकूल प्रतीत नही होती है। उदाहरणार्थ, भगवान जब राजगृह के समीप विपुलाचल पर विराजमान थे। तब मगध देश की मागधी भाषा मे विशेप जन के कल्याण को लक्ष्य कर उपदेश देना उचित तथा आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु म्हैसूर प्रान्त में भव्य जीवो के पुण्य से पहुँचने वाले परम पिता जिनेन्द्र देव यदि कानड़ी भाषा का आश्रय लेकर तत्व निरूपण करें तो अधिक उचित बात होगी। जिनेन्द्र देव की सम्पूर्ण बाते उचित और निर्दोष ही होती है। ऐसी स्थिति में सर्वत्र सर्वदा मागधी नाम की मगध प्रांत विशेष की भाषा मे प्रभु का उपदेश होता है, यह मान्यता सुदृढ तर्क पर आश्रित नही दिखती है।

महान तपश्चर्या, विशुद्ध सम्यग्दर्शन, परमयथाख्यात चारित्र, केवल ज्ञान आदि श्रेष्ठ सामग्री का सन्निधान प्राप्तकर समुद्भूत होने वाली सम्पूर्ण जीवों की शाश्वतिक शान्तिदायिनी भगवद् वाणी की सामान्य ससारी प्राणियो की भाषा से तुलनाकर दोनो को समान समझने का प्रयत्न सफल नही हो सकता है। वह वाणी

लोकोत्तर है, और लोकोत्तम योगिराज जिनेन्द्र देव की है। भोगिराज योगिराज की विद्या, विभूति और सामर्थ्य का लेश मात्र भी प्राप्त नही कर सकते है। रेत का एक कण और पर्वत कैसे दोनों समान रूप से विशाल कहे जा सकते हैं। महान तार्किक विद्वान समन्तभद्र जिनेन्द्र की प्रवृत्तियों के गम्भीर चिंतन के पश्चात् इस परिणाम पर पहूँचते है, कि जिनेन्द्र के कार्य अचिंत्य है। 'धीर! तावकमचित्यमोहितम्।' (७४ स्वयंभू स्तोत्र) उन्होने धर्मनाथ जिनेन्द्र के विषय मे लिखा है :—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः ॥१६१३॥

हे धर्मनाथ जिनेन्द्र! आपने निर्दोष अवस्था को प्राप्त कर मानव प्रकृति की सीमा का अतिक्रमण किया है, अर्थात् मानव समाज में पाई जाने वाली अपूर्णताओ तथा असमर्थताओं से आप उन्मुख है। आप देवताओ मे भी देव स्वरूप है, इसलिए हे स्वामिन् आप परम देवता हैं। हम पर कल्याण के हेतु प्रसन्न हो।

योगियों की अद्भुत तपस्याओं के प्रसाद से जो फल रूप मे सिद्धियां प्राप्त होती है, उनसे समस्त विश्व विस्मय के सिधु मे डूब जाता है। समीक्षक सिद्धियो के अद्भुत परिपाक को देखकर हतबुद्धि बन जाता है। वह यदि इन जिनेन्द्रों की उत्कृष्ट रत्नत्रय धर्म की समाराधना को ध्यान में रखे, तो वह चमत्कारों को देख श्रद्धा से विनत मस्तक हुए बिना न रहेगा। दीक्षा से लेकर केवलज्ञान तक महामौन स्वीकार करने वाले तीर्थङ्करो की वाणी मे लोकोत्तर प्रभाव पाया जाना तर्क दृष्टि से पूर्ण संगत तथा उचित है। जब भगवान का प्रभामडल रूप प्रातिहार्य सहस्त्र सूर्य के तेज को जीतता हुआ समवशरण में दिन रात्रि के भेदो को दूर करता हुआ भव्य जीवों को उनके सात भव दिखाने वाले अलौकिक दर्पण का काम करता है, तो भगवान की दिव्य ध्वनि महान् चमत्कार पूर्ण प्रभाव दिखाये तो यह पूर्णतया उचित प्रतीत होता है। चन्द्र प्रभ काव्य में दिव्य ध्वनि के विषय मे लिखा है :—

सर्वभाषास्वभावेन ध्वनिनाथ जगद्गुरुः।
जगाद गणिनः प्रश्नादिति तत्वं जिनेश्वरः ॥१६१४॥

जगत के गुरु चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ने गणधर के प्रश्न पर सर्व भाषा स्वभाव वाली दिव्यध्वनि के द्वारा तत्वों का उपदेश दिया।

हरिवंश पुराण में भगवान की दिव्यध्वनि को हृदय और कर्णां के लिए

रसायन लिखा है :—'चेतः कर्ण रसायनं।' उन्होने यह भी लिखा है :—

जिन भाषाऽधरस्पंद मंतरेण विजृंभिता ।
तिर्यग्देव मनुष्याणां दृष्टिमोहमनीनशत् ।।१६१५।।

ओष्ठ कपन के बिना उत्पन्न हुई जिनेन्द्र की भाषा ने तिर्यञ्च, देव तथा मनुष्यों की दृष्टि सम्बन्धी मोह को दूर किया था ।

पूज्यपादस्वामी उस दिव्यध्वनि के विषय में यह कथन कहते हैं :—

ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजायते श्रोत्रहृदयहारिगं भीरः ।
ससलिल जलधरपटल ध्वनितामिव प्रविततान्तराशावलयं ।।२२।।

जिनेन्द्र भगवान की दिव्य ध्वनि श्रोत्र तथा कर्ण तथा हृदय को सुखदाई तथा गभीर होती है । वह दिव्यध्वनि सलिल से परिपूर्ण मेघ पटल की ध्वनि के समान दिगतर मे व्याप्त होती हुई एक योजन तक पहूँचती है । महापुराणकार जिनसेन स्वामी का कथन है :—

एकतयोपि यथैव जलौघश्चित्ररसो भवति द्रुमभेदात् ।
पात्र विशेषवशाच्च तथायं सर्वविदो ध्वनिराप बहुत्वं ।।१६१६।।

जिस प्रकार एक प्रकार के पानी का प्रवाह वृक्षो के भेद से अनेक रस रूप परिणत हो जाता है, उसी प्रकार यह सर्वज्ञ देव के दिव्यध्वनि एक रूप होते हुए भी पात्रो के भेद से विविध रूपता को प्राप्त होती है । कर्नाटक की कानड़ी भाषा के जैन व्याकरण मे यह उपयोगी श्लोक आया है :—

गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हित ।
कंठौष्ठादि वचोनिमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतं ।।
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकं ।
दूरासन्नसमं शमं निरूपमं जैनं वचः पातु नः ।।१६१७।।

गम्भीर, मधुर, अत्यन्त मनोहर, निष्कलक, कल्याणकारी, कंठ, ओष्ठ, तालु आदि वचन उत्पत्ति के निमित्त कारणो से रहित, पवन के रोध बिना उत्पन्न हुई, स्पष्ट श्रोताओ के लिए अभिष्ट तत्त्वो का निरूपण करने वाली सर्व भाषा स्वरूप, समीप तथा दूरवर्ती जीवो को समान रूप से सुनाई पड़ने वाली, शांति रस से पूरिपूर्ण तथा उपमा रहित जिनेन्द्र भगवान की दिव्य ध्वनि हमारी रक्षा करे ।

तिलोयपण्णति मे इस दिव्य ध्वनि के विषय मे यह बताया है कि दिव्य-

ध्वनि १८ महाभाषा ७०० लघु भाषा तथा और भी सज्ञी जीव जीवो की भाषा रूप परिणत होती है। यह तालु, दन्त, ओष्ठ और कन्ठ की क्रिया से रहित होकर एक ही समय मे भव्य जीवों को उपदेश देती है।

एक्ककालं भव्यजाणे दिव्वभासित्त (४–६०२)

भगवान की दिव्य ध्वनि प्रारम्भ मे अनक्षरात्मक होती है, इसलिए उस समय केवली भगवान के अनुभय वचन योग माना गया है। पश्चात् श्रोताओ के कर्ण प्रदेश को प्राप्त कर सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करने से केवली भगवान के सत्य वचन योग का सद्भाव भी आगम में माना है। गोम्मटसार की सस्कृत टीका में इस प्रसग पर महत्व पूर्ण बात कही है। 'सयोगकेवलि दिव्यध्वनेः कथं सत्यानुभय वाग्योगत्व-मितिचेत् तत्र तदुत्पत्तावनक्षरात्मकत्वेन श्रोतृ-श्रोत्र-प्रदेश प्राप्ति समय पर्यन्तमनुभय-भाषात्वसिद्धेः। तदनन्तर च श्रोतृजनाभिप्रेतार्थेषु सशयादि निराकरणेन सम्यग्ज्ञान-जनकत्वेन सत्यवाग्योगत्वसिद्धेश्च तस्यापि तदुभयत्व घटनात्' (गो. जी. गाथा २२७ पृ० ४८८)।

प्रश्न :—सयोग केवली की दिव्यध्वनि को किस प्रकार सत्य अनुभय वचन योग कहा है ?

उत्तर :—केवली की दिव्यध्वनि उत्पन्न होते ही अनक्षरात्मक रहती है, इसलिए श्रोताओ के कर्ण प्रदेश से सम्बन्ध होने के समय तक अनुभय वचन योग सिद्ध होता है। इसके पश्चात् श्रोताओ के इष्ट अर्थो के विषय मे सशय आदि को निराकरण करने से तथा सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न होने से सत्य वचन योग का सद्भाव सिद्ध होता है। इस प्रकार केवली के सत्य और अनुभय वचन योग सिद्ध होते है।

इस कथन से ज्ञात होता है कि श्रोताओ के समीप पहुँचने के पूर्व वाणी अनक्षरात्मक रहती है, पश्चात् भिन्न-भिन्न श्रोताओ का आश्रय पाकर वह दिव्य ध्वनि अक्षर रूपता को धारण करती है। स्वामी समन्तभद्र ने जिनेन्द्र देव की वाणी को सर्वभाषा स्वभाव वाली कहा है, यथा—

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम्।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि ॥९६॥

श्री सहित तथा सर्व भाषा स्वभाव वाली आपकी अमृत वाणी समवशरण में व्याप्त होकर अमृत की तरह प्राणियो को आनन्दित करती है।

महापुराणकार दिव्यध्वनि को अक्षरात्मक कहते हुए इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं—

देवकृतो ध्वनिरित्यसेदतद् देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात् ।
साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात् ॥१६१६॥

कोई लोग कहते है कि दिव्यध्वनि देवकृत है । यह कथन वास्तविक नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने से जिनेन्द्र भगवान के अतिशय गुण का व्याघात होता है । वह दिव्यध्वनि अक्षरात्मक ही है (यहां 'ही' वाचक 'एव' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है) कारण अक्षरो के समूह के बिना लोक मे अर्थ का बोध नही होता है ।

जयधवला टीका मे जिनसेन स्वामी के गुरु वीरसेनाचार्य ने दिव्यध्वनि के विषय में ये शब्द कहे हैं—केरिसा सा (दिव्वज्भुणी) ? सव्वभासा-सरुवा, अक्खराणक्खरप्पिया, अणन्तत्थ-गब्भ बीजपदघडियसरीरा' (भाग १ पृ० १२६)

वह दिव्यध्वनि किस प्रकार की है ? वह सर्वभाषा स्वरूप है । अक्षरात्मक अनक्षरात्मक है । अनन्त अर्थ है गर्भ में जिसके, ऐसे बीजपदों से निर्मित शरीर वाली है अर्थात् उसमें बीजपदो का समुदाय है ।

चौसठ ऋद्धियों के बीज बुद्धि नाम की ऋद्धि का भी कथन आता है । उसका स्वरूप राजवार्तिक मे इस प्रकार कहा है—जैसे हल के द्वारा सम्यक् प्रकार से तैयार की गई उपजाऊ भूमि मे योग्य काल मे बोया गया एक भी बीज बहुत बीजों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार नो इन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के प्रकर्ष से एक बीज पद के ज्ञान द्वारा अनेक पदार्थों को जानने की बुद्धि को बीजबुद्धि कहते है—'सुकृष्ट सुमथिते क्षेत्रे सारवति कालादिसहायापेक्षं बीजमेकमुप्त यथानेकबीजकोटिप्रद भवति तथा नोइन्द्रियावरण—श्रुतावरण, वीर्यान्तराय क्षयोपशम प्रकर्षे सति एक बीजपद ग्रहणादनेक पदार्थ प्रतिपत्तिर्बीजबुद्धि.'

(रा० वा० अध्याय ३ सूत्र ३६ पृ० १४३)

इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जिनेन्द्रदेव की बीजपदयुक्त वाणी को गणधर देव बीजबुद्धि ऋद्धिधारी होने से अवधारण करके द्वादशांग रूप रचना करते है ।

इस प्रसंग में यह बात विचार योग्य है कि प्रारम्भ में भगवान की वाणी को झेलकर गणधर देव द्वादशांग की रचना करते है. अत उस वाणी में बीजपदो का

समावेश आवश्यक है, जिनके आश्रय से चार ज्ञान धारी महर्षि गणधर देव अगपूर्वो की रचना करने में समर्थ होते है। वीर भगवान की दिव्यध्वनि को गौतमगणधर देव सुनकर 'बारहंगाणं चोद्दस पुव्वाणं च गंथाणमेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेणरयणा कदा' (धवला टीका भाग १ पृ. ६५) द्वादशांग तथा चौदहपूर्व रूप ग्रन्थो की एक मुहुर्त में क्रम से रचना की।

इसके पश्चात् भी तो महावीर भगवान की दिव्यध्वनि खिरती रही है। श्रोतृमण्डली को गणधर देव द्वारा दिव्यध्वनि के समय के पश्चात् उपदेश प्राप्त होता है। जब दिव्यध्वनि खिरती है, तब मनुष्यों के सिवाय सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यञ्च, देवादि भी अपनी-अपनी भाषाओ मे अर्थ को समझते है। इससे वीरसेन स्वामी ने उस दिव्य वाणी को 'सव्वभाषा-सरुवा' सर्वभाषा स्वरूपा, भी कहा है। उस दिव्यवाणी की यह अलौकिकता है कि उस दिव्यवाणी से गणधर देव सदृश महानुभाव ज्ञान के सिन्धु भी अपने लिये अमूल्यज्ञान निधि प्राप्त करते है। तथा महान मदमति प्राणी, सर्प, गाय, व्याघ्र, कपोत, हंसादि पशु-पक्षी भी अपने-अपने योग्य ज्ञान की सामग्री प्राप्त करते है।

उपरोक्त समस्त कथन पर गम्भीर विचार तथा समन्वयात्मक दृष्टि डालने पर प्रतीत होता है कि जिनेन्द्र देव की दिव्यध्वनि अलौकिक वस्तु है, अनुपम है और आश्चर्य-प्रद है। उस वाणी के समान विश्व में अन्य कोई वाणी नही है। वाणी की लोकोत्तरता मे कारण तीर्थंकर भगवान की त्रिभुवन वदित अनन्त सामर्थ्य समलकृत व्यक्तित्व है। श्रेष्ठ सामर्थ्यधारी गणधर देव, महान महिमाशाली सुरेन्द्र आदि भी प्रभु की अपूर्व शक्ति से प्रभावित होते है। योग के द्वारा जो चमत्कार युक्त वैभव दिखाई पड़ता है, वह स्थूलदृष्टि वालो की समझ मे नही आता है, अतएव वे विस्मय के सागर में डूबे ही रहते है। दिव्यध्वनि तीर्थंकर प्रकृति के विपाक-उदय की सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति कर्म का बंध करते समय केवली, श्रुत-केवली के पादमूल मे इसी भावना का बीज बोया गया था कि इस बीज से ऐसा वृक्ष बने, जो समस्त प्राणियों को सच्ची शाति तथा मुक्ति का मगल सदेश प्रदान कर सके। मनुष्य पर्याय रूपी भूमि में बोया गया यह तीर्थंकर प्रकृति रूप बीज अन्य साधन सामग्री पाकर केवली की अवस्था में अपना वैभव तथा परिपूर्ण विकास दिखाता हुआ त्रैलोक्य के समस्त जीवो को विस्मय में डालता है। आज भगवान ने

इच्छाओ का अभाव कर दिया है, फिर भी उनके उपदेश आदि कार्य ऐसे लगते हैं, मानो वे इच्छाओ द्वारा प्रेरित हो। इसका यथार्थ मे समाधान यह है कि पूर्व की इच्छाओ के प्रसाद से भी कार्य होता है। जैसे घड़ी में चाबी भरने के पश्चात् वह घड़ी अपने आप चलती है, उसी प्रकार तीर्थकर प्रकृति का बन्ध करते समय जिन कल्याणकारी भावो का सग्रह किया गया था, वे ही बीज अनन्तगुणित होकर विकास को प्राप्त हुये है। अत केवली की अवस्था पूर्व सचित पवित्र भावना के अनुसार सब जीवो को कल्याणकारी, सामग्री प्राप्त होती है।

दिव्यध्वनि के विषय मे कुन्दकुन्दाचार्य के सूत्रात्मक ये शब्द बड़े महत्वपूर्ण प्रतीत होते है—'तिहुवण-हिद-मधुर-विसद-वक्काण' अर्थात् दिव्यध्वनि के द्वारा त्रिभुवन के समस्त भव्य जीवो को हितकारी, प्रिय तथा स्पष्ट उपदेश प्राप्त होता है। जब छद्मस्थ तथा बाल अवस्था वाले महावीर प्रभु के उपदेश के बिना ही दो चारण ऋद्धिधारी महामुनियो की सूक्ष्म शका दूर हुई थी तब केवलज्ञान, केवल दर्शनादि सामग्री सयुक्त तीर्थकर प्रकृति के पूर्ण विपाक-उदय होने पर उस दिव्यध्वनि के द्वारा समस्त जीवो को उनकी भाषाओ मे तत्व बोध हो जाता है, यह बात तनिक भी शंका योग्य नही दिखती है।

इस दिव्यध्वनि के विषय में धर्मशर्माभ्युदय का यह पद्य बड़ा मधुर तथा भावपूर्ण प्रतीत होता है—

सर्वाद्भुतमयीसृष्टिः सुधावृष्टिश्च कर्णयोः।
प्रावर्तत ततो वाणी सर्वविद्येश्वराद्विभोः ॥१९२०॥

सर्व विद्याओ के ईश्वर जिनेन्द्र भगवान के सर्व प्रकार के आश्चर्यों की जननी तथा कर्णों के लिए सुधा की वृष्टि के समान दिव्य ध्वनि उत्पन्न हुई। गोम्मटसार जीवकाड की सस्कृत टीका में लिखा है कि तीर्थकर की दिव्यध्वनि प्रभात, मध्याह्न, सायकाल तथा मध्यरात्रि के समय छह-छह घटिका काल पर्यन्त अर्थात् दो घण्टा चौबीस मिनिट तक प्रतिदिन नियम से खिरती है। इसके सिवाय गणधर, चक्रवर्ती, इन्द्र सदृश विशेष पुण्यशाली व्यक्तियो के आगमन होने पर उनके प्रश्नों के उत्तर के लिए भी दिव्यध्वनि खिरती है। इसका कारण यह है कि उन विशिष्ट पुण्याधिकारियों के सदेह दूर होने पर धर्म भावना बढेगी और उससे मोक्षमार्ग की देशना का प्रचार होगा जो धर्म तीर्थकर की तत्व प्रतिपादन की पूर्ति स्वरूप होगी। जीवकांड की

संस्कृत टीका में ये शब्द आए है—'घातिकर्मक्षयानन्तर केवलज्ञान सहोत्पन्नतीर्थकरत्व पुण्यातिशय विजृंभितमहिम्न: तीर्थकरस्य पूर्वाह्न-मध्याह्नापरह्लार्धरात्रिषु षट् षट्घटिका-कालपर्यन्तं द्वादशगरा सभामध्ये स्वभावतो दिव्यध्वनिरुद्गच्छति। एव समुद्भूतो दिव्यध्वनि: समस्तासन्नश्रोतृगणानुद्दिश्य उत्तमक्षमादिलक्षरां रत्नत्रयात्मक वा धर्म कथयति' (पृष्ठ—७६१)

जय धवला टीका मे लिखा है कि यह दिव्यध्वनि प्रातः, मध्यान्ह तथा साय-काल इन तीन संध्याओ मे छह-छह घड़ी पर्यन्त खिरती है—तिसञ्झ विसयछघडियासु गिरंतर पयट्टमाणिया' (भाग १ पृष्ठ—१२६)

तिलोयपण्णत्ति में तीन सध्याओ मे नवमुहूर्त पर्यन्त दिव्यध्वनि खिरने का उल्लेख है। कहा भी है—

पगदीए अक्खलिओ संझत्तिदयम्मि गवमुहुत्तारिए।
गिस्सरदि गिरुवमाणो दिव्वज्झुणी जाव जोयणयं ॥१६२१॥

तिलोयपण्णत्ति में यह भी कहा है कि 'गराधर इन्द्र तथा चक्रवर्ती के प्रश्ना-नुरूप अर्थ के निरुपणार्थं यह दिव्यध्वनि समयो मे भी निकलती है, यह भव्य जीवो को छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाच अस्तिकाय और सात तत्वो का नाना प्रकार के हेतुओ द्वारा निरुपरा करती है।

प्रश्न—(गोम्मटसार में) मध्यरात्रि को दिव्यध्वनि खिरने पर यह शंका की जा सकती है कि मध्यरात्रि को जीव निद्रा के वशीभूत रहते हैं। उस समय दिव्यध्वनि के खिरने से क्या उपयोग होगा?

उत्तर—समवशरण में भगवान के प्रभामण्डल के प्रभाव से दिन और रात्रि का भेद नही रहता है। समवशरण मे जाने वालो को निद्रा आदि की पीड़ाये भी नही होती है।

अनन्त सुख का स्वरूप—त्रिलोक सार मे लिखा है कि मोहनीयादि चार घातिया कर्मो के क्षय से अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य ये चार गुण उत्पन्न होते है। यह भी लिखा है 'भोग्येष्वौत्सुक्यनाशोऽनन्तसुखतामता' अर्थात् भोगने योग्य पदार्थों मे उत्सुकता का अभाव रहना इसको अनन्त सुख कहा है।

तीर्थङ्करों के १८ दोष नहीं रहते है—१८ दोषो के नाम—१. क्षुधा (भूख),

२ तृषा (प्यास), ३. जन्म, ४. जरा(बुढापा), ५ मरण, ६ विस्मय (आश्चर्य), ७ अरति, (पीडा) ८. खेद, (दुःख), ९ शोक, १० रोग, ११. मद, गर्व) १२. मोह, १३. राग, १४. द्वेष, १५ भय, १६. निद्रा, १७. चिन्ता, १८. स्वेद (पसीना) । ये अठारह दोष केवली भगवान के नही होते है ।

प्रश्न—ऋषभदेव के केवल ज्ञान का उद्यान कौन सा था ?

उत्तर—भगवान ऋषभदेव और केवल ज्ञान का उद्यान—भगवान ऋषभदेव एक हजार वर्ष तक घोर तपस्यायें करके एक दिन 'पुरिमतालपुर' पहुँचे । जिसका वर्तमान नाम 'प्रयाग' या 'इलाहाबाद' है । उस नगर के समीपवर्ती 'शकट' उद्यान मे ऋषभदेव ने वटवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ होकर केवलज्ञान प्राप्त किया था । भगवान ऋषभदेव को जिस वटवृक्ष के नीचे अक्षय बोधि का लाभ हुआ था, या इश्वरीय रूप प्राप्त हुआ था उसी दिन से उस वटवृक्ष का नाम 'अक्षयवट' ससार मे प्रसिद्ध हो गया है ।

केवलज्ञान प्राप्त होने पर समवशरण की रचना कुबेर द्वारा की गई थी । सब इन्द्र अपने परिवार के साथ ज्ञान कल्याणक पूजा के लिए वहां आये थे । और पुरिमतालपुर मे इन्द्र ने भगवान ऋषभदेव की पूजा की थी । भगवान ऋषभनाथ की सर्वप्रथम धर्म देशना 'पुरिमतालपुर' मे हुई थी । बहुत सभव है कि तभी से इस पुरिमतलापुर का नाम 'प्रयाग' हो गया है । याग नाम पूजा का है और सबसे बड़ी पूजा इन्द्र के द्वारा की जाती है जिसका नाम 'इन्द्रध्वज पूजा' है ।

प्रयाग को इलाहाबाद भी कहते है । इलाह शब्द का अर्थ देवता ! अथवा पूजा करने लायक ऐसा होता है, इससे सम्भव है कि इसी पूजा के निमित्त से प्रयाग को इलाहावाद भी कहते होगे ।

प्रश्न—समवशरण मे मानस्तंभादिकों की उंचाई का क्या प्रमाण है ?

उत्तर—समवसरण मे मानस्तभादिको की ऊचाई-जो मानस्तभ, ध्वजास्तभ, चैत्यवृक्ष, सिद्धार्थ वृक्ष, स्तूप, तोरण, कोट, गृह वनवेदिका आदि रहते है उनकी ऊचाई तीर्थकरो के शरीर से वारह गुणी होती है ।

प्रश्न—केवली कितने प्रकार के होते है ?

उत्तर—केवली भगवान सामान्यता से दो प्रकार के होते है । एक तीर्थकर केवली और दूसरे सामान्य केवली । उनमे तीर्थकर केवलियों मे पञ्चकल्याणक तीर्थ-

कर केवली, तीन कल्याणक तीर्थंकर केवली, और दो कल्याणक तीर्थंकर केवली आदि भेद पाये जाते है। और सामान्य केवलियों के भी उपसर्ग केवली, अन्तःकृत केवली, मूक केवली, अनुबन्ध केवली या अनुबद्ध केवली इत्यादि भेद होते हैं।

तीर्थंकर केवली और अन्य सामान्य केवली में अंतर—

केवलज्ञानादि गुणों की अपेक्षा तीर्थंकर केवली तथा अन्य सामान्य केवलियो में कोई अन्तर नही है। तथापि जिन्होने घातिया कर्मो का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया है, वे सामान्य रूप से केवली भगवान कहे जाते है। और जिन्होने पहिले तीर्थंकर नाम कर्म प्रकृति बंध किया हो और केवलज्ञान प्राप्त किया जाता है तो वे तीर्थंकर केवली भगवान कहे जाते हैं।

तीर्थंकरों कि अलौकिकता—

तीर्थंकर केवलियों की विशेष अलौकिकता है—तीर्थंकर और सामान्य केवली इन दोनों में जो कुछ अंतर है वह निम्न प्रकार समझना चाहिये।

तीर्थंकर केवली भगवान के तीर्थंकर प्रकृति रूप विशेष पुण्य के उदय से उनकी इन्द्रादिक पंचकल्याणादि के रूप में विशेष भक्ति करते हैं और बाह्य मे जिनके उत्कृष्ट समवशरणादि रचना रूप वैभव पाया जाता है ऐसी बाते सामान्य केवलियो में नहीं होकर केवल गंधकुटी की रचना होती है।

तीर्थंकर केवली भगवान के समान सामान्य केवली भगवान की दिव्य ध्वनि से जीवों को शान्ति भी मिलती है। तत्वो का ज्ञान भी प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनों के धर्मोपदेशादि की समानता के होते हुये भी उनमे महत्वपूर्ण यह अन्तर है कि तीर्थंकरों का तीर्थप्रवर्त्तन काल चलता है। एक तीर्थंकर के मोक्ष होने के पश्चात् जब तक दूसरे तीर्थंकर उत्पन्न नही होते, तब तक उन मोक्ष प्राप्त तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल माना जाता है। सामान्य केवली में ऐसी बात नही होती है।

इस अवसर्पिणी काल में ऋषभादि वर्धमान तक केवल चौबीस तीर्थंकर हुये हैं, किन्तु इन एक-एक तीर्थकाल में असख्य भव्य जीवों ने केवली होकर मोक्ष पद प्राप्त किया है। तीर्थंकरो की यही अल्पसंख्या उनकी अलौकिकता को सम्यक् प्रकार से स्पष्ट कर देती है।

पांच कल्याणकों के धारी तीर्थंकर—

पंच कल्याणक तीर्थंकर केवली—भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र में पांच मेरु

सम्बन्धी १७० कर्म भूमियों में होते हैं। भरत, ऐरावत क्षेत्र में चतुर्थ काल (अवसर्पिणी के दुषमसुषमकाल) में होते है। और उत्सर्पिणी के तृतीय काल (दुषमसुषम काल) मे होते है। विदेह क्षेत्र में सदैव होते रहते है। विदेह क्षेत्र की अपेक्षा जिसने पहले भव मे तीर्थकर प्रकृति का बध किया है वही पच कल्याण तीर्थंकर कहलाता है।

तीन अथवा दो कल्याणक केवली—

तीन और दो कल्याणक तीर्थंकर केवली–पूर्व अपर (पश्चिम) दोनों विदेह क्षेत्रों में पंचमेरु सम्बन्धी १६० विदेह क्षेत्रो मे होते है। जिन्होने गृहस्थ अवस्था मे रहते हुये तीर्थंकर प्रकृति का बध कर लिया है उनके तप, ज्ञान और मोक्ष ये तीन कल्याणक होते है और जिन्होने मुनि होकर तीर्थकर प्रकृति का बंध कर लिया है, उनके ज्ञान और मोक्ष ये दो कल्याणक होते है।

उपसर्ग केवली—जिनके उपसर्ग अवस्था में केवलज्ञान हो उनको 'उपसर्ग केवली' कहते है। जैसे श्री पार्श्वनाथ भगवान। हुन्डावसर्पिणी काल के सिवाय अन्य काल के तीर्थंकरो के उपसर्ग नही कहे गये है।

अन्तःकृत केवली—

अन्तःकृत केवली–जो केवलज्ञान के उत्पन्न होते ही लघु अन्तर्मुहूर्त मे मोक्ष प्राप्त करते है, उनको 'अन्तःकृत केवली' कहते है। जैसे पांडवादि। जिस प्रकार नेमिनाथ तीर्थंकर के तीर्थकाल में कुमार श्रमण गजकुमार घोर उपसर्ग को सहन करते हुये अन्त कृत केवली हुये है, इसी प्रकार चौबीस तीर्थंकरो के तीर्थकाल मे दस-दस अन्तःकृत केवली हुए हैं। इनका वर्णन द्वादशाग वाणी के आठवे अग मे हुआ है, उसका नाम है अन्तःकृत दशाग। श्री वर्धमान भगवान के तीर्थकाल मे होने वाले तथा अत्यन्त दारुण उपसर्गो को जीत कर सम्पूर्ण कर्मो का क्षय करने वाले दस अन्तःकृत केवलियो के इस प्रकार नाम कहे है—

नमि, पतग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमकील, बलीक, किस्किबल, यालम्ब तथा अष्टपुत्र। इस प्रकार तत्वार्थ राजवार्तिक पृष्ठ ५१ मे और धवला भाग १९-१०३ मे लिखा है। हरिवश पुराण मे कहा कि—

> दह्यमानशरीरोऽसौ शुक्लध्यानेन कर्मणाम्।
> अंतःकृत्वा ययौ मोक्षमन्तःकृत्केवली मुनिः ॥१६२२॥

मूक केवली—

मूक केवली—कोई-कोई केवली भगवान उपदेश नही देते है अर्थात् जिनकी वाणी (दिव्य ध्वनी) नही खिरती है, उनको 'मूक केवली' कहते हैं। लाटा संहिता सर्ग १ में कहा है कि मूक केवली और अन्तःकृत् केवली की वाणी नही खिरती है।

अनुवन्ध या अनुबद्ध केवली—

अनुबन्ध या अनुबद्ध केवली—श्री महावीर भगवान के मोक्ष होने के पश्चात् गौतम स्वामी ने केवल ज्ञान प्राप्त किया। उनका मोक्ष होने पर सुधर्मा स्वामी ने केवलज्ञान प्राप्त किया पश्चात् जम्बू स्वामी केवली हुए। इस प्रकार परिपाटी क्रम से केवलज्ञान प्राप्त करने वालों को अनुवंध या अनुवद्ध केवली कहते हैं। इस दृष्टि से जम्बू स्वामी कों अन्तिम केवली कहा गया है। यदि यह परिपाटी क्रम दृष्टि मे न रखा जाय तो कुन्डलगिरि से अंत में मोक्ष प्राप्त करने वाले श्री धर केवली को अन्तिम केवली तथा मुक्ति प्राप्त करने वाला कहा गया है (देखो तिलोयपण्णति, पृष्ठ ३३८)

तीर्थङ्कर केवली और सामान्य केवलियों में अन्तर—

तीर्थंकर केवली और सामान्य केवलियो के गुण विचार—पच कल्याणक तीर्थंकर केवली भगवान में १० जन्मातिशय, १० केवल ज्ञान के अतिशय, १४ देवकृत अतिशय, ८ प्रतिहार्य तथा ४ अनंत चतुष्टय इस प्रकार ४६ अतिशय गुण होते हैं। इनको 'जिनगुण' ऐसा भी कहते है।

कोई-कोई कहते है सामान्य केवली के दश जन्मातिशयो को छोडकर शेष ३६ गुण मानना चाहिये। परन्तु सामान्य केवली में अनन्त चतुष्टय का सद्भाव तो नियम से मानना होगा। केवल ज्ञान के दस अतिशयो मे से गगनगमन, चारो दिशाओ मे मुखो का दर्शन होना, उपसर्ग का अभाव, कवलाहार का अभाव, सर्व विद्याओ का स्वामीपना, नख तथा केशों का नही वढ़ना, आदि गुणों का सद्भाव मानना आवश्यक है। इस विषय में आगम का खुलासा वर्णन देखने मे नहीं आया है। किन्तु युक्ति तथा विचार द्वारा इस सम्वन्ध मे चिन्तन के लिये पर्याप्त क्षेत्र है। जन्म के जो दस अतिशय तीर्थंकर भगवान के माने गए है। उनमें से केवली की अवस्था मे सुगन्धित शरीर का होना, पसीना रहित होना मलमूत्र का न होना, प्रिय हित मित वाणी का सद्भाव

होना, अतुल बल का सद्भाव होना, रक्त का धवल वर्ण का होना, वज्रमय शरीर होना, इन अतिशयो को मानना अविरोधी दिखता है। जिसके समचतुरस्त्र संस्थान न हो वह भी केवली बन सकता है तथा उसके शरीर मे १००८ लक्षणों का सद्भाव नही होगा, अत सातिशय रूपता का अभाव भी संभवनीय हो सकता है। इससे जन्म के सभी अतिशयो का अभाव कह देना ठीक नही जँचता है। क्योंकि बाहुवली, हनुमान, प्रद्युम्न, जीवन्धर जम्बू स्वामी आदि कामदेवो के सदृश केवली के सातिशय रूपता का सद्भाव स्वीकार करने पर उनके एक गुण की और वृद्धि अन्यों की अपेक्षा मानना उचित होगा। इस प्रकार सामान्य केवली के ३६ ही गुण मानना उचित नही प्रतीत होता है, जैसा कि पूर्व में विवेचन किया जा चुका है।

तीर्थकर केवली और सामान्य केवली इन दोनो के तो 'अनन्त चतुष्टय' और 'अष्ट प्रातिहार्य' रहते है। बाकी के गुणो का सामान्य केलवी मे नियम नही है, वे यथायोग्य जानना चहिये।

सामान्य केवली भगवान की गंधकुटी में मानस्तंभ रहते हैं या नहीं—

जैसे तीर्थकर केवली के समवशरण मे मानस्तभ रहते है, उसी तरह सामान्य केवलियो की गधकुटी मे भी मानस्तभ रहते है। सुदर्शन चरित्र में लिखा है कि कुवेर द्वारा सूवर्ण रत्नादिक से युक्त जव गध कुटी बनकर तैयार हुई थी। उसमे सिहासन, छत्र, चमर, ध्वजादि सब शास्त्रोक्त रचना की थी इसी तरह वहा गध कुटी मानस्तम्भो से सुशोभित की गई थी। इत्यादि वर्णन सुदर्शन चरित्र मे आया है।

सामान्य केवलियों की गंधकुटी में गणधर—

सुदर्शन चारित्र मे लिखा है—

दिव्येन ध्वनिना देवस्तदा सन्मार्गवृत्तये।
धर्मं तत्वादि विश्वार्थानुवाचेति गणान् प्रति ॥१६२३॥

सामान्य केवलियो के भी गणधर रहते है। गणधरों के अभाव मे दिव्यध्वनि नही खिरती है। इसलिये तीर्थकर केवली के समान सामान्य केवलियो के भी गणधर रहते है।

भगवान सुदर्शन केवली ने मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति बढ़ाने के लिये गणधरो के द्वारा धर्म तथा समस्त तत्व का स्वरूप वता दिया था।

समवशरण में विद्यमान सात प्रकार के मुनियों की संख्या—

तीर्थंकर केवली भगवान के समवशरण में केवली, पूर्वधर, शिक्षक, विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानी, विक्रिया ऋद्धिधारी, अवधिज्ञानी तथा वादी इन सात प्रकार के मुनियों की जो संख्या बताई गई है वह समवशरण में रहने वालों की है या उनके तीर्थकाल में होने वालो की है ?

समाधान—ऋषभदेव के समवसरण में जितने गणधारादि मुनि प्रत्यक्ष रहते थे, उन्हीं की सख्या बताई गई है। यह बात पद्मपुराण के चौथे पर्व मे लिखी है। इसी तरह बाकी प्रत्येक तीर्थंकरो के मुनियों की सख्या समझनी चाहिये।

सयोगी जिन कितनी कर्म प्रकृतियों का क्षय करते हैं—

भगवान ने घातियाँ कर्मो की ६३ प्रकृतियों का क्षय किया था। इनमे ५ ज्ञानावरण, ९ दर्शनावरण, २८ मोहनीय तथा ५ अतराय, मनुष्यायु को छोड़कर शेष तीन आयु तथा १३ नाम कर्म की प्रकृतियाँ हैं। इस सम्बन्ध में धवला टीका का यह कथन भी विचारणीय है 'एदेसु सट्ठि-कम्मेसु खीणेसु सयोगिजिणो होदि सयोगिकेवली ण किंचि कम्म खवेदि।' (भाग १ पृ० २२३)

इन कर्मो में साठ प्रकृति कर्मो के क्षय होने पर सयोगी जिन होता है। सयोग केवली किस कर्म का क्षय नही करते है।

प्रश्न :—सर्वत्र आगम में ६३ प्रकृतियों के क्षय की परम्परा प्रसिद्ध है, तब धवला टीका में ६० प्रकृतियों का क्षय क्यों कहा गया है ?

उत्तर :—तत्वार्थ राजवार्तिक में कर्मो के अभाव के यत्न तथा अयत्नसाध्य इस प्रकार दो भेद कहे है। चरम शरीरी जीव के नरकायु, देवायु, तथा तिर्यञ्चायु का सत्व न होने से बिना प्रयत्न के अभाव माना गया है। कहा भी है 'कर्माभावो द्विविधो, यत्न साध्योऽयत्न साध्यश्चेति। तत्र चरमदेहस्य नरक तिर्यग्देवायुषामभावोऽयत्न साध्यः' (६,३६१, अ० १० सूत्र २) अतएव सामान्य दृष्टि से विचार कर केवली के ६३ प्रकृतियो का अभाव कहा गया है। यत्न साध्य अर्थात् पौरुष द्वारा सपादित कर्माभाव को ध्यान में रखकर धवला टीका में ६० प्रकृतियों के अभाव से केवली पद की प्राप्ति प्रतिपादित की गई है।

शेष रही अघाति कर्मो की ८५ प्रकृतियों में से ७२ प्रकृतियों का अयोग

केवली के उपांत्य समय में क्षय होता है और १३ प्रकृतियों का क्षय अयोगी के अंतिम समय मे होता है। इस दृष्टि से खुलासा हो जाता है कि सयोगी जिन के किसी भी कर्म का क्षय नही होता है।

अरिहन्त या अर्हत् शब्द गुणवाचक है—

अन्य सप्रदायो मे केवली शब्द के स्थान मे जिनेन्द्र देव की अर्हत् या अरिहन्त के रूप मे प्रसिद्धि है। ऋग्वेद मे अर्हन्त का उल्लेख आया है अर्हन्इदं दयसे विश्वमम्वम्। मुद्राराक्षस नाटक मे जो अर्हन्त के शासन को स्वीकार करेंगे, वे मोह व्याधि के वैद्य है, ऐसा उल्लेख आया है 'मोहवाहिवेज्जाण अलिहन्ताणसासणं पडिवज्जह।' हनुमन्त नाटक मे लिखा है 'अर्हन्त इत्यथ जैन शासनरताः' जैन शासन के भक्त अपने आराध्य देव को अर्हत् कहते है।

यह अरहत शब्द गुण वाचक है। जो भी व्यक्ति घातिया कर्मो का विनाश करता है, वह अरहन्त बन जाता है। अतः यह शब्द व्यक्ति वाचक न होकर गुण वाचक है।

'अ' का अर्थ विष्णु 'अकारो विष्णुनामस्यात्।' केवली भगवान केवलज्ञान के द्वारा सर्वत्र व्याप्त है, अतः 'अ' का अर्थ होगा केवली भगवान, 'र' का अर्थ है राग कोश मे कहा है 'रागेबलेखे' इत्यादि, 'ह' हनन करने वाले वाचक हैं। हर्षे च हननेहः, स्यात्। 'त' शूर वीर वाचक है। कहा भी है 'शूरे चौरे च तः प्रोक्तः।

धवला ग्रन्थ मे 'अरहताण' पर प्रकाश डालते हुये लिखा है—अरिहननात् अरिहता। नरक-तिर्यक्कुमानुष्य-प्रेताःयासगताशेष दु ख प्राप्ति निमित्तत्वात् अरिर्मोहः। तस्यारेर्हननादरिहन्ता। अर्थात् अरि के नाश करने से अरिहत है नरक, तिर्यञ्च, कुमानुष, प्रेत इन पर्यायो मे निवास करने से होने वाले समस्त दुःखो की प्राप्ति का निमित्त कारण होने से मोह को अरि अर्थात् शत्रु कहा है। उस मोह शत्रु का नाश करने से अरिहत हैं।

अन्य कर्म महनीय कर्म के आधीन है, क्योकि मोहनीय कर्म के बिना शेष कर्म अपना कार्य करने मे समर्थ नही होते है। बारहवे क्षीण मोह गुणस्थान की प्राप्ति होने पर अन्त समय मे पच ज्ञानावरण, पंच अंतराय, तथा दर्शनावरण चतुष्टय शीघ्र नष्ट हो जाते है और क्षीण मोहि आत्मा केवली, स्नातक, परमात्मा, जिनेन्द्र बन जाता है।

अरिहन्त पद शब्द नही है । अतएव दोनो पाठ भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सम्यक् है । सूक्ष्म विचार से ज्ञात होगा कि बारहवें गुणस्थान के अंत में भगवान अरि समूह का नाश करने से अरिहन्त हो गये । इसके अन्तर सुरेन्द्रादि देवगण आकर जब केवलज्ञान कल्याणक की पूजा करते है, तब 'अरिहन्ति पूय सक्कार' इस दृष्टि से उनको अर्हन्त कहेंगे । उनका 'अरहन्त' रूप प्राकृत भाषा में पाया जाता है ।

णमो अरिहन्ताणं रूप पंच नमस्कार मंत्र का भूत बलि—पुष्पदंताचार्य के पहले सद्‌भाव था । इसके प्रमाण उपलब्ध होते हैं । मूलाराधना नाम की भगवती आराधना पर रचित टीका में पृष्ठ २ पर यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख आया है, कि सामायिक आदि अगबाह्य आगम में तथा लोक बिन्दुसार है, अन्त मे जिसके ऐसे चौदह पूर्व साहित्य के आरम्भ में गौतम गणधर ने णमो अरहन्ताणं इत्यादि रूप से पच नमस्कार पाठ लिखा है । जब गणधर देव रचित अग तथा अग बाह्य साहित्य मे णमो अरहन्ताणं इत्यादि मगल रूप से कहे गये है । तो फिर इनकी प्रचलित मान्यता निर्दोष रहती है, जिसमें यह पढ़ा जाता है 'अनादिमूलमंत्रोऽयम्' । मूलाराधना टीका के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं, 'यद्येवं सकलश्रुतस्य सामयिकादेर्लोक बिन्दुसारान्तस्यादौ मंगलं कुर्वद्‌भिर्गणधरैः णमो अरहन्ताणमित्यादिना कथं पचानों (परमेष्ठिनां) नमस्कारः कृतः ?

वृहत्प्रतिक्रमण पाठ में दोष शुद्धि के लिये गौतम गणधर ने यह लिखा है, 'मूलगुणेसु उत्तरगुणेसु अइक्कमो जाव अरहन्ताण भयवंताणं पज्जुवास करेमि तात्रकाय (बोसिरामि) पृष्ठ १५१) ।' टीकाकार पज्जुवास अर्थात् पुर्यपासना का स्वरूप इस प्रकार कहते है कि २२४ उच्वासों द्वारा १०८ बार पच नमस्कार मत्र का उच्चारण करे । टीकाकार प्रभाचन्द्र आचार्य के शब्द इस प्रकार है 'पज्जुवास करेमि – एकाग्रेण हि विशुद्धे न मनसा चतुर्शित्युत्तर-शतात्रयाद्यु्च्छ्वासैरष्टोत्तर शतादिवारान् पंचनमस्कारोच्चारणमर्हतां पर्यकासनकरण तद्यावत् काल करोमि·········।' पंच नमस्कार मंत्र का तीन उच्छ्वासो में पाठ करने का मुनियो के आचार ग्रन्थों मे प्रतिक्रमण प्रायश्चित्तादि के लिये उल्लेख पाया जाता है । मुनि जीवन के लिये जैसे २८ मूलगुण प्राण स्वरूप हैं, इसी प्रकार यह मूलमंत्र भी अत्यन्त आवश्यक है । पैंतीस अक्षरात्मक यह मूल मत्र जैन उपासक तथा आश्रम जीवन के लिये आवश्यक है । भूतवलि-पुष्पदन्त के पश्चात् इसकी रचना मानना जीवट्ठाण के निबद्ध अनिबद्ध भेद युक्त मंगल चर्चा के

आधार पर कहा जाता है। यह भी विचार तर्क संगत नही है। जीवट्ठाण की चर्चा पर आदर्श प्रति के आधार से विचार किया जाये, तो विदित होगा कि वीर सेनाचार्य ने स्वय णमोकार मत्र को भूतबलि-पुष्पदताचार्य रहित नही माना है। अलकार चिन्तामणि मे अन्य ग्रन्थकार रचित मगल को अनिबद्ध मंगल कहा है। 'परकृतमनिबद्धं। जीवट्ठाण ग्रन्थ का विशेषण बाह्य है, "इदं पुण जीवट्ठाण णिबद्धमंगल" (पृ. ४१) भ्रम से लोग 'निबद्ध मगल यस्मिन् तत्' इस प्रकार अर्थ विस्मरण कर पारिभाषिक निबद्ध मगल मान बैठते है। जीवट्ठाण ग्रन्थ के आदि मे मगल है। ग्रन्थ को ही निबद्ध मंगल कहना असगत बात होगी। अतः यह अर्थ उचित होगा कि इस जीवट्ठाण ग्रन्थ मे मगल निबद्ध किया है। जब गौतम गणधर ने णमोकार मत्र को अपने द्वारा निबद्ध आगम ग्रन्थो मे लिखा है, तब जीवट्ठाण मे कथित विवेचन का अविरोधी अर्थ करना विज्ञ व्यक्तियो का कर्त्तव्य है।

प्रश्न :—अपराजित मूल मंत्र में 'णमो अरहन्ताणं' को प्रथम स्थान क्यों दिया गया है?

उत्तर .—पूज्यता की दृष्टि से अष्ट कर्मो का क्षय करने वाले सिद्ध भगवान को प्रणाम रूप 'णमो सिद्धाण' पद पहले रखा जाना चाहिये था, किन्तु अपराजित मूल मत्र मे 'णमो अरहन्ताण' को प्रथम स्थान पर रखा है। इसका विशेष रहस्य है।

सम्यग्ज्ञान के द्वारा इष्ट पदार्थो की उपलब्धि होती है। उस ज्ञान का साधन शास्त्र हैं। उन राज्यो के मूल कर्ता अरहन्त भगवान है। इस कारण जीव मोक्ष प्राप्त करने वाली जिनवाणी के जनक होने से जिनेन्द्र तीर्थंकर सर्व प्रथम वन्दनीय माने गये हैं, क्योकि उपकार को न भूलना सत्पुरुषों का मुख्य कर्त्तव्य है। उपकार करने वाले प्रभु का स्मरण न करने से कृतघ्नता का दोष लगता है। नीच माने जाने वाले पशु तक अपने उपकारी के उपकार को स्मरण रखते है, तब विचारवान मनुष्य को तो कृतज्ञता की मूर्ति बनना चाहिये। उपकृत व्यक्ति की दृष्टि में उपकर्ता का सदा अन्य की अपेक्षा उच्च स्थान माना गया है।

हरिवश पुराण मे एक कथा आई है, चारूदत्त ने मरते हुए बकरे के कान मे पच नमस्कार मत्र दिया था। उस मत्र से बकरा सौधर्म स्वर्ग मे देव हुआ। वह देव कुंभकटक नामक द्वीप के कर्कोटक पर्वत पर जिन चैत्यालय मे विद्यमान मुनिराज के चरणो के समीप स्थित चारुदत्त के पास पहुँचा। उस देव ने पहले चारुदत्त को

प्रणाम किया था, मुनिराज की वन्दना बाद में की थी। उस देव ने कहा था 'जिन धर्मोपदेशकः चारुदत्तो साक्षात् गुरुः' जिन धर्म का उपदेश देकर मेरी आत्मा का उद्धार करने वाले चारुदत्त मेरे साक्षात् गुरु है, क्योंकि 'दत्तः पचनमस्कारो मरणे करुणावता' (२१-१५०) उन्होने करुणापूर्वक मुझे मरण समय पर पच नमस्कार मंत्र प्रदान किया था।

जातोऽहं जिन धर्मेण सौधर्मो विबुधोत्तमः।
चारुदत्तो गुरुस्तेन प्रथमो नमितो मया ॥१६२६॥

जिन धर्म के प्रभाव से मै सौधर्म स्वर्ग में महान देव हुआ हूँ। इस कारण मैने अपने गुरु चारुदत्त को सबसे पहले प्रणाम किया है।

हरिवंश पुराण की यह शिक्षा चिरस्मरणीय है :—

अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्य पदस्य वा।
दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्मदेशिनम् ॥१६२७॥

एक अक्षर का अथवा एक पद का या पदार्थ के दाता को विस्मरण करने वाला पापी है, तब फिर धर्म के उपदेशक को भूलने वाला महान पापी क्यों न होगा ?

इस कथन के प्रकाश मे अरहन्त भगवान का अनन्त उपकार सर्वदा स्मरणीय है और उनके चरण युगल सर्व प्रथम वन्दनीय है।

आचार्य वीरसेन ने अरहन्त भगवान के सम्बन्ध मे यह सुन्दर गाथा धवला टीका में उद्धृत है :—

तिरयण तिसूल धारिय मोहं धासुरक बंधविंदहरा।
सिद्धसयलप्परुवा अरहंता दुण्णयकयंता ॥१६२८॥

जिन्होने रत्नत्रय रूप त्रिशूल को धारण कर मोह रूपी अधकासुर के कवध वृन्द का हरण किया है और अपने सकल आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, वे मिथ्या पक्षों के विनाश करने वाले अरहन्त भगवान है।

मूलाचार में लिखा है कि ये अरहन्त भगवान जगत मे त्रिविधतम अर्थात् तीन प्रकार के अन्धकारों से विमुक्त हैं, इस सम्बन्ध की गाथा विशेष महत्त्वपूर्ण है—

मिच्छत्तवेदणीयं णाणावरणं चरित्त मोहं च।
तिविहा तयाहु मुक्का तम्हा ते उत्तमा होंति ॥१६२९॥

ये चौवीस तीर्थङ्कर लोक मे उत्तम कहे गये हैं, क्योंकि ये मिथ्यात्व-वेदनीय, ज्ञानावरण तथा चारित्र मोहनीय इन तीन प्रकार के अन्धकारो से मुक्त है। सस्कृत टीकाकार वसुनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लिखा है, "त्रिविधं तमस्तस्मात् मुक्ता यतस्तस्मात्ते उत्तमाः प्रकृष्टा भवन्ति।" इसका भाव यह है कि अरहन्त भगवान मिथ्यात्व अंधकार से रहित होने से सम्यक्त्व ज्योति से शोभायमान है। ज्ञानावरण के क्षय होने से केवलज्ञान समलंकृत हैं। चारित्र मोह के अभाव होने से परम यथाख्यात चारित्र संयुक्त है। मिथ्यात्व अज्ञान तथा असंयम रूप अन्धकार के होते हुए यह जीव परमार्थ दृष्टि से उत्तम (उत् अर्थात् रहित+तम=अन्धकार) अर्थात् अन्धकार रहित नही कहा जा सकता है। लोक में श्रेष्ठ पदार्थ को उत्ताम कहते है। तत्त्व दृष्टि से मुमुक्षु जीव अरहन्त भगवान को उत्तम अर्थात् उत्ताम मानता है।

मोहनीय कर्म पाप प्रकृति है। इसके भेद राग भाव को भी पाप रूप मानना होगा, किन्तु वह रागभाव अरहन्त भगवान के विषय में होता है, तो वह जीव को कुगतियों से बचाकर परम्परा से मोक्ष का कारण हो जाता है, अतः मूलाचार में 'अरहतेपु यराओ———स सत्थराओ' अरहन्तो में किया गया राग प्रशस्त राग अर्थात् शुभ राग कहा है, (देखो गाथा ७३, ७४ पडावश्यक अधिकार)

इन अरहन्तो को नमस्कार करने से जीव सम्पूर्ण दु.खो से छूट जाता है। जो यह सोचते हैं कि अरहन्त का स्मरण करने से मन मे राग भाव होता है, वह बन्ध का वर्धक ही होगा। उससे आत्मा का कल्याण नही हो सकता है। यह धारणा सद्विचार, विवेक तथा आगम के प्रकाश मे भ्रम मूलक प्रमाणित होती है। वीतराग की भक्ति के द्वारा आत्मा मे लगा हुआ अनादि कालीन मोहज्वर दूर हो जाता है। धर्मशर्माभ्युदय में एक सुन्दर बात कही गई है—जिनेन्द्र देव के चरण कमल की भक्ति रज से कपाय मैल से मलिन अन्त करण रूप दर्पण को मांजने से वह आत्म दर्पण स्वच्छ हो जाता है और तब उस आत्म दर्पण मे समस्त चराचर जगत् की वस्तुये प्रतिबिम्बित होने लगती हैं।

इस अरहन्त नमस्कार रूप 'णमो अरहन्ताण' पद का महत्व इस गाथा मे कहा है। (देखो मूलाचार) :—

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदो।
सो सव्व दुक्ख मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥१६३०॥

जो व्यक्ति सावधान होकर भक्ति भाव से अरहन्त भगवान को नमस्कार करता है, वह मानव शीघ्र ही समस्त दुःखो से छूट जाता है।

प्रश्न :—तीर्थंकर के केवली अवस्था में नौ केवल लब्धियां अर्थात् भोगोपभोग आदि के सद्भाव होने का क्या रहस्य है ?

उत्तर :—केवली भगवान को ९ परम केवल लब्धियाँ प्राप्त होती है :—

(१) दर्शनावरण कर्म के क्षय होने से अनन्तदर्शन-क्षायिक दर्शन की प्राप्ति होती है।

(२)	ज्ञानावरण	"	अनन्तज्ञान–क्षायिक ज्ञान की	"
(३)	वीर्यान्तराय	"	अनन्तवीर्य–क्षायिक वीर्य की	"
(४)	चारित्र मोहनीय	"	अनन्तसुख–क्षायिक चारित्र की	"
(५)	दर्शन मोहनीय	"	अनन्तदर्शन–क्षायिक सम्यक्त्व की	"
(६)	दानान्तराय	"	क्षायिक दान की	"
(७)	लाभान्तराय	"	क्षायिक लाभ की	"
(८)	भोगान्तराय	"	क्षायिक भोग की	"
(९)	उपभोगान्तराय	"	क्षायिक उपभोग	"

इस प्रकार चार घातिया कर्मों के क्षय से नौ परम केवल लब्धियाँ प्राप्त होती है। इन्ही को जीव के असाधारण क्षायिक भाव भी कहते है।

प्रश्न :—जिस समय तीर्थंकर भगवान ने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की थी, उस दीक्षा के समय वे भगवान सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग कर चुके थे, तब उनके केवल ज्ञान अवस्था में भोग उपभोग के सद्भाव होने का क्या रहस्य है ? इसी प्रकार पदार्थों के अभाव में उनमें दान के कथन का क्या भाव है ?

उत्तर :—जो पदार्थ एक बार सेवन में आता है, उसे भोग कहते है, जैसे पुष्पमाला। जो अनेक बार भोगने में आता है, उसे उपभोग कहते है, जैसे वस्त्र। भगवान परम वीतरागी होने से सम्पूर्ण परिग्रह के पाप से उन्मुक्त हैं, फिर भी तीर्थंकर प्रकृति के विपाक काल में वैभव तथा विभूति की इतनी वृद्धि होती है कि ससार में उन तीर्थंकर के समान कोई वैभव शाली नही है, फिर भी आंतरिक त्याग के अनुकूल वे उस वैभव से दूर रहते है। उस वैभव का उपयोग तो दूसरी बात है, स्पर्श भी नही करते है। अनन्त अतीन्द्रिय आत्मोत्थ आनन्द का रसास्वाद आने से उन वीतराग

प्रभु की दृष्टि कर्माधीन सुख की ओर से पूर्ण विमुख है ।

राजवार्तिक में लिखा है–'सम्पूर्ण भोगातराय के तिरोभाव हो जाने से अतिशयो का अविर्भाव होने से भगवान के क्षायिक अनन्त भोग होता है। इसके फल स्वरूप पचवर्ण युक्त सुगन्धित पुष्पों की वर्षा चरणो के निक्षेप के स्थान मे अनेक प्रकार की दिव्य गध युक्त सात कमलो की पक्ति, सुगन्धित धूप, सुखद और शीतल पवनादिक प्राप्त होते है। कृत्स्नस्य भोगांतरायस्य तिरोभावादाविर्भूतोऽतिशयवाननतो भोगः क्षायिको, यत्कृता पंचवर्ण सुरभि कुसुमवृष्टि विवध, दिव्य गंध चरण निक्षेप स्थान सप्तपद्मपक्ति सुगधित धूप सुख शीतमारुतादयो भावाः ।'

क्षायिक उपभोग के विषय मे आचार्य का कथन है परिपूर्ण रूप से उपभोगान्तराय कर्म के नाश होने से उत्पन्न होने वाला अनन्त उपभोग क्षायिक है। इसके कारण सिंहासन, बाल व्यजन (पखा) अशोक वृक्ष, छत्रत्रय, प्रभा मंडल, गम्भीर तथा मधुर स्वर रूप परिणमन होने वाली देव दुन्दुभि आदि पदार्थ होते है, 'निरवशेषस्योपभोगान्तराय कर्मण प्रलयात्प्रादुभूतोऽनत उपभोगः क्षायिको, यत्कृताः सिंहासन-बाल व्यजन अशोकपादप-क्षत्रत्रय-प्रभामण्डल-गम्भीर-स्निग्ध स्वर परिणाम-देवदुन्दुभिप्रभृतयो भावा (पृ० ७३)

भगवान के द्वारा दिए जाने वाले क्षायिक दान पर अकलक स्वामी इस प्रकार प्रकाश डालते है दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय होने से उत्पन्न होने वाला त्रिकाल गोचर अनन्त प्राणी मात्र का अनुग्रह करने वाला क्षायिक अभय दान होता है। 'दानान्तरायस्य कर्मणोऽत्यन्त संक्षयादाविर्भूत त्रिकालगोचरानन्त-प्राणिगणानुग्रह कर क्षायिकमभयदान (पृ० ७३)

जिनेन्द्र भगवान के कारण अनत जीवो को कल्याणदायी तथा अविनाशी सुख का कारण अभयदान प्राप्त होता है, उसकी तुलना ससार मे नही की जा सकती है। अन्य दोनो का सम्बन्ध शरीर तक ही सीमित है। यह वीतराग प्रभु का दान आत्मा को अनंत दु.ख से निकालकर अविनाशी उत्तम सुख में स्थापित करता है। यह सामर्थ्य अलौकिक है ।

प्रश्न :—सिद्ध भगवान में अभयदानादिक का सद्भाव कैसे सिद्ध होगा ?

उत्तर :—उक्त दानादि का सिद्धों मे कैसे सद्भाव सिद्ध होगा ? इस प्रश्न के उत्तर मे अकलक स्वामी कहते है 'शरीरनामकर्योदयाद्यपेक्षत्वात्तेषा तद्भावे तदप्रसंगः

परमानताव्याबाध रूपेणैव तेषां च तत्र वृत्तिः केवलज्ञानरूपेणानंतवीर्यवत्'—उक्त रूप से अभयदानादि के लिये शरीर नाम कर्म के उदय की अपेक्षा पड़ती है। सिद्ध भगवान के शरीर नाम कर्म के उदय का अभाव होने से उक्त प्रकार की अपेक्षा पडती है। सिद्ध भगवान के शरीर नाम कर्म के उदय का अभाव होने से उक्त प्रकार के अभयदानादि का प्रसग नही आयेगा। जिस प्रकार केवलज्ञान रूप से उन सिद्धो मे अनन्त वीर्य गुण माना जाता है अर्थात् अनन्त वीर्य के साथ केवलज्ञान का अविनाभाव सम्बन्ध होने से केवलज्ञान होने से अनन्तवीर्य का सद्भाव सिद्ध होता है, उसी प्रकार उक्त अभयदानादि भावों का समावेश करना चाहिये।

आत्मा मे अनन्त शक्ति है जो वीर्यान्तिराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होती है। यह शक्ति आत्मा कि स्तुति नही है, किन्तु वास्तव मे युक्ति द्वारा यह शक्ति सिद्ध होती है। पं. आशाधरजी ने सागरधर्मामृत में लिखा है कि आत्मा में अनन्त शक्ति का सद्भाव मानना अतिशयोक्ति नही है, किन्तु यह वास्तविक है। आचार्य कल्प प आशाधर जी का अभिप्राय यह है कि जगत भर में सुर, नर, पशु, देव, दानव आदि तथा अन्य सम्प्रदायों में पूज्य माने गये उनके भगवान आदि भी कामवासना के कारण स्त्री का परित्याग करने में असमर्थ है। इतना प्रभाव इस काम भाव का है, जिसका स्वानुभव में निमग्न जिन भगवान ने जडमूल से नाश कर दिया है, अतएव अनन्त जीवो पर शासन करने वाले काम के विध्वसक जिनेन्द्र देव मे अनन्त वीर्य का सद्भाव मानना पूर्णतया युक्ति सगत है।

प्रश्न :—समवशरण में तीर्थंकर प्रभु का कौनसा आसन रहता है ?

उत्तरः—समवशरण मे तीर्थङ्कर प्रभु का आसन पद्मासन रहता है।

प्रश्न :—भगवान भव्य जीवों के संताप दूर करने के लिए जो विहार करते हैं, उस समय उनके पैरों को उठाकर डग भरते हुये गमन को देखकर ऐसा प्रतीत सोता हैं कि भगवान के इस प्रकार की क्रिया का सद्भाव स्वीकार करना इच्छा अस्तित्व का संदेह उत्पन्न करता है। तो वास्तव में क्या है ?

उत्तर :—मोहनीय कर्म का अत्यन्त क्षय हो जाने से जिनेन्द्र भगवान के इच्छा का पूर्णतया अभाव हो चुका है, फिर भी उनके शरीर मे जो क्रिया होती है, वह अबुद्धि पूर्वक स्वभाव से होती है। प्रवचनसार मे कुन्द-कुन्द आचार्य ने लिखा है—

ठाणणिसेज्जविहार धम्मुवदेसो हि णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इच्छीणं ।।१५३१।।

अरहन्त भगवान के केवली अवस्था मे खड़े होना, पद्मासन से बैठना, विहार करना तथा धर्मोपदेश देना ये सब कार्य स्वभाव से ही पाये जाते है। जिस प्रकार स्त्रियों मे मायापरिणाम स्वभाव से होता है।

जिस प्रकार जिनेन्द्र देव की दिव्य देशना इच्छा के विना होती है, उसी प्रकार उनके शरीर मे खडे रहना, बैठना तथा विहार करना आदि कार्य भी इच्छा के विना ही होते है।

प्रश्न :—समवशरण में विहार के पश्चात् अरहन्त भगवान खड्गासन में रहते हैं या उनके पद्मासन हो जाता है ?

उत्तर :—विहार के पश्चात् समवशरण मे भगवान अरहन्त पद्मासन से विराजमान रहते हैं। हरिवशपुराण मे लिखा है कि महावीर भगवान के दर्शनार्थ चतुरंग सेना समन्वित सम्राट श्रेणिक ने सिंहासन पर विराजमान वीर भगवान के दर्शन कर उनको प्रणाम किया था। श्लोक मे 'सिंहासनोपविष्ट' शब्द का अर्थ है सिंहासन पर बैठे हुये।

मूल श्लोक इस प्रकार है—

सिंहासनोपविष्टं तं सेनया चतुरंगया ।
श्रेणिकोऽपि च संप्राप्तःप्राणनाम जिनेश्वरम् ।।१५३२।।

इस प्रकरण मे यह बात ज्ञातव्य है कि वीर भगवान ने कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष प्राप्त किया है। तिलोयपण्णत्ति मे लिखा है—

उसहोय वासुपुज्जो णेमी पल्लंकबद्धया सिद्धा ।
काउस्सग्गेण जिणा सेसा मुत्तिं समावण्णा ।।१५३३।।

ऋषभनाथ भगवान, वासुपूज्य स्वामी तथा नेमिनाथ भगवान ने पल्यंक बद्ध आसन से मोक्ष प्राप्त किया है।

शान्तिनाथ पुराण मे लिखा है कि समवशरण में शान्तिनाथ भगवान का पल्यंकासन था। कहा भी है—

श्रेष्ठषष्ठो पवासेन धवले दशमीदिने ।
पौषमास दिनस्यान्ते पल्यंकासनमास्थितः ।।१५३४।।

निर्ग्रंथो नीरजो वीतविघ्नो विश्वैकबांधवः ।
केवलज्ञान साम्राज्यश्रिया शान्तिमशिश्रियत् ।।१५३५।।

धर्म शर्माभ्युदय मे लिखा है कि धर्मनाथ तीर्थंकर समवशरण में बैठे हुये थे। कहा भी है—

रत्नज्योतिर्भासुरे तत्र पीठे तिष्ठन् देवः शुभ्रभामंडलस्थः ।
क्षीरांभोधेः सिच्यमानः पयोभिर्भूयोरेजे कांचनाद्राविवोच्चैः ।।१५३६।।

तिलोयपण्णत्ति के उपरोक्त कथन के प्रकाश में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि धर्मनाथ, शान्तिनाथ तथा महावीर भगवान का मोक्ष कायोत्सर्ग आसन से हुआ है, किन्तु समवशरण में वे पद्मासन से विराजमान रहते थे। अतएव केवलज्ञान होने पर समवशरण मे तीर्थंकर भगवान को पद्मासन मुद्रा में विराजमान मानना उचित है। सिंहासन रूप प्रातिहार्य अर्हंत भगवान के पाया जाता है। उस पर कायोत्सर्ग आसन से रहने की कल्पना उचित नही दिखती है।

एक बात यह भी विचारणीय है कि द्वादश सभाओं मे समस्त जीव बैठे रहे, और भगवान खडे रहे, ऐसा माने पर भक्त भव्य जीवों पर अविनय का दोष आये बिना न रहेगा। तीन लोक के नाथ खड़े रहे उनके चरणो के सेवक जीव बैठे रहे।

ज्ञानार्णव मे पिंडस्थ ध्यान के प्रकरण में सिंहासन पर पद्मासन से विराजमान जिनेन्द्र देव चितवन करने का कथन आयः है। अत यह बात आगम तथा युक्ति के अनुकूल है कि समवशरण मे भगवान सिंहासन पर पद्मासन से विराजमान रहते हैं। विहार मे कार्योत्सर्ग आसन होता है। उसके पश्चात् पद्मासन हो जाता है। आसन में परिवर्तन मानने मे कोई बाधा नही है।

ऋषभनाथ तीर्थंकर प्रभु की दिव्यध्वनि गणधर का अभाव—

भगवान ऋषभदेव को जब केवलज्ञान प्राप्त हुआ था, तब उनके उपदेश के पूर्व साधारण लोग धर्म तत्व से पूर्ण अपरिचित थे, अतः समवशरण के निर्माण होने पर भी गणधर कौन बनेगा और कौन भगवान की दिव्यध्वनि को झेलेगा। कर्म भूमि के प्रारम्भ की अवस्था को दृष्टि में रखने वाले के समक्ष सम्पूर्ण परिस्थिति का चित्र उपस्थित हो जायेगा। इस प्रसंग मे महापुराण से एक महत्वपूर्ण प्रकाश प्राप्त होता

है। उससे सर्व प्रकार की कठिनताएँ सहज ही सुलझ जायेगी। जिस प्रकार बैशाख सुदी दशमी को महावीर भगवान को केवलज्ञान हो जाने पर ६६ दिन तक दिव्यध्वनि उत्पन्न नही हुई थी, यद्यपि सर्व सामग्री का समुदाय वहाँ विद्यमान था। जय धवला टीका में कहा है कि उस समय गणधर देवरूप कारण का अभाव था, 'गणिंदाभावादो' (पृ० ७६)।

गणधर देव की उपलब्धि होने पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा की प्रभात वेला में वीर जिनेन्द्र की दिव्य ध्वनि खिरी थी। इससे भी कठिन परिस्थिति उस कर्म भूमि के प्रारम्भ काल मे थी, जब भगवान आदिनाथ ने तपश्चर्या द्वारा कैवल्य ज्ञान लक्ष्मी प्राप्त की थी। यदि लोक धर्म तत्व के ज्ञाता होते, तो मुनि अवस्था में भगवान को छह माह तक आहार प्राप्ति के निमित्त क्यों भटकना पड़ता? इस प्रकार की कठिन स्थिति मन मे विविध शकाओं को उत्पन्न करती है।

महापुराणकार कहते है कि भरत महाराज को धर्माधिकारी पुरुष से यह समाचार प्राप्त हुआ कि आदिनाथ भगवान को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है, आयुध शाला के रक्षक से ज्ञात हुआ कि आयुध शाला मे चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है तथा कंचुकी से ज्ञात हुआ कि राज भवन मे पुत्र उत्पन्न हुआ है।

धर्मस्थाद् गुरुकैवल्यं चक्रमायुधपालतः।
गुरोः कैवल्यसंभूति सूर्ति च सुतचक्रयोः ॥१५३७॥

भरतेश्वर ने पहले धर्म पुरुषार्थ की आराधना करना कल्याणदायी सोच, 'कार्येषु प्राग्विधेय तद्धर्म्यं श्रेयोनुबधि यत्।' (८) इससे भरत महाराज सपरिवार पुरिमतालपुर जाने को उद्यत हुये। तिलोयपण्णत्ति मे लिखा है कि फाल्गुण कृष्ण एकादशी के पूर्वान्ह काल मे उत्तराषाढ नक्षत्र के रहते हुये आदिनाथ भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था (४–६७६) प्रभु के समवशरण की भूमि सूर्य मंडल के समान गोल इन्द्रनील मणिमयी तथा बारह योजन प्रमाण विस्तार वाली थी। केवल ज्ञान उत्पन्न होते ही भगवान का परम औदारिक शरीर पृथ्वी से पांच हजार धनुष ऊंचाई पर चला गया था। भरत महाराज ने सुवर्ण निर्मित बीस हजार सीढ़ियों पर से शीघ्र ही समवशरण में प्रवेश किया था।

पुण्यशाली महाराज भरत ने पद्मासन से विराजमान उन अन्तर्यामी आदिनाथ

प्रभु की प्रदक्षिणा दी। श्रेष्ठ सामग्री से उन देवाधिदेव की अत्यन्त भक्ति पूर्वक पूजा की। पूजा के उपरान्त उनको प्रणाम किया और उनका मगलास्तवन करते हुए कहा—

त्वं शभुः शंभवः शंयुः शंवदः शंकरो हरः।
हरि र्मोहासुरारिश्च तमोरिर्भव्यभास्करः ॥१५३८॥

हे भगवान आप ही शम्भु है, संभव है, शयु अर्थात् सुखी हैं, शंवद अर्थात् सुख या शान्ति का उपदेश देने वाले हैं, शंकर अर्थात् शांति के करने वाले हैं, हर है, मोह रूपी असुर के शत्रु है, हरि है, अज्ञानरूप अन्धकार के अरि है और भव्य जीवो के लिये उत्तम सूर्य है।

भरतेश्वर जिनेन्द्र देव के गुणस्तवन के शिवाय नाम कीर्त्तन को भी आत्म निर्मलता का कारण मानते हुए कहते हैं—

तदास्तां ते गुण स्तोत्रं नाम मात्रं च कीर्तितम्।
पुनाति नस्ततो देव त्वन्नामोद्देशतः श्रिताः ॥१५३९॥

हे देव ! आपके गुणो का स्तोत्र करना तो दूर रहा, आपका उच्चारण किया हुआ नाम भी हम लोगों को पवित्र कर देता है, अतएव हम आपका नाम लेकर ही आपकी शरण को प्राप्त होते है।

भरत चक्रवर्ती के निमित्त से भगवान की दिव्य ध्वनि—

वृषभात्मज भरतेश्वर जगत् पिता वृषभ जिनेश्वर की स्तुति के उपरान्त श्री मंडप में जाकर अपने योग्य सभा में जा बैठे। पश्चात् विनय पूर्वक भरतराज ने जिन-राज की प्रार्थना की—

भगवान बोद्धु मिच्छामि कीदृशस्तत्वविस्तरः।
मार्गो मार्गफलं चापि कीदृग् तत्वविदांवर ॥१५४०॥

हे भगवन् ! तत्त्वों का स्पष्ट स्वरूप किस प्रकार है ? मार्ग तथा मार्ग फल कैसा है? हे तत्त्वज्ञो में श्रेष्ठ देव ! मै आपसे यह सब सुनना चाहता हूँ।

भाग्यशाली भक्त भव्य शिरोमणी भरतराज के प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने समस्त सप्त तत्वों का, रत्नत्रय मार्ग तथा उसके फलस्वरूप निर्वाण आदि का अपनी दिव्य वाणी के द्वारा निरूपण किया। सर्वज्ञ, वीतराग तथा परम हितोपदेशी

जिनेन्द्र देव की वाणी की महिमा का कौन वर्णन कर सकता है ? सम्राट भरत ने भगवान के श्रीमुख से मुनि दीक्षा लेते समय सात्वना के शब्द सुने थे, उसके पश्चात् अब फिर प्रभु की प्रिय मधुर तथा शातिदायिनी वाणी सुनने मे आई। समवशरण में विद्यमान भव्य जीवो को अवर्णनीय आनन्द तथा प्रकाश की उपलब्धि हुई। चिर पिपासित चातक के मुख मे मेघ विन्दु पडकर जैसी प्रसन्नता उत्पन्न करती है, ऐसी ही प्रसन्नता प्रभु की वाणी को सुनकर, समवशरण के भव्य जीवों को प्राप्त हुई थी। प्रभु की वाणी का सम्राट भरत पर क्या प्रभाव पड़ा ? इस पर महापुराणकार इस प्रकार प्रकाश डालते है—

ततः सम्यक्त्वशुद्धिं च व्रतशुद्धिं पुष्कलाम् ।
निष्कलात् भरतो भेजे परमानन्दमुद्वहन् ।।१५४१।।

भगवान की दिव्य देशना को सुनकर सम्राट भरत ने परम आनन्द को प्राप्त होते हुए सम्यक्त्व शुद्धि तथा व्रतो के विषय मे परम विशुद्धता प्राप्त की।

भरत महाराज ने भगवान की अराधना कर सम्यग्दर्शन रूप मुख्य मणि सहित व्रत और शीलो से समलकृत निर्मल माला अपने कठ में धारण की, जो मुक्ति श्री के कठहार के समान लगती थी। अर्थात् भरत महाराज ने बारह व्रतो द्वारा अपना जीवन अलकृत किया था। इस कारण वे सम्राट भरत सुसस्कृत मणि के समान दैदीप्यान होते थे।

भगवान की दिव्य वाणी सुनकर बारहवे कोठे मे स्थित पशुओं, पक्षियो के मध्य मे स्थित मयूरों को बडा हर्ष हुआ, क्योंकि जिनेन्द्र की मधुर वाणी उन मयूरों को अत्यन्त प्रिय मेघ की ध्वनि समान सुनाई पड़ी थी। महाकवि जिनसेन स्वामी कहते हैं—

दिव्यध्वनिमनुसृत्य जलद-स्तनितोपमम् ।
अशोक-विटपारुढाः सस्वनु-र्दिव्यबर्हिणः ।।१५४२।।

मेघ की गर्जना के समान भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर अशोक वृक्ष की शाखाओ पर स्थित दिव्य मयूर भी आनन्द से मानो शब्द करने लग गये थे।

प्रश्न—ऋषभनाथ तीर्थङ्कर के प्रथम गणधर वृषभसेन थे क्या ?

उत्तर—भगवान की दिव्य देशना से भरत महाराज के छोटे भाई पुरिमताल पुर (वर्तमान प्रयाग) के स्वामी वृषभसेन की आत्मा अत्यधिक प्रभावित हुई। वृषभ

पिता की कल्याणमयी आज्ञा को ही मानों शिरोधार्य करते हुये वृषभ पुत्र ने मोक्ष के साक्षात् मार्ग स्वरूप महाव्रतों को अंगीकार कर मुनि पदवी प्राप्त की और सप्तऋद्धि से शोभायमान होकर प्रथम गणधर पद की प्रतिष्ठा प्राप्त की। उनके विषय में महापुराणकार के शब्द ये है—

योऽसौ पुरिमतालेशो, भरतस्यानुजः कृती ।
प्राज्ञः शूरः शुचि र्धीरो, धौरेयो मानशालिनाम् ।।१५४३।।
श्रीमान् वृशभसेनाख्यः प्रज्ञापारमितो वशी ।
स सम्बुध्य गुरोः पार्श्वे दीक्षित्वाऽभूद् गणाधिपः ।।१५४४।।

उसी समय कुरुवंश के शिरोमणि, महाराज श्रेयांस, महाराज सोमप्रभ तथा अन्य राजाओं ने मुनिदीक्षा धारण कर वृषभसेन स्वामी के समान गणनायकों के पद प्राप्त किये ।

जिस सर्व परिग्रहत्याग वृत्ति को सिंहवृत्ति मानकर श्रृगाल स्वभाव वाले जीव डरा करते है, उस पदवी को निर्भय होकर धारण करने में लोगो का साहस वृद्धिगत हो रहा था । भरत महाराज की छोटी बहन ब्राह्मी ने कुमारी अवस्था में ही वैराग्य भाव जागृत हो जाने से आर्यिका की श्रेष्ठ पदवी प्राप्त की ।

गुरुदेव के अनुग्रह से कुमारी ब्राह्मी ने दीक्षा लेकर आर्यिकाओ के मध्य गणिनी का पद प्राप्त किया था । आर्यिका ब्राह्मी की देवताओ ने पूजा की थी ।

बाहुबलि कुमार की सगी बहिन कुमारी सुन्दरी ने भी बहिन ब्राह्मी के समान जिन दीक्षा धारण कर नारी जाति को गौरवान्वित किया था । उस समय श्रुत कीर्ति नामक गृहस्थ ने श्रावकों के उच्च व्रत ग्रहण किये थे । यह देशव्रती श्रावको में प्रमुख था ।

भरत के भाई अनन्तवीर्य कुमार ने भी भगवान से मुनि दीक्षा लेकर अपूर्व विशुद्धता प्राप्त की इस युग में केवल ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जाने वाले पूज्य पुरुषो मे अनन्तवीर्य भगवान का सर्वोपरि स्थान है । कहा भी है—

संबुोऽनंतवीर्यश्च, गुरोः सप्राप्तदीक्षणः ।
सुरैवाप्तपूजर्धिरग्रिमो मोक्षवतामभूत् ।।१५४५।।

कुमार अनन्तवीर्य ने प्रतिबोध को प्राप्त करने के पश्चात् भगवान से दीक्षा ली । देवो के द्वारा पूजा प्राप्त की । वे अन्तवीर्य इस अवसर्पिणी काल मे मोक्ष

जाने वाले में अग्रणी हुये है ।

भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले तथा पश्चात् भ्रष्ट हुये समस्त राजाओं ने भगवान की वाणी को सुनकर अपने मिथ्यात्व का परित्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की । मरीचिकुमार का ससार भ्रमण अभी समाप्त नही हुआ था, अतः उस मरीचिकुमार ने मिथ्यामार्ग आश्रय नही छोड़ा । कहा भी है—

मरीचिवर्ज्याः सर्वेऽपि, तापसास्तपसि स्थिता ।
भट्टारकान्ते संबुध्य, महाप्राव्राज्येऽवस्थिताः ।।१५४६।।

मरीचिकुमार को छोड़कर शेष सभी कुलिंगी साधुओ ने भट्टारक ऋषभदेव के समीप प्रति बोध को प्राप्त कर महाप्राव्रज्य अर्थात् पञ्च महाव्रतों की दीक्षा ग्रहण की।

भरत महाराज सदृश महान ज्ञानी के छोटे भाई, छोटी बहिन कुमारी ब्राह्मी आदि ने दीक्षा ली, किन्तु भरत महाराज अयोध्या को लौट गये और दिग्विजय आदि संसारिक चिताओ मे सलग्न हो गये, क्योकि उनके परिग्रह परित्याग की पुण्य वेला अभी समीप नही आई थी । जब काललब्धि का योग मिला, तो दीक्षा लेकर भरत सम्राट शीघ्र ही ज्ञान साम्राज्य के स्वामी बन गये । मुनि पदवी लेने के पश्चात् उन्हे फिर पारणा करने तक का भी प्रसग नही प्राप्त हुआ । उत्तर पुराण का यह कथन कितना अर्थ पूर्ण है—

आदितीर्थकृतो ज्येष्ठ पुत्रो राजसु षोडश ।
ज्यायांश्चक्री मुहूर्तेन मुक्तो यं कैस्तुलांव्रजेत् ।।१५४७।।

आदिनाथ तीर्थंकर के ज्येष्ठ पुत्र, सोलहवे मनु प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज ने अन्तर्मुहुर्त के अन्तर ही केवल्य ज्ञान प्राप्त किया था । उनकी बराबरी संसार मे कौन कर सकता है ?

प्रश्न—तीर्थङ्कर भगवान में लक्ष्मी और सरस्वती की मैत्री किस प्रकार पाई जाती है ?

उत्तर—ससार मे यह बात प्रसिद्ध है कि सरस्वती और लक्ष्मी मे इतना विरोध है कि किसी भी पुरुष मे दोनो का एक साथ निवास नही पाया जाता है । तीर्थंकर भगवान मे इन दोनो की मैत्री स्पष्ट नयन गोचर होती है । समन्तभद्र स्वामी ने पद्मप्रभ भगवान के स्तवन मे कहा है कि जिनेन्द्र देव ने सरस्वती तथा पद्मा अर्थात्

लक्ष्मी को मुक्ति श्री के अभिमुख होने के पहले धारण किया था। 'बभार पद्मां च सरस्वतीं च भवान् पुरस्तात् प्रतिमुक्तिलक्ष्याः'

प्रश्न—अचेल अवस्था या दिगम्बरत्व क्या है ?

उत्तर—विविध धर्मो के साहित्य में जो अचेल या दिगम्बरत्व के पोषक वाक्य मिलते है, उसका कारण यह प्रतीत होता है, कि इन समस्त देशो के विद्वानों दिगम्बर अवस्था में जिनेन्द्र देव के अवश्य दर्शन किये थे। प्रचुर शीत परिपूर्ण तथा हिमाच्छदित देशो के साहित्य में भी दिगम्बर वृत्ति के प्रति आदरपूर्ण भाव प्रदर्शन का असली रहस्य यह रहा है कि सभी तीर्थङ्कर मुनि अवस्था में निर्ग्रन्थ थे, श्वेताम्बरो की मान्यतानुसार निर्ग्रन्थपने का दिगम्बर पन से रहित अर्थ करना असंगत है, क्योकि वस्त्रो के होते हुये श्रेष्ठ अहिसा वृत्ति का पालन करना असंभव है। वस्त्रादि के प्रति मूर्च्छारूप अन्तरंग परिग्रह भाव तो रहेगा ही, साथ ही द्रव्य हिसा का भी दोष नही टाला जा सकता है। वस्त्रों को स्वच्छ करते समय सतत अनन्त जलकायिक जीवो का विनाश भी आवश्यम्भावी है।

प्रश्न—योग निरोध के बाद समवशरणादि की क्या स्थिति है ?

उत्तर—भगवान आदिनाथ को सिद्धालय प्राप्त करने में जब चौदह दिन शेष रह गये तब प्रभु आदिनाथ कैलाशगिरि पर आ गये। कैलाश पर्वत पर प्रभु पद्मासन से विराजमान हुये। जिस दिन योग निरोध कर भगवान अष्टापद अर्थात् कैलाश पर्वत पर विराजमान हुये, उसी दिन भरत चक्रवर्ती ने स्वप्न में देखा कि—

तदाभरतराजेन्द्रो महामंदरभूधरं।
आप्राग्भारं व्यलोकिष्ट स्वप्ने दैर्घ्येण संस्थितं ॥१५४८॥

महा मदराचल अर्थात् सुमेरु पर्वत वृद्धि को प्राप्त होता हुआ प्रभाकर पृथ्वी अर्थात् सिद्ध लोक तक पहुँच गया है।

युवराज अर्ककीर्ति ने स्वप्न में देखा, एक महौषधि का वृक्ष स्वर्ग से आया था। मनुष्यों का जन्म-रोग नष्ट कर वह पुनः स्वर्ग मे चला गया। गृहपति रत्न ने देखा कि एक कल्पद्रुम स्वर्ग प्राप्ति के लिये समुद्यत है। चक्रवर्ती के प्रमुख मंत्री ने देखा कि एक रत्नो का दीपक जीवों को ज्ञानरत्न देने के पश्चात् आकाश मे जाने के लिये उद्यत हो रहा है। सेनापति ने देखा, कि एक सिह वज्र के पिंजरे को तोड़कर कैलाश पर्वत को उल्लघन करने के लिये तैयार हुआ। भरत चक्रवर्ती के पुत्र अर्क

कीर्ति ने देखा कि त्रिलोक को प्रकाश करता हुआ तारकेश्वर अर्थात् चन्द्रमा ताराओ सहित जा रहा है, चक्रवर्ती की पट्टरानी सुभद्रा का स्वप्न था कि ऋषभ देव भगवान की रानी यशस्वती और सुनन्दा के साथ शक्र अर्थात् इन्द्र की मनः प्रिया अर्थात् महादेवी (इन्द्राणी) बहुत कालपर्यन्त शोक कर रही है। इन स्वप्नो का फल पुरोहित ने यह बताया कि ये समस्त स्वप्न यह सूचित करते है कि भगवान वृषभ देव समस्त कर्मो का निर्मूल नाश कर अनेक मुनियो के साथ मोक्ष पधारेंगे।

इतने मे आनन्द नाम के व्यक्ति ने चक्रवर्ती भरतेश्वर को भगवान ऋषभ का सर्ववृतांत बताया कि—

ध्वनौ भगवतो दिव्ये संहृते मुकुलीभवत्।
कराम्बुजा सभा जाता पूष्णीव सरसीत्यसौ ॥१५४६॥

भगवान की दिव्य ध्वनि का खिरना अब बन्द हो गया है, इससे जैसे सूर्य के अस्त के समय सरोवर के कमल मुकुलित हो जाते है, उसी प्रकार सब सभा हाथ जोडे हुये मुकुलित (उदास) हो रही है।

इस समाचार को सुनते ही भरत चक्रवर्ती तत्काल कैलाश पर्वत पर पहुंचे। उन प्रभु की तीन परिक्रमा करके स्तुति की।

महामहमहापूजां भक्त्या निर्वर्तयन्स्वयं।
चतुर्दश दिनान्येवं भगवंत मसेवत ॥१५५०॥

चक्रवर्ती भरत ने महामह नाम की महान पूजा भक्ति भाव पूर्वक स्वयं की तथा चौदह दिन तक भगवान की सेवा भक्ति की।

यहा यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि सर्व सामग्री का सन्निधान होते हुये भी आदिनाथ जिनेन्द्र की लोक कल्याण निमित्त खिरने वाली दिव्यवाणी बन्द हो गई, क्योकि क्षण-क्षण मे विशेष विशुद्धता को प्राप्त करने वाले इन प्रभु की शुद्धोपयोग रूप अग्नि अत्यधिक प्रज्वलित हो गई है और अब उसमें अघातिया कर्मो को भी स्वाहा (भस्म) करने की तैयारी आत्म यज्ञ के कर्ता जिनेन्द्र ने की है। प्रारम्भ मे निर्दयता पूर्वक पाप कर्मो को नष्ट किया था और अब शुभ भावो द्वारा बाधी गई पुण्य प्रकृतियो का की शुभ भाव रूपी तीक्ष्ण तलवार के द्वारा ध्वंस का कार्य शीघ्र आरम्भ होने वाला है। ससार के जीवो की अपेक्षा प्रिय और पूज्य मानी गई तीर्थंकर प्रकृति अब इन वीतराग प्रभु को सर्वथा क्षय योग्य लगती है, क्योंकि ऐसा कोई

भी कर्म का उदय नही है, जो सिद्ध पदवी के प्राप्त करने में विघ्न रूप न हो। पंचाध्यायी में लिखा है—

नहि कर्मोदयः कश्चित्, जन्तो यः स्यात् सुखावहः।
सर्वस्य कर्मणस्त्र, वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ॥१५५१॥

ऐसा कोई कर्म का उदय नही है जो आत्मा को आनन्द प्रदान करे, क्योकि सभी कर्मो का उदय आत्म स्वरूप से विपरीत स्वभाव वाला है।

इस कथन के प्रकाश में यह बात सिद्ध होती है कि स्वभाव परिणति की उपलब्धि में बाधक तथा विभाव परिणति के साधक कारण सभी कर्म त्यागने योग्य है। सुवर्ण वर्ण के सर्प द्वारा कृत दश प्राप्त व्यक्ति उसी प्रकार मृत्यु के मुख मे प्रवेश करता है, जिस प्रकार श्याम सर्पराज के द्वारा काटा गया व्यक्ति भी प्राणो का त्याग करता है। इसलिये शुद्धोपयोगी ऋषिराज ऋषभदेव तीर्थङ्कर ने दिव्य उपदेश देना बन्द कर दिया है। उन्हे जितना कहना था, वह सब कह चुके। अन्य जीवो के उपकार के लिये यदि भगवान लगे रहें तो वे सिद्ध वधू के स्वामी नही बन सकेंगे। इसलिये अब भगवान पूर्ण निर्मलता सम्पादन के श्रेष्ठ उद्योग मे सलग्न है। अन्य तीर्थंकरो के योग निरोध का समय एक माह तक आगम मे कहा गया है, इतना विशेष है कि वर्धमान भगवान ने जीवन के दो दिन शेष रहने पर योग्य निरोध आरम्भ किया था। यही बात निर्वाण भक्ति में इस प्रकार कही है—

आद्यश्चतुर्दश दिनै विनिवृत्तयोगः,
षष्ठेन निष्ठित कृतिर्जिनवर्धमानः।
शेषा विधूत घनकर्म निबद्धपाशा,
मासेन ते यतिवरास्त्वभवन्वियोगाः ॥१५५२॥

ऋषभाथ भगवान ने मन-वचन-काय के योगनिरोध का कार्य चौदह दिन पूर्व किया था तथा वर्धमान जिनने दो दिन पूर्व योगनिरोध किया था, घनकर्म राशि के बधन को दूर करने वाले बाईस तीर्थंकरो ने एक माह पूर्व मन-वचन-काय की बाह्य क्रिया का निरोध प्रारम्भ किया था।

प्रश्न :—केवली के कौनसा ध्यान रहता है ?

उत्तर :—शुक्ल ध्यान का तृतोय भेद उस समय होता है, जब आयु कर्म के क्षय के लिये अंतर्मुहूर्त काल शेष रहता है। अतएव प्रश्न होता है कि आठ वर्ष से कुछ

अधिक काल में केवली बनकर एक कोटि पूर्वकाल में से किंचित् न्यून काल छोडकर शेषकाल पर्यन्त केवली के कौनसा ध्यान रहता है ?

परमार्थ दृष्टि से 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं' यह ध्यान का लक्षण सर्वज्ञ भगवान में नही पाया जाता है। आत्म स्वरूप मे प्रतिष्ठित होते हुए भी ज्ञानावरण के क्षय होने से वे त्रिकालज्ञ भी है, अत. उनके एकाग्रता का कथन किस प्रकार सिद्ध होगा ? चिन्ता का भी उनके अभाव है। 'चिन्ता अतः करणवृत्ति.' अतः करण अर्थात् क्षयोपशमात्मक भावमन की विशेषवृत्ति चिन्ता है। केवली के क्षायिक केवलज्ञान होने से क्षयोपशमरूप चित्तवृत्ति का सद्भाव भी नही है, तब उस चित्तवृत्ति का निरोध कैसे बनेगा ? इस अपेक्षा से केवली भगवान के ध्यान नही है।

प्रश्न :—(इस पर शंका उत्पन्न होती है कि) आगम में केवली के दो शुक्ल ध्यान क्यों कहे गये हैं ?

उत्तर :—केवली भगवान के उपचार से ध्यान कहे गए है। राजवार्तिक में 'एकादशजिने' सूत्र की टीका मे अकलंक स्वामी लिखते है 'केवली भगवान में ग्यारह परिषह उपचार से पाये जाते है। इस विषय के स्पष्टीकरण हेतु आचार्य लिखते है —

"यथा निरवशेष निरस्त-ज्ञानावरणे परिपूर्ण ज्ञाने एकाग्रचिता निरोधाभावेऽपि कर्मरजो-विधूनन फल सभवात् ध्यानोपचार' तथा क्षुधादि-वेदनाभाव परीषहाऽभावेऽपि वेदनीय कर्मोदय द्रव्य परीषहसद्भावात् एकादश जिते सतीति उपचारो युक्तः"। (पृष्ठ ३३८) जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्म के परिपूर्ण क्षय होने से केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर एकाग्रचिता निरोधरूप ध्यान के अभाव होने पर भी कर्मरज के विनाशरूप फल को देखकर ध्यान का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार क्षुधा, तृषादि की वेदना रूप भाव परीषह के अभाव होते हुए भी वेदनीय कर्मोदय द्रव्यरूप कारणात्मक परीषह के सद्भाव होने से जिन भगवान मे एकादश (ग्यारह) परिषह होते है, ऐसा उपचार किया जाता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि केवली भगवान के आयुकर्म की अतर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहने के पूर्वध्यान का सद्भाव नही कहा गया है, इसी कारण धवला टीका मे सयोगी जिनके विषय में लिखा है. 'सयोगी केवली ण किंचि कम्म खवेदि' (पृ० २२३ भाग १) सयोग केवली किसी कर्म का क्षय नही करते है। कर्म के क्षपण कार्य का अभाव रहने से सयोगी जिनके ध्यान का अभाव है। इतना

विशेष है कि अयोग केवली होने के पूर्व सयोगी जिन अघातिया कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को नष्ट करते है तथा अशुभ कर्मो के अनुभाग को नष्ट करते है, उस समय उनके सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति शुक्ल ध्यान की योग्यता उत्पन्न होती है।

प्रश्न :—समुद्घातविधि क्या है ?

उत्तर :—समुद्घात विधि—हरिवश पुराण मे लिखा है 'जिस समय केवली की आयु अंतर्मुहूर्त मात्र रह जाती है और गोत्र आदि तीन अघातियां कर्मो की स्थिति भी आयु के बराबर रहती है, उस समय सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्ल ध्यान होता है और यह मन-वचन-काय की स्थूल क्रिया के नाश होने पर उस समय होता है, जब स्वभाव से ही काय सम्बन्धी सूक्ष्म क्रिया का अवलबन होता है।

अंतर्मुहूर्त शेषायु: स यदा भवंतोश्वरः।
तत्तुल्यस्थितिगोत्रादित्रितयश्च तदा पुनः ।।१५५३।।
समस्तं वाङ्मनोयोगं काययोगं च बादरं।
प्रहाप्यालंब्य सूक्ष्मं तु काययोगं स्वभावतः ।।१५५४।।
तृतीयं शुक्ल सामान्यात् प्रथमं तु विशेषतः।
सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यानमाध्यातुमर्हति ।।१५५५।।

तत्वार्थ राजवार्तिक में अकलंक स्वामी ने लिखा है, जब सयोग केवली की आयु अतर्मुहूर्त प्रमाण रहती है और शेष वेदनीय, नाम तथा गोत्र इन कर्मों की स्थिति अधिक रहती है, उस समय आत्मोपयोग के अतिशय सहित साम्यभाव समन्वित विशेष परिणाम युक्त, सवर वाला, शीघ्र कर्मक्षय करने मे समर्थ, योगी शेष कर्मरूपी रज के विनाश करने की शक्ति से अलकृत स्वभाव से दड, कपाट, प्रतर तथा लोकपूरण समुद्घात रूप आत्म प्रदेशो का चार समय मे विस्तार करके पश्चात् उतने ही समयो में विस्तृत आत्म प्रदेशों को सकुचित करता हुआ चारो कर्मो की स्थिति विशेष को एक बराबर करके पूर्व शरीर बराबर परिमाण को धारण करके सूक्ष्म काय योग को धारण करता हुआ सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति नाम के ध्यान को करता है। मूल ग्रन्थ के शब्द इस प्रकार है—

यदा पुनरतर्मुहूर्त-शेषायुष्कस्ततोऽधिक स्थिति विशेष कर्मत्रयो भवति योगी, तदात्मोपयोगातिशयस्य सामायिक सहायस्य विशिष्टकरणस्य महासंवरस्य लघुकर्मपरि-परिपाचनस्य शेषकर्म-रेणु-परिशातन शक्ति-स्वभाव्यात् दड-कपाट प्रतरलोकपूरणानि

स्वात्मप्रदेश विसर्पणतश्चतुर्भिः समयैः कृत्वापुनरपि तावद्भिरेव समयैः समुपहृत प्रदेश-विसर्पण समीकृत-स्थिति विशेष कर्मचतुष्टयः पूर्व-शरीर परिमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाय योगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान ध्यायति (पृष्ठ ३५६ अध्याय ६ सूत्र ४४)।

महापुराण मे लिखा है—

सहि योगनिरोधार्थमुद्यतः केवली जिनः।
समुद्घात-विधि पूर्वमाविष्कुर्यान्निसर्गतः ॥१५५६॥

स्नातक केवली जिन भगवान जब योगो का निरोध करने के लिये तत्पर होते है, तब वे उसके पूर्व ही स्वभाव से समुद्घात की विधि करते है।

समुद्घात विधि का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—पहले समय मे केवली के आत्म प्रदेश चौदह राजू ऊँचे दड के आकार होते है। दूसरे समय मे कपाट् अर्थात् दरवाजे के किवाड आकार को धारण करते है। तृतीय समय मे प्रतर रूप होते है। चौथे समय मे समस्त लोक मे व्याप्त हो जाते है। इस प्रकार वे जिनेन्द्र देव चार समय मे समस्त लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित होते है।

इस प्रसग मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि ब्रह्मवादी ब्रह्म को सम्पूर्ण जगत मे व्याप्त मानते है। जैन दृष्टि से उनका कथन सयोगी जिन के लोक पूरण समुद्घात काल मे सत्यचरितार्थ होता है, क्योकि लोक पूरण समुद्घात की अवस्था में जिनेन्द्र परमात्मा के आत्मप्रदेश समस्त लोक मे विस्तार स्वभाववश व्याप्त होते हैं।

ब्रह्मवादी सदा ब्रह्म को लोक व्यापी कहता है, इससे उसका कथन अयथार्थ हो जाता है।

लोकपूरण समुदघात् के अनन्तर आत्मप्रदेश पुन. प्रतररूपता को दूसरे समय मे धारण करते है। तीसरे समय मे कपाटरूप होते है तथा चौथे समय में दडरूप होते हैं और शरीराकार हो जाते है। इस समुद्घात् क्रिया के करने में विस्तार मे चार समय तथा सकोच मे चार समय अर्थात् समस्त आठ समय लगते है। लोक-पूरण समुद्घात के समय आत्मा के प्रदेश सिद्धालय का स्पर्श करते है, नरक की भूमि का भी स्पर्श करते है तथा उन आकाश प्रदेशो का भी स्पर्श करते है, जिनका पञ्च परावर्तन रूप ससार मे परिभ्रमण करते समय इस जीव ने चौरासी लक्ष योनियो को धारण कर अपने शरीर की निवास भूमि बनाया था। अनन्तानन्त जीवो के भीतर

भी यह योगी समा जाता है। इस कार्य के द्वारा सयोगी जिन अघातिया कर्मो की स्थिति में विषमता दूर करके उनको आयुकर्म के बराबर शीघ्र बनाते हैं। जिस प्रकार गीले वस्त्र को ऊंचा, नीचा, आड़ा, तिरछा करके हिलाने से वह शीघ्र सूख जाता है, उसी प्रकार की इस क्रिया द्वारा योगी अघातिया कर्मो की स्थिति तथा अशुभ कर्मो की अनुभाग शक्ति का खंडन करते है।

इस समुद्घात क्रिया के विषय में यह कल्पना करना अनुचित नही है कि समता भाव के स्वामी जिनेन्द्र देव सदा के लिये अपने घर सिद्धालय मे जा रहे हैं, इससे वे सब जीवों से बैर विरोध छोड़कर बिना संकोच छोटे बड़े सबसे भेंट करते हुए तथा मिलते हुये मोक्ष जाने को तैयार हो रहे हैं। महापुराण मे लिखा है—

तत्राघातिस्थिते र्भागान संख्येयान्निहंत्य सौ।
अनुभागस्य चानंतान् भागानशुभकर्मणाम् ॥१५५७॥

उस समय वे भगवान अघातिया कर्मो की स्थिति के असख्यात भागो को विनष्ट करते है। इसी प्रकार अशुभ कर्मो के अनुभाग के अनन्त भागो को नष्ट करते है।

इसके पश्चात अन्तर्मुहूर्त मे योगरूपी आस्त्रव का विरोध करते हुये काय योग के आश्रय से वचनयोग तथा मनोयोग को सूक्ष्म करते हैं, और फिर काययोग को भी सूक्ष्म करके उसके आश्रय से होने वाले सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति नामक तीसरे शुक्ल ध्यान का चितवन करते है।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ ने एकत्व-वितर्क-अविचार रूप द्वितीय शुक्ल ध्यान के द्वारा केवलज्ञान की विभूति प्राप्त की थी। राजवार्तिककार ने केवली भगवान के लिये इन विशेषणों का प्रयोग किया है 'एकत्व-वितर्क-शुक्ल ध्यान वैश्वानर-निर्दग्ध घातिकर्मेन्धनः, प्रज्वलित केवलज्ञान गभस्तिमडलः' (रा० वा० पृ० ३५६) अर्थात् एकत्व वितर्क नामक शुक्ल ध्यान रूप अग्नि के द्वारा घातिया कर्म रूपी ईन्धन का नाश करने वाले तथा प्रज्वलित केवलज्ञान रूपी सूर्य से युक्त केवली भगवान है।

इस अवस्था वाली सभी आत्माए समुद्घात करती हैं, ऐसा आचार्य यति-वृषभ का अभिप्राय है। धवल टीका मे लिखा है, "यति वृषभोपदेशात् सर्वघाति कर्मणां क्षीणकषाय चरम समये स्थितेः साम्याभावात् सर्वेऽपि कृतसमुद्घाता सन्तो

निवृतिमुपठौकन्ते" आचार्य यति वृषभ के उपदेशानुसार क्षीणकषाय गुणस्थान के चरम समय मे सम्पूर्ण अघातिया कर्मो की स्थिति में समानता का अभाव होने से सभी केवली समुद्घात पूर्वक ही मोक्ष प्राप्त करते है।

आगे यह भी कथन किया गया है "येषामाचार्याणा लोकव्यापि-केवलिषु विशति-सख्या नियमस्तेषां मतेन केचित्समुघातयन्ति, केचिन्न समुद्घातयन्ति। के न समुद्घातयन्ति ? येषा ससृतिव्यक्तिः कर्मस्थित्याः समाना, ते न समुद्घातयन्ति, शेषाः समुद्घातयन्ति" (पृ० ३०२ भाग १) जिन आचार्यो ने लोक पूरण समुद्घात करने वाले केवलियो की सख्या नियम रूप से बीस मानी है, उनके अभिप्रायानुसार कोई जीव समुद्घात करते है, और कोई समुद्घात नही करते हैं। कौन आत्माए समुद्घात नही करती है ? जिनकी ससृति की व्यक्ति अर्थात् ससार मे रहने का काल जिसे आयु कर्म के नाम से कहते है, अर्थात् जिनका नाम, गोत्र तथा वेदनीय कर्मो की स्थिति आयु कर्म की स्थिति के समान है, वे केवली समुद्घात नही करते है, शेष केवली समुद्घात करते हैं।

सिद्ध परमात्मा—

समुच्छिन्न-क्रिया-निवर्ति अथवा व्युपरत क्रिया-निवृत्ति ध्यान के होने पर प्राणापान अर्थात् श्वासोच्छ्वास का गमनागमन कार्य रुक जाता है। समस्त कार्य, वचन तथा मनोयोग के निमित्त से सम्पूर्ण आत्मा प्रदेशो का परिस्पन्दन बन्द हो जाता है। उस ध्यान के होने पर परिपूर्ण सवर होता है। उस समय १८ हजार शील के भेदो का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त हो जाता है। ८४ लाख उत्तर गुणों की पूर्णता प्राप्त होती है। सम्यग्दर्शन का श्रेष्ठ परमावगाढ सम्यक्त्व तो तेरहवे गुणस्थान मे प्राप्त हो गया था। ज्ञानावरण का क्षय होने से सम्यग्ज्ञान की भी पूर्णता हो चुकी थी, फिर किंचित् न्यून एक कोटि पूर्व वर्ष प्रमाण तक निर्माण अवस्था की उपलब्धि न होने का कारण पूर्ण चरित्र मे कुछ कमी है। अयोगी जिन होते ही वह तीन गुप्तियो का स्वामी हो जाता है। उस त्रिगुप्ति के प्रसाद से अयोगी जिन के उपात्य समय मे अर्थात् अत के दो समयो मे से प्रथम समय में साता-असाता वेदनीय मे से अनुदय रूप एक वेदनीय की प्रकृति, देवगति, औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण ये पाच शरीर, पाच सघात, पाच बन्धन, तीन आगोपाग, छह सहनन, छह संस्थान, पांच वर्ण, पाच रस, आठ स्पर्श, दो गन्ध, देवगत्यानुपूर्व्य, अगुरुलघु, उच्छ्वास, परघात,

उपघात, विहायोगति युगल, प्रत्येक, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग स्वरयुगल, अनादेय, अयश.कीर्ति, निर्माण तथा नीच गोत्र इन ७२ प्रकृतियो का नाश होता है ।

अत समय में वेदनीय की बची हुई एक प्रकृति, मनुष्यगति, मनुष्यायु तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, उच्चगोत्र, यशस्कीर्ति ये बारह तथा तेरहवी तीर्थङ्कर प्रकृति का भी क्षय करके अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पांच लघु अक्षरों के उच्चारण मे लगने वाले अल्प काल के भीतर वह अयोगी जिन आत्मा विकास की चरम अवस्था सिद्ध पदवी को प्राप्त करता है । मुनि दीक्षा के समय इन तीर्थङ्कर भगवान ने सिद्धो को प्रमाण किया था । अब वे स्वय सिद्ध परमात्मा बन गए । ये सिद्ध परमात्मा समस्त विभाव से मुक्त हो गये है, तथा समयसार रूप परिणत हो गए है ।

महापुराण मे लिखा है कि ऋषभदेव भगवान ने माघ कृष्णा चतुदर्शी के दिन सूर्योदय की प्रभात वेला में पूर्वाभिमुख होकर' प्राप्तपल्यंक.' पल्यकासन को धारण कर कर्मो का नाश किया था—

शरीरत्रितयापाये प्राप्य सिद्धत्व पर्यायं ।
निजाष्टगुणसंपूर्णः क्षणवाप्त-तनुवातकः ॥१५५८॥

ऋषभनाथ भगवान औदारिक, तैजस तथा कार्माण इन तीनो शरीरो का नाशकर, आत्मा के अष्ट गुणो से परिपूर्ण सिद्धत्व पर्याय प्राप्त करके क्षण मात्र मे लोक के अग्र भाग मे पहूँचकर तनु वातवलय को प्राप्त हुये ।

अब ये तीर्थंकर भगवान सिद्ध परमात्मा बन जाने से समस्त विकल्पो से विमुक्त हो गये है । ज्ञान नेत्रो से इनका दर्शन करने पर जो स्वरूप ज्ञात होता है, उसे महापुराण में इन शब्दो द्वारा व्यक्त किया गया है ।

नित्यो निरंजनः किंचिदूनो देहादमूर्ति भाक् ।
स्थितः स्वसुखसाद्भूतः पश्यन्विश्वमनारतम् ॥१५५६॥

अब ये सिद्ध भगवान नित्य, निरजन, अन्तिम शरीर से किंचित न्यूनाकार युक्त, अमूर्त, आत्मा से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्द का रस पान करने वाले सम्पूर्ण विश्व का निरन्तर अवलोकन करने वाले हो गये ।

प्रश्न—तीर्थङ्करों के अनुपम सामर्थ्य का स्थूल दृष्टान्त क्या है ?

उत्तर—तीर्थंकरों की अनुपम सामर्थ्य की कल्पना करना शक्य नही है, फिर भी स्थूल दृष्टान्त द्वारा समझाते है, सब पशु समूह में सबसे बड़ा बलशाली प्राणी हाथी है, ऐसा लोग समझते है, परन्तु हजारों हाथियो का बल एक सिंह मे होता है, और हजारो सिहो का बल एक शरभ (शार्दूल) मे होता है। हजारो शरभों का बल एक बलदेव मे होता है, दो बलदेवो की शक्ति एक अर्धचक्री मे रहती है। दो अर्धचक्रियों का बल एक चक्रवर्ती में होता है। एक हजार चक्रवर्तियों का बल एक इन्द्र में होता है। असख्य इन्द्रो के बल से भी अधिक शक्ति एक तीर्थंकर में होती है। वातस्व मे तीर्थंकर के जन्म से ही अतुल बल तथा अप्रतिमवीर्यता नामक एक अतिशय गुण होता है.। उस बल की तुलना नही हो सकती है।

प्रश्न—निर्वाण अर्थात् मोक्ष कल्याणक क्या है ?

उत्तर—तीर्थंकर प्रभु अपने केवलज्ञान से तीन लोक के सम्पूर्ण चराचर पदार्थों को जानकर सब भव्य जीवो को हितकारी उपदेश देते है। ससार से भयभीत भव्य जनो को मोक्ष मार्ग की ओर उन्मुख कर देते है। इस तरह उपदेश देते हुये तीसरे शुक्ल ध्यान को प्रारभ करके जब वे तेरहवे गुणस्थान से चौदहवे गुणस्थान में आते है, तब वहा पर चार अघातियाँ कर्मो की ७२ और १३ प्रकृतियो का नाश करके अन्त्य समय मे अ-इ-उ-ऋ-लृ इन पाच अल्प प्राण अक्षरो के उच्चारण करने मे जितना समय लगता है, उतने समय मे वे तीर्थंकर भगवान मोक्ष चले जाते है।

उस समय चारो निकाय के देव स्वर्ग से आकर भगवान के शरीर का दाह-सस्कार करते है। और वह दाहस्थान पवित्र हुआ समझकर उस स्थान की वह देव पूजा करते हैं। उस पूजा उत्सव को निर्माण किवा मोक्ष कल्याणक कहते है।

उत्तर पुराण मे लिखा है कि भगवान शातिनाथ के मोक्ष होने पर देवो ने आकर उनके शरीर का अन्तिम सस्कार तथा पूजा की थी। कहा भी है—

चतुर्विधामराः सेन्द्राः निस्तन्द्रारूढभक्तयः।
कृत्वांत्येष्टि तदागत्य स्वं स्वभावासमाश्रयन ॥१५६०॥

बड़ी भक्ति को धारण करने वाले आलस्य रहित इन्द्रों सहित चारो निकाय के देव आये और अन्त्येष्टि अर्थात् उन भगवान की अन्तिम पूजा कर अपने-अपने स्थानो को चले गये।

शरीरं भर्तु रस्येति परार्घ्य-शिविकार्पितं ।
अग्नीन्द्र-रत्न-भासि-प्रोत्तु ग-मुकुटोद्भवेन ॥१५६१॥
चन्दनाऽगुरु-कर्पू र-पारी-काश्मीरजादि भिः।
घृत-क्षीरादिभिश्चाप्तवृद्धिना हव्यभोजिना ॥१५६२॥
जगद्त्रयस्य सौगन्ध्यं संपाद्याभूतपूर्वकं ।
तदाकारोपमर्देन पर्यायान्तरमानयन् ॥१५६३॥

उस समय निर्वाण कल्याण की पूजा की इच्छा करते हुये सब देव वहा स्वर्ग से आये । उन्होने पवित्र, उत्कृष्ट, मोक्ष के साधन, स्वच्छ तथा निर्मल भगवान के शरीर को उत्कृष्ट मूल्यवाली पालकी मे विराजमान किया । तदन्तर अग्निकुमार नाम के भवनवासी देवो के इन्द्र के रत्नों की काति से देदीप्यमान अत्यन्त उत्कृष्ट मुकुट से उत्पन्न की गई, चन्दन, अगर, कपूर, केशरादि सुगन्धित पदार्थों से तथा घृत, क्षीरादि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त अग्नि से त्रिभुवन मे अभूतपूर्व सुगन्ध को व्याप्त करते हुये उस प्रभु के शरीर को अग्नि सस्कार द्वारा भस्मरूप पर्यायान्तर को प्राप्त करा दिया ।

अभ्यर्चिताग्निकुण्डस्य गंधपुष्पादिभिस्तथा ।
तस्यदक्षिणभागेऽभूद्गणभृतः संस्क्रियानलः ॥१५६४॥
तस्यापरस्मिन् दिग्भागे शेष–केवलि कायगः ।
एवं वन्हित्रयं भूभाववस्थाप्यामरेश्वराः ॥१५६५॥

देवों ने गन्ध, पुष्पादि द्रव्यों से उस अग्निकुण्ड की पूजा की । उस अग्नि कुन्ड के दाहिनी ओर गणधर देवो की अतिम सस्कार वाली गणधराग्नि स्थापित की और उस अग्नि कुण्ड के बायें भाग मे शेष केवलियो की अतिम सस्कार वाली अग्नि की स्थापना की । इस प्रकार देवेन्द्रो ने पृथ्वी पर तीन प्रकार की अग्नियो की स्थापना की ।

ततोभस्म समादाय पंचकल्याणभागिनः ।
वयं चैवं भवामेति स्वललाटे भुजद्वये ॥१५६६॥
कण्ठे हृदय देशे च तेन संस्पृश्य भक्तितः ।
तत्पवित्रतमं मत्वा धर्मराग-रसाहिताः ॥१५६७॥

तदनन्तर देवों तथा देवेन्द्रों ने भक्ति पूर्वक पंचकल्याणक प्राप्त जिनेन्द्र के देह-दाह से उत्पन्न भस्म को लेकर 'हम भी ऐसे हों' यही विचार करते हुये, उस भस्म को अपने मस्तक, भुजा युगल, कंठ तथा छाती मे लगाई। उन्होने उस भस्म को अत्यन्त पवित्र मानी। तथा धर्म के रस में वे देव इन्द्र निमग्न हो गये।

जिनेन्द्र भगवान ने सचमुच में मृत्यु के कारण रूप आयु कर्म का क्षय करके अन्वर्थ रूप मे अमर पद प्राप्त किया है। देवताओ को मृत्यु के वशीभूत होते हुये भी नाम निक्षेप से अमर कहते हैं। इसी से उन अमरो तथा उनके इन्द्रों ने भस्म को अपने अगो मे लगाकर यह भावना की कि हम नाम के अमर न रहकर सचमुच में ऋषभ नाथ भगवान के समान अमर होवे।

देवेन्द्रादि के द्वारा कृत निर्वाण कल्याण की लोकोत्तर पूजा को 'अंत्येष्टि' सस्कार कहते हैं। अन्य लोगो मे मरण प्राप्त व्यक्तियों के देह दाह को 'अंत्येष्टि' क्रिया कहने की पद्धति पाई जाती है। इस अर्थ शून्य शब्द का अन्य सम्प्रदायो मे प्रयोग जैन धर्म के प्रभाव को सूचित करता है। निर्वाण कल्याणक मे शरीर की अंतिम पूजा अग्नि सस्कार आदि की महत्ता स्वत सिद्ध है, किन्तु पशु-पक्षियों की भाति मरने वालों के शरीर की पूजा की कल्पना करना विवेक--हीनता का परिणाम है।

महावीर भगवान का पावानगर के उद्यान से कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष होने पर देवो द्वारा कैलाश गिरि पर किए गए प्रभु के शरीर सस्कार के सदृश पावानगर के उद्यान मे भगवान महावीर के शरीर का दाह सस्कार सम्पन्न हुआ था। पूज्यपाद स्वामी ने निर्वाण भक्ति मे लिखा है—

परिनिर्वृतं जिनेन्द्रं ज्ञात्वा विबुधा ह्याथाशु चागम्य।
देवतरु–रक्तचन्दन–कालागरु–सुरभि–गोशीर्षैः ॥१५६८॥
अग्नीन्द्राज्जिनदेहं मुकुटानल–सुरभिधूप–वरमाल्यैः।
अभ्यर्च्य गणधरानपि गतादिवं स्वं च वनभवना. ॥१५६९॥

महावीर भगवान के मोक्ष कल्याणक का सवाद अवगत कर देव लोग शीघ्र ही पावानगर के उद्यान मे आये। उन्होने जिनेश्वर के देह की पूजा की। तथा देवदारु, रक्तचन्दन, कृष्णगरु सुगन्वित गोशीरचन्दन के द्वारा और अग्निकुमार देवो के इन्द्र के मुकुट से उत्पन्न अग्नि तथा सुगन्धित धूप तथा श्रेष्ठ पुष्पो द्वारा भगवान महावीर के

शरीर का दाह संस्कार किया। गणधरों की भी पूजा भक्ति करने के पश्चात् कल्पवासी, ज्योतिषी, व्यन्तर तथा भवनवासी देव अपने-अपने स्थान चले गये।

अशग कविकृत वर्धमान चारित्र मे भी भगवान महावीर के अन्तिम शरीर के दाह संस्कार का इस प्रकार कथन आया है—

अग्नीद्रमौलिवररत्नविनिर्गतेऽग्नौ ।
कर्पूर-लोह-हरिचन्दन सारकाष्ठैः ॥
संक्षुभिते सपदि वातकुमार नाथैः ।
इन्द्रा मुद्रा जिनपते र्जुहुवुः शरीरं ॥१५७०॥

अग्निकुमारो के इन्द्रो के मुकुट के उत्कृष्ट रत्न से उत्पन्न अग्नि, जो कपूर, लोभान, हरिचन्दन, देवदारु आदि साररूप काष्ठो से तथा वायुकुमारो के इन्द्रो द्वारा शीघ्र ही प्रज्वलित की गई थी, उस अग्नि मे इन्द्रो ने प्रभु महावीर के शरीर का सहर्ष दाह सस्कार किया।

हरिवशपुराण मे नेमिनाथ भगवान के परिनिर्वाण पर की गई पूजादि का भी इस प्रकार कथन किया गया है—

परिनिर्वाण कल्याणपूजामंत्य शरीरगाम् ।
चतुर्विधसुराः जैनीं चक्रुः शक्रपुरोगमाः ॥१५७१॥

जब नेमिनाथ का निर्वाण हो चुका, तब इन्द्र और चारो प्रकार के देवो ने जिनेन्द्र देव के अतिम शरीर सम्बन्धी निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

गंध-पुष्पादिभिर्दिव्यैः पूजितास्तनवः क्षणात् ।
जिनस्य द्योतयंत्यो द्यां विलीना विद्युतो यथा ॥१५७२॥

जिस प्रकार विद्युत देखते-देखते शीघ्र विलय को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार गन्ध, पुष्पादि दिव्य पदार्थो से पूजित भगवान का शरीर क्षण भर में दृष्टि के अगोचर हो गया।

स्वभावोऽयं जिनादीनां शरीरपरमाणवः ।
मुंचंति स्कंधतामंते क्षणात् क्षणरूचामिव ॥१५७३॥

यह स्वभाव है कि जिन भगवान के शरीर के परमाणु अन्त समय मे स्कंध रूपता का परित्याग करते है और बिजली के समान तत्काल विलय को प्राप्त होते है।

हरिवंशपुराण में यह भी कहा है—

ऊर्जयंतगिरौ वज्री वज्रेणालिख्यपावनां ।
लोके सिद्धि शिलां चक्रे जिनलक्षणालंकृतां ।।१५७४।।

गिरनार पर्वत पर इन्द्र ने परम पवित्र 'सिद्ध शिला' निर्मापी (रची) तथा उसमे जिनेन्द्र के चिन्ह वज्र द्वारा अकित किये ।

स्वामी समत भद्र ने स्वयंभू स्तोत्र में भी यह बात कही है कि गिरनार पर्वत पर इन्द्र के निर्वाण प्राप्त जिनेन्द्र नेमिनाथ के चिन्ह अकित किये थे । यहा हरिवंश पुराण से यह बात विशेप ज्ञात होती है कि इन्द्र एक विशेष शिला-सिद्ध की रचना करके उस पर जिनेन्द्र के निर्वाण सूचक चिन्हो का निर्माण करता है । परम्परा से प्राप्त चरण-चिन्हों की निर्वाण भूमि में अवस्थिति देखने से यह अनुमान किया जा सकता है कि इन्द्र ने मुक्ति प्राप्त करने वाले भगवान के स्मारक रूप में चरण चिन्हों की स्थापना का कार्य किया होगा ।

सिद्ध भट्टारक किस को कहते है—

भगवान जिनेन्द्र ने समस्त कर्मो का नाश करके असिद्धत्वरूप औदयिक भाव से रहित सिद्ध पर्याय को मुक्त होने पर प्राप्त किया है । अयोग केवली की अवस्था में भी असिद्धत्व भाव था । राजवार्तिक मे कहा है, 'कर्मोदय-सामान्यापेक्षो, असिद्धः । सयोग केवल्य योग केवलिनोरघातिकर्मोदयापेक्ष' (पृ० ७६) ।

कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा से यह असिद्धत्वभाव होता है । सयोग केवली तथा अयोग केवली के भी अघातिया कर्मोदय की अपेक्षा यह असिद्धत्व भाव माना गया है ।

सम्पूर्ण जगत को पुरुषाकृति के समान माना जाता है, उसमे सिद्ध परमेष्ठी को त्रिभुवन के मस्तक पर अवस्थित मुकुट समान कहा है । कहा भी है, 'तिहुयण-सिर सेहरया सिद्धा भडारया पसीयतु' त्रिलोक के शिखर पर मुकुट समान विराजमान सिद्ध भट्टारक प्रसन्न होवे । (धवला टीका वेदना खण्ड)

अष्टमभूमि—

अनन्तानन्त सिद्ध भगवानों ने ध्रुव, अचल तथा अनुपम गति को प्राप्त कर जिस स्थान को अपने चिर निवास योग्य बनाया है, उसके विषय में तिलोयपण्णत्ति में

इस प्रकार कथन किया गया है—'सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक विमान के ध्वज दण्ड से बारह योजन मात्र ऊपर जाकर आठवी पृथ्वी स्थित है। उसके उपरिम और अधस्तन तल में से प्रत्येक विस्तार पूर्व पश्चिम में रूप (एक) से रहित एक राजू है। वेत्रासन के समान वह पृथ्वी उत्तर दक्षिण भाग मे कुछ कम सात राजु लम्बी तथा आठ योजन बाहुल्यवाली है—दक्खिण उत्तरभाए दिहा किंचूण, सत्तरज्जूओ (८-६५४)।' यह पृथ्वी घनोदधि, घनवात और तनुवात इन तीन वात नामक वायुओ से वेष्टित है।

प्रश्न :—सिद्धालय में निगोदिया जीव भी रहते हैं, इसका क्या रहस्य है ?

उत्तर :—सिद्ध लोक मे सभी सिद्ध जीवो का ही निवास है, ऐसा सामान्यतया लोक में समझा जाता है, किन्तु आगम के प्रकाश में यह भी ज्ञात होता है कि अनन्तान्त सूक्ष्म निगोदिया जीव सर्वत्र लोक मे भरे है, अतः वे सिद्धालय में भी भरे हुये है। इससे यह सोचना कि उन निगोदिया जीवो को कुछ विशेष सुख की प्राप्ति होती होगी, अनुचित है, क्योकि प्रत्येक जीव सुख-दु ख का सवेदन अपने-अपने कर्मोदय के अनुसार करता है। इस नियम के अनुसार निगोदिया जीव कर्माष्टक के उदय जन्य कष्टों के समुद्र में डूबे रहते है और उसी आकाश के क्षेत्र में विद्यमान केवल आत्म प्रदेश वाले सिद्ध भगवान आत्मोत्पन्न परम शुद्ध निराबाध आनन्द का अनुभव करते है।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा निगोदिया जीव भी सिद्धो के समान कहे जाते है, किन्तु परमागम में जिनेन्द्र देव ने पर्याय दृष्टि का भी प्रतिपादन किया है, उसकी अपेक्षा दोनों का अतर स्पष्ट है। भूल से एकान्त पक्ष की विकार युक्त दृष्टि के कारण मूढजन सर्वथा सब ससारी जीवो को सिद्धो के समान समझ बैठते है। और धर्माचरण में प्रमादी बन जाते हैं। स्याद्वाद दृष्टि का आश्रय लिए बिना यथार्थ रहस्य ज्ञात नही हो पाता है।

प्रश्न :—सिद्ध भगवान और वीतरागता—कोई यह सोच सकता है कि भगवान में अनंतज्ञान है, अनन्त शक्ति है और भी अनन्त गुण उनमें विद्यमान हैं। यदि वे दुःखी जीवों के हितार्थ कुछ कृपा करें तो संसारी जीवों को बड़ी शांति मिलेगी ?

उत्तर :—वस्तु का स्वभाव हमारी कल्पना के अनुसार नही बदलता है। पदार्थो के स्वभाव को आगम में स्वाश्रित कहा है। बीज के दग्ध हो जाने पर पुनः अंकुरोत्पादन कार्य कही हो सकता है, इसी प्रकार कर्म के बीज रूप राग द्वेष भावों का

सर्वथा क्षय हो जाने से पुनः लोक कल्याणार्थ प्रवृत्ति के प्रेरक कर्मो का भी अभाव हो गया है। अब वे वीतराग हो गये है।

प्रश्न .—आचार्य अकलंक देव ने राजवार्तिक में एक सुन्दर चर्चा की है। शंकाकार कहता है, 'स्यात् एतत् व्यसनार्णवे निमग्नं जगदशेषं जानतः पश्यतश्च कारूण्यमुत्पद्यते।' संपूर्ण जगत् को दुःख के सागर में निमग्न जानते तथा देखते हुये सिद्ध भगवान के करुणा-भाव उत्पन्न होता होगा। शंका का भाव यह है कि अन्य सरागी, सम्प्रदाय में उनका माना गया काल्पनिक रागद्वेष, मोहादि सम्पन्न परमात्मा जीवों के हितार्थ संसार में आता है। ऐसा ही सिद्ध भगवान करते होंगे, यह शंकाकार का भाव है। इस दृष्टि से प्रेरित होकर उपरोक्त प्रश्न के पश्चात् वह कहता है, 'ततश्च-बंधः' जब भगवान के मन में करुणाभाव उत्पन्न होगा तो वे बन्ध को भी प्राप्त होंगे ?

उत्तर :—तत्र कि कारण ? सर्वास्त्रव–परिक्षयात् भक्ति-स्नेह-कृपा-स्पृहादीना राग विकल्पत्वाद्वीतरागे न ते सतीति (पृ० ३६२, ३६३-१०-४) ऐसा नही है, कारण भगवान के सर्व कर्मो का आस्त्रव वन्द हो गया है। भक्ति, स्नेह, कृपा, इच्छा आदि सब रागभाव के ही भेद है। वीतराग प्रभु मे उन भावो का सद्भाव नही है।

प्रश्न :—यदि भगवान कुछ काल पर्यंत मोक्ष में रहकर पुनः संसार में आ जायें, तो इसमें क्या बाधा है ?

उत्तर :—गभीर चितन से पता चलेगा कि अपने ज्ञान द्वारा जब परमात्मा जानते है कि मै राग, द्वेष, मोहादि शत्रुओ के द्वारा अनत दुःख भोग चुका हूँ, तब वे सर्वज्ञ, समर्थित तथा आत्मानन्द का रसपान करने वाले परमात्माये पाप-पक मे डूबने का विचार करेंगे ? अपनी भूल के कारण पजर वद्ध बुद्धिमान पक्षी भी एक बार पिंजरे से छूटकर स्वतन्त्रता का उपभोग छोडकर पुन पिंजरे में आने का क्यों प्रयत्न करेगा ? तव निर्विकार, वीतराग सर्वज्ञ-परमात्मा अपनी स्वतन्त्रता को छोडकर पुनः माता के गर्भ में आकर अत्यन्त मलिन मानव शरीर धारण करने की कल्पना भी नही करेगा। ऐसी कल्पना मनोविज्ञान तथा स्वस्थ विचार धारा के पूर्णतया विरुद्ध होगी।

प्रश्न :—सिद्ध पर्याय प्राप्त करने पर वे भगवान अनन्त काल पर्यंत क्या कार्य करते हैं ?

उत्तर :—भगवान अब कृतकृत्य हो चुके है। उन्हें ससार का कोई काम करना बाकी नही रहा है। सर्वज्ञ होने से संसार का चिर काल तक चलने वाला विविध रसमय नाटक उनके सदा ज्ञान गोचर होता रहता है। उन सर्वज्ञ के समान ही शुद्धोपयोग वाला तथा अनन्त गुण वाला जीव विभाव का आश्रय लेकर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ अनन्त प्रकार अभिनय करता है। विश्व के रग मच पर चलने वाले इस महानाटक का महाप्रभु निर्विकार भाव से प्रेक्षण करते हुये अपनी आत्मानुभूति का रस पान करते रहते है।

एक बात और है—सिद्ध भगवान योगीन्द्रो के भी परम आराध्य है। समाधि के परम अनुरागी योगी जन कहते है। जितना महान तथा उच्च योगी होगा, उसकी समाधि भी उतनी उच्च प्रकार की होगी। योगी यदि सर्वोच्च हो, तो उसकी समाधि भी श्रेष्ठ रहेगी। सिद्ध भगवान परम समाधि में सर्वदा निमग्न रहते है। उनकी आत्म समाधि कभीभी भंग नही होती है, क्योंकि अब उन सिद्धो के क्षुधा, तृषादि की व्यथा का क्षय हो गया है। शरीर भी नष्ट हो चुका है। अब वे सिद्ध ज्ञान शरीरी बन गए है। इस शुद्ध आत्म समाधि में उन्हे अनंत तथा अक्षय आनन्द प्राप्त होता है। उस समाधि में निमग्न रहने से उनकी बहिर्मूखी वृत्ति की कभी भी कल्पना नही की जा सकती है।

जब तक ऋषभनाथ भगवान सयोगी तथा अयोगी जिन थे, तब तक वे सकल-परमात्मा थे। उनके भव्यत्व नाम का पारिणामिक भाव था। जिस क्षण वे सिद्ध भगवान हुये, उसी समय वे निकल-परमात्मा हो गये। भव्यत्व भाव भी दूर हो गया। अभव्य तो वे थे ही नही, भव्यपना विद्यमान था, वह भी दूर हो गया, इससे वे अभव्य-भव्य के विकल्प से भी मुक्त हो गये है। कैलाश गिरि से एक समय में ही ऋजुगति द्वारा गमन करके भगवान ऋषभदेव सिद्ध भूमि मे पहुँच गये हैं। वहा वे अनन्त सिद्धों के समूह में सम्मिलित हो गये है। उनका व्यक्तित्व नष्ट नही होता है। वेदान्ती मानते है, ब्रह्म दर्शन के पश्चात् जीव परम ब्रह्म में विलीन होकर स्वय के अस्तित्व से शून्य हो जाता है। सर्वज्ञ प्रणीत परमागम कहता है कि कभी भी सत्

का नाश नही होता है। अतएव सिद्ध–भगवान स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल तथा स्वभाव मे सदा अवस्थित रहते है।

प्रश्न :—क्या एक ब्रह्म की कल्पना अपरमार्थ है ?

उत्तर :—इस प्रसग मे एक बात ध्यान देने की है कि सिद्ध–भगवान आपस मे सभी समान है। अनन्त प्रकार के जो ससारी जीवो के कर्मकृत भेद पाये जाते है। उनका वहाँ अभाव है। सभी सिद्ध–परमात्मा एक से है, एक नही है। उनमे परस्पर मे सादृश्य है, एकत्व नही है। अन्य सम्प्रदाय मुक्ति प्राप्त करने वालो का ब्रह्म में विलीन होना मानकर एक ब्रह्म कहते है। स्याद्वाद शासन बताता है कि एक ब्रह्म की कल्पना युक्ति सगत नही है, 'एक' के स्थान मे एक सदृश अथवा एक-से कहना परमार्थ कथन हो जाता है।

प्रश्न .—द्वैत–अद्वैत किस प्रकार है ?

उत्तर :—सिद्धभूमि मे पापात्माओ का भी साम्यवाद है। वहाँ रहने वाले अनन्तानन्त निगोदिया जीव दुःख तथा आत्म गुणो के ह्रास की अवस्था मे सभी समानता धारण करते है। प्रत्येक प्राणी को जीवन मे अपनी शक्ति भर सिद्धों के सदृश बनने का विशुद्ध भगीरथ प्रयत्न करना चाहिये।

जब जीव कर्मो का नाश करके शुद्धावस्था युक्त निकल परमात्मा बन जाता है, तब उसकी अद्वैत अवस्था हो जाती है। आत्मा अपने एकत्व को प्राप्त करता है, और कर्मरूपी माया जाल से मुक्त हो जाता है। मुक्तात्मा की अपेक्षा वह अद्वैत अवस्था है। इस तत्व को जगत् भर मे लगातार सभी को अद्वैत के भीतर समाविष्ट मानना एकान्त मान्यता है, जो असत्य के भूमि पर अवस्थित होने से क्षण भर भी युक्ति तथा सद्विचार के समक्ष नही टिक सकती। सिद्ध भगवान बन्धन रूप द्वैत अवस्था से छूटकर आत्मा की अपेक्षा अद्वैत पदवी को प्राप्त हो गये है। इस प्रकार का अद्वैत स्याद्वाद शासन भी स्वीकार करता है। यह अद्वैत अन्य द्वैत का विरोधक नही है। जो सहारक अद्वैत समस्त द्वैत के विनाश को केन्द्र-बिन्दु बनाता है, वह तत्काल स्वय क्षय को प्राप्त होता है।

अनन्त गुण सम्पन्न होने के कारण सिद्ध–भगवान को अनन्त कहना उचित है। वर्तमान युग के कवि जिस अनन्त की ओर अपनी कल्पना को दौड़ाते है, उन कवियों का लक्ष्य यथार्थ मे ये अनन्त गुणराशि के भंडार परम प्रभु है।

प्रश्न :—निर्वाण भूमि कैसी है ?

उत्तर :—ऋषभनाथ भगवान कैलाश पर्वत पर मुक्त हुये, पश्चात् वे सिद्धालय मे ऊर्ध्वगमन स्वभाववश पहुँचे । इस दृष्टि से प्रथम मुक्तिस्थल ऋषभनाथ भगवान की अपेक्षा कैलाश पर्वत है, वासुपूज्य भगवान की दृष्टि से चपापुर है, नेमि जिनेन्द्र की अपेक्षा गिरनार अर्थात् ऊर्जयन्त गिरि है । वर्धमान भगवान की अपेक्षा पावापुर है, और शेष बीस तीर्थकरो की अपेक्षा सम्मेद शिखर निर्वाण स्थल है । निर्वाण कांड में कहा है :—

अष्टापदे वृषभश्चंपायां वासुपूज्य जिननाथः ।
ऊर्ज्जयन्ते नेमि जिन. पावायां निवृतो महावीरः ॥१५७५॥
विंशतिस्तु जिनवरेन्द्राः अमरसुरवन्दिता धुतक्लेशाः ।
सम्मेदे गिरि शिखरे निर्वाणं गता नमस्तेभ्यः ॥१५७६॥

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि केवलज्ञान होने के पश्चात् भगवान का परम औदारिक शरीर पृथ्वी तल का स्पर्श किया होगा, यह विचार उचित नही है । भगवान का कर्मजाल से छूटने का असली स्थान वे आकाश के प्रदेश हैं; जिनको मुक्त होने के पूर्व उनके परम पवित्र देह ने स्पर्श किया था । तिलोयपण्णत्ति में क्षेत्रमंगल पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

एदस्स उदाहरणं पावाण-गरुज्जयंत-चंपादी ।
आहुट्ठ-हत्यपहुदी पणुवीस-ब्भहिय पण सयधणूणि ॥१५७७॥
देह अवट्ठिद केवलणाणावट्ठद्ध-गयणदेसो वा ।
सेढि-घणमेत्ति अप्पप्पदेसगद लोयपूरणा पुण्णा ॥१५७८॥

इस क्षेत्रमगल के उदाहरण पावानगर, ऊर्जयन्त गिरि और चपापुर आदि हैं । अथवा साढ़े तीन हाथ से लेकर पांच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण शरीर मे स्थित और केवलज्ञान से व्याप्त आकाश के प्रदेशों को क्षेत्रमगल समझना चाहिये । अथवा जगत श्रेणी के घनमात्र अर्थात् लोक प्रमाण आत्मा के प्रदेशो से लोकपूरण समुद्घात द्वारा पूरित सभी लोको के प्रदेश भी क्षेत्रमंगल है ।

स्वयभू स्तोत्र मे लिखा है कि उर्जयंतगिरि से अरिष्ट नेमिजिनेन्द्र के मुक्त होने के पश्चात् इन्द्र ने गिरनार पर्वत पर चरण चिन्हो को अंकित किया था, जिससे भगवान के निर्वाण स्थान की सदा पूजा की जा सके । कहा भी है :—

ककुदं भुवः खचर-योषिदुषित-शिखरैरलंकृतः ।
मेघपटल-परिवीततटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ॥१५७६॥

वह उर्जयन्त पर्वत पृथ्वी रूप बैल की ककुद के समान था । उसके शिखर विद्याधरो तथा विद्याधरियो से शोभायमान थे तथा उसका तट मेघ पटल से घिरा रहता था । उस पर वज्री अर्थात् इन्द्र ने आपके अर्थात् नेमिनाथ भगवान के चरण चिन्हो को उत्कीर्ण किया था ।

इस कथन के अनुसार इन्द्र ने अन्य तीर्थंकरो के निर्वाण क्षेत्रो पर भी भगवान के चरण चिन्हो की स्थापना की होगी, यह मानना उचित है ।

जिस काल मे भगवान ने मोक्ष प्राप्त किया था, वह समय समस्त पापमल के गलाने का कारण होने से कालमगल माना गया था ।

प्रश्न :—कर्मों के नाश का क्या अर्थ है ? सत् पदार्थ का कभी भी सर्वथा क्षय नहीं होता है, तब भगवान ने समस्त कर्मों का क्षय किया, इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :—यह बात यथार्थ है कि सत् का सर्वथा नाश नही होता है और न कभी असत् का उत्पाद ही होता है । समन्तभद्र स्वामी ने कहा है :—"नैवाऽसतो जन्म, सतो न नाशो' अर्थात् असत् का जन्म नही होता है तथा सत् का नाश भी नही होता है । कर्मो के नाश का अर्थ यह है कि आत्मा से उन कर्मो का सम्बन्ध छूट जाता है । उन कर्मो मे रागादि विकार उत्पन्न करने की शक्ति दूर हो जाती है । वैसे पदार्थ की शक्ति का नाश नही होता है । यहा अभिप्राय यह है कि पुद्गल ने कर्मत्व पर्याय का त्याग कर दिया है । वह पुद्गल कर्म पर्याय के रूप में विद्यमान है । अन्य कषायवान् जीव के द्वारा उसे कर्म योग्य बनाने पर पुनः कर्म पर्याय रूप परिणत कर सकता है । मुक्त होने वाली आत्मा के साथ उस पुद्गल का अब कभी पुनः बन्ध नही होगा । कर्म क्षय का इतना ही मर्यादा पूर्ण अर्थ करना उचित है ।

निर्वाण भूमि को निषिधिका कहा गया है । प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी मे गौतम गणधर ने लिखा है, 'णमोत्थुदे णिसीधिये णमोत्थुदे अरहन्त, सिद्ध' (पृ० २०) निषीधिका को नमस्कार है । अरहन्तो को नमस्कार है । सिद्धो को नमस्कार है । सस्कृत टीका मे आचार्य प्रभाचन्द्र ने निषीधिका के सत्रह अर्थ करते हुए, उसका अर्थ सिद्ध जीव, निर्वाण क्षेत्र, उनके द्वारा आश्रित आकाश के प्रदेश भी किया है, उन्होने

यह गाथा भी उद्धृत की है :—

सिद्धाय सिद्ध भूमी सिद्धाण–समाहिश्रो णहो–देसो ।
एयाश्रो श्रण्णाश्रो णिसीहीयाश्रो सया वंदे ।।१५८०।।

सिद्ध, सिद्धभूमि, सिद्धो के द्वारा आश्रित आकाश के प्रदेश आदि निषीधिकाओं की मैं सदा वदना करता हूँ ।

इस आगम के प्रकाश में कैलाश गिरि आदि निर्वाण भूमियो का महत्त्व स्पष्ट होता है ।

इससे 'निषीधिका या निषेधिका' पूज्य है, यह निर्विवाद है । निषेधिका शब्द को प्रतिनिधि शब्द कानड़ी भाषा में 'निशिदी' और मराठी मे 'समाधि' कहने का प्रधान (प्रचार) है । दक्षिण भारत के महाराष्ट्र प्रात मे कोल्हापुर, कु भोज-बाहुबली पहाड़ी, नांदणी, शेडवाल, रायबाग, तेरदाल, भिलवड़ी, अर्कवाट इत्यादि अनेक गाँवो मे निशिदीका है और दक्षिण कर्नाटक प्रान्त मे श्रवण बेलगोला के चन्द्रगिरि पहाड पर भद्रबाहु स्वामी की निषीधिका है । इस विषय का वर्णन रत्ननन्दीमुनि विरचित 'भद्रबाहु' पुराण में लिखा है ।

निषेधिका पूजा के सम्बन्ध मे कुन्दकुन्दाचार्य विरचित षट् प्राभृत ग्रन्थ की टीका में श्रुतसागर सूरी लिखते है कि :—

देवहं सत्थहं मुणिवरहं जो विद्देसु करेइ ।
नियमि पाउ हवेइ तसु जें संसारू भमेइ ।।१५८१।।

देवेभ्यः शास्त्रेभ्यो मुनिवरेभ्यो यो विद्वेषं करोति ।
नियमेन पापं भवति तस्य येन संसारे भ्राम्यति ।। योगीन्द्र देव ।।

टीका :—अस्यदोहकस्य भावः—देवशास्त्रगुरुणा प्रतिमासु निषीधिकादिषु च पुष्पादिभिः पूजादिषु लोका द्वेषं कुर्वन्ति तेषां पाप भवति, तेन पापेन ते नरकादौ पतति इति ज्ञातव्यम् । श्री श्रुतसागर सूरि ।

भावार्थ :—देवशास्त्र गुरुओ की प्रतिमा और निषीधिका आदि स्थानो का पुष्पादिक से पूजन करने के लिए लोग द्वेष करते है, वे दुर्गति मे जाते हैं ।

इस विषय मे नेमिचन्द्र कृत प्रतिष्ठा तिलक शास्त्र मे निषीधिका की यथोक्त

प्रतिष्ठा करके उसका पूजन करना चाहिए, इस विषय का वर्णन आया है :—

गद्य :—ऐदयुगीनाचार्यादिषु पूर्वाचार्यगुणस्य सत्तां वीक्ष्य तत्पादुकाद्वयं अचार्यादिप्रतिष्ठावत् प्रतिष्ठापयेत्। प्रसिद्ध सन्यास मरण प्राप्त गुर्वादि निषेधिकां जिनगृहे निर्माप्य जिनप्रतिष्ठाकाले प्रतिष्ठाप्य क्षपकांगोज्झनभूमौ निवेशयेत्। अथवा बहिरेव निर्माप्य जिन प्रतिष्ठा समये नयनोन्मीलनं तद्द्रव्येण प्रापय्य तत्र गत्वा शेषविधिं स्वयमिन्द्र कृत्वा संघ क्रियां कुर्यात्। अथवा क्षपकागोज्जनावनौ आचार्यादि-प्रतिष्ठोक्तविधि सर्व समासतः कृत्वा वर्द्धमान स्वामिनिर्वाण काले निषेधिकां प्रतिष्ठापयेत्।

उपर्युक्त आधार से वर्तमान मे जहा-जहां निषीधिका है, वहां-वहां के श्रावक लोग उनकी नित्य नैमित्तिक, जो पूजा करते हैं, वह यथायोग्य होते हुए भी शास्त्रोक्त है।

प्रश्न :—मृत्यु, मोक्ष और समाधि में क्या अन्तर है ?

उत्तर :—पौद्गलिक कर्मो का आत्मा से सम्बंध छूटने को द्रव्यमोक्ष कहते है। जिन परम विशुद्ध भावों द्वारा सवर तथा निर्जरा द्वारा कर्मो का क्षय होता है, उसे भाव मोक्ष कहते है। इस मोक्ष अवस्था में कर्म और जीव पृथक हो जाते हैं। बध की अवस्था मे कर्म ने जीवा को बाधा था और जीव ने कर्मों को पकड़ लिया था। उस अवस्था मे जीव और पुद्गल में विकार उत्पन्न होने से वैभाविक परिणमन हुआ करता था। मोक्ष होने पर जैसे जीव स्वतन्त्र हो जाता है, उसी प्रकार बंधन बद्ध कर्म परिणत पुद्गल भी स्वतन्त्र हो जाता है। जीव की स्वतंत्रता का फिर विनाश नही होता, किन्तु पुद्गल पुनः अशुद्ध पर्याय को प्राप्त कर अन्य संसारी जीवों मे विकार उत्पन्न करता है। दोनो की स्वतंत्रता मे इतना अतर है।

भगवान के निर्वाण का दिन यथार्थ में आध्यात्मिक स्वाधीनता दिवस है। उस दिन मृत्यु की मृत्यु हुई है और पुरुपार्थी आत्मा ने श्रेष्ठ पुरुषार्थ को प्राप्त किया है। निर्वाण और मृत्यु मे अन्तर है। भुज्यमान आयु कर्म के नष्ट होने के पूर्व ही आगामी भव की आयु का बध होता रहता है। वर्तमान आयु का क्षय होने पर वर्तमान शरीर का परित्याग होता है। पश्चात् जीव पूर्व वद्ध आयु कर्म के अनुसार अन्य देह को धारण करता है। इस प्रकार मृत्यु का सम्बन्ध आगामी जीवन से वना रहता है। मोक्ष मे ऐसा नही होता है। परिनिर्वाण की अवस्था में आयुकर्म का

सर्वथा क्षय हो जाने से जन्म-मरण की शृंखला समाप्त हो जाती है। इस पचम काल में सहनन की हीनता के कारण मोक्ष के योग्य शुक्लध्यान नही बन सकता है, अत मोक्ष के होने का वर्तमान काल मे भरत क्षेत्र में अभाव है।

सरागी सप्रदायो में निर्वाण का आतरिक मर्म का अवबोधन होने से वे लोक प्रसिद्ध व्यक्ति की मृत्यु को भी परिनिर्वाण या महानिर्वाण कह देते हैं। सम्पूर्ण परिग्रह को त्याग कर दिगम्बर मुद्राधारी श्रमण बनने वाले व्यक्ति को रत्नत्रय की पूर्णता होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। जो कुगुरू, रागी, द्वेषी देवों तथा हिसामय धर्म से अपने को उन्मुक्त नही कर पाये है, उनकी मृत्यु को निर्वाण मानना उचित नही है। तत्वज्ञानी ऐसी भ्रान्त धारणाओ के जाल से अपने को बचाता है।

तत्वार्थ सार मे एक सुन्दर शका उत्पन्न कर उसका समाधान किया गया है।

स्यादेतदशरीरस्य जंतोर्नष्टाष्टकर्मणः।
कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्युत्तरंशृणु ॥१५८२॥

प्रत्येक निर्वाण दीक्षा लेने वाले श्रमण भगवान का स्मरण करते हुए यह कामना करते है, 'इच्छामि भते! कम्मक्खओ।' भगवान! मैं कर्मो के नाश की आकांक्षा करता हूँ। 'भते! समाहिमरण जिणगुण सपत्ति होहु मज्झ प्रभो!' मुझे समाधिमरण प्राप्त हो तथा जिनेन्द्र गुण सपत्ति की प्राप्ति हो।

सत्रह प्रकार के मरणो में समाधि अर्थात् मनोगुप्ति, वचोगुप्त तथा काय-गुप्ति की पूर्णतापूर्वक शरीर का त्याग अयोगी जिन के पाया जाता है। उस मरण का नाम पंडित-पडित मरण कहा है। मिथ्यात्वी जीवो का मरण 'बाल-बाल' मरण कहा है। 'पडा यस्यास्ति असौ पडितः'। जिसके पडा का सद्भाव है, वह पडित है। मूला-राधना में लिखा है—'पडा हि रत्नत्रय-परिणता बुद्धिः' (पृष्ठ १०५)

रत्नत्रय धर्म के धारण करने में उपयुक्त बुद्धि पण्डा है। उस बुद्धि से अल-कृत व्यक्ति पडित है, सच्चा पाडित्य तो तब ही शोभायमान होता है, जब जीव हीनाचार का त्याग कर विशुद्ध प्रवृत्ति द्वारा अपनी आत्मा को अलकृत करता है। आगम मे व्यवहार पडित, ज्ञान पडित तथा चारित्र से सम्पन्न होने के कारण पडित-पडित है। उनका शरीरान्त पडित-पडित मरण है। इसके पश्चात् उस आत्मा का मरण पुन. नही होता है। जिस शुद्धोपयोगी, ज्ञान चेतना का अमृतपान करने वाले को ऐसी समाधि

प्राप्त है, उसको जिनेन्द्र की अष्टगुणरूप सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। ऐसी अवस्था की सदा अभिलाषा की जाती है। छह माह आठ समय मे ६०८, छह सौ आठ महान आत्माओ को आत्मगुणरूप विभूतियां प्राप्त होती है। जीवन में मोक्ष प्राप्ति से बढकर श्रेष्ठ क्षण नही हो सकता है। अतएव विचारवान् व्यक्ति की दृष्टि से निर्वाण कल्याणक का सर्वोपरि महत्व है। वह अवस्था आत्म गुणो का चितवन करते हुये जीवन को उज्ज्वल बनाने की प्रेरणा प्रदान करती है।

मोक्ष प्राप्ति की महत्ता को सभी स्वीकार करते है, किन्तु अन्य जीवो के समाधिमरण को वे शोक का हेतु सोचते है। इस सबध में हरिवंश पुराण से महत्व पूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है। आचार्य कहते है—

मिथ्यादृष्टेः सतो, जन्तोः मरणं शोचनाय हि।
न तु दर्शनशुद्धस्य समाधिमरणं शुचे ॥१५८३॥

मिथ्यात्वी जीव का मरण सत्पुरुषो के लिये शोक का कारण है, क्योंकि उस जीव ने अपनी आत्मा का कल्याण नही किया है, तथा विषयो मे आसक्त होकर दुर्लभ नर जन्म बिता दिया। सम्यग्दर्शन से विशुद्ध आत्मा का समाधिमरण शोक का कारण नही है।

प्रश्न :—सिद्धों के किस प्रकार का सुख माना जायेगा ?
अष्ट कर्मों के नाश करने वाले शरीर रहित मुक्तात्मा के कैसे सुख पाया जायेगा ?
शंकाकार का अभिप्राय यह है कि शरीर के होने पर सुखोपभोग के साधन इन्द्रियों द्वारा विषयों से आनंद की उपलब्धि होती थी। मुक्तावस्था में शरीर का नाश हो जाने से सुख का सद्भाव कैसे माना जाये ?

उत्तरः—सुख का प्रयोग लोक में विषय, वेदना का अभाव, विपाक, मोक्ष इन चार अर्थो मे आता है।

लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुख शब्दः प्रयुज्यते।
विषये वेदनाऽभावे विपाके मोक्ष एव च ॥१५८४॥

'सुख वायु. सुख वन्हिः' यह पवन आनंददायी है। यह अग्नि अच्छी लगती है। यहा विषय मे सुख शब्द का प्रयोग हुआ है। दुख का अभाव होने पर पुरुष

कहता है, 'सुखितोऽस्मि' मैं सुखी हूँ। पुण्य कर्म साता वेदनीय के विपाक-उदय से इन्द्रिय तथा पदार्थ से उत्पन्न सुख प्राप्त होता है। श्रेष्ठ सुख की प्राप्ति, कर्मक्लेश का अभाव होने से, मोक्ष में होती है। मोक्ष के सुख के समान अन्य आनद नही है, इससे उस मोक्ष के सुख को निरुपम कहा है। त्रिलोकसार में लिखा है—

चक्कि–कुरु–फणि–सुरेन्दे–अहमिन्दे जं सुह तिकालभवं।
तत्तो अणंतगुणिदं सिद्धाणं खणसुहं होदि ॥१५८५॥

चक्रवर्ती, कुरु, नागेन्द्र, सुरेन्द्र, अहमिन्द्रो में जो क्रमशः अनंतगुणा सुख पाया जाता है, उनके सुखों को अनत गुणित करने से जो सुख होता है; उतना सुख सिद्ध भगवान को क्षणमात्र में प्राप्त होता है।

सुख और दुःख की सूक्ष्मता पूर्वक मीमांसा की जाय, तो ज्ञात होगा कि सच्चासुख तथा शान्ति भोग में नही, त्याग में है। भोग से तृष्णा की वृद्धि होती जाती है। उससे अनाकुलता रूप सुख का नाश होता जाता है। इन्द्रिय जनित सुख का स्वरूप समझाते हुए आचार्य कहते है—तलवार की धार पर मधु लगा दिया जाय। उसको चाटते समय कुछ आनंद अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु जीभ के कट जाने से अपार वेदना होती है।

विषय जनीत सुखों को दुःख कहने के बदले मे सुखाभास नाम दिया जाता है। परमार्थ दृष्टि से यह सुखाभास दुःख ही है। पंचाध्यायी में वैषयिक सुख के विषय में कहा है—

ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम्।
नहि तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम् ॥१५८६॥

वह इन्द्रियजन्य सुख सुखाभास है, यथार्थ में वह दुःख ही है।

शक्र-चक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम्।
तृष्णाबीजंरतिम् तेषां सुखावाप्तिस्कुतस्तनी ॥१५८७॥

प्रश्न :—महापुण्यशाली इन्द्र, चक्रवर्ती आदि जीवों के तृष्णा के बीजरूप रति अर्थात् आनन्द पाया जाता है। उनको सुख की प्राप्ति कैसे होगी ?

उत्तर :—इन्द्रिय जनित सुख कर्मोदय के आधीन है। सिद्धो का सुख स्वाधीन है। इन्द्रिय जनित सुख अन्त सहित है, पाप का बीज है तथा दुःखो से मिश्रित

है। सिद्धावस्था का सौख्य अनत है। वहाँ दुःख का लेश भी नही है। विघ्नकारी कर्मो का पूर्ण क्षय हो चुका है। नियमसार मे कहा है—

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरूद्दाणि।
णवि धम्मा–सुक्कझाणे तत्थेव होइ णिव्वाणं ॥१५८८॥

सिद्ध भगवान के कर्म नोकर्म नही है, चिन्ता नही है। आर्त रौद्र ध्यान नही है। धर्मध्यान तथा शुक्ल ध्यान नही है। ऐसी अवस्था मे ही निर्वाण है। पुनः कुन्द-कुन्द स्वामी कहते है—

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जत्तं ॥१५८९॥

निर्वाण ही सिध्द है और सिध्द ही निर्वाण है, अर्थात् दोनो में अभिन्नता है। कर्मो से रहित आत्मा लोक के अग्र पर्यंत जाती है।

प्रश्न :—भोजन पान आदि के द्वारा सुख प्राप्त होता है, यह संसारी प्राणी का अनुभव है। अतएव सिद्धालय में सुख जनक सामग्री के अभाव में सिद्ध परमात्मा के किस प्रकार सुख माना जायगा ?

उत्तर :—सिद्धभक्ति मे लिखा है—भगवान ने क्षुधा तथा प्यास के कारण-भूत असातावेदनीय कर्मो का नाश कर दिया है उस भूख की वेदना का क्षय हो जाने से असख्य प्रकार के भोजन व्यजन आदि पदार्थ व्यर्थ हो जाते है। क्षुधा की वेदना को दूर करने को ससारी जीव आहारादि ग्रहण करते है। उन सिद्धो के वेदना ही नही है, अतः औषधि रूप आहार की कोई भी उपयोगिता नही रहती है। अपवित्रता से सम्बन्ध न होने के कारण सुगधित माला आदि की भी कोई आवश्यकता नही है। ग्लानि, निद्रा आदि के कारण दर्शनावरण तथा मोहनीयादि कर्मो का क्षय हो गया है, अतएव मृदु शयन आसनादि की आवश्यकता नही है। भीषण रोम जनित पीडा का अभाव होने के कारण उस रोग के उपशमन हेतु ली जाने वाली औषधि अनुपयोगी है। अथवा दृश्यमान जगत् को सूर्य के प्रकाश के रहने पर दीपक के प्रकाश का प्रयो-जन नही रहता है, इसी प्रकार सिद्ध भगवान के समस्त इच्छाओ का अभाव है, इसलिये वाह्य इच्छापूर्ति करने वाली सामग्री की आवश्यकता नही है। मोह ज्वर से

पीडित जगत् के जीवो का अनुभव मोह से रहित स्वस्थ अर्थात् आत्मस्वभाव मे अवस्थित सिद्ध भगवान के विषय मे लगाना अनुचित है। कहा भी है—

नार्थः क्षुत्तृट्विनाशात् विविधरसयुतैरन्नपानैरशुच्या ।
नास्पृष्टे गंन्धमाल्यैर्नहिमृदुशयनैर्ग्लानिनिद्राद्यभावात् ॥
आतंकार्तेरभावे तदुपशमनाद्भेषजानर्थतावद् ।
दीपानर्थक्यवद्वा व्यपगततिमरे दृश्यमाने समस्ते ॥१५६०॥

अवर्णनीय, इन्द्रिय जनित सुख का अनुभव लेने वाले सर्वार्थ सिध्दि के अहमिन्द्र सदा यही अभिलाषा करते है कि किस प्रकार उनको सिध्दों का स्वाधीन तथा इंद्रियातीत अविनाशी सुख प्राप्त हो। सर्वार्थ सिध्दि के अहमिन्द्रो में पूर्णतया समानता रहने से पुण्यात्माओ का परिपूर्ण साम्यवाद पाया जाता है, ऐसा ही साम्यवाद उनसे द्वादश योजन ऊंचाई पर विराजमान सिध्दो के मध्य पाया जाता है। यह आध्यात्मिक विभूतियों के मध्य स्थित साम्यवाद है। अहमिन्द्रों का साम्यवाद तैंतीस सागर की आयु समाप्त होने पर तत्क्षण समाप्त हो जाता है अर्थात् वहाँ से चय होने पर अवस्थांतर–मनुष्य पर्याय मे आना पड़ता है। सिध्दो के मध्य का समाजवाद अविनाशी है। सब आत्माएँ परिपूर्ण तथा स्वतत्र है। एक दूसरे के परिणमन मे न साधक है, न बाधक है।

ससार मे शरीरान्त होने पर शोक करने की प्रणाली है, किन्तु यहा भगवान का देहान्त होते हुए भी आन्दोत्सव मनाया जा रहा है, कारण आज भगवान को चिरजीवन प्राप्त हुआ है। मृत्यु तो कर्मो की हुई है। आत्मा आज अपने निज भवन मे जाकर अनन्त सिद्ध बन्धुओ के पावन परिवार में सम्मिलित हुआ है। आज आत्मा ने स्व राज्य रूप सार्थक स्वराज्य का स्वामित्व प्राप्त किया है, भगवान के अनन्त आनन्द लाभ की बेला में कौन विवेकी व्यथित होगा? इसी से देवो ने उस आध्यात्मिक महोत्सव की प्रतिष्ठा के अनुरूप आनन्द नाम का नाटक किया था। इस आनन्द नाटक के भीतर एक एक रहस्य का तत्व प्रतीत होता है। सच्चा आनन्द तो कर्मराशि के नष्ट होने से सिद्धों के उपयोग मे आता है। ससारी जीव विषयभोग कर सुख का नकली नाटक सदा दिखाया करते है। सिद्धों के आनन्द की कल्पना भी नही की सकती है। आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण में बड़ी सुन्दर बात कही है—

जनेभ्यः सुखिनो भूपाः भूपेभ्यश्चक्रवर्तिनः ।
चक्रिभ्यो व्यंतरास्तेभ्यः सुखिनो ज्योतिषोऽमराः ॥१५६१॥
ज्योतिर्भ्यो भवनावासास्तेभ्यः कल्पभुवः क्रमात् ।
ततो ग्रैवेयकावासास्ततोऽनुत्तर वासिनः ॥१५६२॥
अनन्तानन्त गुणतस्तेभ्यः सिद्धपदस्थिताः ।
सुखं नापरमुत्कृष्टं विद्यते सिद्धसौख्यतः ॥१५६३॥

मनुष्यो की अपेक्षा राजा सुखी है, राजाओ की अपेक्षा चक्रवर्ती सुखी, चक्रवर्ती की अपेक्षा व्यतर देव तथा व्यन्तरो की अपेक्षा ज्योतिषी देव सुखी है। ज्योतिषी देवो की अपेक्षा भवनवासी तथा भवनवासियो की अपेक्षा कल्पवासी सुखी है। कल्पवासियो की अपेक्षा ग्रैवेयकवासी तथा ग्रैवेयकवासियो की अपेक्षा विजय वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि यह पच अनुत्तरवासी देव सुखी हैं। उनसे भी अनन्तानन्त गुणे सुख युक्त सिद्धपद को प्राप्त सिद्ध भगवान है। सिद्धो के सुख की अपेक्षा और उत्कृष्ट आनन्द नही है।

सिद्धो के ऐसे आनन्द के समय अन्य ससारी जीव अपने को सुखो समझते है। उनका सुख ऐसा ही अवास्तविक है, जैसे नाटक मे नरेश का अभिनय करने वाले व्यक्ति का काल्पनिक राज्य का स्वामित्व भी अयथार्थ है।

प्रश्न—सिद्ध भगवान लोक के अन्त तक जाकर क्यों ठहर जाते हैं ? आत्मा का उर्ध्वगमन स्वभाव है। अनन्त शक्ति भी सिद्ध भगवान के पाई जाती है। ऐसी स्थिति में वे लोक के अग्रभाग तक जाकर क्यों ठहर जाते हैं ? उनके गमन को रोकने की सामर्थ्य किसमें हो सकती है ?

उत्तर—वस्तु का स्वाभाव विचित्रतापूर्ण है। धर्म द्रव्य नाम के गमन में उदासीनता रूप से सहायता प्रदान करने वाले द्रव्य का लोकाग्र तक सद्भाव है। उस निमित्त कारण का जहा तक सद्भाव था, वहा तक मुक्त जीव गये और जहा उस द्रव्य अभाव हो गया, वहा अनन्त शक्ति वाले तथा ऊर्ध्वगमन सामर्थ्य सम्पन्न सिद्ध परमात्मा को भी रुक जाना पड़ता है। जैनतत्व व्यवस्था की यही तो अलौकिकता है कि तत्व के स्वरूप को वदलने की किसी मे सामर्थ्य नही है। परमात्मा अपने निजतत्व का स्वामी है। अन्य द्रव्य के व्यवस्थित कार्यक्रम मे उसका हस्तक्षेप नही रहता है। इस

प्रसंग के द्वारा उस एकांतवाद का भी निराकरण हो जाता है, जो लोग निमित्त कारण की पूर्णतया उपेक्षा करते हैं। स्वामी समन्तभद्र ने बाह्य तथा अभ्यंतर कारणों की पूर्णता को कार्य का साधक माना है। मोक्ष के लिए अन्तरंग अपरिग्रहत्व आवश्यक है, किन्तु इसके लिये बाह्य परिग्रह का परित्याग भी जरूरी है। बाहरी वस्त्रादि धारण करते हुए जीव प्रमत्तसयत की श्रेणी में भी नहीं पहुँच सकता है। मोक्ष की बात तो निराली ही है। निमित्त कारण तथा उपादान कारण अपनी-अपनी सीमा के भीतर उचित हैं। कोई निमित्त को ही उपादान का स्थान देता है, तो विषम परिस्थिति उत्पन्न हुए बिना न रहेगी। लोकाग्र में सिद्ध परमात्मा की अवस्थिति यह सूचित करती है कि निमित्त कारण का भी उचित स्थान है। एकांत पक्ष को पकड़ना दुराग्रह है। आगमभक्त को सत्याग्रही बनना चाहिये। असत्य का आग्रह करने से तत्वाज्ञान का प्रदीप बुझ जाता है।

प्रश्न—मुक्तात्मा अमुक्त भी हैं। यहां शंका—सिद्ध भगवान मुक्ति लक्ष्मी के स्वामी हो गये हैं, अब इनका मुक्ति श्री से कभी भी वियोग नहीं होगा, अतएव यदि इन प्रभु को मुक्त ही मानते हो, आप भी स्याद्वादी के स्थान में एकान्तवादिता के दोषी बन जाते हैं?

उत्तर—भगवान को एकान्त रूप से मुक्त नही माना गया है। वे मुक्त भी हैं, अमुक्त भी हैं। मुक्तात्माओं को अमुक्त कहना आश्चर्य प्रद लगेगा, किन्तु तार्किक अकलंक देव का कथन पूर्णतया युक्तियुक्त तथा अविरोधी भी लगेगा। वे 'स्वरूप संबोधन' नाम की पंचविंशति पद्यात्मक रचना के मंगल पद्य में उक्त विषय मे महत्वपूर्ण प्रकाश प्रदान करते हैं—

मुक्ताऽमुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमामि तम् ॥१५१४॥

मैं ज्ञानमूर्ति अविनाशी परमात्मा को नमस्कार करता हूँ, जो कर्मों से मुक्त हैं और ज्ञानादि गुणों से अमुक्त हैं अर्थात् युक्त हैं। इस प्रकार ज्ञानमूर्ति वे परमात्मा कर्मो की अपेक्षा मुक्त है। ज्ञानादि गुणो की दृष्टि से अमुक्त भी है। स्याद्वाद ज्योति के प्रकाश में शंका रूपी तिमिर तत्काल दूर हो जाता है। इस मुक्तामुक्त रूप अवस्था की प्राप्ति के लिये जीव को मोक्ष की अभिलाषा भी त्याज्य कही गई है। मुक्ति की अभिलाषा करने वाला मुमुक्षु माना जाता है। शुद्धोपयोग की अवस्था में यह जीव मुमुक्षु रहता है। शुद्धोपयोग की भूमि मे प्रवेश करते समय 'मुमुक्षु' संज्ञा

का भी परित्याग हो जाता है, कारण उस शुद्धि की ओर प्रगतिशील पुरुष को मोक्ष की भी अभिलाषा का परित्याग आवश्यक कहा गया है। यह कथन सापेक्ष है। प्रारम्भिक अवस्था मे भोगकाक्षा का त्याग करके मुक्ति की भावना तथा अभिलाषा के लिये प्रेरणा की जाती है, किन्तु पश्चात् समर्थ आत्मा उस निर्वाण की भी अभिलाषा का त्याग करता है। अकलक देव ने उक्त रचना मे लिखा है—

मोक्षेऽपि यस्य नाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति।
इत्युक्तत्वात् हितान्वेशी कांक्षां न क्वापि योजयेत् ॥१५६४॥

सिद्धों के विशेष गुण—

इन सिद्धो के चार अनुजीवी गुण कहे गये है। जो घातिया कर्मो के विनाश से अरहन्त अवस्था मे ही उत्पन्न होते है। ये गुण भावात्मक कहे गये है। ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, दर्शनावरण के विनाश से केवल दर्शन, मोहनीय के उच्छेद से अविचलित सम्यक्त्व तथा अन्तराय के नाश द्वारा अनन्तवीर्य रूप गुण-चतुष्टय प्राप्त होते है।

अघातिया कर्मो के अभाव मे चार प्रतिजीवी गुण उत्पन्न होते है। वेदनीय के विनाश से अव्याबाधत्व गुण प्रगट होता है। गोत्र के नाश होने पर अगुरुलघु गुण प्राप्त होता है। नाम कर्म के अभाव मे अवगाहनत्व तथा आयु कर्म के (जिसे जगत् मृत्यु, यमराज आदि के नाम से पुकारता है। विनाश होने पर सूक्ष्मत्व यह चार प्रतिजीवी गुण प्रगट होते है। इन अनुजीवी तथा प्रतिजीवी गुणों से अलकृत यह सिद्ध पर्याय है। इससे स्वभाव-द्रव्य-व्यजन-पर्याय भी कहते है। आलाप पद्धति मे लिखा है 'स्वभाव–द्रव्य–व्यजना–पर्यायाश्चरमशरीरात्–किंचित्–सिद्धपर्यायाः' (पृ.१६६)

सिद्ध परमेष्ठी की महत्ता को योगी लोग भली प्रकार जानते है। इससे महापुराणकार उनको 'योगिना गम्यः, योगियो के ज्ञान गोचर कहते है। जिनसेन स्वामी का यह कथन प्रत्येक मुमुक्षु के लिये ध्यान देने योग्य है—

वीतरागोऽप्यसौ ध्येयौ भव्यानां भवविच्छिदे।
विच्छिन्नबंधनस्यास्य तादृग्नैसर्गिको गुणः ॥१५६६॥

भव्यात्माओ को ससार का विच्छेद करने के लिये वीतराग होते हुये भी इन सिद्धों का ध्यान करना चाहिये। कर्म वन्धन का विच्छेद वाले सिद्ध भगवान का यह नैसर्गिक गुण कहा गया है।

आचार्य का अभिप्राय यह है कि सिद्ध भगवान वीतराग हैं। वे स्वय किसी को कुछ नही देते हैं, किन्तु उनका ध्यान करने से तथा उनके निर्मल गुणों का चितवन करने से आत्मा की मलिनता दूर होती है और यह मुक्ति के मार्ग मे प्रगति को प्राप्त करती है। निरंजन निर्विकार तथा निराकार सिद्धो के ध्यान की रूपातीत नाम के धर्मध्यान में परिगणना की गई है।

रूपातीत ध्यान से सिद्ध परमात्मा का किस प्रकार योगी चितवन करते हैं, यह ज्ञानार्णव में इस प्रकार कहा है—

व्योमाकारमनाकरं निष्पन्नं शांतमच्युतम्।
चरमांगात्किचन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ॥१५९७॥
लोकाग्र-शिखरासीनं शिवीभूतमनामयम्।
पुरुषाकार मापन्नमप्यमूर्तं च चिन्तयेत् ॥१५९८॥

आकाश के समान अमूर्त, पौद्गलिक आकार रहित, परिपूर्ण, शांत, अविनाशी, चरम देह से किंचित् न्यून, घनाकर आत्म प्रदेशों से युक्त, लोकाग्र के शिखर पर अवस्थित, कल्याणमय, स्वस्थ, स्पर्शादि गुण रहित पुरुषाकार परमात्मा का ध्यान रूपातीत ध्यान में करें।

ध्यान के अभ्यासी के हितार्थ आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव मे यह महत्त्वपूर्ण कथन किया है—

अनुप्रेक्षाश्च धर्म्यस्य स्युः सदैव निबंधनम्।
चित्तभूमौ स्थिरीकृत्य स्वस्वरूपं निरुपय ॥१५९९॥

हे साधु! अनुप्रेक्षाओं का चितवन सदा धर्मध्यान का कारण है। अतएव अपनी मनोभूमि में द्वादश भावनाओं को स्थिर करो तथा आत्मस्वरूप का दर्शन करो।

ब्रह्मदेव सूरि का यह अनुभव भी आत्म ध्यान के प्रेमियो के ध्यान देने योग्य है—'यद्यपि प्राथमिकानां सविकल्पावस्थायां चित्त स्थिति-करणार्थं विषय-कषाय रूप-दुर्ध्यान वंचनार्थं च जिनप्रतिमाक्षरादिकं ध्येयं भवतीति, तथापि निश्चयध्यानकाले स्वशुद्धात्मैव ध्येयः इति भावार्थः' (परमात्म प्रकाश टीका पृ. ३०२, पद्य २८६) यद्यपि सविकल्प अवस्था में प्रारम्भिक श्रेणी वालो के चित्त को स्थिर करने के लिये जिनप्रतिमा तथा जिनवाचक अक्षरादिक भी ध्यान करने के योग्य हैं, तथापि निश्चय ध्यान के समय शुद्ध आत्मा ही ध्येय है।

जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति के निमित्त से आत्मा का रागभाव मन्द होता है। परिणाम निर्मल होते है तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

प्रश्न :—सिद्धप्रतिमा कैसी होती है ?

उत्तर :—सिद्ध परमात्मा का ध्यान करने के लिए भी जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा उपयोगी है। सिद्धप्रतिमा के स्वरूप पर आचार्य वसुनंदि सिद्धान्त चक्रवर्ती ने मूलाचार की टीका मे इस प्रकार प्रकाश डाला है—'अष्टमहाप्रातिहार्य समन्विता अर्हत्प्रतिमा, तद्रहिता सिद्धप्रतिमा'। जो प्रतिमा अष्ट प्रातिहार्य समन्वित हो, वह अरहन्त भगवान की प्रतिमा है। अष्टप्रातिहार्य रहित प्रतिमा को सिद्ध प्रतिमा जानना चाहिये। इस विषय मे यह कथन भी ध्यान देने योग्य है—'अथवा कृत्रिमा यास्ता अर्हत्प्रतिमाः, अकृत्रिमा सिद्ध प्रतिमाः' (पृ० ३२ गाथा २५) अथवा सम्पूर्ण कृत्रिम जिनेन्द्र प्रतिमाएँ अरहन्त प्रतिमा है। अकृत्रिम प्रतिमाओ को सिद्ध प्रतिमा कहा है।

इस आगमवाणी के होते हुए जो धातु विशेष में पुरुषाकार शून्य स्थान बनाकर उसके पीछे दर्पण को रखकर उसे सिद्ध प्रतिमा मानने की प्रवृत्ति विचारने योग्य है। इस प्रकार की मूर्ति का जब आगम मे विधान नही है, तब आगम की आज्ञा को शिरोधार्य करने वाला सम्यग्दृष्टि अपना कर्तव्य और कल्याण स्वय विचार कर सकता है। दक्षिण भारत के प्राचीन और महत्वपूर्ण जिन मन्दिरो मे इस प्रकार की सिद्ध प्रतिमाएँ नही पाई जाती है, जैसी उत्तर प्रान्त मे कही-कही देखी जाती है। आगम को प्रमाण मानने वाले सत्पुरुषो को परमागम में प्रतिपादित प्रवृत्तियों को ही प्रोत्साहन प्रदान करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

प्रश्न .—निर्वाणमुद्रा, अचेलमुद्रा या दिगम्बरमुद्रा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—सिद्ध पद को प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर वस्त्र रहित (अचेल) मुद्रा का धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। यह दिगम्बर मुद्रा निर्वाण का कारण है, इसलिये इसे निर्वाणमुद्रा भी कहते है। दक्षिण भारत में दिगम्बर दीक्षा लेने वाले मुनिराज को 'निर्वाण स्वामी' कहने का सर्वत्र प्रचार है। अजैन भी निर्वाण स्वामी को जानते है।

सिद्धो का ध्यान परम कल्याणकारी है, इतना मात्र जानकर भोग तथा विषयो मे निमग्न व्यक्ति कुछ क्षण बैठकर ध्यान करने का अभिनय करता है, तो इससे मनोरथ सिद्ध नही होगा। ध्यान के योग्य सामग्री का मूलाराधना टीका में इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

संग-त्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम् ।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मनः ।।१६००।।

वस्त्रादि परिग्रह का त्याग, कषायों का निग्रह, व्रतो का धारण करना, मन तथा इन्द्रियों का वश में करना ये सामग्री ध्यान की उत्पत्ति के लिये आवश्यक है ।

'बाह्यचेलादिग्रंथत्यागोऽभ्यंतर परिग्रह त्यागमूलः'—बाह्य पदार्थ वस्त्रादि का परित्याग अतरंग त्याग का मूल है । जैसे – चॉवल के ऊपर लगी हुई मलिनता दूर करने के पूर्व में तंदुल का छिलका दूर करना आवश्यक है, तत्पश्चात् चावल की भीतर की मलिनता दूर की जा सकती है, इसी प्रकार बाह्य परिग्रह त्यागपूर्वक अतरंग मे निर्मलता प्राप्त करने की पात्रता प्राप्त होती है । जो बाह्य मलिनता को धारण करते हुए अंतरग मलिनता को छोड ध्यान का आनन्द लेते हुए सिद्धों का ध्यान करना चाहते है तथा कर्मो की निर्जरा तथा संवर करने की मनोकामना करते है, वे जल का मंथन करके घृत प्राप्ति के उद्योग सदृश कार्य करते है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्त्रादि के भार से जो मुक्त नही हो सकते है, उनकी मुक्ति की ओर यथार्थ मे प्रवृत्ति नही होती है । जो देशसयम धारण करते हुए दिगम्बरमुद्रा की लालसा रखता है, वह श्रावक मोक्षमार्गस्थ है । धीरे-धीरे वह अपनी प्रिय पदवी को प्राप्त कर सकेगा, किन्तु जो वस्त्र त्यागादि को व्यर्थ सोचते है, वे सकलक श्रद्धावश अकलक पदवी को स्वप्न में भी प्राप्त नही कर सकते है । गभीर विचारवाला अनुभवी सत्पुरुष पूर्वोक्त बात का महत्त्व शीघ्र समझेगा । दुराग्रही पुरुष के ऊपर परिग्रह के ममत्त्व का पिशाच सदा सवार रहने से वह अचेलअवस्था के सद्‌गुणो की कल्पना भी नही कर सकेगा ।

मूलाराधना में कहा है – भृकुटी चढाना आदि चिन्हो से जैसे – अतरग मे क्रोधादि विकारों का सद्‌भाव सूचित होता है, इसी प्रकार बाह्य अचेलता से अंतर्मल दूर होते है । कहा भी है—

बाहिर करणविशुद्धि अब्भंतरकरणसोधणत्थाए ।
णहु कुंडयस्स सोधी सक्का सतुत्थस्स कदुंचे ।।१६०१।।

बाह्य तप द्वारा अतरग में विशुद्धता आती है तथा जो धान्य सतुष है, उसका अंतर्मल नष्ट नही होता है । तुष शून्य धान्य ही शुद्ध किया जाता है ।

इसी महत्त्व के कारण निर्वाण के हेतु दिगम्बर मुद्रा को आवश्यक मान, उसे निर्वाण मुद्रा कहा गया है ।

प्रश्न :—कैलास पर्वत (अष्टापदगिरि) का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—सिद्ध क्षेत्रों में सबसे पहले कैलास पर्वत बताया गया है । वहां से भगवान ऋषभदेव मोक्ष गए है । उत्तर पुराण मे लिखा है कि भरत चक्रवर्ती ने उस पर्वत पर रत्नमय जिनालय बनवाये थे और अजितनाथ तीर्थङ्कर के समय सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रो ने पर्वत के चारो ओर खाई का निर्माण किया था । कहा भी है—

राजाऽप्याज्ञापिता यूयं कैलासे भरतेशिना ।
गृहा कृता महारत्नैश्चतुर्विंशतिरर्हताम् ॥१६०२॥
तेषां गंगां प्रकुर्वीध्वं परिखां परितो गिरिम् ।
इति तेऽपि तथाऽकुर्वन दंडरत्नेन सत्वरम् ॥१६०३॥

चक्रवर्ती सगर ने अपने पुत्रो को आज्ञा दी कि महाराज भरत ने कैलाश पर्वत पर महारत्नो से अरहन्त देव के चौबीस जिनालय बनवाए हैं । उस पर्वत के चारो ओर खाई के रूप मे गगा का प्रवाह बहा दो । यह सुनकर उन राजपुत्रो ने दण्डरत्न लेकर शीघ्र ही उस काम को पूर्ण कर दिया । अत्यन्त दुर्गम होने के कारण तथा मार्ग अज्ञात होने से वहा पहुचना अशक्य हो गया है ।

प्रश्न .—गंगा भागीरथ नदी का उद्गम कहां से है ?

उत्तर :—गुणभद्र आचार्य ने यह भी कथन किया है कि राजा भागीरथ ने वैराग्य उत्पन्न होने पर वरदत्त पुत्र को राज्य लक्ष्मी देकर कैलाश पर्वत पर जाकर शिवगुप्त महामुनि के समीप निर्वाण दीक्षा ली और गंगा के किनारे ही प्रतिमायोग धारण किया । गगा के तट से ही उन्होने मोक्ष प्राप्त किया था । इन्द्र ने आकर क्षीर सागर के जल से भगीरथ मुनि के चरणो का अभिषेक किया था, उस अभिषेक का जल गगा मे मिला । तब से ही वह गंगा ससार मे तीर्थ रूप में पूज्य मानी जाती है । कहा भी है—

सुरेन्द्रेणास्य दुग्धाब्धिपयोभिरभिषेचनात् ।
क्रमयोस्तत्प्रवाहस्य गंगायाः संगमे सति ॥१६०४॥
तदा प्रभृति तीर्थत्वं गंगाप्यस्मिन्नुपसंगता ।
कृत्वोत्कृष्टं तपो गंगातटे निर्वृत्ति गतः ॥१६०५॥

प्रश्न :—वैदिक लोग भी कैलास पर्वत को पूज्य मानते हैं, क्यों ?

उत्तर :—वे हिमालय पर्वत के समीप जाकर कैलाश की यात्रा करते है। कैलास का जैसा वर्णन उत्तर पुराण मे किया गया है, वैसी सामग्री का सद्भाव अब तक ज्ञात नही हो सका है। उसके विषय मे यदा कदा कोई लेख भी छपे है, किन्तु उनके द्वारा ऐसी सामग्री नही मिली है, जिसके आधार पर उस तीर्थ की वदना का लाभ उठाया जा सके। कैलास नाम के पर्वत का ज्ञान होने के साथ निर्वाण स्थल के सूचक कुछ जैन चिन्हो का सद्भाव ही उस तीर्थ के विषय में सदेह मुक्त कर सकेगे। अब तक तो उसके विषय में पूर्ण अजानकारी ही है।

प्रश्न :—सिद्ध भगवान का क्या संदेश है ?

उत्तर :—वृषभनाथ भगवान के समान सभी तीर्थकरों का निर्वाण महोत्सव सम्पन्न हुआ। वे सिद्ध भगवान अपनी ज्ञानमयी परिणति के द्वारा सभी जीवो को यह सूचित करते हुये प्रतीत होते है 'अरे भव्य जीवो ! तुम विकारी भाव को शीघ्र छोड़ो और हमारे समान स्वराज्य के स्वामी बनो।'

मानो यह संदेश भरतेश्वर के अत्यन्त विरक्त मन मे प्रवेश कर गया। एक दिन दर्पण मे मुख देखते समय भारत महाराज की दृष्टि एक श्वेत केश पर पडी। उसे देख भरत को ऐसा लगा मानो मुक्ति पुरी से भगवान के द्वारा प्रेषित विशिष्ट सदेश-वाहक दूत ही आया हो।

चक्रवर्ती ने छहखड प्रमाण पौद्गलिक साम्राज्य का त्याग करके शीघ्र ही दिगम्बर मुद्रा धारण की और शत्रुध्वस कला मे पारगत योगी भरत ने अतर्मुहूर्त मे ही मोहासुर का विनाश करके सर्वज्ञता प्राप्त की। वृषभनाथ भगवान के समान भरत भगवान ने समस्त देशों मे विहार कर जीवो का उद्धार किया तथा मोक्ष प्राप्त किया।

पच कल्याणक प्राप्त तीर्थकरो की तथा अनत सिद्धो की विशुद्ध आराधना रूप अमृत से परिपूर्ण यह भावना करनी चाहिये।

जा गदी अरहन्ताणं णिट्ठिद दट्ठाणं च जा गदी।
जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ॥१६०८॥

जो गति अरहन्तो की है, जो गति कृत-कृत्य सिद्धो की है, जो गति वीत मोह जनों को है, वह गति मुझे सदा प्राप्त हो।

———

[अध्याय नौवां]

वर्तमान कालीन २४ तीर्थंकर सम्बन्धी कई ज्ञातव्य

अर्थात्

जानने योग्य बातें



प्रकाशक :

कुन्थु-विजय ग्रन्थमाला समिति,

जयपुर

वर्तमान कालीन २४ तीर्थङ्कर सम्बन्धी कई ज्ञातव्य अर्थात् जानने योग्य बाते ।

क्रमांक	तीर्थंकरो के नाम	तीर्थंकरो के पूर्व तीन भवान्तर — पिछले तीन भव का: द्वीपो के नाम	क्षेत्रो के नाम	देश या प्रान्त	नगरी की सीमा	नगरी का नाम	वहा के नाम	वहा का राज वैभव व्रताचरणादि
१	२	३	४	५	६	७	८	९
१	श्री ऋषभनाथ	जम्बू द्वीप	पूर्व विदेह	पुष्कलावति	पूर्व विदेह	पुडरीकिनी	वज्रनाभि	ऋषभदेव का जीव तो चक्रवर्ती ११ अंग १४ पूर्व का वेत्ता था । बाकी सब माडलिक राजा ११ अंग के पाठी थे । रत्न सबका सुवर्ण सरीखा था । यह सब सिंहनिष्क्रीडित व्रत के आचरण करने वाले एक मास पर्यन्त प्रायोगमन सन्यास के धारक और स्वर्ग गामी थे ।
२	,, अजितनाथ	,,	,,	वत्स	सीता नदी के उत्तर तटपर	सुसीमा	विमलवाहन	
३	,, सभवनाथ	,,	,,	कच्छ	,, ,,	क्षेमपुरी (क्षेमा)	विपुल वाहन	
४	,, अभिनन्दननाथ	,,	,,	मगलावति	,, दक्षिण ,,	रत्नसचयपुर	महाबल	
५	,, सुमतिनाथ	धातकी खड	,,	पुष्कलावति	,, उत्तर ,,	पुडरीकिनी	अतिबल	
६	,, पद्मप्रभु	,,	,,	वत्स	,, दक्षिण ,,	सुसीमा	अपराजित	
७	,, सुपार्श्वनाथ	,,	,,	सुकच्छ	,, उत्तर ,,	क्षेमपुरी (क्षेमा)	नन्दिषेण	
८	,, चन्द्रप्रभ	,,	,,	मगलावति	,, दक्षिण ,,	रत्नसचयपुर	पद्मनाभि	
९	,, पुष्पदन्त	पुष्करार्धं द्वीप	,,	पुष्कलावति	,, उत्तर ,,	पुडरीकिनी	महापद्म	
१०	,, शीतलनाथ	धातकी खण्ड	,,	वत्स	,, दक्षिण ,,	सुसीमा	पद्मगुल्म	
११	,, श्रेयासनाथ	,,	,,	सुकच्छ	,, उत्तर ,,	क्षेमपुरी (क्षेमा)	नलिनप्रभ	

१	२	३	४	५	६	७	८	९
१२ ,,	वासुपूज्य	,,	,,	वत्सकावति	,, दक्षिण ,,	रत्नसचयपुर	पद्मोत्तर	२—तीर्थंकर ऋषभदेव को आदिनाथ, आदि ब्रह्म, पुष्पदन्त को सुविधिनाथ और महावीर को वर्धमान स्वामी, सन्मति, वीर, अतिवीर, महति महावीर भी कहते और इन्द्र ने तीर्थंकरों की १००८ नाम से स्तुति की है।
१३ ,,	विमलनाथ	धात की खड	पूर्वभरत	—	,, —	महानगर	पद्मरथ	
१४ ,,	अनन्तनाथ	,,	पश्चिम ऐरावत	रम्यकावति वत्स	—	अरिष्टपुर	पद्मसेन	
१५ ,,	धर्मनाथ	जम्बूद्वीप	पूर्वविदेह	पुष्कलावति	,, दक्षिण ,,	भद्रिलापुर (सुभद्रिका)	दशरथ	
१६ ,,	शान्तिनाथ	,,	,,	वत्स	,, दक्षिण ,,	पुडरीकिनी	मेघरथ	
१७ ,,	कुथुनाथ	,,	,,	कच्छ	,, उत्तर ,,	सुसीमा	सिंहरथ	
१८ ,,	अरहनाथ	,,	,,	वत्स	,, दक्षिण ,,	क्षेमपुरी (क्षेमा)	धनपति	
१९ ,,	मल्लिनाथ	,,	,,	अगदेश	,, दक्षिण ,,	वीतशोका	वैश्रवण	
२० ,,	मुनिसुव्रतनाथ	,,	भरत क्षेत्र	—	—	चम्पापुर	श्री धर्मा (हरिवर्म)	
२१ ,,	नमिनाथ	,,	,,	—	—	कौशाम्बी	सिद्धार्थ	
२२ ,,	नेमिनाथ	,,	,,	कौशल्य	—	हस्तनागपुर	सुप्रतिष्ठित	
२३ ,,	पार्श्वनाथ	,,	,,	—	—	अयोध्या (साकेता)	आनन्द	
२४ ,,	महावीर	,,	,,	—	—	छत्रपुर (छत्राकार)	नन्द (नन्दन)	

तीर्थंकरों का गर्भावतरण — गर्भ कल्याणक

क्रमांक	वहां के गुरु का नाम	कहा के चयकर तीर्थंकर हुए, तीर्थंकर की जन्मभूमि				गर्भावरण की तिथि इत्यादि		
		स्वर्गादिको के नाम	वहा कौन थे ?	देश का नाम	जन्मपुरी (नगर या पट्टन)	वंश का नाम	जनक (पिता)	जननी (माता)
	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७
१	वज्रसेन	सर्वार्थ सिद्धि वि	अहमिन्द्र	कौशल	अयोध्या (साकेतपुर)	इक्ष्वाकुवंश	नाभिराज	मरुदेवी
२	अरिन्दम	वैजयन्त वि	,,	,,	,, ,,	,,	जितशत्रु	विजयादेवी
३	स्वयंप्रभ	उपरिमहिहिम ग्रै	,,	,,	श्रावस्ति (श्रावन्ति)	,,	दृढराज (जितारि)	सुषेणादेवी
४	विमलवाहन	वैजयन्त वि	,,	,,	अयोध्या (साकेतपुर)	,,	सवर (स्वयवर)	सिद्धार्था
५	सीमंधर	ऊर्ध्व ग्रैवेयक	,,	,,	विनितापुर	,,	मेघरथ (मेघप्रभ)	सुमगला
६	पिहिताश्रव	वैजयन्त वि	,,	,,	कौशाम्बीपुर	,,	धारण राजा	सुसीमा
७	अरिन्दम (अरहनदन)	मध्य ग्रैवेयक	,,	काशीदेश	वाराणसी (काशी)	उग्रवंश	सुप्रतिष्ठ	पृथिवी
८	युगधर (श्रीधर)	वैजयन्त वि	,,	कौशल	चन्द्रपुरी	,,	महासेन (महश्रेणी)	लक्ष्मणा (सुलक्षणा)
९	सर्वजनानद (मूर्तिहित)	अपराजित वि	,,	,,	काकन्दीपुरी	,,	सुग्रीवराजा	जयरामा (रामा)
१०	अभयानद (आनद)	आरण स्वर्ग	इन्द्र	मालवदेश	भद्रिलापुर	,,	दृढरथ राजा	सुनन्दा देवी

	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७
११	वज्रदन्त (अनन्त)	अच्युत ,,	,,	कौशल	सिंहपुरी	,,	विष्णुराज (विमल)	विष्णुश्री (नन्दा)
१२	वज्रनाभि (युगधर)	महाशुक्र ,,	,,	अंगदेश	चम्पापुरी	,,	वसुपूज्य	जयावती (विजया)
१३	सर्वगुप्त	सहस्रार ,,	,,	,,	काम्पिल्य (कपिला)	,,	कृतवर्मा (कृतधर्मा)	आर्यशामा (सुरम्या)
१४	स्वयप्रभ (त्रिगुप्ता)	अच्युत ,,	,,	,,	अयोध्या (साकेतपुर)	,,	सिंहसेन	लक्ष्मीमती (सर्वयशा)
१५	चित्तरक्ष	सर्वार्थ सिद्धि वि	अहमिन्द्र	,,	रत्नपुरी	कुरुवंश	भानुराज	सुप्रभा (सुव्रता)
१६	विमलवाहन (धनरथ)	,,	,,	कुरुजांगल	हस्तिनागपुर	,,	विश्वसेन	ऐरादेवी
१७	मतिवृषभ (धनरथ)	,,	,,	,,	,,	,,	सुरसेन (सूर्य)	श्रीदेवी (श्रीकांता)
१८	सवर (अरहनन्द)	,,	,,	,,	,,	,,	सुदर्शन	मित्रसेना (मित्रा)
१९	वरधर्म (श्रीनाग)	अपराजित वि.	,,	अंगदेश	मिथिलापुर	इक्ष्वाकुवंश	कुंभराज (राजकुंभ)	प्रभावती (रक्षता)
२०	सुनन्द (अनंतवीर्य)	प्राणत स्वर्ग	इन्द्र	,,	कुशाग्रपुर	यादववंश (हरि)	सुमित्र	सोमा (पद्मावती)
२१	नन्द (महाबल)	अपराजित वि.	अहमिन्द्र	,,	मिथिलापुर	इक्ष्वाकुवंश	विजयराज	वर्मिला (वप्रा)
२२	व्यतीतशोका (सुमदर)	जयन्त विमान	,,	समुद्रदेश	शौरीपुर (द्वारका)	यादववंश (हरि)	समुद्रविजय	शिवादेवी
२३	दामर (समुद्रदत्त)	प्राणत स्वर्ग	इन्द्र	काशीदेश	वाराणसी (काशी)	उग्रवंश	विश्वसेन (अग्रसेन)	वामादेवी (ब्राह्मी)
२४	प्रोष्ठिल	अच्युत ,, (पुष्पोत्तर विमान)	,,	विदेहदेश	कुंडलपुर (वैशाली)	नाथवंश	सिद्धार्थराजा	प्रियकारिणी (त्रिशलादेवी)

तीर्थंकरों का जन्माभिषेक जन्मकल्याणक

जन्म तिथी-समयादि

क्रमाक	गर्भ तिथि	गर्भ समय	गर्भ नक्षत्र	जन्म तिथि	जन्म समय	जन्म नक्षत्र	जन्म राशि	शरीर का वर्ण	शरीर की ऊंचाई (धनुप)
	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६
१	आषाढ कृ २	रात्रि का अंत समय	उत्तराषाढ						
२	ज्येष्ठ कृ १५	"				अभिजित	धनु		
३	फाल्गुन कृ ८	प्रात समय	रोहिणी	चैत्र कृ ९	—	रोहिणी		तपे हुये सोने समान	५००
४	वैशाख शु ६	रात्रि के पूर्व समय	मृगशीर्ष	पौष्य शु. १०	—	ज्येष्ठा	वृषभ		
५	श्रावण शु २	"	पुनर्वसु	मार्ग शीर्ष शु ३०	चन्द्रमायोग	पुनर्वसु	मिथुन	" "	४५०
६	माघ कृ ६	प्रात समय	मघा	पौष्य शु २	आदित्योग	मघा	"	" ,	४००
७	भाद्रप्रद शु ६	"	चित्रा	वैशाख कृ १०	पितृयोग	चित्रा		" "	३५०
८	चैत्र कृ ५	,	विशाखा	कार्तिक शु १३	—	विशाखा	सिंह	" "	३००
९	फाल्गुन कृ ९	"	ज्येष्ठा	ज्येष्ठ शु १२	अनिलायोग	अनुराधा	कन्या	बन्धूक पुष्प के समान रक्त	२५०
१०	चैत्र कृ ८	"	मूला	पौष्य कृ. ११	—	मूला	तुला	इन्द्रनील प्रभा समान हरित	२००
११	ज्येष्ठ कृ.६	"	पूर्वाषाढ	मार्ग शीर्ष शु ९	गंलैंभ योग	पूर्वाषाढ	वृषभ	कुन्द पुष्प के समान शुभ्र	१५०
१२	आषाढ शु ६	"	श्रवण	पौष्य कृ १२	—	श्रवण	धनु	, "	१००
			शततारका	फाल्गुन कृ ११	—	शततारका	"	तपे हुये सोने के समान वर्ण	९०
							मकर	" "	८०
							कुम्भ	वधूक पुष्प के समान रक्त वर्ण (विद्रुम वर्ण)	७०

	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६
						उत्तराभद्र १३			
१३	ज्येष्ठ कृ १०	अष्टमासिया	उत्तराभाद्रपद	पौष्य शु ४	—	रेवती	मीन	तपे हुये साने के समान	६०
१४	कार्तिक कृ. १	,,	रेवती	ज्येष्ठ कृ १२	पुष्पयोग	पुष्य	,,	,, ,,	५०
१५	वैशाख शु १२	,,	,,	पौष्य शु १३	—	भरणी	कर्क	,, ,,	४५
१६	भाद्रपद कृ ७	,,	भरणी	ज्येष्ठ कृ १४	प्रात समय	कृत्तिका	मेष	,, ,,	४०
१७	श्रावण कृ १०	,,	कृत्तिका	वैशाख शु १	—	रोहिणी	वृषभ	,, ,,	३५
१८	फाल्गुन शु ३	,,	रेवती	मार्गशीर्ष शु १४	—	अश्विनी	मीन	,, ,,	३०
१९	चैत्र शु १	,,	अश्विनी	मार्ग शीर्ष शु ११	—	श्रवण	मेष	,, ,,	२५
२०	श्रावण कृ २	,,	श्रवण	चैत्र कृ १०	—	स्वाती	मकर	प्रियगुप्रभा-इन्द्रनील	२०
२१	आश्वनि कृ २	,,	अश्विनी	आषाढ कृ १०	—	चित्रा	मेष	तपे हुये सोने के समान	१५
२२	कार्तिक शु ६	,,	उत्तराषाढ	श्रावण शु ६	—	विशाखा	कन्या	प्रियगुप्रभा-मोर के कंठ के समान (श्याम वर्ण)	१०
२३	वैशाख कृ ३	,,	विशाखा	पौष्य शु. ११	अनिलयोग		कुम्भ	इन्द्र नील प्रभा—पच्च (हरित वर्ण)	६
२४	आषाढ शु ६	,,	उत्तराषाढ	चैत्र शु. १३	—	उत्तरा फा.	कन्या	तपे हुये सोने के समान वर्ण	७

पूर्ण आयु में से कुमारकालादिकाल प्रमाण

क्रमांक	तीर्थंकरो लाछन (चिन्ह)	कुमार काल प्रमाण	राजभोग काल प्रमाण	रूपकाल मे छद्मस्थावस्था कालअवस्था	केवली अवस्था का काल प्रमाण	पूर्ण आयु प्रमाण वर्ष	दीक्षा तिथि
—	२७	२८	२९	३०	३१	३२	३३
१	वृषभ (बैल)	२० लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व + ०	१००० वर्ष	१००० वर्ष कम—१ लाख वर्ष	८४ लाख पूर्व	चैत्र कृ ९
२	गज (हाथी)	२८ लाख पूर्व	५३ लाख पूर्व + १ पूर्वाङ्ग	१२ वर्ष	१ पूर्वांग + १२ वर्ष कम—	,, ७२	,, पौष्य शु ९
३	अश्व (घोडा)	१५ ,,	४४ ,, + ४ ,,	१४ ,,	४ ,, + १४ ,, —	,, ६०	,, मार्गशीर्ष शु ३०
४	कपि (बन्दर)	१२॥ ,,	३६॥ ,, + ८ ,,	१८ ,,	८ ,, + १८ ,, —	,, ५०	,, पौष्य शु १२
५	कोक (चकवा)	१० ,,	२९ ,, + १२ ,,	२० ,,	१२ ,, + २० ,, —	,, ४०	,, वैशाख शु ९
६	कमल	७॥ ,,	२१॥ ,, + १६ ,,	६ महीना	१६ ,, + ६ महीना कम	,, ३०	,, मार्ग शीर्ष कृ १० कृ १०
७	स्वस्तिक (साथिया)	५ ,,	४१ ,, + २० ,,	९ वर्ष	२० ,, + ९ वर्ष कम —	,, २०	,, ज्येष्ठ शु १२
८	शशि (चन्द्रमा)	२॥ ,,	६॥ ,, + २४ ,,	३ महीना	२४ ,, + ३ महीना कम	, १०	,, पौष्य कृ १२
९	मकर (मगर)	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व + २८	४ वर्ष	२८ ,, + ४ वर्ष कम —	,, २	,, मार्ग शीर्ष शु ९
१०	कल्प वृक्ष	२५ हजार पूर्व	५० ,,	३ वर्ष	३ वर्ष कम २५००० वर्ष	१	,, पौष्य कृ १२
११	गवक (गेंडा)	२१ लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष	२ वर्ष	२ ,, २१००००० वर्ष	८४ लाख वर्ष	फाल्गुन कृ ११
१२	महिष (भैसा)	१८ लाख वर्ष	राजभोग नहीं किया (कुमार श्रमण)	१ वर्ष	१ ,, ५४००००० वर्ष	लाख वर्ष	,, शु १४

२७	२८	२९	३०	३१	३२	३३
१३ शूकर (सुअर)	१५ लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	३ वर्ष	१४९९९९७ वर्ष	६० लाख वर्ष	पौष्य शु ४
१४ मल्लूक (भालू)	७॥ ,,	१५ लाख ,,	२ ,,	७४९९९८ ,,	३० लाख ,,	ज्येष्ठ कृ १२
१५ वज्र	२५० हजार वर्ष	५ लाख वर्ष	१ ,,	२४९९९९ ,,	१० ,,	पौष्य शु १
१६ मृग (हिरण)	२५००० वर्ष	५० हजार वर्ष	१६ ,,	२४९८४ ,,	१ ,,	ज्येष्ठ कृ ४
१७ मेष (बकरा)	२३७५० वर्ष	४७५०० हजार वर्ष	१६ ,,	२३७३४ ,,	६५ हजार वर्ष	वैशाख शु १
१८ मीन (मछली)	२१००० वर्ष	४२००० ,,	१६ ,,	२०९८४ ,,	८४ ,,	मार्ग शीर्ष शु १०
१९ कुम्भ (कलश)	१०० ,,	राज नहीं किया (कुमार श्रमण)	९ दिन	९ दिन कम—५४९०० ,,	५५ ,,	,, ११
२० कूर्म (कछुवा)	७५०० ,,	१५ हजार वर्ष	११ महीना	११ महीना कम—७५०० ,,	३० ,,	वैशाख कृ १०
२१ नीलकमल	२५०० ,,	५ ,, ,,	९ वर्ष	९ वर्ष कम—२५०० ,,	१० ,,	आषाढ कृ १०
२२ शंख	३०० ,,	राज्य नहीं किया (कुमार श्रमण)	५६ दिन	५६ दिन कम—७०० ,,	१ ,,	श्रावण शु. ६
२३ नाग (सर्प)	३० ,,	,, ,,	४ महीना	४ महीना कम—७० ,,	१०० ,,	पौष्य कृ ११
२४ सिंह	३० ,,	,, ,,	१२ वर्ष	३० वर्ष	७२ ,,	कार्तिक कृ १३

तीर्थंकरों के दीक्षा-परिनिष्क्रमण-तपकल्याणक

दीक्षा तिथि इत्यादि-- दीक्षातपोवन--उद्यान दीक्षा के वृक्ष दीक्षा के समय

क्रमांक	दीक्षा समय	दीक्षा नक्षत्र	दीक्षा पालकी का नाम	नगरी के नाम	वनो-उद्यानों के नाम	वृक्षो के नाम	वृक्षो की ऊंचाई (धनुष प्रमाण)	वैराग्य का निमित्त कारण	उपवास का नियम उत्तर पु० से व हरिवंश पु०	कितने राजाओं ने दीक्षा ली थी।
	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०	४१	४२	४३
१	अपराह्न	उत्तराषाढा	सुदर्शन	प्रयाग	सिद्धार्थ--वन	वट वृक्ष	६०००	नीलांजना की मृत्यु	६ मास का उपवास	चार हजार
२	,,	रोहणी	सुप्रभा	अयोध्या	सहेतुक-सहस्राम्र	सप्तच्छद	५४००	उल्कापात देखना	षष्ठमभक्त (बेला)	एक हजार
३	,,	ज्येष्ठा	सिद्धार्था	श्रावस्ति	,,	शाल वृक्ष	४८००	मेघ पटल का नाश	दो दिनका	,,
४	,,	पुनर्वसु	हस्तचित्रा	अयोध्या	उग्रोद्यान	,,	४२००	गंधर्व नगर का नाश	,,	,,
५	पूर्वाह्न	मघा	अभयकारी	,,	सहेतुक	प्रियंगु	३६००	पूर्व भव का स्मरण	तेला तीन दिन का	,,
६	अपराह्न	चित्रा	निवृत्तकारी	कौशाम्बी	मनोहर	,,	३०००	,,	दो दिनका	,,
७	,,	विशाखा	सुमनोगति	काशी	सहेतुक	शिरीष	२४००	वन लक्ष्मी का नाश	,,	,,
८	,,	अनुराधा	विमला	चन्द्रपुरी	सर्वार्थ	नागतरु	१८००	बिजली का देखना	,,	,,
९	,,	,,	सूर्यप्रभा	काकन्दी	पुष्पक	शालवृक्ष	१२००	उल्का पात देखना	,,	,,
१०	,,	पूर्वाषाढा	शुक्रप्रभा	भद्रिलापुर	सहेतुक	पलाश	१०८०	हिम का नाश देखना	,,	,,
११	पूर्वाह्न	श्रवण	विमलप्रभा	सिंहनादपुर	मनोहर	तिन्दुक	९६०	वन लक्ष्मी का नाश	,,	,,
१२	अपराह्न	विशाखा	पुष्पगा	चम्पापुर	क्रीडोद्यान	पाटलतरु	८४०	पूर्वभव का स्मरण	एक उपवास	,, ६७६ (६६०)

	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०	४१	४२	४३
१३	अपराह्न	उत्तराभाद्रपद	देवदत्ता	कपिला	सहेतुक	जम्बुवृक्ष	७२०	मेघपटल का नाश	बेला	एक हजार
१४	,,	रेवती	सागरदत्ता	अयोध्या	०—	पीपल	६००	उल्कापात देखना	तैला (बेला)	,,
१५	,,	पुष्य	नागदत्ता	रत्नपुर	शालवन	दीर्घपर्ण	५४०	,,	,, ,,	,,
१६	,,	भरणी	सिद्धार्थी	हस्तिनागपुर	०—	नन्दीतरु	४८०	पूर्वभव का स्मरण	,, ,,	,,
१७	,,	कृतिका	विजया	,,	सहेतुक	तिलक	४२०	,,	,, ,,	,,
१८	,,	रेवती	वैजयन्ति	,,	,,	आम्र	३६०	मेघपटल का नाश	बेला	,,
१९	पूर्वाह्न	अश्विनी	जयन्ति	मिथिलापुर	श्वेतवन	अशोक	३००	बिजली का देखना	बेला	३००(६०६)
२०	अपराह्न	श्रवण	अपराजिता	राजगृही	नीलवन-नील गुफा	चम्पक	२४०	पूर्वभव का स्मरण	तैला (बेला)	एक हजार
२१	,,	अश्विनी	उत्तरकुरु	मिथिलापुर	चित्रवन--सहस्राम्र	वकुल	१८०	—	बेला	,,
२२	पूर्वाह्न	चित्रा	देवकुरु	गिरनार	०—	मेषशृङ्ग	१२०	प्राणी वध की वार्ता	तैला(बेला)	,,
२३	,,	विशाखा	विमला	वाराणसी	अश्ववन मनोरमा	धवलवृक्ष	१०८	जातिस्मरण होना	षष्टम भक्त (३)	३०० (६०६)
२४	अपराह्न	उत्तरा	चन्द्रप्रभा	कुंडलपुर	ज्ञानवन नाथ	शालवृक्ष	३२ धनुष	,,	तैला ३० बेला	अकेले (३००)

श्री शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ ये तीन तीर्थंकर चक्रवर्ती भी भए और कामदेव भी भए राज्य छोड कर वैराग्य (दीक्षा) लिया और वासुपूज्य, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ये पाच तीर्थंकर कुमार अवस्था मे वैराग्य । (श्रमण) भए राज भी नही किया और विवाह भी नही किया और अन्य सोलह तीर्थंकरो ने महा माडलिक, राजा भये राज्य छाडकर वैराग्य (दीक्षा) ली ।

तीर्थंकरों के केवलज्ञान-ज्ञानकल्याणक

दान तीर्थ के प्रवर्तक दाताओं के द्वारा दीक्षा के बाद दिये गये आहारादि का विवरण

क्रमांक	कितने दिनों मे लिये थे	कौन सा आहार लिया था	अहार देने वाले दातृ महाशयो के नाम	पारणा किये हुये नगरो के नाम	तप काल का प्रमाण	केवल ज्ञान के पहले उपवास धारण का नियम	तिथि	समय	नक्षत्र
	४४	४५	४६	४७	४८	४९	५०	५१	५२
१	एक वर्ष के बाद	इक्षुरस	श्रेयास राजा (हरि-ग्राम)	हस्तिनागपुर	एक लाख पूर्व	अष्टमभक्त [३]	फाल्गुन कृ ११	पूर्वान्ह	उत्तराषाढ
२	चौथे दिन	श्री ऋषभ देव के सिवाय बाकी सभी ने गौ क्षीर [गाय के दूध] के बना हुआ खीराण [खीर] अर्थात् दूध के नाना प्रकार के पकवान की पारणा की थी।	ब्रह्मदत्त [सुवर्ण]	अयोध्या	१ पूर्वाङ्गकम १ लाख पूर्व	बेला [२]	पौष्य शु ११	अपराह्न	रोहिणी
३	तीन दिन के बाद		सुरेन्द्रदत्त	श्रावस्ति [श्रावन्ति]	४ ,,	,,	कार्तिक कृ ४	,,	मृगशिर
४	,, ,,		इन्द्रदत्त	अयोध्या [वनितापुर]	८ ,,	,,	पौष्य शु १४	,,	पुनर्वसु
५	,, ,,		पद्मदत्त	सोमन [विजयपुरी]	१२ ,,	,,	चैत्र शु ११	,,	मघा
६	,, ,,		सोमदत्त	वर्धमान [मगलपुरी]	१६ ,,	,,	चैत्र शु ३०	,,	चित्रा
७	,, ,,		महेन्द्रदत्त	सोमखड [पटलीखडपुरी]	२० ,,	,,	फाल्गुन कृ ६	,	विशाखा
८	,, ,,		पुष्यमित्र [सोमदत्तराजा]	नलिनापुर [पद्मखडपुर]	२४ ,,	,,	,, ७	,,	अनुराधा
९	,, ,		पुनर्वसु [पुष्पकराजा]	शैलपुर [चिन्तहरपुर]	२८ ,,	,,	कार्तिक शु २	,,	मूला
१०	,, ,,		नन्दन [पुनर्वसु]	अरिष्टपुर [सेयपुर]	२५ हजार पूर्व	,,	पौष्य कृ १४	,,	पूर्वाषाढ
११	,, ,,		सौन्दर [सुनन्दनराज]	सिद्धार्थपुर [अरिष्टपुर]	२१ लाख वर्ष	,,	माघ कृ १५	पूर्वान्ह	श्रवण
१२	,, ,,		जय [सुरेन्द्रनाथराजा]	महापुर [सिद्धार्थपुर]	५४ ,,	,,	माघ शु २	अपराग्न्ह	विशाखा

	४४	४५	४६	४७	४८	४९	५०	५१	५२
१३	तीन दिन के बाद	श्री ऋषभ देव के सिवाय बाकी सभी ने गो और [गाय के दूध] के क्षीरान्न [खीर] अर्थात् दूध के नाना प्रकार के पकवान की पारणा की थी।	विशाख [जयकुमार]	नन्दनपुर [धान्यवटपुर]	१५ लाख वर्ष	बेला [२]	माघ शु ६	अपरान्ह	उत्तराषाढ
१४	,, ,,		धान्यसेन [विशाखभूति]	अयोध्या [धर्मभानपुर]	७५० हजार वर्ष	,,	चैत्र कृ १५	,,	रेवती
१५	,, ,,		धर्ममित्र [सुमित्र]	पटना [सौमनसपुर]	२५० ,,	तेला [३]	पौष्य शु. ३०	,,	पुष्य
१६	,, ,,		सुमित्र [प्रियमित्र]	मन्दरपुर [सौमनसपुर]	२५ ,,	बेला षष्ठोपवास [३]	,,	,,	भरणी
१७	,, ,,		अपराजित [वरदत्तराजा]	हस्तिनापुर [मन्दिरपुर]	२३७५० वर्ष	,,	चैत्रशु ३	,,	कृत्तिका
१८	,, ,,		नन्दी [अपराजित]	चक्रपुर [गजपुर]	२१००० ,,	बेला [२]	कार्तिक शु १२	,,	रेवती
१९	चौथे दिन		नन्दिसेन [विषयदत्त]	मिथिला [चक्रहरपुर]	५४९०० ,,	अष्टम भक्त [३]	मार्ग शीर्ष शु. ११	,,	अश्विनी
२०	तीन दिन के बाद		वृषभदत्त [दत्त]	राजगृही [मिथिलापुर]	७५०० ,,	,,	वैशाख कृ ९	पूर्वान्ह	श्रवणा
२१	,, ,,		दत्त [वरदत्त]	वीरपुर [सयोगपुर]	२५०० ,,	बेला [२]	मार्ग शीर्ष शु ११	अपराम्ह	अश्विनी
२२	,, ,,		वरदत्त [चारुदत्त]	द्वारिका [विखरपुर]	७०० ,,	अष्टम भक्त [३]	आश्विन शु १	पूर्वान्ह	चित्रा
२३	चार दिन के बाद		धान्यसेन [धनदत्त]	गुलमखेट [द्वारावती]	७०	तेला [३]	चैत्र कृ ४	,,	विशाखा
२४	तीन दिन के बाद		नन्दन [विश्वसेन]	कुंडलपुर	४२ ,,	बेला [२]	वैशाख शु. १०	अपरान्ह	हस्ता

तीर्थंकरों के केवलज्ञान – ज्ञान कल्याणक

क्रमांक	वन-उद्यानों के नाम	वृक्ष (अशोक-वृक्ष)	योजन प्रमाण	कोस प्रमाण	समवशरण में तीर्थंकर भगवान का आसन	सामान्य केवलियों की संख्या	पूर्वधारियों की संख्या	शिक्षकों की संख्या	विपुलमति मति ज्ञानियों की संख्या	विक्रिया ऋद्धियों की संख्या	अवधिज्ञानियों की संख्या
	केवल ज्ञान के		समवशरण का विस्तार			समवशरण में रहने वाले सात प्रकार के मुनीश्वरों का संघ और उनकी संख्या—					
	५३	५४	५५	५६	५७	५८	५९	६०	६१	६२	६३
१	शकटावन (पुरिमतालपुर)	वट वृक्ष	१२	४८	समवशरण में सब ही तीर्थंकर भगवान पद्मासन से ही विराजमान होते थे।	२००००	४१५०	४१५०	१२७५०	२०६००	९०००
२	सहेतुक वन	सप्त पर्ण	११॥	४६		२००००	३७५०	२१६०	१२४५०	२०४००	९४००
३	,,	शाल्मली	११	४४		१५०००	२१५०	१२९३००	१२१५०	१९८००	९६००
४	उग्र वन	बैशाल	१०॥	४२		१६०००	२५००	२३००५०	१२६५०	१९०००	९८००
५	सहेतुक वन	प्रियगु	१०	४०		१३०००	२४००	२५४३५०	१०४००	१८४००	११०००
६	मनोहर वन	,,	९॥	३८		१२०००	२३००	२९९०००	१०३००	१६८००	१००००
७	सहेतुक वन	शिरीष	९	३६		११०००	२०३०	२५४९२०	९१५०	१५३००	९०००
८	सर्वार्थ वन	नाग वृक्ष	८॥	३४		८०००	४०००	२१०४००	८०००	१०६००	२०००
९	पुष्पक वन	अक्ष (बहेड़ा)	८	३२		७५००	१५००	१५५५००	७५००	१३०००	८४००
१०	मनोहर वन	बिल्व वृक्ष	७॥	३०		७०००	१४००	५९२००	७५००	१२०००	७२००
११	,,	पलाश	७	२८		६५००	१३००	४८२००	६०००	११०००	६०००
१२	,,	तन्दुक	६॥	२६		६०००	१२००	३९२००	६०००	००	५४००

	५३	५४	५५	५६	५७	५८	५९	६०	६१	६२	६३
१३	सहेतुक वन	जंबु (पाटल)	६	२४	समवशरण में सब ही तीर्थंकर भगवान पद्मासन से ही विराजमान होते हैं।	५५००	११००	३८५००	५५००	९०००	४८००
१४	,,	पीपल वृक्ष	५॥	२२		५०००	१०००	३९५००	५०००	८०००	४३००
१५	शालवन	सप्तच्छद	५	२०		४५००	९००	४०७००	४५००	७०००	३६००
१६	सहस्राम्र वन	नन्दीवृक्ष	४॥	१८		४०००	८००	४१८००	४०००	६०००	३०००
१७	सहेतुक वन	तिलक	४	१६		३२००	७००	४३१५०	३३५०	५१००	२५००
१८	,,	आम्रवृक्ष	३॥	१४		२८००	६१०	३५८३५	२०५५	४३००	२८००
१९	श्वेतवन	अशोक	३	१२		२२००	५५०	२९०००	१७५०	२९००	२२००
२०	नील वन	चम्पक	२॥	१०		१८००	५००	२१०००	१५५०	२२००	१८००
२१	चित्रक वन	वकुल	२	८		१६००	४५०	१०६००	१२५०	१५००	१६००
२२	गिरनार	मेष शृंग	१॥	६		१५००	४००	११८००	९००	११००	१५००
२३	आश्रव वन (काशी)	देवदारु	१।	५		१०००	३५०	१०९००	७५०	१०००	१४००
२४	मनोहर (ऋजु कूला नदी)'	शालवृक्ष	१	४		७००	३००	९९००	५००	९००	१३००
						१८५८००	३६९४०	२०००५५५	१५४९०५	२२५९००	१२७६००

क्रमांक	वादियों की सख्या	कुल संघ की (को. ५८ से ६४) संख्या	मुख्य गणधरों के नाम	सब गणधरों की संख्या	मुख्य गणानियों के नाम	गणानीय अर्जिकाओं की संख्या	मुख्य श्रोताओं के नाम	श्रावकों की संख्या	श्राविकाओं की सख्या	यक्षों के नाम
	गणधर				गणानी या आर्यिका					
	६४	६५	६६	६७	६८	६९	७०	७१	७२	७३
१	१२७५०	८४०००	वृषभ सेन	८४	ब्राह्मी	३५००००	भरत	३ लाख	५ लाख	गोमुख (वृषभ)
२	१२४००	१०००००	सिंह सेन	९०	प्रारम गुप्ता(अकूब्जा)	३३००००	सत्यभाव	,,	,,	महायक्ष
३	१२०००	२०००००	चारुसेन (चारुदत्त)	१०५	धर्मश्री	३३००००	सत्यवीर्य	,,	,,	त्रिमुख
४	१००००	३०००००	वज्रनाभि (वज्रचमर)	१०३	मेरुषेणा	३३०६००	मित्रभाव	,,	,,	यक्षेश्वर
५	१०४५०	३२००००	चमर (अमरवज्र)	११६	अनन्तमति	३३००००	मित्रवीर्य	,,	,,	तुम्बुर (तुम्बक)
६	९६००	३३००००	वज्रचमर (चमर)	११०	रतिषेणा (मेरु सेना)	४२००००	धर्मवीर्य	,,	,,	कुसुम
७	८६००	३०००००	वलदत्त (बली)	९५	मीन श्री	३३००००	दानवीर्य	,,	,,	वरनन्दी (मातंग)
८	७०००	२५००००	दत्त (वैदर्भ)	९३	वरुण श्री	३८००००	मघव	,,	,,	विजय (श्याम)
९	६६००	२०००००	विदर्भ (नाग)	८८	घोषवति	३८००००	बुद्धवीर्य	२ लाख	४ लाख	अजित
१०	५७००	१०००००	अनगार	८१	धारणा श्री (धारणा)	३८००००	श्रीमन्धर	,,	,,	ब्रह्मेश्वर(ब्रह्मा)
११	५०००	८४०००	कुंथु	७७	धारणा	१३००००	त्रिपिष्ट	,,	,,	कुमार (ईश्वर)
१२	४२००	७२०००	सधर्म (धर्म)	६६	वरसेना (सेना)	१०६०००	द्विपिष्ट	,,	,,	षण्मुख (कुमार)

	६४	६५	६६	६७	६८	६९	७०	७१	७२	७३
१३	३६००	६८०००	मन्दरार्य (मन्दिर)	५५	पद्म श्री	१०३०००	स्वयम्भू	२ लाख	४ लाख	पाताल (चतुर्मुख)
१४	३२००	६६०००	जयार्य (जय)	५०	सर्व श्री	१०८०००	पुरुषोत्तम	,,	,,	किन्नर (पाताल)
१५	२८००	६४०००	अरिष्ट सेन	४३	सुव्रता	६२४००	पुरुषवर	,,	,,	किंपुरुष (किन्नर)
१६	२४००	६२०००	चक्रायुध	३६	हरिषेणा	६०३००	पुण्डरीक	,,	,,	गरुड
१७	२०००	६००००	स्वय मु	३५	भाव श्री (भाविता)	६०३५०	दत्त	१ लाख	३ लाख	गधर्व
१८	१६००	५००००	कु भार्य (कुंमु)	३०	कूर्मश्री (पक्षिला)	६००००	कुनाल	,,	,,	महेन्द्र (यक्षेन्द्र)
१९	१४००	४००००	विशाख	२८	अमरसेना (वधुसेना)	५५०००	नारायण	,,	,,	कुबेर
२०	१२००	३००००	मल्ली	१८	पुष्पदत्ता	५००००	सुभौम	,,	,,	वरुण
२१	१०००	२००००	सुप्रभ (सोमक)	१७	भार्गव श्री (मगला)	४५०००	अजितजय	,,	,,	विद्युत्प्रभ (भृकुटी)
२२	८००	१८०००	वरदत्त	११	पद्म श्री	४००००	उग्रसेन	,,	,,	सर्वान्ह (गोमद)
२३	६००	१६०००	स्वयंभु	१०	सुलोचना	३८०००	अजित	,,	,,	धरणेन्द्र
२४	४००	१४०००	गौतम (इन्द्रभूति)	२२	चन्दना	३६०००	श्रेणिकराजा	,,	,,	मातग
	११६३००	२८४८०००		१४५२		५०५६२५०				

तीर्थंकरों के निर्वाण—मोक्ष का कल्याणक

क्रमांक	यक्षिणियों के नाम	आयु के अन्त में योग निरोध या विहार कब बंद किया था ?	विहार बंद होने के बाद समवशरण की स्थिति कैसी रहती है ?	मोक्ष प्राप्ति की तिथि आदि— मोक्ष की तिथि	समय (हरिवंश पु. अ. ६० से)	नक्षत्र	निर्वाण क्षेत्र नगर—पर्वतादि स्थान	निर्वाण क्षेत्र का विशिष्ट स्थान चूलिका
	७४	७५	७६	७७	७८	७९	८०	८१
१	चक्रेश्वरी	१४ दिन पहले	श्री तीर्थंकर केवली भगवान आयु के अंत समय जब विहार बंद करके योग निरोध करते हैं, तब एक ही स्थान में यथायोग्य आसन लगाकर स्थित रहते हैं। इनके चलन रूप काय योग की क्रिया उपदेश रूप वचन योग की क्रिया सब बंद हो जाती है। उनका सभी पुण्य नाश होने से समवशरण की रचना नहीं रहती है। बारह प्रकार की सभा जब विघटित होकर सभा के सब जीव हाथ जोड़कर रहते हैं, प्रभु के पास रहने वाले सब प्रमुख देवता चले जाते हैं। श्री ऋषभ नाथ भगवान के योग।	माघ कृ १४	पूर्वान्ह	उत्तराषाढ	कैलास पर्वत	—
२	रोहिणी (अजिता)	एक मास पहले		चैत्र शु. ५	,,	रोहिणी	सम्मेदशिखरजी	सिद्धवर कूट
३	प्रज्ञप्ति (नम्रा)	,,		चैत्र शु ६	,,	मृगशिर	,,	धवलदत्त कूट
४	वज्र शृंखला (दुरितारी)	,,		वैशाख शु ६	,,	पुनर्वसु	,,	आनन्द कूट
५	पुरुषदत्ता (ससारी)	,,		चैत्र शु ११	,,	मघा	,,	अविचल कूट
६	मनोवेगा (मोहनी)	,,		फाल्गुन कृ ४	,,	चित्रा	,,	मोहन कूट
७	काली (मालिनी)	,,		,, ७	,,	अनुराधा	,,	प्रभास कूट
८	ज्वाला मालिनी	,,		,, ७	,,	ज्येष्ठा	,,	ललित कूट
९	महाकाली (भृकुटी)	,,		भाद्रपद शु ८	,,	मूला	,,	सुप्रभ कूट
१०	मानवी (चामुंडे)	,,		आश्विन शु ८	,,	पूर्वाषाढ	,,	विद्युत्प्रभ कूट (विद्युद्वर कूट)
११	गौरी (गोमधकी)	,,		श्रावण शु ३०	,,	धनिष्ठा	,,	संकुल कूट (सबल कूट)
१२	गांधारी (विद्युतमाली)	,,		भाद्रपद शु १४	अपराह्न	अश्विनी	मंदारगिरी (चम्पापुरी)	चम्पासाल वन (मनोहर वन)

७४		७५	७६	७७	७८	७९	८०	८१
१३	वैरोटी (विद्या)	१ मास पहले	निरोध करने के बाद चौदह दिनो तक भरत चक्रवर्ती निरन्तर श्री आदिनाथ भगवान की पूजा करते रहे। इस प्रकार आदि पुराण (महा पुराण) पर्व १७४ में लिखा है।	आषाढ कृ ८	अपरान्ह	उत्तराषाढ	सम्मेदशिखरजी	सुवीरकूट (सुवीरकुलकूट)
१४	अनन्तमति (विज्ञ मणी)	"		चैत्र कृ १५	"	रेवती	"	स्वयप्रभकूट (स्वयंभू)
१५	मानसी (परिभृते)	"		ज्येष्ठ शु ४	प्रभात	पुष्य	"	सुदत्तवरकूट (दत्तवर)
१६	महामानसी (कन्दर्प)	"		ज्येष्ठ कृ १४	अपरान्ह	भरणी	"	कुन्दप्रभ (प्रभास–शांतिप्रभ)
१७	जय (गांधारिणी)	"		वैशाख शु २	"	कृत्तिका	"	ज्ञानधरकूट
१८	विजया (काली)	"		चैत्र कृ १५	प्रभात	रेवती	"	नाटककूट
१९	अपराजिता (अनजान)	"		फाल्गुन शु ५	अपरान्ह	भरणी	"	सम्बलकूट
२०	बहुरूपिणी (सुगंधिनी)	"		फाल्गुन कृ १२	"	श्रवण	"	निर्जरकूट
२१	चामुंडी (कुसुममालिनी)	"		वैशाख कृ १४	प्रभात	अश्विनी	"	मित्रधरकूट
२२	कुष्माडी	"		आषाढ शु ७	प्रदोष	चित्रा	गिरनार (ऊर्जयन्तगिर)	—
२३	पद्मावती	"		श्रावण शु ७	"	विशाखा	सम्मेदशिखरजी	सुवर्णभद्रकूट
२४	सिद्धायनी	दो दिन पहले		कार्तिक कृ. १५	प्रभात	स्वाति	पावापुरी	पद्मसरोवर

तीर्थंकरों के साथ-साथ कितने जीव कौन-कौन सी गति को प्राप्त हुये हैं ?

क्रमांक	कौन कौन से आसन से मोक्ष गये	सौधर्म स्वर्ग से लेकर ऊर्ध्व ग्रैं. तक कितने गये	अनुत्तरविमानों में से कितने गये उनकी संख्या	कौन-कौन तीर्थंकरों के कितने कितने शिष्य (यतिगण) कौन-कौन से समय में मोक्ष गये इसका खुलासा—		तीर्थंकरों के साथ-साथ जो सिद्ध भये उनकी संख्या	प्रत्येक तीर्थकाल में अनुबन्ध केवली कितने-कितने हुए।		इस हुँडावसर्पिणी काल दोष से दुषम सुषमा नामा चौथे काल में जो जिन धर्म का उच्छेद हुआ था वह कहां तक रहा था? उसका काल प्रमाण—
				तीर्थंकरों का मोक्ष का समय	संख्या		संख्या	दूसरे मत से संख्या	
	८२	८३	८४	८५	८६	८७	८८		८९
१	पद्मासन	३१००	२००००	श्री ऋषभनाथ भगवान से लेकर श्री शांतिनाथ तीर्थंकर तक के सब तीर्थंकरों के शिष्य (यतिगण) तीर्थंकरों को केवल ज्ञान होने के पहले और कौन कौन तीर्थंकरों के कितने-कितने शिष्यगण मोक्ष गये हैं, उनकी संख्या को आगे कोष्टक ८६ में दीजिये।	६०९००	११०००	८४	१००	श्री पुष्पदन्त (सुविधिनाथ) तीर्थंकर के समय से लेकर श्री धर्मनाथ तीर्थंकर के समय तक सात तीर्थ प्रवर्तनकाल में उच्छेद काल एक पल्य तक बढ़ता हुआ और घटता हुआ धर्म तीर्थ विच्छेद रहा था। सो ही त्रिलोकसार में लिखा है— पल्लतुरियादिदलियं पल्लतिचदुसुपादपरकालं ॥ णहि सद्धम्मो सुविधीदुसंतिअंते संतदररा ॥ सुविधिनाथ के तीर्थकाल में १/४ पाव पल्य का धर्म का विच्छेद हुआ था। शीतलनाथ के तीर्थकाल में १/२ आधा पल्य का विच्छेद हुआ था।
२	कायोत्सर्गासन	२९००	२००००		७०१००	१०००	८४	१००	
३	,,	९९००	२००००		१७०१००	१०००	८४	१००	
४	,,	७९००	१२०००		२८०१००	१०००	८४	१००	
५	,,	६४००	१२०००		३०१६००	१०००	८४	१००	
६	,,	४०००	१२०००		३१४०००	३२४	८४	१००	
७	,,	२४००	१२०००		२८५६००	५००	८४	१००	
८	,,	४०००	१२०००		२३४०००	१००	८४	९०	
९	,,	९४००	११०००		१७९६००	१०००	८४	९०	
१०	,,	८४००	११०००		८०६००	१०००	८४	९०	
११	,,	७४००	११०००		६५६००	१०००	७२	९०	
१२	पद्मासन	६४००	११०००		५४६००	६०१	४४	८४	

	८२	८३	८४	८५	८६	८७	८८		८९
१३	कायोत्सर्गासन	५५००	११०००		५२३००	६००	४०	४०	श्रेयांसनाथ के तीर्थकाल में ३/४ पौन पल्य तक धर्म का विच्छेद
१४	,,	५०००	१००००		५१०००	७००	३६	३६	वासुपूज्य के ,, ,, १ पल्य का
१५	,,	४५००	१००००		४९७००	८०१	३२	३२	विमलनाथ के ,, ,, ३/४ पौन पल्य का
१६	,,	३५००	१००००	केवलज्ञान के बाद एक महीना तक मोक्ष जितने मोक्ष गये।	४८४००	९००	२८	२८	अनन्तनाथ के १/२ ,, आधा पल्य
१७	,,	३२००	१००००		४६८००	१०००	२४	२४	धर्मनाथ के ,, १/४ पाव पल्य ,,
१८	,,	२८००	१००००	,, दो ,,	३७२००	१०००	२०	२०	इस प्रकार विच्छेद काल क्रम से पाव पल्य से लेकर एक पल्य तक बढ़ता गया। और फिर घटता हुआ पाव पल्य तक रहा जिस समय धर्म का विच्छेद होता है उस समय मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका कोई भी नहीं रहते हैं। दीक्षा के सन्मुख होने वालों का अभाव होता रहता है। इसलिये धर्मरूपी सूर्य अस्तगत रहता है।
१९	,,	२४००	८८००	,, तीन ,,	२८८००	५००	१६	१६	
२०	,,	२०००	८८००	,, छः ,,	१९२००	१०००	१२	१२	
२१	,,	१५००	८८००	एक वर्ष तक	९६००	१०००	८	८	
२२	पद्मासन	१२००	८८००	,, दो ,,	८०००	५३६	४	४	
२३	कायोत्सर्गासन	१०००	८०००	,, तीन ,,	६२००	३६	३	३	
२४	,,	८००	८०००	,, छः ,,	४४००	०	३	३	
		१०५८००	२७७८००		२४६४४००		११८२	१३७०	

तीर्थंकरों के परस्पर जन्म काल का अन्तराल कालप्रमाण

क्रमांक			
१	ऋषभनाथ	का जन्म	सुषमा दुषमा नामक तीसरे काल के अंत समय में जब ८४ लाख पूर्व + ३ वर्ष चार मास बाकी रहे तब हुआ।
२	अजितनाथ	,,	ऋषभ देव का जन्म होने के बाद ५० लाख करोड़ सागरोपम + १२ लाख पूर्व प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।
३	संभवनाथ	,,	अजितनाथ का ,, ३० लाख कोड़ा कोड़ी सागरोपम + १२ लाख पूर्व प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।
४	अभिनन्दन	,,	संभवनाथ का ,, १० लाख करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व ,,
५	सुमतिनाथ	,,	अभिनन्दन का ,, ९ लाख करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व ,,
६	पद्मप्रभनाथ	,,	सुमतिनाथ का ,, ९०० हजार करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व ,,
७	सुपार्श्वनाथ	,,	पद्मप्रभनाथ का ,, ९ हजार करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व ,,
८	चन्द्रप्रभ	,,	सुपार्श्वनाथ का ,, ९०० करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व ,,
९	पुष्पदन्त	,,	चन्द्रप्रभ का ,, ९० करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व ,,
१०	शीतलनाथ	,,	पुष्पदन्त का ,, ९ करोड़ सागरोपम + ८लाख लाख पूर्व ,,
११	श्रेयांसनाथ	,,	शीतलनाथ का ,, १ करोड़ सागरोपम + १ लाख पूर्व ,,
			१ करोड़ सागरोपम + १ लाख पूर्व प्रमाण काल में से + १०० सागर + १५०२६००० वर्ष घटाने पर जो बाकी रहा उतना काल प्रमाण बीत जाने पर हुआ। ,,
१२	वासुपूज्य	,,	श्रेयांसनाथ का ,, ५४ सागरोपम + १२ लाख वर्ष प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।

१३	विमलनाथ का	जन्म	वासुपूज्य का जन्म	होने के बाद	३० सागरोपम + १२ लाख वर्ष प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ ।
१४	अनन्तनाथ	,,	विमलनाथ का	,,	६ सागरोपम + ३० लाख वर्ष ,, ,,
१५	धर्मनाथ	,,	अनन्तनाथ का	,,	४ सागरोपम + २० लाख वर्ष ,, ,,
१६	शान्तिनाथ	,,	धर्मनाथ का	,,	३ सागरोपम + ६ लाख वर्ष ,, ,,
१७	कुन्थुनाथ	,,	शान्तिनाथ का	,,	१/२ आधा पल्य + ५ हजार वर्ष ,, ,,
१८	अरहनाथ	,,	कुन्थुनाथ का	,,	१/४ पाव पल्य मे से ९९९९९८९००० वर्ष घटाने पर जो बाकी रहा उतना कालप्रमाण बीत जाने पर हुआ ।
१९	मल्लिनाथ	,,	अरहनाथ का	,,	१००० करोड + २९००० वर्ष काल प्रमाण बीत जाने पर हुआ ।
२०	मुनिसुव्रत	,,	मल्लिनाथ का	,,	५४२५००० वर्ष ,, ,,
२१	नमिनाथ	,,	मुनिसुव्रत का	,,	६२०००० वर्ष ,, ,,
२२	नेमिनाथ	,,	नमिनाथ का	,,	५०९००० वर्ष ,, ,,
२३	पार्श्वनाथ	,,	नेमिनाथ का	,,	८४६५० वर्ष ,, ,,
२४	महावीर	,,	पार्श्वनाथ का	,,	२७८ वर्ष ,, ,,

अर्थात् दुपमा–सुपमा नामक चौथे काल के अन्त समय मे जब ७५ वर्ष ८ मास १५ दिन बाकी रहे, तब महावीर स्वामी का जन्म हुआ ।

तीर्थंकरों के परस्पर मोक्ष काल का अंतराल कालप्रमाण

१	ऋषभनाथ	जिनदेव सुषमा-दुषमा नामक तीसरे काल के अन्त समय मे जब ३ वर्ष ८ मास १५ दिन बाकी रहा तब मोक्ष गये।						
२	अजितनाथ	,,	ऋषभनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ५० लाख करोड सागर प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।					
३	सम्भवनाथ	,,	अजितनाथ	,,	३०	,,	,,	,,
४	अभिनन्दन	,,	सम्भवनाथ	,,	१०	,,	,,	,,
५	सुमतिनाथ	,,	अभिनन्दन	,,	९	,,	,,	,,
६	पद्मप्रभनाथ	,,	सुमतिनाथ	,,	९० हजार करोड सागर		,,	,,
७	सुपार्श्वनाथ	,,	पद्मप्रभनाथ	,,	९	,,	,,	,,
८	चन्द्रप्रभ	,,	सुपार्श्वनाथ	,,	९०० करोड़ सागर		,,	,,
९	पुष्पदन्त	,,	चन्द्रप्रभ	,,	९०	,,	,,	,,
१०	शीतलनाथ	,,	पुष्पदन्त	,,	९	,,	,,	,,
११	श्रेयांसनाथ	,,	शीतलनाथ	,,	३३७३९०० सागरोपमकाल		,,	,,
१२	वासुपूज्य	,,	श्रेयांसनाथ	,,	५४ लाख	,,	,,	,,

१३	विमलनाथ	जिनदेव	वासुपूज्य तीर्थंकर	के मोक्ष के बाद	३० लाख सागरोपम काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये ।
१४	अनन्तनाथ	"	विमलनाथ	"	६ " " "
१५	धर्मनाथ	"	अनन्तनाथ	"	४ " " "
१६	शान्तिनाथ	"	धर्मनाथ	"	३ लाख सागरोपम से $\frac{३}{४}$ पौन पल्य घटाने पर जो बाकी रहेगा उतना प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये ।
१७	कुन्थुनाथ	"	शान्तिनाथ	"	$\frac{१}{२}$ आधा पल्योपम काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये ।
१८	अरहनाथ	"	कुन्थुनाथ	"	$\frac{१}{४}$ पाव पल्य में से एक हजार करोड़ वर्ष घटाने पर जो बाकी रहा उतना काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये ।
१९	मल्लिनाथ	"	अरहनाथ	"	एक हजार करोड वर्ष काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये ।
२०	मुनिसुव्रत	"	मल्लिनाथ	"	५४ लाख वर्ष " "
२१	नमिनाथ	"	मुनिसुव्रत	"	६ " " "
२२	नेमिनाथ	"	नमिनाथ	"	५ " " "
२३	पार्श्वनाथ	"	नेमिनाथ	"	८३७५० वर्ष " "
२४	महावीर	"	पार्श्वनाथ	"	२५० वर्ष " " "

अर्थात्—दुषमा सुषमा नामक चौथे काल के अन्त समय मे जब ३ वर्ष ८ मास १५ दिन बाकी रहे, तब महावीर तीर्थंकर भगवान मोक्ष गये ।

तीर्थंकरों का तीर्थप्रवर्त्तन (मोक्षमार्ग प्रवर्त्तनकाल) प्रमाण

१	ऋषभ नाथ	तीर्थंकर का	तीर्थ प्रवर्त्तन काल	५० लाख करोड सागरोपम + १ पूर्वाङ्ग प्रमाणकाल तक रहा
२	अजितनाथ	,,	,,	३० ,, + ३ पूर्वाङ्ग ,,
३	सम्भवनाथ	,,	,,	१० ,, + ४ ,, ,,
४	अभिनन्दन	,,	,,	९ ,, + ४ ,, ,,
५	सुमतिनाथ	,,	,,	९० हजार करोड सागरोपम + ४ ,, ,,
६	पद्मप्रभ	,,	,,	९ ,, + ४ ,, ,,
७	सुपार्श्वनाथ	,,	,,	९०० करोड सागरोपम + ४ ,, ,,
८	चन्द्रप्रभ	,,	,,	९० ,, + ४ ,, ,,
९	पुष्पदन्त	,,	,,	२८ पूर्वाङ्ग + पल्य का चौथा भाग से हीन (कम) और ९ करोड सागरोपम से अधिक अर्थात् ८९९९९९९९ सागर और ९९९९९९९९९९९९९९९ ३/४ पल्य मे से २८ पूर्वाङ्ग + एक लाख पूर्व घटाने पर जो बाकी रहेगा उतना काल प्रमाण समझना चाहिये।
१०	शीतलनाथ	,,	,,	आधा पल्योपम और १०० सागर कम एक करोड सागरोपम प्रमाण काल से अतिरिक्त समझना चाहिये। अर्थात् ९९९९८९९ सागर और ९९९९९९९९९९ ९९९९९ १/२ पल्य इससे अतिरिक्त काल का प्रमाण ६६२६००० वर्ष कम २५००० पूर्व है, ऐसा समझना चाहिये।
११	श्रेयांसनाथ	,,	,,	५४ सागरोपम + २१ लाख वर्षों मे से ३/४ पल्य कम इतना काल प्रमाण समझना चाहिये।
१२	वासुपूज्य	,,	,,	३० सागरोपम + ५४ लाख वर्षों मे से १ पल्य —

१३	विमलनाथ	तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्त्तनकाल	६ सागरोपम	+१५ लाख वर्षों	में से ३/४ पल्य कम	इतना काल प्रमाण समझना चाहिये।
१४	अनन्तनाथ	"	४ "	+७५०००० "	आधा "	"
१५	धर्मनाथ	"	३ "	+२५०००० "	१/४ पल्य "	"
१६	शान्तिनाथ	"	१/२ आधा पल्य १२५० वर्ष प्रमाण समझना चाहिये।			
१७	कुन्थुनाथ	"	१/४ पाव पल्य मे से ९९९९९९७२५० वर्ष घटाने पर जो बाकी रहेगा, उतना काल प्रमाण समझना।			
१८	अरहनाथ	"	एक हजार करोड वर्षों मे से ३३९०० वर्ष कम अर्थात् ९९९९९६६१०० वर्ष काल प्रमाण समझना।			
१९	मल्लिनाथ	"	५४४७४०० वर्ष काल प्रमाण समझना चाहिये।			
२०	मुनिसुव्रत	"	६०५००० वर्ष "			
२१	नमिनाथ	"	५०१८०० " "			
२२	नेमिनाथ	"	८४३२० " "			
२३	पार्श्वनाथ	"	२७८ वर्ष " "			
२४	महावीर	"	२१०४२ वर्ष काल प्रमाण समझना अर्थात् पंचम काल के अंत समय में जब ३ वर्ष ८ मास और १५ बाकी रहेगा, तब तक महावीर भगवान का तीर्थ प्रवर्त्तन काल रहेगा।			

६३ शलाका पुरुष और नारद, रुद्र, कामदेव सम्बन्धी युगपत् अस्तित्वकाल सूचक की रचना

क्रमांक	२४ तीर्थंकर	१२ चक्रवर्ती	९ बलिभद्र	९ नारायण	९ प्रतिनारायण	९ नारद	११ रुद्र	२४ काम देव
१	१ ऋषभनाथ	१ भरत	❀	❀	❀	❀	१ भीम	१ बाहुबली
२	२ अजितनाथ	२ सगर	❀	❀	❀	❀	२ बलि	२ प्रजापति
३	३ सम्भवनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	❀	३ श्रीधर
४	४ अभिनन्दन	❀	❀	❀	❀	❀	❀	४ दर्शनभद्र
५	५ सुमतिनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	❀	५ प्रसेन चन्द्र
६	६ पद्मप्रभनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	❀	६ चन्द्रवर्ण
७	७ सुपार्श्वनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	❀	७ अग्नि युक्त
८	८ चन्द्रप्रभ	❀	❀	❀	❀	❀	❀	८ सनत्कुमार
९	९ पुष्पदन्त	❀	❀	❀	❀	❀	३ शम्भू	९ वत्सराज
१०	१० शीतलनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	४ विश्वानल	१० कनक प्रभ
११	११ श्रेयांसनाथ	❀	१ विजय	१ त्रिपिष्ट	१ अश्वग्रीव	१ भीम	५ सुप्रतिष्ठ	११ मेघप्रभ
१२	१२ वासपूज्य	❀	२ अचल	२ द्विपिष्ठ	२ तारक	२ महाभीम	६ अचल	❀
१३	१३ विमलनाथ	❀	३ सुधर्म	३ स्वयम्भू	३ मेरक	३ रौद्र (रुद्र)	७ पुण्डरीक	❀
१४	१४ अनन्तनाथ	❀	४ सुप्रभ	४ पुरुषोत्तम	४ निशुम्भ	४ महारुद्र	८ अजितधर	❀
१५	१५ धर्मनाथ	❀	५ सुदर्शन	५ पुरुषसिंह	५ मधुकैटभ	५ काल	९ जितनाभि	❀

१६	×	३ मघवा	❀	❀	❀	❀	❀	❀
१७	×	४ सनत्कुमार	❀	❀	❀	❀	❀	❀
१८	१६ शान्तिनाथ	५ शान्तिनाथ	❀	❀	❀	❀	१० पीठ	१२ शान्तिनाथ
१९	१७ कुन्थुनाथ	६ कुन्थुनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	१३ कुन्थुनाथ
२०	१८ अरहनाथ	७ अरहनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	१४ अरहनाथ
२१	×	८ सुभौम	❀	❀	❀	❀	❀	❀
२२	×	❀	६ नन्दी	६ पुंडरीक	६ प्रह्लाद	६ महाकाल	❀	विजयराज
२३	१९ मल्लिनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	❀	१५ श्रीचन्द
२४	×	❀	७ नन्दीमित्र	७ दत्त	७ बलि	दुर्मुख	❀	१६ नलराज
२५	×	९ महापद्म	❀	❀	❀	❀	❀	❀
२६	२० मुनिसुव्रत	❀	❀	❀	❀	❀	❀	❀
२७	×	१० हरिषेण	❀	❀	❀	❀	❀	❀
२८	×		८ रामचन्द्र	८ लक्ष्मण	८ रावण	८ नरमुख	❀	१८ हनुमत

६३ शलाका पुरुष और नारद, रुद्र, कामदेव सम्बन्धी युगपत् अस्तित्वकाल सूचक की रचना

क्रमांक	२४ तीर्थंकर	१२ चक्रवर्ती	९ बलिभद्र	९ नारायण	९ प्रतिनारायण	९ नारद	११ रुद्र	२४ कामदेव
२९	२१ नमिनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	❀	१९ बलिराज
३०	×	११ जयसेन	❀	❀	❀	❀	❀	❀
३१	२२ नेमिनाथ	❀	९ बलिराम	९ कृष्ण	९ जरासंध	९ अधोमुख	❀	२० वसुदेव
३२	×	१२ ब्रह्मदत्त	❀	❀	❀	❀	❀	२१ प्रद्युम्न
३३	२३ पार्श्वनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	११ महादेव	२१ नागकुमार
३४	२४ महावीर	❀	❀	❀	❀	❀	❀	२३ जीवंधर
३५	×	❀	❀	❀	❀	❀	❀	२४ जम्बूस्वामी

सूचना :—ऊपर की तालिका मे तीर्थंकरो के नामो के आगे चक्रवर्ती आदिको के नाम लिखे है, वे तीर्थंकरो के समय मे हो गये हैं, ऐसा समझना चाहिये। और तीर्थंकरो के नाम कोष्ठक मे जब × इस प्रकार का चिन्ह रहे और उसके आगे भिन्न चक्रवर्ती आदिको के नाम लिखे हो तो वे सब पहले और बाद के होने वाले तीर्थंकरो के अन्तराल काल मे ही हुये है, ऐसा समझना चाहिये। तथा जिस कोष्ठक मे जहा-जहा ❀ इस प्रकार का चिन्ह है वहा-वहा उनका अभाव समझना चाहिये।

श्री महावीर के तीर्थ प्रवर्तनकाल से चली आयी हुई, आचार्य शिष्य और शास्त्र परिपाठी आदि का विवरण

क्रमाक	आचार्य परम्परा, उनके नाम	कौन कितने ज्ञान के धारी थे	वीर नि सवत से	वीर नि सवत तक	कौन कितने वर्ष तक शास्त्रो का प्रचार किया	विक्रम सवत	शालि वाहन शके	ख्रिस्ति ईसवी सन्	विशेष
					कब हो गये ।				
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१	गौतमस्वामी गणधर [इन्द्रभूति]	अनुबध-केवली थे	१	१२	१२	पूर्व मे ४७०	पूर्व मे ६०४	पूर्व मे ५२६	अनुबध-केवली थे ।
२	सुधर्मा स्वामी	,,	१३	२४	१२	४५८	५९२	५१४	,,
३	जम्बूस्वामी	,,	२५	६२	३८	४४६	५८०	५०२	ये अतिमअनुबध केवली थे ।
					६२				
४	विष्णमुनि (नन्दी)	श्रुतकेवली थे १२ अग व १४ पूर्व के ज्ञाता थे	६३	७६	१४	४०८	५४२	४६४	श्रुतकेवली थे, केवली के समान पदार्थों की प्ररूपणा करते थे 'चौदह पूर्वी' नाम से विख्यात थे ।
५	नन्दीमित्र	,,	७७	९२	१६	३९४	५२८	४५०	,,
६	अपराजित	,,	९३	११४	२२	३७८	५१२	४३४	,,
७	गोवर्धन	,,	११५	१३३	१९	३५६	४९०	४१२	,,
८	भद्रबाहु (प्रथम)	,,	१३४	१६२	९२	३३७	४७१	३९३	ये अतिम श्रुतकेवली थे ।
					१००				
९	विशाखाचार्य (विशालमुनि)	११ अग व १० पूर्व के ज्ञाता थे	१६३	१७२	१०	३०८	४४२	३६४	पदार्थों का यथावत् सम्यक् प्ररूपण करते हुये परम निर्ग्रन्थ मुनि कहलाते थे ।
१०	प्रोष्ठिलाचार्य	,,	१७३	१९१	१९	२९८	४३२	३५४	,,
११	क्षत्रियाचार्य (नक्षत्र, क्षत्रियाक)	,,	१९२	२०९	१७	२७९	४१३	३२५	,,
१२	जयसेनाचार्य (जय)	,,	२०९	२२९	२१	२६२	३९६	३१८	,,

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१३	नागसेनाचार्य (जयनागयोगी-नाग)	११ अंग व १० पूर्व के शास्त्रज्ञ थे।	२३०	२४७	१८	२४१	७७५	२६७	पदार्थों की यथावत् सम्यक् प्ररुपणा करते हुये परम निर्ग्रन्थ मुनि कहलाते थे।
१४	सिद्धार्थाचार्य	,,	२४८	२६४	१७	२२३	३५७	२७९	,,
१५	धृतसेनाचार्य (धृतिसेन)	,,	२६५	२८४	२०	२०६	३४०	२६२	,,
१६	विजयाचार्य (विजयसेन)	,,	२८५	२९७	१३	१८६	३२०	२४२	,,
१७	बुद्धिषेणाचार्य (बुद्धिमान-बुद्धिलिंग	,,	२९८	३१७	२०	१७३	३०७	२२६	,,
१८	देवसेनाचार्य (प्रथम) (गंगदेवाचार्य)	,,	३१८	३३१	१४	१५३	२८७	२०९	,,
१९	धर्मसेनाचार्य (सुधर्म-धरसेन)	,,	३३२	३४५	१४	१३९	२७३	१९५	,,
					१८३				
२०	नक्षत्राचार्य	एकादशांग शास्त्रज्ञ थे।	३४६	३६३	१८	१२५	२५९	१८१	,,
२१	जयपालाचार्य (यश पालमुनि)	,,	३६४	३८३	२०	१०७	२४१	१६३	ये महामुनि कहलाए हैं।
२२	पाण्डवाचार्य (पाण्डुमुनि)	,,	३८४	४२२	३९	८७	२२१	१४३	,,
२३	ध्रुवसेनाचार्य ((ध्रुतसेन)	,,	४२३	४३६	१४	४८	३८२	१०४	,,
२४	कंसाचार्य (कंस भट्टारक)	,,	४३७	४६८	३२	३४	१६८	९०	,,
					१२३				
२५	सुभद्राचार्य	दशांग शास्त्रज्ञ थे ११ अंग १४ पूर्व एकदेश धारक शास्त्रज्ञ थे।	४६९	४७४	६	२	१३६	५८	,,

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
२६	यशोभद्राचार्य	दशांगशास्त्रज्ञथे ११ अग १४ पूर्व के एक देश धारक शास्त्रज्ञ थे ।	४७५	४७२	१८	४	१३०	५२	ये महामुनि कहलाये हैं ।
२७	(भद्रबाहु द्वितीय)	,,	४७३	५१५	२३	२२	११२	३४	ये अंतिम निमित्त ज्ञानी हैं
२८	लोहाचार्य	,,	५१६	५६५	५०	४५	८६	११	,,
					६७			ईसवी सन्	इनके समय मे काल दोप से मुनि संघ पक्षपात होकर सघ मे चार भाग होगये ।
२६	अर्हद्वल्याचार्य	एक अग के एक देश शास्त्रज्ञ हुये हैं	५६६	५६३	२८	६५	३६ ११	३६	
३०	माघनन्द्याचार्य	,,	५६४	६१४	२१	१२३	शा०शाके	६७	१ नन्दी संघ
३१	धरसेनाचार्य	,,	६१४	६३३	१६	१४४	१०	८८	२ सेन सघ
३२	पुष्पदन्ताचार्य	,,	६३४	६६३	३०	१६३	२६	१०७	३ सिंह सघ
३४	भूतवल्याचार्य	,,	६६४	६८३	२०	१६३	५६	१३७	४ देव संघ
	वसुनन्दी आचार्य	ये सब धवलादि							
	वीरनन्दी ,,	सिद्धांन के पाठी							
	कनकनदी ,,	थे इसलिये ये							
	इन्द्रनन्दी ,,	पाचो ही सिद्धात							
	नेमिचन्द्र ,,	चक्रवर्ती कहलाते थे ।							

श्री गौतम मुनिप्रमृतियों का काल का प्रमाण ६८३ वर्ष का हैं जो श्रुत–तीर्थ के धर्म अवर्तन काल का कारण है वहं अंगामी २०२१७ वर्षो मे काल दोष से व्युछेद को प्राप्त हो जायेगा । तो भी इस अवधि मे चातुर्वर्ण्य संघ का जन्म होता रहेगा। परन्तु सब लोग प्राय: अविनीत, दुर्बुद्धि, असूयक, सप्तभय और आठ मद सयुक्त शल्य एव गर्व सहित, कलहप्रिय, क्रोधी, होगे ।

चक्रवर्ती महापुरुष

वर्तमान कालीन बारह चक्रवर्ती सम्बन्धी ज्ञातव्य बातें

क्रमाक	चक्रवर्तियो के नाम (सकल चक्रवर्ती)	पिछले तीसरे भव का नाम नाम	पिछले तीसरे भव का नाम नगर	कहा से आकर चक्रवर्ती हुए	जन्मपुरी (राजधानी)	जनक (पिता)	जननी (माता)	शरीर की ऊंचाई (धनुष)	शरीर का वर्ण
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१	भरत	पीठराजा	पुण्डरीकिनी	सर्वार्थसिद्धि	अयोध्या	ऋषभदेव	यशस्वति	४५०	सुवर्ण
२	सगर	विजेत तेजराज	पृथिवीपुर	विजयमान	,,	विजय	सुमगला	३५०	,,
३	मघव	शशिप्रभ ,,	पुण्डरीकिनी	ग्रैवेयक	श्रावस्ति (कौशलापुर)	सुमित्र	भद्रवति	४२॥	,,
४	सनत्कुमार	धर्मरुची ,,	महापुरी	महेन्द्रस्वर्ग	हस्तिनागपुर (कौशलापुर)	विजय	सहदेवी	४२	,,
५	शान्तिनाथ	मेघराज ,,	पुण्डरीकिनी	सर्वार्थसिद्धि	हस्तिनागपुर	विश्वसेन	ऐरादेवी	४०	,,
६	कुन्थुनाथ	सिंहरथ ,,	रत्नसञ्चयपुर	,,	,,	सुरसेन	श्री कान्ता	३५	,,
७	अरहनाथ	धनपति ,,	क्षेमपुर	जयन्तानुत्तर	,,	सुदर्शन	मित्रसेना	३०	,,
८	सुभौम	कनकप्रभ ,,	धन्यपुर	—	अयोध्या	कीर्तिवीर्य	तारादेवी	२८	,,
९	पद्मनाथ (महापद्म)	चित्तसुप्रसन्न	वीतशोकपुर	ब्रह्मस्वर्ग	हस्तिनागपुर (वराणसी)	पद्मरथ	मयूरी	२२	,,
१०	हरिषेण	महेन्द्रदत्त ,,	विजय	महेन्द्रस्वर्ग	कपिलनगर (भोगपुर)	हरिकेतु	विप्रा	२०	,,
११	जयसेन	अमीकान्त ,,	राजपुर	ब्रह्मस्वर्ग	कौशाम्बी	विजय	यशोवती	१५	,,
१२	ब्रह्मदत्त	जमूस ,,	काशीपुर	पद्मयुगलस्वर्ग	कपिलनगर (अयोध्या)	ब्रह्मरथ	चलादेवी	७	,,

भविष्यत्काल में अर्थात् उत्सर्पिणी के दुःषमा सुषमा नामा तीसरे काल में होने वाले २४ तीर्थंकरों के नाम आदि

क्र.	भविष्यत्काल मे अर्थात् उत्स-र्पिणी काल में होने वाले चौबिस तीर्थंकरों के नाम	इन तीर्थंकरो के जीव पिछले भव मे कौन थे? उनके नाम	आगे उत्सर्पिणी काल के तीसरे काल में कहां से आकर तीर्थंकर होंगे	उनके शरीर की ऊंचाई कितनी होगी	उनकी आयु कितने वर्ष की होगी ?
१	२	३	४	५	६
१.	महापद्म	श्रेणिकराजा	पहले नरक से	७ हाथ	११६
२.	सुरदेव	सुपार्श्व			
३.	सुपार्श्व	उदक			
४.	स्वयंप्रभ	प्रौष्ठिल			
५.	सवत्मिभूत (सर्वप्रभ)	कृतसूर्य (कटप्रू)			
६.	देवपुत्र (देवसुत)	क्षत्रिय			
७.	कुलपुत्र (कुलसुत)	पाविल (श्रेष्ठी)			
८.	उदक (उदक)	शंख			
९.	प्रौष्ठिल	नन्द (नन्दन)			
१०.	जयकीर्ति	सुनन्द			
११.	मुनिसुव्रत	शशांक			
१२.	अर (अप्तम)	सेवक			
१३.	निष्पाप (अपाप)	प्रेमक			
१४.	निष्कषाय	अतोरण			
१५.	विपुल (विमल)	रैवत			

१	२	३	४	५	६
१६.	निर्मल	कृष्ण (वासुदेव)	तीसरे नरक से		
१७.	चित्र गुप्त	सिरि (बलराम)			
१८.	समाधि गुप्त	भगलि			
१९.	स्वयभू	विगलि (बागलि)			
२०.	अनिवृत्तिक (अनिवर्तक)	द्वीपायन			
२१.	जय	माणवक (कनकवाद)			
२२.	विमल	नारद			
२३.	देवपाल	सरूपदत्त (चारूपाद)			
२४.	अनन्तवीर्य	सात्यकी पुत्र (रुद्र, महादेव)	तीसरे नरक से	५०० धनुष	एक करोड़ पूर्व

इस प्रकार तिलोयपण्णत्ति के चतुर्थ अधिकार (गाथा नबर १५७८ से १५८६) में उल्लेख है। इसी तरह श्री गुणभद्राचार्य विरचित उत्तर पुराण के श्लोक नम्बर ४०१ से ४७४ पर्व ७६ मे लिखा है।

१. श्री महावीर भगवान् जिस दिन मुक्त हुए उसी दिन गौतम स्वामी को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। इसी तरह जिस दिन गौतम गणधर मोक्ष गए उसी दिन सुधर्म स्वामी केवली हुये हैं और जिस दिन सुधर्म स्वामी को मोक्ष हुआ उसी दिन जम्बू स्वामी केवली भये। इसलिये इन तीनो को 'अनुबन्ध केवली' कहते है। जम्बू स्वामी अन्तिम अनुबन्ध केवली है। सामान्य केवली की अपेक्षा से श्रीधर नामक अन्तिम केवली कुन्डलगिरि से सिद्ध हुए है।

२. प्रथम भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली हो गये है। द्वितीय भद्रबाहु अन्तिम निमित्त ज्ञानी हुए है।
३. सुपार्श्वचन्द नामा अन्तिम चारणमुनि हो गये है।
४. प्रज्ञाश्रमणो मे वज्रयश नामा अन्तिम श्रमण हो गये है।
५. श्रुत नाम के मुनि अन्तिम श्रमण हो गये है।
६. विनय एव सुशीलादि गुणसपन्न श्री नाम के ऋषि हो गये है।
७. मुकुटधारी राजाओ मे जिन दीक्षा धारण करने वाले सम्राट चन्द्रगुप्त अन्तिम राजा हुए है। इनके पश्चात् कोई भी मुकुट धारी राजागण जिन दीक्षा नही धारण करेंगे।

आगामी काल में कौन-कौन के जीव तीर्थंकर होंगे ? इस विषय में कई जगह कोई छोटी मोटी पुस्तक में और नाम देखने में आये हैं।

अट्ठहरि णव पडिहरि चलक्कि चउक्को य एय बचलद्दो।
सेणिय समंतभद्दो तित्थय राहुंति णियमेण ।।१६०७।।

प्रथम तो यह गाथा ठीक नही और कौन से शास्त्र की है, इसका भी पता नही और इसका अर्थ भी ठीक नही जमता है। कारण 'त्रिपिष्ट' नाम का पहिला नारायण (हरि) का जीव श्री वर्धमान तीर्थंकर होकर मुक्त हुआ है। (देखो उत्तरपुराण पर्व ७४) और ८वा नारायण हरि लक्ष्मण का जीव आगे पुष्करार्ध द्वीप के विदेह क्षेत्र में जन्म लेने वाला है, ऐसा पद्मपुराण पर्व १०६ मे लिखा है। इन दोनों नारायणो को घटाने से सात ही नारायण रह जाते है, परन्तु गाथा में 'अट्टहरि' लिखा है। और 'अश्वग्रीव' नाम का पहला प्रति नारायण (पडिहरि) का जीव इन प्रतिनारायणो में 'मृगध्वज' नाम का केवली होकर मुक्त हो चुका है। तब नव प्रति-नारायण कैसे सभव हैं ? और भी आदि अत के चौबीस होनहार जीव अन्त के रुद्र पर्यत चौथे काल मे ही हो चुके है, फिर पांचवे काल मे हुये समन्तभद्र महाराज का जीव इन चौविस मे आना कैसे सभव है ? और समतभद्र महाराज तीर्थंकर प्रकृति का बध कब किये थे ? और भी अनेक युक्ति प्रयुक्ति से इस गाथा में कथित अर्थ नही जमता है। इसलिये तिलोयपण्णति और उत्तरपुराण के कथनानुसार अर्थ का श्रद्धान करना चाहिये। इस विषय को पाठक समझ ले।

भूतकाल के तीर्थंकरों के नाम—१. निर्वाण, २. सागर, ३. महासाधु, ४. विमलप्रभ, ५. श्रीधर, ६. सुदत्त, ७. अमलप्रभ, ८. उध्दर, ९ अंगिर, १०. सन्मति, ११. सिन्धु, १२. कुसुमांजली, १३. शिवगण, १४. उत्साह, १५ ज्ञानेश्वर, १६ परमेश्वर, १७. विमलेश्वर, १८. यशोधर, १९. कृष्णमति २०. ज्ञानमति, २१. शुध्दमति, २२. श्रीभद्र, २३. अतिकांत, २४. शान्त।

जघन्येन जिनाधीशा भवन्ति विंशतिप्रभाः।
चक्राधिपाश्च सर्वत्र नृदेवखचरार्चिताः ॥१६०८॥

अर्थात्—अढाई द्वीप में तीर्थंकरो की जघन्य सख्या बीस रहती है, इनके सिवाय देव, मनुष्य और विद्याधरों से पूज्य ऐसे चक्रवर्ती भी होते हैं।

कौन से क्षेत्र की अपेक्षा कितने चक्रवर्ती कहे गये हैं—

इन भरत और ऐरावत खडों में कालानुसार एक-एक चक्रवर्ती होते रहते हैं। भरत क्षेत्र में जिस प्रकार एक आर्य खड और पाच म्लेच्छ खड मिलकर ६ खंड होते हैं। उसी प्रकार ऐरावत क्षेत्र मे भी छह खंड होते है। विदेह क्षेत्र मे जो ३२ देश है, उन देशों में भरत क्षेत्र के समान छह-छह खंड होते है और उन देशो मे एक-एक चक्रवर्ती होते रहते है। पंच विदेह क्षेत्र की अपेक्षा एक समय मे १६० तीर्थंकर, सकल चक्रवर्ती तथा अर्ध चक्रवर्ती कहे गए हैं। पाच भरत तथा पाँच ऐरावत क्षेत्रों की अपेक्षा इनकी उत्कृष्ट सख्या १७० होती है। जघन्य से विदेहो की अपेक्षा कम से कम संख्या तीर्थंकरों, चक्रवर्तियो तथा अर्ध चक्रवर्तियो की बीस कही गई है।

त्रिलोकसार में लिखा है—

तित्थद्ध-सयल चक्की सट्ठिसयं पुखरेणव्वरेण।
बीसं बीसं सयले खेत्ते सत्तरिसयं बरदो ॥१६०९॥

चक्रवर्तियों की सख्या जो १२ कही है, वह भरत और ऐरावत क्षेत्रों की अपेक्षा से कही गई है। विदेह क्षेत्र मे वे प्रायः सर्वत्र होते रहते है, वहा उत्कृष्ट या जघन्य संख्या का नियम नही है।

चक्रवर्ती पद—नरक में से आने वाले जीवो को कभी भी प्राप्त नही हो सकता है, स्वर्ग से आने वाले जीवो को ही यह चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है-ऐसा नियम है।

पूर्ण आयु में से कुमारकालादि काल प्रमाण

क्रमांक	कुमारकाल प्रमाण	माण्डलिक राजा काल प्रमाण	विजयकाल प्रमाण	चक्रवर्तित्व का काल प्रमाण	संयम काल प्रमाण	पूर्ण आयु काल प्रमाण	कौन कौन से तीर्थंकर के तीर्थंकाल में हो गये
१	२	३	४	५	६	७	८
१	७७ लाख पूर्व	१००० वर्ष	१०००० वर्ष	६१ हजार वर्ष कम ६ लाख पूर्व	एक लाख पूर्व	८३ लाख पूर्व	ऋषभनाथ के तीर्थ काल में हो गये ।
२	६० ,,	५०००० ,,	३०००० ,,	८० ,, १२ ,,	,,	७२ ,,	अजितनाथ ,,
३	२५००० वर्ष	२५००० ,,	१०००० ,,	३९०००० वर्ष	५०००० वर्ष	५ ,,	धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अंतराल काल में हो गये ।
४	५०००० ,,	५०००० ,,	१०००० ,,	२०००० ,,	१००००० ,,	३ लाख वर्ष	,, ,,
५	२५००० ,,	२५००० ,,	८०० ,,	२४२०० ,,	२५००० ,,	१ ,,	आप स्वयं चक्रवर्ती थे ।
६	२३७५० ,,	२३७५० ,,	६०० ,,	२३१५० ,,	२३७५० ,,	९५००० ,,	,,
७	२१००० ,,	२१००० ,,	४०० ,,	२०६०० ,,	२१००० ,,	८४००० ,,	,,
८	५००० ,,	५००० ,,	५०० ,,	४९५०० ,,	०	६०००० ,,	अरहनाथ और मल्लिनाथ के अंतराल काल में हो गये ।
९	५०० ,,	५०० ,,	३०० ,,	१८७०० ,,	१०००० ,,	३०००० ,,	मल्लिनाथ और मुनिसुव्रत ,,
१०	३२५ ,,	३२५ ,,	१५० ,,	८८५० ,,	३५० ,,	१०००० ,,	मुनिसुव्रत और नमिनाथ ,,
११	३०० ,,	३०० ,,	१०० ,,	१९०० ,,	४०० ,,	३००० ,,	नमिनाथ और नेमिनाथ ,,
१२	२८ ,,	५६ ,,	१६ ,,	६०० ,,	०	७०० ,,	नेमिनाथ और पार्श्वनाथ ,,

भरत चक्रवर्ती—का जन्म चैत्र कृष्ण ६ उत्तराषाढ नक्षत्र, ब्रह्मयोग, धनुराशि का चन्द्र जब मीनलग्न मे था तब हुआ था।

क्या ब्राह्मण वर्ण अनादि से है ?

नही, भरत चक्रवर्ती ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की थी। आदि पुराण पर्व ३८ में लिखा है—

तेषां कृतानि चिन्हानि सूत्रैः पद्माह्वयान्निधेः।
उपात्तै ब्रं म्हसूत्राह्वै रेकादशान्तकैः (तेन) ॥१६१०॥

अर्थात्—भरत चक्रवर्ती ने 'पद्म' नाम की निधि से एक से लेकर ग्यारह तक ब्रह्म सूत्र देकर ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की थी। इस तरह भरतेश्वर द्वारा चतुर्थ काल के आरम्भ में ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति हुई है।

पांचों विदेह क्षेत्र में ब्राह्मण वर्ण है या नहीं ? वहां कितने वर्ण हैं ?

प्रजा वर्णत्रयोपेता जिनधर्मरता शुभा।
व्रतशील तपोदृष्टि भूषिता न द्विजाः क्वचित् ॥१६११॥

सिध्दान्तसार प्रदीप—

अर्थात्—विदेह क्षेत्र मे ब्राह्मण नही है। वहां क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन ही वर्ण होते है।

क्रमांक	आगे कौनसी गति प्राप्त की ?	भविष्यकाल में होने वाले १२ चक्रवर्तियो के नाम	अतीत काल के १२ सकल चक्रवर्तियो के नाम
१	२	३	४
१.	सिध्द (मुक्त) भये	भरत	श्रीषेण
२.	"	दीर्घदन्त	पुण्डरीक
३.	सौधर्म स्वर्ग गये	मुक्तदन्त	वज्रनाभि
४.	सनत्कुमार स्वर्ग गये	गूढदन्त	वज्रदत्त
५.	सिध्द भये	श्रीषेण	वज्रघोष
६.	"	श्रीभूति	चारुदत्त
७.	"	श्रीकान्त	श्रीदत्त

१	२	३	४
८.	७वा नरक गये	पद्म	सुवर्णप्रभ
९.	सिध्द भये	महापद्म	भूवल्लभ
१०.	,,	चित्रवाहन	गुणपाल
११.	,,	विमलवाहन	धर्मसेन
१२.	७वां नरक गये	अरिष्ट सेन	कीर्त्यौघ

प्रश्न :—भरतचक्रवर्ती का वृषभाचल पर अपनी प्रशस्ति लिखने पर विचार कैसे रहे ?

उत्तर :—महान् पुण्यात्मा चक्रवर्ती भरत क्षेत्र के छह खण्डो पर विजय प्राप्त करता है । वह पाच म्लेच्छ खडों की विजय के लिए विजयार्ध पर्वत की ओर गमन करता है । वहाँ के राजाओ को जीतकर चक्रवर्ती हिमवान पर्वत के समीप आता है, और इसके निकटवर्ती वृषभाचल पर्वत के दर्शनार्थ जाता है । यह सौ योजन ऊचा तथा सौ योजन चौडा है । इस मनोहर पर्वत की शिला पर प्रत्येक विजेता चक्रवर्ती अपने गौरव को सूचित करने वाली प्रशस्ति लिखता है । चक्रवर्ती भरत जब वृषभाचल पर्वत के निकट पहुँचे, तब उन्होने क्या किया, इस विषय मे महापुराण का वर्णन महत्त्वपूर्ण है । जिनसेन स्वामी लिखते है, "समस्त पृथ्वी को जीतने वाले भरत चक्रवर्ती ने अपने हाथ मे काकिणी रत्न लेकर अपना नाम उस पर्वत पर लिखने का विचार किया, उस समय भरतराज ने उस पर्वत पर हजारो चक्रवर्ती राजाओ के नाम लिखे देखे :—

तदा राजसहस्राणा नामान्यत्रैक्षताधिराट् । (पर्व ३२-१४१)

असख्यात करोड़ कल्पो मे जितने चक्रवर्ती राजा हुये थे, उनके नामो से भरे हुये उस पर्वत को देखकर भरतेश्वर को बहुत आश्चर्य हुआ । इसे देखकर चक्रवर्ती का गर्व दूर हुआ और उन्होने निश्चय किया कि इस भरत क्षेत्र मे एक मैं ही शासक नही हूँ, मेरे समान अनेक चक्रवर्ती शासक हो चुके है । जिस समय भरतेश्वर ने एक चक्रवर्ती के नाम की प्रशस्ति मिटाई थी, उस समय उसने निश्चय किया

कि सारा ससार स्वार्थी है । अपनी प्रशस्ति मे चक्रवर्ती ने लिखा था :—

नप्ता श्री नाभिराजस्य पुत्रः श्रीवृषभेशिनः ।
षट् खंडमंडितामेनां यः स्म शास्त्यखिलां महीं ॥१६१२॥

जो नाभिराज का पौत्र है, श्री वृषभदेव का पुत्र है, जिस भरत ने छह खडो से सुशोभित इस समस्त पृथ्वी का पालन किया है ।

मत्वाऽसौ गत्वरीं लक्ष्मीं जित्वरः सर्वभूभृतां ।
जगद्विसृत्वरीं कीर्तिमतिष्ठिपदिहाचले ॥१६१३॥

जो समस्त राजाओ को जीतने वाला है, ऐसे मुझ भरत ने लक्ष्मी को चचल समझकर विश्व मे फैलने वाली कीर्ति को इस पर्वत पर स्थापित किया ।

इस प्रकार चक्रवर्ती ने अपना यश फैलाने वाली प्रशस्ति स्वय अपने अक्षरो से लिखी थी, उस समय देवो ने चक्रवर्ती पर पुण्य वर्षा की थी । आकाश मे दुन्दुभि बजी थी तथा देवताओं ने जय-जयकार किया था ।

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस जगत मे अगणित प्रतापी और पुण्यात्मा पुरुष हो चुके हैं । जिस तरह भरत महाराज ने एक चक्रवर्ती का नाम अलग कर अपनी गौरव पूर्ण प्रशस्ति लिखी है । इस प्रकार भविष्य मे कभी कोई चक्रवर्ती भरत महाराज का नाम भी मिटाये बिना न रहेगा । प्रत्येक जीव को मान कषाय छोड़कर मार्दव भाव को अपनाना चाहिए ।

प्रश्न :—चक्रवर्तियों में भरतेश्वर का वैभव कैसा था ?

उत्तर :—व्यक्तिगत जीवन, परिवार आदि सब विशेष महत्त्वपूर्ण रहे है । आदिनाथ तीर्थंकर के ज्येष्ठ पुत्र होने के साथ उनके द्वारा विद्या का अभ्यास करने का अद्भुत सौभाग्य था । इनके कुटुम्ब मे अनेक व्यक्ति चरम शरीरी हुए है । आज जिन महावीर भगवान का भरत क्षेत्र मे तीर्थ चल रहा है, उन वीर भगवान का जीव सम्राट भरत का पुत्र मरीचिकुमार के रूप में विद्यमान था । सम्राट के पुत्रो मे विवर्धन आदि ९२३ राजकुमार अद्भुत चारित्र वाले थे । उन्होने नित्य निगोद की अवस्था को छोड़कर कर्म भार हल्का होने से मनुष्य पर्याय प्राप्त की थी और आदिनाथ भगवान के समवशरण मे धर्मोपदेश सुनकर रत्नत्रय से अलकृत मुनि पदवी को धारणकर अल्प समय मे ही मोक्ष प्राप्त किता था । मूलाराधना टीका मे इस विषय का इस प्रकार वर्णन किया गया है ।

अनादिकाल मिथ्यात्वोदयोद्रेकात् नित्यनिगोदपर्यायमनुभय भरतचक्रिणः पुत्रः भूत्वा भद्र–विवर्धनादयस्त्रयोविशत्यधिकनवशतसख्याः पुरुदेवपादे श्रुत धर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः अल्पकालेनैव सिद्धाः" (पृ० ६६ मूलाराधना)।

हरिवश पुराण सर्ग १२ मे भी उक्त बात का उल्लेख आया है :—

अदृष्टपूर्वतीर्थेशाः प्रविष्टाः समवस्थितिम् ।
कदाचिच्चक्रिणा सार्धं विवर्धनपुरोगमाः ।।१६१४।।
क्लिष्टा स्थावरकायेष्वनादिमिथ्यात्व दृष्टयः ।
दृष्ट्वा भगवतो लक्ष्मीं राजपुत्राः सुविस्मिताः ।।१६१५।।
अंतर्मुहूर्तकालेन प्रतिपन्नसुसंयमाः ।
त्रयोविंशान्यहो चित्रं शतानि नवभिर्बभुः ।।१६१६।।

भद्र-विवर्धन आदि राजपुत्रो का चारित्र किस मानव के हृदय में आत्म-विकास का प्रेम उत्पन्न न करेगा।

स्वयं भरतेश्वर का आध्यात्मिक जीवन मुमुक्षु वर्ग के लिए चमत्कार का जनक रहा है। चक्रवर्ती ने मुनि पदवी धारण करते समय केशो का लोच किया था, और तत्काल ही भरत, जो कुछ समय पूर्व लौकिक साम्राज्य के स्वामी थे, अब क्षण मे केवल ज्ञान साम्राज्य के स्वामी हो गये। वत्तीस इन्द्रो ने भगवान भरत की पूजा की, मोक्ष मार्ग के दीपक केवली भरत ने वहुत समय तक इस पृथ्वी पर विहार कर कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया। निर्वाण दीक्षा लेने के अल्पकाल के पश्चात् उन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त करने मे सभी तीर्थकरो की अपेक्षा अद्भुत विशेषता प्रदर्शित की। हरिवशपुराण मे भरत मुनिराज के विषय मे ये पद्य महत्त्वपूर्ण है।

पंचमुष्टिभिरुत्पाटय त्रुट्यत्बंधस्थितिः कचान् ।
लोचानन्तपमेवापद राजन् श्रेणिक! केवलम् ।।१६१७।।
द्वात्रिंशत्त्रिदशेन्द्रैः स, कृतकेवलपूजनः ।
दीपको मोक्षमार्गस्य, विजहार चिरं महीं ।।१६१८।।

प्रश्न :—हुंडावसर्पिणी काल की अद्भुत घटनाएँ कौनसी हैं ?

उत्तर :—सप्त परम स्थानो में प्रतिपादित साम्राज्य पदवी के स्वामी होते हुए भी चक्रवर्ती भरतेश्वर का वाहुवलि स्वामी द्वारा पराजय होना आश्चर्य की वस्तु लगती है, किन्तु आगम मे वताया है कि असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी के पश्चात्

आने वाले हुडावसर्पिरणी काल में ही ऐसी अभूतपूर्व घटनाएँ होती है। जिन शासन के मध्य में विपरीत अनेक मतों की उत्पत्ति होना, वस्त्र धारण करके निदनीय सग्रथ लिगधारी सप्रदाय का प्रादुर्भाव, जिनेन्द्र भगवान पर उपसर्ग होना, चक्रवर्ती का मान भग, कुदेव, उनके मठ, उनकी मूर्ति आदि का होना, अनेक मिथ्या शास्त्रो का निर्वारण होना तथा भरत का बाहुबलि द्वारा मानभग सदृश कार्य हुए हैं। कहा भी है :—

जिनशासनमध्ये स्युः विपरीता मतान्तराः ।
चीवराद्यावृता निंद्याः सग्रन्थाः संति लिंगिनः ।।१६१६।।
उपसर्गा जिनेन्द्राणां, मानभंगश्च चक्रिणाम् ।
कुदेव–मठ–मूर्त्याद्याः शास्त्राणि अनेकशः ।।१६२०।।

इस सम्बन्ध में यह भी गाथा प्रसिद्ध है :—

हुंडावसर्पिणीकाले णियमेण भवंति पंचपाषंडाः ।
चक्किहरमाणभंगो उवसग्गो जिणवरिंदाणं ।।१६२१।।

भरत बाहुबलि आदि का उपरोक्त वर्णन भूतपूर्व नैगमनय की अपेक्षा से किया जाता है। आज तो वे सभी समान आत्मगुणो से शोभायमान सिद्ध परमात्मा के रूप में ईषत्प्रागभार नाम की अष्टम पृथ्वी पर विराजमान हैं। वह स्थान सर्वार्थसिद्धि से केवल द्वादश योजन दूरी पर स्थित है।

प्रश्न :—चक्रवर्ती के चार प्रकार की राजविद्या कौनसी है ?

उत्तर :—(१) **आन्वीक्षिकी** अपना स्वरूप जानना, अपना बल पहिचानना, अच्छा बुरा समझ लेना, सच्चा झूठा समझ लेना, रत्न परीक्षक जिस तरह रत्न की परीक्षा करता है, उसी तरह पहिचानना।

(२) **त्रयी**–शास्त्रानुसार धर्म-अधर्म समझ कर, अधर्म छोड देना और धर्म मे प्रवृत्ति करना।

(३) **वार्ता–अर्थ–अनर्थ** को समझकर प्रजाजनो का रक्षरण करना।

(४) **दंडनीय**–दुष्ट दण्डनीयादि। (देखो महापुराणपर्व ४)

प्रश्न :—चक्रवती के पांच इन्द्रियों का विषय बल स्वरूप कैसा है ?

उत्तर :—(१) स्पर्शनेन्द्रिय से ९ योजन तक का विषय जान लेते है।
(२) रसनेन्द्रिय से ,, ,,
(३) घाणेन्द्रिय से ,, ,,

(४) चक्षुरिन्द्रिय से ४७२६३×७ बटे २० योजन तक देख सकते हैं।

(५) श्रोत्रेन्द्रिय से १२ योजन तक का शब्द सुनते है।

चक्रवर्ती के ७ अंगवलों का स्वरूप—

१. स्वामी, २. अमात्य, ३. देश, ४. दुर्ग, ५. खजाना (कोश), ६. षडंग वल, ७. मित्र (सुहृत्) इस प्रकार सात अंगवल होते है।

चक्रवर्ती का षडंग (६ प्रकार का) वल—

१. ८४ लाख भद्र हाथी होते हैं, २. ८४ लाख रथ होते है, ३. १८ करोड़ जातिवंत (सुलक्षण) घोड़े होते हैं, ४. ८४ करोड़ वीर भट (पैदलसैनिक) होते हैं, ५. असख्यात विद्यावर सैन्य होते हैं, इस प्रकार चक्रवर्ती का षडंगवल समझना चाहिये।

चक्रवर्ती के दशांग भोग—

१. दिव्यपुर (पट्टण), २. दिव्यभाजन, ३. दिव्यभोजन, ४. दिव्यशय्या, ५. दिव्यआसन, ६. दिव्यनाटक, ७. दिव्यरत्न, ८. दिव्यनिधि, ९. दिव्यसैन्य, १०. दिव्यवाहन इस प्रकार दशांग भोग होते है।

चक्रवर्ती की नवनिधि और उनकी फलदान शक्ति—

१. कालनिधि-ऋतु के अनुसार नानाविधि पदार्थ देने वाला होता है।
२. महाकालनिधि-नानाविधभाजन पदार्थ देने वाला होता है।
३. माणवक " आयुध "
४. पिंगल " आभरण "
५. नैसर्प " मन्दिर "
६. पद्म " वस्त्र "
७. पांडुककाल निधि नानाविध धान्य पदार्थ देने वाला होता है।
८. शंख " " वादित्र "
९. सर्वरत्न (नानारत्न) निधि – नानाविधरत्न देने वाला होता है।

ये सब निधियां नदीमुख में उत्पन्न होती रहती हैं।

चक्रवर्ती के १४ रत्न और उनकी फलदान शक्ति—

चक्रं छत्रमसिदंडो मणिश्चर्म च काकिणी।
गृह सेनापतिस्तक्षा पुरोधोऽश्वगजास्त्रियः ॥१६२२॥

१. अयोध्या-सेनापति रत्न—सेनानायक-आर्यखंड और उत्तम, मध्यम म्लेच्छखड सिवाय अन्य दिग्विष्टरो को जीतने वाला सेनापति रत्न।

२. भद्रमुख-हर्म्यपति-गृहपतिरत्न—भंडारी-राजमहल का व्यवहार चलाने वाला और हिसाब-किताब रखने वाला गृहपति रत्न होता है।

३. बुद्धिसमुद्र–पुरोहितरत्न–सबको धर्म-कर्मानुष्ठान पूर्वक मार्गदर्शन कराने वाला पुरोहित रत्न होता है।

४. कामवृष्टि–रथपति–तक्षकरत्न–उत्तम कारीगर–चक्रवर्ती के आलोचनानुसार महल, मंदिर, प्रासाद आदि को तैयार करने वाला तक्षकरत्न।

५. सुभद्रा-युवति-स्त्रीरत्न-चक्रवर्ती के ९६ हजार स्त्रियों के सिवाय जो मुख्य पट्टरानी होती है, वह ही स्त्रीरत्न है।

६. विजयागिरि-गजपतिरत्न-अरिनृपो के गजघटाओ का विघटन करने वाला गजरत्न होता है।

७. पवनंजय-अश्वरत्न—तिमिश्र गुफा के कपाट को विघटन करते समय १२ योजन दौड़ने वाला अश्वरत्न होता है।

इस प्रकार यह ७ सजीव रत्न कहलाते हैं।

८. सुदर्शन–चतु–आयुध—बैरियों का सहार (अभाव) करने वाला चक्ररत्न होता हैं।

९. सूर्यप्रभ-छत्ररत्न-आयुध—सैन्यों के ऊपर आने वाली बाधाओं को दूर करने वाले छत्ररत्न होते है।

१०. भद्रमुख-असि-खंगरत्न-आयुध—चक्रवर्तियो के चित्तोत्सव को करने वाले असिरत्न होते हैं।

११. प्रवृद्धवंग-दण्डरत्न-आयुध—चक्रवर्तियो के सैन्य की जमीन को साफ कर देने वाला दण्डरत्न।

१२. चिन्ताजननी-काकिणीरत्न—गुफा आदि मे रहने वाले अधकार के स्थानो मे चन्द्रादित्यों के समान प्रकाश देने वाला काकिणीरत्न होता है।

१३. चूडामणिरत्न-रत्नविशेष—इच्छित पदार्थ को देने वाला चूडामणि रत्न होता हैं।

१४. चर्मरत्न—सैन्यादिको को नद और नदी से सुरक्षित रीति से पार करा देने वाला चर्मरत्न होता है।

इस प्रकार ७ अजीव रत्न कहलाते है। इनमे एक से लेकर पाच तक अजीव रत्न अपने-अपने नगरो मे उत्पन्न होते है और ६ और ७ विजयार्ध पर्वत में उत्पन्न होते है। नम्बर ८ से ११ तक आयुधशाला मे उत्पन्न होते है। नम्बर १२ से १४ तक के रत्न श्री देवी के मन्दिर में उत्पन्न होते है। इन १४ महारत्नो मे प्रत्येक रत्न का रक्षरग एक-एक हजार यक्ष देवता किया करते है।

चक्रवर्ती के स्वामित्व का स्वरूप—

चक्रवर्ती का ३२ हजार राजाओ पर स्वामित्व होता है। उन राजाओ के लक्षरग निम्न प्रकार समझना चाहिये।

नृपति—जो समस्त नर अर्थात् मनुष्यों का रक्षरग करने वाला हो, वही नृप या नृपति कहलाता है।

भूप—समस्त पृथ्वी का जो रक्षक है, वह भूप या भूपति कहलाता है।

राजा—जो समस्त प्रजा जनो को राजी रखने वाला है, वही राजा कहलाता है।

इन राजाओं के छह गुरग होते हैं—

१. सधि=मिलाप (अपसात), २. विग्रह=युद्ध, ३ यान=वाहन, ४ आसन=मुक्काम, ५. सस्थान=वचनो की दृढता (वाचनिक), ६ आश्रय=आधार इसके दो भेद होते है, जो अपने से प्रबल रहे उसका आश्रय लेना, और जो अपने आधीन रहे उसे आश्रय देना अर्थात् शरणागतो का प्रतिपालन करना। यही राजा के छह गुरग समझना चाहिये।

राजाओं के कर्त्तव्य कर्म—

१. आत्मपालन करना—अर्थात् राज्य करने वालो को प्रथम अपनी आत्मा का पालन करना चाहिये। अर्थात् स्वत के प्रारगो का रक्षरग करना चाहिये।

२. मतिपालन करना—अर्थात् अपनी बुद्धि निर्मल रखनी चाहिये।

३. कुल पालन करना—अर्थात् राजकुलाचारादि सभावना चाहिये।

४ प्रजा-पालन करना—अर्थात् पुत्र के समान प्रजाजनो की रक्षा करनी चाहिये।

शिष्टो का सरक्षरग और दुष्टो का निग्रह करना चाहिये।

उपरोक्त गुण युक्त राजाओं की १८ श्रेणियां होती हैं, उनका स्वरूप—

१. सेनापति – सेना का नायक, २. गणकपति=ज्योतिषी आदिको का नायक, ३. वणिक्पति – व्यापारियों का नायक, ४. दण्डपति=समस्त सेना का नायक, ५. मंत्री=पचांगमंत्र विषय में प्रवीण, ६. महत्तर=कुलवान अर्थात् कुल विशेष उच्चता, ७. तलवर=कोतवाल का स्वामी, ८. ब्राह्मण, ९. क्षत्रिय, १०. वैश्य, ११. शुद्र=इन चार वर्णों का स्वामी, १२ हाथी, १३. घोडा, १४. रथ, १५. पदाति – इस चतुरग बलों का स्वामी, १६. पुरोहित – आत्महित कार्य का अधिकारी, १७. अमात्य—देश का अधिकारी, १८. महामात्य – समस्त राज्य कार्यो का अधिकारी।

इस प्रकार जो १८ श्रेणियो का स्वामी है, वही 'राजा' है। और वही 'मुकुटधारी' हो सकता है। इसी तरह—

जो पांच सौ मुकुटधारी राजाओं का स्वामी है, वह 'अधिराजा' कहलाता है।

जो एक हजार	"	"	वह 'महाराजा' "
जो दो हजार	"	"	वह 'मुकुटबद्ध' या 'अर्धमाङलिक' कहलाता है।
जो चार हजार	"	"	वह 'मांडलिक' कहलाता है।
जो आठ हजार	"	"	वह 'महामाडलिक "
जो सोलह हजार	"	"	वह अर्धचक्री "
जो ३२ हजार	"	"	वह 'सकल चक्रवर्ती "

अर्थात् षट्खंड पृथ्वी का (भरत खंड का) अधिपति होता है। इस प्रकार श्रेणी बद्ध चक्रवर्ती का राज्य निराबाध चलता रहता है।

षट्खंड मडित भरतखड के एक-एक देश मे रहने वाले अलग-अलग ग्रामादिकों की संख्या और नामादि लक्षण—

ग्रामादिको की सख्या	ग्रामादिको के नामादि लक्षण—
१. ग्राम ९६ करोड़ रहते है।	जिस गांव के चारो ओर दीवाल (कोट) होता है, उस गांव को 'ग्राम' कहते हैं।
२. नगर ७५ हजार रहते है।	जो गांव के चारो ओर दीवाल और चार दरवाजो से सयुक्त है उस गांव को नगर कहते है।

३ खेट ७६ हजार रहते है।	नदी और पर्वतों से वेष्ठित रहने वाले गांव को 'खेट' कहते है।
४ खर्वड २४ हजार रहते है।	पर्वतो से वेष्ठित गांव को 'खर्वड' कहते है।
५, मडम्ब ४ हजार रहते है।	हरेक पाच सौ ग्राम संयुक्त रहने वाले गांव को 'मडम्ब' कहते है।
६. पट्टण ४८ हजार रहते है।	जहा रत्न उत्पन्न होते है, उस गांव को 'पट्टण' कहते है।
७ द्रोण ९९ हजार रहते है।	नदी से वेष्ठित हुए ग्राम को 'द्रोण' कहते है।
८ संवाहन ७४ हजार रहते है।	उपसमुद्र के तट पर रहने वाले ग्राम को 'सवाहन' कहते है।
९. दुर्गाटवी २८ हजार रहते है।	पर्वतो पर रहने वाले गांवो को 'दुर्गाटवी' कहते है।

एक-एक देश मे एक-एक समुद्र रहता है। उन समुद्रो मे टापू अर्थात् ५६ अन्तर्द्वीप है। और जहां रत्न उत्पन्न होते है, ऐसे २६ हजार रत्नाकर (समुद्र) है, और रत्न बिक्री के स्थान भूत ऐसे ६०० प्रत्यन्तर कुक्षी है और ७०० प्रत्यन्तर कुक्षीवास है, और ८०० कक्षा है। भरत खड के मुख-नगर (राजधानी) दोनों नदी (गंगा और सिन्धु महानदी) के बीच मे विद्यमान आर्य खड मे होता है।

चक्रवर्ती के परिवारादि वैभवों का वर्णन—

१. चक्रवर्ती के एक पट्टरानी के सिवाय सौर ९६ हजार स्त्रियां होती है। इनमे आर्य खड की ३२ हजार राजकन्याए होती है, ३२ हजार विद्याधर राजकन्याये और म्लेच्छ खड की ३२ हजार राजकन्याए होती है। इस प्रकार सब मिलकर ९६ हजार स्त्रिया होती है।

२ चक्रवर्ती रात्रि के समय अपनी पट्टरानी के महल मे ही रहते है परन्तु पट्टरानी के पुत्र, सतान नहीं होती है, वह वध्या ही रहती है। इसकी शखावर्त योनि होने से इस योनि में वंशोत्पत्ति नही होती है। चक्रवर्ती अपनी पृथक् विक्रिया की सहायता से अपने शरीर के अनेक रूप धारण कर सकते हैं, इसलिये उनकी अन्य स्त्रियो को पुत्रादिक होते रहते है।

३. चक्रवर्ती के पुत्र-पुत्रियां संख्यात हजार होते है। ३ करोड ५० हजार बन्धु वर्ग (भाई बन्ध) होते है। ३६१ शरीर वैद्य ३६१ इतर वैद्य होते है। ३६० अङ्ग रक्षक होते है। ३६० स्वयंपाकी (रसोई वाले) होते है। और १४ रत्न होते है।

४. चक्रवर्ती पर ३२ यक्षदेव ३२ चामर ढुराते रहते है।

५. बारह योजन तक सुनाई देने वाले २४ शंख २४ भेरी (नगाड़ा) २४ पटह (वाद्य विशेष) होते है।

६. ३२ हजार नाट्यशालाये और ३२ हजार संगीतशालाये होती है। ३२ हजार देश और उन प्रत्येक देश के ३२ हजार मुकुटधारी राजाओ पर स्वामित्व होता है। इसी तरह १६ हजार गरणबध्द देवो का स्वामी और ८८ हजार म्लेच्छ राजाओ का स्वामो होता है।

७. एक आर्य खड और पांच म्लेच्छ खड इस प्रकार छह खड पृथ्वी के स्वामी रहते है। एक करोड 'हल' होते है, ३ करोड गो मण्डल अर्थात् गौ रहने के स्थान होते है। इससे सिद्ध होता है कि गौ तीन करोड़ से ज्यादा ही होती है।

८. भरत चक्रवर्ती के एक करोड सोने के थाल थे, ऐसा कोई कहते है, परन्तु वे दाल चावलादि धान पकाने के वर्तन थे। क्योकि श्लोक मे 'स्थाली' शब्द है, उसका अर्थ गगरी (बर्त्तन) ऐसा होता है, इसलिए वे थाली न रहकर बडे-बड़े बर्त्तन थे ऐसा सिद्ध होता है। (देखो आदि-पुराण पर्व ३७)।

भरत चक्रवर्ती के १६ स्वप्न

स्वप्न दर्शन	स्वप्न का फल
१ तेईस सिहों को देखा जो कि इस पृथ्वी पर अकेले ही विहार कर पर्वत के शिखर पर चढ गये थे।	श्री महावीर स्वामी को छोडकर बाकी तेईस तीर्थकरो के समय में दुष्ट नयो की तथा मिथ्याशास्त्रो की उत्पत्ति नही होगी।
२. अकेला सिह का बच्चा देखा और	श्री महावीर स्वामी के तीर्थ मे परिग्रह को

उसके पीछे-पीछे चलते हुए हरिण देखे ।	धारण करने वाले बहुत से कुलिगी वा अन्य भेषधारी हो जायेंगे ।
३. बडे हाथी के उठाने योग्य बोझ से जिसकी पीठ टूट गई है, ऐसे घोडे को देखा ।	पचकाल मे साधु लोग तपश्चरण के समस्त गुणो को धारण करने के लिये समर्थ नही होगे । मूलगुण और उत्तरगुणो के पालन करने की प्रतिज्ञा लेकर भी कोई उनके पालन करने मे आलस करने लगेंगे, कोई मूल से सब गुणो को ही नष्ट कर देंगे और कोई मन्दता वा उदासीनता धारण करेंगे ।
४ वृक्ष, लता तथा छोटे पौधो के सुखे पत्तो को खाते हुए बहुत से बकरो के समूह को देखा ।	आगे के (पचम काल) लोग सदाचार को छोड़कर दूराचारी हो जायेंगे ।
५ हाथी के कन्धे पर बैठे हुए बन्दर को देखा ।	प्राचीन क्षत्रियो के वश का नाश हो जायगा और फिर नीच कुल वाले इस पृथ्वी का शासन वा पालन करेंगे ।
३. अनेक कौवा और पक्षी जिन्हे त्रास दे रहे है, ऐसे उल्लू को देखा ।	लोग जैन मुनियो को छोड़कर धर्म की इच्छा से अन्य मतियो के साधुओ के समीप जायेंगे ।
७ बहुत से भूतो को नाचते हुए देखा ।	प्रजा के लोग नामकर्म आदि कारणो से व्यन्तरो को देवता मानकर पूजा सेवा आदि करेंगे ।
८. जिसके बीच की जगह सूखी पडी है और किनारो पर चारो ओर खूब पानी भरा हुआ है ऐसा । तालाब देखा ।	यह धर्म आर्य क्षेत्र मे न रहकर म्लेच्छ देश के लोगो मे रहेगा ।
९. धूल से मैली हो रही है, ऐसी रत्नो की राशि को देखा ।	पचमकाल में मुनिलोग शुक्लध्यान, ऋद्धि आदि से विभूषित उत्तम नही होगे ।

१०. आदर सत्कार से जिसकी पूजा की जा रही है, ऐसा नैवेद्य खाता हुआ कुत्ते को देखा।	अव्रती ब्राह्मण गुणी पात्रों के समान आदर सत्कार पावेंगे।
११. शब्द करता हुआ एक तरुण बैल को बिहार करते हुये देखा।	लोग तरुण अवस्था मे ही मुनिपद धारण करेंगे वृद्धावस्था मे धारण नही करेंगे।
१२. सफेद परिमडल (चारों ओर गोल सफेद रेखा) से घिरा हुआ है, ऐसा चन्द्रमा देखा।	पचमकाल मे मुनियो के अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान उत्पन्न नही होंगे।
१३. जिन्होने आपस में मित्रता की है (परस्पर मिलकर जा रहे है) तथा उनकी शोभा नष्ट हो रही है, ऐसे दो बैल देखे।	पचमकाल ने मुनि लोग साथ-साथ रहेंगे एकाविहारी (अकेले विहार करने वाले) नही होंगे।
१४. सूर्य को बादलों से ढका हुआ देखा।	पचमकाल में प्रायः केवल ज्ञानरूप सूर्य का उदय नही होगा।
१५. छाया रहित सूखा वृक्ष देखा	पुरुष और स्त्रियो के सदाचार प्राय. भ्रष्ट हो जायेंगे।
१३. पुराने पतो के समूह को देखा।	महा औषधियो का रस अर्थात् गुण नष्ट हो जायेगा।

इन स्वप्नो को इस प्रकार फल देने वाले और दूर अर्थात् आगामी पचम काल मे फल देने वाले जानना। इस प्रकार वर्णन महापुराण पर्व ४१ मे लिखा है।

९. नारायण—इनको वासुदेव, केशव, गोविन्द हरि ऐसा भी कहते हैं—

नारायणो के नाम	नारायणों के पूर्व के तीन भव— पिछले तीसरे भव के वहां के नाम	वहा की नगरियो के नाम	वहां के गुरुओं के नाम
१ २	३	४	५
१. त्रिपिष्ट (त्रिपृष्ट)	विश्वनन्दी	हस्तिनागपुर	सभूत

१	२	३	४	५
२	द्विपिष्ट (द्विपृष्ट)	पर्वत	अयोध्या	सुभद्र
३	स्वयंभू	धनमित्र	श्रावस्ति	वसुदर्शन
४	पुरुषोत्तम	सागरदत्त	कौशाम्बी	श्रेयांस
५	नरसिह (पुरुषसिंह)	विकट	पौदनपुर	भूतिसग
६	पुडरीक (पुरुषवर)	प्रियमित्र	शैलनगर	वसुभूति
७	दत्त (पुरुषदत्त)	मानचेष्टित	सिंहपुर	घोषसेन
८	लक्ष्मण	पुनर्वसु	कौशाम्वी	परांभोधि
९	कृष्ण	गंगादेवी (निर्णामिक)	हस्तिनागपुर	द्रुमसेन

इसके शेष बिन्दु पृष्ठ ७९५–९६ पर हैं ।

९ प्रतिनारायण—इनको प्रतिवासुदेव, प्रतिशत्रु और प्रतिहरि ऐसा भी कहते हैं ।

क्रमांक	प्रतिनारायणो के नाम	राजधानी का नाम	शरीर की ऊं. (धनुष)	आयु प्रमाण वर्ष
१	२	३	४	५
१.	अश्वग्रीव	अलकापुर	८०	८४ लाख
२.	तारक	विजपुर	७०	७२ लाख
३.	मेरक	नन्दनपुर	६०	६० लाख
४.	निशभु	हरिपुर	५०	३० लाख
५.	प्रल्हाद (प्रहरण)	सिंहपुर	४५	१० लाख
६.	मधुकैटभ	पृथ्वीपुर	२९	६५ हजार
७.	वली	सूर्यपुर	२२	३२ ,,
८.	रावण	लंका	१६	१२ ,,
९.	जरासंव	राजगृही	१०	१ ,,

कौन-कौन से तीर्थंकाल में हुए।	आगे कौन सी गति प्राप्त की है ?	भविष्यत्काल मे होने वाले ९ प्रतिनारायणों के नाम	अतीत काल के ९ प्रतिवासु देवो के नाम
६	७	८	९
नारायणों का जो तीर्थंकाल है वही इन प्रतिनारायणों का समझना चाहिये।	७ वें नरक गये।	श्री कंठ	निशुंभ
	६ वें "	हरिकंठ	विद्युत्प्रभ
	" "	नीलकंठ	धनरसिक
	" "	अश्वकंठ	मनोवेग
	" "	सुकंठ	चित्रवेग
	" "	शिखिकंठ	दृढरथ
	५ वें "	अश्वग्रीव	बज्र जंघ
	४ थे "	हयग्रीव	विद्युदन्ड़
	३ रे "	मयूरग्रीव	प्रल्हाद

सूचना—९ प्रतिनारायाण—

१. यह प्रतिनारायण पद नरक में से आने वाले जीवों का भी प्राप्त नहीं हो सकता है।

२. ये सब ही प्रतिनारायण अधोगामी अर्थात् अधोलोक जाने वाले होते है।

३. इनमें जरासंध भूमि गोचरी थे, बाकी सब विद्याधर थे।

४. रावण की लंका कहाँ है ? वर्तमान सिंहलद्वीप को बहुत से लोक 'लंका' समझते है, परन्तु इसे रावण की लंका नहीं समझना चाहिये। लवणोदधि समुद्र में सात सौ योजन लम्बा चौड़ा एक 'राक्षस' नाम का द्वीप है, उस द्वीप के मध्य भाग में मेरु पर्वत के समान 'विचित्र कूट' अथवा 'चित्रकूटाचल' नाम का एक पर्वत है। वह पर्वत ९ योजन ऊंचा और ५० योजन लम्बा चौड़ा है। उस पर्वत पर ३० योजन प्रमाण 'लंका' नाम की नगरी अत्यन्त

सभी नारायण अर्धचक्री होते हैं

जन्म भूमि

पिछले भव के स्वर्गों के नाम कहा से आए	राजधानी	जनक (पिता)	जननी, (माता)	शरीर की ऊंचाई (धनुष)	कुमार काल वर्ष	माडलिकराजा वर्ष	विजय काल वर्ष	अर्धचक्री राज्य वैभव काल प्रमाण वर्ष	पूर्ण आयुकाल प्रमाण वर्ष	पटट्रानियो के नाम
६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
महाशुक्र स्वर्ग	पौदनापुर	प्रजापति	मृगावती	८०	२५०००	२५०००	१०००	८३४९०००	८४ लाख वर्ष	सुभद्रा
०	द्वारकापुर	ब्रह्मभूत	माधवी	७०	२५०००	२५०००	१००	७१४९९००	७२ ,,	रुपिणी
लातव स्वर्ग	हस्तिनागपुर	रौद्रनन्द	पृथिवी	६०	१२५००	१२५००	९०	५९७४९१०	६० ,,	प्रभवा
सहस्त्रार ,,	,,	सौम	सीता	५०	७००	१३००	८०	२९९७९२०	३० ,,	मनोहरा
ब्रह्म ,,	चक्रपुर	प्रख्यात	अम्बिका	४५	३००	१२५०	७०	९९८३८०	१० ,,	सुनेत्रा
महेन्द्र ,,	कुणाग्रपुर	०	लक्ष्मी	२९	२५०	२५०	६०	६४४४०	६५ हजार ,,	विमलसुन्दरी
सौधर्म ,,	मिथिलापुर	शिवाकर	केशिनी	२२	२००	५०	५०	३२०००	३२ ,,	आनन्दवती
सनत्कुमार स्वर्ग	अयोध्या	दशरथ	सुमित्रा	१६	१००	३००	४०	१२०००	१२ ,,	प्रभावती
महाशुक्र ,,	मथुरा	वसुदेव	देवकी	१०	१६	५६	८	१०००	१ ,,	रुक्मिणी

सुन्दर है । पद्मपुराण में कहा है कि भीम, महाभीम नाम के यक्षों ने 'मेघ-नाद' विद्याधर से कहा था कि हम लंकापुरी आपको देते हैं । आप वहां सुख से रहना । यही आगम कथित रावण की 'लंका' समझनी चाहिये । लंकामें लंका नाम से प्रसिद्ध अन्य स्थान भी हो सकते हैं ।

५. इन पर सदाकाल १६ चमर ढुरते रहते हैं ।

६. रावण को 'राक्षस' समझना अज्ञान है । वे विद्याधर थे 'राक्षस' नामक द्वीप में रहते थे । इसी तरह रावण को 'दशकंठ' समझना भी अज्ञान है ।

कौन-कौन से तीर्थकरों के तीर्थकाल में हुए है?	आगे कौन सी गति प्राप्त की है ?	भविष्यत्काल मे होने वाले ९ नारायणों के नाम	अतीत काल के ९ नारायणो के नाम
१७	१८	१९	२०
बलदेवों का जो तीर्थकाल है, वही नारायणों का तीर्थकाल समझना चाहिये ।	७ वें नरक गये	नन्दी	काकुत्स्थ
	६ वें "	नन्दीमित्र	वरभद्र
	" "	नन्दीषेण	सुभद्र
	" "	नन्दीभूति	संश्लिष्ट
	" "	बल	वरवीर
	" "	महाबल	शत्रुंजय
	५ वे "	अतिबल	दमितारि
	४ थी भूमि "	त्रिपृष्ट	प्रियदत्त
	३ री भूमि "	द्विपृष्ट	विमलवाहन

सूचना—९ नारायण सम्बन्धी—

१. यह नारायण पद नरक मे से आने वाले जीवो को कभी भी प्राप्त नही हो सकता है, ऐसा नियम है ।

२. ये सब ही नारायण अधोगामी अर्थात् रत्नप्रभा आदि भूमियो मे जाने वाले होते है।
३. इन पर सदाकाल १६ चमर ढुरते रहते है।
४. इनके सात प्रकार के आयुध अर्थात् महारत्न होते है—
(१) सुनन्दक का नाम का खड्ग (२) पांचजन्य नाम का शंख। (३) शार्ङ्ग नाम का धनुष (४) सुदर्शन नाम का चक्र (५) कौस्तुभ नाम का मणि (६) अमोघा नाम की शक्ति। (७) कौमुदी नाम की गदा होती है।
५. राजा शिशुपाल ने कृष्ण नाम के नारायण को रुक्मिणी का हरण करते समय एक सौ गालियां दी। तदन्तर कृष्ण ने उनको मारा। इस प्रकार हरिवंश पुराण में वर्णन आया है।
६. 'त्रिपिष्ट' नाम का पहला नारायण (हरि) का जीव 'वर्धमान' तीर्थकर होकर मुक्त हुआ है। इस प्रकार उतर पुराण पर्व ७४ में लिखा है।
७. 'लक्ष्मण' नाम का ८ वां नारायण (हरि) का जीव पुष्करार्द्ध द्वीप के विदेह क्षेत्र में जन्म लेने वाला है। इस प्रकार पद्मपुराण पर्व १०६ में लिखा है।
८, कोटिशिला या कोटिकशिला आठ योजन लम्बी चौडी और एक योजन ऊँची होती है। इसको सिद्ध शिला भी कहते है—

नाभिगिरिशिरोदेशे शिला योजनमुत्थिता।
अष्टयोजनविस्तीर्णासिध्दस्थानं मुनीशिनाम्॥

इस कोटि शिला को हर एक नारायण (हरि) अपनी भुजाओं से उठाते हैं। कौन नारायण ने कहां तक उठाई थी उसका वर्णन—

(१) त्रिपृष्ट महापुरुप ने वह शिला मस्तक के ऊपर जहां तक कि भुजा पहुँचती है, वहा तक उठायी थी।

(२) द्विपृष्ट	"	वह शिला मस्तक तक उठाई थी।
(३) स्वयभू	"	" कठ तक "
(४) पुरुषोत्तम	"	" वक्षस्थल तक "
(५) पुरुषसिंह	"	" हृदय तक "
(६) पुडरीक	"	" कमर तक "

(७) दत्तक	,,	,,	जंघा तक	,,
(८) लक्ष्मण	,,	,,	घोंटे तक	,,
(९) कृष्ण	,,	,,	चार अगुल ऊँचे तक उठाई थी।	

इस प्रकार हरिवंश पुराण के त्रेपनवें सर्ग में लिखा है।

९ नारद—

क्र.	नारदों के नाम	विशेष—
१	भीम	१ नारायणों का जो तीर्थकाल है, वही इनका समझना।
२	महाभीम	२ यह नारद पद नरक में से आने वाले जीवो को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है।
३	रौद्र (रुद्र)	
४	महारौद्र	३ सब ही नारद अधोगामी अर्थात् अधोलोक जाने वाले होते है।
५	काल	
६	महाकाल	४ सब ही कलहप्रिय होते हैं और धर्म विषय में भी रत होते हैं, सब ही भव्य होने से परंपरा से मुक्तिगामी होते है। वर्तमान में सभी हिसा दोष से अधोलोक जाते हैं।
७	दुर्मुख	
८	नरमुख	
९	अधोमुख	५ इनके शरीर की ऊँचाई, आयु आदि के विषय में सामग्री उपलब्धि नही हो सकने से नहीं दे सके हैं।

क्षमा की भूमिका

क्षमावान ही वीर है, क्षमावान ही धीर—
क्षमा-खड्ग हो हाथ में हरे हृदय की पीर ॥
क्षमा ढाल हो हाथ में, साहस की तलवार—
शत्रु मित्र हो जायगा, कौन करेगा वार ॥

९ बलदेव—इनको बलभद्र, रामचन्द्र, राम ऐसा भी कहते हैं

बलभद्रों के पूर्व के तीन भवान्तर— जन्मभूमि—

क्रमांक	बलदेवो के नाम	पिछले तीसरे भव के नगर	पिछले तीसरे भव का नाम	वहा के उनके गुरुओ के नाम	पिछले भव के स्वर्गादिको के नाम	राजधानी	जनक (पिता)	जननी (माता)	दीक्षा गुरुओ के नाम	शरीर की ऊचाई (धनुष)
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
१	विजय	पु डरीकिनी	बाल	अमृतार	अनुत्तरविमान	पौदनापुर	प्रजापति	भद्राभोजा	सुवर्णकु भ	८०
२	अचल	पृथिवी	मारुतदेव	महासुव्रत	,,	द्वारकापुरी	ब्रह्मभूत	सुभद्रा	सत्यकीर्ति	७०
३	सुधर्म [धर्मप्रभ]	आनदपुरी	नन्दीमित्र	सुव्रत	,,	हस्तिनागपुर	रौद्रनन्द	सुवेषा	सुधर्म	६०
४	सुप्रभ	नन्दपुरी	महाबल	वृषभ	सहस्रार स्वर्ग	,,	सौम	सुदर्शना	मृगाक	५०
५	सुवर्शन	वीतशोका	पुरुषर्षभ	प्रजापाल	,,	चक्रपुर (खगपुर)	प्रख्यात	सुप्रभा	श्रुतिकीर्ति	४५
६	नन्दीषेण [आनद]	विजयपुर	सुदर्शन	दम्बर	,,	कुशाग्रपुर	०	विजया	सुमित्र	२९
७	नन्दीमित्र [नन्दन]	सुसीमा	वसुधर	सुधर्म	ब्रह्मस्वर्ग	मिथिलापुर	शिवाकर	वैजयन्ती	भवनश्रुत	२२
८	रामचन्द्र	क्षेमा	श्री रामचन्द्र	आर्णव	,,	अयोध्या	दशरथ	अपराजित [कौशल्या]	सुव्रत	१६
९	बलिराम [पद्म]	हस्तिनागपुर	शख	विद्रु म	महाशुक्र स्वर्ग	मथुरा [शौरीपुर]	वसुदेव	रोहिणी	सिद्धार्थ	१०

१ यह बलदेव पद नरक से आने वाले जीवो को नही प्राप्त होता है ।

२ सब ही बलदेव ऊर्ध्वगामी अर्थात स्वर्ग और मोक्ष जाने वाले होते है ।

३ बलदेवो के पाच रत्न अर्थात् आयुध होते हैं ।
[१] [रत्नमाला] [हार] [२] लागल अपराजित हल [३] मूसल [३] स्यनन्दन [दिव्य गदा] कोई रथ भी कहते है ।
[५] शक्ति-ये पाच रत्न क्रीडा मात्र से शत्रुओ का मान मर्दन करने वाले बलदेवो के होते है ।

बल देव का वर्णन—

क्र.	आयु प्रमाण वर्ष	कौन-कौन से तीर्थंकरो के तीर्थकाल मे हुए हैं।	निर्वाण क्षेत्रों के नाम	आगे कौन सी गती प्राप्त की	भविष्यत्काल में होने वाले ९ बलदेव के नाम	अतीत काल के ९ बल-देव के नाम
	१२	१३	१४	१५	१६	१७
१	८७ लाख वर्ष	श्रेयासनाथ के तीर्थकाल मे हुए	गज पथगिरी	सिद्ध भये	चन्द्र	श्री कान्त
२	७७ ,,	वासुपूज्य के तीर्थकाल मे हुए	गजपथागिरि	सिद्ध भये	महाचन्द्र	कान्तचित्त
३	६७ ,,	विमलनाथ ,, ,,	,,	,,	वरचन्द्र	वरबुद्धि
४	३७ ,,	अनन्तनाथ ,, ,,	,,	,,	वरचन्द्र	मनोरथ
५	१७ ,,	धर्मनाथ ,, ,,	,,	,,	सिंहचन्द्र	दयामूर्ति
६	६७ हजार वर्ष	अरहनाथ और मल्लिनाथ के अन्तराल काल में हुए।	,,	,,	हरिचन्द्र	विपुलकीर्ति
७	३७ ,,	मुनिसव्रत और मल्लिनाथ के अन्तराल काल मे हुए।	,,	,,	श्रीचन्द्र	प्रभाकर
८	१७ ,,	मुनिसुव्रत और नमिनाथ के अंतराल काल मे हुए।	तुंगीगिरी	,,	पूर्णचन्द्र	सजयन्द
९	१२ ,,	नेमिनाथ के तीर्थ काल मे हुये है।	—	ब्रह्मस्वर्ग गये	सुभचन्द्र	जयन्त

११ रुद्र

क्रमांक	रुद्रो के नाम	पूर्व आयु मे से कुमार कालादि काल प्रमाण: शरीर की ऊचाई (धनुष प्रमाण)	कुमार काल प्रमाण	सयमकाल प्रमाण	तप भग काल प्रमाण	पूर्ण आयु काल प्रमाण	कौन कौन से तीर्थंकरो के तीर्थ काल मे हो गये।	आगे कौन सी गति प्राप्त की है।
१	२	३	४	५	६	७	८	९
१	भीम (महाबली)	५००	२७६६६६६ पूर्व	२७६६६६८ पूर्व	२७६६६६६ पूर्व	८३ लाख पूर्व	ऋषभनाथ के तीर्थंकाल मे हो गये	७वे नरक गये
२	बली (जितशत्रु)	४५०	२३६६६६६ ,,	२३६६६६८ ,,	२३६६६६६ ,,	७१ ,,	अजितनाथ ,,	,, ,,
३	शम्भु (रुद्र)	१००	६६६६६ ,,	६६६६८ ,,	६६६६६ ,,	२ ,,	पुष्पदन्त ,,	६ ,,
४	विश्वानल (वैश्वानर)	९०	३३३३३ ,,	३३३३४ ,,	३३३३३ ,,	१ ,,	शीतलनाथ ,,	,, ,,
५	सुप्रतिष्ठ	८०	२८ लाख वर्ष	२८ लाख वर्ष	२८ लाख वर्ष	८४ लाख वर्ष	श्रेयासनाथ ,,	,, ,,
६	अचल (बल)	७०	२० ,,	२० ,,	२० ,,	६० ,,	वासुपूज्य ,,	,, ,,
७	पुडरीक	६०	१६६६६६६ वर्ष	१६६६६६८ वर्ष	१६६६६६६ वर्ष	५० ,,	विमलनाथ ,,	,, ,,
८	अजितधर	५०	१३३३३३३ ,,	१३३३३३४ ,,	१३३३३३३ ,,	४० ,,	अनन्तनाथ ,,	,, ,,
९	जितनाभि (अजितनाभि)	२८	६६६६६६ ,,	६६६६६८ ,,	६६६६६६ ,,	२० ,,	धर्मनाथ ,,	४ थे ,,
१०	पीठ	२४	३३३३३३ ,,	३३३३३३४ ,,	३३३३३३ ,,	१० ,,	शान्तिनाथ ,,	,, ,,
११	महादेव (सात्यकी पुत्र-स्थाणु)	७ हाथ	७ ,,	३४ ,,	२८ ,,	६७ वर्ष	महावीर ,,	३ री भूमि

१ यह रुद्र पद नरक से आने वाले जीवों को कभी भी प्राप्त नही हो सकता है, ऐसा नियम है।

२ सब ही रुद्र अधोगामी अर्थात् अधोलोक जाने वाले होते है।

अध्याय दसवां : कामदेवमहापुरुष और विदेह क्षेत्र का वर्णन

पुण्य कर्म के उदय से अत्यंत सुन्दर रूप धारण करने वाला जितेन्द्रिय सत्पुरुष कामदेव पदवी का धारक होता है। त्रिलोक पज्ञप्ति में लिखा है—

कालेसु जिणवराणं चउवीसाणं हवन्ति चउवीसा।
ते बाहुब्बलिपमुहा कंदप्पा णिरु वमायरा ।।

अर्थात्—चौवीस तीर्थकरों के काल में चौवीस कामदेव होते हैं। इनका सौन्दर्य अनुपम होता है। परन्तु इस हुन्डावासर्पिणी काल के दोष से कामदेव पदवी प्राप्त महापुरुषों में भगवान शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ तथा अरहनाथ तीर्थकरो का कथन आगम में आया है।

कामदेवों का वर्णन पढ़ते समय किसी के मन मे यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि जिनेन्द्र भगवान ने काम को जीता था, इसलिये सहस्त्र नाम पाठ मे उन्हे जित-कामारिः कहा है—

"अजितो जितकामारिरमिलऽमितशासनः जित क्रोधो जितमित्रो जितक्लेशो जितान्तकः" ७–२

प्रश्न :—वैदिक पुराणों में कथा आई है कि शिवजी ने अपने तीसरे नेत्र से काम को जलाया था, इसलिये इस विषय का समाधान आवश्यक है कि कामदेव का यथार्थ स्वरूप क्या है?

उत्तर:—काम शब्द द्वारा लोक जीव के विकारी भावो को ग्रहण किया जाता है। यह विकार मन में उत्पन्न होने से काम को मनसिज, मनोज, मनोभू आदि नामो से जन पुकारते हैं। इस कामभाव के कारण पुरुष स्त्री शरीर के प्रति उसी प्रकार आकर्षित होकर विनाश को प्राप्त करता है, जिस प्रकार प्रकाश प्रेमी पतगा दीपक की ज्योति मे आसक्त होकर जल जाता है। जिनेन्द्र भगवान ने अपने आत्मबल और समाधि की प्रचंड अग्नि में उस काम विकार को सदा के लिये स्वाहा कर दिया। जिसके इशारे पर देव, दानव, मानव, पक्षी, पशु आदि जीव नाचा करते है। वैदिक पुराणों

तथा अन्य धर्म के ग्रन्थो में इस बात की कथाएँ है कि काम ने अपने हथियार न्कामिनी के द्वारा उनके धर्म मे माने गये भगवान ब्रह्मा आदि की तपस्या का छेद कर किस प्रकार की दुर्गति की है । इस काम को मन्मथ भी कहते है । दधि मन्थन करने वाले काष्ठ यत्र के सचालन द्वारा जैसे दधि का मन्थन होता है, उसी प्रकार काम पिशाच द्वारा भी पीडित पुरुष की मानसिक स्थिति होती है । अतएव इस काम वासना का क्षय करने के कारण जिनेन्द्र भगवान को जितकामारि कहा है । अनत प्राणियों को अपने वश मे करने वाले काम का नाश करने से जिनेन्द्र भगवान मे अनत शक्ति का सद्भाव भी शास्त्रकारो ने सूचित किया है ।

महादेव ने अपने तृतीय नेत्र द्वारा कामदेव को नष्ट कर दिया है, यह पौराणिक कथन वैज्ञानिक सत्य शून्य है । यदि शम्भु ने काम को जीत लिया या जला दिया तो फिर अपने आधे अग मे प्रिय पत्नी पार्वती को स्थान देने का और अर्ध नारीश्वर नाम प्राप्त करने का क्या प्रयोजन है । शभु के शरीर मे काम के विनाश से उत्पन्न भस्म का लगाना विनोदस्पद है । जबकि विष्णु अपनी प्रिय वनिता से क्षण भर भी वियोग सहने की क्षमता शून्य है ।

महाकवि धनजय ने विषापहार स्तोत्र मे ऋषभ जिनेन्द्र को काय का विनाशक स्वीकार किया है । कवि के शब्द है—

स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मिन्नुद्धूलितात्मा यदि शंभुः ।
अशेत वृंदोपहतोऽपि विष्णुः किं गृह्यते येन भवानजागः ।।१६२२।।

इसका हिन्दी पद्य में इस प्रकार भाव समझाया गया है—

कामदेव का किया भस्म जगत्राता थे ही,
लीनी भस्म लपेटि नाम शंभु निजदेही ।
सोतो होय अचेत विष्णु वनिता करि हार्यो,
तुमकौं काम न ग्रहै आप घट सदा उजार्यो ।।१६२३।।

वैदिक सत भर्तृहरि ने अपने वैराग्य शतक मे भोगियो मे मुख्य रूप से अपनी प्रियतमा को शरीर मे निरन्तर धारण करने वाले शभु का उदाहरण दिया है और स्त्री ससर्ग का सदा के लिये त्याग करने वाले जिनेन्द्र वीतराग का विशेष रूप से उल्लेख किया है ।

जैन आगम ग्रन्थों के एक सौ उनहत्तर विशिष्ट महापुरुषों मे २४ व्यक्तियो को कामदेव पदवी का धारक बताया है। जिनकी अलौकिक मूर्ति उनके काम विजेता-पने तथा वीतराग के उज्ज्वल भावो को प्रभावक रूप में व्यक्त करती हुई श्रमण बेलगोला के विध्यगिरि पर शोभायमान होती है, उन बाहुबलि भगवान का चौबीस काम देवों में आद्य स्थान है, हनुमानजी की भी कामदेवो मे गणना की जाती है, महाराज श्रीकृष्ण नारायण के पुत्र प्रद्युम्न की भी कामदेवो मे गणना की जाती है। कामदेव पदवी के धारक, जिनदेव तथा जिन शासन के परम भक्त होते है। इनका अनुपम सौन्दर्य रमणी वर्ग के मन को मुग्ध करता है। सौन्दर्य के सिन्धु होते हुये भी इनकी मनोवृत्ति गृहस्थ जीवन में परनारी के प्रति मातृत्व की आदर्श भावना से अलकृत रहती है।

अनगार धर्मामृत में लिखा है कि अनेक रूपवती सुन्दरियां जिनके सौन्दर्य से आकर्षित होकर उनकी आकांक्षा करे, किन्तु जो जितेन्द्रिय सत्पुरुष अपने को निर्विकार रखें ऐसा जितेन्द्रिय महा-मना मानव कामदेव के नाम से जैन महापुरुषो की सूची मे शोभायमान होता है।

प्रथम कामदेव बाहुबलि स्वामी ने मुनि दीक्षा धारण करके एक वर्ष का उपवास किया था। कहा जाता है कि वे अंगूठे के बल पर खड़े रहे, क्योकि उनके मन मे इस बात का खेद था कि वे भरत की भूमि पर खडे हुये है। बाहुबलि जैसे विचारवान व्यक्ति के मन मे इस प्रकार की शल्य विचित्र सी दिखती है।

इस विषय मे महापुराणकार जिनसेन स्वामी ने इस सम्बन्ध से महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। उन्होने लिखा है "बाहुबलि ने एक वर्ष का उपवास धारण किया था। जिस दिन वह एक वर्ष का उपवास पुरा हुआ उसी दिन भरत ने आकर उनकी पूजा की। उसी समय उन्हें अविनाशी केवलज्ञान रूपी परमज्योति प्राप्त हुई। युद्ध के समय मेरे द्वारा भरतेश्वर को क्लेश पहुचा है। इस प्रकार का प्रेम बाहुबलि के हृदय में बैठा हुआ था, इसलिये उस केवल ज्ञान ने भरत द्वारा पूजा की अपेक्षा की थी।

भावार्थ—भरत को मुझसे कष्ट पहुचा है, यह प्रेम का भाव बाहुबलि स्वामी के हृदय में था। वह भरत के पूजा करते ही निकल गया और उस प्रेम रूप भाव के निकलते ही उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया। महापुराणकार के शब्द ये है—

संक्लिष्टों भरताधीशः सोऽस्मत्त इति यत्किल ।
हृद्यस्य हार्दं तेनासीत्तत्पूजाऽपेक्षि केवलं ।।१६२४।।

भरतेश्वर ने केवलज्ञान उत्पन्न होने के पहले जो बाहुबलि की पूजा की थी, वह अपने अपराध नाश करने के लिये की थी और केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद जो पूजा की थी, वह केवलज्ञान उत्पन्न होने का आनन्द मनाने के लिये की थी ।

चक्रवर्ती ने जो बाहुबलि केवली की पूजा रत्नमयी की थी, उसका महाकवि ने इस प्रकार वर्णन किया है "भरतेश्वर ने रत्नो का अर्घं चढाया था । गगा के जल की जलधारा दी थी । रत्नो की ज्योति के दीपक चढाये थे । मोतियों से अक्षत की पूजा की थी, अमृत के पिंड का नैवेद्य चढाया था । मलयागिरि चदन की धूप चढ़ाई थी, पारिजात आदि देव वृक्षो के फूलो से पुष्पपूजा की थी ।

सरत्ना निधयः सर्वे फलस्थाने नियोजिताः ।
पूजां रत्नमयीमित्थं रत्नेशो निरवर्तयत् ।।१६२५।।

फलो की जगह चक्रवर्ती भरत ने सब रत्न और निधियाँ चढ़ा दी थी । इस प्रकार उन रत्नो के स्वामी भरतेश्वर ने रत्नमयी पूजा की थी ।

जिनसेन स्वामी ने जो समाधान किया है, वह आगम का कथन होने से मान्य है ही, साथ मे पूर्णतया मनोवैज्ञानिक भी है । इस पूजा द्वारा भरतेश्वर की उज्ज्वल, उदात्त तथा उत्कृष्ट गुरुभक्ति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है ।

चौबीस कामदेवो मे हनुमानजी का भी नाम आता है। कामदेव अपने शरीर सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध रहते है । इस पर यह शका उत्पन्न होती है कि जगत में हनुमान का आकार बन्दर का माना गया है । उसके श्रेष्ठ सौन्दर्य की कल्पना विचित्र सी लगती है । यथार्थ रहस्य क्या है ?

हिन्दू पुराणो मे राम भक्त हनुमान को वानर स्वीकार किया है । जैन ग्रन्थों मे ऐसा कथन नही है । हिन्दू ग्रन्थ हनुमान को पवन अर्थात् वायु का पुत्र कहते है । जैन शास्त्रो में ऐसी तर्क तथा युक्ति विरोधी मान्यता को तनिक भी स्थान नही है । महाराज पवनजय विद्याधरो के राजा थे । उनको पुरुष पर्याय वाला माना है । उनके पुण्यवान, प्रतापी तथा चरम शरीरी पुत्र का नाम हनुमान था । उनकी ध्वजा मे वानर का चिन्ह था । इससे उनको 'कपिध्वज' माना है । इन वानर चिन्ह के कारण

विद्याधरों के लिये वानर शब्द का व्यवहार चल पड़ा। यही कथन पद्मपुराण पर्व १६ आया है—

अयं तु व्यक्त एवास्ति शब्दोऽन्यत्र प्रयोगवान्।
यष्टि हस्तो यथा यष्टिः कुंतकरस्तथा ॥१६२६॥
तथा वानर चिन्हेन छत्रादि विनिवेशिना।
विद्याधरा गता ख्याति वानरा इति विष्टपे ॥१६२७॥

यह बात स्पष्ट है कि एक शब्द का दूसरे स्थान पर भी प्रयोग होता है। यष्टि अर्थात् लाठी को हाथ में रखने वाले पुरुष को यष्टि कहते है, इसी प्रकार कुंत अर्थात् भाले को हाथ मे रखने वाले को कुन्त कहते है। इसी प्रकार छत्रादि मे विद्यमान वानर चिन्ह के कारण विद्याधर लोगों की जगत मे वानर रूप से प्रसिद्धि हुई।

ग्रन्थ का यह पद भी महत्त्वपूर्ण है—

एवं वानरकेतूनां वंशे संख्यात विर्वाजिताः।
आत्मीयैः कर्मभिः प्राप्ताः स्वर्ग मोक्षं च मानवाः ॥१६२८॥

इन वानर ध्वजा वालो के वश में उत्पन्न होने वाले असख्य मानवो ने अपने उद्योग के द्वारा स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त किया है।

इससे हनुमान के विषय में शका को रंचमात्र भी स्थान नही रहता है। महान् पुण्यात्मा, बलशाली, ज्ञानवान हनुमान विद्याओ के स्वामी पुरुषरत्न थे। उसकी ध्वजा मे वानर का चिन्ह था। आज भी भिन्न-भिन्न राष्ट्रो के ध्वजचिन्ह अनेक प्रकार के रहते है। उन चिन्हो के कारण उन राष्ट्रो को चिन्हात्मक स्वीकार करने पर बड़ा अनर्थ हो जायेगा। भारत का झडा तिरगा है। इससे भारतवासी को कोई तीन रंग वाला मानने लगे, तो जैसे उसे अज्ञानी कहेगे। उसी प्रकार कपि का ध्वज होने के कारण हनुमान को कपि मानकर वैसा श्रद्धान न करना होगा।

हिन्दू पुराणों की दृष्टि और सर्वज्ञ ज्ञान से प्रकाशित जैन दृष्टि मे बहुत अन्तर है। उदाहरणार्थ द्रौपदी का पचभर्तारी मानना। जहा सती सीता को एक रामचन्द्र को ही पतिदेव स्वीकार करने के कारण स्तुति की गई है, वहा द्रौपदी को पांच व्यक्तियो की पत्नी कहना महान अपवादपूर्ण वाणी है। शील तथा सदाचार के विपरीत है।

हरिवश पुराण मे कहा है कि पूर्व जन्म के स्नेह से द्रुपद राजा की पुत्री द्रौपदी ने अर्जुन को ही पति स्वीकार किया था। द्रौपदी के पच भर्तारी रूप से अपवाद का कारण पूर्व जन्म का निदान बध रहा है। द्रौपदी ने अपने पुर्वभव मे बहुत व्रत पालन किये थे। उसकी दृष्टि वसतसेना वेश्या पर पडी जो अनेक कामी व्यक्तियो से घिरी हुई थी। उसे देखकर द्रौपदी के जीव ने वसतसेना के समान सौभाग्य की मनोकामना की थी उसके फलस्वरूप द्रौपदी को सती होते हुये भी पचभर्तारी रूप का अपवाद प्राप्त हुआ। हरिवश पुराण के ये वाक्य ध्यान देने योग्य है—

वसंतसेनां गणिकां कामुकैः परिवेष्टितां।
दृष्ट्वा वन-विहारेऽसावेकदा क्रीडनोद्यतां ॥१६२६॥
निदानमकरोत् क्लिष्टा दुर्यशः प्राप्तिकारणम्।
सौभाग्यमीदृशं मेऽन्ये जन्मन्यस्त्विति सादरा ॥१६३०॥

अतएव द्रौपदी को सीता की तरह सती मानना चाहिये। सीता जिस प्रकार रामचन्द्र की रानी थी, इसी प्रकार द्रौपदी अर्जुन की रानी थी। सती स्त्री का अपवाद महान पाप का कारण है, अतएव सती द्रौपदी को पचभर्तारी मानने की कल्पना भी पाप का कारण होगी।

हिन्दू परम्परा मे भी द्रौपदी की अहिल्या, सीता, तारा, मदोदरी के साथ पचमहापतिव्रताओ में गणना की जाती है—

अहिल्या द्रौपदी सीता तारा मंदोदरी तथा।
पंचसाध्वीं स्मरेन्नित्य महापातकनाशिनीम् ॥१६३१॥

२४—कामदेव महापुरुष

न०	कामदेवो के नाम	कौन से तीर्थकाल मे हुए ?	कौन सी गति प्राप्त की ?	निर्वाण क्षेत्र
१	२	३	४	५
१	बाहुबलि	ऋषभनाथ	सिद्ध भए	पोदनपुर
२	प्रजापति	अजित	"	"
३	श्रीधर	सभवनाथ	"	"
४	दर्शनभद्र	अभिनन्दन	"	"

१	२	३	४	५
५	प्रसेनचन्द्र	सुमतिनाथ	,,	,,
६	चन्द्रवर्ण	पद्मप्रभ	,,	,,
७	अग्निमुख	सुपार्श्वनाथ	,,	,,
८	सनत्कुमार	चन्द्रप्रभ	,,	सिद्धवरकूट
९	वत्सराज	पुष्पदन्त	,,	,,
१०	कनकप्रभ	शीतलनाथ	,,	,,
११	मेघप्रभ	श्रेयांसनाथ	,,	,,
१२	शान्तिनाथ	शान्तिनाथ	,,	सम्मेदशिखर
१३	कुन्थुनाथ	कुन्थुनाथ	,,	,,
१४	अरहनाथ	अरहनाथ	,,	,,
१५	विजयराज	,,	,,	सिद्धवरकूट
१६	श्रीचन्द्र	मल्लिनाथ	,,	,,
१७	नलराज	,,	,,	,,
१८	हनुमन्त	मुनिसुव्रत	,,	तुंगगिरि
१९	बलिराज	नमिनाथ	,,	सिद्धवरकूट
२०	वसुदेव	नेमिनाथ	,,	,,
२१	प्रद्युम्न	,,	,,	ऊर्जयन्तगिरि
२२	नागकुमार	पार्श्वनाथ	,,	कैलास पर्वत
२३	जीवन्धर	महावीर	,,	सिद्धवरकूट
२४	जम्बूस्वामी	,,	,,	जम्बूवन

विदेह क्षेत्र का स्वरूप :—

श्री अकलंक स्वामी ने राजवार्तिक अध्याय ३ पृ० १२२ मे लिखा है :—'तत्र हि मुनियो देहोच्छेदार्थं यतमानाः विदेहत्वमास्त्रदति' वहां मुनिगण देहत्यागार्थं उद्योग करते हुये देहरहितपना अर्थात् सिद्ध पद प्राप्त करते है ।

प्रश्न :—ननु च भरतैरावतयोरपि विदेहा: ? ऐसी स्थिति में भरत और ऐरावत भी विदेह कहे जावेंगे, क्योंकि वहां से सिद्ध पद प्राप्त होता है।

उत्तर :—'सत्य सति कदाचिन्नतु सर्व काल, तत्र तु सततं धर्मोच्छेदाभावाद् विदेहा: संति, प्रकर्षापेक्षोविदेहव्यपदेश:'।

ठीक है भरत ऐरावत से सर्वकाल मोक्ष नही होता है। किन्तु दुखमा सुखमा काल मे ही विदेहता होती है। विदेह क्षेत्र में कभी भी धर्म का उच्छेद नही होता है, अतः अधिकता की अपेक्षा उस क्षेत्र को विदेह कहा गया है।

विदेह क्षेत्र के तीर्थंकर केवलियो के कल्याणक :—

पूर्व पश्चिम दोनो विदेह क्षेत्रो मे अर्थात् पच मेरु सम्बन्धी १६० विदेह क्षेत्रो में होने वाले तीर्थंकरो के लिए ऐसा नियम नही है कि जैसा भरत और ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकर पचकल्याणक वाले होते है, वहां तीर्थंकर प्रकृति का बध करने वाला व्यक्ति यदि चरम शरीरी हो अर्थात् उसी भव से मोक्ष प्राप्त करने वाला हो और गृहस्थ अवस्था में रहते हुए उसने तीर्थंकर प्रकृति का बध कर लिया हो तो उसके तीन कल्याणक (तप, ज्ञान और मोक्ष) होते है। और जिसने मुनि होकर तीर्थंकर प्रकृति का बध कर लिया हो तो उसके दो कल्याणक (ज्ञान और मोक्ष) होते है। यदि वह चरम शरीरी नही होगा अर्थात् जिसने पहले भव मे तीर्थंकर प्रकृति का बध किया है, तो वह गर्भ जन्मादि पच कल्याणको का स्वामी होगा। यहाँ दोनो प्रकार के महापुरुष होते है। किन्ही के पाचो कल्याणक होते है और किन्ही के कम भी होते है।

त्रिलोकसार मे लिखा है कि विदेह क्षेत्र मे सदा केवली भगवान, शलाका पुरुप, ऋद्धिधारी मुनीश्वरो की विपुल सख्या पायी जाती है, इससे वहा दुर्भिक्ष, ईति, भीति, कुदेव तथा मिथ्यालिगी और उनके पूजक मिथ्यामतियो का अभाव रहता है। उक्त च :—

देसा दुब्भिक्खीदो–मारि–कुदेव–वण्णलिंगिमदहीणा।
भरिदा सदावि केवलि–सलाग–पुरिसिड्ढि–साहूहिं ॥६३२॥

गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ५०६ की जीव प्रबोधिनी संस्कृत टीका में लिखा है, 'तीर्थबधप्रारंभश्चर मांगासंयत देशसयतयोस्तदा कल्याणानि निष्क्रमणादीनि

त्रीरिए, प्रमत्ता प्रमत्ता प्रमत्तयोस्तदा ज्ञाननिर्वाणे द्वे प्राग्भवे तदा गर्भावतारादीनि पंचेत्यवसेयं' (पृ० ७०८) अर्थात् चरमशरीरी असंयत द्वारा जब तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारम्भ होता है, तब उनके तप, ज्ञान तथा निर्वाण ये तीन कल्याणक होते है। प्रमत्त गुणस्थान वाले चरम शरीरी व्यक्तियों द्वारा जब तीर्थंकर प्रकृति का बंध आरम्भ किया जाता है। तब उनके ज्ञान कल्याणक तथा मोक्ष कल्याणक, ये दो होते है। जब पूर्व भव में तीर्थंकर प्रकृति का वध किया जाता है, तो पांचो कल्याणक होते है।

भरत तथा ऐरावत में पंच कल्याणक वाले ही तीर्थंकर होते है। उपरोक्त शास्त्राधार से यह बात निराबाध सिद्ध होती है। जिन तीर्थंकरो के तीन या दो कल्याणक होते है, उनके दस जन्मातिशय होंगे या नही, यह विचारणीय बात है। तर्क की दृष्टि से उनके अर्हंत अवस्था में ३६ गुण मानना होगा। यदि इसके विरोध मे आगम की वाणी मिले तो तदनुसार ही श्रद्धा करना उचित है। सामान्य केवली के भी ३६ गुण मानना ठीक जंचता है। हमें स्पष्ट रूप से आगम का आधार नही मिला।

विदेह क्षेत्र में मोक्ष के योग्य संहननादि समुचित सामग्री की सदा उपलब्धि होने से वहां मोक्ष का मार्ग सतत चलता रहता है। अतएव मुमुक्षु मानव मे ऐसी इच्छा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि इस दुषमा काल की क्रीडा भूमि मे पाप प्रचुर पंचम काल युक्त भरत क्षेत्र से निकलकर तीर्थंकर केवली आदि के विहार से पुनीत विदेह मे जाकर यह जीव आत्मा का कल्याण करे। इसका क्या उपाय है ? यदि सम्यक्त्व की उपलब्धि हेतु है, तो बात बड़ी कठिन है, कारण सम्यक्त्व की चर्चा चाहे जितनी की जाय और जो चाहे करे, उस सम्यक्त्व रत्न के स्वामी उस क्षेत्र मे दो चार अर्थात् अंगुलियों पर गिनने लायक कहे गये है।

समाधान :—उक्त शंका का निराकरण इस गाथा द्वारा होता है, जो बताती है, कि इस काल में भरत क्षेत्र से १२३ भद्र परिणाम वाले यहा से पूर्व विदेह में जावेंगे, और नौमे वर्ष मे केवलज्ञान को प्राप्त करके केवली भगवान होगे। सिद्धान्त सार की वह गाथा इस प्रकार है :—

जीवा सय-तेईसा पंचमकाले य भद्दपरिणामा।
उप्पाइ पुव्वविदेहे नवमइवरसे दु केवली होदि ॥१६३३॥

यहा से विदेह जाने वाले जीव के सम्यक्त्व का अभाव आवश्यक है। यदि सम्यक्त्वी जीव है, तो वह मरणकर देव पर्याय को प्राप्त करेगा, कारण यहा नरकायु की बधव्युच्छित्ति प्रथम गुणस्थान मे होती है। सासादन गुणस्थान में तिर्यचायु के साथ मनुष्यायु की बधव्युच्छित्ति हो जाने से अविरत सम्यक्त्वी जीव देवायु का ही यहा से बध करेगा। गोम्मटसार कर्मकाड की गाथा ११० तथा १०८ मे बताया है कि मनुष्यो तथा तिर्यचो के वज्रवृषभनाराच सहनन औदारिक शरीर औदारिक आगोपांग मनुष्यायु, मनुष्यगति तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी इन छह प्रकृतियो की बधव्युच्छित्ति चौथे गुणस्थान के बदले दूसरे गुणस्थान मे होती है। कहा भी है :—

उवरिम छण्हं च छिदी सासणसम्मे हवे णियमा ॥

ऐसी स्थिति मे सम्यक्त्वी मनुष्य आगामी देवायु का बंध करेगा। विदेह में जाने वाला मनुष्य सम्यक्त्व सहित मरण नही करेगा। ऐसी कर्म सिद्धान्त की व्यवस्था होने से धार्मिक व्यक्तियो के मन मे भवित, व्रत, सयम की ओर विशेष अनुराग उत्पन्न होना चाहिये। कारण यह किसे मालूम है कि भरत से विदेह जाने वाले भद्र परिणामी १२३ जीवो मे किसको स्थान प्राप्त होता है। तत्व की बात यह है कि काल की कलुपता का आश्रय लेकर अकर्मण्यता को नही अपनाना चाहिये तथा विषयो का दास न बनकर आत्मकल्याण के लिए बुद्धि तथा विवेक पूर्वक उद्योग करते रहना चाहिये। पुरुषार्थी नररत्न ही जयश्री को वरण करते है। प्रमादी का भविष्य सदा अधकार मे रहता है।

इस गाथा के भाव को स्मरण रखते हुए विचारवान मानव को आत्म हितार्थ उद्योग करना चाहिये। इसी से क्षपकराज आचार्य शातिसागर महाराज ने अपनी मगलवाणी मे कहा था, वत्स! डरो मत—'बाबलो भीऊ नका।'

वर्तमान के विदेह क्षेत्रस्थ विंशति तीर्थकरों के नाम चिन्हादि :—

न	तीर्थकरो के नाम	चिन्ह	पिता का नाम	माता का नाम	नगरी के नाम
१	सीमन्धर	वृषभ	श्रेयास	सत्यदेवी	पुंडरीकिणी
२.	युगमन्धर	हाथी	सुदृढरथ	सुतारा	सुसीमा
३	बाहु	मृग	सुग्रीव	विजया	अयोध्या

१	२	३	४	५	६
४.	सुवाहु	कपिल	निशाटिल	सुनन्दा	अलकापुरी
५.	सुजात (सजातक)	सूरज	देवसेन	सेना	विजया
६.	स्वयंप्रभ	चन्द्रमा	मित्रभूत	सुमंगला	सुषीमा
७.	ऋषभानन	हरि	कीरत	वीरसेना	अयोध्या
८.	अनन्तवीर्य	गज	मेघ	सुमंगला	विजया
९.	सुरप्रभ (सूर्यप्रभ)	सूर्य	नागराय	भद्रा	पुंडरीकिणी
१०.	विशालकीर्ति	चन्द्रमा	विजमुराय	विजया	सुसीमा
११.	वज्रधर	शंख	पद्मरथ	सरस्वती	पुण्डरीकिणी
१२.	चन्द्रानन	वृषभ	वाल्मीकि	पद्मावती	विनीता
१३.	भद्रबाहु (चन्द्रबाहु)	पद्म	देवनन्दी	सुरेणुका	विजया
१४.	भुजंगम	चन्द्रमा	महाबल	महिमा	सुसीमा
१५.	ईश्वर	सूर्य	गलसेन	ज्वाला	अयोध्या
१६.	नेमप्रभ (नमि)	वृषभ	वीरसेन	सेना	पुण्डरीकिणी
१७.	वीरसेन	ऐरावत	भोपाल भुवपाल	सुभानुमति	विजया
१८.	महाभद्र	चन्द्रमा	देवराज	उमादेवी	सुसीमा
१९.	देवयश (यशकीर्ति)	साथिया	श्रवभूत	गंगादेवी	अयोध्या
२०.	अजितवीर्य	पद्म	सुबोध	कनका	अयोध्या

प्रश्न—जिनालय से मानस्तंभ कितना बड़ा होना चाहिये ?

उत्तर—मानस्तम्भ मूल नायक प्रतिमा से १२ गुणा बड़ा बनाना चाहिये। किसी आचार्य के मत से जिनालय से १ हाथ ऊंचा होना चाहिये।

प्रश्न—पर्यूषण किसे कहते हैं ?

उत्तर—उपन्ते दह्यन्ते पापकर्माणि यस्मिन् तत् पर्यूषणम्। जो पाप कर्मो को नष्ट करता है, जलाता है, उसे पर्यूषण कहते हैं।

प्रश्न—अरहंत भगवान की दिव्यध्वनि कितनी बार खिरती है ?

उत्तर—अरहन्त भगवान की दिव्यध्वनि त्रिकाल—प्रातः, मध्याह्न और

सायकाल स्वभाव से ६–६ घडी खिरती है। किन्तु धवला और तिलोयपण्णत्ति मे त्रिकाल के अतिरिक्त चतुर्थ समय मे नही खिरती है। और ६–६ घडी वाणी खिरती है, ऐसा लिखा है। यह भगवान महावीर और हुण्डावसर्पिणीकालापेक्षा है। बाकी तीर्थकरो की दिव्यध्वनि अर्धरात्रि को भी खिरती है। अर्थात् चार बार भी खिरती है।

पुव्वण्हे मज्झण्णे अवरण्हे मज्झिम मायें रत्तिए।
छच्छग्घडियाणिग्गयदिव्व झुणी कहइ सुतत्थे ॥१६३४॥

प्रश्न—जीवत्रस पर्याय पाकर पुनः निगोद में कितने काल में चला जाता है ?

उत्तर—नित्यनिगोद से निकल कर त्रस पर्याय पाकर ६६ कोटि पूर्व २ हजार सागर वर्ष प्रमाण समय मे जीव या तो मोक्ष प्राप्त कर लेता है, अन्यथा पुनः निगोद राशि में चला जाता है।

प्रश्न—परिणतदशा जीव की कितने गुणस्थान तक है ?

उत्तर—८ वे गुणस्थान तक जीव की परिणत दशा है और श्रेणी आरोहण के बाद अपरिणत दशा है।

प्रश्न—समुद्र के जल की वृद्धि व हानि किसप्रकार होती है ?

उत्तर—समुद्र का जल अमावस्या के दिन ११ हजार योजन समतल से ऊपर उठता है, और पूर्णिमा के दिन १६ हजार योजन उठता है। उस समय बेलधर जाति के देव उसे समरूप बना देते है।

प्रश्न—शुभ या अशुभ तेजस का प्रभाव कितनी भूमि प्रमाण होता है ?

उत्तर—शुभ तेजस ४८ कोश लम्बाई और ३६ कोश चौड़ाई मे सुभिक्ष करता है और अशुस तेजस का भी उतना ही प्रमाण है।

प्रश्न—षष्टमकाल के अन्तिम समय मे क्या-क्या शाश्वत रहेगा ?

उत्तर—षष्टम काल के अन्तिम समय मे प्रलय होगा, उस प्रलय के समय मे भरत क्षेत्र की सब वस्तुऐ नष्ट हो जायेगी जीव भी सब नष्ट हो जायेगे। उस समय देव और विद्याधर लोक जाकर ७२ जोडे मनुष्यो के और तिर्यञ्चो को उठाकर विजयार्द्ध की गुफाओ मे रख देगे। षष्ठ काल के प्रारम्भ मे फिर जब प्रलय का उपद्रव शात हो जायगा, तब फिर से उन मनुष्यो को और तिर्यचो को विजयार्द्ध की गुफाओ

में से लाकर भरत क्षेत्र में रखेंगे। अयोध्या के स्थान पर सदा शाश्वतिक रहने वाला कमल को देखकर इन्द्र फिर से अयोध्या की स्थापना करता है और शिखर जी के स्थान पर क्रमुकाकार (सुपारी) २४ टोको को देखकर वहां शिखर जी पहाड़ की इन्द्र रचना करता है। ये कमल और सुपारी के आकार अयोध्या के स्थान पर और शिखर जी के स्थान पर रहते हैं। चित्राभूमि पर रहते है, ये चिन्ह कभी नष्ट नही होते है। नित्य और शाश्वतिक हैं।

प्रश्न—राजु का प्रमाण कितना है ?

उत्तर—एक आंख की टिमकार का जितना काल है, उतने समय मे एक देव असख्यात योजन जाता है, ऐसी तीव्र गति की चाल चलने वाला देव यदि ६ माह तक लगातार चलता ही रहे, जहां छः माह पूर्ण होंगे, उतना १ राजु का प्रमाण है।

प्रश्न—सप्तम नरक की लम्बाई और चौड़ाई का क्या प्रमाण है ?

उत्तर—स्वयम्भू रमण समुद्र के पूर्व किनारे पर से तथा पश्चिम, उत्तर, दक्षिण किनारों से अलग-अलग रस्सी लटकाई जायेगी तो प्रत्येक का किनारा क्रमश. उस सप्तम भूमि के रौर व महारौर व आदि ४ बिलो के ठीक बीचो बीच पडेगी।

प्रश्न—शिखर जी पहाड़ की कीतने लाख व्यन्तर देव सेवा करते है ?

उत्तर—सम्मेदाचल की दश लाख व्यन्तर देव सेवा करते है और उन व्यन्तरो का अधिपति महाप्रभूत नाम का इन्द्र है, सो भी शिखर जी का रक्षक है।

'शिखर महात्म्य'

प्रश्न—तीन सौ त्रेसठ पाखण्डों का क्रम क्या है ?

उत्तर—८४ क्रियावादी, मिथ्यादृष्टि १८० अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवादी, ३२ वैनयिक, ये सब मीलाकर ३६३ पाखण्ड हो जाते हैं।

प्रश्न—६ महिने ८ समय में कितने जीव मोक्ष जाते हैं ?

उत्तर—अतीत काल के जितने समय है, उनको ५९२ से गुणा करना, उसमे ६ माह और ८ समय का भाग देना जो गणित आवे उतने जीव मोक्ष जा सकते हैं। कम से कम ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं।

अतीत समय अनन्तानन्त × ५९२ ÷ ६ माह ८ समय = अनन्तानन्त।

६ माह ८ समय के अनन्त समय भी माने जाय तो अनन्तानन्त × ५९२ होंगे।

तिलोय प. गा. न २९०७

प्रश्न :—पांच पैताले कौनसे हैं ?

उत्तर :—१. प्रथम स्वर्ग का ऋजुविमान, २ प्रथम नरक का सीमतक-पाथडा, ३. ढाइद्वीप, ४. सिद्धशिला, ५. सिद्धक्षेत्र ।

प्रश्न :—वेदक सम्यक्त्व की ६६ की स्थिति किस प्रकार होती है ?

उत्तरः—सौधर्म द्वी सागरो, शुक्रे षोडस सागराः, शतारे अष्टादश सागराः अष्टम ग्रैवेयके त्रिशत्सागराः एवं षट्षष्टि सागराः ।

अथवा—सोधर्मे द्विरूत्पन्नस्य चत्वारः सागराः सनत्कुमारे सप्तसागरा. ब्रह्मणि दशसागरा लान्तवे चतुर्दशसागराः नववैर्गवेयेकेषु एकत्रिशत्सागराः एव षट-षष्टिसागरा । अन्त्य सागर शेषे मनुष्यायु हीन क्रियते तेन षटषष्टि सागराः साधिकान भवन्ति ।

तत्वार्थ वृत्ति पृ. १२

प्रश्न :—क्या इन्द्र के पहले इन्द्राणी मोक्ष जाती है ?

उत्तर :—हां इन्द्र के पहले इन्द्राणी मोक्ष जाती है और एक नही कई मोक्ष चली जाती है, तब इन्द्र का नम्बर आता है । क्योंकि इन्द्र को आयुष्य तो सागरो की रहती है और इन्द्राणियों की आयु पल्यों की रहती है ।

प्रश्न :—एक इन्द्र के काल में कितनी इन्द्राणियां मोक्ष जाती हैं ?

उत्तर :—इन्द्र की आयु का प्रमाण कुछ अधिक दो सागर प्रमाण है और इन्द्राणी की आयु पाच पल्य की होती है । अत. एक इन्द्र के काल में चालीस नील इन्द्राणिया मोक्ष जाती है,

∴ १ सागर प्रमाण में १० कोटा-कोटी पल्य
२ " " " १०×२ " "
=२०,००००००००००००००० ÷ ५
=४०००००००००००००० नील इन्द्राणिया मुक्त होगी ।

प्रश्न :—जब इतनी इन्द्राणियां मुक्त होती है, फिर कितने लोकपाल मोक्ष जाते हैं ?

उत्तर :—ये लोकपाल भी भगवान के समवशरण में सभा की व्यवस्था करते है, इसलिये ये भी एक भवावतारी होते है—

दिशा—पूर्व—दक्षिण—पश्चिम—उत्तर
नाम—सोम—यम—वरूण—कुबेर
आयु—२॥ पल्य—२॥ पल्य—२॥ पल्य—३ पल्य

सोम और यम ८० नील अर्थात् जितने समय में एक इन्द्र मुक्त होगा उतने ही काल मे ८० नील सोम और ८० नील यम और वरुण ७२ नील ७२ खरब ७२ अरब ७२ करोड़ ७२ लक्ष ७२ हजार ७२३ मोक्ष जायेंगे ये उपरोक्त वरुणों की संख्या है। कुबेर ६६ नील ६६ खरब ६६ अरब ६६ करोड़ ६६ लाख ६६ हजार, ६६६ मोक्ष चले जायेंगे।

प्रश्न :—७२ कलाएं कौनसी है ?

उत्तर :—१. लिखित, २. पठित, ३. गणित, ४. वैद्यकं, ५. नृत्य, ६. वक्तव्य, ७. वाथा, ८. वचन, ६. नाटक, १०. अलकार, ११. दर्शन, १२. ध्यान, १३. धर्मकथा, १४. अथकला, १५. काम, १६. वाटकला, १७. वृद्धिकला, १८ सोचक, १६. व्यापार-कला, २०. नैपथ्य, २१. विलास, २२. नीति २३. शकुन, २४. क्रीडन, २५. वितन्यात्, २६. हस्तताप, २७. द्यूत्रकला २८. कुसुमकला, २६. इन्द्रजाल, ३०. विनयकला, (य) ३१. स्नेह, ३२. पानक, ३३. सजोगक, ३४. हास्य, ३५ सौभाग्य, ३६. प्रयोग, ३७. गधर्व, ३८. वस्तु, ३६. वाणिज, ४०. रत्न, ४१. पात्र, ४२. देशक, ४३ भावक, ४४ विधाक, ४५. विनय, ४६ अग्नु, ४७. दाघ, ४८. समस्त, ४६. वर्ण, ५० हस्ति, ५१. अष्टक, ५२. पुरुष, ५३ नारी, ५४. भोज्य, ५५, पक्ष, ५६. भूमि, ५७. लेप, ५८. कष्ट, ५६. वृष, ६०. छद्म, ६१. सह्य, ६२ हरल, ६३. उत्तर, ६४ प्रत्युत्तर, ६५ शरीर, ६६. सत्त्व, ६७ साध, ६८ धैर्य, ६६. पत्रछेद ७०. चित्र, ७१. भाणा, ७२. इर्या।

प्रश्न :—मनुष्य के ३२ लक्षण कौनसे है ?

उत्तर :—१. प्रमाण, २ सुकृत, ३. रूप, ४. कुल, ५. शील, ६. पराक्रम, ७. सत्य ८. शौच, ६. मनभ्यास, १०. बुद्धिमान, ११ सुविचक्षण, १२ शास्त्रज्ञानेन, १३ सम्पूर्णो, १४ परदारवर्जित, १५. प्राप्तभाव, १६. सदातुष्टो, १७. विद्वान, १८. मधुरभाषी, १६. सज्जनता, २०. स्वल्पकामी, २१ श्रीमाश्वर, २२ गुणविभूषित, २३ पितृभक्त, २४. मातृभक्त, २५. गुरुभक्त, २६. परोपकारी, २७ दाता, २८ भोक्ता, २६. जितेन्द्रिय, ३० सदा धर्मरत, ३१. नित्य भगवत पूजक, ३२. स्वल्पाहारी स्वल्पनीद्रा।

प्रश्न :—पंचमकाल में ५२ वस्तु विपरित होंगी वे कौनसी है ?

उत्तर —१. राजा लोभी, २. मित्र विश्वासघाती, ३. अर्थलोभी पुत्र,

४ दुष्टचरित्री स्त्री, ५ नीरपेक्षी बधुभाई, ६ असतुष्ट मत्री, ७ विद्यावत दारिद्री, ८. जारजात् सुखी, ९ पाखडी जिन शासनी, १०. यतीक्रोधी, ११. प्रजाहीन नगरी, १२. व्याधीपीडीतदेही, १३. सर्वकलावान गवार (मुर्ख) १४. गीतादिक डुम, १५ सुभट कायर, १६. क्षमावान निर्दयी, १७ दलवान शूद्र, १८ भीलतुरक, १९ अचिति मृत्यु, २० अनग ज्ञान काम चेष्टा, २१ स्वल्पमेघ, २२. वाचाचूक मनुष्य, २३ स्थान भ्रष्ट राजा, २४ अशुद्ध पाठ २५ कुटिल दया, २६. अहकारी मूर्ख, २७. सज्ञालोपी ब्राह्मण, २८. माता ठगोरी, २९. दुर्जन स्नेही, ३०. सज्जन विरोधी, ३१. आप ही स्वय के गुणगान करे, ३२ परनिन्दा करे, ३३ वेश्यासलज, ३४. कुलवती निरलज्ज, ३५. अफलवृक्ष, ३६. वैश्यजाति कपटी, ३७. कुमारी कन्या चचल, ३८. नीच राजा, ३९. नीच प्रधान, ४०. तामसी भट्टारक, ४१ दयाहीन तपोधन, ४२ नीचरत स्त्री, ४३. बुद्धिहीन मत्री, ४४. गजहीन राजा, ४५ आज्ञाहीन दासी, ४६. विवेकहीन राजपुत्र, ४७. विवेक पुलिदशुद्र, ४८. कृषिकजन दुखी, ४९. अपुरुष सुख ५०. अकाल मे वर्षा, ५१ ऋतु विपरीत, ५२. ससार चलित ।

प्रश्न :—पुरुष के षोडषश्रृंगार कौन से हैं ?

उत्तर :—१ स्नान, २. तिलक, ३. प्रधान, ४. पटम्बा, ५. कु दल व्यौरा, ६. कर्म करावे, ७. सुन्दरपाद, ८ सुहाग, ९. सुवीर, १० शरीर सुवासित चदन लगावे, ११ अगुठी धारण करना, १२ मुजरी, १३. खग धारण, १४. कटारो, १५ विनति, विद्याशील वत, बोल ये १६ श्रृ गार है।

प्रश्न :—युवती के सोलह श्रृंगार कौन है ?

उत्तर .—१. मजन, २. अजन, ३. चन्दन, ४. वीर, ५. दोडकेए ककण, ६. कुण्डल, ७ जोरीफुल की माला, ८ तिलक, ९ बोल, १० अलक की भोरी, ११, धमके घुघरी, १२. चमके डुलरी, १३, नकवेसर, १४ नेवूर १५, कचु, १६, डोरी ।

प्रश्न :—क्या उपचारमहाव्रती आर्यिका को क्षायिक सम्यक्त्व हो सकता है ?

उत्तर :—क्षायिक सम्यक्त्व तु असयतादि चतुर्गुण स्थान मनुष्याणा असयत देश सयतोपचार महाव्रत मानुषीना च कर्मभूमि वेदक सम्यग्दृष्टि नामेव केवलि श्रुत

केवलि द्वयं श्रीपादोयांते सप्त प्रवृत्ति निरवशेप क्षये भवति।

जीवकाण्ड वडी टीका का पृष्ट ११४१

वहुरी असंयतादिक चारि गुणस्थान वर्तीक जे मनुष्य, वहुरि असंयत देश संयत गुणस्थानवर्ती उपचार महाव्रत जिनके पाइये हैं एसी आर्या स्त्री ते कर्म भूमि मे उपजी एसे वेदक सम्यक्त्वी होय हैं, तीन ही के केवली श्रुत केवली दोनों मे से किसी के (पाद) चरणमूल में सात प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

प्रश्न :—सूक्ष्म बादर निगोद जीवों की आयु का प्रमाण क्या है?

उत्तर :— नित्यनिगोद इतरनिगोद सूक्ष्म बादर सबको आयु अतर्मुहूर्त मात्र है। और पृथिवी काय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय के जीव की भी आयु अन्तर्मुहूर्त हैं अंतोमुहूत्तमाऊ साहारण सव्वसुहूमाणं इति उक्तत्वादिति।

चर्चा समाधान नं. ९६ वी पृष्ठ नं. ८४

प्रत्येक और साधारण २ ही नामकर्म हैं। तीसरा सप्रतिष्ठित नामकर्म और मानना पड़ेगा।

प्रश्न :—चौदह विद्याएं कौनसी हैं?

उत्तर :— चारों अनुयोग, ५. शिक्षा कल्प, ६. व्याकरण ७. छन्द ८. अलकार, ९. ज्योतिप, १०. निरुक्त ११ इतिहास १२. पुराण, १३. मीमासा, १४. न्याय।

लौकिक विद्याएं

१. ब्रह्म, २. चातुरी, ३. वाल, ४. वाहन, ५. देशना, ६. वाहु, ७. जल, ८. रसायन, ९. गान, १०. संगीत, ११. व्याकरण, १२. वेद, १३. ज्योतिप, १४. वैद्यक।

प्रश्न :—क्या स्त्री भी जीनेन्द्रदेव का पूजाभिषेक करने की अधिकारी है?

उत्तर :— भगवान बाहुवलि का नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के सानिध्य में चामुडराय का मान खंडीत करने के लिये गुलिकाय नाम की स्त्री बुढ़िया ने दूध का अभिषेक किया, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है, उस गुलिकाय स्त्री की मूर्ति श्रवण वेल गुल में गोम्मटेश्वर की मूर्ति के सामने वनी है। सहस्त्राब्वि महोत्सव में होने वाला भगवान के अभिषेक को यहां आने वाली करीव सभी माता और वहनो ने किया था। इससे

साक्षात गुलीकाय जी द्वारा क्षीर का अभिषेक करने पर ही अभिषेक की पूर्ति,
चामुण्डराय का मान खडन, सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री मुनिराज
नेमीचन्द्र जी के सामने का दृश्य



श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थु सागर जी महाराज

श्री १०५ वि.र ग. आ विजयमतीजी माताजी

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा प्रतिष्ठित भगवान गोमटेश्वर का अभिषेक दूध से करने वाली बुढिया गुलीकाय जी, अपने हाथ मे दूध का लोटा लेकर खडी है, भगवान का अभिषेक करने के लिये और मत्री चामुण्डराय का मान खडित करने के लिये, दूध का अभिषेक और स्त्री अभिषेक का प्रत्यक्ष प्रमाण मूर्त रूप मे साक्षात नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के सामने की घटना, चित्र श्रवण वेलगुल पहाड पर का भगवान गोमटेश्वर के सामने ।

प्रमाणित होता है कि महिलाएं भी भगवान का अभिषेक कर सकती है। ये अभिषेक बड़े-बड़े आचार्यो के और एलाचार्य सिद्धान्त चकवर्ती विद्यानन्दजी महाराज व बडे-बडे भट्टारको के व बड़े-बडे विद्वानो और श्रीमतो के सामने हुआ था और महिलाओं ने भी किया था। कर्नाटक के मुख्यमत्री और उनकी श्रीमती ने भी भगवान का अभिषेक किया था। पूर्व आचार्यो कृत शास्त्रो मे भी प्रमाण मिलते हैं, इन्द्राणी ने भी जिनेन्द्रदेव का अभिषेक किया था।

ततः सुरपति स्त्रियोजिन मुपेत्य शच्यादयः।
सुगंधित नु पूर्वकं मृदुकरा समुद्वर्तनं॥
प्र चक्रुरषिंचनं शुभपयोसिरूवचैर्घटैः।
पयोधर भरं निजै रि व समंसमा वर्जितैः॥१६३५॥

हरिवशपुराण, सर्ग अष्टात्रिश सपादक, डा. प. पनालालजी साहित्याचार्य

सुमेरू पर्वत पर इन्द्र के अभिषेक करने के साथ इन्द्राणी ने भी घडो से भगवान का अभिषेक किया।

गृहीत गंध पुष्पादि प्रार्चनाः स परिच्छदा।
अथैकदा जगाम मैषाप्रातरेव जिनालयम्॥
त्रिःपरीत्य ततःस्तुत्वा जिनांश्च चतुराशया।
संस्नात्वा पूजायित्वा च प्रयाता यति संसदि॥१६३६॥

गुण भद्राचार्य, जिनदत्त चरित्र सर्ग १

अथैकदासुता सा च सुधी मदन सुन्दरी।
कृत्वा पंचामृतैः स्नानं जिनानां सुख कोटिदम्॥१६३७॥

श्रीपाल चरित्र, बृहन्नेमिचद्रकृत

तदा वृषभसेना च प्राप्य राज्ञी पदं महत्।
दिव्यां भोगान्प्रभुजाना पूर्व पुण्य प्रसादतः॥१६३८॥
पूजयंती जगत्पूज्यान् जिनान् स्वर्गपवर्गदान्।
दिव्यैरष्ट महाद्रव्यैः स्नपनादिभिरूज्वलैः॥१६३९॥

आ कथाकोष, तीसरा भाग पृष्ठ ४२१

इसी प्रकार संस्कृत श्लोको से सिद्ध होता है कि इन्द्राणी और मदन सुन्दरी और वृषभसेनादि स्त्रिओ ने भगवान जिनेन्द्र देव का अभिषेक किया था।

पूर्वंस्नाता नुलिप्तापि धौत वस्त्रान्विता परम् ।
षोडशाभरणोपेता स्याद्वधूः पूजयेज्जिनम् ॥१६४०॥
सती शीलव्रतोपेता विनयादि समन्विता ।
एकाग्रचित्ता प्रयजेज्जिनान् सम्यक्त्वमंडिता ॥१६४१॥

उमास्वामी श्रा. पृ. ६३-६४

भावार्थ :—स्त्रियों में कि जो स्त्री शील मडित हो, विनयगुण को धारण करती है, सम्यक्त्व मडित हो, जिनचित्त. अत्यन्त चचल न हो ऐसी स्त्रिया स्नान कर धौत वस्त्र पहन कर शरीर पर चन्दन लगाकर और षोडषाभरण पहन कर भगवान जिनेन्द्र देव का अभिषेक पूजा कर सकती हैं। श्रावक और श्राविका दोनो को अधिकार शास्त्रोक्त है किसी भी शास्त्रो में निषेध नही आया। करना और न करना यह अपने पर निर्भर है कोई स्त्री अभिषेक करे तो दोष नही है, क्योकि पुराणो मे जैसी मैना सुन्दरी, अंजना आदि स्त्रियो ने किया।

आत्मा छद्मस्थ के प्रत्यक्ष—

उवदेसेणपरोक्खंरूवं जह पस्सिदूणणादेदि ।
मण्णदि तहेवणाणंघिप्पदि जीवोदिट्ठोयणादो य ॥१६४२॥

समयसार जयसेन १९८

जैसे किसी का परोक्ष रूप उदेश द्वारा तथा लिखा देखकर वह जाना जाता है, वैसे ही यह जीव वचनों के द्वारा कहा जाता है तथा मन के द्वारा ग्रहण किया जाता है। मानो प्रत्यक्ष देखा गया व जाना गया है।

तैसे असयत सम्यग्दृष्टि कै वितराग भाव रूप मोक्षमार्ग का श्रद्धान भया, तातै वाकै उपचार तै मोक्ष मार्गी कहिये, परमार्थ तै वीतराग भाव रूप परिणमै मोक्ष मार्ग होसि। मोक्ष मार्ग प्रकाशक ९-४६३

प्रश्न :—क्या सम्यक्त्व अनुमान का विषय है?

उत्तर :—पञ्चलब्धि का स्वरूप भली भाति जाना होइ तौ आपको सम्यग्दृष्टि का अनुमान भी न करै। कोई ऐसा भी कहें हैं, निश्चय करि भगवान सो मेरे सम्यक्त्व है, यह भी श्रद्धान मिथ्या है। यातै सम्यक्त्व अनुमान का विषय नाही।

भूदरदास, चर्चा. १६

सप्तम गुणस्थान का स्वरूप—

संजलणणोकसायाणुद ओ मंदो जदा तदा होदि ।
अपमत्तेगुणो तेणय अपमत्तो संजदो होदि ॥१६४३॥

परम्परा से शुद्धोपयोग—

असयत सम्यग्दृष्टि—श्रावक-प्रमत्त संयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोग उपर्यपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते । वृ. द्रव्य. ३४–९४

चौथे, पाचवे, छठवे गुणस्थान मे परंपरा से शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग उत्तरोत्तर तारतम्यरूप वृद्धि हुए शुभ परिणामों रूप होता है ।

निरतः कात्स्र्न्यनिवृत्तौ भवतिमतिः समयसार भूतोयम् ।
यात्वेक देशविरतिनिरतस्तस्यामुपासको भवति ॥१६४४॥

सर्वथा स्व को आरम्भ भावना से निवृत रखना यह महाव्रत है। और महाव्रत समयसार रूप है । एक देश निवृत होना अणुव्रत है इसमें भव्यात्मा श्रावक समयसार का उपासक रहता है ।

जो कात्सर्न निवृत्ति मे मन, वचन, काय से हिसा, भूठ, चोरी आदि के त्याग करने रूप निवृत्ति मे लवलीन रहता है—तन्मय बना रहता है ऐसा वह यनि मुनि—समयसार स्वरूप होता है । और जो इन पूर्वोक्त ५ पापो से एकदेश निवृत-त्याग रूप-निरत्त-लगा रहता है वह उपासक देशविरति श्रावक-आराधक का उपासक कहलाता है।

१. परम्परा—उत्तरोत्तर क्रम से प्राप्त होना । परम्परा प्राप्त है ।
पारम्पर्यम [परम्पार+ष्यज्] इस परम्परा को प्रमाण मानना चाहिये ।
२. तारतम्य—[तरतम+ष्यज्] क्रमाकन, सापेक्ष महत्व, अंतर ।

क्या प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थान में आठों ही कर्मो का बंध होता है?

चत्तारि पयडी ठाणाणि तिण्णि भुजगार अप्पयराणि ।
मूलपयडीसु एवं अवट्ठिओ चउसुणादव्वो ॥१६४५॥

पन्संग्रह २४१

तथाहि—प्रमत्ताऽप्रमत्तो वा अष्टौ कर्माणि बन्धन अपूर्व करणेऽनिवृत्ति-करणे च घटितः सन् आयुर्विना सप्त कर्माणि बन्धति ।

विशेषार्थ :— उक्त अर्थ का स्पष्टी करण इस प्रकार है । मिथ्यात्व गुण-स्थान से लेकर प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थान तक के जीव ज्ञाना वरणआदि आठों ही कर्मो

का वन्ध करते हैं। अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण गुणस्थान वाले जीव आयु के विना शेप सात कर्मों का वंध करते है।

शुद्धोपयोग का लक्षण—

सुविदिदपदत्थ जुत्तो-संजम-तव-संजुत्तोविगद रागो।
समणो समसुह दुक्खो, भणिदो शुद्धो व आगोत्ति ॥१६४६॥

प्र. सा. १।४ पंचास्ति. १४२ मू० ५।६५

जो यति स्व द्रव्य और पर द्रव्य को, सूत्रार्थ को भली भांति जानता है। जो भव्यात्मा यति पुरुष संयम और तप युक्त हैं। तथा जो वीतराग भाव से लवालव भरपूर है एवं सुख-दुःख, जिन्होंने समान मान रखा है, ऐसे श्रमण तपस्वी को परमागम में शुद्धोपयोगी कहा गया है।

अथसूरि रुपाध्यायो द्वावे तो हेतुतः समो।
साधु साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धो शुद्धोपयोगिनौ ॥१७४७॥

पंचाध्यायी २।६६४

अन्तरंग कारण की अपेक्षा विचार करने पर आचार्य और उपाध्याय ये दोनो ही समान हैं, साधु के समान आत्मज्ञ हैं, शुद्ध हैं और शुद्धोपयोग वाले हैं।

वहुरी जे मुख्यपने तें निर्विकल्प स्वरूपाचरण विषै ही निमग्न है। मो.प्र. २१५

भाव सामायिक का स्वरूप—

भाव सामायिकं सर्व जीवेषु मैत्री भावोऽशुभ परिणाम वर्जनं वा।

अनगारधर्मामृत टीका ८।१६

संसार के सभी जीवों पर मैत्री भाव रखना, अशुभ परिणति का त्याग कर शुभ एवं शुद्ध परिणति में रमण करना भाव सामायिक है।

सममेकत्वेन आत्मनि अयः आगमनपरद्रव्यभ्यो निवृत्य उपयोगयेस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समयः। आत्मा विपयोपयोग इत्यर्थ.............अथवा समसमेराग द्वेपाभ्यामनुपहते मध्यस्थे आत्मनि अयः उपयोगस्य प्रवृत्तिः समाय. स प्रयोजनमस्येति सामायिकम्। गोम्मट्टसार, जीवकांड़ टीका गाथा ३६८

पर द्रव्यो से निवृत्ति होकर सावक की ज्ञान चेतना जव आत्म-स्वरूप में प्रवृत्त होती है, तभी भाव सामायिक होती है। राग द्वेष से रहित मध्यस्थ भावापन्न आत्मा सम कहलाता है, उस सम में गमन करना ही भाव समायिक है।

प्रश्न :—क्या प्रमत्त गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र होता है ?

उत्तर :—बहुरि इस मिथ्या चारित्र विषै स्वरूपाचरण चारित्र का अभाव है। तातो याको नाम अ चारित्र भी कहिए। बहुरि यहा परिणाम मिटै नाही, अथवा विरक्त नाही तातै याही का नाम असयम कहिए हैं। वा अविरत-अविरत कहिये है, जातै पाच इन्द्रिय अर मन के विषयन विषै बहुरि पचस्थावर अर त्रस की हिसा विषै, स्वछन्द न होय। अर इनिके त्यागरूप भाव न होय सोई असंयम वा अविरत बारह प्रकार का कह्या है, सो कषाय भाव भए ऐसे कार्य होय है। तातै मिथ्या चारित्र का का नाम असयम व अविरति जानना। बहुरी इस ही का नाम अविरत जानना। जातै हिसा झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाप कार्यनि विषे प्रवृत्ति का नाम अव्रत है। सो इनका मूल कारण प्रमत्त योग कहा हैं। प्रमत योग है सौ कषाय मय है तातै मिथ्या चारित्र को अव्रत भी कहिये है ऐसे मिथ्या चारित्र का स्वरूप कहा।

मोक्ष मार्ग प्र. प. टोडरमल ४।२३३-३४

बहुरि जे मुख्यपनै तौ निर्विकल्प स्वरूपाचरण विषै ही निमग्न है।

मोक्ष. मार्ग प्र. ११५

तप तपै द्वादश धरै वृषदशरत्न त्रय सेवै सदा।
मुनि साथमें वा एक विचरै चहै नही भवसुख कदा।।
यों है सकलसंयम चरित्र, सुनिए स्वरूपचरण अब।
जिस होत प्रगटै आपनी निधिमिटैपरकीप्रवृत्ति सब।।

छहढाला ६।७

बारह प्रकार के तपो को जो सदा तपते हैं, दश प्रकार के धर्मो को जो सदा धारण करते है, और रतन त्रय का सदा सेवन करते है, मुनियो के साथ व एकाकि विहार करते हैं और ससारिक सुखो की चाहना नही करते है, ऐसे मुनिराजो का यह सकल सयम है। अब निश्चय चारित्र कहते है अर्थात सकल सयम धारण करने के बाद प्रकट होने के अनन्तर स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है। और इसके प्रकट होने पर आत्मनिधि प्रकट होती है। और परमें जो जीव को प्रवृत्ति होती है वह मिट जातीहै।

१ मिच्छत्तस दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्त।
२ अण्णाणस्सदु उदओ ज जीवाण अतच्चउवलद्धी।
३ उदओ असजमस्सदु ज जीवाणं हवेदि अविरमणं।।

समयसार ।।१३२।।

१ जीव के तत्त्व का अश्रद्धान है, वह मिथ्यात्त्व का उदय है।
२ जीव के विपरीत ज्ञान है, वह अज्ञान का उदय है।
३ जीव का अत्याग रूप भाव है वह असंयम का उदय है।
(जो है सकल संयम चरित सुनिये स्वरूपाचरण अब)

पं दौलतराम जी

स्वरूपाचरण चारित्र सप्तम गुणस्थान का नाम है।

आत्मनो दर्शने दृष्टि ज्ञानं च योगिनः।
स्वरूपाचरणे प्रोक्तं, चारित्रं विश्व दर्शिभिः ।।

धर्मसंग्रह श्रावकाचार १०।१३७

सर्वज्ञ देव ने योगी पुरुषों का आत्मदर्शन (श्रद्धान) सम्यग्दर्शन आत्मज्ञान--सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचारण चारित्र में रमण को सम्यक् चारित्र कहा है।

कार्मादान क्रिया रोधः स्वरूपा चरणं च यत्।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैव चारित्र संज्ञकः।-१६४८।।

पंचाध्यायी २।७६३

कर्मों के ग्रहण करने की क्रिया का रुक जाना ही स्वरूपाचरण है, वही धर्म है, वही शुध्दपयोग है और चारित्र है।

"चारित्तं खलुधम्मो"

आ. कुन्द. प्रवचनसार

"स्वरूपे चरणं चारित्रम्"

आ. अमृत चन्द्र

स्वरूप में चरण करना, रमण करना सो चारित्र है।

वस्तु शुद्धद्रव्य शक्तिरूप शुद्ध परिणामिक परम भाव लक्षण पर निश्चय मोक्षः है। स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानी भविष्यतीत्येव न।

बृ. द्रव्यसंग्रह, गा. ५७/पृ २१४

अर्थ—जो शुद्ध द्रव्य की शक्ति रूप पारिणामिक परम भावरूप लक्षण का धारक, परम निश्चय मोक्ष है, वह तो जीव मे पहले ही विद्यमान है। वह परम निश्चय मोक्ष जीव में अब होगा ऐसा नही है।

ताते आत्मज्ञान शून्य आगमज्ञान भी कार्यकारी नाही। या प्रकार सम्यग्ज्ञान

के अर्थी जैन शास्त्रनि का अभ्यास करौ है, तो भी याकै सम्यग्ज्ञान नाही ।

मोक्ष मार्ग. प्र. ७/३४९

मोक्खुमचिंतहि जोइया मोक्खण चिंतिउ होई ।
जेण णिबद्धउ जीवउ मोक्खु करे सइ सोइ ।।१६४९।।

परमात्म प्रकाश २/२२८

तं चेवगुण विशुद्धं जिण सम्मत्तं सुमुक्खठाणाय ।
जं चरदिणाण जुत्तं पढमं सम्मत्त चारित्तं ।।१६५०।।

आ. कुन्दकुन्द, चरि. पा. २/८

"त चेवगुण विशुद्ध तच्चेव सम्यक्त्व गुण विशुद्ध, निः शङ्कितादिभि रष्ट-गुणैं विशुद्ध निर्मल । जिण सम्मत्त सम्यक्त्व जगत्पति श्रीमद्‌भगवदर्हत् सर्वज्ञ वीतरागस्य सम्वन्धिनी श्रद्धा रुद्रादि श्रद्धा न रहित जिन सम्यक्त्वमुच्यते ।

निशंकित आदि आठ गुणो से विशुद्ध—निर्मल सम्यक्त्व ही जगतपति भगवान अर्हत्सर्वज्ञ–वीतराग सम्वन्धिनी श्रद्धान रूप होता है अर्थात् रागी आदि के श्रद्धान से रहित होता है । वही जिन सम्यक्त्व कहा है और जो सम्यग्ज्ञान सहित आचरण है, वह प्रथम सम्यक्त्व–सम्यक् चारित्र है ।

जिणणाण दिट्ठि सुद्धं, पढमं सम्मत्त चरणं चारित्तं ।
विदियं संजम चरणं, जिणणाण सदेसियं तं पि ।।१६५१।।

चारित्र पा. आ. कुन्दकुन्द

जिनेन्द्र के ज्ञान और उसकी श्रद्धा से शुद्ध प्रथम सम्यकत्वाचरण चारित्र होता है और दुसरा संयमाचरण चारित्र होता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है । स्वरूप मे रमण करना **स्वरूपाचरण** चारित्र है । स्वरूप में रमण करने की स्थिति को ही शुद्धोपयोग कहते है, उसे ही निश्चय चारित्र कहा गया है । प्रवचनसार की गा ५ की टीका मे—तात्पर्य वृत्ति मे जयसेन स्वामी ने कहा है ।

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र गुण स्थान गये, तारतम्येनाशुभोपयोगः तदनन्तरं मसयत सम्यग्यदृष्टि, देशविरत, प्रमतसयत गुणस्थान त्रये तारतम्ये न शुभोपयोगः तदनन्तरमप्रमत्रादि क्षीण कषायान्त गुणस्थान षट्के तारतम्येन शुध्दोपयोग', तदनन्तर स योग्य योगी जिन गुणस्थान द्वये शुध्दोपयोग' फलमिति ।

आचार्य श्री इस कथन से प. दौलतरामजी के कथन का सामजस्य बैठ जाता

है, कविवर ने मुनियो की क्रियाओं अर्थात् सराग चारित्र का वर्णन करके सातवे और उससे आगे के गुणस्थानो के वीतराग चारित्ररूप स्वरूपाचरण के कथन की यहां प्रतिज्ञा की है।

प्रवचनसार गाथा ११ की तात्पर्य वृत्ति टीका मे चारित्र के दो भेद बताये है, १ अपहृत सयम २ उपेक्षा सयम। इन्हे ही सराग और वीतराग चारित्र अथवा शुभोपयोग और शुध्दोपयोग कहा है। स्वरूपाचरण चारित्र शुध्दोपयोग ही है और वह सातवे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर आगे-आगे के गुणस्थानो मे तारतम्य से निर्मल होता गया है। सो वहा ही स्वरूपाचरण चारित्र होता है। नीचे के गुण स्थानों में नही होता। चतुर्थ गुणस्थानो मे सम्यक्त्वाचरण होता है।

आत्मा ही तीर्थ है—

तित्थहुदेउलिदेउजिणु सव्वविकोई भणेइ।
देहादेउलि जो मुणइ सो बुह कोविहवेई ॥१६५२॥

तत्त्वसार ४३, नियमसार ६२

तीर्थ स्थान मे व देवालय मे श्री जिनेन्द्र देव है, ऐसा सब कोई कहते है परन्तु जो अपने शरीर रूपी मन्दिर मे आत्म देव को पहिचानता है, वह कोई एक पण्डित है।

मूढा देवलि देउणवि सिलि लिप्पइ चित्ति।
देहा देवलि देउ जिणु सो बुज्झहि समचित्ति ॥१६५३॥

योगसार ४४

हे मुढ देव देवालय मे नही है, वह शिला मे अथवा लिप्त चित्राकृति मे भी नहीं है। देव जिनेन्द्र परमात्मा तो देह देवालय मे है—विद्यमान है, उन्हे समचित वृत्ति से ही जाना जाता है।

निमित्त की प्रबलता—

दंसण मोहक्खवणा पट्ठवगो कम्मभूमि जो मणुसो।
तित्थयर पायमूले केवलि सुद केवलि मुले ॥१६५४॥

लब्धिसार ११०

जो मनुष्य कर्मभूमि मे उत्पन्न हुआ है, तीर्थंकर केवली अन्य केवली के अथवा श्रुत केवली के पादमूल मे रहता है, वही दर्शन मोहनीय की क्षपणा का प्रार-

म्भक होता है, क्योकि दूसरी जगह ऐसी परिणामो की विशुध्दता नहीं हो सकती है ।

शुद्धनय से आत्मा का स्वरूप—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धं पुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥१६५५॥

जो पस्सदि अप्पाण अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेस सुत्त मज्झं पस्सदि जिण सासणं सव्वं ॥१६५६॥

समयसार१४/१५ अ, १

प्रश्न – यहां कोई कहे – शास्त्रनिषै आत्मा को कर्म नो कर्म तै भिन्न अबद्ध स्पष्ट कहा है सो कैसे कह्या है ?

उत्तर—सम्बन्ध अनेक प्रकार है, तहां तादात्म्य सम्बन्ध अपेक्षा आत्मा को कर्म नो कर्म तै भिन्न कह्या है । तहा द्रव्य पलटि करि एक नाहि होय जाय है और इस ही अपेक्षा अवध्द अस्पृष्ट कह्या है । वहुरिनिमितनैमित्तिक सम्बन्ध अपेक्षा बन्धन है उनके निमित्त से आत्मा अनेक अवस्था धरै है । तातै सर्वथा निबन्ध आपको मानना मिथ्यादृष्टि है ।   मोक्षमार्ग प्र. ५/२६१

शुद्धनयादेशात्तूपयोगस्वभावस्यऽत्मनोऽप्रदेशत्वं ।

आ, अकलकदेल, तत्वार्थवार्त्तिक ५/८/२०

शुध्दनय की अपेक्षा उपयोग स्वभावी आत्मा अप्रदेशी है, क्षेत्र की अपेक्षा आत्मा असंख्यात प्रदेशी है । द्रव्य की अपेक्षा अप्रदेशी अखण्ड है ।

व्यवहार नय भी कार्यकारी—

प्रदीप वदिति ज्ञेया व्यवहार नया श्रया ।
आधाराधेयतार्थानां निश्चयात्तव योगतः ॥१६५७॥

श्लोक वार्तिक ५/१६/२

निश्चय नय से सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने शुध्द स्वरूप मे अवस्थित है, न कोई किसी का आधार है और न कोई किसी का आधेय है, हा व्यवहार नय से आधार व्यवस्था हो रही है, वस्त्र के समान जीव स्वकीय प्रदेशो का सकोच या विस्तार हो जाने से लोकाकाश से अनेक अवगाहनाओ के अनुसार आश्रित हो रहा है ।

जो बहु जीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सि ।
दव्वोत्ति मणेणावधारिय, गोदम थेरेण मंगलं तत्थ कदं ।।

आ. वीरसेन स्वामी, जय धवला

व्यवहार नय बहुजीवानुग्रहकारी है और वही—निश्चय से आश्रय किये जाने योग्य है, ऐसा मन में अवधारण करके ही गौतम देव ने महाकम्मपयडि की आदि मंगलाचरण किया है ।

प्रश्न—यहां कोउ कहे, शुभ भावनि तें पाप की निर्जरा हो है पुण्य का बंध हो है, शुद्ध भावनि तैं दोउनि की निर्जरा हो है ऐसा क्यों न कहो ?

उत्तर—मोक्षमार्ग विषै स्थिति का तो घटना सर्व ही प्रकृतिनि का होय । तहां पुण्य पाप का विशेष है ही नाही अर अनुभाग का घटना तो पुण्य प्रकृतिनिका शुध्दोपयोग तै भी होता नाही । उपरि उपरि पुण्य प्रकृतिनिकै अनुभाग का तीव्र बध उदय हो है । अर पाप प्रकृति के परमाणु पलटि शुभ प्रकृति रूप होय, ऐसा सक्रमण शुभ शुध्द दोऊ भाव होते होय । तातें पूर्वोक्त नियम सभवै नाही । विशुध्दता ही कै अनुसारी नियम संभवै है ।

मोक्ष मार्ग प्र. प. टो ७/३४१

मिथ्यादृष्टे वस्तु गजस्नानवत् बंध पूर्विका भवति । तेन कारणेनमिथ्या दृष्ट्यपेक्षया सम्यग्दृष्टि बन्धक इति ।

समयसार २६८

आत्म तत्त्व का विचार भव्य जीवों को—

अहम्प्रत्यय वेद्यत्वाज्जीव स्यास्तित्वमन्वयात् ।
एकोदरिद्र एकोहि श्रीमान् इति च कर्मणः ।।

पंचाध्यायी ।।१६५८।।

इस शरीर मे "मै हूँ, मैं हूँ" इस प्रकार की जो अनुभूति या ज्ञान होता है, उस ज्ञान से जाना जाता है कि शरीर के भीतर जीव रूप एक शक्ति विशेष है, वह स्वतन्त्र है अथवा मानसिक प्रत्यय जन्य अह तया अवबोध आत्मास्तित्व का परिचायक है । इसी प्रकार कोई दरिद्र, कोई श्रीमान्, कोई सर्वाङ्ग और कोई विकलाङ्ग दृष्टि गत होते है, वे सर्व कर्म का बोध कराते है ।

स्वसंवेदनतः सिद्ध सदात्मा वाद्य वर्जितात् ।
तस्य क्ष्मादि विवर्तात्मन्यात्मन्य नु पतितः ।।१६५६।।

आत्मा स्वतः स्व सवेदन से सिद्ध है, इसमे कोई भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधा नही आ सकती है । आत्मा को पृथ्वी आदि की पर्याय मनाने से चिद रूप आत्मा की सिद्धी नही हो सकती अर्थात् स्व सवेदन ज्ञान नही हो सकेगा । ऐसा होने पर घट-पटादिवत् आत्मा जड रूप हो जायेगी, परन्तु यह प्रत्यक्ष बाधित है । इसलिए तार्किक शिरोमणि आ. विद्यानद स्वामी

श्लोक वार्तिक. गा. १०२

स्वसंवेदनमप्यस्य बहिः करण वर्जनात् ।
अहंकार पदं स्पष्टम बाधमनु सूर्यते ।।१६६०।।

वाह्य पञ्चेन्द्रियों से परे "मैं मैं" इस प्रकार बाधा रहित प्रतीति विशद रूप से स्वसंवेदन प्रत्यक्ष इस अन्तरंग आत्मा का अनुभव कराता है ।

सर्वोहि आत्मास्तित्त्व प्रत्येति न नाहमस्मीति
यदि हि नात्मत्व प्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहम स्मीति प्रतीयात्

(ब्र सू. १/१/१/ पर शाकर भाष्य)

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तिर प्रत्यक्ष ।।१४।।

(अ. ३ आ २)

"मैं हूँ' इस प्रकार स्वात्मा में अनुभूति होना और पर पदार्थ मे न होना, यह आत्मा का मानसिक प्रत्यक्ष है ।"

"मैं हूँ" यह प्रत्येक मनुष्य को होने वाली प्रतीति ही आत्मा के अस्तित्व का सर्वोत्तम प्रमाण है ।

लोकमान्यतिलक (वे. सू शा भ ३३, ५३, ५४, गीता १४/४

पारं न याति मेधाऽस्य न मनो नेन्द्रियाणि वा ।
न गति स्तत्र शास्त्राणां, विदुषां न तपस्विनाम् ।।१६६१।।

उस आत्या का पार बुद्धि, मन, इन्द्रिया नही पा सकती और शास्त्र भी यथार्थ रूप से वर्णन नही कर सकते इसी प्रकार विद्वान और तपस्वी भी उसका पार नही पा सकते है ।

अस्यात्मा तु स्वतः सिद्धः स्वानु भूत्यैक गोचरः ।
ज्ञान, दर्शन, रूपोऽयं परमानन्द मन्दिरम् ॥१६६२॥

१. आत्मा है वह स्वतः सिद्ध है, २. स्वानुभूत्यैक गम्य है, ३. ज्ञान दर्शन स्वरूप है और मानों ४ परमानन्द का साक्षात् मन्दिर है ।

प्रियो देहात् प्रियाः पुत्रात् प्रियो मातुः पितुस्तथा ।
पत्युः प्रियः प्रियो नार्या मित्रात् भ्रातुः प्रियः प्रियः ॥१६६३॥
न ज्ञेयोऽयं न मेयोऽयं ज्ञेयोमेयोस्तथैव च ।
ज्ञातारं केन जानीयाद् द्रष्टारं लोकयेत् किम् ॥१६६४॥
श्रोत्रस्य श्रोत्र मेवायं नेत्रस्य नेत्रमेव वा ।
मनसः स मनोज्ञेयः प्राणस्य प्राण एव च ॥१६६५॥

यह आत्मा श्रोत्र का श्रोत्र और चक्षु का चक्षु है, क्योंकि श्रोत्र स्वयं सुनने में व चक्षु देखने में असमर्थ हैं। ये आत्मा के कारण ही विषयो को ग्रहण करते है। इसी प्रकार यह मन का मन और प्राणों का यह (आत्मा) प्राण है। अर्थात् सभी इन्द्रियां आत्मा द्वारा प्रवृत्त होती है ।

द्वैता द्वैतात्मकः सत्यं निर्विकल्पो निरामयः ।
निर्विशेषो निराकारो निरालम्बो निराकुलः ॥१६६६॥
शरण्योऽयं वरेण्योऽयं सुरम्योऽयञ्च योगिनाम् ।
सर्वथा कल्पनातीतः सर्व शक्ति समन्वितः ॥१६६७॥

यह आत्मा द्वैताद्वैतात्मक है, सत्य स्वरूप है, निर्विकल्प और निरामय रूप है, निर्विशेष है, निराकार है, निरालम्ब है, निराकुल है ।

यह आत्मा शरण्य है, वरेण्य है तथा योगियो के लिए परम रम्य है। यह कल्पनातीत और सर्व शक्तिमान है ।

तं विद्यात् सर्व भावेन सर्वयत्नेन चाप्नुयात् ।
तस्यैव चिन्तनं कुर्यात् "निजानन्द" निजात्मनि ॥१६६८॥

सर्वभावो और प्रयत्नो से इस आत्मा को जानना चाहिये ।

णवि होदि अप्पमत्तो णपमत्तो जाणजोदु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव ॥१६६९॥

समयसार आ. कुन्द कुन्द

जो एक ज्ञायक भाव है, वह अपने आप से सिद्ध है, किसी से उत्पन्न नही हुआ है। उस भाव से तो अनादि सत्ता रूप है और कभी उस ज्योति का विनाश नही होता, इसलिए अनन्त है, नित्य उद्योत रूप है, इस कारण क्षणिक नही है। ऐसी स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है, वह ससार की अवस्था मे अनादि बध पर्याय की निरूपणा (अपेक्षा) से कर्मरूप पुद्गल द्रव्य सहित दूध, जल की तरह होने पर भी द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाय तब तो जिसका मिटना कठिन है, ऐसे कषायो के उदय की विचित्रता से प्रवृत्त हुए पुण्य पाप के उत्पन्न करने वाले समस्त अनेक रूप शुभ अशुभ भाव के स्वभाव से परिणमन नही करती है। ज्ञायक भाव से जडभाव-रूप नही होती। इसलिए प्रमत्त भी नही है और अप्रमत भी नही है, यही समस्त अन्य द्रव्यो के भावो से भिन्न रूप मे सेवित हुआ 'शुद्ध' ऐसा कहा जाता है। और इसका ज्ञेयाकार होने से ज्ञायकत्व प्रसिद्ध है। जैसे दाहने योग्य जो दाह्य ईंधन यद्यपि उसके आकार अग्नि होती है। इसलिए अग्नि को दहन कहते है, तो भी अग्नि तो अग्नि ही है। ईंधन अग्नि नही है। उसी तरह ज्ञेय रूप आप नही है, आप तो ज्ञायक रूप ही है। इस तरह उस ज्ञेय के द्वारा की हुई भी इस आत्मा के अशुद्धता नही है, क्योकि ज्ञेयाकार अवस्था मे भी ज्ञायक भाव द्वारा जाना गया जो अपना ज्ञायकत्व वही स्वरूप प्रकाशन की जानने की अवस्था मे भी ज्ञायकरूप ही है, ज्ञेय रूप नही हुआ। क्योकि अभेद विवक्षा से कर्ता तो आप ज्ञायक और अपने को कर्म जाना—ये दोनो एक आप ही है, अन्य नही है। जैसे दीपक घटपटादि को प्रकाशित करता है, उनके प्रकाशने की अवस्था मे भी दीपक ही है। वही अपनी ज्योति लौ के प्रकाशने की अवस्था मे भी दीपक ही है, कुछ दूसरा नही है।

भावार्थ—अशुद्धता परद्रव्य से सयोग से आती है। वहां मूल द्रव्य तो अन्य द्रव्य रूप होता ही नही। कुछ पर द्रव्य के निमित से अवस्था मलिन हो जाती है। उस जगह द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य जो है वही है और पर्याय दृष्टि से देखा जाय तब वह मलिन ही दिखता है। उसी तरह आत्मा का स्वभाव ज्ञायकत्व मात्र ही है, और उसकी अवस्था पुद्गल कर्म के निमित से रागादि रूप मलिन है, वह पर्याय है। उसकी दृष्टि से देखा जाये तव मलिन ही दीखता है। और द्रव्यदृष्टि से देखा-जाय, तब ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है, कुछ जडत्व नही हुआ। यहां पर द्रव्य दृष्टि को प्रधान कर कहा है। जो प्रमत्त अप्रमत्त का भेद है, वह तो पर द्रव्य की सयोगजनित पर्याय है,

यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, इसलिए आत्मा ज्ञायक है, इस कारण से प्रमत्त अप्रमत्त नही कहा जाता। 'ज्ञायक' ऐसा नाम भी ज्ञेय के जानने से कहा जाता हैं, क्योकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है, तब वैसा ही अनुभव में आता है। सो यह भी अशुद्धता इसके नही कही जा सकती, क्योकि जैसे ज्ञेय ज्ञान मे प्रतिभासित हुआ, वैसे ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है, यह मै जानने वाला हूं, सो मैं ही हूं, दूसरा कोई नही है—ऐसा अपना अपने से अभेद रूप अनुभव हुआ, तब उस जानने रूप क्रिया का कर्ता आप ही है और जिसको जाना सो कर्म भी आप ही है। ऐसे एक ज्ञायकत्व मात्र आप शुद्ध है, यह शुद्धनय का विषय है। अन्य पर सयोगजनित भेद है, वे सब भेद अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषय है। शुद्ध द्रव्य की दृष्टि मे यह भी पर्यायार्थिक ही है, इसलिए व्यवहारनय ही है—ऐसा आशय जानना। यहा ऐसा भी जानना कि जिनमत का कथन स्याद्वाद रूप है, इसलिए शुद्धता और अशुद्धता दोनो वस्तु के धर्म है. अशुध्दनय को सर्वथा असत्यार्थ नही मानना। जो वस्तु धर्म है, वह वस्तु का सत्व है, परद्रव्य के सयोग से ही हुआ भेद है। यहा अशुध्द नय को हेय कहा है, उस अशुध्द नय का विषय ससार कहा है, जिसमें आत्मा क्लेश भोगता है। जब आत्मा पर द्रव्य से भिन्न तब ससार मिटे और तभी क्लेश मिटे, इस तरह दु.ख मेटने के लिए शुध्दनय का प्रधान उपदेश है। और अशुध्दनय को असत्यार्थ कहने से ऐसा नही समझना कि यह वस्तु धर्म सर्वथा ही नही, आकाश के फूल की तरह असत् है। ऐसे सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व होता है। इसलिए स्याद्वाद का शरण लेकर शुध्दनय का आलंबन करना चाहिये, स्वरूप की प्राप्ति होने के पश्चात् शुध्दनय का भी आलबन नही रहता। जो वस्तु स्वरूप है, वह है—यह प्रमाण दृष्टि है, इसका फल वीतरागता है, ऐसा निश्चय करना योग्य है। यहां पर जो 'प्रमत्त अप्रमत्त नही है' ऐसा कहा है, वह गुणस्थान की परिपाटी मे छठे गुणस्थान तक तो प्रमत कहा जाता है और सातवे से लेकर अप्रमत्त है। सो ये सभी गुण-स्थान अशुध्दनय के कथन मे है, शुध्दनय से आत्मा ज्ञायक ही है।

कुन्दकुन्दाचार्य—समयसार, गा न ६ का अर्थ

शुद्धोपयोगी का लक्षण—

सुविदिद पदत्थ जुत्तो, संजम, तव, संजुत्तो विगदरागो।
समणोसम सुह दुक्खो, भणिदो शुद्धो व ओगोत्ति ॥१६७०॥

आ. कुन्द कुन्द, मूलाचार, ५१६४/प्र. सा. १४ पृ. १४२

जो यति स्वद्रव्य और परद्रव्य को, सुत्रार्थ को अच्छी तरह से जानता है। जो भव्यात्मा यति पुरुष सयम और तप युक्त है तथा जो वीतराग भाव से लबालब भरपूर है एव सुख व दु.ख जिन्होने समान मान रक्खा है। ऐसे श्रमण को परमागम मे शुद्धोपयोगी कहा है। एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय पर्यंत जीव मात्र के प्रति समता भाव रखना मैत्री है।

"अणकपासुद्ध ुवओगो विय पुण्णस्स आसव द्वार।

शिवार्य. भगवति. आ. १६२४

अणुकम्पा और शुद्धोपयोग पुण्यास्त्रव के द्वार है।

"पुण्णस्सासव भूदा अणुकम्पा शुद्ध एव उवओगो" ॥१६७१॥

मू ५/४८ जयवधवल ५२ पृ. ५३

शुध्दोपयोग और अनुकम्पा भी निश्चय से पुण्यास्त्रव के कारण है।

अणुकम्पा हृदय क्षेत्र की वह पवित्र गङ्गा है, जो अमृत रस से भरपूर है। सामायिक का सच्चा अधिकारी वही है, जो अनुकस्पा के रस से अपने समस्त हृदय विकारो का प्रक्षालन कर लेता है।

"अत्र शुध्दोपयोगाभिमुखस्य शिक्षण मुक्तम्"

नियमसार गा. १४८

यहा शुध्दोपयोगाभिमुख जीव को शिक्षा कही है।

"रागद्वेष रहित परिणाम सो शुध्दोपयोग"

मोक्ष मार्ग प्र. ८/४२०

द्रव्यानुयोगविषै आत्म परिणामनिकी मुख्यता करि निरूपण कीजिये है।

असयतसम्यग्दृष्टि-श्रावक-प्रमत सयतेषु पारम्पर्येण शुध्दोपयोग साधक, उपर्युपरितार तम्येन शुभोपयोगो वर्तते"

वृ द्र. सं. ३४/पृ ९४

चौथे, पाचवे और छठे गुणस्थान में पारम्पर्येण—परम्परा से शुध्दोपयोग का साधक शुभोपयोग उत्तरोत्तर वृध्दिरुप तारतम्य रुप से शुभ परिणाम होते है।

सम्मं विदिद पदत्थाचत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णाव सत्ता जे सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा ॥१६७२॥

जो सम्यक् रूप से पदार्थों को जानते हैं और बाह्य तथा अन्तरंग परिग्रह को छोड़कर पांचों इन्द्रियों के विषयों में अनासक्त है, उन शुध्दात्माओं को शुध्दोपयोगी कहा है ।

कर्माधान क्रिया रोधः स्वरूपा चरणं च यत् ।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्र संज्ञकः ॥१६७३॥

कर्मो के ग्रहण करने की क्रिया का रुक जाना ही स्वरूपाचरण है, वही धर्म है । वही शुध्दोपयोग है और वही चारित्र है ।

प्रश्न :—शुद्धोपयोग और अशुद्धोपयोग का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—सकल विमल केवल ज्ञान दर्शन द्वयं शुध्दोपयोगः, मतिज्ञानादि रूपो विकलोऽशुध्दोपयोग इति द्विविधोपयोगः । अव्यक्त सुख दु.खानुभव रूपा कर्मफल चेतना, तथैव मतिज्ञानादि, मनपर्ययः पर्यन्तम शुध्दोपयोग इति । स्वेहा पूर्वेष्टा निर्विकल्प रूपेण विशेष राग द्वेष परिणमनं कर्म चेतना, केवल ज्ञान रूपा शुध्द चेतना इत्युक्त लक्षणोपयोगश्चेतना च यत्र नास्ति स भवत्य जीव इति विज्ञेयः ।

वृहद द्रव्य सं. गा. १५ पृ ५०

पूर्णनिर्मल केवलज्ञान, केवलदर्शन ये दोनों शुद्ध उपयोग हैं और मतिज्ञान आदि रूप विकल–अशुध्द–उपयोग है, इस तरह उपयोग दो प्रकार का है । अव्यक्त सुख दुःखानुभव स्वरूप कर्मफल चेतना है । तथा मतिज्ञान आदि मन: पर्यय तक चारो ज्ञान रूप अशुद्ध उपयोग तथा निज चेप्टा पूर्वक, इप्ट, अनिप्ट, विकल्प रूप से विशेष राग द्वेष रूप जो परिणाम है, वह "कर्म चेतना" है । केवल ज्ञान "शुद्ध चेतना" है । इस तरह पूर्वोक्त लक्षण वाला उपयोग तथा चेतनायें जिसमें नही है, वह "अजीव" है, ऐसा जानना चाहिए ।

शुद्धोपयोग निर्विकल्प है—

शुद्धस्यात्मोपयोयः स्वयं स्यात् ज्ञान चेतना ।
निर्विकल्पः स एवार्थदर्था संक्रान्त सङ्गते ॥१६७४॥

शुद्धात्मानुभव रुप जो उपयोगात्मक "ज्ञान चेतना" है, वह भी वास्तव मे निर्विकल्पक ही है । क्योंकि जितने काल तक शुद्धात्मानुभव होता है, उतने काल तक ही उपयोगात्मक ज्ञान चेतना है (वह भी वास्तव में) कहलाती है । और उस काल में शुद्धात्मा से हटकर दूसरे पदार्थो की ओर ज्ञान जाता नहीं है, इसलिए उस समय

संक्रान्ति के न होने से उपयोगात्मक ज्ञान को भी निर्विकल्पक कहा गया है।

प्रश्न :—श्रावकों को जिनाभिषेक व जिनपूजा किसप्रकार करना चाहिये?

उत्तर :—पूजा चार प्रकार की है, द्रव्य पूजा, क्षेत्र पूजा, काल पूजा, भाव पूजा।

द्रव्य पूजा —

नव्वेरणय दव्वस्सय जा पूजा जाणदव्वपूजा सा।
दव्वेण गंध-सलिलाइपुव्व भणिएण कायव्वा ॥१६७५॥

जलादि द्रव्य से प्रतिमादि द्रव्य की जो पूजा की जाती है, उसे द्रव्य पूजा जानना चाहिये। वह द्रव्य से अर्थात् जल-गंध आदि पूर्व में कहे गये पदार्थ समूह से (पूजन सामग्री से) करनी चाहिये।

तिविहा दव्वेपूजा सच्चित्ताचित्तमिस्स भेएण।
पच्चक्खजिणाईणं सचित्तपूजा जहाजोगं ॥१६७६॥
तेसिं च सरीराणं दव्वसुदस्स वि अचितपूजा सा।
जापूणदोण्हं कोरइणायव्वा मिस्सपूजा सा ॥१६७७॥

द्रव्य पूजा तीन प्रकार की है—सचित, अचित और मिश्र। प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवान् और गुरु आदि का यथायोग्य पूजन करना सो सचित्त पूजा है। उनके अर्थात् जिन तीर्थंकर आदि के शरीर की और द्रव्यश्रुत अर्थात् कागज आदि पर लिपि वद्ध शास्त्र की जो पूजा की जाती है, वह अचित्त पूजा है। और जो दोनो का पूजन किया जाता है वह मिश्र पूजा है।

क्षेत्र पूजा—

जिण जम्मण-णिक्खमणेणाणुप्पत्तीए तित्थचिण्हेसु।
णिसिहीसुरवेत्त पूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा ॥१६७८॥

जिन भगवान् की जन्म कल्याणक भूमि, दीक्षा भूमि, ज्ञानकल्याणक भूमि, निर्वाण भूमि आदि स्थानों की, तीर्थ, चिन्ह स्थान और निषिधिका स्थानों की पूर्वोक्त विधि से पूजा करना यह क्षेत्र पूजा है।

काल पूजा—

गब्भावयार–जम्माहिसेय–णिक्खमणणाण–णिव्वाणं ।
जम्हि दिणे संजादं जिणण्हवणंतद्दिणो कुज्जा ॥१६७६॥
इच्छारस-सप्पि-दहि-खीर-गंध-जलपुण्णाविविहकलसेहिं।
णिसि जागरणं च संगीयणाडयाईहिं कायव्वं ॥
णंदीसरट्ठदिवसेसु तहा अण्णेसु उचियपव्वेसु ।
जं कीरइ जिणमहिमं विण्णेया काल पूजा सा ॥

जिस दिन तीर्थकरो के गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमण कल्याणक, ज्ञान कल्याणक और निर्वाण कल्याणक हुए है, उस दिन इक्षुरस, घृत, दधि, क्षीर, गध और जल से परिपूर्ण विविध अर्थात् अनेक प्रकार के कलशो से जिन भगवान् का अभिषेक करे तथा सगीत, नाटक आदि के द्वारा जिन गुणगान करते हुए रात्रि-जागरण करना चाहिये । इसी प्रकार नन्दीश्वर पर्व के दिनों मे तथा अन्य भी उचित दिनो में जिन महिमा की जाती है, वह काल पूजा है ।

भाव पूजा—

परम भक्ति के साथ जिनेन्द्र भगवान के अनन्त चतुष्टय आदि गुणो का कीर्तन करके जो त्रिकाल वदना की जाती है, उसे निश्चय से भाव पूजा जानना चाहिये। अथवा पच णमोकार पदो के द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार जाप अथवा स्तोत्र अर्थात् गुणगान करने को भाव पूजा जानना चाहिये । अथवा चार प्रकार का ध्यान करना भी भाव पूजा है ।

अष्ट द्रव्य से पूजा—

गाहिऊणसिसिरकर किरणणियर धवलरययभिंगारं ।
मोत्ति-पवाल-मरगय सुवण्ण-मणि खचिय वरकंठं ॥१६८०॥
सयवत्त-कुसुम कुवलय रजपिंजर-सुरहि-विमल-जलभरियं ।
जिणचरण-कमलपुरओ खिविज्जिओ तिण्णिधाराओ ॥१६८१॥

मोती, प्रवाल, मरकत, सुवर्ण और मणियो से जटित श्रेष्ठ कण्ठ वाले, शत-पत्र (रक्त कमल) के पराग से पिंजरित एव सुरभित विमल जल से भरे हुए शिशिर कर (चन्द्रमा) की किरणो के समूह से भी अति धवल रजत (चादी) के भृगार (झारी) को लेकर जिन भगवान् के चरण कमलो के समाने तीन धाराएँ छोडना चाहिए ।

कप्पूर-कुंकुमायरू-तुरूक्कमीसेरा चंदरारसेरा ।
वरवहलपरिमला मोय वासियासा समूहेरा ॥१६८२॥
वासाणु मग्गसंपत्त मुइय मत्तालिराव मुहलेरा ।
सुरमउडधिट्ठ चलरां भत्तीएसमलहिज्जजिणं ॥१६८३॥

कपूर, कुम्कुम, अगर, तगर से मिश्रित, सर्व श्रेष्ठ विपुल परिमल (सुगन्ध) के आमोद से आशा समूह अर्थात् दशो दिशाओ को आवासित करने वाले और सुगन्धि के मार्ग के अनुकरण से आये हुए प्रमुदित एव मत्त भ्रमरो के शब्दो से मुखरित, चंदन रस के द्वारा, (निरन्तर नमस्कार किये जाने के कारण) सुरो के मुकुटो से जिनके चरण घिस गये है। ऐसे श्री जिनेन्द्र को भक्ति से विलेपन करे।

ससिकंतखंड विमलेहिं विमल जलसित्त अइसुयंधेहिं ।
जिरापडिमपइट्ठयज्जिय विशुद्ध पुण्णं कुरेहिं व ॥१६८४॥
वरकमल-सालितंडुल च एहिं सुछंडिय दोह सयलेहिं ।
मणुय-सुरासुर महियं पुज्जिज्ज जिणि दपय जुयलं ॥१६८५॥

चन्द्र कान्त मणि के खड समान निर्मल तथा विमल (स्वच्छ) जल से धोये हुए और अति सुगन्धि, मानो जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा से उपार्जन किये गये विशुद्ध पुण्य के अकुर ही हो, ऐसे अखड और लबे उत्तम कलमी और शालिधान्य से उत्पन्न तन्दुलो के समूह से मनुष्य, सुर और असुरो के द्वारा पूजित श्री जिनेन्द्र के चरण युगल को पूजे।

मालइ-कयंब कणयारि-चंपयासोय-बउल-तिलएहिं ।
मंदार-णायचंपय-पउमुप्पल-सिंदु वारेहिं ॥१६८६॥
कणवर मल्लियाहिं कचणार-मचकुंद-किंकराएहिं ।
सुरवणज जूहिया-पारिजातय-जासवण-टगरेहिं ॥१६८७॥
सोवण्ण-रूप्पि-मेहिय-मुत्तदामेहिं बहुवियप्पेहिं ।
जिणपय-पंकय जुयलं पुज्जिज्जसुरिंद सयमहियं ॥१६८८॥

मालती, कदम्ब, कर्णकार (कनैर), चपक, अशोक, बकुल, तिलक, मन्दार, नाग, चम्पक पद्म (लाल कमल), उत्पल (नीलकमल), सिंदुवार (वृक्षविशेष या निर्गुण्डी) कर्णवीर (कनेर) मल्लिका, कचनार, मचकुन्द, किंकरात् (अशोक वृक्ष), देवो के नन्दन

वन मे उत्पन्न होने वाले कल्पवृक्ष, जुही, पारिजातक, जयाकुसुम और तगर (आदि उत्ताम वृक्षों से उत्पन्न) पुष्पो से तथा सुवंरा, चादी से निमित फूलो से और नाना प्रकार के मुक्ता फलों की मालाओ के द्वारा सौ जाति के इन्द्रों से पूजित जिनेन्द्र के पद पकज युगल को पूजे ।

दहि-दुद्ध-सप्पिमिस्सेहिंकमल भत्तेहिंबहुप्यारेहिं ।
तेवट्ठि-विंजणेहि य वहुविहपक्कण्ण भेएहिं ॥१६८९॥
रूप्पय-सुवण्ण-कंसाइथालिणिएहिं विविह भक्खेहिं ।
पुज्जं वित्थारिज्जो भत्तीए जिणिदयपुर ओ ॥१६९०॥

चांदी, सोना और कांसे आदि की थालियो में रखे हुए, दही, दूध और घी मे मिले हुए नाना प्रकार के चांवलों के भात से त्रेसठ प्रकार के व्यजनो से तथा नाना प्रकार की जाति वाले पकवानों से और विविध भक्ष्य पदार्थो से भक्ति के साथ जिनेन्द्र-चरणों के सामने पूजा को विस्तारे अर्थात् नैवेद्य से पूजन करे ।

दीवेहिंणियपहोहामियक्तेहिंधूमरहि एहिं ।
मंदं चल मंदाणि लवसेणणच्चंत अच्चीहिं ॥१६९१॥
घणपडलकम्मणिवहव्व दूर मवसारियंधयारेहिं ।
जिण चरणकमलपुरओ कुणिज्जरयणं सुभत्तीए॥१६९२॥

अपने प्रभा समूह से अमित (अगणित) सूर्यो के समान तेज वाले अथवा अपने प्रभा पुञ्ज से सूर्य के तेज को भी तिरस्कृत या निराकृत करने वाले धूम-रहित तथा धीरे-धीरे चलती हुई मन्द वायु के वश से नाचती हुई शिखाओ वाले और मेघ पटल रूप, कर्म समूह के समान दूर भगाया है, अन्धकार को जिन्होने, ऐसे दीपको से परम भक्ति के साथ जिन चरण कमलो के आगे पूजन की रचना करे अर्थात् दीप से पूजन करे ।

कालायरूणह चंदह कप्पूर सिल्हारसाइदव्वेहिं ।
णिप्पण धूम वत्तीहिं परिमलाय त्तियालीहिं ॥१६९३॥
उग्गसिहादेसिय सग्ग-मोक्ख मग्गेहि बहल धूमेहिं ।
धूविज्ज जिंणिदपयार विंद जुयलं सुरिंदणुयं ॥१६९४॥

कालागरु, अम्बर, चन्द्रक, कर्पूर, शिलारस (शिलाजीत) आदि सुगंधित द्रव्यो से बनी हुई, जिसकी सुगन्ध से लुब्ध होकर भ्रमर आ रहे है तथा जिसकी ऊँची

शिक्षा मानो स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग ही दिखा रही है और जिसमे से बहुत-सा धुआ निकल रहा है, ऐसी धूप की बत्तियो से देवेन्द्रो से पूजित श्री जिनेन्द्र के पादारविद-युगल को धूपित करे अर्थात् उक्त प्रकार की धूप से पूजन करे।

जंबीर–मोच–दाडिम–कवित्थ–पणस–णालिएरेंहि।
हिंताल–ताल–खज्जूर–णिंबु–नारंग–चारेहि ॥१६६५॥
पूईफल-तिंदु-आमलय-जंबु-विल्लाइ मुराहि मिट्ठेहि।
जिणपयपुर ओ रयणं फलेहिं कुज्जा सुपक्केहिं ॥१६६६॥

जवीर (नीबू विशेष), मोच (केला), दाडिम (अनार), कपित्थ (कवीट या कैथा), पनस, नारियल, हिताल, ताल, खजूर, निम्बु, नारगी, अचार (चरोजी), पूगीफल (सुपारी), तेन्दु, आवला, जामुन, विल्वफल आदि अनेक प्रकार के सुगधित, मिष्ट और सुपक्व फलो से जिन-चरणो के आगे रचना करे अर्थात् पूजन करे।

अट्ठविह मंगलाणि य बहुविह पूजो वयरणदव्वाणि।
धूवदहणाइ तहा जिणपूयत्थं वितीरिज्जा ॥१६६७॥

आठ प्रकार के मगल-द्रव्य और अनेक प्रकार के उपकरण द्रव्य तथा धूप-दहन (धूपायन) आदि जिन-पूजन के लिये वितरण करे।

वसुनन्दी श्रावकाचार, वसु. आचार्य, पृ. १२६

सोम देव सूरि, उपासकाध्ययन, रविषेणाचार्यकृत, पद्मपुराण, भावसग्रह गुणभद्राचार्य कृत, पूज्यपादाचार्य कृत अभिषेक पाठो मे पूरा वर्णन, पचामृताभिषेक और अष्टद्रव्यार्चना का वर्णन मिलता है, वहां से देखे। ये मूलसघ के आचार्य वसुनन्दी सैद्धान्तिक देव है, प्रामाणिक आचार्य है। इन्हि का मतव्य हमने यहा दिया है। आगे और भी विशेष वर्णन करेंगे।

प्रश्न :—मुनिराज जो केशलोंच करते है, सो कहां-कहां का केश लोंच करते हैं और कहां-कहां का नहीं ?

उत्तर :—मुनिराज शिर, दाडी, मूछ के केश उखाडते है। काख और नीचे लिग वृषण के केश नही उखाडते है। काख और लिग वृषण के केशो की रक्षा करते हैं। ऐसी आम्नाय है, मुनियो को लोच करना इसी प्रकार कहा है। चारित्रासार मे लिखा है।

"शिरःमुखस्मश्रुलोचोअधकेशरक्षणमिति" इसी प्रकार इन्द्रनदी सिद्धान्त चक्रवर्ती ने नीतिसार मे लिखा है। "अचेलत्व शीर्षकूर्चलोचोऽधः केशधारणमिति" इस प्रकार जानना।

प्रश्न :—मुनिराज के लोंच की विधि तो जानी, परन्तु तीर्थंकर भगवान दीक्षा समय जो पंचमुष्टी लोंच करते हैं। सो किस प्रकार करते हैं ?

उत्तर :—तीर्थंकर भगवान मुनियो के समान लोंच नही करते, क्योकि उनके दाढी, मूंछ होते ही नही है। तीर्थंकर भगवान तो सदा सोलह वर्ष की अवस्था वाले पुरुष के समान (बिना दाढ़ी मूछ के) अपने रूप से सुशोभित रहते हैं। इसलिये भगवान जो पंचमुष्ठी लोच करते है। सो केवल शिर का ही पचमुष्यिो का लोंच करते है। यदि ऐसा नही माना जायेगा तो मुनिराज के समान तीर्थंकरों का केशलोच बन ही नही सकेगा, क्योकि उनके दाढी मूछ के केश लोच करने योग्य होते ही नही है। फिर भला उनके लोच की संभावना हो ही कैसे सकती है ? लिखा भी है—

देवाणि णारया विय भोगभुवा चक्किजिणवींरंदाण।
सव्वे केसव रामा कामा विणिकुंचिया हुंति ॥१६६८॥

अर्थात् चतुर्णिकाय के देव, नारकी जीव, भोग भूमियां चक्रवर्ती तीर्थंकर नारायण, बलभद्र और कामदेवों के मुख पर दाढी मूछो के बाल नहो होते है।

भावार्थ—इन सबके हमेशा नवयौवन, अवस्था बनी रहती है। नारकी जीवो को छोड़कर बाकी के ऊपर लिखे सभी जीवो के केवल शिर के बाल होते है। सो भी १६ वर्ष वाले पुण्य पुरुष के समान सुशोभित रहते है। अन्य साधारण पुरुषो के समान न तो विशेप उत्पन्न होते है और न विशेष बढते है। केवल शोभारूप उत्पन्न होते हैं। और शोभा रूप ही बढ़ते है, इसलिये ऊपर लिखे जीवो के क्षौरकर्म (बाल कर्म) नही होता है। अर्थात् तीर्थंकरादि बाल नही बनवाते, क्योकि वे इतने बढते ही नहीं है। इसके सिवाय एक और बात यह भी है कि यदि तीर्थंकरो के मुख पर दाढी, मूँछ के बाल माने जाये तो उनकी प्रतिमा में दाढ़ी, मूछ के बाल मानने पडेगे परन्तु। ऐसा है नही, इसलिये तीर्थंकरो के दाढी, मूछ का अभाव ही है। जिन प्रतिमा मे दाढ़ी, मूछ के बालो के साथ भौह के बालों का भी निषेध है। लिखा भी है—

केषादिरोमहीनांगं श्मश्रु रेखाविर्जितम् ।

सिथतं प्रलंवितहस्तं श्रीवत्साढ्यं दिगम्बरम् ॥१६९९॥

प्रश्न :—कोटिशिला से एक करोड़ मुनिराज मोक्ष पधारे हैं। उस कोटि-शिला को नारायण उठाते हैं। सो वह कोटिशिला किस जगह है ?

उत्तर :—वह कोटिशिला नाभिगिरि पर्वत के मस्तक पर है। वह एक योजन ऊंची और आठ योजन चौडी है तथा अनेक मुनिराजो का वह सिद्धस्थान है। ऐसी कोटिशिला को हमारा नमस्कार हो। यही बात सोमसेनकृत पद्मपुराण में २२वें अधिकार में लिखी है—

रावणेन पुरा पृष्टोऽनंतवीर्यो मुनीश्वरः ।

आत्मनो मरणं कस्य हस्ते देव ! भविष्यति ॥१७००॥

तेनोक्तं सिद्धशिलां यः उद्धरेत्स्वपरक्रमात् ।

स एव हन्यते त्वां हि चक्रेण चामुना दृढम् ॥१७०१॥

एतच्छ्रुत्वाह लक्ष्मीश उद्धरिष्यति नान्यथा ।

ततस्थेऽथ विमानस्थास्तां शिला प्रतिनिर्गताः ॥१७०२॥

जांबूनदश्च सुग्रीवो नलनीलौ विराधितः ।

इत्यादि वहवो वीरा रात्रौ प्राप्ताश्च गह्वरम् ॥१७०३॥

नाभिगिरि शिरोदेशे शिला योजनमुत्थिता ।

अष्टयोजन विस्तीर्णा सिद्धस्थान मुनीशिनाम् ॥१७०४॥

तत्रावतीर्य तै सर्वैः सा शिला पूजिता परम् ।

गंधाक्षतादिभिः पुष्पैः सुरासुरैश्च सेविता ॥१७०५॥

इत्यादि और भी वर्णन है। जाबूनद और विद्याधर उसी रात को लक्ष्मण को विमान मे बैठाकर कोटिशिला के समीप ले गये थे, इससे सिद्ध होता है कि कोटिशिला नाभिगिरि नामक पर्वत के मस्तक पर ही है। कितने ही लोग कोटिशिला को तारंगा आदि अन्य क्षेत्रस्थान मे मानते हैं, सो भ्रम हैं।

प्रश्न :—मुनिराज बिना पिंछी के चले या नहीं ?

उत्तर :—यदि मुनिराज किसी जगह परबस होकर बिना मयूर पिछी के गमन करे तो फिर वे उसका प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि करते हैं। बिना पिंछी के गमन करने पर बिना प्रायश्चित्त लिये मुनिराज कही नही रहते है। बिना पिंछी के गमन

करने का प्रायश्चित्त इस प्रकार है । यदि मुनिराज बिना पिछी के सात पेड गमन करे तो एक कायोत्सर्ग धारण कर शुद्ध होवे । यदि एक कोश चले तो एक उपवास कर शुद्ध होवे यही बात चारित्तासार में लिखी है—

सप्तपादेषु निःपिच्छः कार्योत्सर्गाद्विशुद्धयति ।
गव्यूति गमने शुद्धिमुपवासं समश्नुते ।।१७०६।।

कितने ही लोग मुनीश्वरो का स्वरूप पिछी कमण्डलु से रहित मानते है। परन्तु उनका यह मानना मिथ्या है । जो मुनीश्वरो का स्वरूप पिछी रहित मानते है। वे जिनमत से वाह्य हैं, ये लोग जिनमार्ग मे भेद उत्पन्न करने वाले है । यही बात नीतिसार में लिखी है—

कियत्यपि ततोऽतीते काले श्वेताम्बरोऽभवत् ।
द्राविड़ो यापनीयश्च केकीसंघश्च मानतः ।।१७०७।।

केकीपिच्छः श्वेतवासो द्राविडो यापनीयकः ।
निःपिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ।।१७०८।।

इससे सिद्ध होता है कि जो मुनियो को पिछी रहित मानते हैं, वे जैनाभासी हैं, साक्षात् जैनी नही है । इसलिये पिछी कमण्डलु के बिना मुनि का स्वरूप वन ही नही सकता ।

प्रश्न :—श्री मुनिराज कारण मिलने पर जल में प्रवेश करे या नहीं तथा नाव आदि पानी की सवारी में बैठें या नहीं ?

उत्तर :—जो महाव्रती मुनि अपने वा परके लिये जल मे प्रवेश करे अथवा नाव मे बैठकर पार उतरे तो वे उसका प्रायश्चित्त लेते है । वह प्रायश्चित्त इस प्रकार है । यदि मुनि ४ अंगुल जल मे प्रवेश करे तो एक कायोत्सर्ग धारण करे, यदि घुटने तक जल में प्रवेश करे तो एक उपवास धारण करे । यदि घुटने से ४-४ अंगुल अधिक जल में प्रवेश करे तो दूना-दूना उपवास करे । यदि १६ धनुष पर्यंत जल मे प्रवेश करे तो कायोत्सर्ग उपवास आदि उससे भी अधिक करे । यदि अपने व दूसरे के लिये नाव में वैठकर पार उतरे तो ज्ञानी और अनेक कलाओ के जानकार वा समय के जानकार आचार्य यथायोग्य थोडा वा बहुत प्रायश्चित्त देवे यही बात श्री इन्द्रनदी विरचित ग्रन्थ में लिखी है—

जानुदघ्ने तनूत्सर्गः क्षमणं चतुरंगुले ।
द्विगुणाः द्विगुणास्तस्मादुपवासा स्युरम्भसि ।।१७०९।।
दंडैः षोडशभिर्मये भवन्त्येते जलेऽजंसा ।
कायोत्सर्गोपवासाः स्युर्जंतुकीर्णे ततोऽधिका ।।१७१०।।
स्वपरर्थे प्रयुक्तैश्च नावाद्यै. सरणे सति ।
स्वल्पं वा बहु वा दद्यात् ज्ञात कालादिको गणी ।।१७११।।

प्रश्न :—लंका नाम की नगरी कौन से समुद्र में है ?

उत्तर .—लका लवणोदधि समुद्र मे है । वहा पर ७०० योजन लबा चौड़ा एक राक्षस नाम का द्वीप है । उस द्वीप मे मेरु पर्वत के समान विचित्रीकूट नाम का पर्वत है । वह नौ योजन ऊँचा है । ५० योजन लम्बा है । उस पर शत्रु प्रवेश नही कर सकते, परन्तु जो वहा पहुच जाये उसे वहा पर अच्छी शरण मिल जाती है । वह पर्वत अनेक वनो की शोभा से सुसोभित है । उस पर्वत पर ३० योजन के प्रमाण मे लका नाम की नगरी है । जो कि बहुत ही सुन्दर है । यही बात श्री अजितनाथ के समवशरण मे भीम महाभीम नाम के यक्षो ने मेघनाद नाम के विद्याधरो के राजा से कही थी । "हम तुम्हे ऐसी लकापुरी देते है । वहा तुम सुख से रहना" ऐसा पद्मपुराण मे लिखा है । देखो श्री रविषेणाचार्य विरचित पद्मपुराण पर्वत पाचवे मे—

खेचराभंक धन्योसि यस्त्वं शरणमागतः ।
सर्वज्ञमजितं नाथं तुष्टावावामतस्तव ।।१७१२।।
श्रृणु संप्रति ते स्वास्थ्यं यथा भवति सर्वतः ।
तं प्रकारं प्रवक्ष्याव. पालनीयस्त्वमावयो. ।।१७१३।।
संत्यत्र लवणाम्भोधा वण्युग्राहसंकटे ।
अत्यंतदुर्गमारम्या महाद्वीपाः सहस्त्रशः ।।१७१४।।
क्वचित्क्रीडंति गंधर्वाः किन्नराणां क्वचिद्गणाः ।
क्वचिच्च यक्ष संघाता. क्वचित्किंपुरुषामराः ।।१७१५।।
तत्र मध्येऽस्ति सद्द्वीपो रक्षसां क्रीडनक्षमः ।
योजनानां शतान्येष सर्वतः सप्त कीर्तितः ।।१७१६।।
तन्मध्ये मेरुवद्भाति त्रिकूटाख्यो महागिरिः ।
अत्यन्त दुःख प्रवेशोऽयं शरण्यः सद्गुहागृहैः ।।१७१७।।

शिखरं तस्य शैलेन्द्र चूडाकारं मनोहरम् ।
योजनानि नवोत्तुंगं पंचाशद्विपुलत्ववतः ॥१७१८॥

नानारत्न प्रभाजाल छन्नहेम महातटम् ।
चित्रवल्लीपरिष्वक्त कल्पद्रुम समाकुलम् ॥१७१९॥

त्रिंशद्योजनमानाढ्यः सर्वतस्तस्य राक्षसी ।
लंकेति नगरी भाति रत्नजांबूनदालया ॥१७२०॥

मनोहारिभिरुद्यानैः सरोभिश्च सवारिजैः ।
महद्भिश्चैत्यगेहैश्च सा महेन्द्र पुरीसमा ॥१७२१॥

यही बात श्री सोमसेन विरचित द्वितीय पद्मपुराण में तीसरे अधिकार में लिखी है ।

तत्र भीमसुभीमाख्यौ स्थितौ तौ राक्षसाधिपौ ।
संतुष्टौ मेघवाहाख्यं वदतौ धर्मवत्सलौ ॥१७२२॥
द्वीपोऽस्ति लवणाम्भोधौ राक्षसं नामतो वरं ।
योजनानां शतसप्त विस्तीर्णः स मनोहरः ॥१७२३॥
तन्मध्ये त्रिकुटाभिख्यः पर्वतोऽस्ति निधानमृत् ।
योजनानां नवोत्तुंगः पंचाशद्विस्तमो मतः ॥१७२४॥
तत्र लंकापुरी भाति त्रिंशद्योजन विस्तरात ।
त्वां दास्यामः पुरीं तां त्वं स्थित्वा तम्तसुखी भव ।१७२५॥

इस प्रकार कथन किया है । इससे लंका लवणोदधि मे ही जाननी चाहिये। उपसमुद्र मे नही है ।

प्रश्न :—जो गृहस्थ न तो अरहन्तदेव की पूजा करता है और न पात्रदान देता है, वह किस योग्य है ?

उत्तर :—जो गृहस्थ न तो भगवान अरहन्तदेव के चरण कमलों की पूजा करता है और न मुनिराजों के लिये शक्तिपूर्वक दान देता है । उस गृहस्थपद के लिये किसी गहरे जल में प्रवेश कर बहुत शीघ्र जलांजलि देना चाहिये । वह गृहस्थ इसी योग्य है । यही बात श्रीपद्मनंदी स्वामी ने पद्मनंदी पर्चावशतिका मे दूसरे अधिकार में कही है—

पूजा न चेज्जिनपतेः पद पंकजेषु,
दानं न संयतजनाय च भक्तिपूर्वम् ।
नो दीयते किमु ततः सदनस्थिताय,
शीघ्रं जलांजलिरगावजलं प्रविश्य ॥१७२६॥

प्रश्न :—श्रावकों को सदा प्रातःकाल उठकर सबसे पहले क्या करना चाहिये ?

उत्तर :—श्रावको को प्रात.काल उठकर शौच आदि क्रियाओ से निवृत्त होकर प्रथम ही अरहन्तदेव और निर्ग्रन्थ गुरु का दर्शन करना चाहिये । फिर भक्ति-पूर्वक वंदना व उपासना कर धर्मशास्त्रो का स्वाध्याय करना चाहिये पीछे गृहस्थ सम्बन्धी अन्य कार्य करना चाहिये ।

भावार्थ :— जिन दर्शनादि कार्य कर फिर अन्य कार्य करना यह नियम परम्परा से इसी प्रकार चला आया है । यही बात श्री पद्मनंदी पंचविंशतिका के छठे अधिकार मे लिखी है—

प्रातरुत्थाय कर्त्तव्यं देवतागुरुदर्शनम् ।
भक्त्या तद्वंदना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः ॥१७२७॥
पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि यतो बुधैः ।
धर्मार्थ काममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः ॥१७२८॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थो में सबसे पहले धर्म ही कहा है । इसलिये सबसे पहले देवगुरु का दर्शन कर पीछे अन्य कार्य करना चाहिये ।

प्रश्न :—ऊपर यह बताया जा चुका है कि प्रतिप्ति सबसे पहले देवदर्शन करना चाहिये देवदर्शन करने के पहले अन्य कार्य नहीं करना चाहिये । परन्तु देवदर्शन किये बिना ही जो भोजनादि कर लेते हैं, उनके लिये शास्त्रों में क्या कहा है तथा उन्हें कैसा समझना चाहिये ?

उत्तर :—जिस गाव व शहर मे भगवान अरहन्तदेव का जिनालय हो और वहां पर रहने वाला श्रावक श्रावक होकर भी यदि बिना भगवान के दर्शन किये भोजन करे तो उनको जैनशास्त्रो मे मिथ्यादृष्टि कहा है । उनको जैनधर्म का श्रद्धान करने वाला कभी नही कहना चाहिये । जैनशास्त्रो मे उनको धर्मभृष्ट बतलाया है । लिखा भी है—

चेयाले जिहठाणे सावय अहिट्ठ भोयणं कुणई ।
सो सुठु मिथ्याइट्ठो भट्ठी जिन सासणे समये ॥१७२६॥

प्रश्न :—सामान्य केवली के गंधकुटी में गणधर होते हैं या नहीं ?

उत्तर :—सामान्य केवली के भी गणधर होते है । यह बात सुदर्शन चारित्र के आठवें परिच्छेद में कही है –

दिव्येन ध्वनिना देवस्तदा सन्मार्गवृत्तये ।
धर्मतत्त्वादि विश्वार्थानुवाचेति गणान्प्रति ॥

विना गणधर के दिव्यध्वनि नही खिरती है । इसलिये जिस प्रकार श्री महावीर स्वामी के गौतम गणधर थे, उसी प्रकार सामान्य केवली के भी गणधर होते है ।

प्रश्न—सामान्य केवली भगवान की गंधकुटी में मानस्तंभ होता है या नहीं, तीर्थङ्कर केवली भगवान के तो समवशरण में होता ही है ?

उत्तर—सामान्य केवली भगवान की गन्धकुटी मे भी मानस्तम्भ होता है । यह बात सुदर्शन चरित्र मे लिखी है ।

आदौ शक्रोपदेशेन हेमरत्नादिराशिभिः ।
इंदे गंकुटीरूपं कैवल्यास्थानमंडनम् ॥१७३०॥
ध्वज सिंहासनच्छत्र चामरादि विभूषितम् ।
शास्त्रोक्त वर्णनोपेतं मानस्तम्भाद्यलंकृतम् ॥१७३१॥
जगज्जन्तूपकाराय केवलज्ञान भागिनः ।
परं निर्मापयामास यक्षराट् धर्मसिद्धये ॥१७३२॥

प्रश्न—तीर्थङ्कर केवली भगवान के केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद गणधरों की केवलियों की विक्रिया ऋद्धि को धारण करने वालों की गणना, जो शास्त्रों में बतलाई है । वह समवशरण में रहने वालों की है अथवा उनके समय की है अर्थात् अनन्तर होने वाले तीर्थङ्कर के उत्पन्न होने तक की है ?

उत्तर—यह गणना समवशरण मे रहने वालो की है । श्री ऋषभदेव के समवशरण में जितने मुनि आदि वर्तमान थे, उन्ही की सख्या बताई है, वे मुनिराज आदि सब विहार समय मे भी साथ ही रहते है । सो ही श्री रविषेणाचार्य विरचित

पद्मपुराण में चौथे पर्व मे लिखी है—

तस्यासीद्गणपालानामशीतिश्चतुरुत्तरा ।

सहस्त्राणि च तावन्ति साधूनां सुतपोभृताम् ।१७३३।।

अत्यन्त शुद्धचित्तास्ते रविचन्द्रसमप्रभाः ।

एभिः परिवृताः सर्वोजिना विहरते महीम् ।।१७३४।।

इससे सिद्ध होता है कि गणधर आदि सब मुनियो की गणना समवशरण मे रहने वालो की ही समझना चाहिये । समवशरण की स्थिति से आगे पीछे के मुनि इस सख्या से बाहर है । वे इस सख्या मे शालिल नही है । जिस प्रकार श्री वृषभ देव के समवशरण मे रहने वाले की सख्या वतलाई, उसी प्रकार श्री अजितनाथ से लेकर श्री महावीर पर्यन्त समस्त तीर्थङ्करो की समझ लेना चाहिये ।

प्रश्न—इस पञ्चमकाल के इस वर्तमान समय में होने वाले मुनिराज किस क्षेत्र में ठहरें ? वन, उपवन, गुफा, पर्वत, नदी के किनारे स्मशान आदि में ही निवास करें अथवा और किसी भी जगह अपनी स्थिति रक्खें ?

उत्तर—इस पचमकाल में वर्तमान समय मे होने मुनियो की स्थिति श्री मन्दिरजी मे ही वतलाई है । यह वात श्री पद्मनदी पचविंशतिका के छठे अधिकार मे लिखी है—

सम्प्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे मुनिस्थितिः ।

धर्मस्य दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम् ।।१७३५।।

धर्म का दान देने के लिये एक श्रावक ही मूल कारण है ।

भावार्थ—इस वर्तमान समय मे श्रावक ही धर्म सुनने के पात्र है । इसलिये मुनिराजो की स्थिति जिनालय मे होने से ही श्रावक को लाभ पहुँच सकता है । श्री इन्द्रनदी ने नीतिसार मे भी लिखा है—

काले कलौ वने वासो वर्जनीयौ मुनिश्वरै ।

स्थीयेत च जिनागार ग्रामादिषु विशेषतः ।१७३६।।

प्रश्न—जैनमत में जप करने की माला की मणियों की गिनती १०८ है । सो इसका क्या कारण है ?

उत्तर—ससारी जीव हमेशा प्रमाद और कषाय के अधीन रहते है तथा

त्रस स्थावरों के भेद से १२ प्रकार के जीवों की मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना के द्वारा १०८ भेदरूप पाचों पापों का आश्रव और बध करते रहते है। उन सबकी निवृत्ति के लिये १०८ मणियों की माला बनाई गई है। आश्रव बध के वे १०८ भेद निम्न प्रकार समझना चाहिये।

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, नित्यनिगोद, इतर निगोद, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय, असैनी पचेन्द्रिय, सैनी पचेन्द्रिय इस प्रकार जीवो के बारह भेद होते है। इन १२ प्रकार के जीवो के मन से, वचन से तथा काय से हिसादिक पाप होते है। जो ३६ प्रकार के हो जाते हैं। तथा ३६ प्रकार के पाप स्वयं करने दूसरो से कराने और करते हुओ की अनुमोदना के भेदों से १०८ प्रकार के हो जाते हैं। १२×३×३=१०८। ये १०८ पाप सदा लगते रहते है। उनका नाश करने के लिये १०८ मणियो की माला है। एक मणि पर एक-एक णमोकार मन्त्र का जाप कर एक-एक पाप का नाश करना चाहिये और इस प्रकार सब पापों का नाश कर डालना चाहिये, सो ही लिखा है—

पृथ्वी पानीय तेजः पवनसुतरवः स्थावराः पंचकायाः।
नित्यानित्यौ निगोदौ युगल शिखि चतुः संस संज्ञित्रसाः स्युः ॥
एते प्रोक्ता जिनैं द्वादश परिगुणिता वाङ्मनः कायभेदैः।
यैस्वान्यैः कारिताद्यं त्रिभिरपि गुणिताश्चाष्ट शून्येक संख्या ॥१७३७।

इस प्रकार माला में १०८ मणियो के होने का कारण है। इसके सिवाय एक कारण और भी है और वह इस प्रकार है—कोई भी पाप रूप कार्य किया जाता है। उसमें सारभ, समारम्भ और आरम्भ ऐसे तीन भेद पडते है। किसी भी हिसा आदि पाप के सकल्प करने को उसके प्रयत्न के आवेश करने को सारम्भ कहते है। उसी पाप कार्य के कारणो का सग्रह करना साधन की सब सामग्री इकट्ठी करना समारभ है। और उस कार्य को प्रारभ कर देना आरभ है।

इसका उदाहरण इस प्रकार है। किसी ने एक मकान बनाने का विचार किया उसमें सकल्प किया कि इस तरह का मकान बनाऊगा उसमे इस प्रकार के घर कमरे आदि बनवाऊंगा इस प्रकार के सकल्प को सारभ कहते है। सारम्भ मे किसी काम का बाह्य आरम्भ नही होता केवल विचार या उस काम को करने का आवेश होता है। सारम्भ के बाद उस मकान को बनवाने के लिये कारीगर ईंट चूना पत्थर कुदाली फावड़ा

आदि साधनो का सग्रह करना समारंभ है। समारंभ में काम का प्रारम्भ नही होता है। केवल कारण सामग्री इकट्ठी होती है। तदनन्तर उस विचारे हुये काम को प्रारम्भ कर देना, जैसे जिस मकान को बनाने का सकल्प किया था। उसके लिये नीव भरना, दीवाल खड़ी करना आदि कार्यो का प्रारम्भ कर देना आरम्भ है। इसी प्रकार सब कामो के दृष्टान्त समझ लेना चाहिये। ये सारम्भ, समारम्भ और आरम्भ तीनो ही मन से किये जाते हैं। तीनो ही वचन से किये जाते हैं और तीनों ही काय से किये जाते हैं। इस प्रकार ये तीनो योगो से होते है। ऐसे उनके ये नौ भेद हो जाते हैं। नौ प्रकार के सारभ आदिक स्वय किये जाते है। और दूसरे से कराये जाते है। और दूसरे करते हुये की अनुमोदना की जाती है। इस प्रकार कृत कारित अनुमोदना के भेद से २८ भेद हो जाते हैं। ये २७ भेद क्रोध से होते है। मान से और लोभ से होते है। इस प्रकार चारो कषायो से गुणा करने से १०८ भेद हो जाते हैं। इन १०८ भेदो से जीव को हिसादि पाप लगते है। सो ही मोक्ष शास्त्र में लिखा है—

आद्यं सरंभ समारंभारं भारंभयोग कृत कारितानुमतकषाय विशेषै स्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः।

इन १०८ पापो की निवृत्ति के लिये १०८ मणियो से णमोकार मन्त्र की अथवा पचपरमेष्ठी के वाचक अन्य मन्त्रो की जाप तीनो समय करना चाहिये। इनके सिवाय पापो के १०८ भेद और प्रकार से भी है। यथा—हिंसादिक सब पाप, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कपायो से होते हैं। कृत, कारित, अनुमोदना से होते है। मन, वचन, काय इन तीनो से होते है। तथा भूतकाल, वर्तमानकाल, भविष्यकाल इन तीनो काल सम्बन्धी होते है। इन सबको गुणा कर देने से १०८ भेद हो जाते है।

भावार्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारो कषायों से काययोग के द्वारा स्वयं किये हुये भूतकाल सम्बन्धी पाप। इन्ही चारों कषायों से काययोग के द्वारा दूसरो से कराये हुये भूतकाल सम्बन्धी पाप, तथा इन्ही कषायों से काय योग के द्वारा अनुमोदना किये हुये भूतकाल सम्बन्धी पाप, इस प्रकार भूतकाल सम्बन्धी पाप १२ प्रकार के हुये, इसी प्रकार भूतकाल सम्बन्धी १२ प्रकार के पाप वचनयोग द्वारा तथा १२ प्रकार के मनोयोग द्वारा होते हैं। इस प्रकार ३६ प्रकार के भूतकाल सम्बन्धी पाप, ३६ प्रकार वर्तमान काल सबन्धी पाप और ३६ प्रकार भविष्यत्काल सम्बन्धी

पाप होते है। इस प्रकार, १०८ भेद हो जाते है। सो ही धर्मरसिक शास्त्र मे लिखा है।

हिंसा तत्र कृता पूर्वं करोति च करिष्यति।
मनोवचनकायैश्च ते तु त्रिगुणिता नव ।।१७३८।।
पुनः कृतं स्वयं कारितानुमोदैर्गुणाहताः।
सप्तविंशति ते भेदा कषायैर्गुणितांश्च तान् ।।१७३९।।
"अष्टोत्तरशतं ज्ञेयं असत्यादिषु तादृशम्:"

इन १०८ पापों को दूर करने के लिये १०८ मणियो की माला कही गई हैं। एक-एक पाप के आश्रव वा बन्ध को नाश करने के लिये एक मन्त्र का जाप करना कहा है। इस प्रकार प्रातःकाल, मध्यान्हकाल और सन्ध्याकाल तीनो समय तीन सौ चौबीस जाप कर पापो को दूर करना चाहिये, तीनों समय जाप करने वालो के लिये तो पाप और धर्म की समानता रहती है। यदि तीन-तीन बार से भी अधिक जप करैं या तीन माला से अधिक जप करै तो उसका फल अधिक होता है। यदि तीनो समय की ३ मालाओं से कम जाप करे तो पाप बन्ध रहता है। इसलिये प्रतिदिन ३२४ जाप करने से पूर्व सचित पाप भी नष्ट हो जाते है, ऐसा समझकर णमोकार का जप प्रतिदिन तीनों बार एक एक माला जाप अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न—जाप करते समय माला को किस प्रकार जपना चाहिये ?

उत्तर—जाप करते समय मन को तो श्री अरहन्त देव के ध्यान मे लगाना चाहिये, अपने बाये हाथ को अपनी गोदी मे रखना चाहिये ज्ञान मुद्रा धारण करना चाहिये, अपने दाये हाथ के अगूठे पर माला रखनी चाहिये। तदनन्तर उस ज्ञानी पुरुष को अगूठे और अंगूठे के पास वाली उंगली से निर्मल जाप की माला को लेकर जाप करना चाहिये। सो ही धर्म रसिक ग्रथ में लिखा है।

समं ध्याने मनः कृत्वा मध्यदेशेषु निश्चलम्।
ज्ञानमुद्रांकितो भूत्वा स्वांके तु वाम हस्तकम् ।।१७४०।।
अंगुष्ठ तर्जनीभ्यां तु सव्यहस्तेन निर्मलाम्।
जपमालां समादाय जपं कुर्याद्विचक्षणः ।।१६४१।।

यह जप करने की विधि लिखी, इसके सिवाय जो कोई मनुष्य अपने हृदय में उद्वेग वा चंचलता रखता हुआ जाप करता है। अथवा माला के मेरुदण्ड को

उल्लघन कर जप करता है अथवा जो उंगुली के नख के अग्रभाग से जप करता है वह सब निष्फल होता है। लिखा भी है—

व्यग्रचित्तेन यज्जप्तं यज्जप्तं मेकलंघने।
नखाग्रेण च यज्जप्तं तज्जप्तं निष्फलं भवेत् ।।

इस प्रकरण मे माला के भेद इस प्रकार समझाना चाहिये, क्रियाकोश में लिखा है—

प्रथमफटिकमणि मोती माल सोना रूपा सुरंग प्रवालं ।
जीवा पोता रेशम जान कमलबीज फुनि सूत बखान ।।
यह नवभांति जाप के भेद भजिये जिनवर, तजि मनखेद ।।१७५४।।

दूसरी जगह भी लिखा है—

सूत्तस्य जाप्यमालायाः सदा जापःसुखावहः ।
दग्ध मृदस्थि काष्ठानाम क्षमालाऽफलप्रदा ।।
सुवर्ण रौप्यबिन्दुममोक्तिका जपमालिकाः ।
उपवाससहस्त्राणां फलं यच्छन्ति जापतः ।।१७५४।।

अर्थात् सूत की माला सदा सुख देने वाली है। अग्नि के द्वारा पकी हुई मिट्टी, हड्डी, लकडी और रुद्राक्ष आदि की मालाये कुछ देने वाली नही है, ये मालाये अयोग्य है, ग्रहण करने योग्य नही है। अर्थात् इनसे जप नही करना चाहिये तथा सोना, चादी, मूगा और मोती की माला हजारो उपवासो का फल देने वाली है। इनकी मालाओ के द्वारा जप करने से हजारो उपवासो का फल मिलता है।

इस प्रकार मालाओं का फल बतलाया है।

प्रश्न :—जप करते समय णमोकार मंत्र का उच्चारण किस प्रकार करना चाहिये ?

उत्तर—एक णमोकार मन्त्र का उच्चारण ३ श्वाच्छोश्वास मे करना चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है—श्वास को खीचते समय "णमो अरहताण" यह पद पढना चाहिये। फिर श्वास को छोड़ते समय "णमो सिद्धाण" यह पद पढ़ना चाहिये। श्वास को खीचते समय "णमो आयरियाण" पढना चाहिये। फिर श्वास छोड़ते समय "णमो उवज्झायाण" पढना चाहिये। श्वास को खीचते समय "णमो लोए" पढना

चाहिये । फिर छोड़ते समय "सव्व साहूणं" पढ़ना चाहिये । इस प्रकार तीन श्वाच्छोश्वास में एक बार का णमोकार मन्त्र का जप हुआ, जाप करते समय इसी प्रकार शुद्ध उच्चारण करना चाहिये । धर्मरसिक में लिखा भी है—

नमस्कारपदान् पंच जपेद्यथावकाशकम् ।
अष्टोत्तर शतं चाद्धिमष्टा विंशतिकं तथा ॥१७५५॥

दिद्वयैकपद विश्रामा उश्वासा सप्तविंशतिः ।
सर्वं पापै क्षयं याति जप्ते पंचनमस्कृते ॥१७५६॥

अर्थात् समय मिलने पर णमोकार मन्त्र को १०८ बार जपे अथवा ५४ बार जप करे अथवा २८ बार जप करे । एक-एक श्वास मे श्वास और उच्छ्वास दोनो मे दो-दो पद विश्राम देकर जपे । इस प्रकार २७ श्वाच्छोश्वास द्वारा ९ बार नमस्कार मन्त्र का जाप करें । इस प्रकार जप करने से समस्त-समस्त पाप नष्ट हो जाते है । यहां पर जो २७ श्वास बतलाये हैं । सो एक कायोत्सर्ग में ९ बार नमस्कार मन्त्र जपने को अपेक्षा से बतलाये हैं । इस प्रकार इस मन्त्र को वाचक, उपांसु और मानस इन ३ प्रकार से अपनी शक्ति के अनुसार पढ़ना चाहिये, जपना चाहिये ।

प्रश्न :—नमस्कार मन्त्र पढ़ने के जो वाचिक, उपांसु और मानस ये ३ भेद बतलाये सो इनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—स्वर के तीन भेद है उदात्त, अनुदात्त और स्वरित । जिसमे इन तीनों का उच्चारण स्पष्ट हो। ऐसे मत्रों के अक्षर, पद और शब्दों को स्पष्ट और शुद्ध रीति से उच्चारण करना और इस प्रकार उच्चारण करना जिसको सब सुन ले, उसको वाचिक कहते हैं । तथा जिसमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से अक्षर, पद, शब्दों का उच्चारण शुद्ध तथा स्पष्ट हो, परन्तु उस उच्चारण को कोई दूसरा सुन न सके, उसको उपांसु कहते हैं । वाचिक व उपासु में सुनने, न सुनने का हो अन्तर है । वाचिक जप को सब सुन सकते हैं और उपांसु जप को पास बैठने वाला भी नही सुन सकता तथा अपने मन को एकाग्र कर अपने ही मन के द्वारा चिन्तवन करना और वह चिन्तवन इस प्रकार करना, जिसमें मन्त्रों की जो अक्षरमाला हैं, मन्त्रो मे जो अक्षरो का समुदाय है, उसके अक्षर पद और शब्द सब शुद्ध तथा स्पष्ट चिन्तवन करने मे आ जायें, ऐसे जप को मानसिक जप कहते हैं ।

इसका फल इस प्रकार है—मानसिक जप समस्त कार्यो की सिद्धि के लिए किया जाता है, उपासु जप पुत्र-प्राप्ति के लिए किया जाता है और वाचिक धन-लाभ के लिए किया जाता है। वाचिक का फल एक गुना है, उपांसु का फल सौगुना है और मानसिक जप का फल एक हजार गुना है। ऐसा श्री जिनसेनाचार्य ने कहा है—

वाचिकाख्य उपांशुश्च मानसस्त्रि विधः स्मृतः ।
त्रयाणां जपमालानां स्याच्छ्रेष्ठोह्युत्तरोत्तरः ।।१७५७।।
यदुच्चनीचस्वरितैः शब्दैः स्पष्टपदाक्षरैः ।
मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा जपो रोयः स वाचिकः ।।१७५८।।
शनैरुच्चारयेन्मन्त्रं मन्दमोष्ठौ प्रचालयेत् ।
अपरैरश्रुतः किंचित्स उपांशुर्जपः स्मृतः ।।१७५९।।
विधाय चाक्षर श्रेण्यावर्णाप्तर्ग पदात्पदम् ।
शब्दार्थं चिन्तनं भूयः कथ्यते मानसो जपः ।।१७६०।।
मानसः सिद्धिकाम्यानां पुत्रकाम उपांशुकः ।
वाचिको धनलाभाय प्रशस्तो जप ईरितः ।।१७६१।।
वाचिकस्त्वेक एवस्दायुपांशु शत उच्यते ।
सहस्रं मानसं प्रोक्तं जिनसेनादि सूरिभिः ।।१७६२।।

आचार्यों ने णमोकार मत्र आदि मत्रों के जपने की विधि इस प्रकार बतलाई है।

प्रश्न :—ऊपर के जो जप से भेद बतलाये हैं, वे किस आसन पर बैठकर करना चाहिये ?

उत्तर :—सफेद वस्त्र आसन पर तथा हल्दी से रगे हुये वस्त्र के आसन पर व सबसे उत्तम काल वस्त्र के आसन पर वा डाभ के आसन पर बैठकर जप करना चाहिये णमोकार मत्र का व अन्य मन्त्रो का जप करने के लिये अथवा भगवान अरहत-देव की पूजा करने के लिये ऊपर लिखे चार प्रकार के आसनो मे से किसी एक आसन पर बैठकर जप वा पूजा करने का विधान आचार्यो ने बतलाया है। इसके सिवाय और भी अनेक प्रकार के आसन हैं। परन्तु उन पर बैठकर कभी भी जप व पूजा नही करनी चाहिये। जो मनुष्य इन ऊपर लिखे ४ आसनो के सिवाय अन्य आसनो पर बैठकर पूजा व जप करता है। उसका फल उसके लिये बहुत बुरा होता है। जैसे जो

बांस के आसन पर बैठकर पूजा व जप करता है उसके दरिद्रता बनी रहती है। जो पाषाण की शिला आदि पर बैठकर पूजा व जप करता है। उसके रोग की पीड़ा बनी रहती है। जो पृथ्वी पर बैठकर पूजा व जप करता है। उसके सदा दुर्भाग्य (भाग्य हीनता वा बदनसीबी) बना रहता है। उसका सौभाग्य कभी नहीं रहता। जो तृण व घास के आसन पर बैठकर पूजा व जप करता है। उसके यश की हानि होती है अर्थात् उसके सदा अपकीर्ति बनी रहती है। जो पत्तों के बने हुये आसन पर बैठकर जप करते हैं उनका चित्त सदा विभ्रमरूप अथवा डावांडोल रहता है। अर्थात् उसका चित्त इधर उधर ही फिरता रहता है। स्थिर नहीं रहता जो अजिन अर्थात् हिरण के चमड़े मृगछाला बाघ के चमड़े आदि आसनों पर बैठकर जप करते हैं। उनके ज्ञान का नाश हो जाता है। जो कंबल, कनात, चकना आदि ऊन के बने हुये आसनों पर बैठकर जप व पूजा करता है उसका पाप सदा बढ़ता ही रहता है। जो नीले रंग के वस्त्र आसन पर बैठकर पूजा व जप करता है। वह अधिक दुःख भोगता है। जो हरे वस्त्र के आसन पर बैठकर पूजा व जप करता है उसका सदा मान भंग होता रहता है। इस प्रकार दोष वाले आसन बतलाये इन दोष वाले आसनों को छोड़कर पहले लिखे हुये चार आसन ही ग्रहण करना चाहिये इन चार आसनों पर बैठकर पूजा व जप करने से शुभ फल होता है। और वह इस प्रकार होता है सफेद वस्त्र के आसन पर बैठकर पूजा व जप करने से यश की वृद्धि होती है। हल्दी रंग के वस्त्र के आसन पर बैठकर पूजा व जप करने से हर्ष की वृद्धि होती है। लाल वस्त्र का आसन सबसे श्रेष्ठ है। तथा डाभ का आसन सब कार्यों की सिद्धि करने वाला और सबसे उत्तम है। कहने का अभिप्राय यह है कि सब आसनों में डाभ का आसन सबसे श्रेष्ठ है, सो ही धर्मरसिक नामक ग्रंथ में लिखा है—

वंशासने दरिद्रः स्यात्पाषाणे व्याधिपीडितः।
धरण्यां दुःख संभूति दौर्भाग्यं दारुकासने ॥१७६३॥

तृणासने यशोहानिः पल्लवे चित्तविभ्रमः।
अजिने ज्ञाननाशः स्यात्कंबले पापवर्द्धनम् ॥१७६४॥

नीले वस्त्रे परं दुःखं हरिते मानभंगता।
श्वेतवस्त्रे यशोवृद्धिः हरिद्रे हर्षवर्द्धनम् ॥१७६५॥

रक्तवस्त्रं परं श्रेष्ठं प्राणायामविधौ ततः ।
सर्वेषां धर्म सिद्धयर्थं दर्भासनं तु चोत्तमम् ।।१७६६।।

इसके सिवाय हरिवंश पुराण मे लिखा है कि श्री कृष्ण ने समुद्र के किनारे तेला स्थापन कर डाभ के आसन पर बैठकर अपने कार्य की सिद्धी की । तथा आदि पुराण मे जो गर्भान्वय आदि क्रियाये लिखी है । उनमे भी डाभ के आसन का ही विशेष वर्णन लिखा है । इससे सिद्ध होता है कि डाभ का आसन ही सबसे उत्तम है।

प्रश्न :—ऊपर लिखे मंत्र का जप किस तरह करना चाहिये ।

उत्तर: —अपने घर मे जप करने का फल एक गुणा है । बन मे जप करने का फल सौ गुणा है । यदि पवित्र बाग मे या किसी वन मे जप करे तो उसका फल हजार गुणा । यदि जिन मन्दिर मे जप करे तो उसका फल करोड गुणा है । यदि भगवान जिनेन्द्र देव के समीप जप करे तो अनत गुणा फल है । यही बात धर्मरसिक नाम के ग्रथ मे लिखी है—

गृहे जपफलं प्रोक्तं वने शतगुणं भवेत् ।
पुण्यारामे तथारण्ये सहस्त्रगुणितं मतम् ।।१७६७।।
पर्वते दशसहस्त्रं नद्यां लक्षमुदाहृतम् ।
कोटि देवालये प्राहुरनन्तं जिन सन्निधौ ।।१७६८।।

इससे सिद्ध होता है कि घर, वन, बाग आदि जगहो से भगवान जिनराज के निकट जप करने से अन्नतगुणा फल प्राप्त होता है ।

जप करने का विधान इस प्रकार है—मोक्ष की प्राप्ति के लिये अगूठे से जपना चाहिये । औपचारिक कार्यों में तर्जनी उ गुली से (अगूठे के पास वाली अगुली) जपना चाहिये । धन और सुख की प्राप्ति के लिये मध्यमा व बीच की उंगुली से जप करना चाहिये, शाति कर्म मे किसी ग्रह व उपद्रव को शात करने के लिये अनामिका उंगुली से (बीच की उ गुली के पास वाली) चाहिये तथा आह्वानन करने के लिये कनिष्ठा उ गुली (सवसे छोटी उंगुली) से जपना चाहिये, शत्रु को नाश करने के लिये तर्जनी उ गुली से धन सपदा के लिये मध्यमा से, शाति के लिये अनामिका से और-और सभी कार्यों की सिद्धि के लिये कनिष्ठा से जपना चाहिये। इस प्रकार अलग-अलग उ गुलियो से जप करने का फल वतलाया है । लिखा भी है—

अंगुष्ठ जापो मोक्षाय उपचारे तु तर्जनी,
मध्यमा धनसौख्याय शान्त्यर्थं तु अनामिका।
अंगुष्ठ जापो मोक्षाप उपचारे तु तर्जनी,
मध्यमा धनसौख्याय कनिष्ठा सर्वसिद्धिदा ॥१७६९॥

इस प्रकार यह जप करने की विधि बतलाई है सो समयानुसार इस विधि के अनुसार जप करना चाहिये।

यदि जप करते समय किसी कारण से विघ्न आ जाय तो उसका प्रायश्चित किस प्रकार करना चाहिये ?

स्नान कर धोती दुपट्टा ये दो वस्त्र पहनकर सदाचार पूर्वक जप करने के लिये बैठना चाहिये और उस समय इन बातो का त्याग कर देना चाहिये—जो अपने व्रतो से भ्रष्ठ हो गया है उसका तथा शूद्र का देखना, इन दोनो के साथ बात करना, इन दोनो के बचन सुनना, छीक लेना, अधोवायु निस्सरण, जभाई लेना, यदि जप करते समय ये ऊपर लिखी बाते हो जाय तो उसी समय जप छोड़ देना चाहिये। और फिर आचमन और षडग-छह अंगो से सुशोभित प्राणायाम कर बाकी बचे हुये जप को अच्छी तरह करना चाहिये। यदि आचमन और प्राणायाम न हो सके तो भगवान जिनेन्द्रदेव के दर्शन कर पीछे जप करना चाहिये। जप के ऐसे विघ्नो की शुद्धि आचमन वा प्राणायाम से होती है। यदि आचमन प्राणायास न बन सके तो भगवान के दर्शन कर शुद्धि कर लेनी चाहिये। विघ्न आ जाने पर बिना शुद्धि किये जप नही करना चाहिये। सो ही धर्मरसिक मे लिखा है—

व्रतच्युतान्त्यजातीना दर्शने भाषणे श्रुते।
क्षुतेऽधोवातगमने जृंभवे जप मुत्सृजेत ॥१७७०॥
प्राप्तावाचम्यते तेषां प्राणायाम षडंगकम्।
कृत्वा सम्यक् जपेच्छेषं यद्वा जिनादिदर्शनम् ॥१७७१॥

इससे सिद्ध होता है कि छीक अधोवात आदि विघ्न आ जाने पर प्राणायाम आचमन वा जिनदर्शन कर फिर बाकी का जप पूर्ण करना चाहिये। जो श्रावक जप करते समय प्रमादी होकर ऊघते है। नीद का झोका लेते है अथवा बार-बार उवासी लेते है अथवा और किसी प्रकार का प्रमाद करते है। उनका जप करना न करने के समान है।

मोक्षमार्ग अनादि काल से है। ससारराशि के जीव अनादिकाल से ससार का नाश कर मोक्ष प्राप्त करते आ रहे है। वर्तमान मे भी विदेहक्षेत्र से जाते है। तथा आगे भी अनतकाल तक जाते रहेगे, परन्तु फिर भी सिद्ध राशि बढती नही और निगोद राशि घटती नही सिद्ध राशि और निगोद राशि वैसी की वैसी ही अनतानत-रूप बनी रहती है। सो यह कहना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है क्योकि जो पदार्थ जहाँ से निकलता है वहा घटना चाहिये और जहाँ जाता है वहा बढना चाहिये। इस हिसाब से सिद्ध राशि बढनी चाहिये और निगोद राशि घटनी चाहिये।

इस ससार में निगोद राशि असख्यात लोक प्रमाण है और एक-एक निगोद राशि मे अनतानत निगोदिया जीव निवास करते है। उन अनतानत जीवो में से यदि किसी जीव के स्थावर नामकर्म का उपशमादिक हो जाय तो वह जीव वहा से निकलकर द्विन्द्रीय आदि त्रस पर्याय मे आकर उत्पन्न होता है। उस निगोद राशि मे मे जितने जीव निकलकर त्रस पर्याय धारण कर ससार की व्यवहार राशि मे आते हैं। उतने ही जीव व्यवहार राशि से निकलकर समस्त कर्मो का नाश कर मोक्ष चले जाते है। इस प्रकार व्यवहार राशि उतनी की उतनी ही वनी रहती है। इस प्रकार जैनशास्त्रो मे भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है। सो सर्वथा निःसन्देह है। इसका उदाहरण देकर समझाते है। जैसे—पद्मद्रह आदि छहो द्रहो से गंगा सिधु आदि चौदह नदिया निकलती है। तथा अनादिकाल से उन द्रहो मे से पानी निकलता रहता है। और समुद्रो मे पढता रहता है। तो भी वहाँ का पानी घटता नही दश, बीस, चालीस योजन गहरा वना ही रहता है। भूत, भविष्यत् वर्तमान किसी भी काल में उन द्रहो का पानी नही घटता तथा समुद्र का जब कभी वढता नही समुद्र की मर्यादा भी अनादिकाल से अनतकाल तक जैसे की तैसे वनी ही रहती है। अथवा आकाश से जल की वर्षा होती है। और वह सव समुद्र मे जाती है। तो भी आकाश मे जल घटता नही और समुद्र मे बढता नही इस प्रकार और भी उदाहरण है।

यम नियम का अर्थ—

अपने जीवन पर्यन्त पापो का त्याग करना यम है। और एक मुहुर्त्त, एक दिन, एक महिना, २ महिना वर्ष दो वर्ष आदिकाल की मर्यादा लेकर पापों का त्याग करना सो नियम है। सो ही रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे लिखा है—

नियमापरमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते।

इसका भी अभिप्राय यह है कि महामुनियों के यमरूप त्याग की मुख्यता है। नियम रूप त्याग की गौणता है तथा श्रावको के नियम रूप त्याग की मुख्यता है और यमरूप त्याग की गौणता है।

उपवास का लक्षण—

उपवास धारण करने वाले भव्यजीव उपवास धारण करने के समय से लेकर ८ पहर तक, १२ पहर तक अथवा सोलह पहर तक क्रोध मान माया, लोभ रूप इन चारो कषायो का सर्वथा त्याग कर देते हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत इन पाचो इन्द्रियों के स्पर्श, रस, गध, वर्ण, शब्द इन विषयो का सर्वथा त्याग कर देते है और खाद्य, स्वाद्य, अवलेह पान इन चारों प्रकार के आहारो का सर्वथा त्याग कर देते हैं इन सबके त्याग करने को उपवास कहते है। जो लोग क्रोधादि कषायो का त्याग किये बिना ही केवल भोजन पानादिक का त्याग कर देते है और उसको उपवास कहते है, सो मिथ्या है। जैनधर्म के अनुसार यह उपवास नही किन्तु लघन कहलाता है। सो ही स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है—

उपवासं कुव्वंतो आरम्भ जोकरेदि मोहादो।
सो णिहदेहं सोसदि ण झाणए कम्मसेसंपि ॥१७७२॥

इसकी टीका मे लिखा है—

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयशेषं लंघनकं विदुः ॥

इसके सिद्ध होता है कि कषाय इन्द्रियो के विषय और सब तरह के आरम्भ और चारों प्रकार के आहारो का त्याग करना ही उपवास है। और यदि किसी के ऊपर लिखे अनुसार उपवास करने की शक्ति न हो तो वह बीच मे जल पी लेवे तो उसको कैसा फल लगता है?

पहली बात तो यह है कि उपवास तो ऊपर लिखे अनुसार ही करना चाहिये। यदि कोई हीनशक्ति वाला कोई उपवास के दिन जल पी ले तो उसके आठवा भाग नष्ट हो जाता है। यह बात प्रश्नोत्तरोपाएकाचार नाम के ग्रन्थ मे प्रोपधोपवास के कथन करते समय लिखी है—

नीरादानेन हीयेत भागश्चवाष्टमो नृणाम्।
उष्णैनैवोपवासस्य तस्मान्नीरं त्यजेत्सुधीः ॥१७७३॥

पंचोपचारी पूजा का स्वरूप—

आह्वाहन, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजा और विसर्जन ये पांच पूजा के उपचार या अग कहलाते हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है—जो अरहन्तदेव आदि की पूजा के समय मत्र पढकर उनका आह्वाहन करना उसके लिये पुष्प अक्षत आदि स्थापन करना सो पहला आह्वानन नाम का उपचार है। आह्वानन के वाद मत्र पढकर तथा पुष्प अक्षत आदि के द्वारा उन पूज्य अरंहतादि को अपने समीप करना सो सन्निधिकरण नाम का तीसरा उपचार है।

तदनंतर जल चन्दन अक्षत पूष्प नैवेद्य दीप धूप फल अर्घादि से मत्र पूर्वक अपूज्य अरंहतादि की पूजा करना सो चौथा पूजा नाम का उपचार है। तथा पूजा करने के वाद स्तुति जप वदना आदि करके मत्र पढकर और पुष्प अक्षत आदि क्षेपण कर उनका विसर्जन करना सो विसर्जन नाम का पाँचमा उपचार है। इस प्रकार पचोपचारी पूजा का स्वरूप जानना सो ही लिखा है—

ॐ ह्रीं अर्हन् श्री परमब्रह्मन् अत्रावतरावतर संवौषट्। इति आह्वाननम्।

ॐ ह्रीं अर्हन् श्री परमब्रह्मन् अत्र तिष्ठ ठः ठः स्थापनम्।

ॐ ह्रीं अर्हन् श्री परमब्रह्मन् अत्र मम् सन्निहितो भव भव वषट् इति सन्निधापनम्।

ॐ ह्रीं श्री परमब्रह्मणे अनंतानंत ज्ञानशक्तये अष्टादशदोषरहिताय षट् चत्वारिंशद् गुण विराजमानाय अर्हत्परमेष्ठिने जलं निर्वपामीति स्वाहा।

इस प्रकार चन्दन, अक्षत, पुष्प नैवेद्य धूप फल अर्घ आदि द्रव्य चढ़ाते समय वोला जाता है तथा विसर्जन करते समय यह पढ़ा जाता है—

ॐ ह्रीं अर्हन् श्री परमब्रह्मन् स्वस्थान् गच्छ-गच्छ जः जः जः।

इस प्रकार पचोपचारी पूजा का स्वरूप "पूजासार" तथा प्रतिष्ठा पाठ और जिनसहिता आदि समस्त पूजाओ के पाठो मे लिखा है। इसलिये शास्त्र गुरु आदि की पूजा भी इसी रीति से समझनी चाहिये, अर्थात इनकी पजा भी पंचोपचारी करनी चाहिये।

कदाचित् यहा पर कोई यह पूछे कि पचोपचार के शब्द किस-किस धातु से वने हैं। इसका उत्तर यह है कि आह्वानन शब्द ह्वेञ् धातु से वना है ह्वेञ् धातु का अर्थ आह्वानन वा वुलाना है। स्थापन शब्द स्था धातु से वना है स्था धातु का अर्थ गतिनिवृत्ति वा ठहरना है। उसका पंचमी वा लोट का मध्यम पुरुष का एकवचन

तिष्ठ बनता है। सम्पूर्वक निपूर्वक धि धातु का अर्थ निकट होता है। यज् धातु का अर्थ पूजा करना है। इसी से याग वा इज्या बनता है। जिसका अर्थ पूजा करना है। तथा जः इस बीजाक्षर का अर्थ गमन करना है अथवा गच्छ शब्द गम् धातु से बना हैं और उसका अर्थ भी जाना है। इस प्रकार इन पांचों उपचारो के वाचक शब्दो का धात्वर्थ धातु से बना हुआ अर्थ बतलाया।

प्रश्न :—ग्रहस्थ के द्वारा होने वाली भगवान अर्हंत देव की पूजा में छह क्रियायें सुनी जाती है सो कौन-कौन हैं ?

उत्तर :—सबसे पहले जलादिक पंचामृत से भगवान अरहत देव का स्नपन वा अभिषेक करना सो पहली क्रिया है। अभिषेक के बाद पहले कही हुई विधि के अनुसार पंचोपचारी पूजा करना सो दूसरी क्रिया है। पूजा के बाद उनका स्तोत्र पाठ करना, सो तीसरी क्रिया है। स्तुति के बाद इनके वाचक मत्रों के द्वारा १०८ बार जप करना सो चौथी क्रिया है। तदनतर कायोत्सर्ग धारण कर उनका ध्यान सो पांचवी क्रिया है। शास्त्रों के द्वारा ५ प्रकार का स्वाध्याय करना सो छठी क्रिया है। इस प्रकार पूर्वाचार्यो में दैवसेवा (देवपूजा) करने के लिए गृहस्थो को छह क्रियाओं के करने का उपदेश दिया है। सो ही यशस्तिलक नाम के महाकाव्य मे लिखा है—

'स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपं श्रुतिश्रवम् क्रिया षडुदिताः सद्भिःदेवसेवासु गेहिनाम्"

प्रश्न :—आठों कर्मों को नाश कर सिद्ध भगवान निरन्तर सिद्धालय में विराजमान रहते हैं। सो वह सिद्धालय लोक के अग्रभाग पर है या वातवलय के भीतर है या वातवलय के ऊपर है ?

उत्तर .—यह तीनो लोक घनवात घनोदधिवात और तनुवात ऐसे तीन वातवलयों से घिरा हुआ है। इन तीनो वातवलयो में से तीसरे तनुवातवलय मे पैंतालीस लाख योजन प्रमाण सिद्धालय सुशोभित है। वहा पर सिद्ध परमेष्ठी विराजमान रहते हैं। पचमगल भाषा मे भी लिखा है। "लोक शिखर तनुवातवलय में संठ्या।" इस प्रकार और भी जैन शास्त्रो में लिखा है।

प्रश्न :—इस जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है परन्तु मुक्त जीव वातवलय में लोक के अन्त तक जाते है, आगे नहीं जाते, सो इसका क्या कारण है, वे वहीं तक क्यों रह जाते हैं ?

उत्तर :—इस लोक के मर्यादा वातवलय के अन्त तक ही है, आगे अलोकाकाश है। अलोकाकाश मे केवल शून्य रूप आकाश के सिवाय और कोई पदार्थ नही है। जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल इन पांचो द्रव्यों का अभाव जिस आकाश में हो उसको अलोकाकाश कहते हैं। तथा गमन करने मे सहायक होने की शक्ति धर्मास्तिकाय में है और अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय नही है। इसलिए धर्मास्तिकाय का अभाव होने से आगे अलोकाकाश मे ऊर्ध्वगमन नही होता। अतएव मुक्त जीव की स्थिति लोक के अन्त पर्यंत ही रहती है, सो ही तत्वार्थ सूत्र मे लिखा है, "धर्मास्तिकायाभावात्" अर्थात् धर्मास्तिकाय का अभाव होने से आगे सिद्धो का गमन नही होता।

प्रश्न :—मुनिराज एकाग्रचित्त होकर ध्यान करते हैं, सो उस ध्यान की स्थिति कितनी है?

उत्तर :—शरीरादिक बाह्य पर पदार्थों के चितवन कर निरोध कर अपनी आत्मा के स्वरुप में एकाग्रता का चितवन शुद्ध ध्यान है। वह धर्मध्यान शुक्लध्यान के भेद से दो प्रकार का है, वह वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच इन तीनो उत्तम सहननो को धारण करने वाले जीवो के होता है। इनमें भी वज्रवृषभनाराच नाम के प्रथम सहनन को धारण करने वाले जीवों के वह ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, इससे अधिक नही ठहर सकता है सो ही तत्वार्थ सूत्र मे लिखा है—

उत्तम सहननस्यैकाग्रचिता निरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात ।।अध्याय ६ सूत्र २७।।

प्रश्न :—जैन धर्म में चार आश्रम स्थापन किये गये हैं, सो वे कौन-कौन हैं और उनका स्वरूप क्या है?

उत्तर :—उपासकाध्ययन नाम के सातवे अग मे आश्रम चार प्रकार के बतलाये है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक। आश्रमो के ये भेद क्रियाओं के भेद से होते है, सो ही प्रश्नोत्तर श्रावकाचार मे लिखा है—ब्रह्मचारी गृही, वानप्रस्थो भिक्षुक सत्तमः। चत्वारो ये क्रिया भेदादुक्ता वर्णवदाश्रमाः। इन चार प्रकार के वर्णाश्रमो मे से पहले ब्रह्मचारी के पाच भेद है—उपनय ब्रह्मचारी, अवलंब ब्रम्हचारी, अदीक्षित ब्रम्हचारी, गूढ ब्रम्हचारी और नैष्ठिक ब्रम्हचारी। इनके अन्त में ब्रम्हचारी शब्द सबके साथ लगा हुआ है। इनका विशेप स्वरूप इस प्रकार है—जो श्रावकाचार सूत्र का विचार करे, विद्याभ्यास करने मे सदा तत्पर रहे और गृहस्थ

धर्म में (गृहस्थों के द्वारा करने योग्य धार्मिक क्रियाओ मे) निपुण हो उसको उपनय ब्रम्हचारी कहते हैं। जो जब तक विवाह न करे, तब तक क्षुल्लक अवस्था धारण करे, सदा जैन शास्त्रों का अध्ययन करे। अध्ययन समाप्त कर पीछे पाणिग्रहण करे, उसको अवलंब ब्रम्हचारी कहते हैं। जो बिना दीक्षा लिए ही व्रताचरण करने मे लीन हो, जैनशास्त्रो के अभ्यास में तत्पर हो और समस्त शास्त्रों को पढकर फिर पाणि-ग्रहण करे अर्थात् "शास्त्रो का अभ्यास पूर्ण हुए विना विवाह नही करुँगा।" ऐसा नियम लेकर विना दीक्षा लिए ही जो व्रतों के आचरण में प्रवृत्ति करे, उसको अदीक्षित ब्रम्हचारी कहते हैं। बालक अवस्था से ही जैन शास्त्रो के अभ्यास करने में जिसका प्रेम हो और जो शास्त्रो को पढ़ चुकने के वाद माता पिता के हठ से विवाह करे।

भावार्थ :—जो स्वयं विवाह न करे किन्तु दूसरे के हठ से जिसको विवाह करना पड़े, उसको गूढ ब्रह्मचारी कहते है। तथा जो जीवन पर्यंत समस्त स्त्री मात्र का त्याग कर देवे और एक वस्त्र मात्र परिग्रह के बिना बाकी सबका त्याग कर देवे सो नैष्ठिक ब्रम्हचारी है। इस प्रकार इनका स्वरुप है। यह ब्रम्हचर्य अवस्था सातवी प्रतिमा से लेकर ग्यारहवी प्रतिमा तक समझना चाहिए। आगे गृहस्थ का दूसरा वर्णाश्रम लिखते है।

जो त्रिकाल वंदना तथा पूजा आदि छह् कर्मों के करने में तत्पर हो जो विषय कषाय और हिसादिक पापो का त्यागी हो, जो स्वात्मरस का (अपने शुद्ध आत्मा के आनन्द रस का) भोगी हो, जो दयालु हो उसको गृहस्थ कहते है, अभिप्राय यह है कि अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों को पालन करने वाला हो उसको गृहस्थ कहते है। जो ग्यारह प्रतिमाओं को पालन करता हो, जो ध्यान और अध्ययन करने में सदा तत्पर हो, अनतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायो से रहित हो उसको वानप्रस्थ कहते है। तथा जो हिसा आदि समस्त पापो का जीवन पर्यंत के लिए त्यागी हो, पंच महाव्रत आदि अठाईस मूलगुणो को धारण करने वाला हो, धर्मध्यान मे लीन हो, ध्यानी हो, मौन धारण करने वाला हो और तपस्वी हो उसको भिक्षुक कहते है।

भावार्थ :—महामुनियो को भिक्षुक कहते हैं। इस प्रकार चारों वर्णाश्रमो का स्वरूप जनना। सो ही धर्मरसिक नाम के शास्त्र में लिखा है—

केवलियो का समुध्दात करने का नियम नहीं है ।

जब तेरहवे सयोग केवली नाम के गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त बाकी रह जाती है, तब दंड,कवाट, प्रतर, पूर्ण,प्रतर, कवाट दण्ड, निजदेह मात्र ऐसे आठ समय मे समुध्दात कर तेरहवें गुण स्थान के अन्तिम समय मे अघातिया कर्मो की स्थिति योग निरोधकर आयु के बराबर करते है फिर कर्मो का नाश करते हुए चौदहवे गुणस्थान के अन्त में मोक्ष प्राप्त करते है सो ही वसुनन्दी श्रावकाचार मे लिखा है-

छम्मा साउग सेसे उप्पण्णं जस्स केवल णाणं ।
सो कुणइ समुग्घायं इदरो पुण होय वा भणिज्जो ।।१७८१।।
अंतोमुहुत्त सेसा उगम्मि दण्डं कवाड पयरं च ।
जइय पूरणमथ कवाड दंडं णियत सुयमाणं च ।।१७८२।।
एवं पयेसप सरणं संवरणं कुणइ अट्ठ समयेहिं ।
हं.हिति जोइ चरिमे अघाइ कम्माणि सरिसाणि ।१७८३।।

इस प्रकार और भी वर्णन है इससे कहना पडता है कि जो जीव चौदहवे गुणस्थान में समुध्दात मानते है और आठवे समय मे मुक्ति जाना बतलाते है, वे मूर्ख है, वे शास्त्री नही है ।

प्रश्न—श्री बिंबों में चौबीसी प्रतिमाओं में अगल बगल दोनों ओर श्री देवी अर्थात् लक्ष्मी और सरस्वती मूर्ति रहती है तथा जिनमूर्ति के पास यक्ष यक्षिणी की मूर्ति रहती हैं; सो यह बात है जिन अरहन्त देव की प्रतिमाओं के पास यक्षादिक की व सरस्वती आदि की मूर्ति हो उनको नमस्कार करना चाहिये या नही, उनकी पूजा करनी चाहिये या नहीं तथा जिनेन्द्र देव की प्रतिमा के अगल-बगल यक्षादिकों की मूर्ति शास्त्रोक्त है या किसी ने मन से कल्पना कर बनवा दी है ?

उत्तर—भगवान अरहन्त देव की प्रतिमा के साथ-साथ यक्षादिक की मूर्तिया अनादिकाल से चली आ रही है और अनन्त काल तक रहेगी । यह कोई मन की कल्पना नही है, किंतु शास्त्रोक्त है । शाश्वत वा अनादिकाल से अनन्तकाल तक रहने वाली अकृत्रिम जिन प्रतिमाओ मे भी इन चिन्हो के रहने का वर्णन है तथा अकृत्रिम प्रतिमाओं की आम्नाय के अनुसार ही कृत्रिम प्रतिमाएं बनाई जाती है ।

इसलिये कृत्रिम प्रतिमाओ मे भी ये चिन्ह अवश्य होने चाहिये। किसी-किसी जिन मदिर मे अब भी यक्षादिको की मूर्ति सहित लगभग दो, दो हजार वर्ष पहले की जिन प्रतिमाए विराजमान है, वे भला अपूज्य कैसे हो सकती है।

अकृत्रिम जिन प्रतिमाओ के साथ-साथ यक्षादिक वा लक्ष्मी सरस्वती की प्रतिमाओ का निर्णय श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती विरचित त्रिलोकसार मे है। तथा जिनबिब का कथन करते समय लिखा है। यथा—

दस ताल माण लक्खण भरिया पेक्खंत इव वदन्ता वा।
पुरु जिण तुङ्गा पढिमा रमणमया अट्ठ अहियसया ॥१७८४॥

चमर करणाग जक्खग बत्तीसं मिहुणगेहि पुहजुत्ता।
सरिसीए पंत्तीए गब्भगिहे सुट्ठु सोहंति ॥१७८५॥

सिरिदेवी सुद्देवी सव्वाण्ह सणकुमार जक्खाणं।
रुवाणिय जिणपासे मंगल मट्ठविहमवि होदी ॥१७८६॥

इस प्रकार लिखा है इसका भावार्थ यह है कि उस गर्भगृह मे (श्रीमडप मे) एक सौ आठ प्रतिमाएँ विराजमान है। वे प्रतिमाएँ दस ताल (धनुष) ऊँची है। एक-एक प्रतिमा के दोनो ओर बत्तीस-बत्तीस यक्ष चमर लिये खडे है तथा उन जिन प्रतिमाओ के दोनो ओर श्रीदेवी और सरस्वतीदेवी ये दोनो देविया स्त्री का रूप धारण कर खडी है, सर्वाल्हाद और सनत्कुमार नाम के यक्षदेव अपने स्वरूप के अनुसार खड़े है। उन प्रतिमाओ के आगे आठ गुने अष्टमगल द्रव्य रक्खे है। ये अष्ट मगलद्रव्य प्रत्येक प्रतिमा के सामने अलग-अलग है। इन सब विभूतियो से शोभायमान उन प्रतिमाओं को इन्द्रादिक सम्यग्दृष्टि जीव पूजा करते है और वदना करते है।

ऐसा त्रिलोकसार मे लिखा है—

सुमूहूर्ते सुनक्षत्रे वाद्यवैभव संयुत।
प्रसिद्ध पुण्यदेशेषु नदीनगवनेषु च ॥१७८७॥

सुस्निग्धां कठिनां सुस्पर्शां सुस्वरां शिलाम्।
समानीय जिनेन्द्रस्य बिंबं कार्यं सुशिल्पिभिः ॥१७८८॥

कषादिरोम हीनांगं स्मश्रुरेखा विवर्जितम्।
स्थितं प्रलंबितं हस्तं श्रीवत्साढ्यं दिगम्बरम् ॥१७८९॥

पल्यंकासनं वा कुर्याच्छिल्पि शास्त्रानुसारतः ।
निरायुधं राजतं वा पैत्तलं कांश्यनं तथा ॥१७६०॥
प्रवालं मौक्तिकं चैव वैडूर्यादिसुरत्नजम् ।
चित्रजं तथा लेप्यं कूचिच्चंनजं मतम् ॥१७६१॥
प्रातिहार्याष्टकोपेतं संपूर्णावयवं शुभम् ।
भावरूपानुविद्धांगं करयेदु बिंबमर्हतः ॥१७६२॥
प्रातिहार्यैविना शुद्धं सिद्धबिम्बमपीदृशम् ।
सूरीणां पाठकानां च साधूनां यथागमम् ॥१७६३॥
वामे च यक्षीं बिभ्राणं दक्षिणे यक्षमत्तमम् ।
नवग्रहानधो भागे मध्ये च क्षेत्रपालकम् ॥१७६४॥
यक्षाणां देवतानां सर्वालंकार भूषितम् ।
स्ववाहनावलोपेतं कुर्यात्सर्वांग सुन्दरम् ॥१७६५॥

यह रीति अकृत्रिम प्रतिमाओं को अपेक्षाओ की अपेक्षा अनादि निधन है तथा परम्परा करके भी योग्य हैं ।

जो लोग धारणेन्द्र पद्मावती सहित (फणा सहित) श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा से अरुचि करते हैं, वे ठीक नही है । जो रीति शास्त्रोक्त है और परम्परा से चली आ रही है, उसमें संदेह नहीं करना चाहिये । जो रीति केवल मन की कल्पना से चलाई गई हो उसमें अरुचि करना ठीक है । प्राचीन जीतनी अर्हन्त प्रतिमाये है, वे अष्ट प्रातिहार्य और यक्षयक्षि सहित ही है, देवगढ़, सेरोनजी, खजराहो, पपोराजी, थोवनजी, बुदीचंदेरी आदि भारत में कला संस्कृति के केन्द्र है, वहां पर जो भी प्रतिमा अरहन्त भगवान की हैं, वह सब इसी प्रकार ही है, वर्तमान मे सबसे प्राचीन क्षेत्र खारवेल महाराजा के समय का है जो खंडगीरि उदयगीरि के नाम से प्रसिद्ध है और आगम में भी इसी प्रकार की प्रतिमा बनाने का विधान है सो आगमोक्त ही है ।

प्रश्न :—क्या इन देवी-देवताओं की पूजा अर्चना भी करना चाहिये ?

उत्तर :—इन देवी-देवताओं की पूजा अर्चना इनके पद के अनुसार करनी चाहिये, वीतराग भगवान की तरह इनकी पूजा अर्चना नही करना चाहिये, क्योंकि ये देव चतुर्थगुणस्थानवर्ती हैं । इनकी पूजा सत्कारादि भी इनी के पद के योग्यतानुसार करना चाहिये । सोमदेव सूरी ने इसीलिये अपने उपासकाध्ययन में लिखा । सम्यग्दृष्टि

श्रावक को यज्ञांस देकर, उनका सन्मानादिक करना चाहिये।

यतो यज्ञांस दानेन् माननीया सुदृष्टिभिः ।।१७९६।।

सोमदेव उपवासकाध्ययन

इसमें ऐसा करने में एक अपेक्षा है। श्रावक अपने इस लोक की सिद्धि के याने भोगों के लिये ऐसा करता है, जैसे विद्याधर लोग अथवा चक्रवर्ती आदि लोक करते हैं। विद्याधर लोग विद्याओ व मत्रो की सिद्धि के लिये जो भी विद्या अथवा मन्त्रों के अधिष्ठाता देव अथवा देवी है, उनका पहले पूजा सत्कारादि करके फिर उन मन्त्रों को सिद्ध करते हैं। तब ही ये विद्याए उनको सिद्ध होती है और उनके कार्य की सिद्धि करती है, अगर ये ऐसा नही करते तो उनको कभी विद्याएं सिद्ध नही हो सकती। ऐसा नियम है जिससे हमको कार्य कराना हो उसका सत्कारादि करना चाहिए।

तद्भव मोक्षगामी नमी विनमि, कुंभकरण, मेघनाद, विभिषणादिक अनेक राजा जो सम्यक् दृष्टि थे, उन्होने भी ऐसा किया भोगो की प्राप्ति के लिये। देखिये प्रकरण आदिपुराण नमि विनमि को धरणेन्द्र के द्वारा राज्य देते समय उपदेश। धरणेन्द्र ने कहा कि ये महाविद्याए यहां के लोगों को इनकी इच्छानुसार फल दिया करती है। यहा विद्याधरो को जो महाप्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ सिद्ध होती है, वे इन्हे कामधेनु के समान यथेष्ट फल देती रहती हैं वे विद्याए दो प्रकार की हैं—

कुल जात्याश्रिता विद्यास्तपो विद्याश्चता द्विधाः।
कुलाम्नाया गतः पूर्वायत्ने नाराधिताः पराः ।।१७९७।।
तासामाराधनोपायः सिद्धायतन संनिधौ।
अन्यत्र वाशुचौ देशे द्विपाद्रि पुलिनादिके ।।१७९८।।
सं पूज्य शुचि वेषण विद्यादेव व्रताश्रितैः।
महोपवासैं राराध्या नित्यार्चन पुरः सरैः ।।१७९९।।
सिद्धियन्ति विधिनानेन महाविद्या न भोजुषाम्।
पुरश्चरण नित्यार्चा जपहोमाद्यनुक्रमात् ।।१८००।।
सिद्धविद्यै स्ततः सिद्ध प्रतिमार्चनं पूर्वकम्।
विद्या फलानि भोग्यानि वियद गमन चुञ्चुभिः ।।१८०१।।

आदिपुराण पर्व १९ पृष्ठ ४२० सपा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

एक तो ऐसी विद्याये है जो कुल (पितापक्ष) अथवा जाति (मातृपक्ष) के आश्रित हैं और दूसरी वे है जो तपस्या से सिद्ध की जाती है। इनमे से पहली प्रकार की विद्याये कुल परम्परा से ही प्राप्त हो जाती है। और दूसरे प्रकार की विद्याये यत्नपूर्वक आराधना करने से प्राप्त होती हैं। जो विद्यायें आराधना से प्राप्त होती है उनकी आराधना का उपाय यह है कि सिद्धायतन के पास या द्वीप पर्वत या नदी के किनारें आदि किसी अन्य पवित्र स्थान में पवित्र वेषधारण कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुये विद्या के अधिष्ठातृ देव-देवी की पूजा करे तथा नित्यपूजा पूर्वक महोपवास धारण कर उन विद्याओ की आराधना करे इस विधि से तथा नित्य पूजा जप होम आदि अनुष्ठान करने से विद्याधरों को वे महाविद्यायें सिद्ध हो जाती है। जिन्हें विद्यायें सिद्ध हो गई है ऐसे आकाशगामी विद्याधर लोग पहले सिद्ध भगवान की प्रतिमा की पूजा करते हैं और फिर विद्याओं के फल का उपभोग करते है।

इस प्रकार धरणेन्द्र के द्वारा प्रदत्त राज्य पाकर और विद्या सिद्ध करने का उपाय जानकर दोनों कुमार अत्यन्त आनन्दित हुये धरणेन्द्र भी अपना कार्य पूरा हुआ समझ अपने पाताल लोक को लौट गया।

पश्चात् उन दोनो कुमारो ने विधिपूर्वक अनेक विद्याये सिद्ध की और विद्या में बडे-बड़े पुरुषों के साथ मिलकर अपने अभिलषित अर्थ को सिद्ध किया, वे दोनो कुमार विद्याओ के आश्रय से प्राप्त तथा छहो ऋतुओं के सुख देने वाले भोगो को भोगने लगे।

विनमि और नमि तद्भव मोक्षगामी जीवो ने भी विद्यायें सिद्ध की निम्न श्लोक से प्रमाणित है कि सम्यक्त्वी भी आवश्यकतानुसार विद्याये सिद्ध कर अपने लौकिक जीवन की सफलता प्राप्त करते थे।

विद्यासिद्धि विधिनियमितांमानयन्तौ।
विद्यावृद्धैः सममभि मतामर्थं सिद्धि प्रसिद्धिम् ॥१८०२॥
विद्याधीनान् षडतु सुखदान्निर्विशन्तौ च भोगान्।
तौ तत्रादौ स्थितिम भजतां खेचरैः संविभक्ताम् ॥१८०३॥

आ० जिनसेन० आदिपुराण पर्व १६ पृष्ठ ४४२

उपरोक्त कथन से प्रमाणित हुआ कि तद्भव मोक्षगामी जीव भी इह लोक सिद्धि के लिये विद्याएं सिद्ध करते थे और जब जो विद्यायें सिद्ध करनी होती उस विद्या के अधिष्ठाता देव या देवी की पूजा विनय आदर सम्मान भी करना पडता था। वर्तमान समय में अगर कोई सद्गृहस्थ किसी मत्र विद्या का सहारा लेकर अपने ऐहिक कार्य की सिद्धि कर लेता है तो क्या वह जीव अभव्य या मिथ्यादृष्टि की कोटि मे आ जायेगा ? नही आयेगा, क्योंकि उसका हेतु विद्या सिद्धि करने का है। और उन विद्याओ के सहारे से अपने पर आया सकट धर्मसकट अथवा दूसरो पर आया सकट दूर करने का है।

वर्तमान मे कुछ पडित लोग अथवा विशेष आगमाभ्यास शून्य साधु लोग कहते है कि मत्र विद्या वा यत्र विद्या का प्रयोग करना कराना सहारा लेना मिथ्यात्व है क्योकि प्रत्येक मत्र विद्या का अधिष्ठाता देव होता है और उस देव का पूजन अर्चन करना आवश्यक होता है। सम्यदृष्टि वीतरागदेव को छोड़कर अन्य किसी को नही पूजता है।

यहा प्रश्न है कि उपरोक्त कथन में नमि विनमि राजकुमार क्या मिथ्यादृष्ठि थे अथवा अभव्य थे, जो उन्होने विद्याऐ सिद्ध की और उनके अधिष्ठाता देव की पूजा अर्चा की, क्या जिनसेन स्वामिजी ने आदिपुराण मे असद् निरुपण किया है ? विद्वान विचार करें।

हमे आचार्यो के मन्तव्यो की ओर ध्यान देना चाहिये पंडितो के मतव्यो की ओर नही, कुछ गृहस्थ पडितो ने अपनी परम्परा का पोषण करने के लिये ही निषेध किया है।

आगे विरनन्दी स्वामी एक स्त्रोत बनाने के पहले शासन देव के विषय मे अपना मन्तव्य लिखते है ?

"स्त्रोत को प्रारम्भ में शका समाधान करने हुये लिखते है"—

काव्य श्रीमद्गीर्वाणेति न तु च महतः "सूरे" तपस्विनोऽस्मिन् स्तवकरणे कथ सम्यक्त्व शुद्धि जातेती प्रश्ने प्रत्युत्तरमार मोक्ष मार्ग प्रत्युद्यतस्य सम्यक्त्वस्य सहितस्य तपस्विनो मुनेः सम्यक्त्वधनिका जातास्त्वच्चातिमोत्रमार्गार्हत्वेन तस्य समुधमो न तस्य तु मित्यमत्कारकारी चितापेक्षा श्रावकाणा यथोपदिष्ट यथाभिलषित–समीहित

सिध्दयर्थमन्त्र लौकिक मिथ्यात्वाऽपोहार्थं जिनधर्म समुद्योतनार्थं श्रावकाभिप्रायेण पक्षिणामपि समुत्पत्यनन्तर दृष्टनात् सम्यक्त्वानां यथालब्ध स्वकीय नियोगी सेवावसराणां सत्यकायधत्वं समुचितं (न) तु इयं देवी मोक्ष मार्ग फल दायकेति बुद्धयासत्कारार्हत्व तस्य तु व्यवहार विधौ सोपदेश निराकरणम् कि तदा पंच नमस्कार सेवनं तथा तीर्थङ्कर यक्ष यक्षिनां परिहार निमित्तं सेवन विधान समुपदिशत्येव न तु स्वयमाराधकाः "स्यात्" न तु विराधकः "स्यात्" कथं पार्श्व प्रतिमादेरुपरिदृष्टत्वादनादि-निधनरचनेमिति तथा चरणादौ इष्टत्वादपि चितामण्यादेः कथ निरपेक्षत्व तथा सर्वेषा संहिता शास्त्राणां प्रतिष्ठाशास्त्राणा शिल्पशास्त्राणां प्रायश्चित्तशास्त्राणाम् नादरो भवति ? तदसत्कारे तथा यशस्तिलक देवसेनकृत भावसंग्रह वामदेव वृत्त वसुनन्दी श्रावकाचार महापुराण लघुसकलकीर्ति आदि शास्त्राणां भट्टारक शुभचन्द्र कृत शास्त्राणा व्रत कथा कोशादीनाम् नादरो भवति तेन सत्कारर्हत्व समुचित एतत्सत्कारे प्रथमानुयोगोपदिष्ट दानं फलादिकारसापेक्ष्य-पद्मावत्यादि कथा भंगोऽपि यथास्यात्तथा संमतभद्र-पात्रकेशरी अकलंकाद्युपसर्गविघ्नमपि स्यादनृतमेव तथा सकलकीर्तिना श्रीपालस्त्री शीलरक्षार्थ सर्वा जिनशासन रक्षिका नानाविद्योपसर्ग रक्षार्थ सर्वा जिनशासन रक्षिका नानाविधोपसर्ग कुर्वत्यः धवल प्रति "समागता" एतत्कथानक मुक्तं तदायं नृतमेव स्यात् "तथाचाकृत्रिमचैत्यालय विन्यासे सर्वान्हि सनतकुमार श्री देवी श्रुतदेवीत्यादि यक्षिणी यक्षक्रिया सोऽपि त्रिलोकसारे नेमिचन्द्रैः रवतं सोऽपि त्यलीक एव स्यादित्यत्. शतधा मिथ्यादृष्टिना जिनधर्म विराधकानां 'वाक्य' खण्डन दृष्टवा नादिकालीन यक्षिणि यक्ष विन्यासं तथाराधनविधान "योग्यमेव" सेव्यं न तु व्याप्य तथा परमार्थ देवता जिनदेव. सः सत्यदेवः क्रियादेवश्चक्र छ्गादिक यज्ञविधानं व्यवहार देवता रक्षा देवता कुलदेवता पद्मावत्यादिरित्यादि कथनमपि पचधा विवर्ण चारेषु दृष्टं कथमुदितो भास्करोप्यनुदितः समुदीयंते"

इस संस्कृत उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि शासन देवी देवताओं को अर्हंत समान मानकर अभिलाषा से स्तवन पूजन आराधना की जायेगी तो अवश्य सम्यक्त्व की हानि होगी। वह मिथ्यात्व होगा अनन्त ससार का कारण होगा, धर्म की महिमा दिखाने के लिये ससारिक जीवन सुखी बनाने के लिये धर्मोद्योत करने के लिये शासन देवी देवना का आदर पूजा स्तवन करना दोष नही। इसमें मिथ्यात्व और मूढता नही है। अपितु सम्यक्त्व का पोषण है। मानलो यदि मिथ्यादृष्टि भूत-प्रेत व्यन्तर

सता रहा है। जिससे धर्मध्यान मे बाधा आती है। तब मुनिराज व साधु उसके निराकरणार्थ उपाय बतलाकर उसकी रक्षा करते है। साथ ही पचनमस्कार मन्त्र की आराधना करने का आदेश देते है। तब वह मिथ्यात्व नही। यदि मिथ्यात्व समझा जायगा तो "जैनसहिताये" प्रतिष्ठाशास्त्र शिल्पशास्त्र प्रायश्चित्त शास्त्र तिरस्कृत हो हो जायेगे अनादरणीय हो जायेगे। ऐसा समझने पर यशस्तिलक चम्पू देवसेन द्वारा रचित भावसग्रह वामदेव रचित शास्त्र वसुनन्दी श्रावकाचार, महापुराण लघुसकल-कीर्ति शुभचन्द्र भट्टारक कृतशास्त्र कथा कोष अनादरणीय हो जायेगे। प्रथमानुयोग कथा पुराण सभी झूठे हो जायेगे किन्तु ऐसा नही है। सभी कथाये, चमत्कार एव घटनाऐ सत्य और जिन प्रणीत है। अकृत्रिम जिन चैत्यालयो मे अकृत्रिम जिनबिम्ब यक्ष यक्षिणी सहित है। यह त्रिलोकसार मे श्री नेमीचन्द्राचार्य ने लिखा है— मिथ्या-दृष्टि देवो के निषेध के लिये सम्यग्दृष्टि देवो की पूजा सत्कार योग्य ही है। ताकि सत्य देवाराधना निर्विघ्न हो।

[जयपुर से हस्तलिखित डायरी, प कन्हैयालाल जी से प्राप्त]

अब चक्रवर्ती क्षायिक सम्यक्दृष्टि किंचित भोगो की इच्छा पूर्ति के लिये चक्ररत्न और अस्त्रो की पूजा करता है।

इसके बाद और देखिये षट खण्डाधिपति की आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न होता है। वह चक्ररत्न जो अजीव है, उसकी भी चक्रवर्ती अष्टद्रव्य से पूजा करता है।

अथ चक्रधरः पूजां चक्रस्य विधिवत् व्यधात्।
सुतोत्पत्ति श्रीमानभ्यनन्ददनु क्रमात्॥

अथान्तर श्रीमान् चक्रवर्ती भरत महाराज ने विधि पूर्वक चक्ररत्न की पूजा की और फिर अनुक्रम से पुत्र उत्पन्न होने का आनन्द मनाया।

आदिपुराण पर्व २६ पृष्ठ न. १ जिनस्वामी कृत—

भरत चक्रवर्ती ने मगध देव को जीतने के लिये भी मन्त्र तन्त्रो का सहारा लिया था, क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर भी।

अधिवासित्जैत्रास्त्रः स त्रिरात्र मुपोषिवान्।
मन्त्रानुस्मृति पूजात्मा सूचितल्योपगः शुचिः॥१८०३॥

जिसने मन्त्र तन्त्रो से विजय के शस्त्रों का सस्कार किया है। तीन दिन

उपवास किया हो, मन्त्र के स्मरण से जिसकी आत्मा पवित्र है ।

आदिपुराण पर्व २८ पृष्ठ ३, द्वितीय भाग

अस्त्रों की पूजा का प्रमाण—

पुरोहित सरवस्तत्र कृतोप वसनक्रियः ।
अध्यशेत शुचि शय्यांदि व्यास्त्राण्यधि वासयनः ॥१८०४॥

वहां उन्होने पुरोहित के साथ-साथ उपवासकर और दिव्य अस्त्रो की पूजा डाभ की पवित्र शय्या पर शयन किया । यहां प्रश्न होता है कि भरत चक्रवर्ती को अस्त्रों की पूजा करना क्या आवश्यक थी ? क्या वह मिथ्यात्वी था ? नही किन्तु वह व्यवहार है । उसको इस प्रकार का करना ही पड़ता है जिनसे काम लेना है, उनका आदर सत्कार करना परमावश्यक है । चाहे वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्यो न हो ।

आदिपुराण पर्व ३२ पृष्ठ ११६, उत्तरार्द्ध द्वि खण्ड

इत्यादि अनेक आचार्यो के मन्तव्य आगम मे लिखे हुए है । सो सम्यग्दृष्टि श्रावक को उनके पद के योग्य उनका सन्मान करना ही चाहिये । अगर उनसे किसी को द्वेप है तो सन्मान नही तो अपमान भी नही करना चाहिये । हमारे यहां द्वादशागश्रुत में दसवा विद्यानुवाद पूर्व है, उस विद्यानुवाद पूर्व में, महाविद्या और क्षुद्रविद्याओं का ही वर्णन है और देव देवियो से ही सम्बन्धित वर्णन है और इन विद्याओं को सम्यग्दृष्टि श्रावक या मिथ्यादृष्टि जीव दोनो ही भोगो के लिये सिद्ध करते है—ऐसा आगम का वचन है ।

हां, ये विद्याए निर्ग्रन्थ भावलिगी मुनि सिद्ध नही करते । इन साधुओं को विद्यानुवाद पूर्व का पाठ करते समय स्वतः सिद्ध हो जाती है । लेकिन वीतरागी साधुओं को भोगो की इच्छा नही रहती, इसलिए उन स्वत. सिद्ध हुई विद्याओं को कह देते है कि हमें तुमसे कोई कार्य नही है । अगर धर्म-प्रभावनार्थ, धर्म-रक्षणार्थ कोई साधु निःस्वार्थ भाव से मन्त्रविद्याओ का सहारा लेता है, तो कोई दोष नहीं है ।

प्रभावना च प्रभाव्यते मार्गोऽनयेति प्रभावना, वाद, पूजा, व्याख्यान, मन्त्र, तन्त्रादिभिः सम्यगुपदेशैर्मिथ्यादृष्टि रोध कृत्वार्हं प्रणित शासनोद्योतनम् ।

मूलाचार आ. कुन्द. टी पृ. १७४

जिसके द्वारा मार्ग को प्रभावशील किया जाता है, वह प्रभावना है । वाद, शास्त्र, पूजा, सिद्धचक्रविधान महोत्सव आदि, दान, आहार, औषधि, अभय, व्याख्यान,

मन्त्र तन्त्रादिक से और इनके समीचीन उपदेश से मिथ्यादृष्टि के प्रभाव को रोक कर अर्हन्त भगवान-कथित जैन शासन का उद्योत करना प्रभावना है।

विजयोदया—मन्ताभि ओग को दुग भूई कम्म मन्त्राभियोग क्रियां, कुतूहलोपदर्शन क्रिया, बालादीना रक्षार्थ भूति कर्म च। ययुजदे करोति यः। अभियोग भावरण कुरणइ। अभियोग्या भावनां करोति। कि सर्व एव मन्त्राभियोगादौ प्रवृत्तो नेत्याह, इढ्ढि रस साद हेदु मन्ताभियोग को दुग भूई कम्म जो पउजदे सो अभियोगभावरण कुरणइ। द्रव्यलाभस्य, मृष्टाशनस्य, सुखस्य वा हेतु मन्त्राद्यभियोग कर्म प्रयुक्ते यः स एव अभियोग्य भावना करोति। तेन य स्वस्य परस्य वा आयुरादि परिज्ञानार्थ मन्त्राभियोग कुर्वन्, धर्मप्रभावनार्थ कौतुक उपदर्शयन् वैयावृत्य वा प्रवर्तयामीति उद्यत ज्ञान दर्शन चारित्र परिणामादर वर्तनान्नदुष्यतीतिभावः।

कुमारी वगैरह मे भूत का आवेश उत्पन्न करना, अकाल में वृष्टि करके दिखाना ऐसे ही आश्चर्य कारक प्रयोग करना जैसे अमावस्या के दिन आकाश में लोगो को चन्द्र दिखाना इत्यादि, किसी स्त्री या पुरुष को वश करना, उच्चारण करना, इत्यादि बालकादिको का रक्षरण करने के लिए भूति कर्म मत्र प्रयोग करना अथवा भूतो की क्रीडा दिखाना ये सब क्रियाये यदि अपना ऐश्वर्य दिखाने के लिये अथवा सम्पदा दिखाने के लिये, मिष्टाहार के लिये किवा इन्द्रिय जनित सुख के लिये यदि मुनि करेगा तो उसकी यह अभियोग्य भावना कही जायेगी, इस भावना के प्रभाव से जीव का जन्म वाहन जाती के देवो मे हो जाता है, यदि कोई मुनि निज की अथवा दूसरो की आयु वगैरह जानने के लिये मत्रप्रयोग करेगा, धर्मप्रभावना के लिये यदि वह कौतुक कारक अकाल वृष्टयादिक दिखावेगा अथवा इन मत्रादिको से मै मुनि का वैयावृत्य करूगा, ऐसा अभिप्राय मन मे धारण कर यदि वह कौतुकादि करेगा तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणामो मे आदर से प्रवृत्ति करने वाला होने से दूषणीय नही है।

भगवती आराधना (मूला. रा.) पृ. ४०० गा. नं० १८२

किसी साधु की समाधि कब होगी, इसको जानने के लिये सघाधिपति आचार्य क्षपक की समाधि ज्ञान करने के लिए देवता को पूछते है—

खवयस्सुव संपण्णस्स तस्स आराधणा अविक्खेवं।
दिव्वेणणिमित्तेण य पडिलेहदि अप्पमत्तो सो ॥१८०५॥

आराधनागतं क्षेमं क्षपकस्य समीयुषः ।
दिव्येन निःप्रमादोऽसौ निमित्तेन परीक्षते ।।१८०६।।

खवगस्स क्षपकस्य, उवसंपण्णस्स अत्मातिकमुपाश्रितस्य । तस्स तस्य । आराहणा अविक्खेवं आराधनाया अविक्षेपं । पडि लेहदि परीक्षते । कः ? सो स सूरिर्नियपिकः । अप्पमत्तो अप्रमत्तः । केण दिव्वेण देवतोपदेशेन । णिमित्तेणनिमित्तेण वा इयमेका परीक्षा ।

हमारे सघ के इस क्षपक ने समाधि के लिए आश्रय लिया है, इसकी समाधि निर्विघ्न समाप्त होगी या नही, इस विषय का भी आचार्य देवता के उपदेश से अथवा शुभाशुभ निमित्तो से निर्णय कर लेते हैं; यह भी एक परीक्षा है ।

साधु की आलोचना आचार्य कहां सुनें—

अरहंत सिद्ध सागर पउसरं रवीरंपुप्फ फल भरियं ।
उज्जाण भवण तोरण पासादं णागजक्ख घरं ।।१८०७।।
जिनेन्द्र यक्ष नागादि मंदिरं चारु तोरणम् ।
सारः स्वच्छ पयः पूर्णं पद्मिनी षंड मंडितम् ।।१८०८।।

णागजक्खघरं । नागानां यक्षाणां च गृहं ।

अर्हन्त का मन्दिर, सिद्धो का मन्दिर, अर्हन्त और सिद्धो की जहां प्रतिमा हैं ऐसे पर्वतादिक, समुद्र के समीप का प्रदेश, जहां क्षीर वृक्ष है, जहा पुष्प और फलो से लदे हुए वृक्ष हैं ऐसे स्थान, उद्यान तोरणद्वार सहित मकान, नागदेवता मन्दिर, यक्ष मन्दिर ये सव स्थान क्षपक की आलोचना सुनने के योग्य है ।

भगवति आ. (मू आ) आ. शिवकोटि (शिवार्य)

उपरोक्त विवरण से ये मालूम पड़ता है कि दिगम्बराचार्य भी इन विद्या, मन्त्रो व देवता का सहारा लेते थे विशेष कार्य के लिये, और आलोचना भी यक्षो के मन्दिरो मे जाकर सुनते थे । अगर ये यक्ष मिथ्यादृष्टि होते तो इनसे क्यो पूछते अथवा इनके मन्दिर मे आचार्य लोग क्यो जाते, मिथ्यादृष्टिओं के मन्दिर मे जाना ही हमारे यहां निषेध है अथवा मन से, वचन से, काय से मिथ्यादृष्टि देवो को मान्यता देना अनायतन सेवा है । अनायतन सेवने वाला कभी सम्यग्दृष्टि नही हो सकता । इससे सिद्ध होता है कि ये देवी देवता सम्यग्दृष्टि ही है और इनकी योग्यतानुसार इन देवी-देवताओं का सन्मानादि करना ही चाहिए । वीतराग भगवान की पूजा पञ्चोपचारी

है और देवी-देवताओ की पूजा षोडशोपचारी है। पूजा-पूजा में भी अन्तर है। विवेक से कार्य करे तो कोई दोष नही।

अष्टविध द्रव्यार्चना करने से क्या फल मिलता है अलग-अलग द्रव्य से पूजा करने का क्या फल है। और जिन मंदिर बनाना, मूर्ति स्थापन करना और पूजा करना, ऐसा करने वालों को क्या फल मिलता है ?

कुत्थुं भरिदलमेत्ते जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं।
सरिसवमेत्तं पि लहेइ सो णरो तित्थयर पुण्णं ॥१८०९॥
जो पुण जिणिंदभवणं समुण्णयं परिहि-तोरणसमग्गं।
णिम्यावइ तस्स फलं को सक्कर वोण्णउं सयलं ॥१८१०॥

जो मनुष्य कुंथुभरी (धनिया) के दलमात्र अर्थात पत्र बराबर जिनभवन बनवाकर उसमे सरसो के बराबर भी जिनप्रतिमा को स्थापन करता है। वह तीर्थंकर पद पाने के योग्य पुण्य कोई प्राप्त करता है। तब जो कोई अति उन्नत और परिधि, तोरण आदि से सयुक्त जिनेन्द्र भवन बनवाता है। उसका समस्त फल वर्णन करने के लिये कौन समर्थ हो सकता है ?

जलधाराणिक्खेवेण पावमल सोहणं हवे णियमं।
चंदणलेवेण णरो जावर सोहग्गसंपण्णो ॥१८११॥

पूजन के समय नियम से जिन भगवान के आगे जलधारा को छोडने से पाप रूपी मैल का सशोधन होता है। चंदनरस के लेप से मनुष्य सौभाग्य से सम्पन्न होता है।

जायइ अक्खयणिहि-रयणसामिओ अक्खएहि अक्खोहो।
अक्खीणलद्धिजुत्तो अक्खयसोक्खं च पावेइ ॥१८१२॥

अक्षतो से पूजा करने वाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और १४ रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती होता है। सदा अक्षोभ अर्थात रोग शोक रहित निर्भय रहता है अक्षीण लब्धि से सम्पन्न होता है और अन्त मे अक्षय मोक्ष सुख को पाता है।

कुसुमेहिं कुसेसयवयणु तरुणीजणणयण कुसमवरमाला।
ववएणचियदेहो जयइ कुसुमाउहो चेव ॥१८१३॥

पुष्पों से पूजा करने वाला मनुष्य कमल के समान सुन्दर मुख वाला तरुणी जनों के नयनों से और पुष्पों की उत्तम मालाओं के समूह से देहवाला कामदेव होता है।

जायइ णिविज्जदाणेण सत्तिगो कंति-तेय संपण्णो।
लावण्ण जलहि वेला तरंग संपाविय सरीरो ॥१८१४॥

नैवेद्य के चढाने से मनुष्य शक्तिमान, कांति और तेज से सम्पन्न और सौन्दर्य रूपी समुद्र की वेला (तट) वर्ती तरंगों से संप्लावित शरीर वाला अर्थात् अति-सुन्दर होता है।

दीवेहिं दीवियासेजीवदव्वाइ तत्त सब्भावो।
सब्भावजणिय केवलपईवतेएण होइ णरो ॥१८१५॥

दीपों से पूजा करने वाला मनुष्य सद्भावों के योग से उत्पन्न हुये केवलज्ञान रूपी प्रदीप के तेज से समस्त जीवद्रव्यादि तत्वो के रहस्य को प्रकाशित करने वाला अर्थात् केवलज्ञानी होता है।

धूवेण सिसिरयरधवलकित्तिधवलियजयत्तओ पुरिसो।
जायइ फलेहि संपत्त परमणिव्वाण सोक्खफलो ॥१८१६॥

धूप से पूजा करने वाला मनुष्य चन्द्रमा के समान धवल कीर्ति से जगत्त्रय को धवल करने वाला अर्थात् त्रैलोक्यव्यापी यश वाला होता है। फलो से पूजा करने वाला मनुष्य परम निर्वाण का सुखरूप फल पाने वाला होता है।

घंटाहिं घंट सद्दाउलेसु पवरच्छराणमज्झम्मि।
संकीडइ सुरसंघायसेविओ वर विमाणेसु ॥१८१७॥

जिनमन्दिर मे घंटा समर्पण करने वाला पुरुष घटाओ के शब्दो से आकुल अर्थात् व्याप्त श्रेष्ठ विमानो में सुर-समूह से सेवित होकर प्रवर अप्सराओ के मध्य मे क्रीडा करता है।

छत्तेहिं एयछत्तं भुंजर पुहवी सवत्तपरिहीणो।
चामरदाणेण तहा विज्जिज्जइ चमरणिवहेहिं ॥१८१८॥

छत्र प्रदान करने से मनुष्य शत्रुरहित होकर पृथ्वी को एक छत्र भोगता है। तथा चमरों के दान से चमरों के समूहो द्वारा परिवीजित किया जाता है अर्थात् उसके ऊपर चमर ढोरे जाते है।

अहिसेयफलेण णरो अहिसिंचिज्जइ सुदंशणस्सुवरि ।

खीरोय जलेण सुरिंदप्पमुह देवेंहि भत्ताए ।।१८१९।।

जिन भगवान के अभिषेक करने के फल से मनुष्य सुदर्शन मेरु के उपर क्षीर-सागर के जल से सुरेन्द्र प्रमुख देवों के द्वारा भक्ति के साथ अभिषिक्त किया जाता है ।

विजय पडाएंहि णरो संगाम मुहेसु विजइओ होइ ।

छक्खंड विजयणाहो णिप्पडिवक्खो जसस्सी य ।।१८२०।।

जिन मदिर मे विजयपताकाओं के देने से मनुष्य संग्राम के मध्य विजयी होता है । तथा षट् खण्डरूप भारत वर्ष का निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है।

किं जंपिएण वहुणा तीसु वि लोएसु किं पि जं सोक्खं ।

पूजा फलेण सव्वं पाविज्जइ णत्थि संदेहो ।।१८२१।।

अधिक कहने से क्या लाभ है ? तीनो ही लोकों में जो कुछ भी सुख है । वह सव पूजा के फल से प्राप्त होता है इसमे कोई सदेह नहीं है ।

यहा ऐसा विशेष और जानना जो जिनेन्द्र के पूजन से समस्त च्यार प्रकार के देव तो कल्प वृक्षनितैं उपजे गन्ध, पुष्प, फलादि सामग्री करि पूजन करैं है अर सौधर्म इन्द्रादिक सम्यग्दृष्टि देव है, ते तो जिनेन्द्र की भक्ति पूजन स्तवन करके ही अपनी देव पर्याय कू सफल मानैं अर मनुष्यनि मे चक्रवर्ती नारायण बल भद्रादिक राजेद्र हैं है, ते मोतीनिके अक्षत रत्ननिके पुष्प फल दीपकादिक तथा अमृत पिंडादिकरि जिनेन्द्र का पूजन स्तवन नृत्य गानादिककरि महापुण्य उपार्जन करैं है । अर अन्य मनुष्यनि मे हू जिनके पुण्य के उदयतैं सम्यक उपदेश के ग्रहणतैं जिनेन्द्र के आराधन मे भक्ति उत्पन्न होय ते समस्त जाति कुल के धारक यथायोग्य पूजन करैं है ।

समस्त ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र अपना-अपना सामर्थ्य अपना-अपना ज्ञान कुल वुद्धि सम्पदा सगति देशकाल के योग्य अनेक स्त्री पुरुष नपुसक धनाढ्य निर्धन सरोग नीरोग जिनेन्द्र का आराधन करैं है । केई ग्रामनिवासी हैं । केई नगर निवासी है केई वन निवासी है । केई अति छोटे ग्राम मे बसने वाले हैं । जिनमें केई तो अति उज्जवल अष्ट प्रकार सामग्री वनाय पूजन के पाठ पढिकरि पूजन करैं है, केई कोरा सूका जव गेहूँ, मक्का, वाजरा, उडद, मूंग, मोठ इत्यादिक धान्य की मूठी ल्याय

जिनेन्द को चढावै है कोई रोटी चढावै है, केई रावडी चढावै है, केई अपनी बाडीतै पुष्प ल्याय चढावै है केई नाना प्रकार के हरित फल चढावै है केई दाल भात अनेक व्यजन चढवै है। केई नाना मेवा चढावै हैं। केई मोतीनिके अक्षत माणिक निके दीपक सुवर्ण रूपानिकै तथा पच प्रकार रत्ननिकरि जड़े पुष्प फलादि चढावै है केई दुग्ध केई दही केई घृत चढावै है। केई नाना प्रकार के घेवर, लाडु, पेड़ा, बरफी, पूडी, पूवा इत्यादिक चढावैं है। केई वदंना मात्र ही करै है, केई स्तवन गीत नृत्य वादित्र ही करै हैं। केई अस्पर्श्यशूद्रादिक मन्दिर के बाह्य ही रहि मन्दिर के शिखर की तथा शिखरनि में जिनेन्द्र के प्रतिबिब का ही दर्शन वन्दना करै है।

एसै जैसा ज्ञान जैसी सगति जैसी सामर्थ्य जैसी धन सम्पदा जैसी शक्ति तिस प्रमाण देशकाल के योग्य जिनेन्द्र का आराधक अनेक मनुष्य है। ते वीतराग का दर्शन स्तवन पूजन वन्दनाकरि भावनि के अनुकूल उत्तम मध्यम जघन्य पुण्य का उपार्जन करै हैं। यो जिनेन्द्र का धर्म जाति कुल के आधीन नाही, धन सम्पदा के आधीन नाही बाह्य क्रिया के आधीन नाही है, बाह्य क्रिया के आधीन नाही है। अपने परिणामनिकी विशुद्धता के अनुकूल फलै है। कोऊ धनाढ्य पुरुष अभिमानी होय यश का इच्छुक होय मोतीनि के अक्षत माणिकानि के दीपक रत्नसुवर्ण के पुष्प निकरि पूजन करै हैं अनेक वादित्र नृत्यगान करि बड़ी प्रभावना करै है तो हू अल्प पुण्य उपार्जन करै वा अल्प हू नाही करै केवल कर्म का बन्ध ही करै हैं कषायनि के अनुकूल बन्ध होय है। केई अपने भावनि की विशुद्धतातै अति भक्ति रूप हुआ कोऊ एक जल फलादिक करि वा अन्त-मात्र करि वा स्तवन मात्र करि महापुण्य उपार्जन करै है तथा अनेक भवनि के सचय किये पाप कर्म की निर्जरा करै है, धनकरि पुण्य मोल नाही आवे है। जे निर्वांछिक है मन्दकषायी, ख्याति लाभ पूजादिक कूं नाही बांछा करता केवल परमेष्ठी का गुणो मे अनुरागी है तिनके जिनपूजन अतिशय रूप फलकू फलै है।

अब यहा जिन पूजन सचित्त द्रव्यनि तै हु अर अचित्त द्रव्यनि तै हू आगम मे कह्या है, जे सचित्त के दोषतै भयभीत है, यत्नाचारी है, ते तो प्रासुक जल गन्ध अक्षत कूं चन्दन कुंकुमादिक ते लिप्त करि सुगंध रङ्गीन में पुष्पनिका सकल्प करि पुष्पनि तै पूजै है तथा आगम में कहे सुवर्ण के पुष्प वा रूपा के पुष्प तथा रत्न जडित सुवर्ण के पुष्प तथा लवंगादिक अनेक मनोहर पुष्पनि करि पूजन करै है अरु प्रासुक ही वहु आर-म्भादिक रहित प्रमाणीक नैवेद्य करि पूजन करै है। बहुरि रत्ननिकें दीपक वा सुवर्ण

रूपामयदीपकनि करि पूजन करै हैं तथा सचिक्करण द्रव्यनिके केसर के रङ्गादितै दीप का सकल्प करि पूजन करै है तथा चन्दन अगरादिक कू चढावै है तथा बादाम, जायफल, पू गीफलादिक अवधि शुद्ध प्रासुक फलनितै पूजन करै है एसै तो अचित्त द्रव्यनि करि पूजन करै है ।

बहुरी जे सचित्त द्रव्यनि तै पूजन करै है ते जल गन्ध अक्षतादि उज्वल द्रव्यनि करि पूजन करै है अर चमेली चपक, कपक, कमल, सोन जाई इत्यादिक सचित्त पुष्पनि तै पूजन करै है, घृत का दीपक तथा कपूरादिक दीपकनि करि आरति उतारै है अर सचित्त आम्र, केला, दाडिमादिक फल करि पूजन करै है धूपायनि मे धूपदहन करै है एसै हैं सचित्त द्रव्यनि करि हू पूजन करिये है ।

दोऊ प्रकार आगम की आज्ञा प्रमाण सनातनमार्ग है, अपने भावनिके आधीन पुण्य बन्ध के कारण है ।

रत्न करड श्रावका. टीका. प. सदासुखजी, श्लोक न ११९

प्रश्न :—सिद्ध परमेष्ठि की अवगाहना अंतिम शरीर से कुछ कम बतलाई है सो कितनी कम होती है ?

उत्तर :—जिस शरीर से केवली भगवान मुक्त होते हैं उसका तीसरा भाग कम हो जाता है । दो भाग प्रमाण सिद्धो की अवगाहना होती है जैसे तीन धनुष के वाले मनुष्य की अवगाहन सिद्ध अवस्था मे जाकर दो धनुष की अवगाहना के समान रह जाती है । सो ही सिद्धात सार प्रदीपक मे लिखा है—

गतसिक्थायमूषायां आकाशाकार धारिणः ।
प्राक्कायायाम विस्तार त्रिभागो न प्रदेशकाः ॥१८२२॥
लोकोत्तमशरण्याश्च विश्वमंगलकारकाः ।
अनंतकाल मात्मानो तिष्ठन्त्यंतातिगाः सदा ॥१८२३॥
इशे सिद्धा मया ध्येया वंद्या विश्वमुनीश्वरैः ।
स्तुताश्च मम कर्वन्तु स्वर्गात स्वगुणैः समम् ॥१८२४॥

त्रिलोक प्रज्ञप्ति मे भी लिखा है—

देहे भावा हल्ल चरमभवे जस्स जारि संठाणं ।
तत्तो तिभागहीणं नुगहणा सव्वसिद्धाणं ॥१८२५॥

इस प्रकार जिनागम में लिखा गया है।

जो जीव केवल नख, केश रहित सिद्धो की अवगाहना मानते हैं, सो भ्रम है। इसलिये ऊपर लिखे अनुसार श्रद्धान करना योग्य है।

प्रश्न :—भगवान तीर्थंकर जब गर्भ में आते हैं, उस दिन से छह महीने बाद ही जन्म होने के तक अर्थात् पंद्रह महीने तक कुबेर इन्द्र की आज्ञा से रत्नों की वर्षा करता है। सो प्रतिदिन कितनी बार करता है और कौन-कौन समय करता है ?

उत्तर :—वह रत्नों की वर्षा भगवान के माता पिता के घर चार बार होती हैं, सवेरे, दोपहर को, सायंकाल को और आधि रात के समय। तथा एक-एक बार मे साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती है। इस प्रकार पद्रह महीने तक बराबर होती रहती है। सो ही लिखा है—

पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे मज्झिमायरयणीये।
आहुठ्ठय कोडीओ रयणाणं वरिसेऊ ॥१८२६॥

इस प्रकार प्रतिदिन चारों समय में चौदह करोड रत्न वरसते हैं।

प्रश्न—केवली भगवान की दिव्यध्वनि नियम से तीन बार खिरती हैं, ऐसा सुनते हैं, सो क्या ये बात ठीक है ?

उत्तर—केवली भगवान की दिव्यध्वनि प्रतिदिन चार वार खिरती है। प्रात.काल, मध्यान्हकाल, सायंकाल और अर्द्ध रात्रि इन चारों समय मे छह-छह घडी तक दिव्यध्वनि खिरती है। इन चार समय के सिवाय पदवीधर और महापुण्यवान पुरुषों के प्रश्न पर दूसरे समय भी खिरती है। इससे सिद्ध होता है कि चार समय तो नियम से खिरती है तथा इनके सिवाय भी यथेष्ट कारण मिलने पर खिरती है सो ही लिखा है—

पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे मज्झमाय रयणीये।
छच्छ घडीये णिग्गइ दिव्वधुणी जिणवरिंदाणं ॥१८२७॥

प्रश्न—स्वयंभूरमण समुद्र में रहने वाला सलिसित्थ नाम का मत्स्य अपने शरीर से तो कुछ हिंसा आदि पाप करता ही नहीं है। केवल हिंसा करने के पाप को मन से चिन्तवन करता रहता है और उसी

मानसिक पाप से (हिंसा किये बिना ही) वह सातवें नरक जाता है जो उसको बाह्य हिंसा करने के बिना ही पाप किस प्रकार लग जाता है ?

उत्तर—तुम्हारा कहना तब सत्य हो सकता है जब कि पाप केवल शरीर से ही लगते हो परन्तु पाप तो मन वचन काय तीनो योगो से बराबर लगते हैं, मोक्ष-शास्त्र मे लिखा है, "प्रमत्त योगात्प्राणव्यपरोपण हिसा" अर्थात् कषायों के उत्पन्न होने पर प्राणो का व्यपरोपण व घात होना हिसा है। इसी वचन के अनुसार उसे सातवे नरक मे जाना पड़ा। इसी सूत्र की श्रुत सागरी टीका मे एक श्लोक भी लिखा है—

स्वमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा कषायवान् ।
पवं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा नवा वधः ॥१८२६॥

अर्थात्—कषाय करने वाला आत्मा अपने कषाय से पहले तो अपने आत्मा की हिसा करता है क्रोधादिक कषाय के द्वारा अपने आत्मा के गुणो का घात करता है। उस अपनी हिसा के वाद जिसकी हिसा बन्द करना चाहता है उसकी हिसा हो भी जाय अथवा उसके तीव्र पुण्य से न भी हो तथापि अपने आत्मा की हिंसा करने के पाप से जो कर्म बध होता है उसके फल से नरक जाना पड़ता है। यही कारण है कि सालिसित्थ नाम का मत्स्य दूससे की हिसा किये बिना ही केवल मानसिक पाप के फल से नरक जाता है। मानसिक पाप का ऐसा ही महात्म्य है, इसलिये भव्य जीवो को चाहिये कि वे मन के सकल्प विकल्पो से उत्पन्न होने वाले व्यर्थ के पापों से सदा बचते रहे। उसी श्रुतसागरी टीका मे और भी लिखा है—

अघ्नन्नपि भवेत्पापी नघ्नन्नपि न पापभाक् ।
परिणाम विशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥१८२६॥

इससे सिद्ध होता है कि कर्मबन्ध का मुख्य कारण जीवों के परिणाम ही हैं।

प्रश्न—चौदहवें कुलकर राजा नाभिराय की रानी मरुदेवी का विवाह हुआ था कि नहीं ?

उत्तर—राजा नाभिराय और रानी मरुदेवी का विवाह इन्द्र ने किया है सो ही महापुराण के बारहवे अधिकार मे लिखा है—

तस्याः किल समुद्वाहे सुरराजेन नोदिताः ।
सुरोत्तमा महाभूत्या चक्रुः कल्याण कौतुकम् ॥१८३०॥

इससे सिद्ध होता है कि वे युगलिया नही थे, किन्तु उनका विवाह हुआ था।

यहां कोई प्रश्न करे किस युगलिया स्त्री से विवाह हुआ था ?

किसी की स्त्री से विवाह नही हुआ था किंतु कन्या से हुआ था। इसका भी कारण यह है कि तेरहवे कुलकर के ही समय से युगलिया होना बन्द हो गया था। अर्थात् तेरहवे कुलकर के सामने ही जुदे-जुदे पुत्र-पुत्री होने लगे थे। तब उसके पिता अमितगति ने विवाह करने की रीति चलाई थी। इससे सिद्ध होता है कि नाभिराजा और मरुदेवी अलग-अलग जन्मे थे और उनका विवाह हुआ था। सिद्धान्तसार दीपक मे लिखा है—

कल्पाष्ट लक्ष कोटयैकभागे वर्ते क्रमे ततः ।
प्रियगुकांतिमत्कायो जज्ञे मनुः प्रसेनजित् ॥१८३१॥
............स्तस्यामितगतिः पिता ।
वर कन्यकया सार्द्धं विवाहो विधिना व्यधात् ॥१८३२॥
कुलवृद्धि करावत्रोत्पन्नः स युगलं विना ।
तदा प्रभृतिः युग्मानामुत्पन्नो नियम गतः ॥१८३३॥

इससे सिद्ध होता है कि तेरहवे कुलकर के समय मे ही पुत्री पुत्र अलग-अलग होने लगे थे और इन्द्र ने उनका विवाह किया था उस समय कुलकरो के सिवाय सबका नाम आर्य था। इसीलिये मरुदेवी के पिता का नाम नही लिखा है।

प्रश्न—युग के प्रारम्भ में अर्थात् कर्मभूमि वा चतुर्थकाल के प्रारम्भ में अयोध्या की रचना किसने की थी ?

उत्तर—श्री ऋषभदेव के गर्भ मे आने के पहले अयोध्या नगरी की रचना इन्द्र ने की थी तथा और अन्य जगह के रहने वाले पुरुषो को बुलाबुलाकर वहा बसाया था। सो ही महापुराण मे लिखा है—

इतस्ततश्च विक्षिप्तान् अनीयानीय मानवान् ।
पुरीं निवेश यामा सुर्विन्यासैर्विविधैः सुराः ॥१८३४॥

इससे सिद्ध होता है, अयोध्यापुरी की रचना युग के आदि में इन्द्र ने की है।

प्रश्न—स्नान के कौन-कौन भेद हैं ?

उत्तर—स्नान के पाच भेद है, पादस्नान (पैर धोना), जानुस्नान (घुटने से नीचे का भाग धोना), कटिस्नान (कमर से नीचे का भाग धोना), ग्रीवास्नान (गले से नीचे का भाग धोना), शिरस्नान (मस्तक तक स्नान करना) इन पांच स्नानो मे से जैसा दोष हो वैसा ही स्नान करना चाहिये। सो ही त्रिवर्णाचार मे लिखा है—

पाद जानुकटि ग्रीवाशिरः पर्यन्त संश्रयम् ।
स्नान पंचविधं ज्ञेयं यथा दोष शरीरिणाम् ।।१८३५।।

इस प्रकार पाच प्रकार का स्नान जानना ।

प्रश्न— इस अवसर्पिणी काल में मनुष्यों की आयु घटती जाती है सो किस प्रकार घटती है ?

उत्तर—श्री महावीर स्वामी के मुक्त होते समय मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक सौ बीस वर्ष थी। इसमे से एक-एक हजार वर्ष पीछे पाच-पाच वर्ष की घटती होती है, सो ही सिद्धान्तसार मे लिखा है—

वत्साराणां सहस्त्रेषु गतेषु न्यूनतां व्रजेत् ।
पंचवर्षाणि शतंचार्द्ध वेदितव्यं जिनागमे ।।१८३६।।

इससे सिद्ध होता है कि एक-एक हजार वर्ष में पाच-पांच वर्ष कम होते जाते है। यह पचमकाल इक्कीस हजार वर्ष का है, इसलिये छठे काल के प्रारम्भ मे मनुष्यो की उत्कृष्ट आयु पन्द्रह वर्ष की रहेगी। शेष एक सौ पाच वर्ष की घट जायेगी। इसका भी खुलासा यह है कि एक हजार वर्ष मे पाँच वर्ष घटते है, इसलिये दो सौ वर्ण मे एक वर्ण घटता है। सौ वर्ण मे छह महीने की आयु घटती है। छह महीने के एक सौ अस्सी दिन हुए और १०८०० घड़िया हुई। इनमे सौ का भाग देने से एक वर्ण मे १०८ घडिया अथवा १ दिन ४८ घडिया घटी। एक महीने मे ९ घडियां घटी। ६० पल की एक घड़ी होती है सौ ९ घडियो की ५४० पल हुए। इनमे तीस का भाग देने से एक दिन में १७ पल की घटती होती है। इस प्रकार आयु के घटने का खुलासा समझ लेना चाहिये।

प्रश्न :—इस पंचमकाल में उत्पन्न हुए जीव मरकर विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर मोक्ष जा सकते हैं या नहीं अर्थात् ऐसे एक भवावतारी जीव हैं या नहीं हैं ?

उत्तर :—इक्कीस हजार वर्ष का यह पंचमकाल है। इसमें एक सौ तेईस भद्र परिणामी भव्यजीव यहा की आयु पूर्ण कर विदेह क्षेत्र मे जन्म लेंगे तथा नौ वर्ष की आयु में जिन दीक्षा लेकर केवलज्ञान उत्पन्न कर नौ वर्ष कम एक करोड पूर्वकाल पर्यंत विहार कर मुक्त हो जायेंगे, ऐसा सिद्धान्तसार मे वर्णन किया है—

जीवा सय तेईसा पंचमकाले य भद्दपरिणामा।
उत्पाइ पुव्व विदेहे नवमश्वर से दु केवली होदि ॥१८३७॥

इसका भी अलग-अलग खुलासा इस प्रकार है पचमकाल के इक्कीस हजार वर्ष है। उनके सात भाग करना सो एक-एक भाग तीन-तीन हजार वर्ष का हुआ। प्रथम के तीन हजार वर्ष के पहले भाग मे यहां के ६४ जीव आयु पूर्ण कर विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर केवली होंगे, दूसरे भाग मे ३२ जीव, तीसरे भाग में बारह जीव, चौथे भाग मे आठ जीव, पाचवे भाग मे ४ जीव, छठवे भाग में २ जीव और सातवे भाग में एक जीव अपनी आयु पूर्ण कर विदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर केवली होंगे। इन सब जीवो की सख्या एक सौ तेईस होती है, अर्थात् एक सौ तेईस जीव इस पचमकाल मे उत्पन्न हुए एक भवावतारी समझना चाहिए।

प्रश्न :—स्वर्गलोक में सम्यग्दृष्टि जीव तथा मिथ्यादृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं, सो वहां पर दोनों की आयु समान है अथवा हीनाधिक है ?

उत्तर :—जिसके स्वर्ग में ही मिथ्यात्वरूपी शत्रु के नाश होने से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हुई है, उसको सम्यग्दृष्टि देव कहते है। उसके आयु कर्म की जितनी स्थिति है, उसमे सम्यग्दर्शन के प्रभाव से घातायुष्क की अपेक्षा आधा सागर आयु की स्थिति बढ़ जाती है। यह वृद्धि भी सहस्त्रार स्वर्ग तक (बारहवे स्वर्ग तक) होती है। इसी प्रकार जिस जीव के सम्यग्दर्शन का घात हो जाय और मिथ्यात्व का उदय हो जाय तो उस देव की आयु कर्म की स्थिति मे से आधे सागर की आयु घट जाती है। यही बात सिद्धान्त सार मे पन्द्रहवी संधि मे लिखी है—

सम्यक्त्वस्य देवस्य सागरार्द्ध हि वर्द्धते।
आयुः यावत्सहस्त्रारं मिथ्यात्वारो विघातनात् ॥१८३८॥
मिथ्यात्वागत देवस्य सम्यक्त्वरत्न नाशनात्।
हीयते सागरार्द्धायुरिति स्थितिश्च नाकिनाम् ॥१८३९॥

त्रिलोकसार में भी लिखा है—

सम्मे घादेऊणं सायरदलमहियमा सहस्सारा ।

जलहिदलमुडुवराऊ पडलं पडिजाणि हाणिचयं ॥१८४०॥

प्रश्न :—यहां पर कोई प्रश्न करें कि बारहवें स्वर्ग के ऊपर के देवों के क्यों नहीं घटती-बढ़ती ?

उत्तर :—बारहवे स्वर्ग से ऊपर के स्वर्गो में जिनलिग के सिवाय अन्य लिग को धारण करने वाले मिथ्यादृष्टियों का गमन नही होता अर्थात् अन्य लिंगी मरकर बारहवे स्वर्ग से ऊपर उत्पन्न नही होते। बारहवें स्वर्ग से ऊपर जिन लिग को धारण करने वाले ही उत्पन्न होते हैं। तथा बारहवें स्वर्ग से ऊपर न तो सम्यक्त्व का नाश होता है और न मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है। इसीलिये बारहवें स्वर्ग से ऊपर आयु के घटने-बढने का नियम नही है।

प्रश्न :—आयु के दो भेद हैं, निधित और निःकांचित सो इनमें से किस आयु वाले की स्थिति घटती बढ़ती है ?

उत्तर :—निधित आयु वाले की स्थिति ही घटती-बढती है, जैसे—खदिरशाल नाम के भील की आयु बढ गई थी और राजा श्रेणिक की घट गई थी।

प्रश्न :—स्वर्ग के देवों की हीनाधिक आयु का स्वरूप तो ऊपर लिखे अनुसार समझा परन्तु भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क देवों की आयु के घटने बढ़ने की विधि किस प्रकार है ?

उत्तर :—भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिष्क इन तीनों प्रकार के देवों मे जो जीव उत्पन्न होते है, वे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना थोडा सा व्रत तप करने के पुण्य से उत्पन्न होते है। इनमे से भवनवासी देवो के तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से आधे सागर की आयु बढ जाती है तथा मिथ्यात्व के उदय होने से आधे सागर आयु घट जाती है। इसी प्रकार ज्योतिषी और व्यतर देवो के सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने से आधे पल्य की आयु बढ जाती है और मिथ्यात्व का उदय होने से आधे पल्य की आयु घट जाती है। तथा सब जगह सब देवो के मिथ्यात्व रूपी विष के वमन करने से तथा सम्यग्दर्शन रूपी अमृत के पीने के अतिशय से आयु बढती है सो ही सिद्धांत सार दीपक की पन्द्रहवी सधि में लिखा है—

ज्योतिर्भवन भौमेषु सम्यक्त्व प्राप्ति तोंगिनाम् ।
किंचिद् व्रत तपः पुण्यादुत्पद्यते भवाध्वगाः ॥१८४१॥
सम्यक्त्व प्राप्ति धर्माणां स्वायुर्भवन वासिनाम् ।
सागरार्द्धं च वर्द्धेत मिथ्यात्व शत्रु घातनात् ॥१८४२॥
ज्योतिष्क व्यंतराणां चायुः पल्यार्द्धं प्रवर्द्धते ।
मिथ्यात्वारि विनाशेन सम्यक्त्वमणि लाभतः ॥१८४३॥
सर्वत्र विश्वदेवानां मिथ्यात्वदु विषोज्झनात् ।
सम्यक्त्वामृत पानेन स्वायुः रर्द्धतेतराम् ॥१८४४॥

त्रिलोकसार में भी लिखा है—

उवहिदलं पलद्ध भवणे वितरदुगे कमेणहियं ।
सम्मे मिच्छे घादे पल्लासंखं तु सव्वत्थं ॥१८४५॥

इस प्रकार चतुर्णिकाय के देवों की आयु की वृद्धि हानि का स्वरूप सम्यग्दर्शन तथा मिथ्यात्व के महात्म्य से समझ लेना चाहिये अर्थात् सम्यग्दर्शन के महात्म्य से आयु वढ जाती है और मिथ्यात्व के प्रभाव से घट जाती है।

प्रश्न :—चतुर्णिकाय देवों की आयु जब छह महीने शेष रह जाती है, तब उनका तेज घट जाता है तथा उनके कंठ की माला मुरझा जाती है जिससे वे अपनी निकट आने वाली मृत्यु को समझ लेते हैं, ऐसा कहते हैं सो सम्यग्दृष्टि की माला मुर्झाती है या नहीं ?

उत्तर :—माला आदि के मुझने का चिन्ह मिथ्यादृष्टि के ही होता है। सम्यग्दृष्टि के नही होता । मिथ्यादृष्टि अपनी मृत्यु के चिन्हो को देखकर रोते हैं तथा अत्यन्त दुःखी होते है, सम्यग्दृष्टि के यह दुःख नही होता है, सो ही जंवूचरित्र को तीसरी संधि मे लिखा है ।

विद्युन्माली सुरस्यादो कथ्यते कथिताधुना ।
प्रत्यक्षं पश्य भार्याभिश्चतुर्भिः सहितं हितम् ॥१८४६॥
सम्यक्त्व सहितास्यास्य तेजस्तुच्छं न जायते ।
माला न झयते कंठे स्थिर चित्तस्य कर्हिचित् ॥१८४७॥
सप्तमे दिवसेऽथासौ श्रुत्वा भूत्वा च मानुषः ।
चरमांगी तपो घोरं ग्रहीष्यति जिनोदितम् ॥१८४८॥

प्रश्न :—जो लोग पैरों में जूता पहने हुए भगवान के मंदिर में प्रवेश करते है अथवा लकड़ी की खड़ाऊं पहिनकर जिन मंदिर में जाते हैं, उनको कैसा पाप लगता है ?

उत्तर :—जो लोग पैरो मे जूता पहने भगवान के मदिर मे प्रवेश करते है, वे सात जन्म तक कोढी होते है तथा चमार के घर जन्म लेते है और जो लोग खड़ाऊँ पहिनकर जिन मदिर मे जाते है, वे बढई के घर जन्म लेकर सात जन्म तक कोढ़ रोग से पीडित होते है । सो ही लिखा है—

पादचर्मस्थ रुढा ये चढंति श्री जिनालये ।
सप्त जन्म भवेत्कुष्ठी चर्मारीगर्भ सम्भवः ॥१८४६॥
पादुकाभ्यां समागत्य ये चढंति जिनालये ।
सप्त जन्म भवेत्कुष्ठी बाढी का गर्भ सम्भवः ॥१८५०॥

ऐसा जानकर ऊपर लिखे कार्य कभी नही करने चाहिये ।

प्रश्न :—सातिशय अप्रमत्त नाम के सातवें गुणस्थान के अंतिम भाग से महामुनिराज उपशम श्रेणी तथा क्षपक श्रेणी मांडते है । इनमें से उपशम श्रेणी वाला वहां से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है तथा फिर ग्यारहवें से नीचे गिरता है । सो इसमें प्रश्न यह है कि वे मुनिराज इस प्रकार अधिक से अधिक कितनी बार उपशम श्रेणी चढ़ते हैं, कितने जन्म तक संयम धारण करते हैं और कितने समय में मोक्ष प्राप्त करते हैं अथवा उन्हें मोक्ष प्राप्त होती है या नहीं ?

उत्तर —अधिक से अधिक चार बार उपशम श्रेणी चढते है । जो मुनिराज क्षपक श्रेणी चढते है, वे केवलज्ञान पर्यंत चढते ही चल जाते है, क्षपक श्रेणी वाले मुनि कभी निचले गुणस्थान मे नही गिरते तथा उपशम श्रेणी वाले जीव अधिक से अधिक बत्तीस बार संयम को पालकर पीछे नियम से मोक्ष प्राप्त करते है । सो ही स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका मे लिखा है—

चत्तारिवार मुवसमसेणी समारुहदि रपहिदकम्मं ।
सो बत्तीसं वाराई संजममुवलहिय णिव्वाणादि ॥१८५१॥

यहां पर बत्तीस ही जन्म समझना चाहिये इनमें भी देवगति मे तो सयमी ही नहीं, इसलिये मनुष्य पर्याय मे ही सयम समझ लेना चाहिये।

प्रश्न :—मुनिराज के आहार के समय का प्रमाण क्या है ?

उत्तर :—तीन मुहूर्त दिन चढ़ जाने के बाद से लेकर जब तक तीन मुहूर्त दिन बाकी रहे तब तक के मध्य के समय मे मुनिराज अपने नित्य कार्यों से निवृत होकर अंतराय और दोषो को टालकर एक बार योग्य आहार लेते है।

भावार्थ—प्रात काल तीन मुहूर्त तक आहार नही लेते। शाम को तीन मुहूर्त दिन बाकी रहने तक लेते है, आगे नही लेते। मध्य के समय मे सामायिक के समय को टालकर आहार लेते हैं। सो ही श्री वट्टकेर स्वामी विरचित मूलाचार के प्रथम अधिकार में लिखा है—

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दु अ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ॥१८५२॥
उदयास्तमनयोः कालयोः नालीत्रिक वर्जिते मध्ये।
एकस्मिन् द्वयोः त्रिषु वा मुहूर्तकाले एकभक्तं तु ॥१८५३॥

मूलाचार प्रदीप मे लिखा है—

विज्ञेयोशन कालोत्र संत्यज्य घटिकात्रयम्।
मध्ये च योगिनां भानूदयास्तमन कालयोः ॥१८५४॥

यह जो तीन मुहूर्तकाल सुबह शाम छोड़ने का बतलाया है, वह उत्कृष्ट-काल है, मध्यकाल दो मुहूर्त और जघन्यकाल एक मुहूर्त सुबह शाम छोड़ने का समझना चाहिये। सो ही मूलाचार प्रदीपक में लिखा है—

तस्यैवाशन कालस्य मध्ये प्रोत्कृष्टतो जिनः।
भिक्षाकाले मतो योग्यो मुहूर्तैक प्रमाणकः ॥१८५५॥
योगिनां द्विमुहूर्तं प्रमाणो मध्यमोवचदः।
जघन्यस्त्रिमुहूर्तप्रभो भिक्षाकाल उदाहृतः ॥१८५६॥

प्रश्न :—पुलाक आदि मुनिराज के पांच भेद हैं, उनके कौन-कौन सा गुणस्थान है ?

उत्तर :—पुलाक और बकुश इन दो मुनियो के छठा और सातवां गुणस्थान होता है। कुशील नाम के मुनि के आठवे अपूर्व-करण नाम के गुणस्थान से लेकर

उपशात मोह नाम के गुणस्थान तक चार गुणस्थान होते है। निर्ग्रंथ नाम के मुनि के बारहवां क्षीण मोह नाम का गुणस्थान होता है तथा स्नातक के तेरहवां सयोगी केवली और चौदहवां अयोगी केवली गुणस्थान होता है। इस प्रकार पुलाक वकुश कुशील निर्ग्रंथ और स्नातक इन पांचो प्रकार के मुनियो के गुणस्थान छठे से लेकर चौदहवे तक है। इन सब मुनियों की संख्या ढाई द्वीप भर में अधिक से अधिक तीन कम नौ करोड़ अर्थात् ८९९९९९९७ रहती है, उन सबको हमारा नमस्कार हो। सो ही आचार्य सकल कीर्ति विरचित सिद्धान्तसार में लिखा है—

षष्ठ सप्तमयो यौस्ते गुणस्थान द्वयोर्मुनी।
विज्ञेयौ शास्त्ररीत्या च पुलाक बकुशाविह ॥१८५७॥
अपूर्वाद्युपशान्तेषु गुणस्थानेषु ये स्थिताः।
प्रोक्तास्ते मुनिभिर्नित्यं कुशीलाह्वय धारिणः ॥१८५८॥
क्षीणमोह गुणस्थाने यस्तिष्ठेन्मुनिसत्तमः।
ज्ञातोय भवभिः सर्वैर्निग्रंथो हि प्रशांतधीः ॥१८५९॥
योगायोग गुणस्थानो वसन्ति यतयः खलु।
ये मताः स्नातकास्ते च लोकालोक प्रकाशकाः ॥१८६०॥
सर्वेषां यतिनां संख्यास्त्रिऊना नवकोट्यः।
कथिताः श्री जिनैः सर्वैस्तेषां नित्यं नमोस्तु ते ॥१८६१॥

प्रश्न :—एक दिन रात में तथा एक महीने में वा एक वर्ष में पुरुष के कितने श्वासोच्छ्वास आते-जाते हैं ?

उत्तर :—एक मुहूर्त के तीन हजार सात सौ तिहत्तर श्वासोच्छ्वास होते हैं तथा एक दिन-रात के तीस मुहूर्त होते है। इस हिसाब से एक दिन-रात के एक लाख तेरह हजार एक-सौ-नब्बे श्वासोच्छ्वास हुए। सो ही लिखा है—

एकं च सय सहस्सं उस्सासमाणं तु तेरससहस्साणं।
ऊण दसएण अहिया दिवसणिसोहंति विण्णेया ॥१८६२॥

इसी हिसाब से एक महीने के तेतीस लाख पिचानवे हजार सात सौ श्वासोच्छ्वास होते है। सो लिखा है—

मासे विय उस्सा सा लक्खा तेतीस सय सहस्साणं।
सत्त सयाइ जाणिउ कहिया हं पुव्व सास्साहिं ॥१८६३॥

इनको बारह से गुणा कर देने से एक वर्ष के श्वासोच्छ्वासो की सख्या चार करोड़ सात लाख अडतालीस हजार चार सौ होती है सो ही लिखा है ।

चत्तारी कोडी ओ लक्खा सत्तेव होंति णायव्वा ।

अडतालीस सहस्सा चारिसया होंति वरिसेण ।।१८६४।।

इनको सौ का गुणा कर देने से सौ वर्ष के चार अरब सात करोड़ अडतालीस श्वासोच्छ्वास होते है सो ही लिखा है—

चत्तोरिया कोडिसया कोडिय सत लक्ख अडियाला ।

चत्तारीस सहस्सा सासा सत होंति वरिसेण ।।१८६५।।

इस प्रकार श्वासोच्छ्वास का प्रमाण गोमट्टसार आदि जैन सिद्धात मे लिखा है ।

प्रश्न :—गर्भज जीवों में मनुष्य की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ?

उत्तर :—पुरुष स्त्री के सयोग होने पर स्त्री के गर्भ रहता है, सो पिता के वीर्य और माता के रूधिर के मिलने से माता के गर्भाशय मे जीव आकर उत्पन्न होता है । वह अनुक्रम से बढता है और फिर जन्म लेता है । इसका विशेष वर्णन इस प्रकार है—योनि के भीतर गर्भाशय मे माता पिता के रजोवीर्य के इकट्ठे होने पर जीव आकर उत्पन्न होता है । तदनतर एक रात्रि मे उसका कल्वल बनता है । फिर पाच रात मे वह कल्वल बुद्बुदा के आकार में परिणत हो जाता है । फिर पन्द्रह दिन मे वह बुद्बुदा अडे के रूप में बन जाता है, एक महीने बाद उस अडे मे मस्तक बनने का अकूर उत्पन्न हो जाता है । दो महीने बाद हृदय बनता है । तीसरे महीने मे पेट बनता है, चौथे महीने में हाथ पैर बनते है पाचवे महीने मे हाथ पैर की उगलिया और नख निकलते है, छठे महीने मे बाल और नेत्रो की दृष्टि प्रगट होती है, सातवे महीने मे शरीर का सब आकार तैयार हो जाता है, आठवे महीने मे ज्यो का त्यो बना रहकर बढता है, नौवे व दशवे महीने मे उस माता के गर्भाशय से वायु के द्वारा बाहर निकलता है, इसी को जन्म कहते है सो ही लिखा है भगवती आ. शिव ।

कल्वलं कैकरात्रेण पंचरात्रेण बुदबुदाः ।

पक्षकेणांडकं चैव मासेन च शिरांकुरः ।।१८६६।।

उरो मासद्वयं यावत् त्रिभिश्चैव तथोदरम् ।

शाखाश्चतुर्भिर्मासैश्च नखांगुलिश्च पंचमे ।।१८६७।।

रोमदृष्टी च षष्ठे च सर्वेऽवयवाः संप्तमे ।
नवमे दशमे वापि वायुनाऽसौ बहि र्भवेत् ॥१८६८॥

इस प्रकार मनुष्य की उत्पत्ति समझना चाहिये ।

प्रश्न :—ऊपर मनुष्यों की उत्पत्ति कही है, परंतु मनुष्यों में तीन भेद है पुरुष, स्त्री और नपुंसक सो एक हो गर्भ में तीन अवस्थाएँ कैसे हो जाती है ?

उत्तर :—जिस समय पिता का वीर्य अधिक होता है और माता का रज उस वीर्य से कम होता है तथा उस जीव के पुरुष वेद नाम कर्म का उदय होता है उस समय पुरुष उत्पन्न होता है । तथा जिस समय माता का रज अधिक होता हो पिता का वीर्य उस रज से कम हो और उस जीव के स्त्री वेद नाम कर्म का उदय रहता है, उस समय कन्या उत्पन्न होती है । तथा माता पिता का रजो वीर्य समान हो जीव के नपुंसक नाम कर्म का उदय हो तो नपुंसक उत्पन्न होता है सो ही लिखा है—

शुक्रस्याधिकतो बालः कन्या शोणित गौरवात् ।
शुक्र शोणितयोः साम्ये षंडत्वं तस्य जायते ॥१८६९॥
पितुः शुक्राच्च मातुश्च शोणितादृग र्भसम्भवः ।
स्वकर्म परिणामेन जीवोत्पत्तिरिष्यते ॥१८७०॥

इस प्रकार पुरुष, स्त्री, नपुंसक की उत्पत्ति होती है ।

यहा कोई प्रश्न करे कि एक स्त्री के दो वालक किस प्रकार होते है ? तो इसका उत्तर यह है कि यदि चतुर्थ स्नान की रात्रि मे वह स्त्री पुरुष से दो वार सभोग करे तो उसके दो वालक उत्पन्न होते है । सो ही भाव प्रकाश नाम के आयुर्वेद शास्त्र मे लिखा है—

युग्माषु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।

तथा अन्य शास्त्रो मे अन्य प्रकार भी इसका वर्णन किया है । वह इस प्रकार है—जो रात्रि मे सभोग समय परस्पर की हवा के घात से रजो वीर्य का पिड अलग-अलग दो जगह हो जाय और उसमे दो जीव आ जाय तथा वे दोनो ही वृद्धि को प्राप्त होते रहे तो दो वालक उत्पन्न होते है । सो ही चिकित्सिक मे लिखा है—

परस्परानिलाघातात् प्रभिन्ने कलिले द्विधा ।
तनु प्रवृद्धे तद् युग्मे युग्मं तस्मात्प्रजायते ॥१८७१॥

ऐसा वैद्यक शास्त्र में लिखा है—

प्रश्न :—मनुष्य की उत्पत्ति तो समझ में आ गई, परंतु इस मनुष्य के शरीर में क्या-क्या पदार्थ हैं ?

उत्तर :—मनुष्य के शरीर मे से जो पदार्थ है, उन्हें सक्षेप से लिखते है। माता-पिता के संयोग होने के बाद वह रजोवीर्य का पिंड दश दिन मे तो कलिल रूप होता है। उसके बाद दश दिन मे कलुषी रूप आकार होता है। फिर दश दिन मे कलुषी रूप आकार स्थिर होता है। यहां तक एक महीना हुआ। इसके बाद दश दिन में बुदबुदा होता है। फिर दश दिन में घनाकार होता है। फिर दश दिन बाद मॉस की पेशीं बनने लगती है। इस क्रम से दूसरे महीने मे पुद्गल पूर्ण होता है। तदनतर चर्म नख रोम अंग उपाग आदि अनुक्रम से आठ महीने तक पहले कहे अनुसार उत्पन्न होते रहते हैं और फिर नौवे दशवे महीने मे वह जन्म लेता है।

इस शरीर मे शिर, मुख, दाढी, सब शरीर के केश, बीस नख, बत्तीस दात, धमनी, नाड़ी आदि सिरा नसे शुक्र ये सब पिता के गुणो से उत्पन्न होते है सो लिखा है—

केशाः स्मश्रु च लोमानि नखा दंता शिरस्तथा।

धमन्यः स्त्रावयः शुक्रमेतानि पितृजानि हि ॥१८७२॥

तथा मांस, रुधिर, मज्जा, मेदा, कलेजा, प्लीहा, अतडी, नाभि, हृदय, गुदा ये सब माता के गुणों से उत्पन्न होते है, सो लिखा है—

मांसा सृक्मज्ज मेदांसि यकृत्प्लीहांत्र नाभय·।

हृदयं च गुदं चापि भवंत्येतानि मातृतः ॥१८७३॥

ऐसा चिकित्सिक भाव प्रकाश मे शारीरिक सम्बन्ध मे लिखा है।

अब आगे शरीर का विशेष स्वरूप कहते है, पहले कहे हुए इस औदारिक शरीर में ३०० हड्डिया है, ३०० सधिया है, ९०० स्नायु है, जो कि ततु के आकार है, ७०० सिरा हैं, ५०० मांस की पेशिया है, ४ शिरा जाल है, १६ कडरा है, ६ कडमूल है, ७ त्वचा है, ७ कलेजा हैं, अस्सी लाख करोड रोमो की सख्या है, आमाशय में रहने वाली आंतो की पष्ठी १६, कुथिताश्रय ७, स्थूल ३, मर्मस्थान १०७ है, जहा पर चोट लगने से यह जीव जीवित नही रह सकता है। तथा ८ व्रणमुख है जो नित्य कुथित वस्तुओ से बहते रहते है।

इस शरीर में मस्तक तो अपनी अंजुलि प्रमाण है, मेदा नाम की धातु दडांजलि प्रमाण है, मज्जा नाम की धातु अपनी स्वांजलि प्रमाण है, वीर्य स्वाजलि प्रमाण है, वसा धातु तीन निजाजलि मात्र है, पित्त भी तीन स्वांजलि प्रमाण है, श्लेष्मा भी तीन स्वांजलि प्रमाण है, आठ सेर रुधिर है, मूत्र नाम का उपधातु १६ सेर है, भिष्टा चौवीस हैं, नख वीस हैं, दात बत्तीस हैं, इनके सिवाय कृमि, कीट निगोद आदि जीवों से यह शरीर भरा हुआ है, सात धातुओं के नाम ये हैं—रस, रुधिर, मांस, मेदा, हाड, मज्जा, शुक्र इन धातुओ से भरा हुआ यह शरीर है। ऐसा समझकर इस शरीर से ममत्व छोड़ देना चाहिये और अपने चैतन्य स्वरूप का विचारकर इस संसार शरीर से विरक्त हो जाना चाहिये। यह सब कथन श्री शिव कोटि मुनि कृत भगवती आराधना में लिखा है सो वहां से विचार लेना।

यहां कोई प्रश्न करे कि मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति जो पहले कही थी, उससे यह कथन मिला नहीं सो यह विपरीतता क्यो है ?

समाधान—विपरीतता नहीं है, किंतु सामान्य और विशेष कथन है।

प्रश्न :—तीर्थङ्कर गृहस्थाश्रम में अपने अवधिज्ञान को विचारें या नहीं ?

उत्तर :—एक वार वीसवे तीर्थंकर मुनीसुव्रतनाथ गृहस्थाश्रम मे ही अपने पुत्र के साथ सभा मे विराजमान थे। वहा पर पट्टहस्ती का (मुख्य हाथी का) प्रसग आ गया था। उस समय भगवान ने अपने अवधिज्ञान के द्वारा सव सभासदो को उस पट्ट हस्ती का वृतान्त कहा था। सो ही श्री सोमसेन कृत लघू पद्मपुराण मे वारहवी सन्धि मे लिखा है—

पट्ट हस्ती तदा मुक्तः भुक्ति करोति दुःखदाम्।
तद्दृष्ट्वाधिनेत्रेण जिनः प्राह जनान् प्रति ॥१८७४॥

इससे सिद्ध होता है कि तीर्थङ्कर गृहस्थ अवस्था में अवधिज्ञान को जोड़ते है। अवधिज्ञान के विचारने का (जोड़ने का) निषेध नही है।

प्रश्न :—देवों की जाति में दुर्गति जाति के देव सुने जाते है, सो क्या देवों में भी दुर्गति है?

उत्तर :—जो अन्य लिंगी मिथ्या तपश्चरण कर देवगति मे मिथ्यादृष्टि देव होते हैं। वे देव वडी-वडी ऋद्धियो को धारण करने वाले सम्यग्दृष्टि देवो के यहा

काम करने वाले अभियोग्य जाति के देव होते है अर्थात् वे दास के समान काम करते है, गीत गाते हैं, नृत्य करते है, बाजे बजाते हैं, और वाहन का (सवारी का) रूप धारण करते है। इनके सिवाय कितने ही कुदेव किल्विष जाति के भी है। ये सब जीव दुर्गति के ही कहलाते हैं तथा आयु पूरी कर स्वर्ग से चयकर तिर्यञ्च गति मे पृथ्वी जल अग्नि वायुकायिक वनस्पति तथा त्रसकायिक पशु पक्षी होते है। सो ही रविषेणाचार्य विरचित पद्म पुराण के चौथे पर्व में लिखा है—

यथाप्यूद्ध्वं तपः शक्त्या भजेयुः परोलिगिनः ।
तथापि किकरा भूत्वा ते देवान् समुपासते ।।१८७५।।
देवदुर्गति दुःखानि प्राप्य कर्मवशात्ततः ।
स्वर्गाच्च्युत्वा पुनस्तिर्यग्योनिमायान्ति दुःखिनः।।१८७६।।

इस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा बतलाया है। इससे सिद्ध होता है कि ऐसे देव स्वर्ग मे भी दुःख देखकर मरने के बाद तिर्यञ्चगति में जन्म धारण करते हैं। यही कथन वट्टकेर स्वामी ने चारो गतियों का वर्णन करते समय मूलाचार में लिखा है—

कंदप्पमाभिजोग्गं किव्विसं संमोहमासुरत्तं च ।
ता देव दुग्गईओ मरणम्भि विराहिए होंति ।।१८७७।।
कंदर्पं आभियोग्यं किल्विषंस्वमोहत्वंआसुरत्वं च ।
ताः देवदुर्गतयः मरणे विराधिते भवंति ।।१८७८।।

इस प्रकार लिखा है सो यह सब मिथ्यात्व का फल है। इसका भी विशेष वर्णन इस प्रकार है—कदर्प, आभियोग्य, किल्विष, असुर ये देवो मे उत्पन्न होते हैं। जो जीव अंत समय मे समाधिमरण के बिना दुर्बुद्धि सहित मरण करते हैं, वे ही ऊपर लिखे नीच देवो में उत्पन्न होते है। इसका भी अलग-अलग खुलासा इस प्रकार है— जो योगी होकर भी असत्यवचन बोलते है, हसी ठट्ठा करते है, राग बढाने वाले वचन कहते है, कामदेव के वशी भूत होकर कामसेवन मे लीन रहते है और कामदेव को उत्तेजित करने वाली क्रियाएँ करते रहते है ऐसे खोटे योगी मरकर कदर्प जाति के देव होते हैं। सो वहा भी वे काम-क्रिया को बढ़ाने वाले कार्य ही किया करते हैं तथा जो यंत्र, तंत्र, मंत्र आदि कार्यो को अधिकता के साथ करते हैं जो ज्योतिष वैद्यक आदि

अशुभ कार्यों को करते हैं, जो सब वा चैत्यालय की हसी करते हैं, अनेक प्रकार की चेष्टाये करते है, जो धर्मात्माओ की अविनय करते है, जो मायाचारी है और किल्विष अर्थात् पाप कर्मों मे लीन रहते है, ऐसे पुरुप मरकर देवगति मे नीच योनि में अर्थात् किल्विष जाति के देवो मे उत्पन्न होते है। जो जीव कुमार्ग वा शास्त्र विरुद्ध मार्ग का उपदेश देते हैं, जो जिनमार्ग का नाश करने मे लगे रहते है, जो सम्यग्दर्शन से सदा विपरीत चलते है, जो स्वय सम्यग्दर्शन रहित है, महा मिथ्यात्वी है, जो मिथ्यात्व, मायाचारी और मोह से सदा मोहित रहते है तथा मोह से सदा पीडित रहते है ऐसे जीव मरकर भडाभरण जाति में उत्पन्न होते है। जो यति होकर भी क्षुद्र, क्रोधी, दुष्ट, हिसक, मायाचारी, दुर्जन है तथा जो तप और चारित्र मे परम्परा से बैर बांधते चले आ रहे है, जिनके परिणाम सदा सक्लेशरूप रहते है और जो सदा निदान करते रहते है ऐसे जीव मरकर रौद्र परिणामो को धारण करने वाले असुर कुमार जाति के देवो मे असुर होते है सो ही मूलाचार प्रदीपक मे समाधिमरण के प्रकरण मे मरण के सत्रह भेदो मे कहा है।

कांदर्पमाभियोग्यं च कैल्विष्यं किल्विषापरम्।
स्वमोहत्वं तथैवासुर त्वमत्वैः कुलक्षणैः ॥१८७९॥
सम्पन्ना दुर्द्धियो मृत्वा गच्छंति देवदुर्गतीः।
कंदर्पाद्या इति प्रोक्ता नीचयोनि भवा दिवि ॥१८८०॥
असत्यं यो ब्रुवन् हास्यसराग वचनादिकान्।
कंदर्पोद्दीपका लोके कंदर्प रति रञ्जितः ॥१८८१॥
कदर्पं संति देवा ये नाग्नाचार्याः सुरालये।
कंदर्प कर्मभिस्तेषु ह्युत्पद्यंते शतशमः ॥१८८२॥
मंत्र तंत्रादिकर्माणि यो विधत्ते बहूनि च।
ज्योतिष्क मेष जादीनि परकार्याशुभानि च ॥१८८३॥
हास्य कुतूहलादीनि संघ चैत्यालयस्य च।
आगमस्याविनितोय प्रत्यनीकः सुधर्मिणाम् ॥१८८४॥
मायाविकिल्विषाक्रांतः किल्विषादिकुकर्मभिः।
स किल्विषसुरो नीचो भवेत्किल्विषजातिषु ॥१८८५॥
उन्मार्ग देशको योत्र जिन मार्ग विनाशकः।
सन्मार्गा द्विपरीतः स दृष्टि हीनः कुमार्गगः ॥१८८६॥

मिथ्यामायादिमोहानां मोहयन् मोहपीडितः ।
जायते स स्वमोहेषु भंडाभरण जातिषु ॥१८८७॥
क्रोधी क्षुद्रः खलो मारी मायावी दुर्जनो यतिः ।
युक्तोनु बद्ध वैरेण तपश्चरित्र कर्मसु ॥१८८८॥
संक्लिष्टः सनिदानो य उत्पद्यन्ते स कर्मणाम् ।
रौद्रासुर कुमारेषु ॥

इत्यादि लिखा है ।

प्रश्न :—ब्रह्मचर्य व्रत की नौ बाड़ हैं तथा अठारह हजार भेद हैं सो कौन-कौन हैं ?

उत्तरः —(१) स्त्री के साथ निवास नही करना ।

(२) स्त्री के रूप तथा शृंगार को विकार भावों से नही देखना ।

(३) स्त्रियो से भाषण नही करना उनके मधुर वचनो को रागभावो से नहीं सुनना ।

(४) पहले भोगी हुई स्त्रियो का स्मरण नही करना ।

(५) काम को उद्दीपन करने वाले पदार्थ जैसे घी, दूध, मिश्री, लड्डू, मेवा, भाग, विष, उपविष, मादक (नशा उत्पन्न करने वाले) और पौष्टिक पदार्थ पारा आदि धातु, उपधातु, सोने, चादी, मोती आदि की भस्म, रस रसायन, बलवान और वीर्य बढाने वाली औषधिया तथा अन्य प्रकार के गरिष्ठ भोजन नही करना ।

(६) स्त्रियो के शृंगार सम्बन्धी शास्त्रो को न पढना, न सुनना ।

(७) स्त्रियो के आसन पर नही बैठना तथा उनकी शय्या पर नही सोना ।

(८) काम कथा न कहना, न सुनना ।

(९) भोजन पान आदि के द्वारा पेट को पूरा नही भरना ।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ है, सो ये सब ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये है । जिस प्रकार चावल गेहू आदि अन्नो के खेतो मे उनकी रक्षा के लिये चारो ओर काटो की बाड़ लगा देते है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये ये ऊपर

लिखी नौ बाड है। जिस प्रकार बिना बाड के खेत नष्ट हो जाते है, उसी प्रकार इन नौ बाडो के बिना शील का भग हो जाता है।

अब आगे अठारह हजार शीलो के भेदो को लिखते है। चैतन्य रूप स्त्रियों के ३ भेद है, मनुष्यणी, देवांगना और तिर्यचनी। तथा अचेतन स्त्री का एक भेद है काठ, पत्थर तथा चित्र: मे किसी स्त्री का रूप वनाना अचेतन स्त्री है। इस प्रकार स्त्रियो के चार भेद होते है। इनका त्याग मन वचन काय से तथा कृत कारित अनुमोदना से किया जाता है सो स्त्रियो के ४ भेदो को मन वचन काय की ३ सख्या से गुणा करने से १२ भेद होते हैं और इन बारह को कृत कारित अनुमोदना की सख्या ३ से गुणा करने से ३६ भेद होते है। ये ३६ प्रकार के भेद पांचो इन्द्रियो से त्याग किये जाते है, इसलिये स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण (श्रोत्र) इन इन्द्रियो की सख्या ५ से गुणा करने से १८० भेद हो जाते है। इन १८० भेदो को दश प्रकार के संस्कारो से त्याग किया जाता है, इसलिये १८० को १० से गुणा करने से १८०० भेद हो जाते हैं। उन १० सस्कारो के नाम ये है। स्नान, उवटन आदि लगाना, शृंगार करना, राग बढाने वाले कार्य करना, हसी विनोद आदि रूप से क्रीडा करना, सगीत वाद्य (गाना बजाना) विषय सेवन का सकल्प करना, दर्पण मे मुख देखना, शरीर की शोभा बढाना, पहले भोगी हुई स्त्रियो का स्मरण करना और मन मे चिता की प्रवृत्ति करना ये दश संस्कार कहे जाते हैं। तथा इन १८०० भेदो का त्याग काम के दश प्रकार के वेगो से भी किया जाता है, इसलिये १८०० को १० से गुणा कर देने से १८००० भेद हो जाते है। काम के १० वेग ये है--

१. स्त्री के मिलने की चिता होना, २. स्त्री के देखने की ईच्छा होना, ३. दीर्घ श्वासोच्छ्वास लेना (लबी सास लेना), ४. उन्मत्त हो जाना, ५. अपने प्राणो मे भी सदेह करना, ६. वीर्यपात हो जाना, ७ दु ख वा पीडित होना ८. काम ज्वर वा दाह होना, ९. अन्न मे अरुचि होना, १० मूर्च्छा आना ये दश काम के वेग कहलाते हैं। इनसे गुणा कर देने से १८००० भेद हुए।

इसके सिवाय इस शील के और प्रकार से भी १८००० भेद हो जाते हैं जिनसे शीलाग रथ वन जाता है। उन्ही को आगे लिखते है।

रत्नाकर में लिखा है—

जेणो करंति मणसा णिज्जिय आहार सण्णि सो इंदो,
पुढवीकायारंभा खंति जुआते मुणो वंदे ॥१८८९॥

अर्थात् मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदना, चार सज्ञा, पांच इन्द्रियां, पृथ्वीकाय आदि दश प्रकार के जीवों के आरम्भ और उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के धर्म, इनसे परस्पर गुणा होने से १८००० भेद हो जाते है, इन १८००० भेदो से बने हुए शील रूपी रथ को चलाने वाले महामुनिराज होते हैं, इसलिये ऐसे मुनिराज को हम नमस्कार करते है। अब आगे शीलांग रथ की रचना लिखते है—

शील के १८००० भेद जो पहले प्रकार से बतलाये है उनके नष्ट तथा उद्दिष्ट द्वारा प्रत्येक भेद का यत्र

मन त्याग ६०००	वचनत्याग ६०००	काय त्याग ६०००							
त्याग कृत २०००	कारित त्याग २०००	अनुमत त्याग २०००							
आहार त्याग ५००	भय त्याग ५००	मैथुन त्याग ५००	परिग्रह त्याग ५००						
श्रोत इन्द्रिय त्याग १००	चक्षु इन्द्रिय त्याग १००	घ्राण इन्द्रिय त्याग १००	रसना इन्द्रिर त्याग १००	स्पर्शनेंद्रिय त्याग १००					
पृथ्वीकाय आरम्भ त्याग १०	अपकाय आरम्भ त्याग १०	तेजस्काय आरम्भ त्याग १०	वायुकाय आरम्भ त्याग १०	वनस्पति-काय आरम्भ त्याग १०	त्रे इन्द्रिय आरम्भ त्याग १०	ति इन्द्रिय आरम्भ त्याग १०	चतु-रिन्द्रिया रम्भ त्याग १०	असंज्ञी पंचेन्द्रिय आरम्भ त्याग १०	संज्ञी पंचेंद्रिय आरम्भ त्याग १०
उत्तम क्षमा १	उत्तम मार्दव १०	उत्तम आर्जव १	उत्तम शौच १	उत्तम सत्य १	उत्तम संयम १	उत्तम तप १	उत्तम त्याग १	उत्तम आकिंचन १	उत्तम ब्रह्मचर्य १

शील के १८००० भेदो मे से नष्ट तथा उद्दिष्ट द्वारा प्रत्येक भेद को निकालने का यन्त्र

कृत १	कारित २	अनुमोदना ३							
मन ०	वचन ३	काय ६							
आहार ०	भय ९	मैथुन १९	परिग्रह २७						
स्पर्शन ०	रसना ३६	घ्राण ७२	चक्षु १०८	श्रोत १४४					
पृथ्वीकाय ०	अप्काय १८०	तेजस्काय ३९०	वायुकाय ५४०	वनस्पत्ति काय ७२०	बे इंद्रिय ९००	तेइन्द्रिय १०८०	चौइन्द्रिय १२६०	असज्ञी पचेन्द्रिय १४४०	सज्ञी पचेन्द्रिय १६२०
क्षमा ०	मार्दव १८००	आर्जव ३९००	शौच ५४००	सत्य ७२००	सयम ९०००	तप १०८००	त्याग १२६००	आकिंचन्य १४४०	ब्रह्मचर्य १६२००

इस प्रकार शीलाग रथ की रचना का यन्त्र जानना आगे इसी को स्पष्ट करने के लिये शील के १८००० भेद लिखते है। किसी स्त्री का त्याग मन वचन काय से तथा कृत कारित अनुमोदना से किया जाता है। सो इनको परस्पर गुणा करने से नौ भेद होते है। तथा चारो सज्ञाओ से त्याग किया जाता है, सो चार से गुणा करने से ३६ भेद होते हैं। तथा इन ३६ का पाचो इन्द्रियो से त्याग किया जाता है सो इनको पाच से गुणा करने से १८० भेद होते है तथा इन १८० का त्याग पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक, दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, सज्ञी पचेन्द्रिय इन दस प्रकार के जीवो के आरम्भ से किया जाता है, इसलिये १८०० भेद होते है। तथा इन सबका त्याग उत्तम क्षमा आदि दश धर्मो के साथ-साथ धारण किया जाता है। इसलिये १८०० को १० से गुणा करने पर १८००० भेद हो जाते है।

तिर्यंचिनी १	मनुष्यणी २	देवागना ३	अचेतन ४							चार प्रकार की स्त्रियां
मन १	वचन ४	काय ८								योगों से त्याग
कृत ०	कारित १२	अनुमोदना २४								कृत कारित अनुमोदना से
पर्शन ०	रसना ३६	घ्राण ७२	चक्षु १०८	श्रोत्र १४४						इन्द्रियो से
स्ना० ०	शृं० १८०	राग० ३६०	हसी ५४०	मगीत० ७२०	विपय ९००	दर्पण १०८०	शो० १२६०	स्म० १४४०	चि० १६२०	
मिलाप ०	देखना १८००	सास ३६००	उन्मत्त ५५००	प्राण सदेह ७२००	वीर्यपात ९०००	दुख १०८००	दाह १२६००	अरुचि १४४००	मूर्च्छा १६२००	

इनके सिवाय और प्रकार से भी १८००० भेद होते है। अचेतन स्त्रियां तीन प्रकार है—काठ की बनी, पत्थर की बनी और रंग की बनी। इनका त्याग मन, वचन से किया जाता है तथा कृत कारित अनुमोदना से किया जाता है। सो तीन को मन, वचन से गुणा करने से ६ तथा कृत कारित अनुमोदना से गुणा करने से १८ भेद होते है। इनका त्याग पांचो इन्द्रियो से किया जाता है सो ५ से गुणा करने से ९० भेद हो जाते हैं। इन १० का त्याग दोनो द्रव्यभावेन्द्रियो से किया जाता है, सो २ से गुणा करने से १८० भेद हो होते है। इन १८० का त्याग चारो कषायो से किया जाता है, इसलिये ४ से गुणा करने से ७२० भेद हो जाते है। ये अचेतन स्त्रियों के त्याग के भेद हुए। तथा चेतन स्त्रिया ३ प्रकार की है—मनुष्यणी, देवी, तिर्यंचनी। इनका त्याग मन, वचन, काय से तथा कृत कारित अनुमोदना से इन ७ से किया जाता है इसलिये ७ से गुणा करने से २७ भेद होते है। इनको पाच द्रव्येन्द्रिय और

पांच भावेन्द्रियो से त्याग किया जाता है इसलिये १० गुणा करने से २७० भेद होते है। इनका त्याग चार सज्ञाओ से किया जाता है सो २७० को ४ से गुणा करने से १०८० भेद होते है। इनका त्याग १६ कषायो से किया जाता है, इसलिये १६ से गुणा करने से १७२८० सत्रह हजार दो सौ अस्सी भेद होते हैं। ये चेतन स्त्रियों के त्याग के भेद है, इनमे अचेतन स्त्रियो के त्याग ७२० भेद से मिलाने से १८००० भेद हो जाते हैं।

ये सब भेद स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका से लिखे है। तथा एक ही कथन को दो वार लिखा है। सो स्पष्टता के लिये लिखा है।

प्रश्न—यह जीव संसार मे एक अन्तर्मुहूर्त में भव के उत्कृष्ट जन्म-मरण कितने करता है ?

उत्तर—यह ससारी आत्मा कम से कम एक श्वास के अठारहवे भाग आयु पाता है तथा अपर्याप्त नाम कर्म के उदय से एकेन्द्रियादि सत्रह स्थानो मे एक अन्तर्मुहूर्त समय मे छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्म-मरण करता है, सो ही स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे लिखा है—

उस्सासट्ठारसमे भागे जो मरदि ण य समाणेदि।
एका वि य पज्जत्ति लद्धीय पुणो हवे सो दु ॥१८९०॥

सो ही गोम्मट्टसार में लिखा है—

तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठी सहस्सगाणि मरणाणि।
अन्तोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥१८९१॥

इसका विशेष स्वरूप इस प्रकार है—दो इन्द्रिय के ८० भव, ते इन्द्रिय के ६०, चौ इन्द्रिय के ४०, पचेन्द्रिय के २४। इन पचेन्द्रिय के २४ भवो मे भी तीन भाग है। तहा मनुष्यो मे लब्ध्यपर्याप्त के भव ८, सन्नी पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्ति के ८ भव तथा असन्नी पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त के ८ भव इस प्रकार त्रस जीवो के सब मिलाकर २०४ जन्म-मरण होते हैं। तथा पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और साधारण वनस्पति कायिक इन पाचो के स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दस भेद होते है। तथा प्रत्येक वनस्पति का एक स्थूल ही भेद होता है। इसके दो भेद नही होते। ये सब ग्यारह भेद होते है, इनमे प्रत्येक के छह हजार बारह जन्म-मरण होते है, इसलिये ग्यारह प्रकार के स्थावर जीवो के जन्म-मरण के छयासठ हजार एक सौ

बत्तीस जन्म-मरण होते है। इनमें पहले के त्रस जीवो के छह स्थानो के २०४ जन्म मरण मिला देने से सब मिलकर ६६३३६ भेद हो जाते है। ये सब ससारी जीवो के क्षुद्र भव है। सो ही गोम्मट्टसार में लिखा है—

सीदीसट्ठीताल वियलं चउवीस होंति पंचक्खे।
छावट्ठि च सहस्सा सयं च बत्तीस मेयक्खे ॥१८९२॥
पुढवीगागरिणमारुद साहारण थूल सुहमपत्तेया।
एदेसु अपुण्णेया इक्केक्के बारकं छक्कं ॥१८९३॥

इस प्रकार एक श्वास के अठारहवें भाग आयु के प्रमाण से एक अन्तर्मुहूर्त में सत्रह स्थानों मे यह ससारी जीव मिथ्यात्व के उदय से सर्वोत्कृष्ट क्षुद्रभव ६६३३६ धारण करता है।

प्रश्न—लवणोदधि, कालोदधि और अन्त के स्वयंभूरमण समुद्र के जल का स्वाद तो खारे जल के समान है, परन्तु बाकी के असंख्यात समुद्रों के जल का स्वाद कैसा है ?

उत्तर—ऊपर कहे हुए तीन समुद्रो के सिवाय बाकी के असख्यात समुद्रो के जल का स्वाद ईख के रस के समान मीठा और स्वादिष्ट है।

प्रश्न—ईख के रस के समान मीठा जल तो इक्षुवर समुद्र का है, परन्तु यहां पर सब समुद्रों का जल ऐसा मीठा कैसे कहा ? तथा क्षीरोदधि समुद्र का जल तथा घृतोदधि समुद्र का जल जुदे तरह का ही बतलाया है, इसलिये सबका एक सा स्वाद कैसे कहा ?

उत्तर—क्षीरोदधि तथा घृतोदधि आदि समुद्रो के जल का स्वाद नही बतलाया है, किन्तु उसका वर्ण बतलाया है। स्वाद तो सबका ही ईख के समान मीठा है। सो ही त्रिलोकसार मे लिखा है—

लवणं वारुणि तिय मिदि काल दुगंतिसयंभुरमणमिदि।
पत्तेय जलसुवादा अवसेसा होंति इच्छुरसा ॥१८९४॥

यही बात मूलाचार के बारहवे अधिकार में लिखी है—

पत्तेयरसा चत्तारि सायरा तिण्णि होंति उदयरसा।
अवसेसा य समुद्दा खोद्दरसा होंति णायव्वा ॥१८९५॥

यहां पर क्षौद्र शब्द का अर्थ इक्षु वा ईख का है। सिद्धांतसार प्रदीपक मे भी लिखा है—

कालोदे पुष्कराम्भोधौ स्वयंभूरमणार्णवे ।
केवलं जलसुस्वादं जलौघं च भवेत्सदा ॥१८९६॥
क्षीराब्धौ क्षीरसुस्वादु सद्रसांभो भवेन्महत् ।
घृतस्वादसमस्निग्धं जलं स्याद्घृतवारिधौ ॥१८९७॥
एतेभ्यः सप्तवार्द्धिभ्यः परे संख्यात सागराः ।
भवंतीक्षुरसस्वाद समाना मधुराः शुभाः ॥१८९८॥

प्रश्न—भवनवासी व्यंतर और ज्योतिष्क ये तीन प्रकार के देव भवनत्रिक कहलाते है, ये तीनों प्रकार के देव अपनी शक्ति के द्वारा ऊपर की ओर कहां तक गमन कर सकते हैं, तीर्थङ्कर के जन्माभिषेक के समय पांडुकशिला तक तो ये देव जाते ही है, परन्तु इसके ऊपर जा सकते या नहीं ?

उत्तर—ऊपर लिखे हुए ये तीनो प्रकार के देव अपनी इच्छा से सौधर्म स्वर्ग तक गमन कर सकते है। सौधर्म स्वर्ग से ऊपर वे अपनी इच्छा से गमन नही कर सकते, यदि स्वर्गो में रहने वाले देव इनको आकर ले जाय तो उनके ले जाये गये जा सकते है। परन्तु इस प्रकार ले जाये गये भी सोलहवे अच्युत स्वर्ग तक ही जा सकते हैं, सो भी अपनी शक्ति से नहीं तथा सोलहवे स्वर्ग से आगे दूसरे देवो के द्वारा ले जाने पर भी जा सकते। यह नियम है, सो ही सिद्धान्तसार दीपक मे चौदहवी सन्धि मे लिखा है—

कियामात्रोवधिस्तेपामधोलोकेऽपि जायते ।
भावना व्यंतरा ज्यत्तिष्का गच्छन्ति स्वयं क्वचित ॥१८९९॥
तृतीयक्षिति पर्यन्तमधोलोके स्वकार्यतः ।
सौधर्मेशान कल्पांतमूर्ध्वलोके निजेच्छया ॥१९००॥
तेऽपि सर्वे सुरैर्नीता भावनाद्यास्त्रयोऽमराः ।
षोडश स्वर्गपर्यंतं प्रीत्या यांति सुखाप्तये ॥१९०१॥

देव लोग तीर्थंकरो के जन्म के समय मे आते हैं सो मुनिसुव्रत के जन्म समय में चार प्रकार के देव आये थे उनमे से भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क आदि सब

देव पहले सौधर्म इन्द्र के दरवाजे पर आकर इकट्ठे हुए थे, फिर वहां से सब मिलकर भगवान की जन्मपुरी में आये थे ऐसा सोमसेनकृत लघु पद्मपुराण के ग्यारहवे अधिकार में मिला है—

सेन्द्राश्च व्यंतराः सर्वेभवनवासिनस्तथा ।
ज्योतिषाः सपरिवारा नाना यानैश्च संयुताः ॥१६०२॥
सौधर्मेन्द्र गृहे द्वारं संप्राप्ता विभवान्विताः ।
तथा षोडश स्वर्गस्थ देवास्तत्र समागताः ॥१६०३॥

इस प्रकार वर्णन है । इससे भी सिद्ध होता है कि भवनत्रिक पहले स्वर्ग तक जा सकते है ।

प्रश्नः—इस समय इस पांचवें काल में रत्नत्रय को धारण करने वाले मुनि अपने उत्कृष्ट भावों से स्वर्गलोक में जाते है सो कौन से स्वर्ग तक जा सकते हैं ?

उत्तर.—पांचवे काल के भाव लिंगी और रत्नत्रय को धारण करने वाले मुनि इन्द्र पदवी पाते है तथा पांचवे ब्रह्मलोक स्वर्ग मे लौकांतिक देवो की पदवी को पाते है तथा वहां से आकर मनुष्य होकर मोक्ष जाते है, इससे सिद्ध होता है कि पाचवे काल के मुनि पांचवे स्वर्ग तक जाते है । सो ही मोक्षप्राभृत मे लिखा है—

अज्जवि तिरयण सुद्धा अप्पा झाए विलहई इन्दत्तं ।
लोयन्तिय देवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥१६०४॥

इससे यह भी सिद्ध होता है कि पाचवे काल में भी जीवों को ऐसी ही शक्ति होती है ।

प्रश्नः—भगवान के समवशरण में जो मानस्तम्भ आदि होते हैं, उनकी ऊंचाई का प्रमाण किस प्रकार है ?

उत्तरः—समवशरण के मानस्तम्भ, ध्वजास्तम्भ, चैत्यवृक्ष, सिद्धार्थवृक्ष, स्तूप, तोरण, कोट, गृह, वनवेदिका, वन, पर्वत आदि की ऊंचाई भगवान तीर्थकर की ऊंचाई से बारह गुणी होती है ।

भावार्थ—भगवान के शरीर की जितनी ऊंचाई होती है, उससे बारह गुणी इन सबकी समझ लेना चाहिये । सो ही सकलकीर्ति विरचित आदि पुराण मे लिखा है—

मानस्तंभा ध्वजास्तंभा चैत्य सिद्धार्थपादपाः ।
स्तूपाः सतोरणाः गेहाः प्राकारा वनवेदिकाः ॥१९०५॥
बनादयो बुधै. प्रोक्ता उत्सेधेन द्विषडगुणा. ।
जिनांगोत्से धतश्चैषां दैर्ध्यानुरूप विस्तरः ॥१९०६॥

पार्श्व पुराण मे भी लिखा है –

मानस्तम्भाश्च प्राकाराः सिद्धार्थे चैत्य पादपाः ।
सतोरणाः गृहाः स्तम्भा. केतवो वनवेदिकाः ॥१९०७॥
प्रोक्तास्तीर्थंकरोत्सेधाद्उत्तुंगेन द्विषड्गुणाः ।

इस प्रकार जानना ।

प्रश्न :—चतुर्गति निगोद दो प्रकार है—एक नित्य निगोद और एक इतर निगोद, इन दोनों निगोदों में क्या अन्तर है ?

उत्तर :—जो अनादिकाल से एकेन्द्रिय कर्म के उदय से सदा स्थावर गति मे ही जन्म-मरण करते रहे तथा जो भूत भविष्यत् वर्तमान किसी भी काल मे भी दो इन्द्रिय आदि त्रस पर्याय धारण न करे । जिनकी स्थावर गति का न आदि है, न अन्त है, सदा अनन्त काय के आश्रित जन्म-मरण धारण करते रहे, ऐसे जीवो को नित्य-निगोदिया जीव कहते है । इसीलिए इस गति को नित्य गति अथवा शाश्वत गति ऐसा सार्थक नाम कहा है । तीव्र पाप कर्म के उदय से अनन्तानन्त जीव इस नित्य-निगोद में सदा रहते है । सो ही सिद्धान्तसार मे लिखा है—

त्रसत्वं न प्रपद्यन्ते कालेन त्रितयेऽपि ये ।
ज्ञेया नित्यनिगोदास्ते भूरि पाप वशी कृताः ॥१९०८॥

श्री गोमट्टसार मे भी लिखा है—

णत्थि अणन्ता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो ।
भावकलंक सपउरा णिगोदवासं ण मुञ्चन्ति ॥१९०९॥

तथा जिससे निकलकर त्रस गति को प्राप्त करे अथवा त्रस गति पाकर फिर जिस निगोद में जाय, उसको इतर निगोद कहते है ।

इस प्रकार निगोद दो पकार के है । निगोद शव्द की निरुक्ति इस प्रकार है—जो अपने शरीर के अंग रूपी क्षेत्र मे रहने के लिए अनन्तानन्त जीवो को जगह देवे, उसको निगोद कहते हैं । नि–नियत गा (गो शव्द का द्वितीया का एकवचन)

भूमि क्षेत्र अनन्तानन्त जीवानां द–ददातीति निगोदम् । निगोदं शरीरं येषां ते निगोद शरीराः । अर्थात्–नि का अर्थ नियत है, गो शब्द का अर्थ क्षेत्र वा निवास स्थान है और द शब्द का प्रर्थ देना है । जो नियम से अपने शरीर में अनन्तानन्त जीवो को उत्पन्न होने के लिए क्षेत्र देवे, उसको निगोद कहते है और ऐसे शरीर को निगोद शरीर कहते हैं ।

प्रश्न :—जिन भगवान का गंधोदक कहां-कहां लगाना चहिये ?

उत्तर :—यह कहना ठीक नही है, यह कहना कपोलकल्पित और अज्ञान भरा हुआ है, क्योंकि श्री ऋषभदेव के जन्माभिषेक के गधोदक का जल इन्द्रादिक सब देवो ने अपने मस्तक से लगाया तथा मेरु पर्वत के ऊपर उस गन्धोदक के जल का प्रवाह नदियों के समान बह निकला । इस बहते हुए जल मे देवो ने स्नान किया वह जल लेकर परस्पर एक दूसरे के ऊपर डाला ।

भावार्थ— उस जल में परस्पर जलक्रीड़ा की और उस गन्धोदक के जल को लेकर स्वर्ग में भेजा । ऐसा वर्णन शास्त्रो में लिखा है – देखो भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत आदि पुराण के दशवे पर्व में –

कृतं गंधोदकैरित्यमभिषेकं सुरोत्तमाः ।
जगतां शांतये शांतिं घोषयामासुरुच्चकें ।।१९१०।।
प्रचक्ररुत्तमांगेषु चक्रु: सर्वांग संगतम् ।
स्वर्गस्योपायनं चक्रुस्तद्गंधांबु दिवौकसः ।।१९११।।

गंधांबुस्नपनस्यांते जयकोलाहलैः सममम् ।
व्यातुक्षोमसराः चक्रुः सचूर्णैर्गंधवारिभिः ।।१९१२।।
लब्धयादि पुराण में भी यही बात लिखी है –
तद्गंधांबु प्रवंद्योच्चैरुत्त मांगेषु भक्तिकाः ।
निधाय सर्वगात्रेषु स्वर्गस्योपायनं व्यधुः ।।१९१३।।

गंधोदकाभिषेकांते विधायेति सुरेश्वराः ।
गंधोदकं च वन्दित्वा पूतं शुध्यै जिनेशिनः ।।१९१४।।
व्यातुक्षीं निर्मलां चक्रुः जयकोलाहलैः समम् ।
पूरितैः कलशैः भक्त्या सचूर्णैर्गंध वारिभिः ।।१९१५।।

इसके सिवाय भगवान पार्श्वनाथ के जन्म समय में भी इसी प्रकार का कथन है, सो ही पार्श्वपुराण में लिखा है—

इत्थं गंधोदकैः कृत्वाभिषेकं सुरनायकाः ।
शांति ते घोषयामासुरुच्चैर्भ वाघ शांतये ।।१९१६।।
चक्रुः शिरसि भाले च नेत्रे सर्वांग पुद्गले ।
स्वर्गस्योपायनं पूतं तद्गंधांबु सुरास्त्रियः ।।१९१७।।
गंधांबुस्नपनस्यांते जयनंदादि सत्स्वरैः ।
व्यातुक्षोम मराश्चक्रुः सचूर्णैर्गंधवारिभिः ।।१९१८।।

इसलिये ऊपर लिखा हुआ लोगो का कहना असत्य है ।

तथा गर्भान्वय आदि क्रियाओ मे जो बालक की केशवाप (मुंडन वा केश उतरवाना) क्रिया है, उसमे पहले देव शास्त्र गुरु की पूजा होती है, फिर बालक का मस्तक गधोदक से भिगोया जाता है, फिर केश उतारे जाते है, तदनतर गधोदक से ही बालक का स्नान कराया जाता है । ऐसा श्री जिनसेन स्वामी ने आदि पुराण के अड-तीसवे पर्व मे लिखा है—

केशवापस्तु केशानी शुभेह्नि व्यपरोपणम् ।
क्षौरेण कर्मणा देवगुरु पूजा पुरस्सरम् ।।१९१९।।
गंधोदकार्दितान् कृत्वा केशान् शेषाक्षतोचितान् ।
मौडयमस्य विधेयं स्यात्सचूलं वान्योचितम् ।।
स्नपनोदक धौतांगमनुलिप्तं सभूषणम् ।
प्रणमय्य मुनीन् पश्चाद् योजयेद्वंधुताशिषा ।।१९१२।।

इसके सिवाय जब राजा श्रीपाल कोटी भट कोढ रोग से पीडित हो गये थे और उनके साथ के सात सौ योद्धा भी कोढ रोग से पीडित हो गये थे, तब श्रीपाल की रानी मैना सुन्दरी ने भगवान का गधोदक लेकर उनके समस्त शरीर पर सीचा था और उसके सीचने से उन सबका कोढ रोग दूर हो गाया था । ऐसा कथन श्रीपाल चरित्र आदि शास्त्रो मे लिखा है ।

गधोदक की महिमा जैन शास्त्रो मे लिखी है, इसलिये इसमे सदेह नही करना चाहिये । तथा विना समझे शास्त्र विरुद्ध वचन नही बोलना चाहिये । जो इस प्रकार कहते है, वह उनकी कपोल कल्पना है ।

प्रश्न :—कौन सी प्रतिमा प्रतिष्ठा-योग्य नहीं है, अर्थात् कैसी प्रतिमा की प्रतिष्ठा नहीं करनी चाहिये। तथा कैसी प्रतिमा प्रतिष्ठा करने योग्य है ?

उत्तर :—व्यगित प्रतिमा (जिसके अंग उपांग खंडित है) जर्जरी भूत प्रतिमा (बहुत प्राचीन जो खिरती हो, जीर्ण-शीर्ण हो) जिस प्रतिमा की प्रतिष्ठा पहले हो चुकी हो, जो दुबारा बनाई गई हो अर्थात् जिसके अंग भग हो गये हो और फिर गड-कर बनवाई गई हो और जिन प्रतिमाओं में सदेह हो ऐसी जिन प्रतिमाएँ प्रतिष्ठा करने योग्य नही है। तथा जिस प्रतिमा की नाक, मुख, नेत्र, हृदय, नाभिमडल आदि अग भंग हो गये हों वह भी पूजा करने योग्य नही है। सो ही प्रतिष्ठा शास्त्र मे लिखा है—

व्यंगितां जर्जरां चैव पूर्वं मेव प्रतिष्ठिताम् ।
पुनर्घटित संदिग्धां प्रतिमां नो प्रतिष्ठयेत् ॥१९११॥
ना सा मुखे तथा नेत्रे हृदये नाभि मंडले ।
स्थानेषु व्यंगितेष्वेषु प्रतिमां नैव पूजयेत् ॥१९१२॥

यहां पर फिर से बनाई गई प्रतिमा की प्रतिष्ठा का जो निषेध किया है। उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रतिमा के उपांग खडित हो गये हों और फिर सुधार कर वह दुबारा बनाई गई हो तो ऐसी प्रतिमा की प्रतिष्ठा नही करानी चाहिये। तथा जो प्रतिमा शिल्पशास्त्रो में कहे हुए लक्षरणो से सुशोभित हो और सांगोपांग हो ऐसी प्रतिमा की प्रतिष्ठा करना योग्य है। सो ही प्रतिष्ठापाठ मे लिखा है—

यद्बिम्बं लक्षणै युक्तं शिल्पि शास्त्र निवेदितम् ।
सांगोपांगं यथा युक्त्या पूजनीयं प्रतिष्ठितम् ॥१९१३॥

प्रश्न :—जो प्रतिमा पूर्व प्रतिष्ठित है, उसका यदि उपांग (उंगली आदि) खंडित हो जाय अथवा मस्तक हीन हो जाय तो उसकी पूजा स्तुति का विधान किस प्रकार है ?

उत्तर —जिस प्रतिमा की उंगली का अग्रभाग अथवा कुछ कान का भाग खडित हो तथा वह प्रतिमा पूर्व प्रतिष्ठित हो और अतिशय सहित हो तो वह प्रतिमा पूज्य है, ऐसी प्रतिमा की पूजा स्तुति नमस्कार आदि करने मे अपने बुरे भाव नहीं

करने चाहिये । यदि ऐसी प्रतिमा अतिशय रहित हो तो वह पूज्य नहीं है । तथा जो प्रतिमा मस्तक हीन हो तो उसको जलाशय में क्षेपण कर देना चाहिये । मस्तक हीन हो तो प्रतिमा को चैत्यालय में नहीं रखना चाहिये इस प्रकार नरेंद्र सेन कृत प्रतिष्ठा दीपक में लिखा है । यथा—

जीर्णं चातिशयोपेतं तद्व्यंगमपि पूजयेत ।
शिरोहीनं न पूज्यं स्यान्निक्षेप्यं तन्नदादिषु ।।१६१४।।

इस प्रकार जानना । यदि इसका विशेष स्वरूप जानना हो तो जिन सहिता प्रतिष्ठा पाठ सरस्वती कल्प पूजासार शिल्पशास्त्र आदि ग्रंथो से जान लेना चाहिये ।

प्रश्न :—इस पंचम काल में भरत क्षेत्र में साक्षात् केवलज्ञानी नहीं है, फिर भला उनको किस प्रकार मानना चाहिये और उनकी पूजा भक्ति किस प्रकार करनी चाहिये। उनकी प्रतिमा की स्थापना निक्षेप-रूप है, साक्षात् नहीं है ?

उत्तर :—केवली भगवान की वाणी का पठन-पाठन करने वाले आचार्य है, इसलिये आचार्य को मानना व उनकी पूजा भक्ति आदि करना साक्षात् केवली को मानने और उनकी पूजा भक्ति करने के समान है, क्योकि जिसने केवली प्रणीत शास्त्रो पठन-पाठन करने वाले मान लिये तो उसने साक्षात् केवली भी मान लिये । इस पचमकाल मे श्री महावीर स्वामी के पीछे जिन सूत्रों के पठन-पाठन करने वाले और रत्नत्रय को धारण करने वाले अनेक बड़े-वडे आचार्य हुए है, उनके वचनो की आज्ञा मानना ही केवली भगवान को मानना है। सो ही श्री पद्मनन्दी विरचित पद्मनंदी पच-विशतिका में लिखा है—

संप्रत्यस्ति न केवली किल कलौत्रैलोक्यचूणामणिस्तद्वचः ।
परमासतेऽत्र भरत क्षेत्र जगद्द्योतिका ।।
सद्रत्नत्रय धारिणो यतिवरास्तासां समालंबनं ।
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमत. साक्षाज्जिनः पूजितः ।।१६१४।।

इससे सिद्ध होता है कि आचार्यो को मानने मे उनकी पूजा भक्ति करने में और उनके वचनो की आज्ञा मानने में कोई सदेह नही करना चाहिये। जो पुरुष आचार्यो की आज्ञा मानने मे सदेह करते है, वे केवली भगवान का अविनय करते है ।

प्रश्न :— गृहस्थ लोग जो अपने जिन घर प्रतिमा रखते हैं, उसकी मर्यादा ग्यारह अथवा बारह अंगुल प्रमाण है। बारह अंगुल से ऊंची प्रतिमा जिन मंदिर में ही स्थापन करनी चाहिये, यह बात प्रसिद्ध है, परंतु ग्यारह अंगुल में भी एक दो तीन चार आदि अंगुलों की प्रतिमा के प्रमाण का क्या फल है ?

उत्तर :—जो गृहस्थ अपने घर जिन-प्रतिमा को रक्खे तो अत्यंत योग्य और ऊँचे स्थान पर रखना चाहिये। आगे प्रतिमा की ऊँचाई का अलग-अलग फल वतलाते हैं—एक अंगुल की प्रतिमा पूजा करने वाले के लिये श्रेष्ठ है। दो अंगुल की प्रतिमा धन नाश करने वाली है। तीन अंगुल ऊँची प्रतिमा वृद्धि को उत्पन्न करती है। चार अंगुल ऊँची प्रतिमा पीड़ा उत्पन्न करती है। पांच अंगुल की प्रतिमा सुख की वृद्धि करती है। छह अंगुल की प्रतिमा उद्वेग करती है। सात अंगुल की प्रतिमा गायों की वृद्धि करती है। आठ अंगुल की प्रतिमा हानि करती है। नौ अंगुल की प्रतिमा पूजा करने के लिये हो तो पुत्रों को वृद्धि करतो है। दश अंगुल ऊंचीं प्रतिमा धन का नाश करती है। ग्यारह अंगुल की प्रतिमा गृहस्थों के समस्त काम और अर्थ की सिद्धि करने वाली होती है। इससे अधिक ऊंची प्रतिमा गृहस्थी को अपने घर नही रखनी चाहिये। हाँ, जिन मन्दिर में विराजमान करने में कोई हानि नही है। इस प्रकार एक से लेकर ग्यारह अंगुल प्रमाण प्रतिमा शुभाशुभ फल वतलाया। इनमें भी जो शुभ प्रतिमाएं है, यदि उनकी नाक, मुख, नेत्र, हृदय, नाभि आदि स्थान खंडित हो जायं, तो घर मे रखकर नहीं पूजना चाहिये। ऐसा दीक्षाकल्प में लिखा है—

अथातः संप्रवक्ष्यामि गृहबिम्बस्य लक्षणम्।
एकांगुलं भवेच्छ्रेष्ठं व्द्यगुलं धनाशनम् ॥१६१५॥

त्र्यंगुले जायते वृद्धिः पीडा स्याच्चतुरंगुले।
पंचागुले तु वृद्धिः स्यादुद्वेगस्तु षडंगुले ॥१६१६॥

सप्तांगुले गवांवृद्धिः हानिरष्टांगुले मता।
नवांगुले पुत्रवृद्धि र्धननाशो दशांगुले ॥१६१७॥

एकादशांगुले बिम्बं सर्वकामर्थ साधनम्।
एतत्प्रमाण माख्यात मतरुद्धर्व न कारयेत् ॥१६१८॥

नासामुखे तथा नेत्रे हृदय नाभि मंडले ।
स्थानेषु व्यंगितांगेषु प्रतिमां नैव पूजयेत् ॥१९१९॥

प्रश्न :—तीसरे मिश्र नाम के गुणस्थान में मरण नहीं है और न अन्य गति की आयु का बंध ही होता है । तब फिर वह तीसरे गुणस्थान वाला जीव गतिबध के बिना अन्यगति में किस प्रकार गमन करता है ?

उत्तर :—सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तीसरे मिश्र नाम के गुणस्थान मे रहने वाले जीव ने पहले या तो मिथ्यात्व के साथ आयु का बध किया होगा या सम्यक्त्व के साथ आयु का बध किया होगा । यदि मिथ्यात्व के साथ आयु का बंध किया हो तो वह मिथ्यात्व गुणस्थान मे जाकर मरण करता है यदि उसने सम्यक्त्व के साथ आयु का बध किया हो तो वह चौथे गुणस्थान मे जाकर मरण करता है ।

भावार्थ :—जो पहले सम्यक्दर्शन के साथ आयुबध किया है, तो चौथे गुणस्थान में मरण कर शुभ गति प्राप्त करता है । यदि उसने मिथ्यात्व गुणस्थान मे बध किया हो तो वह मिथ्यात्व मे ही मरण कर अशुभ गति मे उत्पन्न होता है, ऐसा श्री गोमट्टसार मे प्ररूपणाधिकार के गुणस्थानाधिकार मे लिखा है, यथा—

सो संजमंण गिण्हति देसजमं वा ण बंधदे आऊ ।
सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरदि णियमेण ॥१९२०॥
समस्त मित्थ परिणामेसु जहि आउगं पुराबद्ध ।
तहि मरणं मरणं तसमुग्धादो वियण स्सम्मि ॥१९२१॥

प्रश्न :—प्रमत्त नाम के छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनियों के आहारक शरीर होता है । चैत्य वंदना करने, यात्रा करने वा पदार्थों के निर्णय करने के लिये मस्तक से एक हाथ प्रमाण श्वेत पुरुषाकार प्रदेश निकलते है, केवली के दर्शन कर अथवा यात्रादि का अपना कार्य कर फिर वहीं आकर प्रवेश कर जाते हैं, ऐसे इस आहारक शरीर की उत्कृष्ट जघन्य स्थिति कितनी है ?

उत्तर :—आहारक शरीर की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त है । तथा आहारक शरीर पर्याप्ति की पूर्णता होने पर आहारक योग वाले छठे गुणस्थान-

वर्ती साधु की आहारक काय योग के समय मे यदि आयु का अंत हो जाय तो उनका मरण भी हो जाता है, सो ही गोम्मटसार मे मार्गणाधिकार के अन्तर्गत योग मार्गणाधिकार मे लिखा है—

अव्वाबादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे।
पज्जत्तीसंपुण्णे मरणंपि कदाचि संभवई ॥१६२२॥

प्रश्न :—ऊपर आहारक शरीर का काल अंतर्मुहूर्त बतलाया उस समय वह साधु अपने औदारिक शरीर से गमन आगमन आदि क्रिया करे या नहीं और यदि उसके विक्रिया ऋद्धि भी हो तो उस ऋद्धि के शरीर की विक्रिया रूप चेष्टा कर सकता है या नहीं ?

उत्तरः—प्रमत्त सयमो मुनिराज के एक काल मे एक साथ ही वैक्रियिक काययोग की क्रिया मे आहारक योग की क्रिया नही होती। इससे सिद्ध होता है कि आहारक योग के समय औदारिक वैक्रियिक शरीर से गमनागमनादिक क्रियाओ का नियम से अभाव रहता है, एक काल मे दो क्रियाएँ नही होती। सो ही गोम्मटसार मे योग मार्गणाधिकार मे लिखा है—

वेगुव्विय आहारय किरिया ण समं पमत्त विरदम्हि।
जोगो वि एक्क काले एक्के य होदि णियमेण ॥१६२३॥

प्रश्न :—औदारिक वैक्रियक आहारक तैजस और कार्मण की उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति कितनी कितनी है ?

उत्तर :—औदारिक शरीर की जघन्य स्थिति एक श्वास के अठारवें भाग है। इसका वर्णन पहले लिख चुके हैं। वैक्रियिक की जघन्य स्थिति देव नारकियो की अपेक्षा दश हजार वर्ष है। सो ही मोक्षशास्त्र मे लिखा है—

दशवर्ष सहस्त्राणि प्रथमायाम् भवनेषु च व्यंतराणां। तत्त्वार्थ सूत्र।

अध्याय ४, सूत्र सख्या ३६–३७–३८।

तथा आहारक की जघन्य वा उत्कृष्ट अतर्मुहूर्त है जो ऊपर लिख चुके है। तैजस की जघन्य स्थिति, कार्मण की जघन्य स्थिति अन्य गति के गमन की अपेक्षा एक, दो, तीन समय है। सो ही मोक्षशास्त्र में लिखा है—

एकं द्वौ त्रीन् वानाहारकः।

अध्याय २ सूत्र सख्या ३०।

इस प्रकार इनकी जघन्य स्थिति बतलाई। अब आगे इन पाचो शरीरो की उत्कृप्ट स्थिति बतलाते हैं। भोग भूमियो की अपेक्षा।

औदारिको की बध रूप उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य है। देव नारकियो की अपेक्षा वैक्रियिक की तैंतीस सागर है। आहारक की अतर्मुहूर्त है। तैजस शरीर की छयासठ सागर है। कार्माण शरोर की उत्कृष्ट स्थिति सामान्य रीति से सत्तर कोडी-कोडी सागर है तथा विशेप रीति से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अतराय की तीस कोडा कोडी सागर है, नाम, गोत्र की बीस कोडा कोडी सागर है। सो ही गोम्मटसार मे लिखा है—

पल्लतियं उवहीणं तेत्तीसं तो मुहुत्त उवहीणं।
छावट्ठि कम्मट्ठिदि बंधुकस्सट्ठिदी ताणं ॥१९२४॥

प्रश्न :—चारों ही गति वाले जीवो के वर्तमान की अपनी आयु में अन्य गति आयु बंध किस-किस काल में होता है, और किस-किस गति की आयु का बंध होता है ?

उत्तर :—देवगति और नरकगति के जीवों की आयु जब अधिक से अधिक छह महीने की रह जाती है, तब वे मनुष्य अथवा तिर्यञ्च आयु का बध करते हैं।

भावार्थ —देवो की आयु जब छह महीने की रह जाती है, तब वे मिथ्यात्व के उदय से होने वाले अपने-अपने परिणामो से पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक, मनुष्य और पशु इन पाच प्रकार की गतियो मे से किसी भी एक गति के लिए आयु बध कर लेते हैं। इसी प्रकार नारकी जीव मनुष्य अथवा तिर्यञ्चगति की आयु का बध करते है, सातवी पृथ्वी के नारकी जीव केवल एक तिर्यञ्च गति का ही आयु बध करते है। सातवे नरक के जीव मनुष्य गति का वध नही करते। मनुष्य तथा तिर्यञ्च गति वाले जीव जब अपनी वर्तमान आयु का तीसरा भाग रह जाता है। तब वे अपने-अपने भावो के अनुसार चारो हो गतियो मे से किसी एक गति का आयु वध कर सकते हैं। भागभूमियो के मनुष्य तिर्यञ्च भी अपनी आयु के छह महीने वाकी रहने पर देवगति का ही आयु वध करते है। एकेंद्रिय, दो इद्रिय, ते इद्रिय, चौ इद्रिय जीव मनुष्य वा तिर्यञ्च गति की आयु का बन्ध करते है। इनमें भी तेजस्काय और वायु काय के एकेंद्रिय जीव तिर्यञ्च आयु का ही बन्ध करते है। ये दोनो ही

प्रकार के एकेंद्रिय जीव मनुष्यगति की आयु का बन्ध नही कर सकते। ऐसा श्री गोम्मटसार के कर्मकाडाधिकार में लिखा है—

सुरणिरया णरतिरियं छम्मासवसिट्ठिगे सगाउस्स।
णरतिरया सव्वाउं तिभागसेसम्मि उक्कस्सं ॥१९२५॥
भोगभुमा देवाउं छम्मासवसिट्ठगे य बन्धन्ति।
इगिविगला णरतिरयं तेउदुगा सत्तगा तिरियं ॥१९२६॥

षोडशकारण, दशलक्षणिक, रत्नत्रय तथा पंचमी आदि अनेक प्रकार के व्रत जैनशास्त्रो में बतलाये है तथा उन व्रतो को विधिपूर्वक पूर्ण कर लेने पर प्रतिष्ठा पूर्वक उद्यापन करने की आज्ञा व्रतकथा कोष आदि अनेक शास्त्रो में बतलाई है परन्तु यदि किसी पुरुष से उसके उद्यापन की विधि प्रतिष्ठा पूर्वक न बन सके तो उसके अभाव मे शांतिक कार्य करना चाहिये। अर्थात् शातिचक्र का पाठ कर अभिषेक पूर्वक उस व्रत के उद्यापन की विधि करनी चाहिये—ऐसा मार्ग है। यही बात अनन्तव्रत की उद्यापन विधि में अनन्तव्रत की कथा मे आचार्य पद्मनन्दी ने लिखी है—

अभावे तु प्रतिष्ठायाः शांतिकं कार्यमंजसा।

तथा जिस पुरुष की इतनी भी शक्ति न हो अर्थात् वह न तो शातिक कर्म कर सके और न उद्यापन की विधि ही कर सके, तो उसे अपने व्रत विधिपूर्वक दूने समय तक करना चाहिये। जैसे सोलह कारण सोलह वर्ष तक किये जाते है सो उसे वत्तीस वर्ष तक करना चाहिये। पीछे अपनी शक्ति के अनुसार पूजनादिक विधान कर व्रतो का विसर्जन करे। सो ही अनन्त व्रत की कथा मे लिखा है—

अभावे तु प्रतिष्ठायाः शांतिकं कार्यमंजसा।
तस्याप्यभावे कर्तव्यं द्विगुणं तद्विधानकम् ॥१९२७॥

यही बात श्री वसुनन्दी सिद्धांत चक्रवर्ती विरचित श्रावकाचार मे कायक्लेशाधिकार मे लिखी है—

उज्जवण विहिणंतरइ काउजइ कोवि अत्थपरिहीणो।
तो विगुणं कायव्वा उववासविहाण पयत्तेण ॥१९२८॥

इसकी टीका मे लिखा है—

उद्यापन विधि न समर्थः कर्तुं यदि कोपि अर्थ हीनः।
तर्हि द्विगुणं कर्तव्यं उपवासादि विधानकं प्रयत्नेन ॥

अर्थात् यदि कोई धनहीन हो और व्रतो के उद्यापन की विधि न करे उसे उपवास आदि सपूर्ण विधान प्रयत्नपूर्वक दूने करना चाहिये । ऐसा शास्त्रो मे लिखा है सो देख लेना । यदि जिन प्रतिष्ठापूर्वक उद्यापन करने की शक्ति न हो तो उन व्रतों से अरुचि नही करनी चाहिये । अपनी शक्ति के अनुसार तप को बढाने के लिये अपने अनेक व्रतो को विधिपूर्वक दूने कर लेना चाहिये । इन व्रतो का अलग-अलग फल व्रत-कथा कोष आदि अनेक शास्त्रो मे लिखा है, वहा से जान लेना चाहिये । तप के भेदो मे अनेक व्रत है, सो कर्मो की निर्जरा के लिये है; इसलिये इनसे अरुचि नही करना चाहिये । सो ही मोक्षशास्त्र मे लिखा है—

"तपसा निर्जरा च" अध्याय ९ सत्र स. ३

अर्थात् तप से सवर भी होता है, कर्मो की निर्जरा भी होती है ।

प्रश्न :—ऊपर लिखे हुए व्रतों में से कोई मनुष्य कुछ व्रत ले लेवे और कुछ दिन तक उनका पालन करे फिर अशुभ कर्म के उदय से किसी कारण को पाकर व्रत गल जाय, छूट जाय तो उसका क्या प्रायश्चित है और दुबारा उसको पालन करने की विधि क्या है ?

उत्तर—जो कोई व्रती पुरुष विधि पूर्वक व्रत को लेवे और फिर रोग, शोक वा अन्य किसी कारण से व्रत की मर्यादा मे एक दो आदि कुछ उपवास बाकी रह जाय तथा ऐसी हालत मे वह व्रत छूट जाय, भ्रष्ट हो जाय तो फिर उसी व्रती को चाहिये कि वह फिर प्रारम्भ से उस व्रत को करे अर्थात् उस व्रत के लिये जो पहले व्रत उपवास किये थे, वे सब व्रत भग के पाप की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित मे चले गये, अब फिर उसे प्रारम्भ से ही व्रत धारण करना चाहिये । ऐसा अनुक्रम है, सो ही वसुनन्दी श्रावकाचार मे लिखा है—

जइ अन्तरम्मिकारणवसेण एको व दोव उववासो ।
ण क उत्तो मूलाओ पुणो वि सा होइ कायव्वो ॥१९२९॥

इसकी टीका इस प्रकार है –

यद्यन्तर काले कारणवशेन कोऽपि वा द्वयोपवासाः ।
न कृताः तर्हिमूलात् पुनरपि सा विधिर्भवति तत्कर्तव्या ॥

अर्थात् यदि बीच मे किसी कारण से एक वा दो उपवास न किये हो तो

प्रारम्भ से ही उसकी विधि करनी चाहिये। यदि वह ऐसा न करे तो उसे महापापी समझना चाहिये।

प्रश्न :—व्रत भंग करने से महापाप लिखा है, सो वह कौनसा महापाप लगता है ?

उत्तर:—जो कोई जीव अपने गुरु से यम वा नियम रूप कोई व्रत ले लेवे और फिर चरित्रमोहनीय कर्म के उदय से उस व्रत को भग कर देवे वह पुरुष एक हजार जिन मन्दिरो के भङ्ग करने के समान पाप का भागी होता है। इसके समान और कोई पाप नही है। इसीलिये उसको महापापी कहते है। सो ही श्री श्रुतसागर प्रणीत व्रतकथाकोष में सप्त परमस्थान व्रत की कथा कहते समय लिखा है –

गुरुन् प्रतिभुवः कृत्वा भवत्येकं धृत व्रतम्।
सहस्त्रकूट जैनेन्द्र सद्मभङ्गाद्य भागलम् ॥१६३०॥

इसलिये व्रत भङ्ग करने का प्रायश्चित अवश्य कर लेना चाहिये।

प्रश्न :—पूजा करने वाला पूजन के लिये वस्त्र किस प्रकार धारण करता है ?

उत्तर—जो भव्य पुरुष शांतिक और पौष्टिक के लिये भगवान की पूजा करता है, उसे सफेद वस्त्र पहिनकर पूजा करनी चाहिये यदि वह शत्रु पर विजय के लिये भगवान की पूजा करता है तो उसे श्याम वा काले वस्त्र पहिनकर पूजा करनी चाहिये। यदि वह कल्याण के लिये पूजा करता है तो लाल वस्त्र पहिनना चाहिये यदि वह किसी राजा आदि के भय को दूर करने के लिये पूजा करता है तो उसे हरे वस्त्र पहिनकर पूजा करनी चाहिये। यदि वह ध्यान आदि प्राप्ति के लिये पूजा करता है तो उसे पीले वस्त्र पहिनना चाहिये। और यदि वह किसी कार्य की सिद्धि के लिये पूजा करता है तो उसे पांचो रग के वस्त्र पहिनने चाहिये। सो ही लिखा है –

शांतौ श्वेतं जये श्यामं रक्तं भये हरित्।
पीतं ध्यानादिसंलाभे पंचवर्णं तु सिद्धये ॥१६३१॥

इस प्रकार अलग-अलग कामना की सिद्धि के लिये अलग-अलग पांचो वर्णों के वस्त्र बतलाये है। यदि इन पाचो वर्णों के वस्त्रो मे भी कोई अयोग्यता के दोष आ जायं तो वह वस्त्र छोड़ देना चाहिये और दूसरा नवीन वस्त्र धारण करना चाहिये।

प्रश्न :—त्रिकाल पूजा की विधि क्या है ?

उत्तर—चतुर भव्य जीवो को नियमपूर्वक तीनो समय भगवान की पूजा करनी चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है कि सबसे पहिले लिखी हुई विधि के अनुसार स्नानादिक कर भगवान की पूजा करनी चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है—प्रथम प्रातःकाल भगवान का जलाभिषेक करना चाहिये, फिर चन्दन केशर में कपूर मिलाकर भगवान के चरण कमलो की अर्चना करनी चाहिये यह प्रातःकाल की पूजा है। फिर दोपहर के समय अनेक प्रकार के सुगन्धित और मनोग्य पुष्पो से भगवान की पूजा करनी चाहिये यह मध्यान्ह पूजा कहलाती है। तदन्तर शाम के समय दीप और धूप से पूजा करनी चाहिये।

भावार्थ—प्रात काल तो चन्दन से पूजा करनी चाहिये। मध्यान्ह समय मे पुष्पो से पूजा करना चाहिये और सायकाल को दीपक से आरती उतारकर दीप से पूजा करनी चाहिये और सुगन्धित चन्दन आति शुभ द्रव्यो की बनी हुई धूप को अग्नि मे दहनकर धूप से पूजा करनी चाहिये। यह त्रिकाल पूजा की रीति है। सो ही श्री उमास्वामी विरचित श्रावकाचार में लिखा है—

श्री चन्दनं विना नैव पूजां कुर्यात्कदाचन।
प्रभाते घनसारस्य पूजा कार्या विचक्षणैः ।।१६३२।।
मध्याह्ने कुसुमैः पूजा संध्यायां दीप धूप युक्।

इस प्रकार त्रिकाल पूजा की रीति लिखी है। अथा अष्ट द्रव्य से जो पूजा की जाती है वह वह विशेप पूजा है। इस अष्ट द्रव्य की पूजा को त्रिकाल मे करने का कुछ नियम नही है। यह पूजा तो जिस समय की जाय उसी समय में हो सकती है।

प्रश्न :—सायंकाल को जो दीप धूप की पूजा की जाती है उसकी विधि क्या है ?

उत्तर :—पूजन करने वाले पुरुप को पूजा करते समय भगवान के बाई ओर धूपदान रखकर उसमे रक्खी हुई अग्नि मे मत्र पूर्वक धूप चढाकर भगचान की पूजा करनी चाहिये। तथा दीपक जलाकर भगवान के सामने मत्र पूर्वक आरती उतारकर पीछे भगवान को दाहिनी ओर उस दीपक को रख देना चाहिए। यह पूजा का नियम सब जगह है, सो ही उमा स्वामी विरचित श्रावकाचर मे लिखा है—

वामांगे धुपदाहस्य दीप पूजा च सन्मुखी ।
अर्हंतो दक्षिणे भागे दीपस्य च निवेशनम् ॥१६३३॥

पूजा की ऐसी आम्नाय है, सो इसी प्रकार करना चाहिये ।

प्रश्न :— भगवान की पूजा में कैसे पुष्प चढाना चाहियें तथा कैसे नहीं चढ़ाना चाहिये ?

उत्तर :—भगवान की पूजा में जल थल आदि के सार सुगंधित और मनोज ऐसे कमल गुलाब आदि अनेक प्रकार के जैन शास्त्रों मे कहे हुए पुष्प चढाना चाहिये तथा जो पुष्प हाथ से गिर गए हो, जमीन पर पड गए हो, जो किसी के पैर से छू गये हो, किसी के मस्तक पर रखे हों, मलिन और अपवित्र वस्त्र में रक्खे गये हों, नाभि के नीचे प्रदेश से छू गया हो, जो यवन (मुसलमान) आदि दुष्ट जनो के द्वारा स्पर्श किये गये हों और जो कीडों से दूषित हो ऐसे पुष्प कभी नही चढाना चाहिये, इसके सिवाय पुष्पो के दो तीन भाग कभी नही चढाना चाहिये ।

भावार्थ—मोतिया, मोगरा, कुंद आदि के पुष्पो मे दो तीन चार पुष्प निकलते है, सो उनको अलग-अलग नही करना चाहिये । जैसा का वैसा ही चढाना चाहिये पूजा के लिये फूलों की कलिया कभी नहीं निकालनी चाहिये अर्थात् पूजा मे कलिया नही चाहिये । पूरा पुष्प ही चढ़ाना चाहिये । जो लोग चपा और कमल के फूलों की कलिया अलग-अलग कर निकाल लेते है, अर्थात् उनको प्रफुल्लित कर लेते है, अथवा उनकी पखुडियां अलग-अलग निकाल लेते है, उनको जीव हिसा के समान फल लगा करता है । इसलिये पुष्पों को अलग-अलग छिन्न भिन्न कर वा कलिया निकालकर नही चढाना चाहिये । सो ही उमास्वामो विरचित श्रावकाचार मे लिखा है—

हस्तात्प्रस्खलितं क्षितौ निपतितं लग्नक्कचित्पादयोः ।
यन्मूर्द्ध्वोर्द्ध्वगतं धृतं कुवसने नाभेरधो यद् धृतम् ॥१६३४॥
स्पृष्टं दुष्ट जनैर्घनैरभिहितं यद्दूषितं कीटकैः ।
त्याज्यं तत्कुसुमं वदंति विबुधाः भक्त्या जिनः पूज्यते ॥१६३५॥
नैव पुष्पं द्विधा कुर्यान्न छिन्नकलिकामपि ।
चंपकोत्पल भेदेन जीव हिंसा समं फलम् ॥

ऐसा शास्त्रों का मत है। इसी प्रकार जल फल आदि आठो द्रव्य में से जो अयोग्य हो सो पूजा मे नही लेना चाहिये। विवेकी पुरुषो को योग्य द्रव्य से ही पूजा करनी चाहिये।

प्रश्न :—ऊपर लिखे हुए पुष्प किस प्रकार चढ़ाना चाहिये ?

उत्तर :—लौकिक शास्त्रो मे ऐसा लिखा है—

पुष्पं चोद्ध्र्वं मुखं देय पत्रदेय मधो मुखम् ।
फलं च सन्मुखं देयं यथोत्पन्नं समर्पयेत् ॥१६३६॥

अर्थात्—पूजा मे पुष्प तो ऊपर की ओर मुख कर चढाना चाहिये। उसकी डोडी नीचे की ओर रहनी चाहिये, नागवेल के पान आदि पत्रो को अधोमुखी चढ़ाना चाहिये। उसकी अनी नीचे रहे और डठल ऊपर-ऊपर को हो। तथा फल सामने चढाना चाहिये। पुष्प पत्र और फल जैसे वृक्ष पर लगते है उसी प्रकार उनको चढाना चाहिये। यह नियम पुष्पमाला अथवा पुष्पाजलि के लिये नही है। पुष्पमाला और पुष्पाजंलि मे जिस प्रकार बन सके उसी प्रकार चढाना चाहिये।

प्रश्न :—पहले जो अष्टांग और पश्वर्द्धशायि नमस्कार करना लिखा है, सो इनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—अपने दोनो हाथ दो पैर एक मस्तक एक छाती और दोनो कपोल इस प्रकार आठो अगो को भूमि से स्पर्शते हुए नमस्कार करना सो अष्टाग नमस्कार है।

भावार्थ—पहले पृथ्वी पर दड समान नीचे की ओर मुह कर सीधा सो जाना, जिससे दोनो पैर मस्तक छाती दोनो हाथ भूमि से लग जाय फिर क्रम मे दाये बांये कपोलो को लगाना भूमि से स्पर्श करना। इस प्रकार नमस्कार करने को अष्टाग नमस्कार कहते है। सो ही लिखा है—

हस्तौ पादौ शिरश्चोरः कपोलयुगलं तथा ।
अष्टांगानि नमस्कारे प्रोक्तानि श्री जिनागमे ॥१६३७॥

दोनो हाथ दोनो पैर और मस्तक इन पाचो अगो को भूमि मे स्पर्शते हुए नमस्कार करना पचाग नमस्कार है। सो ही लिखा है—

मस्तकं जानुयुग्मं च पंचांगानि करौ नतौ ।

पश्वर्द्धशायि नमस्कार का स्वरूप इस प्रकार है। पशु गाय को कहते हैं। गाय के समान आधा सोना जिससे पीछे के आधे अग तो खडे रहे और आगे का आधा अग अर्थात् दोनों पैर और मस्तक पृथ्वी पर नम जाय। पैरो के दोनो घुटनो से नमकर गर्दन से मस्तक को नीचा करना पश्वर्द्धशायि नमस्कार है।

भावार्थ—खड़े पैरों से बैठकर दोनो हाथों को कोनी से नवाकर तथा पृथ्वी पर रखकर अपना मस्तक झुकाना सो पश्वर्द्धशायि नमस्कार है। सो ही लिखा है—

अत्र प्रोक्तानि पश्वर्द्धशयनं पशुवन्मतम्।

इस प्रकार नमस्कार के तीन भेद है, सो जैसा अपने से बन सके, वैसा भावपूर्वक देव शास्त्र गुरु को नमस्कार करना चाहिये।

इनमे से स्त्रियों के लिये अष्टांग और पंचांग का अधिकार नही है। उनको केवल पश्वर्द्धशायि नमस्कार करने का अधिकार है। पुरुषो को तीनो प्रकार के नमस्कार करने का अधिकार है। यह बात मूलाचार मे आर्यिकाओं को वदना करते समय समयाख्याधिकार मे लिखी है—

पंच छह सत्त हत्थे सूरी अज्झावगोय साधूय।
परि हरि ऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ॥१६३८॥

इसका अर्थ एक सौ ग्यारहवी चर्चा मे लिखा है। जब आर्जिका भी गवासन से ही आचार्यादिक को वदना करती हैं, तो फिर अन्य स्त्रियां अष्टांग वा पचांग नमस्कार किस प्रकार कर सकती है? उनके लिये अष्टांग वा पचांग नमस्कार करना अयोग्य है। इसलिये नही करना चाहिये।

प्रश्न :—पूजा करते समय किसी के हाथ से जिन प्रतिमा पृथ्वी पर गिर जावें तो उसका प्रायश्चित क्या है?

उत्तर :—जो पूजा करते समय जिन मूर्ति पृथ्वी पर गिर पड़े तो पूजा करने वाले को उस मूर्ति का शुद्ध जल तथा गधोदक पर्यंत भरे हुए एक सौ आठ कलशो से मत्र पूर्वक भगवान का अभिषेक करना चाहिये। फिर पूजा कर एक सौ आठ मूल मंत्रो से आहूति देकर फिर वही विराजमान कर देना चाहिये। ऐसा इसका प्रायश्चित है। सो ही जिनसहिता में आठवे अधिकार में लिखा है—

पतिते जिनबिम्बेऽष्टशतेन स्नापयेद् घटैः।
अष्टोत्तर शतं कुर्यान्मूल मन्त्रेण चाहुतीः ॥१६३९॥

इस प्रकार मूर्ति के गिर पडने पर बहुत से लोग बिना समझे केवल अपने मन से ही किसी सचित्त वस्तु के खाने का त्याग कर देते है वा उपवास एकासन आदि कर लेते है, वा करा देते है, सो शास्त्र की विधि से विपरीत है ।

प्रश्न :—पूजा करते समय मंत्र पूर्वक नैवेद्य आदि चढ़ाने में किसी के हाथ से वह नैवेद्यादिक पृथ्वी आदि अन्य क्षेत्र में गिर जाय पूजा के स्थान में न चढ़ाया जा सके बीच में ही गिर जाय तो क्या करना चाहिये ?

उत्तर :—पूजा करते समय मंत्र पढ़कर द्रव्य चढाना चाहिये । यदि वह द्रव्य बीच मे ही गिर जाय तो उसे छोड देना चाहिये। फिर जो द्रव्य गिरा है, उसी द्रव्य को लेकर और उसी मन्त्र को पढकर एक सौ आठ बार आहुति देनी चाहिये अर्थात् अक्षत गिरा हो तो अक्षत का मन्त्र पढकर अक्षत की एक सौ आठ आहुति देनी चाहिये । यदि पुष्प गिरा हो तो पुष्प की एक सौ आठ आहुति देनी चाहिये ।

इस प्रकार जलादिक आठो द्रव्यो मे से जो द्रव्य गिरा हो, उसी का मन्त्र पढ़कर एक सौ आठ आहुति देनी चाहिये । फिर बाकी की पूजा पूर्ण करनी चाहिये । यही इसका प्रायश्चित है । सो ही संहिता के अठारहवे अधिकार मे लिखा है—

प्रपति बलिपिंडस्य जिन मन्त्रेण मन्त्रवित् ।
अष्टोत्तर शतं कुर्यादाहूतीस्तद्विधिक्रमात् ।।१६४०।।

प्रश्न :—यदि कोई हीन जाति का अस्पृश्य मनुष्य जिनबिंब का स्पर्श कर लेवें तो उस मूर्ति का क्या करना चाहिये ?

उत्तर :—जो जिनबिंब गिर जाने का प्रायश्चित है, वही प्रायश्चित अस्पृश्य मनुष्य के द्वारा जिनबिंब के स्पर्श कर लेने पर करना चाहिये । अर्थात् उस मूर्ति का एक सौ आठ कलशो से अभिषेक कर पूजा कर मूल मंत्र से एक सौ आठ आहुति देनी चाहिये फिर उसको वही विराजमान कर देना चाहिये । सो ही पूजासार मे लिखा है—

अस्पृश्य जनसंस्पर्शेप्येवमेव जिनेशिनाम् ।

प्रश्न :—यदि किसी के हाथ से प्रतिमा का भंग हो जाय तो क्या करना चाहिये ?

उत्तर :—यदि किसी के हाथ से जिन प्रतिमा भग हो जाय तो उसी तीर्थंकर की अन्य प्रतिमा का एक हजार आठ शुद्धजल के कलशो से तथा पचामृत से मंत्र

पूर्वक महाभिषेक करना चाहिये। फिर एक सौ आठ बार मूल मत्र से आहूति देनी चाहिये। तथा उस भग्न हुये प्रतिबिब को किसी अगाध जल मे विराजमान कर देना चाहिये ऐसा करने से वह दोष दूर होता है और शाति होती है। सो हि जिनसहिता में लिखा है—

स्नापयेदंग भंगेष्ट सहस्त्रेण जिनेश्वरम्।
होमं वा पातवत्कुर्याद् भग्नं चांगं सुसेवयेत् ।।१६४१।।
ततो जलधि वासादि प्रतिष्ठापन माचरेत्।

प्रश्न :—जैन मत मे गृहस्थों के सूतक पातक के विचार की विधि क्या है?

उत्तर :—सूतक दो प्रकार का है—जो गृहस्थ के घर पुत्र पुत्री आदि का जन्म हो तो दश दिन का सूतक है यदि मरण हो तो बारह दिन का सूतक है। जिस घर मे वा जिस क्षेत्र मे प्रसूति हो उसका सूतक एक महिने का है। यह सूतक जिसके घर जन्म हो उसको लगना है। जो उसके गोत्र वाले है, उनको पाच दिन का सूतक लगता है।

यदि प्रसूति में ही वालक का मरण हो जाय तो अथवा देशातर मे किसी का मरण हो जाय या किसी सग्राम में मरण हो जाय अथवा समाधिमरण से प्राण छोड़े हो तो इन सबका सूतक एक दिन का है।

घोडी, गाय, भैंस, दासी आदि की प्रसूति यदि अपने घर मे वा आगन मे हो तो उसका सूतक एक दिन का लगता है, यदि गाय, भैंस आदि की प्रसूति घर मे न हो घर के बाहर किसी क्षेत्र मे वा बगीचे मे हो तो उसका सूतक नही लगता।

जिस गृहस्थ के यहाँ पुत्रादिक का जन्म हुआ है, उसको बारह दिन पीछे भगवान अरहतदेव का अभिषेक, जिनपूजा और पात्रदान देना चाहिये, तब उसकी शुद्धि होती है अन्यथा शुद्धि नही होती।

यदि दासी दास वा कन्या की प्रसूति वा मरण अपने घर हो तो उस गृहस्थ को तीन दिन का सूतक लगता है। वह प्रसूति या मरण अपने घर हुआ है, इसलिये दोष लगता है।

यदि किसी गृहस्थ के स्त्री के गर्भ का स्त्राव हो जाय वा पात (गर्भ पात) हो जाय तो जितने महीने का वह गर्भ हो उतने ही दिन का सूतक लगता है, इस

प्रकार समुदाय रूप से सूतक का वर्णन है, उसमे भी थोडा सा विशेष यह है कि क्षत्रियो को पाच दिन का सूतक है, ब्राह्मणो को दश दिन का है, वैश्य को बारह दिन का सूतक है और शूद्र को पन्द्रह दिन का सूतक है। सो ही प्रायश्चित ग्रन्थ मे लिखा है—

पण दश बारण णियमा पण्णारस होइ तहय दिवसे हि।
खत्तिय बंभा विस्सा सुद्दा हि कमेण सुद्धंति ॥१६४२॥

इस अनुक्रम से सूतक जानना चाहिये।

लौकिक में जो सती होती है, उसके बाद घर के स्वामी को उसकी हत्या का पाप छह महीन तक रहता है। छह महीने बाद प्रायश्चित लेकर शुद्ध होता है। जिसके घ्र मे कोई सती हो गई हो, उसको छह महिने पहले प्रायश्चित देकर शुद्ध नही करना चाहिये।

यदि कोई अपघात से मर जाय तो उसके बाद घर के स्वामी को था योग्य प्रायश्चित देना चाहिये।

भैंस का दूध प्रसूति के दिन से पन्द्रह दिन पीछे शुद्ध होता है। गाय का दूध प्रसूति के दिन से दश दिन बाद शुद्ध होता है। बकरी का दूध प्रसूति के दिन से आठ दिन बाद शुद्ध होता है, इन सबका दूध ऊपर लिखे दिनो से पहले शुद्ध नही होता।

इस प्रकार गृहस्थो को सक्षेप से सूतक का विचार समझ लेना चाहिये। सो मूलाचार की टीका मे लिखा है—

सूतकं वृद्धि हानिभ्यां दिनानि दश द्वादश।
प्रसूतिकास्थानं मासैकं दिदानि पंच गोत्रिणाम् ॥१६४३॥
प्रसूतौ च मृते बाले देशांतले मृते रणे।
सन्यासे मरणे चैव दिनैकं सूतकं भवेत् ॥१६४४॥
अश्वी च महिषी चेटी प्रसूता गौर्गृहांगणे।
सूतकं दिनमेकं स्यात् गृहबाह्ये न सूतकम् ॥१६४५॥
पुत्रादि सूतके जाते गते द्वादश के दिने।
जिनभिषेक पूजाभ्यां पात्रदानेन शुद्धयति ॥१६४६॥
दासी दासस्तथा कन्या जायते मरणे यदि।
त्रिरात्रि सूतकं ज्ञेय गृहमध्ये तु दूषणम् ॥१६४७॥

यदि गर्भ-विपत्तिः स्यात् स्त्रावणं चापि योषितः ।
यावन्मासं स्थितो गर्भस्तावद्दिनानि सूतकम् ॥१९४८॥
पंचाहान् सूतकं क्षत्रे दशाहान् ब्राह्मणे विदुः ।
द्वादशाहान् च वैश्ये हि शूद्रे पक्षंक सूतकम् ॥१९४९॥
सतीनां सूतकं हत्यापापं षण्मासकं भवेत् ।
अन्येषामपहत्यानां यथापापं प्रणाशयेत् ॥१९५०॥
महिष्याः पक्षकं क्षीरं गोक्षीरं च दिनं दश ।
अष्टमे दिवसेऽजायाः क्षीरं शुद्धं न चान्यथा ॥१९५१॥

इस प्रकार सूतक का सामान्य वर्णन समझना चाहिए ।

प्रश्न :—गोत्री को सूतक किस प्रकार पालना चाहिए ?

उत्तर :—यदि गोत्री चौथी पीढी तक का हो तो उसको दस रात तक सूतक लगता है, पांचवी पीढी वाले को छह रात का सूतक लगता है । छठी पीढी वाले को चार दिन का सूतक लगता है, चार दिन बाद वह शुद्ध होता है । सातवी पीढी वाला तोन दिन वाद शुद्ध होता है । आठवी पीढी वाले को एक दिन रात का सूतक है, पीछे वह शुद्ध है । नौवी पीढी वाले को दोपहर का सूतक है तथा दसवी पीढी वाले को स्नान करने मात्र का सूतक है । इसके बाद शुद्ध है । इस प्रकार गोत्र का सूतक समझना चाहिए । सो ही मूलाचार की टीका मे लिखा है—

चतुर्थे दशरात्रिः स्यात् षड्रात्रिः पुन्सि पञ्चमे ।
षष्ठे चतुरहः शुद्धिः सप्तमे च दिनत्रयम् ॥१९५२॥
अष्टमे पुन्स्य हो रात्रिः नवमे प्रहर द्वयम् ।
दशमे स्नानमात्रं स्यादेतद् गोत्रस्य सूतकम् ॥१९५३॥

इस प्रकार गोत्री के सूतक का विचार है । दूसरी तीसरी पीढी का सूतक पहली पीढी के समान है । बाद मे सूतक के दिन घटते जाते हैं । ऐसा समझ लेना चाहिए ।

प्रश्न :—मुनि को अपने गुरु आदि के मरने का सूतक किस प्रकार है ? तथा राजा के घर मृत्यु आदि का सूतक किस प्रकार है ?

उत्तर :—मुनि तो एक कायोत्सर्ग कर लेने पर क्षण भर मे ही शुद्ध हो जाते हैं । तथा राजा के पांच दिन का सूतक लगता है । सो ही प्रायश्चित शास्त्र में लिखा है—

प्रश्न :—गृहस्थों के घर स्त्रियां रजस्वला होती है, उनके योग्य अयोग्य आचरण की विधि किस प्रकार है ?

उत्तर :—इसका विधान भाषा के क्रिया कोश आदि शास्त्रो में लिखा है। तथापि यहां पर कुछ विस्तार और विशेषता के साथ लिखते है—जो स्त्रिया रजस्वला होती है, सो प्रकृतिरूप से तथा विकृति रूप से ऐसे दो प्रकार से होती है। जो स्वभाव से ही प्रत्येक महीने योनि मार्ग से रुधिर का स्राव होता है, वह प्रकृतिरूप होता है। जो असमय में ही अर्थात् महीने के भीतर ही रजःस्राव होता है, उसको विकृतिरूप कहते है, वह दूषित नहीं है, उसके होने पर केवल स्नानमात्र से शुद्धि होती है। उसका सूतक नही होता। यदि पचास वर्ष के बाद पचास वर्ष की अवस्था से ऊपर रज स्राव हो तो उसकी शुद्धि स्नानमात्र से हो है। अभिप्राय यह है कि जो रज स्राव महीने से पहले होता है, वह विकार रूप है और रोग से होता है। स्त्रियो के प्रदर आदि अनेक रोग होते है, उन्ही से होता है। इसी प्रकार रजोधर्म का समय पचास वर्ष तक है। उसके बाद जो रजोधर्म हो तो वह रजःस्वला के समान सदोष नही है, उसकी शुद्धि स्नान मात्र से ही होती है। जो बारह वर्ष की अवस्था से लेकर पचास वर्ष तक प्रति मास रजोधर्म होता है, वह काल रजोधर्म है। इसके बाद अकाल रूप कहा जाता है, इस प्रकार इसके दो भेद हैं।

आगे इसका विशेष वर्णन लिखते है। जिस दिन स्त्री के रज का अवलोकन हो, उस दिन से लेकर तीन दिन तक अशौच है। यदि उस दिन आधी रात तक रजोदर्शन हो तो भी पहला दिन समझना चाहिये। आगे इसी का खुलासा लिखते है। रात्रि के तीन भाग करना चाहिये। इसमें से पहला और दूसरा भाग तो उसी दिन मे समझना चाहिये और पिछला एक भाग दूसरे दिन की गिनती में लेना चाहिये। ऐसी आम्नाय है।

यदि ऋतुकाल के बाद फिर वही स्त्री अठारह दिन पहले ही रजस्वला हो जाय तो वह केवल स्नान मात्र से ही शुद्ध हो जाती है। उसको तीन दिन का आशौच नही लगता है। यदि कोई स्त्री अत्यत यौवनवती हो और वह रजःस्वला होने के दिन से सोलह दिन पहले फिर रजःस्वला हो जाय तो वह स्नान करने मात्र से शुद्ध हो जाती है। इसका भी स्पष्ट अभिप्राय यह है कि रजस्वला होने के बाद फिर वही स्त्री रजस्वला होने के दिन से यदि अठारह दिन पहले फिर रजस्वला हो जाय तो

वह स्नान करने मात्र से शुद्ध हो जाती है। यदि उसके अठारहवे दिन रजोधर्म हो तो उसको दो दिन का सूतक पालन करना चाहिये यदि उसके उन्नीसवे दिन रजोधर्म हो तो उसको तीन दिन तक सूतक पालन करना चाहिये। तब वह शुद्ध होती है। यदि रजस्वला होने के बाद चौथे दिन स्नान कर ले और फिर रजस्वला हो जाय तो फिर वह अठारह दिन तक शुद्ध नही होती अर्थात् उसे अठारह दिन तक सूतक पालन करना चाहिये। सो ही त्रिवर्णाचार के तेरहवें परिच्छेद मे लिखा है—

रजः पुष्पं ऋतुश्चेति नामान्यस्यैव लोकतः।
द्विविधं तत्तु नारीणां प्रकृतं विकृतं भवेत् ॥१९५४॥
तत्प्रकृतं यत्तु स्त्रीणां मासे मासे स्वभावतः।
अकाले द्रव्य रोगाद्युद्रेकात्तु विकृतं मतम् ॥१९५५॥
अकाले चेद्यदि स्त्रीणां तद्रजो नैव दुष्यति।
पंचाशद्वर्षादूर्ध्वं तु अकाल इति भाषितः ॥१९५६॥
रजो वा दर्शनात्स्त्रीणां अशौचं दिवसत्रयम्।
कालजे चार्द्धरात्राच्चेत् पूर्वं तत्कस्यचिन्मतम् ॥१९५७॥
रात्रेः कुर्यात्त्रिभागं तु द्वौ भागौ पूर्ववासरे।
ऋतौ सूते मृते चैव ज्ञेयोऽन्त्यः स परेहनि ॥१९५८॥
ऋतुकाले व्यतीते तु यदि नारी रजस्वला।
तत्र स्नानेन शुद्धिः स्यादष्टादशदिनात्पुरा ॥१९५९॥
दिनाच्चेत्षोडशादर्वाक् नारी या चाति यौवना।
पुनः रजस्वलापि स्याच्छुद्धिः स्नानेन केवल ॥१९६०॥
रजस्वलायाः पुनरेव चेद्रजः प्राग्दृश्यतेऽष्टादश वासराच्छुचिः।
अष्टादशाहि यदि चेद् दिनद्वयादेकोनविंशे त्रिदिनात्तत. परम् ॥१९६१॥
रजस्वला यदि स्नात्वा पुनरेव रजस्वला।
अष्टादशदिनादर्वाक् शुचित्वं न निगद्यते ॥१९६२॥

आगे रजस्वला स्त्री के आचरण आदि के योग्य अयोग्य की विधि लिखते हैं।

यदि कोई स्त्री अपने समय पर रजस्वला हुई तो उसको तीन दिन तक ब्रह्मचर्य पूर्वक रात्रि मे किसी एकात-स्थान मे जहा मनुष्यो का सचार न हो ऐसी जगह डाभ के आसन पर सोना चाहिये। उसको खाट, पलग, शय्या, वस्त्र, रूई का बिछोना

तथा ऊन का बिछोना आदि का स्पर्श न करना चाहिये। तीन दिन तक उसको धर्म को बात करनी चाहिये। जिस प्रकार मालती. माध्वी वा कुन्द आदि की बेल सकुचित रूप से रहती है, उसी प्रकार सकुचित होकर प्राण धारण कर रहना चाहिये। तीन दिन तक शीलव्रत पालना चाहिये, दूध, दही, घी, छाछ आदि गो रस का त्याग करना चाहिये। एक बार रूखा अन्न खाना चाहिये। उसको नेत्रो मे काजल, अजन आदि कुछ नही डालना चाहिये। उवटन करना, तेल लगाना, पुष्प माला पहनना, गध लगाना आदि शृ गार के सब साधनो का त्याग कर देना चाहिये। तीन दिन तक उसको अपने देव, गुरू, राजा और अपने कुल देवता का रूप दर्पण मे भी नही देखना चाहिये तथा न इनसे किसी प्रकार का सभाषण करना चाहिये। इन स्त्रियो को तीन दिन तक किसी वृक्ष के नीचे अथवा पलग पर नही सोना चाहिये तथा दिन मे भी नही सोना चाहिये। उसे अपने मन मे पच णमोकार मत्र का स्मरण करना चाहिये। उसका उच्चारण नही करना चाहिये। केवल मन मे चितवन करना चाहिये। अपने हाथ मे वा पतल मे भोजन करना चाहिये। किसी भी धातु के वर्तन मे भोजन नही करना चाहिये। यदि वह किसी तावे, पीतल आदि के पात्र मे भोजन करे तो उस पात्र को अग्नि से शुद्ध करना चाहिये। चौथे दिन गोसर्ग काल के बाद स्नान करना चाहिये। प्रात.काल से लेकर छह घडी पर्यंत गोसर्ग काल कहा जाता है। चौथे दिन स्नान के बाद वह स्त्री अपने पति के और भोजन वनाने के लिये शुद्ध समझी जाती है। देव पूजा, गुरु सेवा तथा होम कार्य मे वह पाचवे दिन शुद्ध होती है। सो ही त्रिवर्णाचार मे लिखा है—

काले ऋतुमती नारी कुशासने स्वपेप्सती।
एकांत स्थान के स्वस्था जनदर्शनवर्जिता ॥१९६३॥
मौनयुताथ वा देव धर्म वार्ता विवर्जिता।
मालती माध्वी वल्लीकुंदादिलति काकरा ॥१९६४॥
रक्षेच्छीलं दिन त्रीणि चैक भक्तं विगोरसम्।
अंजनाभ्यंगस्नान गंध मंडन वर्जिता ॥१९६५॥
देवं गुरुं नृपं स्वस्य रूपं च दर्पणेऽ पित्रा।
न पश्येत्कुलदेवं च नैव भाषेत तैः समम् ॥१९६६॥

वृक्षमूले स्वपेन्नैव खट्वा शय्यासनं तथा ।
मंत्रं पंचनमस्कारं जिन स्मृतिं स्मरेद् हृदि ॥१६६७॥
अंजलावश्नीयात्पर्णं पात्रे ताम्रे व पैत्तले ।
भुक्त्वा चेत्कांश्यजेपात्रे शुद्धयति तत्तुवन्हिना॥१६६८॥
चतुर्थे निवसे स्नायात् प्रातः गोसर्गतः परम् ।
पूर्वाह्णे घटिका षट्कं गोसर्ग इति भाषितः ॥१६६६॥
शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेह्नि भोजने रंधनेऽपि वा ।
देव पूजा गुरू पास्ति होम सेवासु पंचमे ॥१६७०॥

रजस्वला स्त्रियों के आचरण इस प्रकार बतलाये है। जो स्त्रियां रजोधर्म के तीन दिन में अंजन लगाती है, उवटन करती है, पुष्पमाला पहनती है, गध लगाती है, तेल मर्दन करती हैं, और ऊचे स्वर से बोलती है. उनका गर्भ सदोष और विकृत रूप हो जाता है।

स्त्रियों को ऋतुस्त्राव के तीन दिन तक ब्रह्मचर्य पूर्वक डाभ के आसन पर सोना चाहिये। आंसू वहाना, नाखून काटना, उवटन लगाना, तेल लगाना, गध लगाना, आंखो में अंजन लगाना, पानी में डूबकर स्नान करना, दिन मे सोना, दौडना, बहुत ऊंचे स्वर से किसी को आवाज देकर बुलाना, ऐसे ही ऊचे शब्द सुनना, हसना, अधिक वकवाद करना, कूटना, पीसना, अधिक बोझ उठाना, पृथ्वी खोदना, फैल फूटकर (बहुत सी जगह घेरकर) बैठना वा सोना तथा ऐसे ही अयोग्य कार्य तीन दिन नही करना चाहिये। अपने पति को भी न देखना चाहिये। हाथ में रखकर अथवा मिट्टी के सकोरा में व पत्तलो मे रखकर रूखा अन्न भोजन करना चाहिये।

यदि कोई स्त्री अपनी अजानकारी से वा उसमे लोलुपता के कारण अथवा दैवयोग से ऊपर लिखे कार्यो को करती है, तो उसके अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यदि कोई स्त्री इन ऋतु के तीन दिन मे रोती है, तो उसके गर्भ के बालक के (जो बालक आगे गर्भ मे आवेगा) उसके नेत्र विकृत हो जाते है। अधा हो जाता है, धुंधला हो जाता है। आख में फूला हो जाता है वा काणा ऐंचाताना हो जाता है। अथवा वह ढेर हो जाता है। उसकी आखो से पानी बहता रहता है, उसकी आखे लाल हो जाती है वा बिल्ली की सी आंखे हो जाती है। इस प्रकार उस बालक के नेत्रो में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते है। यदि कोई स्त्री इन तीन दिनो

मे नाखून काटती है, तो उसके बालक के नाखूनो मे विकार हो जाता है। उस बालक के नाखून फटे टूटे सूखे, काले, हरे, टेडे और देखने मे बुरे हो जाते है। यदि वह स्त्री इन तीन दिनो मे उवटन करती है वा तेल लगाती है, उसके बालक के अठारह प्रकार के कोढ रोगो मे से कोई सा भी कोढ रोग हो जाता है। यदि वह इन तीन दिनो मे गध लगावे वा जल मे डूबकर स्नान करे तो वह बालक दुराचारी व्यसनी होता है। यदि वह आखो मे अजन लगावे तो उसके बालक को नेत्र नाद सहित हो जाते है। दिन मे सोने से वह बालक रात दिन सोने वाला होता है। अथवा सदा ऊघने वाला बालक होता है। जो स्त्री इन तीन दिनो मे दौड़ती है, उसका बालक चचल होता है, उत्पाती उपद्रवी होता है। ऊचे स्वर से बोलने से या सुनने से उसका बालक बहिरा होता है। जो स्त्री इन दिनो मे हंसती है, उसके बालक के तालु, जीभ, होठ काले पड जाते है। इन तीन दिनो मे अधिक बोलने से उस स्त्री के प्रलापी बालक होता है। जो झूठा हो चालाक हो उसको प्रलापी कहते है। 'प्रलापोनृतभाषणम्' झूठ बोलना का नाम प्रलाप है। जो स्त्री रजोधर्म के समय मे परिश्रम करती है, उसके उन्मत्त उन्माद रोगवाला वा बावला पुत्र होता है। जो स्त्री उन दिनो मे पृथ्वी खोदती है, उसके दुष्ट बालक होता है। जो चौडे मे सोती है, उसके उन्मत्त बालक होता है। इस प्रकार अयोग्यता से अनेक दोष उत्पन्न होते है। इसलिये ये अयोग्य कार्य नही करना चाहिये। विवेक पूर्वक रहना चाहिये। यह कथन जैन शास्त्रो का नही, किंतु लटकन मिश्र के पुत्र भाव मिश्र के बनाये हुए भाव प्रकाश नाम के वैद्यक शास्त्र मे लिखा है, यहा प्रकरण समझकर लिख दिया है। यथा—

अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा लौल्याद्वा दैवतश्च वा।
साचेत्कुर्यान्निषिद्धानि गर्भे दोषास्तदाप्नुयात् ॥१६७१॥
एतस्या रोदनाद् गर्भो भवेद्विकृत लोचनः।
नखच्छेदेत कुनखी कुष्ठी त्वभ्यंगतो भवेत् ॥१६७२॥
अनुलेपात्तथा स्नानाद् दुःशीलो जननादस्क्।
स्वापिशीलोदिवास्वापापाच्चंचल.स्यात्प्रधावनात्॥१६७३॥
अत्युच्च शब्द श्रवणाद्बधिरः खलु जायते।
तालुदंतौष्ठ जिह्वासु श्यामो हसनतो भवेत् ॥१६७४॥

प्रलापो भूरि कथनादुन्मत्तस्तु परिश्रमात् ।
खलोति भूमि खननादुन्मत्तो वात सेवनात् ।।१९७५।।

इस प्रकार अयोग्य कर्मो के करने के दोष बतलाये हैं, सो इनका त्याग करना ही उचित है ।

जो कोई अनाचारी इनका दोष नहीं मानते । कितने ही लोग स्पर्श कर लेने पर भी स्नान नही करते । कितने ही लोग दूसरे तीसरे दिन स्नान कराकर उसके हाथ से किये हुए सब तरह के भोजन खा लेते है । कोई-कोई लोग उन्ही दिनो मे कुशील सेवन भी करते हैं, परन्तु ऐसे लोग महाअधर्मी कहलाते है । ऐसे लोग स्पर्श करने योग्य भी नही है । इसका कारण यह है कि रजोधर्म वाली स्त्री की पहले दिन चांडाली संज्ञा है, दूसरे दिन ब्रह्मघातिनी सज्ञा है, तीसरे दिन रज की संज्ञा है । और चौथे दिन शुद्ध होती है । यथा—

प्रथमेऽहनि चांडाली द्वितीये ब्रह्मघातिनी ।
तृतीये रज की प्रोक्त चतुर्थेऽहनि शुद्धयति ।।१९७६।।

इसलिये स्त्री चौथे ही दिन शुद्ध होती है । जो स्त्री पुरुष गामिनी है, वह जीवन पर्यन्त अशुद्ध रहती है । व्यभिचारिणी स्त्री स्नानादिक कर लेने पर भी शुद्ध नही होती । वह परपुरुष का त्यागकर देने मात्र से ही शुद्ध हो सकती है । सो ही लिखा है—

त्रिपक्षं जायते सूता ऋतुधात्री दिनत्रयम् ।
परजनरता नारी यावज्जीवं न शुद्धयति ।।१९७७।।

कितने ही अधर्मी इन तीन दिनो में भी सामायिक प्रतिक्रमण तथा शास्त्र के स्पर्श आदि कार्यो को करते है, ऐसे लोग उससे होने वाले अविनय और महापाप को नही मानते । यदि कोई इन कामो के करने के लिये निषेध करता है, तो उत्तर देते हैं, कि इस शरीर मे शुद्ध पदार्थ है ही क्या ? इसमें से नव द्वार सदा बहते रहते है, यदि किसी के गाठ वा फोडा हो जाता है और वह पककर फूट जाता है उसी प्रकार स्त्रियो का यह मासिक धर्म है । इस प्रकार कहकर वे लोग मानते नही, परन्तु ऐसे लोग आज्ञाबाह्य ते महापातकी अनाचारी है ।

रजस्वला स्त्रियो के स्पर्श-अस्पर्श का, उसकी भूमि की शुद्धि का तथा सभाषण आदि

के दोषों का और उनके शुद्ध करने का वर्णन विशेषकर प्रायश्चित शास्त्रो से जान लेना चाहिये। यहां सक्षेप मे लिखा है।

कितने ही लोग अपनी लक्ष्मी के मद में आकर रजस्वला स्त्रियो को भूमि पर नही सोने देते, किंतु उन्हे पलंग पर सुलाते है। यदि कोई इसका निषेध करता है तो अपनी राजनीति का अभिमान करते हुये नही मानते है, किंतु उसी तरह चलते हैं परन्तु ऐसे लोग बडे अधर्मी गिने जाते है। जो मुनि होकर घोड़े पर चढ़े, जो स्त्री रजस्वला अवस्था मे ही पलग पर बैठे या सोवे तथा जो गृहस्थ शास्त्र सभा में बैठकर बाते करे ऐसे पुरुषो को देखकर ही वस्त्र सहित स्नान करना चाहिये।

भावार्थ :—जब ऐसे लोगो को देखकर ही देखने वालों को वस्त्र सहित स्नान करना पड़ता है तो फिर उन लोगो के पाप की तो बात ही क्या है अर्थात् वे बहुत भारी दोष के भागी होती है, सो ही लिखा है—

अश्वारूढं यतिं दृष्ट्वा खट्वारूढां रजस्वलाम्।
शास्त्र स्थाने गृहवक्तृन् सचेल स्नान माचरेत् ॥१९७८॥

प्रश्न :—यदि रजस्वला स्त्री के पास बालक हो तो उसके स्पर्शास्पर्श की शुद्धि किस प्रकार है ?

उत्तर :—यदि कोई बालक मोह से रजस्वला स्त्री के पास सोवे बैठे वा रहे तो सोलह बार स्नान करने से उसकी शुद्धि होती है, यदि कोई दूध पीने वाला बालक दूध पीने के लिये उसका स्पर्श करे तो जल के छीटे देने मात्र से ही उसकी शुद्धि हो जाति है। ऐसे छोटे बालक को स्नान करने का अधिकार नही है। सो ही त्रिवर्णाचार मे लिखा हैं—

तया सह तद्बालस्तु ब्यष्ट स्नानेन शुद्धयति।
तां स्पर्शन् स्तनपायी वा प्रोक्षणे नैवशुद्धयति ॥१९७९॥

कदाचित् कोई यहां पर छीटा देने का सदेह करे तो इसका उत्तर यह है कि प्रायश्चित शास्त्रो मे और भी कितने ही पदार्थ बतलाये है, जिनमें स्पर्श का दोप नही माना जाता। जैसे मक्खी, हवा, गाय, सुवर्ण, अग्नि महानदी, नाव, पाथोदक और सिहासन अस्पर्श्य नही होते ऐसा विद्वानों का कहना है—

मक्षिका मारुतो गावः स्वर्णमग्नि महानदी।
नावः पाथोदकं पीठं नास्पृश्यं चोच्यते बुधैः ॥१९८०॥

प्रश्न :—ऊपर लिखे अनुसार गृहस्थ का यथायोग्य आचरण तो मालूम हुआ, परन्तु यदि रजस्वला स्त्री रोगिणी हो अशक्त हो, उसको स्नानादि किस प्रकार कराना चाहिए ?

उत्तर:—यदि कोई स्त्री रोग वा शोक से अशक्त हो वा बुढापे से अशक्त हो और रजस्वला हो जाय तो उसकी शुद्धि इस प्रकार करनी चाहिये कि चौथे दिन कोई निरोग सशक्त स्त्री उसे स्पर्श करे फिर स्नान करे, फिर स्पर्श करे फिर स्नान करे। इस प्रकार वह दश बार उसको स्पर्श करे तो वह स्त्री शुद्ध हो जाती है। अत मे रजस्वला के वस्त्रों को बदलवाकर दश वा बारह बार आचमन कर तथा स्नान कर लेने से वह नीरोग स्त्री भी शुद्ध हो जाती है रोगिणी रजस्वला स्त्री की शुद्धि का यह क्रम है। सो ही त्रिवर्णाचार मे लिखा है—

आतुरे तु समुत्पन्ने दशवारमनातुरा।
स्नात्वा स्नात्वास्पर्शेदेनामातुरा शुद्धिमाप्नुयात् ॥१९८१॥

जराभिभूता या नारी रजसा चेत्परिप्लुता।
कथं तस्य भवच्छौच्यं शुद्धिः स्यात्केन कर्मणा ॥१९८२॥

चतुर्थेह्नि संप्राप्ते स्पर्शेदन्या तु तां स्त्रियम्।
सा च सचैव प्राह्या यः स्पर्शेस्नात्वा पुनः पुनः ॥१९८३॥

दश द्वादश वा कृत्वा ह्याचमनं पुनः पुनः।
अंत्ये च वाससां त्यागं स्नात्वा शुद्धा भवेतु सा ॥१९८४॥

प्रश्न :—जिन देवों की आयु जितने सागरों की है, उनका मानसिक आहार उतने ही हजार वर्ष बाद होता है। तथा उनका श्वासोच्छ्वास उतने ही पक्ष बाद होता है। यह कथन प्रसिद्ध है परन्तु जिन देवों की आयु पल्यों की है, उनके आहार और श्वासोच्छ्वास का क्या नियम है ?

उत्तर :—भवनवासियो में उत्कृष्ट आयु असुरकुमार देवों की है। सो उनके मानसिक आहार एक हजार वर्ष से अधिक समय बाद होता है तथा सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिषी देवो के सागरोपम के अशो के हिसाब से अलग-अलग है। और बाकी के जो

नौ प्रकार के भवनवासी समस्त देवांगनाओं के मानसिक आहार का समय इसी क्रम से समझना चाहिये। सो ही लिखा है—

असुरेतिसिु सासाहारा पक्खं समासहस्संतु।
सुमुहत्त दिणाणद्धं तेरस वारस दलूणट्ठं ॥१६८५॥

भावार्थ—असुर कुमारनि के एक पक्ष भये एक वार उच्छ्वास होता है,हजार वर्ष गये एक वार आहार होता है। वहूरि नागकुमार आदि तीन जाति विषै साढा वारा मुहूर्त भये उच्छ्वास हो है, साढ़ा वारा दिन गये आहार हो है। वहुरि दिक्कुमार आदि तीन जाति विषै साढ़ा सात मुहूर्त भये उच्छ्वास होवै साढ़ा सात दिन गये आहार हो है।

भवणावासादीणं गोउर पाया गणच्चणादिघरा।
भोम्मा हारुस्सासा साहिय पणदिए महुत्ताय ॥१६८६॥

वहुरि व्यंतरनि के आहार किछू अधिक एक हजार वर्ष पीछे होता है, कुछ अधिक पांच मुहूर्त भये जानना।

ज्योतिष्कों का आहार कुछ अधिक एक हजार वर्ष पीछे होता है। कुछ अधिक का परिमाण अंतर्मुहूर्त अधिक लेना चाहिये। जैसा मूलाचार में लिखा है—

उक्कस्सेणाहारो वाससहस्साहिएण भवणाणं।
जोदिसियाणं पुण भिण्णमुहुत्तेणेदि सेसउक्कस ॥१६८७॥

इसी प्रकार ज्योतिपियो का भिन्न मुहूर्त अधिक एक पक्ष के उच्छ्वास होता है, जैसे—

उक्कस्सेणुच्छासो पक्खेणादिएण होइ भवणाणं।
मुहुत्तपुत्तघेण तहा जोइसिणांगाण भोमाण ॥१६८८॥

प्रश्न :—दंडक में लिखा है कि तीसरे नरक से निकलकर कोई जीव तीर्थंकर भी होते हैं, सो यह वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर :—वलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती ये जीव नरक से निकलकर कभी नहीं होते। स्वर्गलोक से आने वाले जीवो को ही यह पद प्राप्त होता है। इसका भी कारण यह है कि यह पदवी विना संयम के प्राप्त नही होती तथा संयम सहित मरण करने वाला जीव नरक मे जाता नहीं। इसलिए इन पदवियों को पाने वाला स्वर्ग से ही आता है। सो ही मूलाचार मे लिखा है—

णिरएहिं णिग्गदाणं अणंतर भवेहि णियमा दु ।
बलदेव वासुदेव तणं च तह चक्कवट्टीणं ॥१६८९॥

यह नियम है कि नरक योनि से निकलकर बलभद्र वासुदेव और चक्रवर्ती की पदवी प्राप्त नही होती ।

सो ही सिद्धांतसार दीपिका में लिखा है—

निर्गत्य नरकाज्जीवा चक्रेश बल केशवाः ।
तच्छत्रवो न जायन्ते चयन्त्यंते यतो दिवात् ॥१६६०॥

त्रिलोकसार में भी लिखा है—

णिरयचरो णत्थि हरिबल चक्की ।

इस प्रकार लिखा है ।

प्रश्न :—यहां पर कदाचित कोई यह पूछे कि त्रेसठ शलाका पुरुष कहां से आकर उत्पन्न हो सकते हैं और कहाँ-कहाँ से आकर उत्पन्न नहीं होते, इस का खुलासा किस प्रकार है ?

उत्तर :—मनुष्य तथा तिर्यञ्चगति से आकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र नही होते । स्वर्ग व नरक इन दो गतियो से ही आकर उत्पन्न होते है, सो ही मूलाचार में लिखा—

माणुस तिरियाय तहा सलाग पुरिसा ण होंति खलु णियमा ।
तेसिं अण्णंतर भवे भयणिज्जं णिव्वुदीगमणं ॥१६६१॥

प्रश्न :—जो शलाका पुरुष देवगति से आकर होते हैं, वे किन किन देवों की जातियों से आकर होते हैं, और किन किन निकायों से नहीं होते ?

उत्तर :—भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी इन तीनो निकायो के देव तो आकर शलाका पुरुष होते नही तथा सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पच पचोत्तर के देव आकर तीर्थंकर आदि शलाका पुरुष हो सकते है, ऐसा नियम है । सो ही मूलाचार में लिखा है—

आजोदिसिचि देवा सलाग तुरिसा ण होंति ते णियमा ।
तेसिं अणंतर भवे भयाणिज्जं णिव्बुदी गमणं ॥१६६२॥

त्रिलोकसार में लिखा है—

णरतिरियगदो हिंतो भवणतियादो च णिग्गया जीवा ।
ण लहंते ते पदवि ते वाद्दिसलाग पुरिसाणं ।।१६६३।।

स्वर्गलोक में भी कल्पवासी तथा कल्पातीत देवों में भी कितने ही जीव आकर इन पदवियों को पाते है और बहुत से जीव नही पाते। उनका क्रम इस प्रकार है। अनुदिश वा अनुत्तर विमानवासी कल्पातीत देव वहां से आकर बलभद्र तीर्थ कर चक्रवर्ती पद पाते है, किन्तु वहां से देवो में से आकर वासुदेव नहीं होते। यह नियम है।

सो ही मूलाचार में लिखा है—

णिव्वुदिगमणे रामत्तणे य तित्थयर चक्कवट्टित्ते ।
अणुदिसणुत्तरवासी तदो चुदा होंति भयणिज्जा ।।१६६४।।

ऐसा शलाका पुरुषो के होने का नियम है।

प्रश्न :—कौन किस किस गति से आकर मनुष्य हो सकता है तथा किस किस गति से आकर नही हो सकता ?

उत्तर—अग्निकाय और वायुकाय इन दोनो के सूक्ष्म तथा स्थूल जीव आकर मनुष्य भव धारण नहीं करते, ऐसा नियम है बाकी, के समस्त गतियो के जीव आकर मनुष्य हो सकते है। सो ही मूलाचार मे लिखा है—

सव्वेपि तेउकाया सव्वे तह वाउकाइया जीवा ।
ण लहंति माणुसत्तं णियमादु अणंतर भवेहिं ।।१६६५।।

दण्डक भाषा मे भी लिखा है—

तेजकाय अरु वायुकाय । इन विन और सबै नर थाय ।

प्रश्न :—अन्यमत के तापसी परिव्राजक आदि तप करते हैं, वे मरकर ऊपर स्वर्ग में कहां तक जा सकते है ?

उत्तर—असख्यात वर्ष की आयु वाले जीव अर्थात् कुभोग भूमि के मनुष्य वा तिर्यञ्च मरने के बाद अपने मिथ्यात्व रूप भावो से भवनवासी व्यतर ज्योतिष्क इन तीनो ही जाति के देवो मे उत्पन्न होते है। वे आगे वैमानिक देवो मे उत्पन्न नही हो सकते। इसी प्रकार जो उत्कृष्ट भावो को धारण करने वाले हिंसा पूर्वक पचाग्नि आदि तप धारण करने वाले और कदमूल भक्षण करने वाले तपस्वी मरने के बाद अपने अज्ञान तप के फल से भवनवासी, व्यतर, ज्योतिष्क और कल्पवासी देवों तक

सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं, आगे कल्पातीत देवों में उत्पन्न नहीं होते, सो ही मूलाचार में लिखा है—

संखादी दाऊणं मणयतिरिक्खाण मिच्छभावेण।
उववादो जोदिसिए उक्कस्सं तावसाणं तु ॥१६६६॥

तथा अन्य मती परिव्राजक लोग अपने शुभ भावों से मरकर भवनवासियों से लेकर बारहवें सहस्त्रार स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं। आगे नहीं जा सकते। सो ही लिखा है—

परिवाजगाण णियमा उक्कस्सं होदि बंभलोगम्हि।
उक्कस्य सहस्सार ति होदि या आजीवगाण तहा ॥१६६७॥

भाषा में लिखा है।

प्रश्न :—सुना जाता है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव सब तीनों लोकों में सब जगह भरे हुए हैं, सो क्या यह बात ठीक है ?

उत्तर—यह बात ठीक नहीं है, इसमें इतना विशेष है कि पृथ्वीकायिक अपकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक तथा नित्यनिगोद इतर-निगोद के समस्त एकेंद्रिय जीव ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक समस्त तीनो लोको में भरे हुए हैं, तथा पंचेन्द्रिय जीव नारकी मनुष्य तिर्यञ्च आदि संज्ञी जीव तीनों लोको में रहने वाली त्रसनाडी में भरे हुए हैं और दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चौइन्द्रिय असज्ञी पशु और मनुष्य गति के पंचेन्द्रिय जीव मध्यलोक में ही उत्पन्न होते हैं। ये जीव दूसरी जगह उत्पन्न नही होते। नरक स्वर्ग तथा सिद्धस्थान मे ये जीव उत्पन्न नही होते, मध्यलोक में ही उत्पन्न होते हैं। सो ही मूलाचार में लिखा है—

एइंन्दियाय पंचेंदियाय उद्धमह तिरयलोएसु।
सयल विगलिंदिया पुण जीवातिरियं हि लोयं हि ॥१६६८॥

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी लिखा है—

वितिचक्खा जीवा हवंति णियमेण कम्मभूमीसु।
चरिमे दीवे अद्धे चरिमसमुद्दे सु सव्वेसु ॥१६६६॥

प्रश्न :—तीर्थंकर आदिक पदवीधर पुरुषों पर जो चमर ढुलाये जाते हैं, उनका प्रमाण क्या है ?

उत्तर—श्री तीर्थंकर केवली भगवान के तो सदा चौंसठ चमर ढुलते रहते

है। चक्रवर्ती के वत्तीस ढुलते है, नारायण के सोलह, महामंडलेश्वर के आठ, अधिराज के चार और महाराज के दो चमर ढुलते है। सो ही लिखा है—

तीर्थंकराणामिति चामराणि चत्वारि षष्ठ्यात्यधिकानि नित्यं ।
अर्द्धार्द्धमानानि भवन्ति तानि चक्रेश्वराद्यावदसौ सुराजा ॥२०००॥

प्रश्न :—स्वयंभूरमण द्वीप और समुद्र के पशु पक्षियों की आयु उत्कृष्ट है, परन्तु यहां के पशु पक्षियों की कितनी है ?

उत्तर—नेवला, चूहे, घूस, बाघ, चीते, कबूतर, कुत्ते और सुअर आदि पशुओ की आयु भगवान अरहत देव ने बारह वर्ष की बतलाई है तथा इसी प्रकार अन्य पशुओ की भी यथा योग्य हीन वा अधिक समझ लेनी चाहिये। सो ही त्रिलोक-प्रज्ञप्ति में लिखा है—

नकुलानां मूषकानां चूषकानां तथैव च ।
व्याघ्रचित्र कपोतानां मंडलाना जिनोदितम् ।
शुकराणां तथैवात्र संवत्सराणां द्विषट् मतम् ॥२००१॥

प्रश्न :—भारत में लिखा है—मद्य का पीना, मांस का खाना, रात्रि भोजन करना, कंदमूल खाना आदि क्या अन्य धर्मावलम्बियों के शास्त्रों में भी निषिद्ध है ?

उत्तर—भारत मे लिखा है—मद्य का पिना, मांस भक्षण करना, रात्रि मे अन्न पान लेह्य स्वाद्य आदि चारो प्रकार के आहार का भक्षण करना, कदमूल खाना महा पाप है। जो कोई पुरुष इसका सेवन करता है, उसकी तीर्थ यात्रा जप आदि सब व्यर्थ होता है, उनके यहां ६८ तीर्थ माने है, सो जो पुरुष मास, मद्य, रात्रि भोजन, कदमूल आदि का सेवन करते है, उनकी ६८ तीर्थो की यात्रा व्यर्थ होती है। राम, कृष्ण, परमेश्वर आदि का जप सब व्यर्थ होता है। गायत्री मत्र का जप भी सब व्यर्थ होता है। तथा चान्द्रायण व्रत तथा और भी व्रत, तथा पचाग्नि आदि अनेक प्रकार के कष्ट देने वाले तप सब व्यर्थ हो जाते है। सो ही भारत में लिखा है—

मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्दभक्षणम् ।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थयात्रा जपस्तपः ॥२००२॥

उसी मे आगे लिखा है कि मद्य-मास भक्षण करने वाले वा रात्रि-भोजन करने वालों के एकादशी व्रत का उपवास करना, नारायण के मन्दिर में जागरण

करना, पुष्कर की यात्रा करना और चान्द्रायण तप करना आदि सब व्यर्थ हो जाता है। जब तक वह मद्य-मासादिक का त्याग नही करता, तब तक उसको जप-तप, व्रत-उपवास आदि का कोई फल नहीं मिलता। मद्य-मांसादिक का त्याग करने से ही इनका फल मिल सकता है। सो ही भारत मे लिखा है—

वृथा एकादशी प्रोक्ता वृथा जागरणं हरेः।
तथा च पुष्करी यात्रा वृथा चन्द्रायणं तपः ॥२००३॥

मनुस्मृति में लिखा है—जो कोई जीवों की हिंसा करता है, उसके न तो ध्यान हो सकता है, न स्नान से शुद्धि हो सकती है, न वह दान दे सकता है; तथा न वह शुभ क्रियाएं कर सकता है। हिंसा करने वाले के इन सब बातो का अभाव हो जाता है। यदि वह इन क्रियाओ को कर भी डाले तो भी जीवघात करने से उसका सब किया हुआ निष्फल हो जाता है। सो ही मनुस्मृति में लिखा है—

न च ध्यानं न च स्नानं न दानं न च सत्क्रियाः।
सर्वे ते निष्फलं यान्ति जीव हिंसा करोति यः ॥२००४॥

भारत में लिखा है—जो प्राणी बकरा, हिरण, सांभर, गीदड़, सुअर आदि पशुओं का घात करता है, वह उस पाप के फल से उस पशु के शरीर मे जितने रोम हैं, उतने ही हजार वर्ष तक अग्नि मे पकाया जाता है, यथा—

यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भो नरः।
तावद्वर्ष सहस्त्राणि पच्यन्ते पशुघातकाः ॥२००५॥

भारत में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है कि विष्ठा के कीड़े को और स्वर्ग मे रहने वाले इन्द्र को दोनों को जीवित रहने की आकाक्षा एक सी है। दोनो के जीवित रहने को इच्छा मे कोई कमी नही है। इन्द्र महासुखी है, सो उसे तो जीवित रहने की इच्छा सदा लगी ही रहती है। परन्तु विष्ठा का कीड़ा भी मरना नही चाहता, दुःखी होने पर भी वही रहना चाहता है। इससे सिद्ध होता है कि उसको भी जीवित रहने की इच्छा लगी हुई है। इसी प्रकार मरने का भय दोनो को एक सा है। दोनो ही मरने से डरते है, मरने में सभी को समान दुःख होता है। इसलिए जिस प्रकार अपने प्राण मुझे प्यारे लगते है, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी अपने-अपने प्राण प्रिय लगते है। यही समझकर बुद्धिमान पुरुषो को घोर और भयकर ऐसा प्राणियो का वध कभी नही करना चाहिए। उपदेश बुद्धिमानों को ही दिया जाता है। मूर्ख और

अज्ञानी पुरुष तो किसी की मानता ही नही है, इसलिए उसको कहना ही व्यर्थ है। सो ही भारत मे लिखा है—

अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये।
समाना जीविताकांक्षा समं मृत्युभयं द्वयोः ॥२००६॥

यथा ममप्रियाः प्राणास्तथा चान्यस्य देहिनः।
इति मत्वा न कर्तव्यो घोर प्राणिवधो बुधैः ॥२००७॥

इसी प्रकार मार्कंडेय पुराण मे श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि हे अर्जुन! इस पृथिवी मे भी मैं हूँ। समस्त अग्नि, वायु, वनस्पति आदि मे भी मै हूँ और तीनो लोको मे समस्त प्राणियो मे भी मै हूँ। मैं सर्वगत वा सब जगह, सब पदार्थों मे, सब जीवो मे रहने वाला हूँ। इसलिये सब जीवो मे मुझे समझकर जो जीव की हिसा नही करते, उनकी मै रक्षा करता हूँ। जो जीवो की हिसा करते है, उनका क्षय होता है। यह मार्कंडेय पुराण मे लिखा है। यथा—

पृथिव्यामव्यहं पार्थ सर्वाग्नौ च जलेप्यहम्।
वनस्पति गतोप्यहं सर्वभूतगतोप्यहम् ॥२००८॥

यो मां सर्वएतं ज्ञात्वा न हिंसंति कदाचन।
तस्याहं न प्रणस्यामि स मे न प्रणस्यति ॥२००९॥

शिव धर्म मे लिखा है कि मांस में, मद्य मे, शहद मे और मक्खन मे उसी वर्ण के (माम, मक्खन वा शहद के रग के) असख्यात असख्यात जीव हर समय उत्पन्न होते रहते है। यथा—

मद्ये मांसे मधुनि च नवनीते बहिर्न ते।
उत्पद्यन्ते असंख्यातास्तद्वर्णास्तित्र जन्तवः ॥२०१०॥

इस प्रकार मास में महा दोष है। पहले तो यह जीवो की हिसा से उत्पन्न होता है। तथा फिर उसमे अनेक दोप है, यही समझकर धर्मात्मा पुरुष हिसा का और मास भक्षण का सर्वथा त्याग कर देते है।

जो जीव स्वयं मास नही खाते, परतु दूसरो को उपदेश देते है, यह राजाओ का धर्म है। शिकार खेलना राजाओ का धर्म है। उसके लिये मुहूर्त देते है सो हिसा करना वा उसके लिये उपदेश देना वा कारण सामग्री मिलाना सब एक है। जो लोग

इन निद्य कार्यो का उपदेश देते है, वे धर्म के नाश करने वाले पाप को बढ़ाने वाले, इंद्रियों के लपटी अधर्मी और महापतित है। ऐसा समझना चाहिये।

प्रश्नः—यदि मांस में ऐसा दोष है तो श्राद्ध में मांस खिलाने का विधान क्यों लिखा है। स्मृति शास्त्र में लिखा है "मछली का मांस खिलाने से पितर लोग दो महीने तक तृप्त रहते है। हिरण के मांस से तीन महीने तक रहते हैं। भेड के मांस से चार महीने तक तृप्त रहते हैं, पक्षियों के मांस से पांच महीने तक, बकरे के मांस से छह महीने तक, कबूतर के मांस से सात महीने तक, एण जाति के हिरण के मांस से आठ महीने तक, रोख नाम के हिरण से नौ महीने तक, सूअर तथा भैस के मांस से दश महीने तक, खरगोश और कच्छप के मांस से ग्यारह महीने तक और गाय के दूध की खीर खिलाने से बारह महीने तक पितर लोग तृप्त रहते है। सो ही लिखा है—

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रिमासा हारिणेन वै।
औरभ्रेण तु चत्वारः शाकुनेन तु पंच वै ॥२०११॥
षट्मासाः छागमांसेन पार्वतेन तु सप्त वै।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तत् ॥२०१२॥
दशमासास्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः।
शशकूर्मस्य मांसेन मासा एकादशैव च ॥२०१३॥
संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन वै।

इस प्रकार श्राद्ध में मांस का विधान लिखा है, सो क्यों लिखा है ?

उत्तर :—जो लोग इस प्रकार मास का विधान करते है, वे चाहे श्राद्ध करने वाले जैन गृहस्थ हो, चाहे श्राद्ध करने वाले आचार्य हो अथवा तृप्त होने वाले पितर हो; वे सब राक्षस वा भील समझने चाहिए। क्योकि मांस का विधान करना राक्षसो का काम है। दूसरी बात यह है कि यदि मास के विधान का ही दृढ विश्वास किया जायगा, तो श्राद्ध अधिकार में जो तिल, चावल, जल, शर्करा, घी, दूध, मधु, दही आदि का पिण्ड करना कैसे बतलाया ? देखो श्राद्ध कल्प मे कहा भी है—

तिलान्नं चैव पानीयं शर्कराज्यं पयस्तथा।
मधु दध्ना समायुक्तः अष्टांगः पिंड उच्यते ॥२०१४॥

इस प्रकार जो अष्टांग पिण्ड बतलाया है, वह सब व्यर्थ हो जायगा। आगे तुम्हारे यहा लिखा है—

विंध्यस्य चोत्तरे भागे मांस भक्षी न दोषभाक्।

अर्थात् विंध्याचल के उत्तर भाग मे मास भक्षण करने वाला दोषी नही गिना जाता। इस प्रकार कहकर बहुत से शक्ति के उपासक कान्यकुब्ज, सनोडिया, सर्वरिया पुरविया आदि ब्राह्मण मछली वकरा आदि का माँस भक्षण करते है। परन्तु उनका यह कहना और करना सब मिथ्या है। क्योकि मास कुछ पृथिवी जल से तो उत्पन्न होता ही नही है अथवा फलो के समान वृक्षो पर लगता नही है। वह जगम जीवो के घात करने से होता है। इस प्रकार जगम जीवो के घात करने से उत्पन्न हुए मास को भक्षण करने वाले लोगो के भला जीव दया किस प्रकार पल सकती है, क्योकि श्राद्धादिक मे मांस का काम पडता ही है। इसलिए कहना चाहिए कि इस प्रकार कहने वाले वा मानने वाले बड़े ही अधर्मी है।

आगे जो लोग यह कहते है कि क्षत्रियो के कुल में यह परम्परा से मास भक्षण वा शिकार खेलना चला आया है तथा उनमे से कितने ही इन्द्रियो के लंपटी, विषय कषायों को पुष्ट करने वाले, महाकामी, अधोगति के जाने वाले, भ्रष्ट, महापापी है, लोग शास्त्रो मे भी मांस भक्षण की पुष्टि करते है, धर्म मानकर हिंसा की वा मांस भक्षण की पुष्टि करते है, परन्तु ऐसे लोग महा-दुर्बुद्धि और महा-मिथ्यादृष्टि है। ऐसी वुद्धि वालो के उत्तम बुद्धि कभी नही हो सकती।

ऐसे लोग ऊपर लिखे शास्त्रो को कहकर अपने मिथ्याधर्म की पुष्टि करते है परन्तु पहली बात तो यह है कि श्राद्ध कर्म कुछ मोक्ष देने वाला नही है। यह तो स्वार्थी लोगो ने अपने स्वार्थ के लिए चलाया है। इसलिए वह कभी प्रमाण रूप नही हो सकता। कदाचित् यह कहा जाय कि हमारे वेद मे लिखा है सो भी ठीक नही है। क्योकि जो जीव हिसा का उपदेश दे, वह वेद कभी नही कहा जा सकता। उसे तो वेधक—जीवो का घात करने वाला कहना चाहिए। भला जो "यज्ञार्थं पशव सृष्टाः" अर्थात् पशुओ को यज्ञ मे होम के लिए ही उत्पन्न किया है, इस महा हिंसा की पुष्टि

करते है, वे महाहिंसक, महापाप रूप घातक शस्त्रों के समान समझे जाते है । इसलिए उनको वेध वा वेधक कहना चाहिए ।

यहां पर कदाचित् कोई वेद को मानने वाला यह कहे कि "यज्ञ मे पशुओं को होमना हमारे वेद में लिखा है । सो मंत्रो की आहूतियों से होमना बतलाया है । इसी प्रकार देवता को वलिदान देने के लिए होम के अन्त मे वध करना भी होम के लिए है । अथवा उस देवता के लिए है, इसलिए ऐसी हिंसा में हिंसा का पाप नही लगता है । ऐसे यज्ञों को जो करता है अथवा कराता है अथवा जो बकरा, भैंसा, घोड़ा, मनुष्य आदि जीव होमे जाते है, वे सब स्वर्ग में जाते हैं, इसलिए ही यज्ञ में जीव होमने का निषेध नही है, किन्तु कर्त्तव्य है ऐसा वेद कहता है, इस प्रकार वेद मानने वाले का कहना महा हिंसा के दोष को उत्पन्न करता है, क्योकि यदि वेद यह कहता है कि मन्त्रपूर्वक जीवों का होम करने से पाप नही लगता" तो वेद का यह कहना मुसलमानों के कहने के समान हुआ । क्योंकि मुसलमान भी यह कहते है कि हमारे कुराण की लिक्का जीव के ऊपर पडनी चाहिए और उसको शस्त्र से मारकर उसका मांस भक्षण करना चाहिए । इस प्रकार जीव मारने और उसका मांस भक्षण करने मे कोई दोप वा पाप नही है । लिक्का पढ लेने के वाद जो जीव मारा जाता है वह सीधा विहिश्त(स्वर्ग) मे जाता है । इस प्रकार वेद का कहना और मुसलमानो का कहना समान ही हुआ । वेद मानने वाले गाय को अच्छी मानते है और मुसलमान सुअर को अच्छी मानते है, बस इतना ही दोनों में अन्तर दिखाई पड़ता है । हिंसा करना दोनों का वराबर है । दोनों ही समान हिंसक है ।

यहां पर कदाचित् कोई यह कहे कि पहले लोग ऐसे समर्थ होते थे, वे जीवों को होम भी देते थे और फिर उनको मन्त्र पढकर जीवित भी कर देते थे । सो उनका कहना भी मिथ्या है । क्योंकि यदि वे इतने समर्थ थे तो फिर उन्होंने अपने कुटुम्ब को मरने से क्यों नही बचाया ? अपने सब कुटुम्ब को अमर क्यो नही बना दिया? परन्तु आज तक किसी ने अपने कुटुम्ब को अमर नही बनाया, इससे सिद्ध होता है कि उनका इस प्रकार कहना सब मिथ्या है । जो जीव यज्ञ में होमे जाते हैं, वे सव सीधे स्वर्ग चले जाते है, यदि यह बात सच है तो फिर उन लोगों ने अपने कुटुम्ब को ही यज्ञ मे क्यों नही दिया, जिससे उनका सव कुटुम्व स्वर्ग चला जाता परन्तु अपने कुटुम्ब

को कोई नही होमता। इससे मालूम होता है कि होम करना सब स्वार्थ और जिव्हालपटता के लिए है।

इसके सिवाय एक बात विचार करने की यह है कि यदि मासभक्षण योग्य होता तो भारत आदि तुम्हारे ही शास्त्रों मे मास को अत्यत निंद्य और त्याग करने योग्य क्यो बतलाया जाता है ? जैसा कि पहले भारत का प्रमाण देकर लिख चुके है। तथा यहा फिर भी प्रसग आ गया है इसलिये प्रसगानुसार कुछ और भी भी लिखते है। आपके धर्म शास्त्र मे लिखा है—

मांसाशिनो न पात्राः स्युर्न मांस दानमुत्तमम् ।
तत्पित्राणां कथं तृप्त्यै भुक्तं मांसाशिभिर्भवेत् ॥२०१५॥
पुत्रेणार्पित दानने पितरः स्वर्गमाप्नुयुः ।
तर्हि तत्कुलपापेन तेपि गच्छंति दुर्गतिम् ॥२०१६॥
किं जाप्य होम नियमैस्तीर्थं स्थानेन भारत ।
यदि मांसानि खादन्ति सर्वमेव निरर्थकम् ॥२०१७॥

जो मास भक्षी है, वे कभी पात्र हो नही सकते। कितने ही लोग कहते है कि हम ब्राह्मण है इसलिये दान के पात्र हो सकते है। इसी प्रकार मास का दान भी दान नही कहा जा सकता। ऐसी हालत मे उन पितरो की तृप्ति कैसे हो सकती है ? कदाचित् ब्राह्मणो को मास खिलाने से पितर लोग तृप्त हो जाय तो फिर यह भी मानना पडेगा कि वे पितर लोग भी मास भक्षी है। यदि अपने पुत्र के द्वारा दान देने से यदि पितर लोगो को स्वर्ग की प्राप्ति होता है तो फिर पुत्र ने जो मास दान के लिये जीवो का वध किया वा कराया, मास पिंड दिया तथा मास का भक्षण किया उसके पाप से पितरो को दुर्गति की भी प्राप्ति होनी चाहिये। हे भारत ! जो जीव मास भक्षण करते है, वे चाहे जितना राम कृष्ण आदि का नाम उच्चारण कर जप करे चाहे जितना होम कर, चाहे जितने नियम करे, चाहे जितनी तीर्थ यात्रा करे और चाहे जितने तीर्थ स्नान करे परन्तु उनका सब करना व्यर्थ है, मिथ्या है। इस प्रकार धर्म शास्त्र और पुराणो मे केवल मास भक्षण के ही अनेक दोष बतलाये है। भारत के शाति पर्व मे लिखा है—

न देयानि न ग्राह्याणि षड्वस्तूनि पंडितैः ।
अग्निर्मधु विषं शस्त्रं मद्यं मांसं तथैव च ॥२०१८॥

अर्थ—विचारशील पंडितों को अग्नि, शहद, विष, शस्त्र, मद्य और मांस ये छह वस्तुएँ न तो किसी को देनी चाहिये, न किसी से लेनी चाहिये। जब इन छहो पदार्थो का लेन देन भी निषिद्ध बतलाया है, तब फिर मास भक्षण करना वा कराना किस प्रकार संभव हो सकता है। फिर भी जो मानते है, सो सब मिथ्या है। इसके सिवाय भी भारत के शांति पर्व मे लिखा है—

एकतश्चतुरो वेदा ब्रह्मचर्यं च एकतः।
एकतः सर्वपापानि मद्यमांसं च एकतः॥२०१९॥

न गंगा न च केदारं न प्रयागं न पुरस्करम्।
न च ज्ञानं न च ध्यानं न तपो जपभक्तयः॥२०२०॥

न दानं न च होमश्च न पूजा न गुरौ नुतिम्
तस्यैव निष्फलं यान्ति यस्तु मांसं प्रखादत्ति॥२०२१॥

तिलसर्षपमात्रं च यो मांसं भक्षयेवरः।
स याति नरकं घोरं यावच्चन्द्र दिवाकरौ॥२०२२॥

जिस प्रकार एक ओर चारों वेद है और एक ओर ब्रह्मचर्य है, उसी प्रकार एक और संसार भर के समस्त पाप है और एक ओर मद्य मास का सेवन है।

भावार्थ—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चार वेद है। सो चोरो ही वेद तो एक ओर है और स्त्री मात्र का त्याग करने रूप ब्रह्मचर्य एक ओर है, इनमे मे चारों वेदो से शील व्रत की महिमा अधिक है, जिस प्रकार चारों वेदो से ब्रह्मचर्य की महिमा अधिक है उसी प्रकार ससार भर के समस्त पापो से मद्य मास सेवन का पाप अधिक है। इससे सिद्ध होता है कि मद्य मास सेवन करने से सबसे अधिक पाप होता है।

इसी प्रकार जो मांस भक्षण करते है, उनके न तो गंगा है, न केदार है, न प्रयाग है, न पुष्कर है, न ज्ञान है, न ध्यान है, न जय है, न तप है, न भक्ति है, न दान है, न होम है, न ज्ञान है, न वदना है। अर्थात् मास भक्षण करने वाले की सब क्रियाये व्यर्थ है, उसके किये हुये समस्त पुण्यकार्य भी व्यर्थ हो जाते हैं—निष्फल हो जाते है। इस प्रकार महादोष से भरे हुये मास को जो तिल वा सरसो मात्र भी खाता है। वह जब तक आकाश मे सूर्य चन्द्रमा रहेगे तब तक घोर नरक मे सडता रहेगा, इस प्रकार

मास खाने का फल महा निंद्य और नीच बतलाया है ।

भारत मे लिखा है–श्री कृष्ण पाडवो से कहते है—

स्नानोपभोग रहितः पूजालंकार वर्जितः ।

मधु मास तिवृत्तश्च गुणवान् तिथिर्भवेत् ।।२०२३।।

अर्थ—जिसने शहद और मास का त्याग कर दिया है, वह चाहे स्नान उपभोग रहित हो और चाहे तिलक आदि पूजा से अलकारो से रहित हो तो भी वह गुणवान् अतिथि माना जाता है । बहुत से लोग स्नान, आचमन, सध्या, तर्पण, तिलक कठी आदि का अभिमान करते है परन्तु उन्हे सोचना चाहिये कि सबसे मुख्य शहद और मास का त्याग है । जिसने शहद और मास का त्याग नही किया है, उसके स्नान आचमन आदि का कोई मूल्य नही है । मांस शहद का त्याग किये बिना केवल स्नानादिक करने मे कोई गुण नही है । शहद और मास का त्याग करना सबसे श्रेष्ठ है । शक्ति के उपासकों को वा अन्य शहद मास खाने वालो को यह उपदेश बहुत अच्छी तरह समझ लेना चाहिये ।

कितने ही भेषमात्र को धारण करने वाले वैरागी शहद और मांस का भक्षण करते है और शहद मास को खाते हुये भी अपने मे ब्राह्मणपना मानते है सो भी मिथ्या है । क्योकि शहद और मास का खाना ब्राह्मण का लक्षण नही है । किंतु चाडाल का लक्षण है । सो ही महाभारत के शांति पर्व में लिखा है—

मद्य मांस मधु त्यागी पंचोदुम्बरदूरगः ।

निशाहार परित्यक्तः एतद्ब्राह्मण लक्षणम् ।।२०२४।।

सत्यं नास्ति तपो नास्ति चेंद्रियनिग्रहः ।

सर्वभूतदया नास्ति एतच्चांडाल लक्षणम् ।।२०२५।।

अर्थ— जिसके मद्य, मांस और शहद के भक्षण करने का त्याग हो, बड फल, पिपल फल, गूलर, पाकर, अजीर इन पाचों उदुम्बर फलो का त्याग हो और जिसके रात्रि मे भोजन करने का त्याग हो, वही ब्राह्मण है । ब्राह्मण के ये ही लक्षण है, इन लक्षणो के बिना केवल अपने आप ब्राह्मण बनने वाले कभी ब्राह्मण नहीं हो सकते । जिसमे ऊपर लिखे ब्राह्मण के लक्षण हो और जो सम्यग्दर्शन से सुशोभित हो वही ब्राह्मण मानने योग्य समझा जाता है । जिसके मद्य मासादिक का त्याग न हो, न सत्य भाषण करता हो, न तपश्चरण करता हो, न इन्द्रियो का निग्रह करता हो और जो

समस्त प्राणियों की दया भी पालन न करता हो वह ब्राह्मण नही किंतु चांडाल कहा जाता है। क्योंकि ये चांडाल के लक्षण है। मद्य मांसादि का सेवन करने वाला की ब्राह्मण नहीं हो सकता।

यदि यह बात है तो धर्म की उत्पत्ति किस प्रकार है? ऐसा प्रश्न अर्जुन ने श्री कृष्ण से पूछा है। सो ही भारत के शांति पर्व में लिखा है—

कथमुत्पद्यते धर्मः कथं धर्म विवर्द्धते।
कथं च स्थाप्यते धर्मो: कथं धर्मो विनश्यति ।।२०२६।।

अर्थ—अर्जुन पूछते है कि हे भगवन ! धर्म किस प्रकार उत्पन्न होता है किन-किन कारणों से बढ़ता है, किस प्रकार ठहरता है और किस प्रकार नाश को प्राप्त होता है, इनका उत्तर जो श्री कृष्ण ने दिया है वह इस प्रकार है। जैसा कि भारत में लिखा है—

सत्येनोत्पद्यते धर्मो दयादानेन वर्द्धते।
क्षमया स्थाप्यते धर्मो क्रोध लोभाद्विनश्यति ।।२०२७।।

अर्थ—सत्य व्रत से धर्म उत्पन्न होता, दया पालन करने और दान देने से बढता है, समस्त जीवों पर क्षमा भाव धारण करने से धर्म की स्थिरता रहती है तथा क्रोध और लोभ से धर्म का नाश होता है।

इसके आगे फिर श्रीकृष्ण युधिष्ठिर से कह रहे है, जैसा कि भारत मे लिखा है—

तस्य व्यर्थाणिकर्माणि सर्वे यज्ञाश्च भारत।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च यः कुर्यात्प्राणिनां वधः ।।

अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम्।
एतेषु पंच सूक्तेषु सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः ।।२०२८।।

अहिंसा लक्षणो धर्मः अधर्मः प्राणिनां वध'।
तस्माद्धर्मार्थिना लोके कर्त्तव्या प्राणिनां दया ।।२०२९।।

ध्रुवं प्राणिवधे यज्ञो नास्ति यज्ञ हिंसकः।
सर्वसत्त्वेएवहिंसैव सदा यज्ञो युधिष्ठिर ।।२०३०।।

अर्थ—जो प्राणियो का वध करता है, उसकी सब क्रिमाएँ, सब यज्ञ और सब तीर्थो पर किये हुए अभिषेक व्यर्थ है। क्योंकि हिंसा असत्य परिग्रह का त्याग और मैथुन करने का त्याग वा ब्रह्मचर्य का पालन करना इन पाचों मे ही सब धर्मो का समावेश हो जाता है। इस ससार मे अहिंसा वा किसी प्रकार की हिंसा न करना ही धर्म है और प्राणियो का वध करना ही अधर्म है, इसलिये धर्मात्मा लोगो को समस्त प्राणियो पर दया अवश्य पालन करनी चाहिये। जो यज्ञ प्राणियो का वध करने से होता है, वह कभी यज्ञ नही कहा जा सकता। क्योकि प्राणियो का वध करने वाला हिसक समझा जाता है। और हे युधिष्ठिर! यज्ञ वही कहलाता है, जिसमे समस्त प्राणियो पर दया पालन की जाय, किसी भी प्राणी की हिंसा न की जाय। इसी भारत के शाति पर्व मे लिखा है—

इन्द्रियाणि पशून् कृत्वा वेदीं कृत्वा तपोयीम्।
अहिंसामाहुतिं कुर्याच्चिवात्मयज्ञं यजामहे ॥२०३१॥

अर्थ :—पांचो इन्द्रियां ही होम करने की सामग्री बनाना चाहिये, तपश्चरण को वेदी बनाना चाहिये और अहिसा की आहूति देनी चाहिये। इस प्रकार आत्मयज्ञ सदा करते रहना चाहिये।

इस ससार मे देखो बलिदान लेने वाले देवता भी कैसे निर्दयी है, जो हाथी, घोडे, सिह आदि का बलि तो नही लेते, किन्तु केवल बकरे का होम बतलाते है। सो ठीक ही है। दैव भी दुर्बलो का ही घात करता है, सो ही लिखा है—

अश्वं नैव गजं नैव सिंहो नैव च नैवच।
अजापुत्रं बलिं दद्यात् देवो दुर्बल घातकः ॥२०३२॥

जो देवता बलिदान चाहते हैं, वे देवता भी निर्दयी समझना चाहिये और उनका कर्ता भी महापापी समझना चाहिये। लिखा भी है—

यज्ञं कृत्वा पशून हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येष गम्यते स्वर्गे—नरके केन गम्यते ॥२०३३॥

अर्थात्—यज्ञ करने वाले यज्ञ में अनेक पशुओ को मारकर और रुधिर की कीचड भरकर यदि स्वर्ग चले जाते है, तो फिर नरक मे किन-किन कामो के करने से जायेंगे?

भावार्थ :—ये सब काम तो नरक में जाने के कारण हैं, यदि इनको स्वर्ग का कारण मान लिया जायगा तो फिर नरक का कारण संसार में कुछ मिलेगा ही नहीं अथवा अहिंसा सत्य आदि को नरक का कारण मानना पड़ेगा, परन्तु ऐसा हो नहीं सकता; इसलिए यज्ञादिक की कल्पना सब व्यर्थ है। भारत के शांति पर्व में कृष्ण अर्जुन के संवाद के समय लिखा है कि लोभी, मायाचारी, कपटी और इन्द्रियों के विषय भोगों के लोलुपी मनुष्यों ने केवल अपने स्वार्थ के लिए जीवों की हिंसा में धर्म माना है, सो उनकी यह वितरीतता है। सो ही लिखा है—

लोभ मायाभि भूतानां नराणां भोगकांक्षिणाम्।
एषां प्राणिवधे धर्मो विपरीतता भवन्ति ते ॥२०३४॥

भारत में दया और हिंसा का स्वरूप दिखलाते हुए लिखा है—

अहिंसा सर्वभूतानां सर्वज्ञैः प्रतिभासिता।
इदं हि मूलं धर्मस्य शेषं तस्यैव विस्तरः ॥२०३५॥
उद्यन्तं शस्त्रमालोक्य विषादमयविन्हलाः।
जीवाः कम्पति संत्रस्ताः नास्ति मृत्युसमं भयम् ॥२०३६॥

अर्थः—समस्त जीवों की दया पालना, सबकी रक्षा करना अहिंसा है। यही सब धर्मो का मूल है। बाकी सब इसी का विस्तार है।

भावार्थ—जिस प्रकार वृक्ष के टिकने का मुख्य कारण जड़ है। जड़ होने पर उसकी शाखायें प्रतिशाखाये होती है और शाखायें आदि होने पर उन पर फल लगते हैं। उसी प्रकार धर्म रूपी वृक्ष की जड़ वा मूल दया है। दया के सहारे ही यह धर्म रूपी वृक्ष टिका है। बाकी सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य आदि सब इसी दया रूप मूल की शाखायें हैं तथा त्याग, व्रत, जप, तप, संयम, उपवास, तीर्थ यात्रा दान आदि भी सब इस दया धर्म की शाखायें है। इस प्रकार यह दया धर्म सर्वोत्तम धर्म है। ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है। हिंसा इससे विपरीत है। देखो जिस समय चंड कर्मो को करने वाला, दुष्टबुद्धि को धारण करने वाला, हिंसा के भाव रूप रौद्र परिणामों से अत्यन्त भयानक, महापतित अधम नीच भ्रष्टाचारी कोई घातक वा शिकारी पुरुष पशु-पक्षियों को देखकर उनके मारने के लिए उन पर शस्त्र उठाता है उस समय उस चमचमाते हुए शस्त्र को देखकर अपने मरने के भय से वह पशु वा पक्षी अत्यन्त विषाद को प्राप्त होता है, अत्यन्त विह्वल हो जाता है, घबडा जाता है, उसका शरीर कंपने लगता

है तथा वह बहुत ही भयभीत हो जाता है। सो ठीक ही है, क्योकि इस ससार में मृत्यु के समान और कोई भय नही है। ऐसी हिसा को न जाने लोग किस प्रकार करते है। भारत मे लिखा है—

कंटकेनापि विद्धस्य महती वेदना भवेत्।
चक्रकुंतासिशक्त्याद्यैं छिद्यमानस्य किं पुनः ।।२०३७।।

अर्थ :—यदि अपने पैर आदि शरीर मे कही काटा भी लग जाय तो उससे वड़ी भारी वेदना वा दुःख होता है फिर भला अन्य जीवो पर चक्र, भाला, बरछा, तलवार, शक्ति तीर, गोली आदि अनेक प्रकार के शस्त्रो के प्रहार करने पर छिदते वा मरते हुए उन जीवो को कितना दुःख होता होगा। अपने शरीर मे काटे का भी महादुःख होता है और उस काटे से बचने के लिए जूता पहनते है वा और अनेक उपाय करते है परन्तु वे ही लोग अन्य जीवो पर शस्त्रो का प्रहार करते हुए उनके शरीर मे अनेक घाव करते हुए उनको मार डालते हैं यह कितना बडा अन्याय है। ऐसे लोग शिकारी व व्याध कहे जाते है। उनके वस्त्र भेष आदि भी महा विकराल और पाप रूप दिखाई पडते है।

भारत मे लिखा है—श्रीकृष्ण युधिष्ठिर से कहते है कि—

यो दद्यात्कांचनं मेरुं कृत्स्नां चापि वसुन्धराम्।
एकोऽपि जीवितं दद्यात् न च तुल्यं युधिष्ठिर ।।२०३८।।

अर्थ :—श्रीकृष्ण कहते है कि हे युधिष्ठिर! किसी पुरुष ने मेरु पर्वत के समान सुवर्ण दान दिया तथा समस्त द्वीपो की समस्त पृथ्वी दान दे दी। किसी दूसरे मनुष्य ने किसी एक जीव को अभयदान दिया अर्थात् उसे मरने से बचाया, उसे जीवनदान दिया, तो उस सुवर्णदान वा पृथ्वी दान देने वाले का पुण्य जीवदान देने वाले के पुण्य के समान नही होता।

भावार्थ—उस सुवर्णदान वा समस्त पृथ्वीदान से भी एक जीव के अभयदान का पुण्य बहुत अधिक है। ससार मे अभयदान के समान और कोई पुण्य नही है अथवा कोई दान नही है। जो लोग अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए जीवहिसा की पुष्टि करते है, वे अत्यन्त दुष्ट और नीच है। भारत मे लिखा है—

यो यत्र जायते जन्तुः स तत्र रमते चिरम्।
ततः सर्वेषु भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।।२०३९।।

अर्थात्—यह जीव जहां जन्म लेता है, वहीं रम जाता है, क्रीडा करने लगता है, वही सुख मानता है और वहां ही बहुत दिन तक रहकर जीना चाहता है। इसीलिये सज्जन पुरुष वा उत्तम मनुष्य समस्त प्राणियों पर दया पालन करते हैं। भारत में लिखा है—

यस्य चित्तं द्रवी भूतं कृपया सर्वजन्तुषु।
तस्य ज्ञानं च मोक्षं च किं जटा भस्म चाम्बरैः ॥२०४०॥

जिसका हृदय समस्त प्राणियों में होने वाली दया के द्वारा द्रवीभूत है, कोमल है, उसी को ज्ञान की प्राप्ति होती है और उसी को मोक्ष की प्राप्ति होती है। ज्ञान और मोक्ष के लिये जटाओं का बढ़ाना, शरीर मे भस्म लगाना तथा गेरु आदि के रंगे हुए वस्त्रो को धारण करना सब व्यर्थ है। बिना दया के केवल भेष धारण, करना स्वांग है, उस भेष से मोक्ष नही मिल सकता। वह भेष केवल लोभ के लिए है।

यदि जीवों के वध करने में, जीवो की हिंसा करने में धर्म है और जीवो का घात करने वाले वा मांस भक्षण करने वाले पुरुष स्वर्ग में जाते हैं, तो फिर संसार का त्याग करने वाले व्रती, संयमी, तपस्वी वा अनेक यम नियमो को धारण करने वाले पुरुषों को स्वर्ग लोक की प्राप्ति कभी नही होनी चाहिये। ऐसे तपस्वियों को फिर नरक की प्राप्ति होनी चाहिये परन्तु ऐसा होता नही है। भागवत मे लिखा है—

यदि प्राणिवधे धर्मः स्वर्गश्च खलु जायते।
संसार मोचकानां तु कुतः स्वर्गोभिधीयते ॥२०४१॥

इससे सिद्ध होता है कि जीवों की हिंसा करने वाले मांस भक्षण करने वाले वा और भी सप्त व्यसनों का सेवन करने वाले जीव ही नरक में जाते है। लिखा भी है—

द्यूतं च मासं च सुरां च वेश्यां पापर्द्धिचोरीपरदार सेवाम्।
सेवन्ति सप्तव्यसनानि लोकाः घोरातिघोरे नरके प्रयान्ति ॥२०४२॥

अर्थ—जूआ खेलना, मांस भक्षण करना, मद्य पान करना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना ये सात व्यसन कहलाते है। जो पुरुष इन सातों व्यसनों का वा इनमें से किसी भी व्यसन का सेवन करते है, वे घोर से भी महाघोर नरक मे जाते है। इन व्यसनो के सेवन करने का ऐसे ही नरक में जाना ही फल है।

कोई कोई कहते है कि हम तो तीर्थो पर स्नान करके अथवा और कोई पुण्य कार्य करके इन व्यसनो से उत्पन्न हुए पापो को धो डालते हैं, सो उनका यह कहना भी ठीक नही है; क्योंकि इसका उत्तर पहले अनेक श्लोको का प्रमाण देकर अच्छी तरह बतला चुके है। प्रसंगानुसार थोड़ा सा यहां भी लिखते है। भारत मे लिखा है—

मृदो भार सहस्त्रेण जलकुम्भ शतेन च।
न शुद्धयन्ति दुराचाराः तीर्थस्नान शतैरपि ॥२०४३॥
काम रागमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः।
न ते जलेन शुद्धयन्ति स्नान तीर्थ शतैरपि ॥२०४४॥

अर्थः—जो पुरुष दुराचारी हैं, वह अपनी शुद्धता के लिए यदि हजार भार प्रमाण मिट्टी अपने हाथ-पैर आदि सारे शरीर पे लगावे और फिर गगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों के पवित्र जल के सैकड़ो घडे भरकर स्नान करे, तो भी वह शुद्ध नहीं होता। दुराचारी सैकड़ों तीर्थ स्नानो से भी शुद्ध नही हो सकते। इसी प्रकार जो लोग काम के राग से मदोन्मत्त हो रहे है और जो सदा स्त्रियो के वशीभूत रहते हैं, वे पुरुष न तो जल से ही शुद्ध होते हैं और न सैकड़ों तीर्थ स्नानो से शुद्ध होते है। दुराचारी लोगों को ऐसा ही महापाप लगता है, जो तीर्थो के स्नान से भी नही छूट सकता। फिर भला वह पाप दूसरी जगह कहां छूट सकता है ? अर्थात् वह पाप कही नही छूट सकता।

शारंगधर सहिता में लिखा है—

कर्षाभ्यामर्द्ध पलं ज्ञेयं सुक्तिरष्टमिका तथा।
सूक्तिभ्यां च पलं ज्ञेयं मुष्टिराम्रं चतुर्थिका ॥२०४५॥

दश मासे का एक कर्ष होता है। लिखा भी है—"कर्षस्तु दशमासकः", दो कर्ष का एक पैसा होता है। दो पैसे का एक टका होता है। यहां टका कहने से टका भर तौल समझना चाहिये। इस प्रकार चालीस मासे का एक टका भर तौल समझना चाहिये। आगे उसी शारगधर में लिखा है—

पलानां द्विसहस्त्रं तु भारः एकः प्रकीर्तितः।

अर्थात्—दो हजार पलों का एक भार होता है। इस प्रकार के एक हजार भार मिट्टी से तथा गगा आदि तीर्थो के सैकडो घडे जल से भी मासाहारी कभी शुद्ध नही हो सकता। यही बात पहले पर्व में लिखी है—

चित्तं रागादिसंक्लिष्टमलीक वचनं मुखम् ।
जीवं हिंसाभिः कायोयं गंगा तस्य परान्मुखी ॥२०४६॥

अर्थ :—जिसका चित्त राग, द्वेष, मोह, मद, काम आदि से मलीन है, मुख मिथ्या वचनों से झूठ बोलने से मलीन है और जीवो की हिंसा करने से जिसका शरीर मलीन है। उसके लिए गंगा भी प्रतिकूल हो जाती है। गंगा ऐसे पुरुषों के सन्मुख कभी नही हो सकती। ऐसे पापियों को नही मिल सकती अर्थात् ऐसे पापियों के पाप तीर्थों में भी कट नही सकते।

कोई-कोई तीर्थों में स्नान करने मात्र से ही समस्त पापो का छूट जाना मानते है तथा शुभ गतियों का होना मानते है, सो भी ठीक नहीं है। क्योकि यदि तीर्थो में स्नान करने मात्र से जीव तिर जाय, पापों से छूट जाए, तो फिर गंगा आदि तीर्थों के जल में रहने वाले मछली, मेढक, मगरमच्छ, कछुवा आदि जलचर जीव सब ही मुक्त हो जाना चाहिये। सब ही के पाप छूट जाना चाहिये। परन्तु ऐसा होता नही है। लिखा भी है—

यद्यंबुस्नानतो देही कृतपापाद्विमुच्यते ।
मुक्तिं यांति सदा सर्वे जीवास्तोयसमुद्भवाः ॥२०४७॥

वेद व्यास ने अठारह पुराण बनाये है। परन्तु उन सबका सार केवल दो वचनों में लिखा है। जीवों को अभयदान देने से तथा अन्य प्रकार से पर जीवो का उपकार करने से पुण्य होता है तथा अन्य जीवों को पीड़ा देने से पाप होता है। बस सब पुराणों मे ये ही दो वचन सार है और बाकी सब निःसार है। सो ही लिखा है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥२०४८॥

इस प्रकार और भी अनेक पुराणों में जीवों की हिंसा करने में और मांस भक्षण करने में अनेक दोष बतलाये है। तथा स्थान-स्थान पर इनके त्याग करने का उपदेश दिया है। इसलिए सत्पुरुषो को इन दोनो का त्याग कर देना ही उचित है। जो निर्दयी, शूद्रों के समान विषयों के लपटी, महापापो के द्वारा अधोगति को जाने वाले धर्मो का नाश करने वाले और पापो को बढाने वाले लोग अनेक प्रकार की बातें बनाकर जीव हिंसा करने मांस भक्षण करने, मद्य पान करने, शहद खाने तथा

और भी महापापों का आचरण करने में आनन्द मानते है और धर्म की हंसी करते हैं, वे महा अशुभ कर्मो का बंध कर नरकादि कुगतियो मे चिरकाल तक परिभ्रमण करते रहते है।

प्रश्न :—मुनिराज पींछी रखते है सो उसमें ऐसा कौन सा गुण है, जो वे सामयिक, वंदना देव दर्शन करने में चलते बैठते सब कामों में उसको अपने पास रखते हैं। तथा उसके वियोग में प्रायश्चित लेते है, सो क्या बात है ?

उत्तर :—पीछी में पाच गुण होने चाहिए। जो धूल और पसीने को दूर करे, जो कोमल हो, जो चिकनी हो और जो छोटी वा हल्की हो। ये पाच गुण पीछी में होने चाहिये। ऐसी पीछी से जीवों को अभयदान मिलता है। यह उसमें सबसे उत्तम गुण है। ऐसा भगवान अरहत देव ने कहा है। यदि पीछी न हो तो साधु जनो की ईर्या समिति का नाश हो जाता है। तथा स्थूल सूक्ष्म आदि अनेक जीवो का घात होता है। जिससे उन मुनियो का मुनि पद ही भ्रष्ट हो जाता है। इसीलिए पीछी के वियोग मे मुनिराज प्रायश्चित लेते है, सो ही सकलकीर्ति धर्मप्रश्नोत्तर मे लिखा है—

अथ पिच्छिका गुणाः रजः स्वेदाग्रहणद्वयम्।
मार्दवं सुकुमालत्वं लघुत्वं सद्गुणा इमे ॥२०४९॥
पंच ज्ञेयास्तथा ज्ञेया निर्भयादि गुणोत्तमाः।
मयूरपिच्छ जातायाः पिच्छिकाया जिनोदिताः ॥२०५०॥
समितिस्तां विना नश्येत्साधूनां कार्य साधने।
स्थूल सूक्ष्मादि हिंसाद्या व्यर्थ जन्मदीक्षणम् ॥२०५१॥

इस पचमकाल के दोष से कितने ही ऐसे मुनि बन गये है, जो पीछी नही रखते और अपने को मुनि मानते हैं, परन्तु वास्तव मे वे मुनि नही है। शास्त्रो मे उनको जैनाभासी (जैनी तो नही है, परन्तु जैनियो के समान दिखाई पड़ते है) वतलाया है। सो ही नीतिसार मे लिखा है—

कियत्यापि गते काले तत. श्वेताम्बरोऽभवत्।
द्राविडो यापनीयश्च केकीसंघश्च मानसः ॥२०५२॥

केकिपिच्छः श्वेतवासो द्राविडो यापनीयकः ।
निःपिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥२०५३॥
स्वस्वमत्यनुसारेण सिद्धान्त व्यभिचारिणः ।

प्रश्न :—भगवान तीर्थंकर के जन्माभिषेक के समय अपने-अपने इन्द्रों सहित चारों निकायों के देव आते हैं। उस समय इन्द्र की सवारी के आगे इन्द्र को सात प्रकार की सेना चलती है। वह सातों प्रकार की सेना गुणानुवाद करती चलती है। सो वह सेना तीर्थंकर भगवान के ही गुण गाती है या और भी किसी के गुण गाती है ?

उत्तर :—सातों ही प्रकार की सेना नृत्य करती हुई चलती है। उनमे से प्रथम सेना के देव, विद्याधर कामदेव और राजाधिराजो के चरित्र और गुण गाते हुए गमन करते है। दूसरी सेना के देव अर्द्ध मडलीक सकल मडलीक और महा-मंडलीक राजाओं के चरित्र और गुण गाते हुए तथा नृत्य करते हुए गमन करते है। तीसरी सेना के देव बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायणो के बल वीर्य गुण आदि का वा उनके जीवन चरित्र का वर्णन करते हुए तथा नृत्य करते हुए गमन करते है। चौथी सेना के देव चक्रवर्ती की विभूति तथा बल वीर्य आदि का गुण वर्णन करते हुए चलते है। पाचवी सेना के देव लोकपाल जाति के देवो का गुणानुवाद तथा उसी भव से मोक्ष जाने वाले चरमशरीरी मुनियो का गुणानुवाद करते हुए चलते है। छठी सेना के देव गणधर देव तथा ऋद्धिधारी मुनियो के गुण और यश का वर्णन करते हुए चलते हैं। सातवी सेना के देव श्री तीर्थंकर के छियालीस गुणो का वा उनके जीवन चरित्र का वर्णन करते हुए, गाते, नृत्य करते हुए गमन करते है। सो ही सिद्धान्त सार दीपक में लिखा है—

प्रथमे नर्तकीनी के विद्याधर कामदेव राजाधिराजना चरित्रेण नटन्तोऽमराः गच्छन्ति। द्वितीये सकलार्द्ध महामडलीकाना वरचरित्रेण नर्तन कुर्वन्तः सुराश्च। तृतीये बलभद्र वासुदेव प्रतिवासुदेवानां वीर्यादिगुण निबद्ध चरित्रेण नृत्यतो देवाः गच्छति। चतुर्थे चक्रवर्तिना विभूति वीर्यादिगुण निबद्ध चरित्रेण महन्नर्तन भजन्तो-ऽमराश्च। पचमे चमरांगय तिलोकपाल सुरेन्द्राणां गुणरचित चरित्रेण नटन्तो निर्जराश्च। षष्ठे गणधर देवाना ऋद्धि ज्ञानादि गुणोत्पन्न वरचरित्रेण पर नृत्य

कुर्वाणः सुराः यान्ति । सप्तमे नर्तकानी के तीर्थकराणां चतुस्त्रिंशदतिशयाष्ट प्रातिहार्यानन्त ज्ञानादि गुण रचित चरित्रेण तद्गुणरागरसोत्कटाः नाकिन प्रवर नर्तनं प्रकुर्वन्तो गच्छन्ति ।

प्रश्न :—वे देव किस स्वर से गाते है ?

उत्तर .—खड्ग, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद ये सात स्वर है। इनमें से एक-एक सेना, एक-एक स्वर से गाती है तथा अनुक्रम से गाती है। सो ही सिद्धान्तसार दीपक में लिखा है—

आद्यनी के खड्ग स्वरेण जिनेन्द्र गुणान् गायन्तः, द्वितीये ऋषभस्वरेण च गान कुर्वन्तः, तृतीये गांधार नादेन गायन्तो गधर्वा गच्छति ।

चतुर्थे मध्यमध्वनिना जन्माभिषेक संवन्धि गीतान् गायन्तः, पचमे पचम-स्वरेण गान कुर्वाण., षष्ठे धैवतध्वनिना च गायन्त, सप्तमे निपाद घोषणकल गीतगान कुर्वन्तो गधर्वा व्रजन्ति ।

प्रश्न :—सातो ही नरको में कोई महापापी जीव अलग-अलग नरको में उत्कृष्टता कर कितनी-कितनी बार जन्म धारण करता है ?

उत्तर :—पहले घम्मा नाम के नरक मे उत्कृष्टताकर असज्ञी जीव जाता है। सो वह अधिक से अधिक आठ बार जाकर जन्म लेता है। दूसरे वशा नाम के नरक मे सरीसृत अर्थात् सर्प (फणा रहित जाति का जोडी डू जाति का सर्प) को आदि लेकर महापाप के उदय से अधिक से अधिक सात बार जन्म धारण करते है। तीसरे मेघा नाम के नरक मे दुष्ट पक्षी आदि जीव उत्कृष्ट पाप के उदय से छह बार जाकर जन्म लेते है। चौथे अजना नाम के नरक में सर्पादिक तिर्यञ्च महापाप के उदय से पाच बार जन्म लेते है। पाचवे अरिष्टा नाम के नरक मे सिहादिक जीव अधिक से अधिक चार वार जन्म लेते है। छठवे मघवी नाम के नरक मे मनुष्यणी (स्त्री) अधिक से अधिक तीन वार जन्म लेती है। सातवे माघवी नाम के नरक मे मनुष्यादिक जीव अधिक से अधिक दो बार जन्म लेते है।

इस प्रकार ये जीव मिथ्यात्वादिक महापाप कर्मो से तथा हिंसादिक पापो से से उत्पन्न हुए कर्मो के उदय से नरको मे उत्कृष्ट जन्मो को धारण करते है। तथा वहां पर सागरो पर्यंत की आयु तक छेदन, भेदन, शूलारोपण, ताडन पीडन, आदि के महादु:ख भोगते है। उन दु.खो को भगवान सर्वज्ञ देव ही जानते है। इसलिये भव्य

जीवों को मिथ्यात्वादिक महापापो का त्याग कर देना चाहिये। सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिये तथा अपने आत्मा का कल्याण करने के लिये अहिंसा आदि व्रतों को धारण करना चाहिये।

प्रश्न :—यहां पर नरकों में जाने की जो संख्या लिखी है, सो जीव नरकों से निकलकर अन्य जन्मों को धारण करते हैं, फिर नरकमें जाता है। सो नरक से निकलकर किन-किन गतियों में जन्म लेता है ?

उत्तर :—नरक गति से निकलकर मनुष्य और तिर्यञ्च गति ही प्राप्त होती है। मनुष्य वा तिर्यञ्च गति को पाकर बाकी बचे हुए पहले के पाप कर्म के उदय से वा उस उस भव में किये हुये पाप कर्मो के उदय से फिर नरक में जाता है। सातवे नरक से निकलकर तिर्यञ्च ही होता है। सो सिद्धान्तसार में लिखा है—

उत्कृष्टेन स्वसंतत्या सोऽसज्ञी प्रथमावनौ।
अष्टवारान् क्रमाद् गच्छेत्सरीसृपोतिपापतः ॥२०५४॥

सप्तवारान् द्वितीयायां तृतीयायां खगो व्रजेत्।
षड्वारांश्च चतुर्थ्यां हि पचवारान् भुजगमः ॥२०५५॥

पंचम्यां च चतुर्वारान याति सिंहो निरंतरम्।
षष्ठयां याषित्तिवारान् सप्तम्यां वारद्वयं पुमान् ॥२०५६॥

श्वभ्रेभ्यो निर्गता एते तिर्यग्नरगतिद्वये।
कर्मभूमिषु जायंते गर्भजाः संज्ञिनः स्फुटम् ॥२०५७॥

प्रश्न :—स्वर्ग के विमान आकाश में किसके आधार से स्थित है ?

उत्तर :—सौ धर्म स्वर्ग से लेकर सहस्त्रार तक बारह स्वर्गों के विमान जल और पवन के आधार से है। तथा आनत स्वर्ग से लेकर बाकी के स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पांचों पंचोत्तरो के समस्त विमान बिना किसी आधार के निराधार अपने आप स्थिर है। सो ही सिद्धांतसार दीपक के प्रथम अध्याय मे लिखा है—

जलवातद्वया धोरणैव व्योम्नि मनोहराः।
प्रगान्ताधिकल्पानां चतुर्वर्णा विमानकः ॥२०५८॥
ग्रैवेयकादि पंचानुत्तरान्तानां भवन्ति ते।
निराधारास्त्रयोविंशागू सहस्त्रप्रमाः स्वयम् ॥२०५९॥

प्रश्न :—यह लोक किसके आधार से है ?

उत्तर :—यह लोक घनोदधिवात, घनवात और तनुवात के आधार से है। अर्थात् यह लोक घनोदधि नाम की घनी भूत वायु से घिरा है। उसी के आधार पर ठहरा हुआ है, घनोदधिवायु घनवायु के आधार सेहै, घनवायु तनुवायु के आधार से है और तनुवायु आकाश के आधार से है तथा आकाश स्वय अपने आधार से है, सो ही सिद्धातसार मे पहले अधिकार में लिखा है—

घनोदधि घंनाख्यश्च तनुवात इमे त्रयः।
सर्वतो लोकमावेष्ट्य नित्यास्तिष्ठंति वायवः ॥२०६०॥

श्रुतसागरी टीका मे भी लिखा है—

घनोदधि जगत्प्राणः सर्वलोकस्य वेष्ठन।
घनप्रभजनो नाम द्वितीयस्तदनंतरम् ॥२०६१॥
तनुवात उपयस्य त्रैलोक्याधार शक्तिमान्।
वाता एते स्थिति स्तेषां कथ्यमानानि शम्यतं ॥२०६२॥

प्रश्न :—चतुर्णिकाय के देवो में महा ऋद्धियो धारण करने वाले इन्द्रादिक देव अपनी आयु पूरी कर किस-किस गति को प्राप्त होते हैं ?

उत्तर :—सौ धर्म इन्द्र सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के प्रभाव से उसकी महादेवी इन्द्राणी, समस्त दक्षिण दिशा के इन्द्र चारो लोकपाल समस्त लौकान्तिक देव और सवार्थ सिद्धि के अहमिन्द्र अपनी आयु के क्षय होने पर वहा से चयकर महा पुण्याधिकारी मनुष्य भव धारण करते है। वहा पर वे पुरुप ही होते है। ससार के सुखों को भोगकर मुनिव्रत धारण कर तथा तपश्चरण कर केवलज्ञान पाकर मोक्ष जाते है अर्थात् ऊपर लिखे हुए सौ धर्म इन्द्रादिक देव एक भवावतारी जीव है। एक मनुष्य भव धारण करके ही मोक्ष जाते हैं।

नौ अनुदिशो के देव, पाचो पचोत्तरो के देव वहां से चयकर नारायण प्रतिनारायण पद को कभी नही पाते है। इस प्रकार तिर्यञ्च मनुष्य और भवनत्रिक के देव अपनी आयु के क्षय होने पर वहा से चयकर शलाका पुरुप कभी नही होते अर्थात् चौवीस तीर्थकर बारह, चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ बल भद्र और नौ प्रतिनारायण इन त्रेसठ शलाका पुरुपो की पदवी को कभी प्राप्त नही होते तथा विजयादिक विमानो मे रहने वाले अहमिन्द्र तथा अनुदिशो के अहमिन्द्र मनुष्य भव धारण कर मोक्ष जाते

है। अर्थात् वहां से चयकर मनुष्य होकर फिर विजयादिक में जन्म लेकर फिर मनुष्य होकर मुक्त होते है। सो ही मोक्षशास्त्र मे लिखा है—

विजयादिषु द्विचरमाः।

यही सब सिद्धांतसार प्रदीपक के पंद्रहवे अधिकार में लिखी है—

सौधर्मेन्द्रस्य दृष्ट्याप्ता महादेव्यो दिवश्च्युताः ।
सर्वे च दक्षिणेन्द्रा हि चत्वारो लोकपालकाः ॥२०६३॥
सर्वे लौकांतिका विश्वे सर्वार्थसिद्धि जामराः ।
निर्वाणं तपसा यान्ति संप्राप्य नृभवं शुभम् ॥२०६४॥
नवानुत्तरजा देवाः पंचानुत्तर वासिनः ।
ततश्च्युत्वा न जायंते वासुदेवा न तद्द्विषः ॥२०६५॥
तिर्यञ्चो मानवाः सर्वे भावनादि त्रिजामराः ।
शलाकाः पुरुषाः जातु न भवन्त्यमरार्चिता ॥२०६६॥
विजयादि विभानेभ्योऽहमिन्द्रा गत्य भूतलम् ।
मर्त्यजन्मद्वयं प्राप्य ध्रुवं गच्छन्ति निर्वृत्तिम् ॥२०६७॥

प्रश्न— इस मध्यलोक में जंबूद्वीप से लेकर स्वयंभूरमण समुद्र तक काल चक्र का वर्ताव किस प्रकार है अर्थात् सुखमा-सुखमा आदि छह कालों में से कौन-कौन काल कहां वर्तता है ?

उत्तर :—ढ़ाई द्वीप के पंचमेरु सम्बन्धी पाचों भरत क्षेत्र और पाचो ऐरावत क्षेत्रों में अनुक्रम से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छहो कालो का वर्ताव रहता है अर्थात् अवसर्पिणी काल का पहला दूसरा तीसरा चौथा पाचवां छठा तथा उत्सर्पिणी काल का छठा, पाचथां, चौथा, तीसरा, दूसरा, पहला इस प्रकार इन दशो क्षेत्रों मे काल चक्र बरावर फिरता रहता है तथा इन्ही कालो के द्वारा उनमे वृद्धि ह्रास सदा होता रहता है। इसी प्रकार समस्त विजयार्द्ध पर्वतो पर तथा प्रत्येक क्षेत्र के पांचों म्लेच्छ खडो मे सदा चौथा काल रहता है। उसमे भी इतना अन्तर है कि विदेह क्षेत्र के विजयार्द्धो को छोड़कर बाकी के भरत ऐरावत सम्बन्धी दशो विजयार्द्धों में चतुर्थकाल हीनाधिक रूप से रहता है। अर्थात् उनमे तीर्थंकरो की आयु काय की समान हीनाधिकता होती रहती है। पहले तीर्थंकर के समय पाच सौ धनुष का शरीर और एक करोड़ पूर्व की आयु वाले विद्याधर होते है। तथा अन्तिम तीर्थ-

कर के समय एक धनुष का शरीर और एक सौ बीस वर्ष की आयु वाले विद्याधर होते है। बाकी के विदेह क्षेत्र सम्बन्धी एक सौ साठ विजयार्द्ध निवासी विद्याधरों की आयु काय उत्कृष्ट श्री सीमंधर स्वामी के समान सदा रहती है। वहा की आयु काय हीनाधिक नही होती।

विदेह क्षेत्र की एक सौ साठ नगरियो मे तथा पच मेरु सम्बन्धी दश कनकाचल पर्वतो पर सदा मोक्ष मार्ग का प्रवर्तक चौथा काल रहता है अर्थात् इन क्षेत्रो में कभी दूसरा काल नही बदलता सदा चौथा काल ही रहता है। पांचो मेरु पर्वत की दक्षिण उत्तर दिशा की ओर जो देवकुरु और उत्तरकुरु की दश भूमिया है, जिनमे सदा उत्कृष्ट भोगभूमि रहती है, उसमे सदा पहला काल ही रहता है। पाचो मेरु सम्बन्धी पाचो हरिक्षेत्रो मे तथा पाचो रम्यक क्षेत्रो मे सदा मध्यम भोग भूमि रहती है और सदा दूसरा काल रहता है। इसी प्रकार पाचो हैमवत क्षेत्रो मे और पाचो हैरण्यवत क्षेत्रो मे सदा जघन्य भोगभूमि रहती है। और सदा तीसरा काल रहता है। मानुषोत्तर पर्वत से आगे नागेन्द्र नाम के पर्वत तक मध्य के असख्यात द्वीप समुद्रो मे सदा जघन्य भोग भूमि की रचना के समान तीसरा काल रहता है। नागेन्द्र पर्वत से आगे स्वयभूरण नाम के अत के द्वीप के आधे क्षेत्र मे सदा पाचवा काल रहता है। इस प्रकार मध्य लोक मे काल की किरन का स्वरूप है। सो ही सिद्धान्तसार दीपक के नौवे अधिकार मे लिखा है—

भरतैरावतक्षेत्रेषु सर्वेषु द्विपंचसु।
द्विषट्कालाः प्रवर्तन्ते वृद्धि ह्रासयुताः सदा ॥२०६८॥
विजयार्द्ध नगेष्वत्र म्लेक्षखंडेषु पंचसु।
चतुर्थकाल एवास्ति शास्वतो निरुपद्रवः ॥२०६९॥
किंतु चतुर्थकालस्य यदा स्याद्भरतादिषु।
आयुः काय सुखादीनां वृद्धिः ह्रासाश्च जन्मिनाम् ॥२०७०॥
तदा तेन समः कालो वृद्धि ह्रासयुतो भवेत्।
रूप्याद्रिम्लेच्छ खण्डेषु शेषकालश्च न क्वचित् ॥२०७१॥
पूर्वापर विदेहेषु द्विपंच स्वर्ण पर्वते।
चतुर्थकाल एवैको मोक्षमार्ग प्रवर्तकः ॥२०७२॥

देवोत्तर कुरुष्वेव द्विपंच भोगभूमिषु ।
दक्षिणोत्तरयो मेरौ प्रथमः काल ऊर्जितः ॥२०७३॥
हरिरम्य वर्षेषु मध्यमा भोगभूमिषु ।
वृद्धि ह्रासातिगः कालो द्वितीयो मध्यमो मतः ॥२०७४॥
हैमवताख्य हैरण्य वत्क्षेत्रेषु द्विपंचसु ।
तृतीयः शाश्वतः कालो जघन्य भोग भूमिषु ॥२०७५॥
तिर्यग्द्वीपेष्व संख्येषु मानुषोत्तर पर्वतात् ।
बाह्यस्थेष्वन्तरे स्थेषु नागेन्द्र शलैतः स्फुटम् ॥२०७६॥
जघन्य भोग भूभाग स्थिति युक्तेषु वर्तते ।
जघन्य भोग भूकर्ता नित्यकाल स्तृतीयकः ॥२०७७॥
नागेन्द्र पर्वताद्बाह्ये स्वयंभूरणार्णवे ।
स्वयंभूरमण द्वीपार्द्धे कालः पचमोऽव्ययः ॥२०७८॥

इस प्रकार काल का निर्णय है ।

प्रश्न :—मौनव्रत से भोजन न करना सदोष बतलाया सो मौन कहां-कहां धारण करना चाहिये ?

उत्तर—लघुशका (पेशाब करते समय), दीर्घशंका जाते समय (शौच जाते समय), स्नान करते समय, पंच परमेष्ठी की पूजन करते समय, स्त्री सभोग करते समय, भोजन करते समय और सामायिक आदि जप वा ध्यान करते समय इन सात स्थानों में मौन धारण करना चाहिये । सो ही लिखा है—

हदनं मूत्रणं स्नानं पूजनं परमेष्ठिनाम् ।
भोजनं सुरस्तोत्रं कुर्यान्मानै समन्वितः ॥२०७९॥

इन सात स्थानों में मौन धारण करना चाहिये इनके सिवाय जहा पर वचन बोलने से राग वा द्वेष उत्पन्न होता हो, वहा पर भी मौन धारण करना योग्य है । लिखा भी है—

दोषवादे च मौनम् ।

इस प्रकार आठ स्थानों में मौन धारण करना चाहिये ।

प्रश्न :—छठे काल में मनुष्य कैसे होंगे तथा उनका व्यवहार कैसा होगा ?

उत्तर—छठे काल का नाम दुःखमा-दुःखमा है । वह इक्कीस हजार वर्ष का

है कि एक दिन दीक्षित मुनिराज महाव्रती है और अर्जिका महाव्रती नही है, उसके उपचार से महाव्रत है, साक्षात् नही है। इसलिये तुरंत दीक्षित मुनि को अधिक दिनो की दीक्षित अर्जिका भी आकर नमस्कार करती है। सो ही नीतिसार में लिखा है—

महत्तरार्प्यायिकाभिवंदते भक्ति भाविता।
अद्यदीक्षितमप्याशुव्रतिनं शान्त मानसम् ॥२०८५॥

इसीलिये कहा है कि मोक्षाधिकारी स्त्री नही है और पुरुष है, स्त्री आर्यिका कितनी भी तपश्चर्या करे तो भी मोक्ष नही होता है।

चर्चासागर से पं. चपा.

प्रश्न :—वर्तमान समय में निश्चय एकान्त मत का प्रचार किसने किया ?

उत्तर :—एक स्थानकवासी साधु अपने साधुपद में था। स्थानकवासी समाज ने मिलकर अपने समाज से उस साधु को अपमानित सा निकाल दिया। वहां से वह सोनगढ़ आये और कितने ही दिन वहां रहे। उसके बाद दिगम्बर आम्नाय मे कुछ पंथों के झगडो को देखकर दिगम्बर आम्नाय मे आये और मात्र आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य को लेकर, ऊपर से दिगम्बर आम्नाय का चोला पहनकर एकान्त निश्चय मिथ्यात्व का प्रचार किया। प्रचार के लिये लोगों से द्रव्य एकत्रित करना शुरू किया। अपने मत की प्रथम स्थापना, सोनगढ़ कहान पथ के नाम से प्रसिद्ध किया। निश्चय एकान्त का लोगो को प्रवचन देना शुरू किया, आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार को माध्यम वनाकर। अपने को आध्यात्मिक योगी प्रसिद्ध किया।

दिगम्बर आम्नाय के कुछ श्रीमन्त सेठ लोग जाकर मिल गये और लोगों को रुपया दे देकर अपने पथ में मिलाने लगे। कुछ दिगम्बर पण्डित लोग भी द्रव्य के लोभ से सोनगढ़ जाकर कहानजी स्वामी के पंथ का प्रचार करने लगे। इस काल में चारों तरफ इसी का बोलबाला हुआ। जब तक लोगो को मालुम नही पडा, तब तक खूब प्रचार हुआ। जब लोगो को कमी का पता चला तो दिगम्बर आम्नाय के लोगो ने विरोध शुरू किया। अब जो उस पथ के समर्थक लोग थे, वे ही विरोध करने लगे।

प्रश्न :—विरोध किस कारण से हुआ ?

उत्तर :—अपने को तीर्थङ्कर वताना, सद्गुरु बताना, अपने को विदेह क्षेत्र से आया बताना, ४ जीव विदेह क्षेत्र से आये वताना। जिस समय कुन्दकुन्द स्वामी

सीमन्धर भगवान के समवशरण मे गये, तब अपने को (कहानजी), चम्पा बहन को, शान्ता बहन को, खेमजी भाई को साक्षात् सीमन्धर भगवान के समवशरण मे मौजूद बताना, कुन्दकुन्द स्वामी से अपना साक्षात्कार बताना। मैं आगे जाकर तीर्थङ्कर होऊँगा, ऐसा बताना। चम्पा बहन को जाति स्मरण है, ऐसा बताना। आदि अनेक विपरीत बातो से विरोध हुआ।

प्रश्न :—निश्चय एकान्त मिथ्यात्व सोनगढ़ पंथ में सिद्धान्त विरुद्ध क्या-क्या है ?

उत्तर —पुण्यास्रव की कोई क्रिया नही करना चाहिये, पाप की तरह पुण्य भी हेय है। उपादान रहे तो निमित्त स्वत. आ जाता है, इत्यादि कहना।

जो कुछ है सो निश्चय ही है, व्यवहार का मोक्षमार्ग मे कोई कार्य नही होता, इसलिये व्यवहार हेय है कहना।

व्रत, सयम, त्याग, तप, दान, पूजादि नही करना चाहिये, मात्र आत्मा का ध्यान करने से कल्याण होगा, ऐसा एकान्त से कहना।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर कोई प्रभाव नही पडता, ऐसा एकात से कहना।

मोक्षमार्ग मे निमित्तो का कोई कार्य नही, मात्र उपादान से ही कार्य की सिद्धि कहना।

पञ्चम काल मे कोई भावलिगी मुनि नही होते, होते तो द्रव्यलिगी ही होते हैं, ऐसा कहना।

जो कुछ होना है सो होकर ही रहेगा, पुरुषार्थ से कोई कार्य नही होता, ऐसा नियतिवाद को एकान्त से मानना।

क्रमबद्ध पर्याय को मानना।

मात्र आचार्य कुन्दकुन्द के शास्त्रो को ही महत्त्व देना, अन्य आचार्यो के शास्त्रो को नही मानना।

शुभोपयोग की कोई क्रिया नही करनी चाहिये, उससे संसार बढता है। जिनवाणी को परस्त्री कहना।

एकान्त से आत्मा को त्रिकाल शुद्ध मानना।

मोक्ष जाने मे पर्याय का कोई महत्व नही है, ऐसा कहना।

आत्मा का कभी नाश नही होता, जो लोग दया धर्म को मुख्य कहते है, वे

अज्ञानी है, ऐसा कहना इत्यादि अनेक विपरीत मान्यताओं का प्रचार किया ।

कुछ मूर्ख अज्ञानी पण्डितो ने उसको खूब बढ़ावा दिया । कानजी ने अपने जीवन में किसी गुरु को नमस्कार नही किया, बल्कि गुरुओ की खूब निन्दा की और अपने लोगों से निन्दा कराई ।

प्रश्न :—इसका फल क्या हुआ ?

उत्तर :—अनन्त ससार और वर्तमान पर्याय में खूनी केसर रोग से ग्रसित हुए । अन्त में बम्बई जसलोक अस्पताल मे आर्तध्यान से प्राण छोड़े और दुर्गति को प्राप्त हुए । अन्त समय में णमोकार मन्त्र भी किसी ने नही सुनाया और किसी भी तरह स्वामीजी बच जाय, उसके लिये नाना प्रकार की अशुद्ध दवाइयों का प्रयोग, अशुद्ध इन्जेक्शनो का प्रयोग, नाक आदि मे नलियो का प्रयोग किया गया, तो भी नही बचे ।

क्या यही समाधि है ? इसी प्रकार समाधि होती है ? साधारण श्रावक भी अन्त समय मे समाधिपूर्वक मरण करता है, लेकिन कानजी स्वामी ४० साल तक आत्मा-आत्मा कहते रहे और मरण हुआ दुर्गति से । इन्होंने तो अन्तिम समय मे समाधि भी नही की और मरण के वाद भी इनके भक्तों ने ३ दिन तक स्वामीजी की लाश को पड़ी रखी । उनके शव में असख्यात जीवराशि की उत्पत्ति हो गई और फिर तीसरे दिन असंख्यात जीवराशि के साथ उनके शव को आग मे डालकर जला दिया । यह दशा है एकान्त निश्चय मिथ्यादृष्टियो की और आत्मार्थियो की अहिंसा । अपने को मुमुक्षु कहलाने वाले सन्त ने अपने जीवन के अन्त मे क्या पाया ? इसका थोड़ा सा भी कभी विचार नही किया । न अन्त समय में भावलिगी मुनि ही बने, न समस्त परिग्रहो का ही त्याग किया, न अत समय में आहार-पानी का ही त्याग किया ।

प्रश्न :—क्या ये स्वामीजी दिगम्बर मुनि थे ?

उत्तर :—नही, ये तो न दिगम्बर मुनि थे और न श्वेताम्बर साधु ही रहे । ये तो अतोभ्रष्ट-ततोभ्रष्ट रहे ।

प्रश्न :—सोनगढ़ से निकलने वाला साहित्य कैसा है ?

उत्तर :—सोनगढ़ से निकलने वाला साहित्य ही निश्चय एकान्त मिथ्यात्व का पोषण करने वाला है । सब साहित्य मे विकार भरा हुआ है । जो भी उस साहित्य को पढ़ते है, वे सब एकान्ती बनकर आत्मा-आत्मा कहते है और दान-

पूजादिक सब क्रियाओं को छोड बैठते है। दिगम्बर साधुओ के निन्दक बन जाते है। इन लोगों ने पूर्वाचार्यो कृत शास्त्रो को हटा-हटाकर कई मन्दिरो मे अपना साहित्य भर दिया है। ये लोग प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग को नही मानते है और द्रव्यानुयोग के अनुसार ही स्वय चलते और दूसरो को चलने का उपदेश करते है। इनका साहित्य दिगम्बर परम्परा से विरुद्ध है और पूर्वाचार्यो की लेखनी से विपरीत है। मात्र ईसाइयो की तरह पैसे के बल से अपना प्रचार कर रहे है। इसलिए इस सिद्धान्त का दिगम्बर परम्परा मे कोई महत्व नही है। ये भी एक तरह के दिगम्बराभास हैं।

प्रश्न :—जिनेन्द्र भगवान का नय चक्र कैसा होता है। मीथ्यात्विओं के लिए ?

उत्तर :—अत्यन्त निशित धारं दुरासदं जिननरस्य नय चक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥२०८६॥

यह जिनेश्वर का स्याद्वाद चक्र (नयचक्र) महान कष्ट से प्राप्त होता है। इस चक्र की धार अत्यन्त पैनी होती हैं। इसको धारण करने वाला अत्यन्त शीघ्र मिथ्याज्ञान के अहकार युक्त व्यक्तियो के मस्तक को विदीर्ण कर देता है। अर्थात् यह उनके मिथ्याज्ञान का क्षय कर देता हैं।

ससार में ३६३ प्रकार की मिथ्या मान्यताओं वाले मूढ जीव अविवेक तथा मिथ्यात्व से प्रेरित हो अपनी आत्मा को कुगति मे डालते हैं। तथा दूसरे भी अभोग प्राणियो को वे कुपथ में लगाते है। वे "अन्धे गुरु–लालची चेला" दोनो नरक मे 'ठेलम् ठेला" यह कहावत चरितार्थ करते है।

एकांतवाद की महामारी जैन समाज मे फैल रही है। और समाज का अहित कर रही है। एकातवादी वर्ग को स्याद्वाद चक्र की शक्ति को स्मरण कर विवेक से काम करना चाहिए। मिथ्यात्वी के पतन की बात उनके ध्यान में रहनी चाहिए।

एकांतवादी लोग अनेक प्रकार की कपोल कल्पित आगम बाधित बातो का प्रचार कर मिथ्या ज्ञान की ओर जनसाधारण के मन को मोडा करते हैं। हमने कुछ प्रश्नो का उल्लेख कर उस सम्बन्ध मे आगम की दृष्टि समाधान रूप मे प्रस्तुत की हैं। जैनधर्म के रहस्य को समझने के लिए स्याद्वाद दृष्टि का अवलम्बन लेना

बुद्धिमत्ता है। वही सच्चा मार्ग है। एकांत पक्ष कुगतिप्रद है। यह जिनेश्वर का स्याद्वाद चक्र एकान्तवाद का नाश करता है।

शंका :—कानजी पंथी मडली मे अनेक अद्भुत बाते प्रचलित होती रहती है। वहा कहा जाता है कि कुन्दकुन्द स्वामी विदेह गये थे तथा सीमधर तीर्थंकर की दिव्य वाणी सुनने के पश्चात् समयसार रूप श्रेष्ठ शास्त्र उन्होने बनाया। इससे एकांतवादी वर्ग उस महाशास्त्र को ही अपनी सर्वोच्च निधि मानते हैं। तथा अन्य शास्त्रों के प्रति हीनता की भावना रखा करते है।

समीक्षा :—कुन्दकुन्द स्वामी विदेह गए या नही। इस चर्चा से यहा प्रयोजन नही है। प्राचीन शिलालेखों मे कुदकुद स्वामी की तरह पूज्यपाद स्वामी के विदेह गमन की चर्चा है। श्रवणवेल गोल के १०२ नं. के शिला लेख मे पूज्यपाद स्वामी के बारे में कहा है। "देवपूजित!" वे देव पूजित थे।

विदेह-जिनदर्शन पूतगात्र '—विदेह के जिनेश्वर के दर्शन से उनका शरीर पवित्र हो चुका था, अप्रतिमौषर्धाद्धि —लोकोत्तर औषधि ऋद्धि से वे युक्त थे। यत्पाद धौतजल स्पर्शात कालायस किल तदा कनकी चकार—उनके चरण के पक्षालन से प्राप्त जल के स्पर्श द्वारा लोहा स्वर्ण हो जाता था, इससे यह प्रतीत होता है। उस पुरातन युग में विशेष सिद्धि सम्पन्न अनेक साधु रत्न हो गये है। जिनका हमे पता नही है। पूज्यपाद स्वामी की श्रेष्ठ श्रुत सम्प्रति का बोध उनकी अध्यात्मिक रचना इष्टोपदेश समाधि शतक के सिवाय सर्वार्थसिद्धि, जैनेन्द्र व्याकरण आदि से होता है। अतः विदेह गमन करने से प्राप्त महत्ता कुदकुद स्वामी के समान पूज्यपाद महर्षि को भी प्राप्त होती है। और उनकी रचनाओ को भी विशिष्टता ध्यान मे आती है। यह बात विशेष चिन्तनीय है कि समयसार यदि विदेह यात्रा के पश्चात् रचित होता तो, कुदकुद स्वामी उस ग्रथ को मुतकेवली भणीय अर्थात्त श्रुत केवली कथित न कहते। उन्होने समयसार के मगलाचरण मे कहा है .—

"वोच्छामि समय पाहुड मिणमो सुय केवली भणिय ॥१॥

मै (कुदकुद) श्रुत केवली (भद्रबाहुगुरु) कथित समयसार को कहता हूँ। केवली शब्द के पूर्व में "श्रुत" शब्द सर्वज्ञ केवली का निराकरण करता है। जैसे घोडा शब्द के पूर्व यदि सफेद विशेषण लगा हो तो उससे श्याम वर्णीय अश्व का निराकरण हो जाता है। परोक्षज्ञानी श्रुतकेवली प्रत्यक्षज्ञानी केवली से भिन्न है।

शंका :—कुंदकुंद स्वामी ने छन्दशास्त्र की कठिनतावश श्रुतकेवली शब्द का उपयोग किया ?

समाधान :—यदि काव्य शास्त्र की कठिनाई थी, तो वे केवलि सुयकेवली भणिय शब्द का प्रयोग कह सकते थे। नियमसार के मगलाचरण के अनुसार वे उपरोक्त रूप में कह सकते थे। नियमसार में उन्होने कहा है :—

"वोच्छामि नियमसार केवलि सुयकेवलि भणिद"

इससे इस वात की असत्यता स्पष्ट हो जाती है। जो कानजी महोदय कहा करते है कि समयसार साक्षात् तीर्थकर की वाणी सुनने के बाद रचा गया है। सम्यक् चितन इस कथन को झूठा प्रमाणित करता है।

कानजी पथी पत्र "आत्मधर्म" मे छपा था कि कुदकुद स्वामी विदेह गये थे। तब कानजी "राजकुमार" की पर्याय मे समवसरण मे थे, (विदेह मे शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष होती है। अत. वे राजकुमार उतने ही उच्च शरीर के रहे होगे) समवशरण मे अनेक अगपूर्व के ज्ञाता, अनेक ऋद्धिधारी महामुनि आदि भी थे। कि राजकुमार की कुदकुद स्वामी पर ही विशेष दृष्टि रही आई। "आत्मधर्म" पत्र कहता है। "कुदकुद आचार्य वहा आठ दिन ठहरे थे"।

समीक्षा :—साक्षात तीर्थकर का सानिध्य पाकर भरत क्षेत्र से विदेह जैसे सुदूरवर्ती प्रदेशो मे पहुँचकर केवल आठ दिन पर्यत वहा आवास कर कुंदकुंद स्वामी का शीघ्र भरत क्षेत्र को वापिस लौट आने का कथन यह ध्वनित करता है कि कानजी बाबा की बात सत्य की कसौटी पर कसने लायक नही है। कसौटी पर सोना कसा जाता है। टीन का टुकडा नही। कोई भी समझदार आदमी सोच सकता है। कि श्रेष्ठ आत्म कल्याण के साधन को पाकर विवेकी व्यक्ति अधिक से अधिक काल यापन कर स्वहित सपादन करता है। दक्षिण भारत के यात्रा करने वाले साधु जब शिखरजी पहुँचते है। तो वे वहा अधिक से अधिक समय देने का प्रयत्न करते है। सघ के सचालक का गृहस्थ होने के कारण कदाचित शिखरजी मे अधिक रुकना सम्भव भी न हो किन्तु विदेह मे रुकने मे कोई भी बाधा नही थी। करण कोई सघ सचालक नही था। मुनीश्वर होने से कोई लौकिक झझट भी नही हो सकती।

गहरा माया जाल —यदि कानजी बाबा को विदेह मे अपनी राजकुमार

पर्याय, चंपाबहिन आदि का उनकी स्त्री होना स्मरण है। तो यह भी तो स्मरण होगा कि दिव्यध्वनि की भाषा प्राकृत-अपभ्रंश थी या वह अनक्षरी थी ? कितने बार दिव्यध्वनि खिरती थी, मुख्य प्रश्नकर्त्ता गृहस्थ का क्या नाम था ? मुख्य गणधर कौन थे ? विदेह के लोगों की ऊंचाई भोजन आदि के बारे में भी जातिस्मरण उद्बोधन करा देता। इस विषय में वे चुप हैं। अतः जाति स्मरण आदि की बात शत-प्रतिशत असत्य तथा कल्पना-जाल मात्र है।

तीर्थंकर सीमंधर भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर आत्म ज्ञान प्राप्त करने वाला सम्यक्त्वी नियम से स्वर्ग जाता कारण अविरत गुणस्थानवर्ती सम्यक्त्वी मनुष्य मरण कर स्वर्ग ही जाता है। यदि उसने आयु बंध नहीं किया है। मनुष्यायु का बंधक मानव मरकर भोगभूमि का मनुष्य होता। तथा सौराष्ट्र में जन्म धारण नही करता।

यह बात भी विचारणीय है कि विदेह में दीर्घायु मनुष्य होते हैं। जिनकी एक कोटि पूर्व प्रमाण आयु आगम में कही है। आश्चर्य है कि दो हजार वर्ष के भीतर ही तथा कथित राजकुमार (वर्तमान स्वामीजी) विदेह से यहां मरणकर कैसे आ गये ? शिष्या चंपाबेन का भी शीघ्र मरण विदेह में कैसे हो गया ? यह याद है क्या ?

यह भी सोचना चाहिये कि तीर्थंकर के चरणों के समीप तत्वज्ञान रूप अमृतपान करने वाला जन्म से सम्यत्वहीन परिवार में कैसे उत्पन्न हुआ और कैसे बहुत समय तक मिथ्या साधु बनकर उस जीव ने धर्म के विपरीत प्रचार किया ? यदि पूर्व के ऊच्च सस्कार होते तो वह व्यक्ति इन्द्रियों की दासता को छोड़कर हीन प्रवृत्ति के त्यागरूप सदाचार को अवश्य ग्रहण करता।

उदाहरणार्थ आचार्य शांतिसागर महाराज पूर्व भव के ऊच्च संस्कारी थे। इससे बचपन से ही उनके मन में वैराग्य के भाव विद्यमान थे और वे दीक्षा लेकर मुनि बनना चाहते थे। यद्यपि अपने पिता श्री भीमगौड़ा पाटील के कहने से बहुत समय तक गृह त्याग नही कर सके थे।

कानजी पंथी वर्ग में मिथ्या बातें प्रचारित की जाती है। जिससे उनके पंथ का अधिक प्रचार हो।

आत्म धर्म के कानजी (८७वी) जयती अक मे अनेक असत्य बातो का वर्णन पढकर आश्चर्य होता है कि अपने मिथ्या प्रेरित पक्ष को पुष्ट करने के लिये किस प्रकार माया तथा असत्य का आश्रय लेते है। कानजी अपने भक्तो से कहते है मेरा यह भव तीर्थकर प्रकृति का वध होगा" साक्षात् तीर्थकर भगवान के समवशरण मे चपा बहिन ने यह बात सुनी है। गुरुदेव ने चपा बहिन से कहा बहिन यह हकीकत सत्य है। मुझे भी कई बार ऐसा भास होता था उसका स्पष्ट हल नही मिलता था।

उसका अर्थ समझ में आया कि मैं तीर्थकर का जीव हूँ।

वे अपने जीवन के बारे मे बताते है। १७ वर्ष की उमर मे रामलीला देखकर उनके हृदय मे वैराग्य की मस्ती चढ गई। विक्रय सवत् १९७८ मे ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी के दिन स्वाध्याय कर के वे लेटे तो ओकार ध्वनि का नाद व साढे बारह करोड वाजो की ध्वनि का स्मरण हुआ। पृष्ठ १८। "तीर्थकर के साथ" लेख मे एक भक्त इस प्रकार स्तुति करता है। उनका वर्तमान जीवन देखो, तो चैयन्य भगवान की झनक से भरा है। उनका भावी जीवन देखो तो भगवान से सम्बन्धित। यदि हम ज्ञान को मात्र चार भव तक लम्बाकर देख सके तो हमे गुरुदेव के बदले मे साक्षात् "सूर्य" के समान तेजस्वी तीर्थकर के दर्शन होते है (पृष्ठ २४) एक अविवेकमूर्ति भक्त लिखता है। "अनन्त तीर्थकर हो गये, मगर अपने दो गुरुदेव श्री सबसे अधिक है।" पृष्ठ ४२। आजकर अनेक व्यक्ति स्वयं को भगवान कहकर अपनी पूजा करवा रहे है।

यदि पाठक गहराई से सोचे तो उपरोक्त बाते मोह रूपी मदिरा पीने वालो के सदृश है। मिथ्यात्व का आश्रय लेने वाला, मिथ्यात्व का प्रचार करने वाला एकातवादी का आगामी भव अधकार पूर्ण ज्ञात होता है। इस प्रसग मे महापुराण का यह कथन वस्तु स्थिति को समझने मे विशेष लाभप्रद रहेगा। भगवान ऋषभदेव दशभव पूर्व महाबल नाम के राजा थे उनके ४ मत्री थे आगम पक्ष का समर्थक स्वयबुद्ध मत्री कुछ ऊच्चभव धारण कर मोक्ष गये। मिथ्यात्व का समर्थन करने वाले महामति और सभिन्नमति मत्री द्वय निगोद मे गये। शतमति मिथ्यात्व के परिपाक से नरक गया। "गतः शतमति श्वभ्र मिथ्यात्व परिपाकतः।" (१०-८) इस सवंध में महाकवि जिनसेन स्वामी कहते है—

तमस्यंधे निमज्जंति सज्ज्ञान द्वेषिणो नरा ।
आप्तोपज्ञ मतोज्ञानं बुधोभ्यस्येदं अनारतम् ।।२०८७।।

सम्यग्ज्ञान के द्वेषी व्यक्ति नरक रूपी गाढ अधकार मे निमग्न होते है ।

इसलिये बुद्धिमान पुरुषो को आप्त प्रतिपादित सम्यग्ज्ञान का सदा अभ्यास करना चाहिये । दश कोडा-कोडी सागर के अवसर्पिणी काल मे भरत क्षेत्र से अगणित मुनि मोक्ष गये किन्तु २४ ही आत्माओ ने तीर्थंकर प्रकृतिरूप महान पुण्य का बधकर रत्नत्रय की समाराधना कर मोक्ष प्राप्त किया, कुन्द-कुन्द स्वामी के तीर्थंकर होने का उल्लेख नही है । केवल मोक्ष जायेगे । यह भी ज्ञान नही है । किन्तु मिथ्यात्व की मदिरा पान करने वाले पिलाने वाले मोक्ष जायेगे और अगले भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करेगे । यह कथन असत्य की पराकाष्ठा है वे भव्य है । या अभव्य है । यह सर्वज्ञ देव ही बता सकेगे । मिथ्या मार्ग प्रचारक राजा वसु के पतन के प्रकाश मे इस समस्या का सच्चा समाधान मिलेगा ।

निश्चयनय रूप पवित्र दृष्टि को धारण करने वाली आत्मा मोक्ष जाती है । समयसार मे कहा है—

णिच्छय णयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।
।।२७२।।

निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनिगण निर्वाण प्राप्त करते है । निश्चय-नय आत्मा को शुद्ध मानता है । अबद्ध मानता है । व्यवहार दृष्टि अपरमभाव वालों के कही है । परमभाव वाले शुक्लध्यानी निश्चय दृष्टि का अवलम्बन ले सिद्ध पदवी पाते है । हम कानजी पथी निश्चनय की चर्चा करते हैं । उसका निरूपण करने वाले परम आगम रूप समयसार को पढ़ते है । आप भी तो निश्चयनय को हमारे समान पूज्य मानते हैं । समयसार ग्रथ को भी ग्रंथराज स्वीकार करते हो । तब आप हमारे विरुद्ध हो हल्ला क्यो मचाते हो ?

यह बात पूर्ण सत्य है कि निश्चयनय की दृष्टि मोक्ष प्रद है । किन्तु यह सत्य भी आपको शिरोधार्य करना चाहिये कि निश्चय दृष्ठि के पूर्व व्यवहार नय की भी आवश्यकता है । शक्ति की अपेक्षा आप आत्मा को शुद्ध, अबद्ध कहते है । इसमे कोई आपत्ती नही है । किन्तु आप अपनी वर्तमान अशुद्ध, बद्ध ससारी पर्याय को

[illegible]

[illegible]

[illegible] —

[illegible] ।

[illegible] ।

[illegible]

[illegible] ।

[illegible]

[illegible]

[illegible] ।

[illegible]

के विपरीत हो जाता है। वह स्याद्वाद विरोधी है। समन्वय दृष्टि से पूर्ण सत्य का परिज्ञान होता है। बुद्ध ने वस्तु को अनित्य माना है। यह सत्यांश है। वह वस्तु के नित्य पक्ष को अस्वीकार करता है। इससे वह सत्य कथन भी असत्य हो जाता है। इसी प्रकार कानजी पंथ में व्यवहार को सर्वथा मिथ्या मानकर निश्चय पक्ष को ही मान्यता दी जाती है। इससे वह कथन स्याद्वाद विद्या के प्रकाश में असत्य हो जाता है।

मनुष्य के दो नेत्र होते हैं। सीधी आंख फूटी हो तो वह काना है। बांई आंख फूटी हो तो वह भी काना होगा। जो नय व्यवहार पक्ष को ही सत्य मानकर निश्चय पक्ष को अस्वीकार करेगा, वह मिथ्यात्वी है। इसी प्रकार जो निश्चय को सत्य मान कर व्यवहारनय को मिथ्या मानेगा, वह भी मिथ्यात्वी है।

एकांत निश्चय को पकड़कर हम मोक्ष से दूर हो जायेंगे। कुन्द-कुन्द स्वामी की यह बात ध्यान देने योग्य है कि निश्चयनय भगवान को सर्वज्ञ नही मानता और यदि व्यवहारनय का कथन मिथ्या है तो सर्वज्ञ का लोप हो जायेगा तथा सम्पूर्ण जिनागम आप्त वाणी नही रहेगा।

जाणदि पस्सति सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥२०८८॥

नियमसार–१७०

केवली भगवान व्यवहारनय से सर्व पदार्थों को जानते हैं देखते हैं किन्तु निश्चयनय से केवली भगवान अपनी आत्मा को देखते हैं। इस प्रकार निश्चयनय सर्वज्ञ को अस्वीकार करता है।

स्याद्वाद दृष्टि दोनों कथन सत्य है केवली भगवान सर्वज्ञ हैं; आत्मज्ञ भी हैं। एकांतवादी के द्वारा समस्या उलझ जाती है।

विशेष बात :—यह बात ध्यान देने योग्य है। नियमसार मे कहा है निश्चय दृष्टि से पुद्गल का परमाणु शुद्ध द्रव्य है। उस दृष्टि मे स्कन्ध का कोई स्थान नही है। व्यवहार की दृष्टि से स्कन्ध का सद्भाव माना गया है। यदि व्यवहार दृष्टि को अप्रमाण तथा झूठा माना जाय तो शून्यवाद आ जायेगा, कारण निश्चय दृष्टि से स्कंध का अभाव है और स्कन्ध का अभाव मानने पर उसके कारण रूप परमाणु का भी अभाव हो जायेगा; अतः सर्व झंझटो से वचने के लिए दोनों नयो की वास्तविकता स्वीकार करनी चाहिये।

शंका :—कुछ भी कहो हमें तो निश्चय की कथनी में मजा आता है। व्यवहार नय की बात हमे नहीं रुचतीं। निश्चयनय का पक्ष लेने से हमारी आत्मा का उत्थान होगा ?

समाधान :—यह बहुत बड़ा भ्रम है। किसी भी दृष्टि के एकांत पक्ष से मोक्ष तो कदापि नही मिलेगा, यह सत्य है। पंचास्तिकाय की अन्तिम गाथा १७२ की टीका में अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है। केवल व्यवहार दृष्टि वाला सत्कार्यो के करने के कारण दुर्गति से बचकर ऊच्चगति मे जाकर सुखी रहेगा। निश्चयपक्ष का एकातवादी अपने को पूर्ण शुद्ध समझ बैठे है। त्याग संयम सदाचार का उनकी दृष्टि मे कोई मूल्य नही होने से वे प्रभात की कादम्बरी (मदिरा) पान के फलस्वरूप "केवलपापमेव बध्नाति" केवल पाप का ही बध करते है। इससे वे कुगति मे जाकर दुःख भोगते है। सदाचार की बड़ी महत्ता है। यदि सम्यक्त्व रहित जीव भी हीनाचार का त्याग करता है, तो सदाचार के प्रभाव से वह नरक पशु पर्याय में नही जाता है। अकेला सम्यक्त्व मोक्ष नही देता है।

प्रवचनसार मे कुंदकुंद स्वामी ने कहा है :—

सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वदि ॥२३७॥

तत्व श्रद्धान हो जाने पर भी असयमी व्यक्ति मोक्ष नही पाता।

चारित्र का चमत्कार :—कानजी पथी मंडली को यह बात नही भूलना चाहिए कि सम्यक्त्व से अकेला काम नही बनेगा। भरतेश्वर ने अन्तर्मुहूर्त में केवल ज्ञान प्राप्त किया था, यह सम्यक्त्वचारित्र का चमत्कार था। वे क्षायिक सम्यक्त्वी होने से गृहस्थावस्था मे भी ज्ञानी थे, किन्तु उनके केवलज्ञान नही हुआ। जब परिग्रह त्याग करके उन्होने शुक्ल ध्यान रूप चारित्र का आश्रय लिया तब कैवल्य का प्रकार उन्हे प्राप्त हो गया। अन्तर्मुहूर्त मे कैवल्य प्रदान करने की क्षमता सम्यक्चारित्र मे ही है। कहा भी है :—

अनंत सुख सम्पन्नं येनात्मा क्षणादपि।
नमस्तस्मै पवित्राय पारित्राय पुनः पुनः ॥२०८९॥

यह आत्मा क्षण मात्र मे जिसके कारण अनत सुख को प्राप्त होता है। उस पवित्र चारित्र (यथाख्यात चारित्र) को वारम्बार नमस्कार हो।

शंका :—आश्चर्य है। आत्मार्थी सत्पुरुष पूज्य कानजी महाराज को स्वामी कहे जाने पर आप लोग ऐतराज करते हैं? ऐसे ही हम लोगों को मुमुक्षु कहे जाने पर आप लोग आक्षेप क्यों करते हैं?

समाधान :—"स्वामी" शब्द मालिक का पर्यायवाची है। दिगम्बर जैन धर्म में परिग्रह त्यागी इन्द्रियों को वश करने वाले मुनि को स्वामी कहा जाता है। स्वामी इन्द्रियों का दास नहीं होता है। जिसे इन्द्रियों ने अपना गुलाम बना लिया है। उसे स्वामी कहना ऐसी ही बात है जैसे दरिद्र व्यक्ति के पुत्र का नाम करोड़ीमल रखना अथवा सूरदास को नैनसुख नाम प्रदान करना। जब कानजी स्वय अपने को अव्रती असंयमी कहते है। तब इन्द्रियो के सेवको को उनको स्वामी अर्थात् इन्द्रियों का विजेता कहना उचित नही है। वैसे आपको अधिकार है। आप एक टूटी झोपड़ी को शौक से राजमहल कहे, मुमुक्षु का रहस्य "मुमुक्षु" शब्द का प्रयोग समतभद्र स्वामी ने ऋषभनाथ भगवान के स्तवन मे किया है। जब उन्होने नीलांजना के नृत्य को देखकर विषयो से विरक्त हो, राज्य का परित्याग किया था। आशाधरजी ने सागार धर्मामृत में उस गृहस्थ के लिए भी मुमुक्षु शब्द का उपयोग किया है। जो हृदय में मुनि बनने की सच्ची कामना करता है। "देशविरतिः खलु सर्व विरति लालसा।" जहां जीवन सयम को सुवास से सम्पन्न न हो तथा विषय भोगो से छूटने के बदले मे उसके जाल मे फंसने का ही निरन्तर काम चले वहां मुमुक्षु शब्द का उपयोग अद्भुत लगता है। यह हिसक को दयासागर कहने सदृश वचन हैं।

मुमुक्षु शब्द के चार भेद हो सकते है नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव रूप से चतुर्विध मुमुक्षु है। व्रत नियम शून्य तथा सदाचार विरोधी व्यक्ति यदि अपने को मुमुक्षु कहते है, तो वे नाम मात्र के मुमुक्षु है। किसी वस्तु में मुमुक्षु की स्थापना करना, स्थापना मुमुक्षु है। जो व्यक्ति परिग्रह पिशाच के चक्कर से छूटकर जीवन मे साधुत्व की भावना करते है, वे द्रव्य मुमुक्षु है। परिग्रह त्यागकर आत्म प्रकाश से जिनकी आत्मा अलंकृत है, वे भाव मुमुक्षु हैं।

एक कमजोर आदमी है, जो बिना सहारे के खडा तक नही हो सकता, उसे पहलवान कहने सदृश संयम से डरने वालों तथा संयमी से भयखाने वालों को मुमुक्षु कहना। शब्द का गलत प्रयोग देखकर ऐतराज करना न्यायोचित बात है। इसमे विद्वेष नहीं है। इसके भीतर पवित्र सत्य विद्यमान है।

शंका :—हमारे बारे में यह कहा जाता है कि हम लोग मुनि को नहीं मानते। हम मुमुक्षु णमोकार मंत्र पढ़ते समय "णमो लोए सव्व साहूणं" पाठ पढ़कर सभी सच्चे भावलिंगी मुनीश्वरों को प्रणाम करते हैं। वर्तमान मुनि द्रव्यलिंगी हैं; अतः हम उनको आराध्य नहीं मानते, कारण हमारे परम पूज्य कुंदकुंद भगवान ने 'दंसण पाहुड' में कहा है "दंसण हीणो ण वंदिव्वो" (२) सम्यग्दर्शन हीन व्यक्ति को नमस्कार नहीं करना चाहिये ?

समाधान .—अतरग भावो का परिज्ञान केवली भगवान को होता है तथा मन' पर्यय ज्ञानी महर्षि मनोगत बात को जानते है। गृहस्थ के श्रुतज्ञान में दूसरे के सम्यक्त्व है या नही, इसको जानने की क्षमता नही है। मुनि जीवन के आधारभूत महाव्रत, दिगम्बर मुद्रा आदि को देखकर मुनिराज को प्रणाम करने का आगम में कथन है। जिनेश्वरी मुद्रा धारण करने वाले, नकली मुनि बनने वाले देव से सम्यक्त्वी उद्दयन ने घृणा नही की तथा उनको सच्चा साधु मान परिचर्या की। इससे सम्यकत्व के निर्विचिकित्सा अग पालने वालो मे राजा उद्दायन का उदाहरण दिया जाता है।

आदिनाथ भगवान पूर्व भव मे व्रजजघ राजा थे। उनके सम्यक्त्व उत्पन्न नही हुआ था। उन्होने अपनी श्रीमती रानी (जो आगे भव में महादानी राजा श्रेयांस हुई) के साथ चारण ऋद्धिधारी भावलिगी मुनि युगल को आहार दिया था, जिससे पचाश्चर्य हुए थे।

उद्दायन राजा के कथानक मे दाता सम्यक्त्वी था, पात्र सम्यक्त्वी नही था। मुनि मुद्रा का सम्यक्त्वी राजा ने सम्मान किया। इस प्रकार आज भी अपने को सम्यक्त्वी मानने वाला यदि जिन मुद्राधारी साधु को आहार देता है, तो उसके सम्यक्त्वी पने पर सकट का पहाड नही टूटेगा।

वज्रजघ राजा का कथानक यह बताता है, कि भावलिगी ऋद्धि मुनि युगल ने द्रव्यलिंगी गृहस्थ के द्वारा प्रदत्त आहार लिया था। राजा व्रजजघ के सम्यक्त्व नही था, ऐसा महापुराण मे कहा है। श्रावक का आचार व्यवहार धर्मानुसार होना चाहिए। उसके अन्तरग भाव के आधार पर लोक व्यवस्था नही बनती। उपशम तथा क्षयोपशम सम्यक्त्व असख्यात बार उत्पन्न होते है, ऐसा आगम है।

इस काल मे क्षायिक सम्यग्दर्शन नही होता है। इस कारण दातार या पात्र के भावों मे अनेक बार सामक्त्व का आना तथा जाना संभव है, इस बात को सीमंधर स्वामी सदृश महाज्ञानी जान सकते है। भरत क्षेत्र मे उत्पन्न इस काल का व्यक्ति नहीं जान सकता। ऐसी स्थिति में आहार दान का क्या हाल होगा? दातार का सम्यक्त्व अंतरंग से चल गया, तो दातार आहार लेना बन्द कर देगा? ऐसी व्यर्थ की झंझटों में स्वयं को डालना आत्म कल्याण करने वाले विवेकी को उचित नही है।

चौथे काल की बात है। वारिषेण मुनि ने द्रव्यलिंगी मुनि पुष्पजल को अपने साथ रखकर बड़ो कुशलता पूर्वक उनको सच्चा मुनि बनाया था। इस कारण स्थिति-करण नामक सम्यक्त्व के अग में वारिषेण मुनि मान्य कहे गए है। द्रव्यलिंगी पुष्पजल मुनि को धार्मिक जन आहार देते थे।

सुन्दर मार्ग-दर्शन—भावलिंगी, द्रव्यलिंगी की जटिल समस्या का सुन्दर समाधान आशाधर जी ने सागारधर्मामृत में इस प्रकार किया है—पाषाणादि की प्रतिमाओं में जिनाकार होने से स्थापना निक्षेप द्वारा उन्हे जैसा पूजा जाता है तथा पूजक स्वहित सम्पादन करता है, उसी प्रकार वर्तमान में दिगम्बर मुनि मुद्राधारी साधु में पूर्वकालीन मुनियो की स्थापना कर आराधना करनी चाहिये। सागार-धर्मामृत के शब्द इस प्रकार है—

विन्वस्यैदं युगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव।
भक्त्या पूर्व मुनीनर्चेत् कुतः श्रेयोति चर्चिनाम्॥

कुंद कुंद स्वामी ने दर्शन पाहुड में मार्मिक बात कही है—जो सहजोत्पन्न अर्थात् दिगम्बर रूप को देखकर ईर्ष्यावश आदर नहीं करता, वह संयम युक्त होता हुआ भी मिथ्यात्वी है। वह उपयोगी गाथा इस प्रकार है—

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरियो।
सो संजम पडिवण्णो मिच्छा इट्ठी हवइ एसो॥२०९०॥

आगम कहता है पञ्चमकाल के अन्त तक अर्थात् आज से १८५०० वर्ष वाद तक भी दिगम्बर मुद्राधारी मुनि होंगे। वे अन्तिम मुनि समाधि सहित मरण करेंगे। उनको अवधिज्ञान प्राप्त होगा, ऐसा त्रिलोकसार तथा तिलोयपण्णत्ति में कहा है।

स्मरणीय—हमारे आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयो को कुन्दकुन्द महर्षि के इन वचनो को विचारपूर्वक ध्यान से पढ़ना चाहिये, "असंजद ण वन्दे" (२६)—असंयमी की

वन्दना न करे। कानजी बाबा स्वयं को असयमी कहते थे। वे अपने जीवन मे सयम को आने भी नही देते थे। उनका वन्दनारूप कार्य सम्यक्त्व का पोषक है या विघातक है? यह बात कानजी पथी प्रवक्ताओ तथा भक्तो को न्यायबुद्धि से सोचनी चाहिये।

कुन्दकुन्द स्वामी असयमी को वन्दना का अपात्र कहते है और हमारे सोनगढ पथी उनको गुरु नही, "सद्गुरुदेव", "जैनधर्म के प्रवर्तक" कहते है। कुछ भक्तजन उन कानजी बाबा के चरणो की छाप कपडे मे लगवाकर उसको पूजते है। कानजी बाबा की अन्धी भक्ति अद्भुत काम कराती है। एक कानजी पन्थी प्रचारक भगवान के अभिषेक प्राप्त जल को गन्धोदक न कहकर गन्दोदक—गन्दा पानी कहते थे और स्वय कानजी बाबा के पैरो को धोने से प्राप्त यथार्थ मे गन्दे पानी को अधिक मान देते थे। अद्भुत स्थिति है। भीलनी गजमुक्ता को फेक देती है और गुन्जा (गोगची) को बड़े प्रेम से अपनाती है। मिथ्यात्व का उदय बडी विचित्र बाते कराता है। कानजी पन्थी वर्ग को बाल ब्रह्मचारी उच्च तपस्वी दिगम्बर मुनि भी अनादर योग्य लगते है और उन्हे असयमी व्यक्ति अधिक अच्छा लगता है। यह वृत्ति मिथ्यात्वी की होती है।

दिगम्बर मुनि विद्वेषी—सन् १९५९ की बात है। कुम्भोज बाहुबली आश्रम मे आत्मार्थी नामधारी सत्पुरुष छह-सात सौ यात्री ठहरे थे। वहा से करीब दो किलोमीटर पर सत्तानवे वर्षीय मुनि १०८ वर्धमानसागर महाराज (जो आचार्य शातिसागर महाराज के ज्येष्ठ बन्धु थे) मन्दिरजी मे थे। बाहुबली आश्रम वालो ने कहा था, "स्वामीजी! यहा समीप मे महान् आध्यात्मिक मुनिराज वर्धमानसागर महाराज का दर्शन कीजिये।" मुनि-विद्वेषी हृदय होने से उन लोगो ने उस जिन मन्दिर का ही दर्शन नही किया। साक्षात् मुनि को देखकर उनका अनादर करना और कल्पनागत मुनि को प्रणाम की बाते करना यह स्पष्ट करता है कि यथार्थ मे उनके दिल मे दिगम्बर मुनि के प्रति आन्तरिक विद्वेष विद्यमान था। परिग्रहधारी की पूजा और अपरिग्रही महान् योगियो का निरादर आन्तरिक दूषित मनोदशा को स्पष्ट करते है। इससे असली सम्यग्दृष्टि और मिथ्यात्वी का रूप पूर्णतया समझा जा सकता है। एक नीतिकार कहता है—

सर्प डस्यो तब जानिये, रुचि कर नीम चबाय।
कर्म डस्यो तब जानिये, जिनवाणी न सुहाय ॥२०९१॥

दूषित भाव—एक विचारक व्यक्ति ने कहा था, "कानजी भक्तों द्वारा दिगंबर जैनो के गुरु के विरुद्ध प्रचार करने का आन्तरिक अभिप्राय दिगम्बर आम्नाय और संस्कृति पर भीतर से प्रहार करना है। लड़-झगडकर यह काम नही होता। यह मीठा विष है, जो सस्कृति के प्राणहरणार्थ खिलाया जा रहा है।"

दिल्ली के एक जौहरी जैन भाई ने मजेदार बात कही थी कि कानजी पथी या अन्य भक्त सोनगढ के संयम-शून्य बाबा के पास जाकर आज्ञा-प्रधानी बनते है और दिगम्बर जैन सच्चे वीतरागी मुनियो के पास परीक्षा प्रधानी बनने की बात करते हैं। ये लोग दूरवीक्षण यन्त्र (Telescope) द्वारा पानी के कीडे देखना चाहते है और सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र (Microscope) द्वारा नक्षत्रो का दर्शन करने की इच्छा करते है। फल यह होता है कि वे अविवेकवश वस्तु के यथार्थ रहस्य से वचित होते है।

एक बार आचार्य सम्राट् महावीरकीर्ति महाराज के पास कुछ अध्यात्मपंथी पहुंचे थे। दि. मुनियो के विरुद्ध उनसे घटों बहस की, विद्वान साधु की एक भी बात उनके हृदय में नहीं घुसी। इसका एक कारण है—ये लोग अपनी अपनी सुनाने की कला में प्रवीण है, दूसरे की सुनने की आदत नही है। इसी कारण इनके उपदेशों में शकाकारों को उत्तर नही दिया जाता, और ये दूसरे पक्ष के प्रवचनो मे प्रश्न करने को तत्पर होकर सभा भग करने का प्रयत्न करते है। एक प्रांत के मुख्य मत्री बहिरे थे जब काम की बात होती थी, तब वे कान मे श्रवण यत्र लगाकर बाते सुना करते थे, और जब मतलब की बात नही रहती थी, तब उस श्रवण यत्र को दूर रखकर अभिनय करते थे।

महावीर कीर्ति महाराज ने उन प्रश्नकर्त्ताओ से अन्त मे पूछा मुनि की परीक्षा करना चाहते हो। बताओ साधुओ के २८ मूलगुण कौन कौन है? वे चुप हो गये और वहां से चले गये। यह दुर्भाग्य की बात है कि निरतर साधु निन्दा का उपदेश-सुनते सुनते एकांतवादी इस जमाने मे भी अपूर्व व्यक्तित्व सम्पन्न महापुरुष के अत सौन्दर्य को सोचने मे असमर्थ हो जाते है।

उदाहरणार्थ कोल्हापुर के समीपवर्ती गलतगा स्थान के मुनि सिद्धसेन महाराज का जीवन बडा सौरभ पूर्ण तथा पवित्रता समलकृत है। गृहस्थावस्था मे वे मैसूर विधान सभा के यशस्वी सदस्य थे। धन धान्यादि से सम्पन्न थे। वे अंग्रेजी मे सुन्दर भाषण देते थे। पचासो प्रतिष्ठाये उन्होने बिना भेट लिये कराई। महान्

शास्त्रज्ञ मुनि होते हुये अहंकार का लेश भी उनमें नहीं देखा जाता, जनवरी १९७६ मे शिखरजी यात्रा से लौटते हुये वे सिवनी पधारे थे।

"उनके बारे में 'आचार्य कल्प' शब्द का प्रयोग जब मैंने (पंड़ित सुमेरचंद जी दिवाकर ने) किया तब उन्होंने मुझसे कहा "Panditji I am an infant only. Dont Praise me highly"—पण्तिजी, मैं तो बच्चे के समान अल्प हूं। मेरी बड़ी स्तुति नहीं कीजिये। पचहत्तर वर्ष के होते हुये भी वे मूलाचार प्रतिपादित मुनि अवस्था के नियमों का बड़ी सावधानी से पालन कर रहे थे। ऐसी अनेक विभूतियो के होते हुये भी एकातवादी चश्मे वाले उन महापुरुषों को प्रणाम नही करते। अहंकार और अविवेक वश ये उनके सत्समागम से अपने जीवन की विशुद्धि नही मनाते।

पचमकाल मे मुनि बनने वालों महापुरुषों मे महान् आत्मबल तथा जितेन्द्रियपना है। भाव संग्रह में आचार्य देवसेन ने कहा है–चौथे काल में हजार वर्ष तपस्या करने पर जो फल मिलता था, वह इस काल में हीन संहनन होते हुए एक वर्ष की तपस्या द्वारा प्राप्त होता है। वह गाथा इस प्रकार है—

वरिस सहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण कायेण।
तं संपइ वरिसेण हुं णिज्जरयई हीणसंहणणे ॥२०९२॥

शास्त्र में देव, गुरु तथा शास्त्र की श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा है। उस सम्यक्त्व के अग रूप साधु परमेष्ठी के विरुद्ध होकर तथा जनमानस को विकृत बनाने से कितना अधिक स्व तथा पर का अकल्याण होता है, यह एकांती वर्ग नही सोचता। इस प्रसंग मे बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद की यह सूक्ति मननीय है—

पापोपि पस्सदि भद्रं यान पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं अथ पापो पापानि पस्सति ॥

जब तक पाप का फल नही मिलता है, तब तक पापी को पाप कर्म भला कब दिखाई देता है? किन्तु जब पाप का फल मिलता है, तब उसको पाप दिखता है।

भद्रोपि पस्सदि पापं याव भद्रं न पच्चति।
यदा च पच्चति भद्रं अथ भद्रो भद्रानि पस्सति ॥२०९३॥

जब तक भद्र कार्य का फल नहीं प्राप्त होता है, तब तक वह अच्छा नहीं लगता है, किन्तु जब उस सत्कार्य का फल प्राप्त होता है, तब वह व्यक्ति पुण्य कार्य को अच्छे रूप में देखता है।

मुनि निंदकों को यह बात नहीं भूलना चाहिये कि क्षायिक सम्यक्त्वी बनने पर भी राजा श्रेणिक द्वारा यशोधर महाराज के गले में मरा सर्प डालने से उपार्जित पाप का पूर्ण रूप से क्षय नहीं हो पाया, और आगामी तीर्थंकर होने वाले उन श्रेणिक राजा के जीव को वर्तमान में नरक पर्याय मे अपार कष्ट भोगना पड़ रहा है। अतः अहंकार को त्यागकर एकातवादी वर्ग को विवेक से काम लेना चाहिये। मुनि निन्दा को महापाप कहा गया है।

प्रश्न :—हम वीतरागता को धर्म मानते हैं, अतः दया, दान हमारी दृष्टि में धर्म कार्य नहीं हैं। शरीर जड़ है। उसके द्वारा किये जाने वाले उपवासादि जड़ क्रिया हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिये आंतरिक वीतरागता चाहिये। निश्चयनय हमारा कहता है, मोक्ष के लिए बाहरी वेष से कोई प्रयोजन नहीं है। कषाय आदि का त्याग यदि श्वेताम्बरधारी करता है या वह पीताम्बर वाला या दिगम्बर है तो वह मोक्ष जाता है। इस विषय में हमें कुंद-कुंद स्वामी का ही अभिप्राय मान्य है, कारण जिनागम के मर्म को स्वामी कुंद-कुंद तथा अमृतचन्द्र आचार्य के बाद अध्यात्म योगी सत्पुरुष सच्चे जैन धर्म के प्रवर्तक श्री कानजी जान पाये हैं?

उत्तर :—कुंद-कुंद स्वामी ने कहा है कि द्वादशाग श्रुतज्ञान तथा आचार्य परम्परा से प्राप्त आगम पूज्य तथा मान्य है। उन्होने दिगम्बर ऋषि प्रणीत परम्परा को आदरणीय कहा है।

उन्होने रयणसार में कहा है—

पुव्वं जिणेहिं भणियं जहट्ठियं गणहरोहि वित्थरियं।
पुव्वाइरियकमेणं जं तं बोलेइ सद्दिट्ठि ॥२०६४॥
मदिसुद णाण बलेण दु सच्छंदं बोलए जिणुत्तमिदि।
जो सो होइ कुदिट्ठी ण होइ जिण मग्गलग्गखो ॥२०६५॥

पूर्व मे जिस प्रकार सर्वज्ञ जिनेन्द्र ने कथन किया तथा गणधरदेव ने जिसका द्वादशाग रूप से विस्तार किया, उस पूर्वाचार्य परम्परा से आगत कथन के अनुसार जो बोलता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के अहकारवश जिनवाणी की उपेक्षा कर स्वच्छद जैसा मन मे आया वैसा बोलता है, वह जिनमार्ग मे सलग्न रहते हुए भी मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

इस कथन द्वारा कुंद-कुद स्वामी आचार्य परम्परा से आगत समस्त ऋषि प्रणीत आगम को (समतभद्र, अकलक, जिनसेन आदि की वाणी) जो ज्ञान के अहकार से युक्त हो न मानकर स्वच्छद प्रलाप करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। कानजी मत मे समस्त जिनागम का अनादर कर केवल समयसार अथवा कुंद-कुद वाणी को ही मानने की प्रणाली है, वह मिथ्यावादी मार्ग है ऐसा महर्षि कुद-कुद ने पूर्वोक्त गाथा युगल मे स्पष्ट किया है।

उपवास आदि अनावश्यक है, दान पूजादि के कारण मोक्ष नही मिलता, इत्यादि एकान्त कथन कुद-कुद वाणी के द्वारा भी खण्डित होता है।

मार्मिक देशना—वे कहते है, जो गृहस्थ, गृहस्थी के जजाल मे रहकर आरभ परिग्रह मे फसने से पाप का अर्जन करता है, तथा उस दोष के प्रक्षालन हेतु दया, दानादि कार्य नही करता है, वह ससार मे परिभ्रमण करता है। दया दानादि सत्प्रवृत्तियो मे लगने वाला सम्यग्ज्ञानी जीव मोक्ष जाता है। ऐसा अभिप्रायः द्वादशानुप्रेक्षा मे कुद-कुद स्वामी ने व्यक्त किया है—

पुत्तकलत्त णिमित्तं अन्थं अज्जयदि पापबुद्धीए।
परिहरदि दया-दाणं सो जीवो भमदि संसारे ॥२०९६॥

जो पाप भाव युक्त हो (आर्त रौद्र ध्यान को धारण कर) दया तथा दान का परित्यागकर पुत्र स्त्री के लिये धन का सचय करता है, वह जीव ससार मे भ्रमण करता है। अर्थात् दया, दान न करने वाला गृहस्थ मोक्ष नही पाता, ऐसा अभिप्राय स्पष्ट है। इस कथन से दया, दान के विरुद्ध कानजी पथी एकातवादी प्ररुपणा खण्डित हो जाती है।

जो एकातवादी पाप त्याग के मार्ग को अस्वीकार करके ऊँची-ऊँची बाते शुक्ल ध्यान, शुद्धोपयोगी, निश्चयनय आदि की किया करते है, उनकी क्या गति होगी, यह कुन्द-कुन्द महर्षि की मगलवाणी बताती है—

जत्तेण कुणइ पाव विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो।
मोहंधसार सहिओ तेण दु परिपड़दि संसारे ॥२०९७॥

जो मोहान्धकार युक्त गृहस्थ विषयों की पूर्ति हेतु बुद्धि पूर्वक प्रयत्न करता हुआ निरन्तर पाप कार्यो को करता है, अर्थात् पाप त्याग रूप पुण्य कार्यो से दूर भागता है, वह निद्य कार्यो के फलस्वरूप ससार में पतित दशा को पाता है।

पंचमकाल में धर्मध्यान रूप शुभोपयोग बड़े प्रयत्न द्वारा प्राप्त होता है। इस काल में शुक्ल ध्यान रूप शुद्धोपयोग नही होता, यह बात मोक्ष पाहुड मे कही गयी है—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्प सहावठिदे णहु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥२०६८॥

आत्मा स्वरूप में लीन साधु के इस पचमकाल में भरत क्षेत्र में धर्म ध्यान होता है, यह बात जो नही मानता वह अज्ञानी (मिथ्यात्वी) है। धर्मध्यान को भाव-पाहुड की 'सुहधम्मं'—गाथा ७६ मे शुभ भाव कहा है। एकातवादी अशुभ भाव के विषय में गौन धारण कर शुभ भाव धर्मध्यान, जो इस काल मे संभव है की अभद्र शब्दों में निंदा करता है, उसे कुन्द-कुन्द स्वामी कथित लोकानुप्रेक्षा का वर्णन ध्यान मे लाना चाहिये। वे कहते है—

असुहेण णिरय तिरियं सुह उवजोगेण दिविज णर-सोक्खं ।
सुद्धेण लहइ सिद्धि एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥२०६९॥

आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान रूप अशुभ भाव से नारकी तथा पशु की पर्याय, धर्म ध्यान रूप शुभ भाव से देव तथा नर पर्याय के सुख मिलते हैं।

शुक्ल ध्यान रूप शुद्ध भाव (जो पचमकाल मे नही हो सकता) से मोक्ष मिलता है, ऐसा लोक का चितवन करे।

इस कथन द्वारा कुन्द-कुन्द स्वामी यह सूचित करते है कि इस काल मे मोक्ष नही है, अतएव अशुभ भाव द्वारा पशु नारकी बनने के स्थान मे शुभ भाव को स्वीकार करके देव, मानवपर्याय के सुखों को प्राप्त करना उपयुक्त होगा।

Some-thin is better than nothing शून्य की अपेक्षा अल्प उपलब्धि ठीक है। इतना ही नही, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह की तीव्र लालसा कृष्णादि लेश्याओं के अधीन हो कुत्सित आचरण और क्रूर कर्मों द्वारा कुगति की अपार विपत्ति की अपेक्षा सम्यक्त्व सहित देवादि की भी अवस्था बहुत अच्छी है, जहां से चयकर

सम्यक्त्वी जीव नर पर्याय धारण कर तपश्चर्या करते हुये कर्म क्षय करता है।

आगम की आज्ञानुसार दिगम्बर मुद्रा धारण करना, शीत, उष्ण आदि २२ परिषहो को सहन करना, उपवास करना आदि को एकांतवादी जड़ शरीर की क्रिया करते हुए इन्द्रियो और विषयो की गुलामी द्वारा मोक्ष रूपी आत्म स्वातन्त्र्य को पाने का स्वप्न देखते है। उसे जगाते हुए कुन्द कुन्द स्वामी ने मोक्ष पाहुड मे कहा है—

णिग्गंथ मोहमुक्का बावीस परीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गमि ॥२१००॥

जो परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ है, बाह्य जगत के प्रति मोहमुक्त है, शीत, उष्णादि कठोर बाईस परीषह सहन कर तप द्वारा कर्मो की निर्जरा करते है, तथा हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन एव परिग्रह रूप पाप के कारणों का त्याग करते है अर्थात् जिनके जीवन मे सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की समाराधना प्रतिष्ठित है, वे मोक्ष मार्ग में संलग्न माने गये है।

आचार्य श्री यह भी कहते है, देव तथा गुरु की भक्ति से युक्त आत्म ध्यानी सच्चरित्र व्यक्ति मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त है। एकातवादी पूजा आदि को राग भाव कहकर निदनीय कहा करते है। सर्वज्ञ परम्परा से प्राप्त मोक्ष पाहुड के इस कथन पर श्रद्धा करने वाला व्यक्ति मोक्षमार्गी होता है—

देवगुरुणं भत्ता णिव्वेय परंपरा विचिंतिता।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्ख मग्गमि ॥२१०१॥

जो वीतराग अरहत भगवान, दिगम्बर गुरु के भक्त है, ससार शरीर तथा भोगो से विरक्त है, ध्यान करने मे निरन्तर प्रयत्नशील रहते है और जिनका आचरण निर्मल है, वे मोक्ष मार्ग मे स्थित है।

प्रमादी की दृष्टि—लोक मे ऐसे लोग मिला करते है, जो दूसरे का द्रव्य देने की बात भी नही सुनते, किन्तु अपनी रकम वसूल करने मे जघन्य उपयोग करते है; इसी प्रकार की परम्परा एकांतवादी वर्ग मे देखी जाती है। साधु के जीवन मे क्या त्रुटि है, इसे वे ही ढूढकर तथा उसे बड़ा रूप देकर दुनियां मे ढोल पीटते है और स्वय के पतितजीवन के बारे मे कहते है कि सयम पर्याय हम मे अपने आप आ जायेगी, पुरुषार्थ की जरूरत नही है।

'जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।' ये लोग लेन-देन, व्यापार, विषय सेवन में बुद्धि पूर्वक प्रयत्न करते है तथा वहां भगवान के ज्ञान का बहाना नही बनाते। उन्हें अपने मन मे यह सोचना उचित होगा—

क्या क्या देखी वीतराग ने तू क्या जाने बीरा रे।
वीतराग की वाणी द्वारा, दूर करो भव पीरा रे ॥२१०२॥

अध्यात्म वाणी का अभिप्राय था कि जीव रक्षा करो, इसीलिये तो मुनिराज पिच्छी रखते है, नही तो क्या वह शोभा के लिये है ? भावों में भी प्रमाद पने को न आने दो, क्योंकि मलिन विचारो के द्वारा जीव कर्मो के बन्धन में बद्ध होता है। उसका रहस्य न समझकर अध्यात्मवादी कहते है; शरीर आत्मा से भिन्न है। शरीर घात करने से पाप नही होता। इनको समयसार शास्त्र के रचनाकार भाव पाहुड ग्रन्थ मे अपना मतव्य इस प्रकार स्पष्ट करते हुए सचेत करते है—

परिणवहेहि महाजस चउरासी-लक्ख-जोणिहि मज्झम्मि।
उपज्जंत मरत्तो पत्तोसि णिरंतरं दुक्खं ॥२१०३॥

हे महायशस्वी साधु! जीव वध महापाप है, उसे करने वाला ८४ लाख योनियों मे जन्म मरण पाता हुआ निरन्तर दुःख भोगता है।

यहां जीव वध को बुरा कहा है।

चेतावनी—जो कानजी पन्थी समुदाय तीस वर्षो से भी अधिक काल अध्यात्म शास्त्र का ही मनन, प्रचार करते हुये कहता है, हमारा मन त्याग की ओर नही जाता है, उसको आध्यात्मिक प्रहरी के रूप मे कुन्द-कुद स्वामी भाव पाहुड मे इस प्रकार सचेत करते है—

उत्थवइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं।
इन्द्रिय बलं ण वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥२१०४॥

जब तक बुढापे का आक्रमण नही होता, रोग-रूपी अग्नि देह-रूपी झोपडी को भस्म नही करती तथा इन्द्रियो की शक्ति क्षय को प्राप्त नही होती है तब तक आत्मा का हित करो। (असमर्थ होने पर क्या करोगे ?)

प्रश्न :—इस प्रसंग में यह प्रश्न उठता है आत्म धर्म हम पढ़ते हैं। आत्मा की ही अपने शिविरों में, कक्षाओं में चर्चा करते हैं। अब हमें

और क्या धर्म करना चाहिये ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो मोक्ष रूपी परम विज्ञान मन्दिर की प्रवेशिका शाला सदृश है। आगे विशारद की शिक्षार्थ श्रावक की एकादश प्रतिमाये है। तथा अतिम कक्षा का कोर्स दश धर्मो का पूर्ण पालन है। कुन्द-कुन्द स्वामी ने श्रावको की प्रतिमाओ को तथा मुनियो के उत्तम क्षमादिक को धर्म सज्ञा प्रदान की है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अणुव्रत पालना या महाव्रत पालना धर्म से जीवन को समलंकृत करना है। धर्मानुप्रेक्षा मे कुन्द-कुन्द स्वामी कहते है—

एकारस दशभेयं धम्मं सम्मत्त पुव्वयं भणियं।
सागार-णरगाणं उत्तम सुह संपजु-तेहिं ॥२१०५॥

उत्तम मोक्ष सुख वाले जिन भगवान ने कहा है सम्यक्त्व पूर्वक एकादश प्रतिमा रूप श्रावक का धर्म है। तथा उत्तम क्षमादि दशविध श्रमण धर्म है। आचार्य देव कहते है—

सावय धम्मं चत्ता यदि धम्ने जो हुवह ए जीवो।
सो ण य वज्जदि मोक्खं इदि चितये णिच्चं ॥२१०६॥

जो जीव श्रावक धर्म को त्यागकर मुनि के धर्म मे स्थित होता है। वह मोक्ष से वचित नही होता (यति धर्म पालन द्वारा वह मुक्त होता है।) इसका सदा धर्म भावना मे चितवन करे। यहां व्रतादि को धर्म कहा गया है।

प्रश्न :—एक समय सुन्दर आध्यात्मिक चर्चा चल रही थी, मैंने आचार्य १०८ आचार्य शांतिसागर जी महाराज जी से पूछा था, "आत्मा की खूब चर्चा करते हुये भी जो व्यक्ति सामान्य श्रावकाचार को प्रतिज्ञा रूप से नहीं पालन करते, उसका भविष्य कैसा है ?

उत्तर —आचार्य श्री ने श्रेणिक राजा का उल्लेख करते हुये कहा था। क्षायिक सम्यक्त्वी होते हुये भी नरक आयु बाध लेने के कारण वह आत्मा व्रत न ले सकी, इसी प्रकार सयम विमुख व्यक्तियो का स्वरूप समझना चाहिये, इसके अनतर उन्होने कहा था जिसकी जैसी होनहार होती है उसके अनुसार ही उस जीव की बुद्धि हो जाया करती है।

प्रमादी एकातवादी को महर्षि कु द-कु द चेतावनी देते हुए कहते है—

सामग्गिदिय रुवं आरोग्गं जोवणं बलं तेजं।
सोहग्गं लावण्णं सुर धणुमिव सस्सयं ण हवे ॥२१०७॥

सम्पूर्ण इन्द्रियों की परिपूर्णता, नीरोगता, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य तथा लावण्य इन्द्रधनुष के समान देर तक टिकने वाले नही है। आचार्य कुंद-कुंद ने यह कहा है—

कालाई लद्धीए अप्पा परमाप्पओ हवदि ॥२४॥ (मोक्ष पाहुड)

काल लब्धि आदि के प्राप्त होने पर आत्मा परम आत्मा होता है। चक्रवर्ती भरत के पुत्र होते हुये श्रेष्ठ आध्यात्मिक वातावरण मे रहने वाले मरीचिकुमार को सम्यक्त्व की ज्योति नही मिली। किंचित् न्यून कोडा-कोडी सागर काल बीतने पर सर्व प्रकार की विपरीत सामग्री होते हुये यम सदृश क्रूर सिंह की पर्याय में चारण मुनि युगल की वाणी सुनकर उसे अधिगमज सम्यक्त्व का लाभ हुआ तथा दशवे भव मे उस जीव ने महावीर भगवान होकर मोक्ष प्राप्त किया। अतः यह स्पष्ट है कि अध्यात्मवादी कहने से तथा आत्मा सम्बन्धी ग्रन्थ को सदा साथ मे रखने मात्र से सम्यत्क्व की प्राप्ति काललब्धि के अभाव मे असम्भव है।

काललब्धि आदि कब आए, यह पता नही चलता। ऐसी स्थिति मे क्या कर्तव्य रह जाता है? दो रास्ते है। मोक्ष तो मिलता नही। विषय-भोग की गुलाबी पथ पकडा, तो दुःख पूर्ण पशु तथा नारकी की पर्याय मिलेगी। यदि सम्यक्त्व रहित होते हुए भी चोरी, व्यभिचार, बेईमानी आदि विश्व विनिन्दित कुकृत्यो को छोडकर सज्जन पुरुषोचित सदाचार का रास्ता अपना लिया तो स्वर्ग मे उत्पत्ति होगी, तथा विदेह जाकर तीर्थंकर के साक्षात् दर्शन दिव्यध्वनि सुनने का सौभाग्य तथा नदीश्वर वदना आदि अनेक सुयोग प्राप्त होगे। चरम शरीरी न होने से मरण तो अवश्य होगा। यदि कुंद-कुंद मुनीन्द्र की कथनी के अनुसार पापाचार का त्याग तथा सदाचार का पालन किया, तो विपत्ति से बचा जा सकेगा। यदि इन्द्रियो की गुलामो और घृणित शरीर की सेवा करते-करते प्राणो का त्याग हुआ, तो कुगति के पतन को कौन टाल सकता है? भगवान महावीर का साक्षात् सानिध्य यदि श्रेणिक महाराज के नरक पतन को न रोक सका, व अन्य लोगो की तो बात ही क्या है।?

शंका—समयसार मे कहा है। शास्त्र अचेतन है, वह ज्ञान रूप नही है—

'सत्थं णाणं ण हवइ जह्मा सत्थं ण जाणए किं चिं' ।।३९०।।

समयसार गाथा ३७२ मे कहा है एक द्रव्य अन्य द्रव्यो मे गुणोत्पादक नही होता। "अण्णादविएण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ" इस कारण कानजी कहते है, शास्त्र को परस्त्री तुल्य त्याज्य समझना चाहिये।

समाधान—शास्त्र के पठन स्वाध्याय तथा उपदेश से जीव सुपथ मे लगते है। यह प्रत्यक्ष अनुभव गोचर बात है, कानजी पथ अपने आचार के लिये अपने ढग का साहित्य छपाता है, वितरण करता है। यह कारण स्पष्ट सूचित करता है कि एक द्रव्य के द्वारा दूसरे का कुछ नही होता, यह कथन एकांत रूप नहीं है। समयसार मे कुन्द कुन्द स्वामी ने एक दृष्टि से कथन किया है उसके सिवाय उन्होने दूसरी दृष्टि को भी ध्यान में रखकर रयणसार मे लिखा है—

इदि सज्जण पुज्जं रयणसार गंथं णिडालसो णिच्चं।
जो पढ़इ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं ठाणं ।।२१०८।।

इस प्रकार सत्पुरुषो के द्वारा वदनीय इस रयनसार ग्रथ को जो आलस्य छोडकर पढता है, सुनता है, भावना करता है, वह अविनाशी पद को पाता है। यही बात भाव पाहुड मे अन्त मे उन्होने लिखी है—

इय भाव पाहुड मिणं सव्वं बुद्धे हि देसियं सम्मं।
जो पढइ सुणइ भावइ पावइ सो अविचलं ठाणं ।।२१०९।।

मोक्ष पाहुड के अन्त की गाथा भी उपयोगी है—

एवं जिण पण्णत्तं मोक्खस्सय पाहुड सुभत्तीए।
जो पढइ सुणइ, भावइ सो पायइ सासयं सोक्खं ।।२११०।।

कुन्द-कुन्द स्वामी स्वय कहते है कि उनके द्वारा रचित उपरोक्त ग्रथ को जो पढता है, सुनता है तथा भावना करता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है।

अतः जिनवाणी को परस्त्री कहकर हेय मानना, एक द्रव्य से दूसरे का सर्वथा हित नही होता, आदि कथन कुन्द-कुन्द स्वामी के कथन द्वारा बाधित होता है। विवेकी व्यक्ति एकात पक्ष को नही पकड़ता। एकात पक्ष का आग्रह सम्यक्त्वी नही करता है।

यह बात विचारणीय है कि कुन्द-कुन्द स्वामी का सीमधर भगवान की दिव्य

ध्वनि रूप पुद्‌गल द्रव्य से स्वहित न होता, तो वे महर्षि विदेह क्यो जाते? अतः कथं-चित् एक द्रव्य दूसरे का उपकारी होता है, कथचित् नही होता ; ऐसा स्याद्वाद पक्ष उचित तथा उपकारी है ।

प्रश्न :—पुण्य के विषय में यह बात गले नहीं उतरती कि वह आत्मा का शत्रु रूप कर्म है, वह मोक्षार्थी के लिये कैसे उपकारी हो सकेगा ?

उत्तर :—अनेकांत के प्रकाश में समाधान खोजना चाहिये। पुण्योदय से प्राप्त सामग्री का उपयोग चतुर व्यक्ति स्व परहित के साधनो में करता है । क्रूर तथा दुष्ट व्यक्ति उस साधन सामग्री का उपयोग विषय कषायों के पोषण मे करता है । इस प्रसंग में यह पद्य उपयोगी है—

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परपीड़नाय ।
खलस्य साधोः विपरीत मेतज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥२१११॥

दुर्जन विद्या का उपयोग विवाद मे, धन का अहंकार पोषण में तथा शक्ति का उपयोग दूसरो को कष्ट प्रदान करने में करता है, सत्पुरुष विद्या का ज्ञान कार्य मे, धन का पात्र दान में तथा शक्ति का असमर्थो के रक्षण कार्य में उपयोग करता है ।

मिथ्यादृष्टि पुण्योदय से प्राप्त सामग्री को पापानुबन्धी क्रियाओ में लगाता है । जैसे के बहुत धन सम्पत्ति हो गई, और उसने कसाई खाना खोल दिया, मास विक्रय, मद्य विक्रयादि का बडे रूप में काम शूरू कर दिया, हीन प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन हेतु सम्पत्ति का उपयोग किया । उसके फल स्वरूप वह अपने सचित पुण्य का क्षयकर पाप के सागर मे डूबता है ।

यदि वह धन वैभव आदि सम्यग्दृष्टि विवेकी सत्पुरुष को प्राप्त हुआ, तो वह उसके द्वारा रत्नत्रय के अगरूप कार्यो का सरक्षण, सवर्धन, जीव हितादि का कार्य सम्पन्न करता है । इससे वह घातिया कर्मरूप पाप का क्षय करता हुआ तथा अन्त मे उस वैभव मात्र का त्यागकर भगवान शातिनाथ के समान स्वदोष शान्ति द्वारा शाश्वतिक शातिपूर्ण पद को पाता है । जिस व्यक्ति के पास धन मादकता पैदा करता है, उस व्यक्ति का हाल निन्दनीय कहा जाता है ।

इस कारण पुण्य के विषय में स्याद्वाद दृष्टि का उपयोग जरूरी है । श्रीषेण राजा ने सत्पात्र दान दिया था, उससे उसके अपार पुण्य वृद्धि होती गई, तथा उसने

वैभव का सत्कार्यों में उपयोग किया। अन्त में वह आत्मा भगवान शातिनाथ तीर्थंकर होकर मोक्ष धाम में विराजमान हो गई।

मार्मिक विचार—इस प्रसग मे एक बात ईमानदारी से हृदय पर हाथ रख-कर विचारने की है। एकांतवादी वर्ग अपना सारा दिन "हाय धन, हाय पैसा" से प्रेरित हो पुण्य रूपी वृक्ष के फल को सग्रह करना चाहता है और कहता है हमे पुण्य नही चाहिए। कोई आम के शौकिन सज्जन आम तो खाना चाहे और आम के वृक्ष से घृणा करें, तो उनकी यह चेष्टा समझदारो को मनोविनोदप्रद है। यदि आम का वृक्ष नही चाहिये, तो उसके फलो का भी त्याग करो, तव विवेक की बात समझी जाये।

तीर्थंकर भगवान दीक्षा लेते समय पुण्य से प्राप्त फल रूप सामग्री का जीर्ण कपड़े के समान त्याग करते हैं और अतरग बहिरग रूप से अपरिग्रही बनते है, तब वे पाप का क्षय करते हुए पुण्य का भी नाश कर सिद्ध पदवी पाते है। अतः विवेक के प्रकाश में तत्व पर दृष्टि डालना समझदारी की बात है।

एकांत पक्ष वालो का सच्चा हित स्याद्वाद चक्र का शरण ग्रहण करने मे है। स्याद्वाद का शरण लेने वाला ही मोक्ष पाता है।

बनारसीदास ने स्याद्वाद दृष्टि के विषय मे नाटक समयसार मे मार्मिक शब्द लिखे है—

समुझै न ज्ञान कहे करम किए सो मोक्ष।
ऐसे जीव विकल मिथ्यात की गहल में॥
ज्ञान पक्ष गहे, कहे आतमा अबंध सदा में।
वरते सुछन्द, तेउ डूबे है चहल में॥
जथायोग करम करें, तै ममता न धरे।
रहें सावधान, ध्यान की टहल में॥
तेई भवसागर के ऊपर ह्वै तरै जीव।
जिन्ह को निवास स्याद्वाद के महल में॥

सामान्य पथ—आत्महित साधना जिनका ध्येय है, वे शास्त्र का उपयुक्त और उपयोगी अश ग्रहण कर जीवन शोधन के कार्य मे प्रयत्नरत रहा करते है। समन्वय दृष्टि वाला साधक शास्त्र के अर्थ को उसके प्रसग, प्रकरण आदि को ध्यान मे रखकर

वस्तुस्वरूप को मन में प्रतिष्ठित करता है। अध्यात्म दृष्टि और व्यवहार दृष्टि का समन्वय न होने पर शास्त्र जीवन को उन्नत नही बनाता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण यहां दिये जाते है।

अध्यात्म दृष्टि की मुख्यता से कहा जाता है, आत्मा अविनाशी है, आत्मा की मृत्यु नही होती। पूज्यपाद ऋषिराज ने इष्टोपदेश मे कहा है "न मे मृत्युः कुतो भीतिः।" इस दृष्टि वाले सत्पुरुष को यह आर्षवाणी भी स्मरण मे रहनी चाहिए "समाति मरण होहु मज्झं" मेरे समाधिमरण हो। पंचमकाल में शरीरी मानव का जन्म नही होता है। उसकी मृत्यु अवश्य होगी। न मे मृत्युः का पाठ पढ़ने-पढाने वाले महर्षि पूज्यपाद को समाधिमरण पर भी ध्यान देना आवश्यक समझा। उन्होने भगवान से प्रार्थना की है, "प्राण प्रयाण क्षणे त्वन्नाम-प्रतिबद्ध वर्ण पठने कण्ठस्त्वकुण्ठो मम" प्राण प्रयाण काल मे जिनेश्वर के नाम स्मरण करते समय मेरा कण्ठ अवरुद्ध न हो। विवेकी साधक समाधिमरण को ध्यान रखता है तथा मेरी आत्मा की मृत्यु नही है, इस सत्य पर भी अपनी दृष्टि रखता है।

अध्यात्मदृष्टि कहती है, आत्मा ही आत्मा का है, "आत्मैव गुरुरात्मनः" समाधि-शतक में लिखा है—

नयत्यात्मान मात्मैव जन्व निर्वाण मेव वा।
गुरुरात्मात्मन स्तस्मान्नान्योस्ति परमार्थतः ॥२११२॥

आत्मा ही आत्मा को ससार में तथा निर्वाण मे ले जाता है, इससे परमार्थ से आत्मा का गुरु आत्मा है, अन्य गुरु नही है।

इस दृष्टि के साथ व्यवहार दृष्टि भी साधक को अपनानी चाहिये, ताकि वह उसके जीवन निर्माण करने मे पथ प्रदर्शक आचार्यादि को अपनी श्रद्धा तथा विनय का केन्द्र वनावे। वोध पाहुड मे कुन्द-कुद स्वामी अपने गुरु द्वादशाग के वेत्ता भद्रवाहु श्रुतकेवली को इस प्रकार स्मरण करते है—

बारस अंग वियाणं चउदस पुव्वं-विउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमय-गुरु-भयवओ जयउ ॥२११३॥

द्वादशांग विज्ञानः चतुर्दश पूर्वांग विपुल विस्तारः।
श्रुतज्ञानी भद्रबाहुः गमकगुरुः भगवान् जयतु ॥२११४॥

चौदह पूर्वांगरूप विपुल विस्तार सहित द्वादशाग के ज्ञानी गुरु श्रुत-ज्ञानी भगवान भद्रबाहु जयवत हो ।

गुरु के द्वारा जीव का महान हित होता है, यह सत्य कृतज्ञ शिष्य के सदा ध्यान मे रहना चाहिए । यह पद्य प्रसिद्ध है—

अज्ञान–तिमिरान्धानां ज्ञानांजन शलाकया ।
चक्षु रुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥२११५॥

वे गुरु वदनीय है, जिन्होने ज्ञानाजन युक्त सलाई के द्वारा अज्ञानाधकार से अधे शिष्यो के नेत्रो को उन्मीलित किया–रोग विमुक्त बनाया । णमोकार मत्र मे आचार्य, उपाध्याय परमेष्ठी को स्मरण करते हुए गुरु की वदना की जाती है । विवेकी व्यक्ति परमार्थ दृष्टि तथा व्यवहार दृष्टि युगल को हित साधक मानता है––

अध्यात्म दृष्टि तीर्थ वदना, देवाराधना, गुरु वंदना का निषेध करती हुई, आत्म देव की आराधना को हितकारी बताती है । परमात्म प्रकाश में लिखा है—

अण्णु जि तित्थु म जा हि जिय अण्णु जु गुरु उ म सेवि ।
अण्णु जि देउ म चिंति तुहु अप्पा विमल मुएवि ॥२११६॥

हे जीव, अपनी आत्मा को छोडकर किसी अन्य तीर्थ को मत जा, किसी अन्य गुरु की सेवा मत कर तथा किसी अन्य देव की आराधना मत कर ।

इसको पढने वाला एकान्त वादी भोगासक्त व्यक्ति अपने प्रमादी जीवन को पुष्ट करना चाहता है । वह तीर्थ वन्दना, गुरु सेवा तथा मन्दिर जाना, पूजा करना आदि को अनुपयोगी मानता हुआ उपरोक्त शास्त्र की आज्ञा को समक्ष रखता है । वह पूज्यवाद स्वामी के इस कथन को अपने स्वेच्छाचरण का अवलबन बनता है—

यः परमात्मा स एवाहं योहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयो पास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥२११७॥

जो परमात्मा है, वह मै हू, जो मै हू, वह परम आत्मा है, अत. मै अपने द्वारा उपास्य हू, अन्य कोई आराधना योग्य नही है, ऐसी यथार्थ स्थिति है ।

इस अभेद भक्ति रूप श्रेष्ठ स्थिति को श्रेष्ठ दिगम्बर श्रमण ही प्राप्त कर सकते है, उस स्थिति को साध्य बनाने वाला देव पूजा, गुरु भक्ति, तीर्थ यात्रा आदि साधनो का आश्रय ले अपने रागादि विकारो से अत्यन्त मलिन जीवन को स्वच्छ

बनाता हुआ मोक्ष पथ में प्रगति करता है। आचार्य कुन्द-कुन्द ने भाव पाहुड में कहा है—

जिणवर चरणंबु रूहं णमंति जे परम भत्ति–राएण।
ते जम्मवेलि मूलं खणंति वर भाव सत्थेण ॥२११८॥

जिनेश्वर के चरण कमलो को जो उच्च भक्ति युक्त अनुराग भाव से प्रणाम करते है, वे जन्म रूप वेलि के मूल को निर्मल परिणाम रूप शस्त्र से काट डालते है। देव, गुरु, तीर्थ आदि का सम्पर्क पाकर मोही मानव मानसिक मलिनता से छूटता है तथा ऐसे विशिष्ट आनद को प्राप्त करता है, जो भोग जन्य सुखों की अपेक्षा अत्यन्त उच्च कोटि का होता है। वीतराग की हृदय से भक्ति जनित आनन्द लोकोत्तर होता है। मोक्ष पुरुषार्थ सिद्धि के लिये आत्मा को अपनी शक्ति का अपव्यय रोककर स्वय मे केन्द्रित होना आवश्यक है। इससे परोपकार में समय व्यतीत करने वाले श्रमण को इष्टोपदेश मे आचार्य कहते है—

परोपकृति मुत्सृज्य स्वोपकार परोभव।
उपकुर्वन्परस्याज्ञः दृश्यमानस्य लोकवत् ॥२११९॥

आत्मन्! अन्य का उपकार रूप कार्य त्याग करके आत्मा के उपकार कार्य मे तत्पर हो। आत्मा से भिन्न शरीर आदि दृश्यमान वस्तुओ का हित संपादन कार्य मे अपना काल व्यतीत करते हुए तुम अज्ञानी जगत का अनुकरण करते हो।

इस कथन की ओट मे कोई करुणामयी प्रवृत्तियो से विमुख होकर तथा संकीर्ण दृष्टि को अपनावे, उसे आचार्य कहते है, प्रारम्भ मे तुम्हारा जीवन अपने से हीन स्थिति में पड़े हुए व्यक्तियो को ऊंचे उठाने में व्यतीत होना चाहिये। असमर्थ की सेवा सत्कर्म है। विवेकशील गृहस्थ के लिए दान देकर परोपकाररत रहना आव्यक है। व्यवहार दृष्टि के प्रकाश मे वे ही आचार्य पूज्यपाद कहते है—

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधि र्भेषजाद्भवेत् ॥२१२०॥

यह जीव दूसरों को ज्ञान दान करने से ज्ञानवान्, अभय दान देने से अभय पूर्ण स्थिति युक्त होता है, अन्न दान से सदा सुखी रहता है तथा औषधि का दन करने से व्याधिरहित होता है। अतः सदा दान देना उचित है। इस

तर्क संगत व्यवहार दृष्टि का निरादर कर विषयासक्ति पूर्ण स्वार्थी जीवन व्यतीत कर अपने को महान अध्यात्मवादी मानना अविवेकी का कार्य है। परोपकारी बनना गृहस्थ जीवन के लिये आवश्यक है। तपोवनवासी श्रेष्ठ श्रमणो की अपेक्षा स्वोपकार की दृष्टि को मुख्य माना गया है।

तत्त्वग्राही निश्चय दृष्टि कहती है एक ही खदान से निकले एक सगमरमर की चट्टान का एक अश मूर्ति बनकर भगवान शातिनाथ कहा जाता है और उस पाषाण का दूसरा अश मन्दिर की सीढी माना जाता है। यह भेद हमे मान्य नही है। हमारी निश्चय दृष्टि मे दोनो पाषाण समान है।

इस दृष्टि को एकान्त सत्य समन्वित स्वीकार करने पर गड़बड़ी हो जायगी। व्यवहारनय से प्रकाश प्राप्त स्याद्वादी कहेगा, खदान मे उस पाषाण मे भेद नही था, किन्तु जब मूर्तिकार ने पाषाण को तीर्थंकर की मूर्ति का आकार दिया, प्रतिष्ठा विधि द्वारा उसकी प्राण-प्रतिष्ठा हो गई, तब साधक की विवेक पूर्ण दृष्टि उस मूर्ति को भगवान मानकर विनय करने को प्रेरित करती है। उस दृष्टि से सीढी के पाषाण से उसकी समानता का पक्ष अब उपयोगी नही रहेगा। अकेला अध्यात्मवाद चक्कर मे डाल देगा, भगवान गोम्मटेश्वर की मूर्ति को वह पाषाण की मूर्ति मानेगा, भगवान बाहुबली की नही। ऐसा मानने से जीवन शोधन हेतु कुछ भी तत्त्व हाथ न लगेगा। व्यवहार दृष्टि से बाहुबली साक्षात् मूर्तिमान हैं, ऐसा मानकर आराधना करने से स्वहित सपादन होगा, अत. समन्वय पथ श्रेयस्कर एव शाति प्रदाता है।

शंका :— स्याद्वाद पक्ष वाला निश्चय तथा व्यवहार दृष्टियों को उपयोगी, उपकारी, हितकारी तथा श्रेयोपथ मानता है। वह एकान्त से अध्यात्म पक्ष मानने वाले का क्यों विरोध करता है ? ऐसा करना क्या सत्य तत्व का विरोध नहीं है ?

समाधान :— एकान्त पक्ष वाला जब सत्य का विकृत, विकारी, हानिकारी रूप उपस्थित करता है, तब सत्यग्राही दृष्टि वाले का आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि सत्य पक्ष के रक्षण हेतु एकान्त दृष्टि से होने वाली हानि पर प्रकाश डाले। जैनागम जब बौद्ध तत्त्वज्ञानी को एकान्त क्षणिक पक्ष का पोषण करते हुए पाता है, तब उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह पददलित किये जाने वाले नित्य पक्ष को

ध्यान में रखकर आक्रान्त एकांतवादी को न्याय का सही रास्ता बतावे। यही न्याय निश्चयनय और व्यवहार नय पक्ष को विस्मरण करने वाले एकान्तवादी चिन्तक के विषय मे लगाना चाहिये। एकान्तवादी सत्य को विकृत करता है। स्याद्वादवादी सत्य के सच्चे सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। इसलिये समन्वय पथ ही न्याय मार्ग है। एकान्त पथ सत्य पद का विनाशक है; मिथ्यात्व है तथा ससार सागर में जीव को डुबाने वाला है। वह काल कूट विष से भी भयकर है।

स्याद्वाद चक्र, पं. सु दि

जो जीव अपने को सम्यग्दृष्टि मान कर अहंकार करते हैं और अपने को निरबंध मानते हैं, सो क्या ठीक है ?

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या।
दित्पुत्तानोत्पुलक वदना रागिणोप्याचरंतु॥
आलंबतां समिति परतां ते यतोऽद्यापि पापा।
आत्मानात्माव गम विरहात्संति सम्यक्त्वरिक्ता॥२१२१॥

जो पर द्रव्य में राग द्वेष मोह से संयुक्त है और अपने को ऐसा मानते है कि मैं सम्यग्दृष्टि के बंध होना नही कहा है। ऐसा मानकर जिनका मुख गर्व सहित ऊँचा हुआ है। तथा हर्ष सहित रोमांच रूप हुआ है, वे जीव महाव्रतादि आचरण करे तथा वचन विहार आहार की क्रिया में यत्न से प्रवर्तने की उत्कृष्टता को भी अब अवलम्बन करे तो भी पापी मिथ्यादृष्टि ही है, क्योकि आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित है, इसलिये सम्यक्त्व से शून्य है।

जो अपने को सम्यग्दृष्टि माने और परद्रव्य से राग करे तो उसके सम्यक्त्व कैसा ?

व्रतसमिति पाले तो भी आप पर के ज्ञान के विना पापी ही है, तथा अपने बंध नही होना मानकर स्वच्छद प्रवर्ते तो कैसा सम्यग्दृष्टि ? क्योकि चारित्र मोह के राग से जब तक यथाख्यात चारित्र न हो तब तक बध तो होता ही है। जब तक राग रहता है, तब तक सम्यग्दृष्टि अपनी निंदा (गर्हा) करता ही रहता है, ज्ञान होने मात्र से तो बंध से छूटता नही, ज्ञान होने के बाद उसी मे लीन रूप शुद्धोपयोग रूप चरित्र से बंधन कटता है। इसलिए राग होने पर बध का न होना मानकर स्वच्छद

होना तो मिथ्यादृष्टिपना ही है। यहा कोई पूछे कि व्रत समिति तो शुभ कार्य है, उनको पालने पर भी पापी क्यो कहा ?

उसका समाधान—सिद्धान्त मे मिथ्यात्व को ही पाप कहा है, जहा तक मिथ्यात्व रहता है, वहां तक शुभ अशुभ सभी क्रियाओ को अध्यात्म मे परमार्थ से पाप ही कहा है और व्यवहारनय की प्रधानता मे व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुडाकर शुभ को लगाने की किसी तरह पुण्य भी कहा है। स्याद्वादमत मे कोई विरोध नही है। फिर कोई पूछे कि परद्रव्य से जब तक राग रहे तब तक मिथ्यादृष्टि कहा है सो इसको हम नही समझे, क्योकि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के चरित्र मोह के उदय से रागादिभाव होते है, उसके सम्यक्त्व किस तरह कहा है ?

उसका समाधान—यहा मिथ्यात्व सहित अनतानुबंधी का राग प्रधान करके कहा है, क्योकि अपने और पर के ज्ञान श्रद्धान के बिना परद्रव्य मे तथा उसके निमित्त से हुये भावो मे आत्मबुद्धि हो तथा प्रीति अप्रीति हो तब समझना कि इसके भेदज्ञान नही हुआ। मुनि पद लेकर व्रत समिति भी पालता है, वहां पर जीवो की रक्षा तथा शरीर सम्बन्धी यत्न से प्रवर्तना, अपने शुभ भाव होना इत्यादि परद्रव्य सबधी भावो से अपना मोक्ष होना माने और पर जीवों का घात होना, अयत्नाचार रूप प्रवर्तना अपना अशुभ भाव होना इत्यादि परद्रव्यो की क्रिया से ही अपने मे बध माने तब तक जानना कि इसके अपना और पर का ज्ञान नही हुआ, क्योंकि बध मोक्ष तो अपने भावो से था, परद्रव्य तो निमित्त मात्र था, उसमें विपर्यय माना, इसलिए परद्रव्य से ही भला बुरा मान रागद्वेष करता है, तब तक सम्यग्दृष्टि नही है। और जब तक चारित्र मोह के रागादिक रहते है, उनको तथा उनसे प्रेरित परद्रव्य सबंधी शुभाशुभ क्रिया मे प्रवृत्तियो को ऐसा मानता है कि यह कर्म का जोर है, इससे निवृत होने से ही मेरा भला है, उनको रोग के समान जानता है, पीडा सही नही जाती, तब उनका इलाज करने रूप प्रवर्तता है, तो भी इसके उनसे राग नही कहा जा सकता, क्योकि जो राग माने उसके राग कैसा ? उसके मेटने का ही उपाय करता है, सो मेटना भी अपने ही ज्ञान परिणामरूप परिणमन से मानता है। इस तरह परमार्थ अध्यात्मदृष्टि से यहा व्याख्यान जानना। मिथ्यात्व के बिना चारित्र मोह सबधी उदय के परिणाम को यहां राग नही कहा, इसलिए सम्यग्दृष्टि के ज्ञान वैराग्यशक्ति का होना अवश्य कहा है। मिथ्यात्व सहित राग को ही राग कहा गया है, वह सम्यग्दृष्टि

के नहीं है, और जिसके मिथ्यात्व सहित राग है वह सम्यग्दृष्टि नही है। उस भेद को सम्यग्दृष्टि ही जानता है। मिथ्यादृष्टि का अध्यात्म शास्त्र में प्रथम तो प्रवेश ही नही है और जो प्रवेश करे तो उलटा समझता है, व्यवहार को सर्वथा छोड़ भ्रष्ट हे जाता है, अथवा निश्चय को अच्छी तरह नही जानकर व्यवहार से ही मोक्ष मानता है, परमार्थ तत्व मे मूढ है। इसलिए यथार्थ स्याद्वादनय द्वारा सत्यार्थ समझने से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

समयसार क. पृ. २७६ ।। गाथा न. २००, आचार्य अमृत.

प्रश्न :—स्वसंवेदन के साथ आध्यात्मिक ग्रन्थों में वितराग विशेषण क्यों लगाया जाता है? स्वसंवेदन ज्ञाने वीतराग विशेषणं किमर्थ-मितिपूर्वपक्ष ?

उत्तर :—"विषयानुभव रूप स्वसंवेदन ज्ञान सरागमपि दृश्यते तन्निषेधार्थमि-त्यभिप्रायः।"

जो स्वसंवेदन अर्थात् अपने कर अपने को अनुभवना इसमे वीतराग विशेषण क्यो कहा? क्योंकि जो स्वसवेदन ज्ञान होवेगा, वह तो रागरहित होवेगा ही। इसका समाधान श्री गुरु ने किया कि विषयो के आस्वादन से भी उन वस्तुओ के स्वरूप का जानपना होता है, परन्तु राग भाव कर दूषित है, इसलिये निज रस का आस्वाद नही है, और वीतराग दशा में स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है, आकुलता रहित होता है। तथा स्वसवेदन ज्ञान प्रथम अवस्था मे चौथे, पाचवे गुणस्थान वाले गृहस्थ के भी होता है। वहां पर सराग देखने मे आता है, इसलिए रागसहित अवस्था के निषेध के लिये वीतराग स्वसवेदन ज्ञान ऐसा कहा है। रागभाव है, वह कषायरूप है, इस कारण जब तक मिथ्यादृष्टि के अनतानुबधी कषाय है, तब तक तो बहिरात्मा है, उसके तो स्वसवेदन ज्ञान अर्थात् सम्यक्ज्ञान सर्वथा ही नही है, व्रत और चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व तथा अनतानुबधी के अभाव होने से सम्यग्ज्ञान तो हो गया, परन्तु कषाय की तीन चौकडी बाकी रहने से द्वितीया के चन्द्रमा के समान विशेष प्रकाश नही होता, और श्रावक के पाचवे गुणस्थान मे दो चौकड़ी का अभाव है, इसलिये राग भाव कुछ कम हुआ, वीतराग भाव बढ़ गया, इस कारण स्वसवेदन ज्ञान भी प्रबल हुआ, परन्तु दो चौकडी के रहने से मुनि के समान प्रकाश नही हुआ। मुनि के तीन चौकड़ी का अभाव है, इसलिये राग भाव तो निर्बल हो

गया, तथा वीतराग भाव प्रबल हुआ, वहां पर स्वसंवेदन ज्ञान का अधिक प्रकाश हुआ, परन्तु चौथी चौकडी बाकी है, इसलिए छट्ठे गुणस्थान वाले मुनि सरागसंयमी है, वीतराग सयमी के जैसा प्रकाश नही है । सातवे गुणस्थान में चौथी चौकड़ी मद हो जाती है, वहां पर आहार विहार क्रिया नही होती, ध्यान मे आरुढ रहते है, सातवे से छट्ठे गुणस्थान मे आवे, तब वहा पर आहारादि क्रिया है, इसी प्रकार छट्ठा सातवा करते रहते है, वह पर अतर्मुहूर्त काल है । आठवे गुणस्थान मे चौथी चौकड़ी अत्यन्त मन्द हो जाती है, वहां राग भाव की अत्यन्त क्षीणता होती है, वीतराग भाव पुष्ट होता है, स्वसवेदन ज्ञान का विशेष प्रकाश होता है, श्रेणी मांडने से शुक्ल ध्यान उत्पन्न होता है ।

श्रेणी के दो भेद है, एक क्षपक दूसरी उपशम, क्षपक श्रेणी वाले तो उसी भव मे केवलज्ञान पाकर मुक्त हो जाते है, और उपशम वाले आठवे नवमें दशमें से ग्यारहवा स्पर्शकर पीछे मूड़ जाते है, सो कुछ-एक भव भी धारण करते है, तथा क्षपक वाले आठवे से नवमे गुणस्थान में प्राप्त होते है, वहा कषायो का सर्वथा नाश होता है, एक सज्वलनलोभ रह जाता है, अन्य सबका अभाव होने से वीतराग भाव अति प्रवल हो जाता है, इसलिए स्वसवेदन ज्ञान का बहुत ज्यादा प्रकाश होता है, परन्तु एक सज्वलन लोभ बाकी रहने से वहा सराग चारित्र ही कहा जाता है । दशवे गुण स्थान मे सूक्ष्म लोभ भी नही रहता, तब मोह की अट्ठाईस प्रकृतियो के नष्ट हो जाने से वीतराग चारित्र की सिद्धि हो जाती है । दसवे से बारहवे मे जाते है, ग्यारहवे गुणस्थान का स्पर्श नही करते, वहा निर्मोह वीतरागी के शुक्ल ध्यान का दूसरा पाया (भेद) प्रगट होता है, यथाख्यात चारित्र हो जाता है ।

बारहवे के अत मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अतराय, इन तीनो का विनाश कर डाला, मोह का नाश पहले हो ही चुका था, तब चारो घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने से तेरहवे गुणस्थान मे केवल ज्ञान प्रगट होता है, वहा पर ही शुद्ध परमात्मा होता है, अर्थात् उसके ज्ञान का पूर्ण प्रकाश हो जाता है, निःकषाय है । चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक तो अतरात्मा है, उसके गुणस्थान प्रति चढती हुई शुद्धता है, और पूर्ण शुद्धता परमात्मा के है, यह साराश समझना ।

परमातमप्रकाश, अ॰ योगी पृ न १९ गा. १२

जो मोक्ष में अधिक गुणों का समूह नहीं होता तो मोक्ष को तीन लोक अपने मस्तक पर क्यों रखता ?

अणु जइ जगहँ वि अहिययरु गुण-गणु तासु ण होइ ।
तो तइलोउ वि किं घरइ णिय-सिर उप्परि सोइ ॥२१२२॥

आगे बतलाते है—जो मोक्ष मे अधिक गुणो का समूह नही होता, तो मोक्ष को तीन लोक अपने मस्तक पर क्यों रखता ? 'अन्यद्' फिर 'यदि' जो "जगत अपि" सब लोक से भी 'अधिकतरः' बहुत ज्यादा 'गुणगणः' गुणो का समूह 'तस्य' उस मोक्ष में 'न भवति' नही होता 'ततः' तो 'त्रिलोकः अपि' तीनो ही लोक 'निजशिरसि' अपने मस्तक के 'उपरि' ऊपर 'तमेव' उसी मोक्ष को 'कि धरति' क्यो रखते ?

भावार्थ :—मोक्ष लोक के शिखर 'अग्रभाग' पर है, सो सब लोको से मोक्ष मे बहुत ज्यादा गुण है, इसीलिए उसको लोक अपने सिर पर रखता है, कोई किसी को अपने सिर पर रखता है, वह अपने से अधिक गुणवाला जानकर ही रखता है। यदि क्षायिक-सम्यक्त्व केवल दर्शनादि अनत गुण मोक्ष मे न होते, तो मोक्ष सबके सिर पर न होता, मोक्ष के ऊपर अन्य कोई स्थान नही है। सबके ऊपर मोक्ष ही है और मोक्ष के आगे अनत अलोक है। वह शून्य है, वहा कोई स्थान नही है। वह अनंत अलोक भी सिद्धो के ज्ञान मे भास रहा है। यहा पर मोक्ष मे अनत गुणो को स्थापन करने से मिथ्यादृष्टियो का खडन किया। कोई मिथ्यादृष्टि वैशेषिकादि ऐसा कहते है कि जो बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सस्कार इन नव गुणो के अभाव रूप मोक्ष है। उनका निषेध किया ? क्योकि इन्द्रियजनित बुद्धि का तो अभाव है। परन्तु केवल बुद्धि अर्थात् केवलज्ञान का अभाव नही है। इन्द्रियो से उत्पन्न सुख का अभाव है। लेकिन अतीन्द्रिय सुख की पूर्णता है। दुःख इच्छा द्वेष यत्न इन विभाव रूप गुणो का तो अभाव ही है। केवल रूप परिणमन है। व्यवहार-धर्म का अभाव ही है और वस्तु का स्वभाव रूप धर्म वह ही है। अधर्म का तो अभाव ठीक ही है और पर द्रव्यरूप-सस्कार सर्वथा नही है। स्वभाव सस्कार ही है। जो मूढ इन गुणों का अभाव मानते है। वे वृथा बकते है। मोक्ष तो अनत गुणरूप है। इस तरह निर्गुणवादियो का निषेध किया तथा बौद्धमति जीव के अभाव को मोक्ष कहते हैं। वे मोक्ष ऐसा मानते हैं कि जैसे दीपक का निर्वाण (बुझना) उसी तरह जीव का अभाव वही मोक्ष है। ऐसी बौद्ध की श्रद्धा का भी तिरस्कार किया, क्योंकि जो जीव का ही अभाव हो गया तो मोक्ष किसको हुआ ? जीव का शुद्ध होना वह मोक्ष है।

अभाव कहना वृथा है। सांख्य दर्शन वाले ऐसा कहते है कि जो एकदम सोने की अवस्था है, वही मोक्ष है। जिस जगह न सुख है, न ज्ञान है ऐसी प्रतीति का निवारण किया ऐसा कहते है कि जहा से मुक्त हुआ वही पर ही तिष्ठता है ऊपर को गमन नही करता ऐसे नैयायिक के कथन का लोक शिखर पर तिष्ठता है। इस वचन से निषेध किया, जहा बधन से छूटता है, वहां वह नही रहता, यह प्रत्यक्ष देखने मे आता है। जैसे :—कैदी जब कैद से छूटता है। तब बंदीगृह से छूटकर अपने घर की तरफ गमन करता है। वह निजघर निर्वाण ही है। जैन-मार्ग मे इन्द्रिय-जनित ज्ञान जो कि मति, श्रुत, अवधि मन.पर्यय है उनका अभाव माना है। और अतीन्द्रिय रूप जो केवल ज्ञान है। वह वस्तु का स्वभाव है। उसका अभाव आत्मा मे नही हो सकता है। स्पर्श, रस, गध, वर्ण, शब्द रूप इन पांच इन्द्रिय विषयो कर उत्पन्न हुए सुख का तो अभाव ही है। लेकिन अतीन्द्रिय सुख जो निराकुल परमानद है। उसका अभाव नही है। कर्मजनित जो इन्द्रियादिक दश प्राण अर्थात् ५ इन्द्रियां मन वचन काय आयु श्वाच्छोश्वास इन दश प्राणो का भी अभाव है। ज्ञानादि निज प्राणों का अभाव नही है। जीव की अशुद्धता का अभाव है। शुद्धपने का अभाव नही यह निश्चय से जानना।

प्रश्न :—अगर जो मोक्ष उत्तम सुख नहीं दे, तो सिद्ध उसे निरंतर क्यों सेवन करें ?

उत्तर :—उत्तमु सुक्खु ण देइ जर उत्तमु मुक्खु न होइ।
तो किं सयलु कि कालु जिय सिद्ध वि सेवहिं सोइ ।।२१२३।।

आगे कहते है कि जो मोक्ष उत्तम सुख नही दे तो सिद्ध उसे निरंतर क्यो सेवन करे ? 'यदि' जो 'उत्तम सुख' उत्तम अविनाशी सुख को 'न ददाति' नही देवे तो 'मोक्ष उत्तम' मोक्ष उत्तम भी 'न भवति' नही हो सकता, उत्तम सुख देता है। इसीलिए मोक्ष सबसे उत्तम है। जो मोक्ष मे परमानद नही होता 'तत' तो 'जीव' हे जीव 'सिद्धा अपि' सिद्ध परमेष्ठी भी 'सकलमपि काल' सदा काल 'तमेव' उसीं मोक्ष को 'कि सेवते' क्यो सेवन करते ? कभी भी न सेवते।

भावार्थ—वह मोक्ष अखड सुख देता है, इसीलिये उसे सिद्ध महाराज सेवते है। मोक्ष परम आल्हादरूप है, अविश्वर है। मन और इन्द्रियो से रहित है, इसीलिये उसे सदाकाल सिद्ध सेवते है। केवलज्ञानादि गुण सहित सिद्ध भगवान् निरतर निर्वाण मे ही निवास करते है। ऐसा निश्चित है। सिद्धो का सुख दूसरी जगह भी ऐसा कहा

है। "आत्मोपादान" इत्यादि इसका अभिप्राय यह है कि इस अध्यात्मज्ञान से सिद्धों के जो परमसुख हुआ है। वह कैसा है? कि अपनी-अपनी जो उपादान शक्ति है, उसी से उत्पन्न हुआ है। पर की सहायता से नही है स्वय (आप ही) अतिशयरूप है। सब बाधाओं से रहित है, निराबाध है, विस्तीर्ण है, घटती बढती से रहित है, विषय विकार से रहित है। भेदभाव से रहित है, निर्द्वन्द है, जहा पर वस्तु की अपेक्षा ही नही है, अनुपम है। अनन है अपार है, जिसका प्रमाण नही सदा काल शाश्वत है। महा उत्कृष्ट है, अनत सारता लिये हुये है, ऐसा परमसुख सिद्धो के है। अन्य के नही है। यहां तात्पर्य यह है कि हमेशा मोक्ष का ही सुख अभिलाषा करने योग्य है और ससार पर्याय सब हेय है।

क्या सभी पुरुषों के मोक्ष ही ध्यावने योग्य है ?

तिहुयणि जीवहं अत्थि णवि सोक्खहं कारणु कोई।
मुक्खु मुएविणु सक्कु पर तेषवि चिंतहि सोर ॥२१२४॥

अब तीन लोक में मोक्ष के सिवाय अन्य कोई भी परम सुख का कारण न है। ऐसा निश्चय करते हैं—

'त्रिभुवने' तीन लोक में 'जीवाना' जीवो को 'मोक्ष मुक्त्वा' मोक्ष के सि 'किमपि' कोई भी वस्तु 'सुखस्य कारण' सुख का कारण 'नैव' नही है। 'अस्ति एक सुख का कारण मोक्ष ही है। 'तेन' इस कारण तू 'पर एकं त एव' नियम से मोक्ष का ही 'विचितय' चितवन कर, जिसे कि महा मुनि भी चितवन करते है

भावार्थ :—श्री योगीद्राचार्य प्रभाकर भट्ट से कहते है कि वत्स, मो सिवाय अन्य सुख का कारण नही है। और आत्म-ध्यान के सिवाय अन्य मो कारण नही है। इसलिये तू वीतराग निर्विकल्प समाधि में ठहर कर निज स्वभाव को ही ध्या। यह श्री गुरु ने आज्ञा की। तब प्रभाकर भट्ट ने विनती भगवान तुमने निरतर अतीद्रिय मोक्ष सुख का वर्णन किया है सो ये जगत के अतीन्द्रिय सुख को जानते ही नही है। इन्द्रिय सुख को ही मानते है। तब गुरु कि हे प्रभाकर भट्ट कोई एक पुरुष जिसका चित्त व्याकुलता रहित है। और के भोगो से रहित अकेला स्थित है, उस समय किसी पुरुष ने पूछा तब उसने सुख से तिष्ठ रहे है उस समय विषय सेवनादि सुख तो है ही नहीं, उसने ना कि हम सुखी है।

इसलिये यह मालूम होता है सुख नाम व्याकुलता रहित का है। सुख का मूल निर्व्याकुलपना है वह निर्व्याकुल अवस्था आत्मा मे ही है। विषय सेवन मे नही भोजनादि जिव्हा इन्द्रिय का विषय भी उस समय नही है। स्त्री सेवनादि स्पर्श का विषय नही है। और गध माल्यादिक नाक का भी विषय भी नही है। दिव्य स्त्रियो का रूप अवलोकनादि नेत्र का भी विषय नही है। और कानो का मनोज्ञ गीत वादित्रादि शब्द विषय भी नही है। इसलिये जानते है कि सुख आत्मा मे ही है। ऐसा तू निश्चय कर, जो एकोदेश विषय व्यापार से रहित है। उनके एकदेश स्थिरता का सुख है। तो वीतराग निवकल्प स्वसवेदन ज्ञानियो के समस्त पंचइन्द्रियो के विषय और मन के विकल्प जालो की रूकावट होने पर विशेषता से निर्व्याकुल सुख उपजता है। इसलिये ये दो बाते तो प्रत्यक्ष ही दृष्टि गत है। जो पुरुष निरोग और चिता रहित है। उनके विषय सामग्री के बिना ही सुख शासता है और जो महा मुनि शुद्धोपयोग अवस्था मे ध्यानारूढ है उनके निर्व्याकुलता प्रगट ही दीख रही है। वे इन्द्रादिक देवो से भी अधिक सुखी है। इस कारण जब संसार अवस्था मे ही सुख का मूल निर्व्याकुलता दीखती है। तो सिद्धो के सुख की बात ही क्या है? यद्यपि वे सिद्ध दृष्टिगोचर नही है, तो भी अनुमान कर ऐसा जाना जाता है कि सिद्धो के भावकर्म, द्रव्यकर्म, नो कर्म नही तथा विषयो की प्रवृत्ति नही है, कोई भी विकल्प-जाल नही है, केवल अतीन्द्रिय आत्मीक सुख ही है। वही सुख उपादेय है अन्य सुख सब दु.खरूप ही है जो चारो गतियो की पर्याये है उनमे कदापि सुख नही है। सुख तो सिद्धो के है या महामुनीश्वरो के सुख का लेश मात्र देखा जाता है। दूसरे के जगत की विषय वासनाओ मे सुख नही है–ऐसा ही कथन श्री प्रवचनसार मे किया है। "अइसय" इत्यादि। साराश यह है कि जो शुद्धोपयोगकर प्रसिद्ध ऐसे श्री सिद्ध परमेष्ठि है, उनके अतीन्द्रि सुख है, वह सर्वोत्कृष्ट है और आत्मजनित है तथा विषय–वासना से रहित है अनुपम है जिसके समान सुख तीन लोक मे भी नही है, जिसका पर नही ऐसा बाधा रहित सुख सिद्धो के है।

आ. योगीन्दु देव परमात्म प्रकाश अध्याय २, गा ६–७–६

अध्याय ग्यारहवां : अनेकान्त एवं स्याद्वाद

अनेकान्त की दृष्टि में भाग्य एवं पुरुषार्थ का स्वरूप—

> **परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम् ।**
> **सकल नय विलसितानां विरोधमथनं नामाम्यनेकान्तम् ॥२१२५॥**

विश्व की समस्त वस्तु अनेकान्त स्वरूप होने के कारण उसको प्रतिपादन करने वाली वाणी भी अनेकान्त स्वरूप ही होना चाहिए ? यह सिद्धान्त नही है कि "प्रतिपादन करने वाली वाणी अनेकान्त स्वरूप है, इस कारण वस्तु अनेकान्तात्मक है ।"
अनेकान्त का अर्थ—"अनेके अन्ताः धर्माः यस्यासौ स अनेकान्त." (अनेक+अन्त), जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म पाये जाते है । उसे अनेकान्तामक कहते है। समस्त वस्तुएँ अनेकान्त स्वरूप है इसलिये वस्तु अनेकान्त मय है । Who have many characteristics that is called 'Anekant' that means Substances 'जिनेके अनेक धर्म (स्वभाव) है, उसको अनेकान्त कहते है अर्थात् वस्तु) मे यह अनेक धर्मात्मकपना किसी ने कभी प्रवेश नही करा दिया । यह वस्तु का स्वरूप होने से अनादि से स्वतः सिद्ध है ।

"यदीय स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्"—यदि यह अनेक धर्मरूपता वस्तु को स्वय पसन्द है, (उसमे है, वस्तु स्वय राजी है) तो हम बीच मे अराजी (नही मानने वाला) कौन ? जो अस्ति रूप है, वह अनेकान्तात्मक है एव वही वस्तु अर्थ क्रिया कारी वन सकती है—

> **जं वथ्थु अणेयत्त तं चिय कज्जं करेदि णियमेण ।**
> **बहुधम्म जुदं अत्थं कज्जकरं दीसदे लोए ॥२२५॥**

स्वा. कीर्ति

अर्थ—जो वस्तु अनेकान्त रूप है, वही नियम से कार्यकारी है, क्योकि लोक में वहुत धर्मयुक्त पदार्थं ही देखा जाता है । "सिद्धिरनेकान्तात्" किसी भी कार्य की सिद्धि अनेकान्त से ही हो सकती है ।

उपरोक्त प्रमाण से सिद्ध हुआ कि प्रत्येक सत् अनन्त धर्मात्मक है, अनन्त धर्मात्मक प्रमेय को (ज्ञेय) प्रमाण का विषय करने के लिये (ज्ञान करने के लिये)

अनन्त प्रमेयत्व पना (ज्ञान पना) आवश्यक है। यदि अनन्त ज्ञान है, तो एक समय समस्त ज्ञेय पदार्थो को एक साथ जान सकते है, केवल ज्ञान मे अनन्त ज्ञायकत्व पना है। इस कारण अनन्त धर्मात्मक वस्तु युगपत् ज्ञान का विषय हो जाती है, किन्तु ज्ञात पदार्थ का प्रतिपादन करने के लिये जिसका माध्याम (Medium) लिया जाता है। उस शब्द रूप वचनो मे अनन्त धर्मो की युगपत प्रतिपादन करने की शक्ति नही होने के कारण वह वस्तु का आशिक प्रतिपादन करता हैं। जैसे किसी व्यक्ति के पास १० मीटर वस्त्र है, उस व्यक्ति ने उस वस्त्र को नापना चाहा। यदि उसके पास १० मीटर वाला मापदण्ड हो तो वह एक साथ वस्त्र को माप सकता है, किन्तु उसके पास १ मीटर वाला मापदण्ड हैं इस कारण उसको १० बार नापना पडता है। वह एक या दो मीटर माप करते हुये यह नही सोचता है कि जो मैं वर्तमान मे १ मीटर परिणाम रूप वस्त्र माप कर रहा हूँ, वस्त्र उतना नही है किन्तु वह जानता है कि वस्त्र जितना लम्बा है उतना ही है किन्तु मै वर्तमान मे १ मीटर लम्बा वस्त्र को माप रहा हूँ, इस प्रकार वस्तु पूर्ण रूप से ज्ञान का विषय होने पर भी पूर्ण रूप से वचनो के अगोचर है। अनेकान्तात्मक वस्तु को निर्दिष्ट-यथार्थ रूप से कथन करने वाले कथन को (भाषा को) अनेकान्तवाद, अनेक धर्म वाद या स्याद्वाद कहते है। "अनेकान्तात्मक अर्थ कथनं स्याद्वादः' —अनेकान्तात्मक—अनेक धर्म (स्वभाव) विशिष्ट वस्तु का कथन करना स्याद्वाद है। The meaning of the word 'Anekantvada' The word Anekantvada' }consists of three wor..s, Aneka 'Anta' and Vada 'Aneka' means many 'Anta' signifies attri butes and 'Vada' means description The whole word means the description of many fold attributes

"स्याद्वाद"—(स्यात्+वाद) स्यात्–किसी निश्चित अपेक्षा से–अनेक धर्म समूह को विषय करने वाला। इस शब्द द्वारा अनेकान्त और सम्यक् एकान्त का बोध कराने वाला। वाद–कथन। स्याद्वाद वस्तु के यथार्थ रूप का निश्चय करने के कारण स्याद्वाद अर्थ यथार्थ कथन है। Syadvada consists of two words, syat and 'Vada' This syat suggests The existence of infinite attributes altlough the expression asserts about a particularattributes 'Syat' suggerts the from a particular stand-pont the tiut reveals it self in a particular form From other view-point the same substartum appears to possess other attributes

वस्तु अनेक स्वभावात्मक होने के कारण पूर्ण रूप से वचनो के अगोचर होने पर भी वस्तु को सर्व अवक्तव्य कहना भी असद्वाद है। क्योकि इस दशा मे "अवक्तव्य" यह वचन भी नही बोल सकेंगे जैसे कि मौनव्रती "मै मौनव्रती हूँ" यह शब्द भी नही बोल सकता है और भी जैसे कोई व्यक्ति कह रहा है कि मैं आपकी बात नही सुन रहा हू क्योंकि "मै गाढ निद्रा मे सोया हू" इस प्रकार वस्तु अव्यक्तव्य नही है। उसका कथन गौण मुख्य रूप से होता है। "अर्पितनार्पित सिद्धे:"— धर्मान्तिर विवक्षा प्रापित प्राधान्यमर्पित अनेकात्मकस्य वस्तुन. प्रयोजनवशात् यस्य कस्य चित धर्मस्य विवक्षय प्रापित प्राधन्यम् अर्थस्यमर्पितमुपनीतमिति यावत्। गौण और मुख्य विवक्षा से एक ही वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म सिद्ध है इस प्रकार अनेक धर्म भी प्रयोजनवश अनेकान्त वस्तु के जिस धर्म की विवक्षा होती है या विवक्षित जिस धर्म को प्रधानता मिलती है उसे अर्पित कहते है। 'तद्विपरीतमनर्पितम्'। प्रयोजन भावात् सतोऽप्यविवक्षा भवति इत्युपसर्जनी भूतमनर्पितमित्युच्यते जिन धर्मो के विद्यमान रहने पर भी विवक्षा नही होती, उन्हे 'अनर्पित' कहते है।

"Substances are endowed with an infinite nuber of attributes When we describe a substance we can do so by adopting one point of view at a time so giving prominece to a fewattributes However it does not mean that other attributes are of no purpose to us at that time."

वर्त्तमान युग वैज्ञानिक युग है। इस युग मे प्रत्येक कार्य वैज्ञानिक सिद्धात (Scientific theory) के अनुसार विश्लेषण किया जाता है। परीक्षा प्रधानी व्यक्ति वैज्ञानिक कार्यकारण भाव के अनुसार प्रत्येक विषय को परीक्षा करके मे उसको ग्रहण करता है। वर्त्तमान युग के आधुनिकता रूपी रग के चश्मा धारण करने वाले व्यक्ति आधुनिकता में जो कुछ हो रहा है, भले वह नैतिक पतन का कारण हो, किम्वा, आध्यात्मिकता का प्रध्वसक हो, अहिसा का घातक हो, जन गण का अहितकारी हो, विश्व का विध्वसंक हो, प्रेम, भातृत्व वात्सल्य का लोप करने वाला हो, समाज मे धर्म मे, साधर्मी में भेद डालने वाला हो तो भी उसको सहर्ष ग्रहण करता है।

उसका यह कार्य अपातत रमणीय होने पर भी उसका फल किपाक फल भक्षण के समान विपाक मधुर नही होगा और 'विषकुम्भ पयोमुख' के समान अन्तः

निसार एव फल भयावह होगा । वर्तमान वैज्ञानिक जगत को वास्तविक प्रकाश प्रदान करने वाले, महान समन्वय वादी, गणितज्ञ, निस्पक्षी महामना आइन्ष्टिन (Einstein) के "सापेक्षवाद" (The theory of Relativity) "स्याद्वाद" का ही अनुकरण है ।

The analogue, in modern science, of the theory of syadvada is the Einstein's famous theory of Relativity

Relativity describes the fact that the old laws of physics were not universally true they are true only in the limited sphere of inaceurate observation; they were merely relative. What the mathematicians have done is to derive formulas which shall be universally true for all conditions of space and matter and motions and time

According to Eninstein, we can know the truth, but not real truth or absolute truth We can only know the relative truth, the real truth is known only to the universal observer Universal observer of Einstein is noen else but the Almighty [Sarvaina omniscient] with infinitepowers of knowledge and bliss

आइन्ष्टिन् के सापेक्षवाद के अनुसार हम सब जो जानते है वह संपूर्ण सत्य (Absolute truth) नही है, किन्तु सापेक्षिक सत्य है (relative truth) सम्पूर्ण सत्य सर्वदर्श सर्वज्ञ के द्वारा ही जाना जाता है प्राचीन पदार्थ विज्ञान का जो सिद्धान्त है वह वास्तविक सत्य नही है, बहुत कुछ क्षेत्रो मे आशिक सत्य है । जो सिद्धात गणित के हिसाब से प्रदेश (Space) पदार्थ (Matter) क्रिया (Motions) एव समय के (Time) के सापेक्ष से है वह सत्य है वह प्रत्येक वस्तु का क्रिया–गति, दिशा, स्थिति आकार आदि सापेक्ष मानते है ।

If we want to know are the theorier of Science absolu truths ? No, they are not science is a serier of approximation to the truth, at no stage do we claim to have reached finality; any theory is liable to revision in the liget to new facts

विज्ञान सम्पूर्ण सत्य नही है, यह सत्य की खोज एक क्रम है । किसी भी परिस्थिति मे हम नही कह सकते है कि विज्ञान पूर्वत सत्य है, दर्शन शास्त्र के आवलम्बन से विज्ञान खोज [discover] करता है । दर्शन शास्त्र का विषय मूर्तिक

अमूर्तिक दोनों पदार्थ है जबकि विज्ञान का विषय केवल मूर्तिक है।

The scripture of phyilosophy described all with out form and possessed of form substances when the science described only possessed of form substances. So it is true that philosophy is the father of the science.

दर्शन विज्ञान का जनक है। दर्शन का क्षेत्र व्यापक एव विज्ञान का व्याप्य है। इस प्रकार महान्, परम गम्भीर, जिसका अमोघ चिन्ह (विजय पताका) स्याद्वाद है। इसी प्रकार अनेकान्तमयी अनेकान्त के मगल स्मरण से मैं जो अनादि कालीन पर समय रूपी दैव राज्य में परिभ्रमण कर रहा हूँ वहा से दैव एव पुरुषार्थ के द्वारा स्वसमय रूपी पुरुषार्थ राज्य में स्वतत्र से निवास करूं यह काम है।

श्रीमत्यरम गम्भीर स्याद्वाद मोघलाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य, शासनं जिनशासनम् ।।२१२६।।

अनादि काल से अनेकता स्वरूपी आत्मा परम पुरुषार्थ के अवलम्बन से रहित होकर अशुभ शुभ पुरुषार्थ के कारण दैव रूपी चक्रवर्ती के साम्राज्य मे पराधीन होकर आकुलता का अनुभव कर रहा है। अत्यन्त सुदूर अनादि काल से परम पुरुषार्थ के अभाव से दैव की अधिनता में रहते-रहते एव उसका ही कार्य करते-करते अपने को भूल बैठा है।

सुद परिचिदाणु भूदा सव्वस्स वि काम भोग बंध कहा।
एयत्तस्सुवलम्भो णवरि ण सुलभो विहत्तस्स ।।२१२७।।

The discourse relating to sence-enjoy ment and karmic bondage is heard understood and experienced by all the mudane souls But realisation of absoulute one ness with its own nature free from attechment is not easy of attainment

लोगों को काम भोग विषयक बध की कथा तो सुनने मे, परिचय मे एव अनुभव मे वार-बार आयी हुई है, इसलिये सुलभ है। किन्तु केवल भिन्न आत्मा का एकपना होना कभी न सुना, न परिचय मे आया और न अनुभव मे आया, इसलिये एक यही सुलभ नही है।

वर्तमान हम दैव एव पुरुषार्थ का वैभव एव शक्ति का पर्यालोचन करेंगे जिनो का साम्राज्य ससार एव मोक्ष है।

यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं,
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुखं सुखं वागतम् ।
कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये,
सर्वारम्भ में परिग्रह ग्रहपरित्यागी स वन्द्यः सताम् ॥२१२८॥

जीव ने पूर्वभव मे जिस पाप या पुण्य कर्म का सचय किया, वह दैव है। वह दैव दो प्रकार का है (१) पाप दैव (२) पुण्य दैव। इन दोनो दैव का सृष्टि करने वाला जो कर्त्ता है वह यथाक्रम (१) असत् पुरुषार्थ (२) शुभ पुरुषार्थ शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य। Virtuous activity is the cause of merit (Punya) and wicked activity is the cause of demerit (Papa) उसकी उदीरणा से अर्थात् पाप दैव एव पुण्य दैव का शासन काल में दोनो दैव को अनुभव करता हुआ, जो बुद्धिमान शुभ को ही करता है अर्थात् शुभ पुरुषार्थ को करता है, पाप पुरुषार्थ का त्याग करता है वह ही प्रशसा योग्य है। किन्तु जो (३) परम पुरुषार्थी दोनों दैव को ही नष्ट करने के लिये समस्त दैव का (अनुग्रह एव कृतज्ञता (आरम्भ व परिग्रह) रूपी पराधीनता को त्याग करके परमपुरुषार्थ रूप स्वाधीन स्वराज्य मे रमण करता है वह तो सज्जन पुरुषो के लिये वन्दनीय है।

यह महा पराक्रमी धूर्त, मूर्ख (जड) दैव विभिन्न राज्य में विभिन्न नाम धारण करके पुरुषो के ऊपर शासन करता है।

विधि स्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम् ।
ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेया कर्मवेधसः ॥२१२९॥

विधि, सृष्टा, विधाता, दैव, कर्म, पुराकृतम्, ईश्वर, कर्म आदि अनेक नामो को धारण करने वाला यह जड दैव है। यह दैव है। यह दैव मुर्ख (जड) होकर भी ससार मे एक जगाधिप शासन करने की शक्ति अशिक्षित, आलसी पुरुषार्थ विमुख पुरुषो से प्राप्त हुआ।

जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गल परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ । स. सा ८० ।

Material molecules are trans formed in to Karmas by reason of the mundare soul's *thought-activity*, *Similarly* the mundane soul is trans

formed (in to its impure thought-activity) by reason of operation of Karmic matter.

जीव परिणाम को निमित्त मात्र करके पुद्गल कर्म भाव से परिणमन करते है, पुद्गल कर्म को निमित्त मात्र कर जीव भी परिणमन करता है। इसी प्रकार दैव को शक्ति प्रदान करने वाला पुरुष (परम पुरुषार्थ हीन पुरुष) है और उस शक्ति के अनुशासन में शासित होने वाला पुरुष है। जब पुरुष उसको शक्ति प्रदान करता है, तब दैव विभिन्न रूप धारण करके विभिन्न कार्य करता है।

जह पुरि सेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं।
मंसवसारुहिरादि भावे उदयरग्गि संजुत्तो ॥२१३०॥

As the food taken by a man is modified in many way, in the form of flesh, nerver, blood, etc., by reason of the digestive heat of the human system. That like the molecules of the Karmic mater modified in many, in the form of eight kinds of Karma by impure thought activity of the mundane soul.

जैसे पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार वह उदराग्नि से युक्त हुआ अनेक-अनेक प्रकार मांस रस रुधिर आदि भावो रूप परिणमता है, उसी प्रकार कर्म पुद्गल भी जीवो के रागादि भावो को प्राप्त करके ४ प्रकार अथवा अनेक प्रकार दैव रूप से परिणमन करता है।

जिस प्रकार अतितुच्छ धूलि मन्त्र शक्ति युक्त होकर अनेक आश्चर्यजनक कार्य करती हैं, उसी प्रकार कर्मरूपी धूलि भी रागद्वेष शक्ति से युक्त होकर अनेक आश्चर्य जनक कार्य करती है, जिस प्रकार हल्दी एव चूना मिलकर अपना रूप त्याग करके लाल रग हो जाते है, और उस अवस्था मे दोनों का पृथक्-पृथक् सत्ता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नही होती है, उसी प्रकार पुरुष एव दैव की अवस्था होती है।

अविज्ञातस्थानो व्यपगततनुः पापमलिनः,
खलो राहु भास्वद्दृश शतकरा क्रान्त भुवनम्।
स्फुरन्तं भास्वन्त किल गिलति हा कष्टम परः,
परिप्राप्ते काले विलसति विधौ को हि बलवान ॥२१३१॥ आत्मानुशासनं

जिस प्रकार एक हजार (किरण) प्रकाश से विश्व पर आक्रमण करने वाला अतिशय प्रतापी सूर्य भी समय आने पर (ग्रहण के समय) जिसका स्थान अज्ञात है, जो शरीर से रहित है, जो पाप से मलिन है वह दुष्ट राहु कवलित करता है; तो भी प्रतापशाली सूर्य भी राहु के आक्रमण से आत्मरक्षा नही कर सकता है, उसी प्रकार कितना भी बलवान् पुरुष क्यों न हो, किन्तु वह भी काल से अपनी रक्षा नही कर सकता है । ठीक है–समयानुसार दैव उदय आने पर दूसरा कौन बलवान होगा ?

जिस प्रकार कूटनी हस्तीनी की भोग इच्छा रूपी कुपुरुषार्थ के कारण महा प्रताप शाली स्वाधीन विचरण करने वाला गजराज भी जगली दुष्ट पापियो के द्वारा पराधीन होकर उन्ही को ही अपना स्वामी एव पालन पोषण करने वाला एव सर्वेसर्वा मानकर उन्ही की ही सेवा करने लग जाता है, उसी प्रकार पुरुष भी अपना कुपुरुषार्थ के कारण दैव के आधिन होकर दैव को ही सर्वेसर्वा मान बैठता है ।

दइवमेव परं मण्णे धिप्पउरुसमणत्थयं ।
एसो सालसमुत्तुंगो कण्णो हणइ संगरे ।।२१३२।।

मैं केवल दैव (भाग्य) को ही उत्तम मानता हूँ, निरर्थक पुरुषार्थ को धिक्कार हो, देखो कि किले के समान ऊंचा जो वह कर्ण नामा राजा सो युद्ध में मारा गया । जो एकान्तत. भाग्य से ही कार्य सिद्ध मानते है, उस का भी कार्य सिद्ध नही हो सकता ।

दैवादेवार्थ सिद्धिश्चेद् दैवं पौरुषतः कथम् ।
दैवतश्चेद निमोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ।।२१३३।।

अन्वय–दैवादेव अर्थसिद्धिः चेत् (तदा) पौरुषत. देवं कथं (स्यात्) देवतः चेत् अनिमोक्षः पौरुष (च) निष्फल भवेत् ।

दैव (भाग्य) से ही एकान्ततः कार्य की सिद्धि (सुख, दु ख, ज्ञान, अज्ञान, कार्य की सफलता, निष्फलता) अगीकार किया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि भाग्य कैसे बना ? क्योकि "स्वय कृत कर्म यदात्मना पुरा, फल तदीय लभते शुभाशुभम् ।"

"What ever Karmas you have performed pereviously, you experience their fruits, whether good or evil"

यह जीव पूर्व मे जो शुभ या अशुभ पुरुषार्थ किया था, उसका फलस्वरूप वह पुरुपार्थ का परिपाक रूप शुभ अशुभ रूप भाग्य को उपभोग करता है । अर्थात्

भूत का पुरुषार्थ वर्तमान का भाग्य एवं वर्तमान का पुरुषार्थ, भविष्यत का भाग्य रूप से परिणमन करता है, जैसे बीज से वृक्ष एव वृक्ष से बीज की तरह। जैसा बोयेंगे वैसा पायेंगे;

As we sow So we reap.

पुरुषार्थ एवं भाग्य में कारण कार्य भाव है।

साधारणौ सकल जन्तुषु वृद्धि नाशौ,
जन्मान्तरार्जित शुभाशुभ कर्म योगात्।
धीमान् स यः सुगति साधन वृद्धि नाशः,
तद्वयत्याद्विगत धीर परोऽभ्यधायी ॥२१३४॥

समस्त प्राणियों मे समान रूप से पूर्व जन्म मे सचित किये गये पुण्य एवं पाप भाग्य के उदय से आयु शरीर एवं धन-सम्पत्ति आदि की वृद्धि और उनका नाश होता है। यदि इस प्रकार कहा जाय कि दैव की सिद्धि पूर्व दैव से ही होती है अर्थात् पहले २ के भाग्य से ही आगे २ का भाग्य बनता चला जाता है, तब तो इस प्रकार से भाग्य की परम्परा चलती रहने से कभी भी किसी को मोक्ष नही हो सकेगा और जो इस भाग्य परपरा से चलता रहता है, वह "तद्वयत्ययाद्विगत धीर परोऽभ्यधायी" दुर्गति (भाग्य) के साधन भूत वृद्धि नाश को (पुरुषार्थ को) अपनाने से निर्बुद्धि कहा जाता है। जो अभव्य एव दूरान्दूर भव्य है, जिन्ह को कभी भी मोक्ष जाना नही है, वह अनादि पूर्व परपरा दैव से अनन्त परपरा दैव आधीन रहकर भाग्य की अधीनता से स्वाधीन कभी नही हो सकता है। किन्तु इससे विपरीत "धीमान स यः सुगति साधन वृद्धि नाशः; सुगति अर्थात् मोक्ष की सिद्धि करने और वृद्धि एव भाग्य का नाश करने के लिए पुरुषार्थ को अपनाता है वृद्धिमान, भव्य पुरुषार्थ है, उसका भाग्य अनादि एव शान्त है। यदि दैव से ही कुछ मान लिया जायेगा, तो भाग्य की उत्पत्ति रोकने के लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है, वह भी निष्फल हो जायेगा। यदि पुरुषार्थ की सफलता निमित्त है ऐसा कहा जाय तो पुरुषार्थ से ही भाग्य का विनाश होता है। इससे मोक्ष की प्रसिद्धि होने से पुरुषार्थ सफलित हो जावेगा, सो इस प्रकार का कथन "दैवादेव सर्वः भवति इति या प्रतिज्ञा सा हीयते" दैव से ही सब कुछ होता है, इस कथन का निवारण हो जाता है, क्योकि इस कथन से पुरुषार्थ भी कार्यकारी

साबित हो जाता है, यदि ऐसा कोई भाग्य की कृतज्ञता प्रदर्शन करने के लिए मानेगा तो "मोक्ष का कारण भूत जो पुरुषार्थ होता है। वह भी तो भाग्य कारण होता है" अतः परम्परा से ऐसा सम्बन्ध होने से मुक्ति भी दैव के कारण है। तब तो स्याद्वाद अनेकातवाद होने से सत्य हुआ जो कि वस्तु स्थिति है।

समादिट्ठी पुण्णं ण होई संसार कारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जहवि णियाणं ण सो कुणई ॥२१३५॥
द्रव्यसंग्रह।

सम्यक्त्वी का (शुभ पुरुषार्थी) भाग्य का कारण नही होता है। यदि वह निदान (भाग्य के अधीन में रहने की इच्छा) नही करता है, तो वह भाग्य परम्परा से मोक्ष का हेतु होता है। कारण—

येनांशेन सुदृष्टि स्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु राग स्तेनांशे नास्य बन्धनं भवति ॥२१३६॥

जितने अश मे सम्यक्त्वपना (पुरुषार्थ) है, उतने अश में भाग्य की पराधीनता (बन्धन) नही है और जितने अश मे मिथ्यात्व (असत् पुरुषार्थ) है, उतने अश मे भाग्याधीन (बन्धन) है।

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखे दुःखे च षट् त्रयम्।
हितमाद्य मनुष्यटेयं शेषत्रम् मथाहितम् ॥२१३७॥
तत्राप्यद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्तते प्राप्नोति परमं पदम् ॥२१३८॥

शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप तथा सुख और दुःख मे से आत्मा के लिए हितकारक होने से आदि के तीन शुभ, पुण्य एव सुख आचरण के योग्य हैं। शेष तीन—अशुभ, पाप और दुःख—अहित कारक होने से छोडने के योग्य है। शुभ, पुण्य और सुख मे से शुभ पुरुषार्थ का परित्याग करना चाहिए। तब शुभ पुरुषार्थ से उत्पन्न होने वाला पुण्य सुभाग्य एव उसका कार्य सुख (सासारिक सुख) ये दोनो स्वय ही नही रहेगे। इस प्रकार शुभ पुरुषार्थ को त्याग करके परम पुरुषार्थ मे रमण करने से अन्त मे पुरुष अपना पुरुपार्थ सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है।

भाग्य परम्परा से मोक्ष का कारण होने से व्यवहार से (एक दष्टि से) मोक्ष का कारण माना जाता है, किन्तु एकान्तत भाग्य ही मोक्ष का कारण मानने

पर मोक्ष रूपी कार्य सिद्ध नही हो सकता है, क्योकि भाग्य के अभाव रूप कारण से एव परम पुरुषार्थ रूप कारण के सदभाव होने पर मोक्ष रूपी कार्य सिद्ध होता है ।

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम् ।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्त्रवः ।।

He whose meirit and demerit (Karmas) exhoust themselves with out bearing fruit, is a true ascetic. He will never have the karmie inflow and will attain liberation.

जिस वीतराग के पुण्य एवं पाप दोनो भाग्य फलदान के बिना स्वय अविपाक निर्जरा स्वरूप से निर्जीण होते हैं, वह योगी (पुरुषार्थी) कहा जाता है और उसके भाग्य की पराधीनता छूट जाती है, स्वाधीनता (मोक्ष प्राप्त हो जाता है, किन्तु आश्रव (भाग्य की सृष्टि) नही होती है ।

परम पुरुषार्थी पुरुष "प्रत्यक्षे प्रीयवादिनं परोक्षे कार्य हन्तार", ससार मे इन्द्रिय जन्य सुख देने वाला एवं मोक्ष रूपी कार्य को नष्ट करने वाला सुभाग्य को भी "त्यजेत्येतत् बन्धु विषकुम्भ पयीमुख", न्याय के अनुसार (बाह्य में सुख एवं अन्तरग में दुःख देने वाला) त्याग करता है । प्रत्यक्ष मोक्ष रूपी कार्य के भाग्य प्रतिबन्धक कारण है ।

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाण सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेति ।।२१३९।।

Know bad Karmas to be demerit and good Karmas at be merit. How can that be merit arious mhich causes the soul at wander in the cycly of existences.

अशुभ कर्म तो पाप स्वभाव (दुष्ट) और शुभ कर्म पुण्य स्वभाव (भद्र) है ऐसा जगत् जानता है । परन्तु वास्तविक जो पुरुष को ससार मे प्रवेश कराता है वह भाग्य शुभ या उपकारी कैसे हो सकता है । अतः सिद्ध हुआ-"बन्ध हेत्वा भाव निर्जराभ्यां कृत्स्न कर्म विप्रमोक्षो मोक्षः ।" मो, शा. १०—२.

Owing to the absrnce of tee cause of bondage and with functioning of the dissociation of karmas, the annihilation of Karmas is liberation

मिथ्यादर्शनादि बन्ध हेतुओं के अभाव से नूतन (कर्म) भाग्य का आना रुक जाता है। कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता ही है। निर्जरा के कारण (पुरुषार्थ से) सचित भाग्य (कर्मो का) विनाश सपूर्ण रूप से युगपत् क्षय हो जाने से मोक्ष हो जाता है।

परम पुरुषार्थ के द्वारा पुरुष समस्त विकल्पो (भाग्य) को नष्ट करके परम पुरुषार्थ (आप मे) में लीन होकर अचित्य अनन्त सुख का अनुभव करता है।

सर्वं निराकृत्य विकल्प जालं, संसारकान्तार निपात् हेतुम्।
विवक्तमात्मन मवेक्षमाणो, निलीयसे त्वं परमात्म तत्त्वे ॥२१४०॥

In order to destory the drery world-forest, liberate. Thy self from all trammels of delusion Realise Thy salf as distinc., and be engrossed in the Highesit-self,

अनादि कालिन एक छत्राधीप भाग्य का पराजय करके कृतकृत्य होकर स्वाधीन स्वराज्य मे विचरण करता है (पुरुष+अर्थ) पुरुष का प्रयोजन मोक्ष ही पुरुषार्थ आता है।

सर्वं विवर्त्तोतीर्णं यदा स चैतन्मय चलमाप्नोति।
भवति तदा कृत कृत्यः सम्यक् पुरुषार्थ सिद्धमापन्न. ॥२१४१॥

जिस समय परम पुरुपार्थ की सिद्धि को प्राप्त वह भाग्याधीन (अशुद्ध) आत्मा सम्पूर्ण विभावो से (शुभ अशुभ भाग्य से) मुक्त होकर अपने सुदृढ, निष्कम्प चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है, तब यह पुरुष कृतकृत्य (स्वाधीन) होता है।

जिस परमपुरुपार्थ द्वारा पुरुप ने अपने स्वराज्य को प्राप्त किया, उसका उपाय हुआ, भाग्य की सत्ता (अधीनता) का अस्वीकार एव अपनी सत्ता (स्वाधीनता) का स्वीकार। अपनी सत्ता के ऊपर विश्वास, अपनी सत्ता का ज्ञान एव अपनी सत्ता के अनुसार आचरण करना ही परम पुरुषार्थ सिद्धयुपाय है।

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्वं।
यत्तस्मादविचलन स एव पुरुषार्थ सिद्धियुपायोऽयं ॥२१४२॥

विपरीत श्रद्धान--भाग्य जनित पर्याय को आत्मा मान लेने (भाग्य मे ही अपनी सत्ता का विश्वास) रूप विश्वास को नष्ट करने के लिये अपना स्वतत्त्व सत्ता

का विश्वास (सम्यग्दर्शन); भाग्य से उत्पन्न पर्यायो से भिन्न अपनी शुद्ध सत्ता का यथावत् ज्ञान सम्यग्ज्ञान एव भाग्य कृत पर्यायो के आधीनता से मुक्ति पाकर अपने परमपुरुषाकार में स्थिर हो जाना सम्यक्चारित्र है इन तीनो का समुदाय ही पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय है ।

दंसणणाण चरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुण णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि ,अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।।२१४३।।

Right belief, right knowledge and right conduct should always be pursued by a saint always. Know all these three, again, to be the soul it self from the real standpoint,

पुरुषार्थिओं को (साधुओं के) निरन्तर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को ही पुरुषार्थ में लाने योग्य है और वे तीन है, तो वास्तव में (निश्चय नय से) एक पुरुष (आत्मा) ही जानो ।

"Self-reverence, self-knowlede, self contral. These three alone lead life to soureign power"

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः ।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों का समुदाय रूप परम पुरुषार्थ ही मोक्ष का मार्ग व उपाय है ।

इस प्रकार बीज अकुर न्यायवत् अनादि के अनन्त असत् पुरुषार्थ एव भाग्य की परपरा को परम पुरुषार्थ रूपी अग्नि से जलाकर भस्म कर देने के कारण जिस प्रकार अनादि परंपरा से चले आऐ बीज को दग्ध कर देने से फिर उस बीज से, अनन्त काल बीत जाने पर भी अकुर नही हो सकता; उसी प्रकार भाग्य को दग्ध करने के वाद उस भाग्य से भाग्यांकुर (ससार) पैदा नही हो सकता है ।

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुर ।
कर्म बीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुर ।।२१४४।।

जिन पुरुष ने पुरुषार्थ के द्वारा अपना स्वाधीन राज्य प्राप्त करके अनन्त सुख के भोक्ता वने, उन महापुरुषो ने भाग्याधीन असतपुरुषार्थी के दीनता को देखकर अत्यन्त

करुणा विह्वल होकर, परमपुरुषार्थ करने के लिये आश्वासन एवं विश्वास दिलाकर सम्बोधन कर रहे हैं—

अयि! कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतुहली सन् ।
अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्तम् ।।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन ।
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्व मोहम् ।।२१४५।।

अरे हे भाग्याधीन पुरुष! तू अनादि काल से भाग्य की सत्ता मे अपनी सत्ता मानकर उसकी अधीनता को त्यागकर अपनी स्वाधीनता का सुख कभी भी अनुभव नहीं किया, किसी भी प्रकार से, कुतूहल मात्र से भी स्वय को स्वतत्र जानने की इच्छा करके साल दो साल को ? नही । एक दो माह को ? नही । सप्ताह दो सप्ताह को? नही । दिन दो को? नही मात्र एक मुहूर्त को(४८ मि.)लिए ही सही भाग्य से स्वाधीन हो जा । तथा भाग्य से भिन्न जिसका विलास है ऐसे अपनी आत्मा को देखकर उसका तद्रूप मे अनुभव कर । ऐसा करने पर भाग्य के साथ जो तेरे एकत्व पने का विश्वास उसको तु शीघ्र ही छोड देगा ।

अनेकान्त रूपी अस्त्र के द्वारा परम पुरुषार्थी ने सर्वग्रासी भाग्य से जिस किस तरह मुक्ति दिलाकर यह घोषणा की थी कि जीव भाग्य से पृथक् है स्वतन्त्र है । परन्तु जिस पक्षी की चिरकाल से पिजरे मे परतत्र रहने के कारण सहज उड़ने की शक्ति कुठित हो गई है, उस पिजरे से बाहर भी निकाल दीजिये तो वह पिजरे की ओर ही झपटता है । इसी तरह यह जीव अनादि से परतत्र होने के कारण अपने मूल स्वातत्र्य पुरुषार्थ को भूला हुआ है और भय से भयभीत होकर कभी काललब्धि का, कभी नियती का नही तो कभी स्वभाव आदि का शरणागत होने के लिये उद्विग्न आतुर हो उठता है और अनेकान्तमयी पुरुषार्थ को करने के लिये आलसी होकर अनेकान्त को दूषण देता है और 'अनेकान्त' को भी अपनी पराधीनता की वृद्धि करने के लिये 'एकान्त' वना लेता है ।

आग्रही बात निनीषति युक्ति तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपात रहितस्य तु युक्ति यंत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ।।२१४६।।

एकान्ती (दुराग्रही) मनुष्य ने जो पक्ष निश्चित कर रखा है, वह युक्ति को उसी ओर ले जाना चाहता है । किन्तु जो अनेकान्ती (अदुराग्रही) निष्पक्ष दृष्टि से

विचार करना चाहता है, वह युक्ति का अनुसरण करके उसके ऊपर विचार करता है और तदनुसार वस्तु स्वरूप का निश्चय करता है। अनेकान्त रूपी सूर्य के प्रकाश मे एकान्ती उल्लू को नही दिखाई देने के कारण दिन को रात्रि मानता है और सूर्य की निन्दा करता है, इसी प्रकार दुर्भाग्य केक्कड़ा शासन मे जिसका सर्वस्व एवं स्वाधीनता हरण हो जाने के कारण एकान्त से ससार कान्तार में निवास करने वाले एकान्ती को अनेकान्तमयी प्रकाश भी अन्धकारमय (एकान्तमय) दिखाई देता है एव एकान्तमयी अन्धकार भी प्रकाशित दिखाई पड़ता है।

"आग्रही बत निनीषति युक्ति तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा" के अनुसार अनेकान्त को भी 'अपने को भाग्य के अधीनता के समय की मर्यादा की वृद्धि करने के लिये' एकान्तरूप से ग्रहण करता है, जिस प्रकार एक एकान्ती आध्यात्मिक वादी निम्नोक्त नीति श्लोक पढकर अपने आचरण को अनीतिमय करके इहलोक परलोक मे दुःखी होता है।

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोवष्ठत् ।
आत्मवत् सर्व भूतेषु यः पश्यति स पंडितः ।।२१४७।।

'मातृवत् परदारेषु यः पश्यति स पडितः ।' परस्त्री को अपनी मा की तरह देखने वाला पडित है।

अतः बालक जिस प्रकार अपनी मा का स्तनपान करता है, उसकी मा के पास सोता है आदि क्रिया करता है उसी प्रकार मै भी परस्त्री के साथ व्यवहार करके अपनी आसुरी इच्छा को पूर्ति करूँगा और यदि पकडा जाऊगा तो शास्त्र का प्रमाण दे दूँगा, इस प्रकार 'पर द्रव्येषु लोष्ठवत् आत्मवत् सर्व भूतेषु' का अर्थ अपनी स्वार्थ सिद्धि के अनुसार सयोजना करके श्लोक को मुखस्थ कर लिया। एक दिन अपने पड़ोसी के घर दूर ग्राम से एक सुन्दरी नवयुवती मेहमान आई। उस नवयुवती को देखकर अपना आसुरी प्रकृति को वश मे नही कर पाया। वह अपनी इच्छा को पूर्ण करने के लिये टाइम देखने लगा। उस समय गर्मी के दिन थे। इसलिये सब कोई हवा के लिये रात्रि मे बाहर सो गए। वह नवयुवती स्त्री भी बाहर सो गई। अन्धेरी रात्रि मे रात के दो बजे समस्त ग्राम सुनसान हो गया। किन्तु कामान्ध उल्लू को अमावस्या की रात्रि मे भी नवयुवती ही दिखाई दे रही थी। सुयोग पाकर अपनी आसुरी इच्छा की पूर्ति करने लगा। जब उस स्त्री की थोडी नीद

खुलने लगी तो वह वहा से भाग कर छुप-छुप कर आ गया। उस ने सोचा था कि छाती पर हाथ रखकर सो गई होगी। सो ऐसा कुछ हो गया। इधर धूर्त कामाग्नि मे जब एक बार घृत डल गया उसकी कामाग्नि और अत्यन्त प्रज्वलित हो उठी। दूसरे दिन रात को भो पूर्व कथित दुष्ट चेष्टा करने लगा। वह स्त्री भी पूर्व रात की घटना से कुछ शकित एव सावधान थी। उस स्त्री ने दुष्ट को पकड़ लिया एव हल्ला करने लगी। आसपास के अनेक लोगो ने आकर व्यभिचारी को पकड़कर बाध लिया है, राजा के दरबार का समय होने पर असत् पुरुष को लेकर दरबार में गये। असत् पुरुष का दुराचार के विषय मे न्याय चला।

न्यायधीश—(असत् पु. व्रती) तुम प्रतिज्ञा, शपथ करो कि मैं जो कहूँगा सब सत्य कहूँगा।

असत् पुरुष—क्या कभी सम्यग्दृष्टि अनेकान्तवादी असत्य कह सकता है?

न्याया—तुमने इस प्रकार अन्याय क्यो किया?

असत्—"मातृवत् परदारेषु यः पश्यति सः पण्डितः" क्या इसी प्रकार आचरए करना अन्याय है?

न्याया—तुमने उस स्त्री के साथ किस प्रकार आचरए किया?

असत्—जिस प्रकार अपनी सन्तान अपनी मा का स्तनपान करती है, पास मे शयनादि क्रिया करता है, उसी प्रकार मैंने किया। मैंने सोचा एक नयी मां आई है उसके प्रति मैं माँ का व्यवहार नही करूँगा तो अन्याय होगा। इसलिये मैंने मेरा कर्त्तव्य किया।

न्याया—तुमने उसके साथ अब्रह्मचारीपना क्यो किया?

पुरिसित्थियाहियालासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसदि।
एसा आयरिय परंपरागदा एरिसी दु सुदी॥२१४८॥

पुरुष वेद कर्म स्त्री की अभिलाषा करता है और स्त्री वेद कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है, यह आचार्य परम्परा से आई हुई ऐसी श्रुति है। मेरा पुरुष वेद कर्म का उदय सिर्फ बाह्य निमित्त मात्र था, वह स्त्री थी। निश्चय से अब्रह्मचारी का दोष नही हो सकता।

धात्री बालासतीनाथ पद्मिनी दलवारिवत्।
दग्धरज्जुवदाभासित भुञ्जानोऽपि न पापभाक्॥२१४९॥

जिस प्रकार बालक का धाय में, व्यभिचारिणी स्त्री मे पुरुष का, पद्म पत्र पर जलबिन्दु की तरह लिप्त नही होता, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भोग करते हुये भी निर्लिप्त रहते है। जली हुई रस्सी के समान पाप का भागी नही होता, किन्तु निर्जरा का निमित्त होता है।

उवभोगमिन्दियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणादि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जर णिमित्तं ॥२१५०॥

सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियो के द्वारा अचेतन और चेतन द्रव्य का जो उपभोग करता है, वह सब निर्जरा का निमित्त है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव जितना अधिक से अधिक गुणित क्रम से अचेतन-खाद्य अखाद्य परधन, स्वधन, धार्मिक क्षेत्र का धन, चेतन–स्वस्त्री, परस्त्री, वेश्या आदि का सेवन करेगा उतना अधिक से अधिक गुणित क्रम से निर्जरा का निमित्त होगा इसलिये तो भरत चक्रवर्ती अन्तमुहूर्त मे विज्ञान धन-रूप समयसार रूप अध्यात्म ज्योति को प्राप्त कर लिया था।

न्याया—सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्यात् ।
इत्युत्तानोत्पुलका वदना रागिणोप्याचरंतुः ॥
आलंबंतां समिति परता ते यतोऽद्यापि पापाः ।
आत्मानात्मावगम विरहात्संति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥२१५१॥

मै स्वय सम्यग्दृष्टि हूं। अतएव मेरे कर्म बन्ध कदाचित भी नही होता ऐसा विचार कर राग से रगे मिथ्यादृष्टि जीव ऊपर दृष्टि उठाकर तथा मुह फुलाकर भी व्रत आचरण करे तथा पच समिति आदि रूप क्रियाओ का आलम्बन करे तथापि आत्मा तथा अनात्मा के भेद विज्ञान के अभाव में तू सम्यग्दर्शन से हीन ही है। इस-लिए इस अवस्था में भी पापी ही है" जब महाव्रत पालन करने वाला भी उन्मत्त होकर अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर "सम्यग्दृष्टि विषय भोगते भी बन्धक नही है" ऐसा आगम है ऐसी व्याख्या करते हुए अपने को कर्म बन्ध से रहित माने तो वह मिथ्यादृष्टि है और अन्तरग वहिरग परिग्रह सहित, स्वच्छन्द आचरण करने वाला व्यभिचारी हो कर सम्यग्दृष्टि अपने आप बनकर "पर स्त्री सेवने से भी कर्म बन्ध नही होता, परतु निर्जरा होती है, इस प्रकार महान दण्ड का पात्र बनने का वचन कह रहा है। सम्यग्दृष्टि जिस प्रकार आत्मानुभव की ज्ञान तथा ससार शरीर एव भोगो के त्याग करने रूप शक्ति रूप लक्षण के अभाव से लक्षभूत सम्यग्दर्शन तुम मे नही। "व्यतिकीर्ण वस्तु व्यावृत्ति हेतु लक्षण।" "परस्पर व्यतिकरे सति येनान्यत्व लक्ष्यते

तल्लक्षण ।" परस्पर मिली हुई अनेक वस्तुओं से किसी एक वस्तु को अलग करने रूप हेतु को लक्षण कहते है। सम्यग्दृष्टि का जो लक्षण है, वह तुमको मालूम नही एव तुम मे पाया नही जाता ।

सम्यग्दृष्टि का लक्षण सुन—

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान वैराग्य शक्तिः ।
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्य रूपाप्ति मुक्त्या ।
यस्माद् ज्ञात्वा व्यतिकर मिदं तत्वतः स्व परं च ।
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात् सर्वतो राग योगात् ।।२१५२।।

सम्यग्दृष्टि के स्वसंवित्ति रूप ज्ञान एव ससार शरीर, भोगो का त्याग करने रूप वैराग्य शक्ति सुनिश्चय से प्राप्त होती ही है। अतएव स्वरूप की प्राप्ति तथा अपने से भिन्न जितना रागादिक जो पररूप उनके त्याग से निज वस्तु की प्राप्ति करने के लिए स्व तथा पर इनको यथार्थ मे भिन्न २ जानकर निज मे ही अपनी स्थिति को बनाता है तथा पर के सयोग से होने वाली समस्त रागादि परणति से विरक्त होता है। "तुम्हारे अन्दर सम्यग्दृष्टि के व्यवहार मे पाया जाने वाला सदाचार नैतिकाचार रूप अनात्मरूप लक्षण नही पाया जाता, तब निश्चय मे पाये जाने वाला ज्ञान वैराग्य रूप आत्मभूत लक्षण किस प्रकार सम्भव हो सकता है, किन्तु जो असदाचारी स्वच्छन्दी, मनमाना आचरण करने वाला कभी भी सम्यग्दृष्टि नही हो सकता। जिस प्रकार जिसने अनन्त बार मुनिव्रत धारण कर लिया, वह अभव्य हो सकता है, किन्तु जिसने बाह्य में कपडा त्याग नही किया वह कभी भी प्रमत्त गुणस्थानवाला मुनि नही हो सकता तो मोक्ष जाने की बात क्या? जिसका व्यवहार चारित्र ज्ञानादि है, वह अभव्य भी हो सकता है। जिसने निश्चय नय को प्राप्त कर लिया उसने व्यवहार नय को प्राप्त कर ही लिया, किन्तु जिसने व्यवहार नय को प्राप्त नही किया। वह कभी भी निश्चय नय को प्राप्त नही कर सकता। जिस प्रकार जिसने केवलज्ञान प्राप्त किया उसने समस्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। किन्तु जिसने मतिज्ञान को ही अभी तक प्राप्त नही किया, वह केवल ज्ञान को किस प्रकार प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार जिसने निश्चय नय के यथार्थ स्वरूप को नही जानकर उसको ही अर्थात् निश्चय श्रद्धान को अगीकार किया है, वह मूर्ख वाह्यक्रिया मे आलसी है और वाह्य क्रिया रूप आचरण को नष्ट करता है।

निश्चयमबुद्धयमानो यो निश्चय तस्तमेव संश्रयते ।
नाशयति करण चरणं स बहिः करणालसो बालः ॥२१५३॥
विषयी सुख का लालची, सुन अध्यात्मवाद ।
त्याग धर्म को त्याग करे विषयानुराग ॥२१५४॥

आत्मानुभव एवं सम्यग्दर्शन का तादात्म्य संबंध है । सम्यग्दर्शन के पश्चात् समस्त पदार्थों का सम्यक् परिज्ञान होने के कारण अन्य वस्तु से स्वयं को पृथक करने की सम्यक् चेष्टा करता है । इसलिये जिस जिस अंश में अन्य विषयादिसे स्वयं को पृथक् का विश्वास, ज्ञान एवं चेष्टा है उस २ अंश में कर्म बन्धन नही है अन्य समस्त अंश में बन्धन है ।

येनांशेन सुदृष्टि स्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु राग स्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१५५॥

यह हुआ अबंध का कार्यकारण भाव, इससे अन्य जितना अनध्यावसायादि हैं, वह सब बंध का कार्यकारण भाव है । अन्यथा ससार मोक्ष का कार्यकारण भाव लोप हो जायेगा; सिद्ध जीव विषयानुभोगी नही होने के कारण संसार में परिभ्रमण करेंगे ।

यथा-यथा न रोंचते, विषयाः सुलभा अपि ।
तथा-तथा समायाति, संवितौ तत्त्वमुत्तमम् ॥२१५६॥

As even those objects of pleasure which are easly obtainable become increasingly intoleralie, in the same measure does the glorious self come in to one's enjoy ment !

ज्यो-ज्यों सुलभ से प्राप्त होने वाले विषय भोग आसक्ति रूप रुचिकर प्रतीत नही होते त्यों-त्यों स्वात्म संवेदन में निजात्मानुभवन की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है । इससे विपरीत मिथ्यात्व कार्य है, जो कि तुम्हारा कार्य है ।

असत् पु.—आप अनेकान्तवाद को जानते हैं इसलिये मेरे ऊपर दोपारोपण कर रहे हैं । मैं इस को कर्त्तापने से नही करता हूं उस कार्य के समय में ज्ञापक निमित्त उपस्थित होता ही हूँ और सूचना करता है कि उपादान अभी अपनी शक्ति ने अनुसार परिणमन कर रहा है, उस परिणमन का कौन निवारण कर सकता है ।

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णाणं जिणेण णियदं जम्मं अहव मरणं वा ॥२१५७॥

तं तस्स तम्मि देसे तेरण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिरिंणदो वा ॥२१५८॥

जिस जीव का जिस देश और जिस काल में जिस विधि से जन्म अथवा मरण (उपलक्ष से अन्यान्य समस्त कार्य) जिनेन्द्र देव ने नियत जाना है। उसका उस देश और उस काल में जन्म अथवा मरण उस विधि से नियम से होता है। चाहे इन्द्र हो अथवा स्वयं जिनेन्द्र देव हो उसे चलायमान कौन कर सकता है ?

उस उपादान रूपी स्त्री की उन्ही के आंगन में, रात्री समय में मेरा वाह्य व्यवहारीक ज्ञापक निमित्त के उपस्थिति मात्र से व्यभिचार रूप कार्य होना था। उपरोक्त प्रकार होने का सर्वज्ञ ने नियत रूप से जाना था इसको निवारण करने के लिये इन्द्र अथवा स्वयं सर्वज्ञ अनन्त शक्तिवान जिनेन्द्र भी निवारण नही कर सकते है तो मैं उसको निवारण करने रूप अनध्यवसाय का कर्त्ता होकर कर्म को क्यो बाधता? यदि यह कार्य हो भी गया तो अधीर, पश्चाताप लज्यान्वित क्यो हूगा ?

जो जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे ।
अनहोनी कहूं हो है नहीं काहे हूगां अधीरा रे ॥२१५९॥

इस प्रकार वीतराग भगवान के ज्ञान पहिले से निश्चित रूप में नियत रूप मे क्रमवद्ध पर्याय के अनुसार होने का झलका था, जिससे कि होकर ही रहा। यदि पहिले से नहीं झलका हुआ होता, तो यह घटना नही होती। अतएव वीतराग भगवान दोषी हैं, मैं अनेकान्ती हूँ, मेरा जीवन ही अनेकान्त मय है। वर्तमान उपादान के ऊपर विचार करिये। व्यभिचार रूप क्रिया का कार्य उस स्त्री मे हुआ। अतः वह स्त्री हुई उपादान "उपादान के कार्य के समय मे निमित्त स्वयमेव उपस्थित होता ही है, "इस सिद्धान्त के अनुसार उस अन्धकारमयी रात्रि के दो वजे के समय उस स्त्री की उपादान कार्य की ज्ञापक निमित्त होनेको कोई न कोई पुरुप को उपस्थित होने का कष्ट करना पडता था और वाद मे वतमान मेरी जो दशा है, इसी प्रकार होता। यह सव नही हो इसलिए मैं कष्ट करके ज्ञापक निमित्त रूप से उपस्थित हो गया था और यह सव उपादान के योग्यता के अनुसार ही हुआ। जिस प्रकार उपादान रूपी मिट्टी का घड़ा रूप वनने की योग्यता होती है। तव कुम्हार कुदाल, चाक आदि ज्ञापक उदासीन निमित्त उपस्थित हो ही जाता है और मिट्टी ही उस घट का

उपादान कारण होने से कर्त्ता है,. इसी प्रकार व्यभिचार क्रिया मे कर्त्ता वह स्त्री है और उसके निमित्त से मेरे को जो कष्ट हुआ, समय नष्ट हुआ, इतना मेरा स्वसमय नष्ट करके आप लोक को आध्यात्मिक अनेकान्त ज्योति को प्रदान किया, इन सबका दड उस व्यभिचारिणी स्त्री को देना चाहिए और मेरे स्वदार सतोष ब्रह्मचारी अणुव्रत में दोष लगाकर पापिनी बनी उसके लिए मेरे से आकर क्षमा याचना करे एवं प्रायश्चित लेकर पाप का प्रक्षालन करे।

जरा वर्तमान, देश, काल, विधान के अनुसार विचार अनेकान्त दृष्टि से करिये। उन्ही के आंगन में रात्रि के समय मे उस स्त्री की सोना और मेरा उपस्थित होना एव स्त्रीलिग, पुल्लिग सयोग रूपी विधान से कार्य होने से कथचित् रात्रि दो बजे का दोष कथचित्, उस आगन का दोष, कथचित उस विधान का दोष है। वस्तुतः इन लोगो को सम्मिलित होकर मेरे को बान्धने का उपादान इन लोगो मे था, अतः यह कार्य हुआ। इसलिए यह सब लोक का दोष है। यदि निश्चय से विचार करे तो आपको यहा वर्तमान समय मे न्यायाधीश होकर समाधान करने का उपादान रहने के कारण यह सब अनर्थ हुआ। अतः आप ही दण्ड के भागी है। आप अपना दोप नही देखकर मेरे दोप की समीक्षा कर रहे है। सम्यग्दृष्टि का कार्य तो अपना दोष देखना, दूसरे का दोष ढकना और यह उपगुहन अग है।

न्याया—जत्तु जदा जेण जहा जस्स च णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तस्स तहा हवे इदि वादो णियति वादो दो ।।२१६०।।

जो जिस समय जिससे जैसे जिसके नियम से होता है, वह उस समय उससे वैसे उसके ही होता है—ऐसा नियम से सब वस्तु को मानना उसे नियतिवाद कहते है, जो कि एकान्त होने से मिथ्या है। तूने एकान्त नियति वाद का आश्रय लेकर अपना दोष नियति के ऊपर डाला है। तू विपयान्ध होने के कारण महान्ध है इसलिए तुझको अनेकान्तमय प्रकाश मे भी नही दिखाई दे रहा है।

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धो कृतेक्षणः।
चक्षुणान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ।।२१६१।।

तू वीतराग सर्वज्ञता की आड़ लेकर अपने दोष छिपा रहा है। दिनकर का जब उदय होता है, उल्लू को मालुम होता है कि वर्तमान रात्रि कर का उदय हो रहा है।

एक चन्द्रमुखी नवयुवती के मुख पर जब कालिक लग गई, तब वह दर्पण मे अपना मुख देखी तो बहुत कुरूप दिखाई पडी । वह सोची कि दर्पण मे मेरा चेहरा कुरूप दिखाई देना था, इसलिए मेरे मुख पर कालीक लगी, एव कुरूप हो गयी । इस प्रकार दिखाई देने का उपादान दर्पण मे होने के कारण यह सब निमित्त अपने आप हो गया । इस प्रकार सोचकर क्रोध से दर्पण को नीचे पटक दिया तो दर्पण पैर मे लगा एव पाव कट गया । इस प्रकार तुम्हारा न्याय है । भगवान निश्चय से अपनी आत्मा को ही जानता देखता है । व्यवहार से सर्व पदार्थो को जानते देखते है । आत्मा का आत्यन्तिक निर्मलता के कारण दर्पण की तरह अन्य वस्तु झलकती है ।

जाणदि पस्सदि सव्वं व्यवहार णएण केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥२१६२॥

जिस प्रकार केवली अनन्तानत को जानने मात्र से उसको शान्त नही कर देते, उसी प्रकार त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थो को जानने मात्र से भगवान उन सब पदार्थो का नियन्त्रण कर्त्ता वा पर्यायो को क्रमबद्ध से व्यान्ध करके नियत समय मे भेजने (Suppaly) वाला नही । अतः पदार्थ जिस पर्याय रूप परिणमन करता है, उस पर्याय का वह कर्त्ता होने के कारण वह उसका फल भोगने वाला है ।

जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो सो ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णे सो ॥२१६३॥

जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्चदुक्खिदो होदि ।
तत्तो सिया अणणो तह चेट्ठंतो दुहि जीवो ॥२१६४॥
रागो दोसो मोह जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा ।

राग, द्वेप, मोह जीव का ही अनन्य परिणाम है । जैसे स्वर्णकरादि शिल्पी कुण्डलादि ऐसे बनाऊ गा, इस प्रकार मन मे चेष्टा करता है तथा उस चेष्टा से वह तन्मय हो जाता है । उसी प्रकार जीव भी रागादि भाव कर्म करता है और वह उस भाव कर्म से तन्मय हो जाता है । जैसे स्वर्णकरादि शिल्पी चेष्टा करता हुआ नित्य दुःखी होता है और उस दु ख से अनन्य होता है, उसी प्रकार जीव हर्ष-विषाद, राग अन्याय व्यभिचार रूप चेष्टा करता हुआ दुःखो होता है और उस दु ख से वह अनन्य है । अत तुमने व्यभिचार करने का विचार किया फिर उस क्रिया को किया

दोनों अवस्था में तन्मय होने के कारण वर्त्तमान तुमको दण्ड रूप मे भी तन्मय होना पड़ेगा।

तुमने जो निर्जीव एव स्थानान्तरित क्रिया से रहित काल को जो दोष लगाया, वह भी तुम्हारी धूर्तता का परिचायक है। जैसे एक व्यक्ति ने अपनी शत्रुता के प्रतिशोध लेने की इच्छा से अपने शत्रु के घर को जला दिया। पकड़ा गया, तब कहता है कि मै दोषी नही हूँ। आकाश दोषी है क्योकि आकाश यदि अग्नि को अवकाश (जगत) नही देता तब अग्नि किस प्रकार उसका घर जला सकती थी? तुम लोग पक्षपात करने से तुम लोग दण्ड के पात्र हो, क्योंकि आकाश बडा होने के कारण उसको दण्ड नही दे सकते हो, मै छोटा होने के कारण मेरे को दण्ड देने का विचार कर रहे हो। ठीक है—"सबै सहायक सबलके दुर्बल कोउ न सहाय।
पवन बुझावत दीपक आग देत जलाय।"

तुम्हार कालवाद एकान्त होने से मिथ्या है।

कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदे भूदं।
जागत्ति हि सुत्ते सुवि ण सक्कदे वंचिदुं कालो ॥२१६५॥

काल ही सबको उत्पन्न करता है और काल ही सबका नाश करता है, सोते हुए प्राणियों मे काल ही जागता है, ऐसे काल के ठगने को कौन समर्थ हो सकता है? इस प्रकार काल से ही सबको मानना यह कालवाद जो एकान्त होने से मिथ्या है। इस प्रकार तुमने दोष किया, फिर दोष को छिपाने के लिये मायाचार, असत्य अनेकान्तमयी जिनवाणी का अपवाद निर्दोषिओ मे दोषारोपण आदि अनेक गर्हित पाप किया एव जिन धर्म में कलक लगाया। तुम दण्ड के भाजन हो।

राजा—(अत्यन्त गभीर एव तेजस्वी भाषा में) अरे मूर्ख! तू यह नही समझता कि अहिसा जिसका प्राण है, ऐसे जैनी, धर्म को लोप करने वाले को नैतिकाचार को ध्वस करने वाले को, आध्यात्मिकता के परदा मे शिथिलाचार को फैलाने वाले को "might is right" को घोषणा करने वालो को दमन करके धर्म के नाम से अधर्म के प्रचार को लोप नही कर सकता। तू यह भी नही समझता कि उत्तम क्षमादि भूषण से विभूषित जैनी कायर, दुर्बल, दीन होते है। तू यह भी नही समझता कि अनेकान्तवादी कथचित् धर्म का लोप करने वालो को सहायता भी करते है और कथञ्चित् दण्ड भी देते है। वे तुम्हारे जैसे बगुला भगत नही होते है, वह तो राज एव गरुड (हस) जैसे होते है यदि एक भी जैनी है और सारा विश्व यदि धर्म

के विरुद्ध उसके सम्मुख कुछ क्रिया करेंगे तो वह सारे विश्व के विरुद्ध भी पदाक्षेप लेने के लिये कभी पीछे हटेगा ही नही। (सिपाहियो के प्रति) इस धूर्त को काला मुँह करके गधे के ऊपर बैठाकर मेरे राज्य के बाहर कर दो क्योकि यदि एक भी इस प्रकार धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार करने वाला राज्य मे रहेगा तो अनेक भोले प्राणी कुमार्गगामी हो जावेगे एव धर्म का नाम सुनकर जनगण मे एक घृणा का भाव पैदा हो जायेगा। अन्य क्षेत्र मे अधर्म करने वालो से धर्म क्षेत्र मे अधर्म करने वालों का पाप अधिक होता है। अन्य क्षेत्रे कृत पाप धर्मक्षेत्रे विनश्यति।

धर्मक्षेत्रे कृत पाप वज्रलेपो भविष्यति ॥२१६६॥

जब इस प्रकार अनेकान्तमयी अमोघ अस्त्र के द्वारा परमपुरुषार्थी ने अनादि कालीन एक छत्राधीप भाग्य को पराजय कर अपना स्वाधीन राज्य प्राप्त किया, तब एकान्ती पुरुषार्थ गर्जना करके कहता है कि—

आलसड्ढो णिरुच्छाहो फलं किंचि ण भुंजदे।

थणकरवीरादि पाणं वा पउरुसेण विणा ण हि ॥२१६७॥

जो आलस्य कर सहित हो तथा उद्यम करने मे उत्साह रहित हो, वह कुछ भी फल नही भोग सकता। जैसे स्तनो का दूध पीना, बिना पुरुषार्थ के कभी नही बन सकता। इसी प्रकार पुरुषार्थ से एकान्ततः सब कार्य की सिद्धि होती है, ऐसा मानना पुरुषार्थवाद है जो कि एकान्त होने से मिथ्या है। क्योकि पुरुषार्थ करते हुए भी प्रत्येक कार्य की सिद्धि नही देखी जाती है।

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम्।

पौरुषाच्चेदमोघं स्यात्सर्व प्राणिषु पौरुषम् ॥२१६८॥

अन्वय—चेत् पौरुषात् एव सिद्धिः तदा दैवतः पौरुषं कथं स्यात् पौरुष सात् चेत् तर्हि सर्व प्राणिषु पौरुषं अमोघ स्यात्।

यदि पुरुषार्थ से ही अर्थ की सिद्धि होती है, ऐसा माना जाय तो दैव से जो पुरुषार्थ की सिद्धि होती हुई देखी जाती है, उसका निर्वाह कैसे हो सकेगा। यदि इस प्रकार समाधान किया जायेगा कि पुरुषार्थ की सिद्धि पुरुषार्थ से ही होती है, दैव से नही, सो इस प्रकार की मान्यता मे सर्व प्राणियो का पुरुषार्थ सफल ही होने का प्रसग प्राप्त होता है। वर्तमान पुरुषार्थ भी पूर्व दैव की अनुरूप होता है।

तादृशी जायते बुद्धि व्यवसायश्च तादृशः ।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ।।२१६९।।

जैसी भवितव्यता (भाग्य) होती है, उसी तरह की बुद्धि हो जाती है, उसी प्रकार का व्यवसाय (पुरुषार्थ) होने लगता है, सहायक भी उसी तरह के मिल जाते है। इस प्रकार भाग्य द्वारा बुद्धि पुरषार्थ का निर्माण सिद्धि होता है। "पुग्गल-कम्ममित्त तहेव जीवो विपरिरणमइ।" भाग्य के निमित्त पाकर जीव भी भाग्य के अनुरूप परिरणमन करता है। केवल भाग्य के अनुरूप परिरणमन नही करता वर अनादि से जीव भाग्य के अधीनता में रहकर अपना जन्म गत अधिकार एव अनन्त शक्ति रूप अणुजीवी गुरण को भी घाति कर्म के विनिमय मे भाग्य को बधक देकर दीन होकर संसार रूपी राज्य मे 'द्वार २ देहि २' करके अनादि से परिभ्रमरण कर रहा है। किन्तु अभी तक उसको पेट भर खाने के लिये सुखी रोटी भी प्राप्त नही हुई। मिष्ठान्न, घृतान्न, Vitimeine, tonic आदि कहां प्राप्त होगा ? जिससे वह शक्तिशाली होकर भाग्य के साथ युद्ध करे।

सो सव्वरणारणदरिसी कम्मरयेण रिणएणावच्छण्णो ।
संसार समावण्णो ण विजारणदि सव्वदो सव्वं ।।२१७०।।

पुरुष सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है किन्तु अपने भाग्य रूपी मिट्टी से आच्छादित होने के काररण ससार को प्राप्त हुआ है। वह समस्त पदार्थो को सब प्रकार से नही जानता।

जब भाग्य का एकछत्राधिपति शासन चलता है, उस समय उन्ही के शासन के अन्तर्भूत कौन ऐसे पुरुष है, उन्ही के आदेश के अनुसार नही चले।

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव,
स्वयं स्राष्टा सृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः ।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुनरप्याह जगती,
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलङ्घ्यं हतविधेः ।।२१७१।।

जिस आदिनाथ भगवान के गर्भ मे आने के पूर्व छह महीने से ही इन्द्र दास के समान हाथ जोडे हुए सेवा में तत्पर रहा, जो स्वय ही सृष्टि की रचना करने वाले थे अर्थात् कर्मभूमि की सस्थापन करने वाले थे, एव जिसका पुत्र भरत निधियो के स्वामी अर्थात् चक्रवर्ती था; जो स्वय चार ज्ञान का स्वामी, वज्रवृषभ नाराचसहनन

का धारी था और जो महान् पुरुषार्थी थे, ऐसे आदिनाथ तीर्थंकर जैसे महापुरुष भी भाग्य का अनुग्रह नही होने के कारण बुभुक्षित होकर छह महीने तक पृथ्वी पर घूमे; यह आश्चर्य की बात है। ठीक ही है—भाग्य के राज्य में कोई भी प्राणी दुष्ट भाग्य के विधान को लांघने में समर्थ नहीं है। ऐसा महान् पुरुषार्थी भी आहार के लिये छह महीना तक पुरुषार्थ करते हुये भी बिना भाग्य के कार्य सिद्धि कर नहीं पाये जो कि भाग्य के अनुग्रह से एक वेला में प्राप्त कर सकते थे, तब अन्य पुरुष की बात ही क्या?

जब भाग्य के राज्य में परिस्थिति कालीन राष्ट्रपति शासन रूप निकाचित कारण लागू रहता तब उस शासन को कौन ऐसे पुरुष है, जो उस कार्य-क्रम को थोड़ा सा भी हेर फेर कर सकते हैं। "उदयावल्यां निक्षेप्तुं संक्रमयितुमुत्कर्षयितुमपकर्षयितुं चा शक्यं तन्निकाचितं नाम भवति।" जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारों ही अवस्थायें नहीं हो सके उसे निकाचित-करण कहते हैं। इस प्रकार भाग्य को परिवर्तन करने में पुरुषार्थ असमर्थ होता है। जिस प्रकार एकान्ततः भाग्य से कार्य सिद्धि नही होती, उसी प्रकार एकान्ततः पुरुषार्थ से भी कार्य की सिद्धि नही होती 'सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्' अर्थात् सामग्री मात्र से कार्य होता है एक कारण से नहीं यह सिद्धान्त है, अनुभव सिद्ध है, वैज्ञानिक कार्यकारण व्यवस्था है।

जब दैव एवं पुरुषार्थ दोंनों पक्ष की जय हुई तब एक एकान्ती कहता है कि कुछ कार्य दैव से ही होते हैं और कुछ कार्य पुरषार्थ से ही होते है। इस प्रकार पृथक् पृथक् कार्यों की अपेक्षा से भाग्य एव पुरुषार्थ की अनेकान्त की मान्यता बन जायेगी सो यह भी एकान्त होने से मिथ्या है।

विरोधान्नो भयैकात्म्यं, स्याद्वाद न्याय विद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति नवाच्यमिति युज्यते ॥२१७२॥

अन्वय—स्याद्वाद न्याय विद्वषां विरोधात् उभयैकात्म्यं न। अवाच्यतैकान्ते 'अवाच्यं' इत्यपि उक्ति न भुज्यते।

स्याद्वादरूप नीति से विरुद्ध रखने वालों का दैव और पुरुप का एकात्म पक्ष परस्पर में विरुद्ध होने से नहीं बनता है। इसी तरह इन दोनो का अवक्तव्य एकान्त

पक्ष भी घटित नही होता है । क्योकि इस पक्ष में 'अवाच्य' ऐसे शब्द का भी प्रयोग करना नही बन सकता है ।

कुछ कार्य दैव से होते है और कुछ कार्य पुरषार्थ से होते हैं, इस प्रकार पृथक् पृथक् कार्यो की अपेक्षा से दैव और पुरुषार्थ की मान्यता बन जायेगी, सो यह बात ठीक नही है । जव दैव का एकान्त पक्ष और पुरुपार्थ का एकान्त पक्ष जब परस्पर में सर्वथा विरुद्ध पड़ता है, तो इसी कारण से पृथक् पृथक् कार्यो की अपेक्षा इन दोनो वातों को (पक्षों को) स्वीकार करना स्वय विरुद्धादि दोषो को आह्वान करते है । विना पुरुषार्थ के दैव लगड़ा है और विना दैव के पुरुषार्थ पगु है, अत ये दोनो पक्ष सर्वथा परस्पर की निरपेक्षता में कैसे निर्दोष रूप मे सभावित हो सकते है, क्योकि निरपेक्ष अवस्था मे इनका अस्तित्व ही नही बनता है । दैव पुरुषार्थ का, पुरुषाथ दैव का निर्माण कर्ता है । इसी तरह इन दोनों की सर्वथा अवाच्यता स्वीकार करने पर 'ये अवाच्य है' इस प्रकार का निर्देशात्मक वचन उसमें नही बन सकता । है । अन्यथा अवाच्य मानने का प्रसग प्राप्त होता है । इसलिए इन दोनो को यदि मान्य करना है तो स्याद्वादनीति का ही अवलम्बन करना चाहिये कारण कि उसके अवलम्वन किये बिना इनका सदभाव ही सिद्ध नही हो सकता है ।

जव अनेकान्तवादी ने एकान्त भाग्य से किम्वा एकान्त पुरुषार्थ से किम्वा पृथक् २ भाग्य एवं पुरुषार्थ से कार्य सिद्धि का निषेद्ध कर दिया तब एकान्तियो ने परास्त होकर, अपमानित भरे क्रोध से कहने लगे कि हे ! समय सुयोगवादी, लुढक-पंथी, संशयवादी, अनेकान्तवादी तुम महान् मूर्ख एव स्वार्थी हो । जिस समय जिस पक्ष की जीत होती है उस समय तुम उस पक्ष का पक्ष लेते हो पराजय पक्ष को अप-मानित करने से तुम पक्षपाती भी हो । वर्तमान पक्षपात छोड़कर तुम बताओ कि कार्य सिद्धि किस प्रकार होती है ।

तव अनेकान्तवादी अत्यन्त गभीर एव मधुर स्वर मे कहने लगा कि सुन—

दूषयेत् अज्ञ एवोच्चैः स्याद्वादं नतु पण्डितः ।
अज्ञप्रलापे सुज्ञानां न द्वेषः करुणैव तु ॥२१७३॥

अज्ञ जन ही स्याद्वाद पर महान् दोषारोपण करते है विज्ञ लोग नहीं, अज्ञानियों के प्रलाप पर सुधी पुरुष रोष न कर करुणा करते है क्योकि वे जानते है कि यह अज्ञता का कार्य है न कि उस पुरुष का । इसलिये अज्ञ करुणा के पात्र हैं । यदि

करुणा करके उसका अज्ञान दूर नही किया जायेगा वह दुर्गति का पात्र बन जायेगा। तुमने जो अनेकान्तवादी को दोष लगाया यह तुम्हारा दोष नही है तुम्हारी अज्ञता का द्योतक सार्थक शब्द है। स्यात् शब्द सशयात्मक, भ्रम जनक, शायद, सम्भव आदि का सूचक नही है। किन्तु "सर्वयात्वनिषेधकोऽनेकान्तता—द्योतक. कथञ्चिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः"—स्यात् शब्द निपात है। वह सर्वथापने का निषेधक अनेकान्तपने का द्योतक, कथञ्चित अर्थ वाला है। मैं तुम लोगो के प्रति दया करके भाग्य एवं पुरुषार्थ के यथार्थ स्वरूप का वर्णन के पहले तुम लोगो के वचन क्यो मिथ्या है ? यह बता देता हू, क्योकि "विन जाने ते दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये"।

सच्छंददिट्ठिहि वियप्पियाणि तेसट्ठि जुत्ताणि सयाणि तिण्णि।
पाखंडिणं वाउल कारणाणि अण्णणिचित्ताणि हरंति ताणि ॥२१७४॥

आप लोगो का श्रद्धान अर्थात् विश्वास वृषभ जैसे स्वच्छन्द अर्थात् अपने मनमाना है जो कि पाखडी जीवो को व्याकुलता उत्पन्न करने वाला और अज्ञानी जीवों के चित्त को हरने वाला है।

पर समयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जेणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचिव यणादो ॥२१७५॥

तुम लोगो के वचन 'सर्वथा कहने से नियम से असत्य होते है और जैन मत के वचन 'कथचित्' बोलने से सत्य है। क्योकि वह अनन्त धर्मस्वरूप वस्तु को 'कथञ्चित्' वचन कहता है, इससे सत्य है। क्योकि एक वचन से वस्तु का एक धर्म ही कहा जाता है। यदि कोई सर्वथा कहे कि वस्तु का स्वरूप है तो बाकी के धर्मो के अभाव का प्रसग होने से वह भी झूठा कहलायेगा। इस प्रकार एकान्त मे दोष है अनेकान्त मे गुण है भाग्य एव पुरुषार्थ की स्याद्वाद नीति से समवन्य—

अबुद्धि पूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धि पूर्वव्यपेक्षाया मिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥२१७६॥

अन्वय—अबुद्धि पूर्वा पेक्षाया इष्टानिष्टं स्वदैवत, बुद्धि पूर्वं व्यपेक्षाया इष्टानिष्ट स्वपौरुषात् भवति।

अबुद्धि पूर्वक हुए कार्य की अपेक्षा से इष्ट अनिष्ट कार्य अपने दैव से हुए है ऐसा माना जाता है, तथा जो कार्य बुद्धि पूर्वक किये जाते है, उस अपेक्षा से इष्ट और अनिष्ट कार्य अपने पुरुषार्थ से हुए है ऐसा माना जाता है।

जो कार्य अनुकूल हो या प्रतिकूल हो यदि वह अतर्कितोपस्थित है अर्थात् उस २ कार्य को करने का विचार रहित (अबुद्धि पूर्वक) है तो ऐसी स्थिति मे वहां पुरषार्थ की गौणता एवं भाग्य की प्रधानता मानी जायेगी अर्थात् इस स्थिति मे जो कार्य होता है उसको भाग्य कृत कहेंगे। बुद्धि पूर्वक जो भी कार्य है और उसमे जो सफलता मिलती है, उस समय वहां पुरुषार्थ प्रधान एव दैव गौण माना जाता है। इस स्थिति में जो कार्य होता है उसको पुरुषार्थ से हुआ कहेगे इस तरह अबुद्धिपूर्वक जीव को जो सुख दुःखादिक होते हैं वह दैव की प्रधानता से होते हैं तथा बुद्धिपूर्वक जो लाभ अलाभ आदि जीव को होते है पुरुषार्थ की प्रधानता से होते हैं। इस प्रकार दोनों की प्रधानता एवं गौणता से ही कार्य बनता है। अनुकूल दैव और अनुकूल पुरुषार्थ, प्रतिकूल दैव और प्रतिकूल पुरुषार्थ होने पर भी एक मुख्य और एक गौण रहता है।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयान्ती वस्तुतत्व मितरेण ।
अन्तेन जयति जैनीर्मन्थान नेत्र मिव गोपी ।।२१७७।।

जिस तरह ग्वालिनी मक्खन बनाने रूप कार्य की सिद्धि के लिये दही के हांड़ि में मथानी चलाती है और उसकी रस्सी को जिस प्रकार एक हाथ से अपनी ओर खीचती हैं, उस समय दूसरा हाथ शिथिल कर देती है और फिर जब दूसरे से अपनी ओर खीचती है, तब पहिला शिथिल करती है; एक को खीचने पर दूसरे को सर्वथा छोड़ नही देती। यदि सर्वथा छोड़ देगी तो मक्खन निकलने की बात तो दूर रहे उसी की एक हांड़ि या खप्पर रूप में परिणमन हो जायेगे। मक्खन तो खा नही सकेगी वरं सब दहि जमिन खा लेगी। जिस समय दाहिने हाथ की ओर रस्सी को खींचती है उस समय उस ओर की रस्सी ज्यादा सक्रिय रहती है एव बाये हाथ की रस्सी शिथिल रहती है, किन्तु निष्क्रिय नही रहती। यदि निष्क्रिय रहती तो उस ओर की रस्सी की आवश्यकता को छोड़ देना चाहिये किन्तु सर्वथा छोडने पर कार्य नही होता। इसी प्रकार भाग्य कृत में पुरुषार्थ शिथिल एव पुरषार्थ कृत मे भाग्य शिथिल रहता है। पूर्ण निष्क्रिय या अभाव नही रहता। इसी प्रकार स्याद्वाद कथन भी गौण मुख्य की अपेक्षा से है। जब भाग्य बलशाली रहता है तब वह अपना प्रभाव दिखाता है एवं जब पुरुषार्थ बलशाली रहता है, तब वह अपना प्रभाव दिखाये बिना नही रहता है।

कर्म कर्म हिताबन्धि, जीवो जीवहित स्पृहः ।
स्व स्व प्रभाव यस्त्वे, स्वार्थ को वा न वाञ्छति ।।२१७८।।

Karma works in its own cause that means karma; produces karma the soul works for its own good, that is to say fight against the karmic Power, Who is there in there in the world that will not work for his own good when he has the power to do so ?

कर्म–कर्म का हित चाहते है । जीव–जीव का हित चाहता है । जीव कभी बलवान् होता तो कभी कर्म बलवान् हो जाता है। इस तरह दोनो का अनादि से ही वैर चला आ रहा है । बलवान् भाग्य जब उदय मे आता है तब जीव मे मिथ्यात्व आदि भाव को पैदा कर अपनी सतान को पुष्ट कर जीव को अपने अधीन कर लेता है। जो अनादि काल से एकेन्द्रिय जीव निगोद राशि में पड जाते है भाग्य की तीव्र यातना सह रहे हैं, वे बेचारे क्या पुरुषार्थ करेंगे ? जब तक एकेन्द्रिय से असञ्जी पचेन्द्रिय तक पर्याय को धारण करते रहते है, तब तक शुभ पुरुषार्थ भी नही कर सकते है सञ्जी पर्याप्तक पचेन्द्रिय जीव भी जब तक भाग्य तीव्र बध, उदय, सत्व रहता उसको भी शुभ पुरुषार्थ करने की योग्यता नही होती । जिन कर्मो की स्थिति अन्त: कोडा-कोडी सागर से अधिक होती है, उसके प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सम्भव नही जो कि शुभ पुरुषार्थ की प्राथमिक अवस्था है । किन्तु जिनके बन्ध को प्राप्त होने वाले कर्मो की स्थिति अन्त कोडा-कोडी सागर प्रमाण प्राप्त होती है और सत्ता मे स्थित कर्मो की स्थिति संख्यात हजार सागर कम अन्त: कोडा-कोडी सागर शेष रह जाती है वही प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते है और जब तक सम्यक्त्व प्राप्त नही होता तब तक मोक्ष के लिये कुछ भी पुरुषार्थ नही हो सकता । अत. पुरुषार्थ भी सदैव भाग्य की सहायता चाहता रहता है सिर्फ उदय के समय मे ही भाग्य अपना प्रभाव दिखाता है ऐसी बात नही किन्तु सत्ता एव निर्जरा के बाद भी अपना प्रभाव डालता है । यदि बद्धमान नरक तिर्यञ्च आयु है, तब वह जीव अणुव्रत वा महाव्रत धारण नही कर सकता । सातवे नरक से आया हुआ जीव मोक्ष नही जा सकता है ।

व्यवहार मे भी दैनन्दिन अनुभव सिद्ध दैव पुरुषार्थ का कार्य वाणिज्य मे, शिक्षा क्षेत्र मे, कृषि आदि मे देखने मे आते हैं । समान पुरुपार्थ करने वालो मे भी

कोई सफलता प्राप्त करता है तो अन्य कोई निष्फलता को प्राप्त होता है। एक जीव ने पुण्य से न्याय रूप पुरुषार्थ से सम्पदा प्राप्त की किन्तु सम्पदा सुख देने वाली तभी हो सकती है यदि पुण्य का उदय है तो पुण्य के उदय नही रहने पर सम्पदा सुख नही दे सकती है। अतः पुण्य संसार सुख का कारण है उससे सम्पदादिक प्राप्त होती है किन्तु यह एकान्त नही कि पुण्य से ही सम्पदा प्राप्त हो और पुरुषार्थ से नही हो या पुरुषार्थ से ही हो दैव से न हो किन्तु दोनो मे से एक की गौणता एव मुख्यता पर अवलम्बित है।

दैव पुरुषार्थ की सप्त भगी—

१. स्यात् भाग्यकृत—अबुद्धि पूर्वक की अपेक्षा से।

२. स्यात् पुरुषार्थ कृत—बुद्धि पूर्वक की अपेक्षा से।

३. स्यात् भाग्य पुरुषार्थ कृत—क्रम से अबुद्धि पूर्वक और बुद्धि पूर्वक की अपेक्षा से।

४. स्यात् अवक्तव्य—युगपत् दोनो विवक्षाओ को नही कह सकने की अपेक्षा।

५. स्यात् भाग्यकृत् अवक्तव्य—अबुद्धि पूर्वक की और युगपत् न कह सकने की विवक्षा से।

६. स्यात् पुरुषार्थकृत अवक्तव्य—बुद्धि पूर्वक की और युगपत् न कह सकने की विवक्षा से।

७. स्यात् भाग्य पुरुषार्थ कृत अवक्तव्य— क्रम से अबुद्धि पूर्वक एव युगपत् न कह सकने की अपेक्षा से।

इस प्रकार दैव एव पुरुषार्थ परस्पर सापेक्ष है। अनादि से भाग्य शक्ति शाली है। काल लब्धि पाकर जब जीव शक्तिशाली होता है तब वह भाग्य की शक्ति को धीरे २ अपने पुरुषार्थ के बल पर नाश करते हुये शेष मे संपूर्ण रूप से भाग्य को नाश करके अपना विजय वैजयन्ति अनन्त काल के लिये लोकाग्र मे फैरा देता है। हम सभी उस झण्डे के नीचे प्रतिज्ञा बद्ध हुये कि जब तक उस झण्डा को प्राप्त नही कर सकते तब तक वीर शत्रु भाग्य के साथ युद्ध करने मे पीछे नही हटे। "पिछे हटे नाही वीर

की जात के, न मरे वह कभी परान आंतङ्क ।" क्योकि ससार मे परिभ्रमण करने के लिये एव अभव्य के लिये भाग्य प्रधान है पुरुषार्थ गौण है, किन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिये भव्य के लिये पुरुषार्थ प्रधान एव भाग्य गौण है। —श्री कनकनंदी मुनि

सुरम्य है ये नगरी महान गांव श्रवण बेलगुल नाम।
बाहुबलिप्रभू मूर्ति महान विंध्यगीरिपर्वत पर जान ।।१।।
संवत दो हजार उनताल अक्षय तृतीया दिवस महान।
पूरण कीनो ग्रंथ ये जान, गौमट प्रश्नोत्तर है नाम ।।२।।
श्रीजिन वर के वन्दोपाय मुक्तिपुरी की मुझ को चाह।
इन्द्राविक पद को नहीं चाह, मिले निजातम गुण भंडार ।।३।।
जिन वाणी सरस्वती नमों निर्मलगुणा भंडार।
मै तेरा शरणा गहुं हो जाउं भवपार ।।४।।
आदि महावीर विमलगुरु प्रमाओं वारं वार।
सन्मति हो तुम गुरु महा भवसे कर दो पार ।।५।।

श्री मूलसङ्घे नन्द्याम्नाये, सरस्वतीगच्छे, बलात्कारगणे, श्री कुन्द-कुन्दाचार्या न्वये श्री आचार्य आदि सागरः, तच्छिष्य आचार्य कील काल सर्वज्ञः अष्टदिश भाषा विज्ञो महावीर कीर्तिः तच्छिष्येण श्री गणधराचार्य कुन्थुसागरेण "गोम्मट प्रश्नोत्तर चिंतामणि" नामधेयो ग्रन्थः कर्नाटक प्रदेशेऽतिशय क्षेत्रे श्रवणबेलगोलं नाम नगरे भण्डार बसति-जिनालये चतुर्विंशति तीर्थङ्कर पादमूले स्थित्वा संवत् २०३८, वीर निर्वाणस्य २५०७ तमे वर्षे वैशाख मासे शुक्लपक्षे अक्षय तृतीयायां बुध वासरे, रोहिणी नक्षत्रे वृष भलग्ने प्रारब्धः सं० संवत् २०३९ वीर निर्वाण संवत् २५०८ तमे वैशाख-मासे शुक्ल पक्षऽक्षय तृतीयायां सोम वासरे, रोहिणी नक्षत्रे, वृषभलग्ने सप्त पञ्चाशच्चरणो तुङ्गस्थ श्री बाहुबलि नश्चरणार बिन्दे ऽद्य समाप्ति गतः।

शुभं भूयात्

ॐ शांति ॐ शांति ॐ शांति

ॐ शांति ॐ शांति

ॐ शांति

मंगल देशना

१ मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है, यदि तुमने इस में धर्म की कमाई नही को तो आगामी भव में दुःख भोगना होगा।

२. जिनेन्द्र भगवान की वाणी में अविचलित श्रद्धा धारण करो। आगम की श्रद्धा से जीवो का अनन्त कल्याण हुआ है।

३ तुम शरीर से भिन्न चेतनापुंज आत्मा हो। जिनसे शरीर का हित होता है, उनसे आत्मा का कल्याण नही होता। सदा अपने स्वरूप का विचार करना चाहिये। आत्म-चितन के बिना मोक्ष नही मिलेगा।

४. संयम धारण करके डरो मत! यह संयम तुम्हारे लिये सच्चा कल्याण-प्रदाता है।

५ धर्म का मूल सत्य और अहिसा है। इस धर्म के द्वारा सच्ची और अविनाशी शान्ति मिलेगी।

परम पूज्य आचार्य रत्न
श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज